संस्कृत शास्त्रों का इतिहास

[संस्कृत के षट्शास्त्रों—आयुर्वेद, ज्योतिष, साहित्य-शास्त्र, छन्दोविचिति,
कोषविद्या तथा व्याकरण शास्त्र—का प्रामाणिक इतिहास]

लेखक

आचार्य बलदेव उपाध्याय

भूतपूर्व सञ्चालक

अनुसन्धान संस्थान

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

नवीन संस्करण] [१९८[illegible]

संस्कृत शास्त्रों का इतिहास

[संस्कृत के षट्शास्त्रों—आयुर्वेद, ज्योतिष, साहित्य-शास्त्र, छन्दोविचिति, कोषविद्या तथा व्याकरण शास्त्र—का प्रामाणिक इतिहास]

लेखक

आचार्य बलदेव उपाध्याय

भूतपूर्व सञ्चालक

अनुसन्धान संस्थान

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

[न]वीन संस्करण] [१९८३

प्रकाशक
शारदा संस्थान
३७बी, रवीन्द्रपुरी (दुर्गाकुण्ड)
वाराणसी २२१००५

आचार्य तथा एम. ए. परीक्षाओं
का
पाठ्य ग्रन्थ

मूल्य ६०)

Samskrit Śāstron Kā Itihāsa

(A comprehensive history of six limbs of Sanskrit Śāstrās- Āyurveda, Jyotisha (Astronomy, Astrology, Arithmetic, Algebra and Geometry), Sāhitya Sāstra (Indian Poetics), Chhandovicıti (Prosody), Kośa vidyā (Lexicography) and Vyākaraṇa (main systems of Sanskrit Grammar), The date of the authoros along with the criticism of their works has been fully discussed and ascertained The rise and the development of the Śāstras have been *fully* described and the main trends of their growth with their ramifications have been duly analysed and illustrated with ample examples)

By

Āchārya Baladeva Upādhyāya
Ex-Director, Research Institute
Varanaseya Sanskrit Vishwavidyalaya
Varanasi.

(Prescribed for M A and Acharya Examinations)

मुद्रक
हिमालय प्रेस
के. ५८/१०१, बड़ा गणेश, लोहटिया,
वाराणसी

समर्पण



जुबिली संस्कृत कालेज (बलिया) के प्राचार्य,

अशेष-शास्त्र-निष्णात तथा लोकद्वय-चातुरी-सम्पन्न,

संस्कृत शास्त्रों के मेरे गुरु,

पितृव्य-चरण

आचार्य श्री रामउदित उपाध्याय को

उनके जन्म-शतीमहोत्सव

के

दिव्य अवसर पर

सादर सानुनय समर्पित

—बलदेव उपाध्याय

* लेखक द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ *



- भारतीय दर्शन
- भारतीय दर्शन सार
- वैदिक साहित्य और संस्कृति
- संस्कृत साहित्य का इतिहास
- संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
- संस्कृत वाङ्मय
- भारतीय धर्म और दर्शन
- भारतीय साहित्य-शास्त्र (दो भाग)
- आर्य संस्कृति के आधार ग्रन्थ
- संस्कृत-सुकवि-समीक्षा
- पुराण-विमर्श
- बौद्धदर्शन मीमांसा
- भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा
- भागवत सम्प्रदाय
- आचार्य सायण और माधव
- आचार्य शङ्कर
- संस्कृत आलोचना
- सूक्ति मञ्जरी
- ज्ञान की गरिमा
- वैष्णव सम्प्रदायों का इतिहास
- काशी की पाण्डित्य परम्परा

(शारदा संस्थान, वाराणसी)

वक्तव्य

संस्कृतशास्त्रो के ऐतिहासिक विवेचन से सम्पन्न इस ग्रथ को जिज्ञासुजनो के सामने उपस्थित करते समय लेखक को परम हर्ष हो रहा है। बहुत दिनों की इच्छा आज पूर्ण हो रही है। शास्त्रो की महिमा तथा विस्तृति विशेष परिलक्षित होती है। शास्त्रो की उद्गम स्थली श्रुति ही है। श्रुति के भीतर अन्तर्निहित बीजो के पल्लवन से शास्त्रों का उदय भारतवर्ष मे हुआ है। इस प्रकार शास्त्रो के उदय तथा अभ्युदय की शिक्षा धर्म के व्यापक परिधि से बहिर्भूत नहीं है। इस तथ्य को लक्ष्य कर छ विभिन्न शास्त्र वेद के सहायकरूप मे परिगृहीत होकर 'वेदाङ्ग' के नाम से अभिहित किये जाते हैं। वैदिक मन्त्रों के उचित यथार्थ उच्चारण के ज्ञान के लिए 'शिक्षा' का उदय हुआ, जो आजकल 'फानिटिक्स' के नाम से भाषाशास्त्र का अविभाज्य आवश्यक अग है। शब्दो के रूपज्ञान के निमित्त, पदो की प्रकृति तथा प्रत्यय का उपदेश देकर पद के स्वरूप का परिचय कराने के लिए 'व्याकरण-शास्त्र' का उदय सम्पन्न हुआ। शब्दो के अर्थज्ञान के लिए उनके निर्वचन के निमित्त 'निरुक्त' (भाषाविज्ञान) का जन्म हुआ। छन्दो की जानकारी के लिए 'छन्दो विचिति' (छन्द शास्त्र) का तथा अनुष्ठानो के निमित्त उचित काल निर्णय के लिए 'ज्योतिष' का उपयोग है। कर्मकाण्ड तथा यज्ञीय अनुष्ठान के लिए 'कल्प' का उदय हुआ। कतिपय शास्त्रो को वेदो से किञ्चन्न्यून मानकर 'उपवेद' के भीतर परिगणित किया गया है। अर्थशास्त्र ऋग्वेद का, धनुर्वेद यजुर्वेद का, सगीतशास्त्र सामवेद तथा आयुर्वेद अथर्ववेद का 'उपवेद' माना जाता है। फलत इन शास्त्रो का सम्बन्ध वेद के साथ साक्षात् रूपेण माना गया है। अतएव वेद ही शास्त्रों का मार्ग दर्शन कराता है। इसीलिए शास्त्रो के ऊपर धर्म की छाप है।

शास्त्रों के निर्माण की एक विशिष्ट पद्धति होती है जिसका निर्देश प्राचीन ग्रथों मे उपलब्ध होता है। इस पद्धति के आवश्यक उपकरणों को 'तन्त्रयुक्ति' के नाम से पुकारते हैं। 'तन्त्रयुक्ति' का शाब्दिक अर्थ है—तन्त्र शास्त्र की युक्ति योजना, अर्थात्

जिन उपकरणों से शास्त्र की योजना की जाती है, वे 'तन्त्रयुक्ति' के अभिधान से पुकारे जाते हैं। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के अन्तिम पन्द्रहवें अधिकरण में स्वशास्त्रोपयोगी तन्त्रयुक्तियों का नाम तथा स्वरूप दिखलाया है। वे संख्या में ३२ हैं तथा उनके नाम हैं—अधिकरण, विधान, योग, पदार्थ, हेत्वर्थ, उद्देश, अपदेश, निर्देश, अतिदेश, प्रदेश, उपमान, अर्थापत्ति, संशय, प्रसङ्ग, विपर्यय, वाक्यशेष, अनुमत, व्याख्यान, निर्वचन, निदर्शन, अपवर्ग, स्वसंज्ञा, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, एकान्त, अनागतावेक्षण, अतिक्रान्तावेक्षण, नियोग, विकल्प, समुच्चय तथा ऊह्य। कौटिल्य ने इनकी व्याख्या दृष्टांत के साथ दी है। सुश्रुत ने भी इन्हें स्वीकार किया है तथा आयुर्वेद शास्त्र से उचित उदाहरण दिये हैं। विष्णुधर्मोत्तर के तृतीय खण्ड (१ भाग ६ अध्याय) में ये ही नाम हैं, परन्तु चरकसंहिताके अंतिम अध्याय में ३६ तन्त्रयुक्तियाँ केवल नाम्ना निर्दिष्ट हैं, परन्तु स्वरूपतः निर्णीत नहीं हैं। अरुणदत्त ने अपने चरकभाष्य में इनका विवरण दिया है। फलतः प्राचीनकाल में शास्त्र के निर्माण की वैज्ञानिक पद्धति थी जिसमें तत्तत् विषयोपयोगी उपकरण निर्णीत थे और जिनका अपने शास्त्रीय विवेचन में उपन्यास करना लेखक के लिए आवश्यक कार्य था। फलतः भारतीय शास्त्रों का निर्माण विशुद्ध वैज्ञानिक पद्धति पर आश्रित है, स्वकपोलकल्पित प्रकार पर नहीं।

इस प्रकार धर्म के प्रभाव-पुञ्ज के अन्तर्निविष्ट तथा शुद्ध वैज्ञानिक सुनियोजित पद्धति पर निर्मित शास्त्रों में से केवल षट् शास्त्रों का यहाँ ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करना लेखक का उद्देश्य है। शास्त्र के सिद्धान्तोंके विकास दिखलाने की ओर लेखक का प्रयास है, केवल ग्रंथों तथा ग्रंथकारों की एक लम्बी सूची देना वह निरर्थक श्रम मानता है। अपने उदयकाल से शास्त्रों का अभ्युदय कैसे सम्पन्न हुआ—इस तथ्य पर उसका आग्रह रहा है। विद्वानों तथा छात्रों के लिए नितान्त आवश्यक शास्त्र ही इस खण्ड में चुने गये हैं। ग्रंथ चार परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में आयुर्वेद का इतिहास प्रदर्शित है। द्वितीय परिच्छेद ज्योतिषशास्त्र का विवरण प्रस्तुत करता है जिसमें सिद्धान्त तथा फलित के साथ अङ्कगणित, बीजगणित तथा रेखागणित का भी संक्षिप्त परन्तु प्रामाणिक परिचय दिया गया है। अरबी ज्योतिष की व्याख्या करने वाले संस्कृत ग्रंथों का यथार्थ प्रतिपादन यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत है जिससे इतःपूर्व की अनेक भ्रान्त धारणाओं का निराकरण किया गया है। तृतीय परिच्छेद मुख्यतया अलंकारशास्त्र का विवेचन करता है। तत्सम्बद्ध होने से छन्द शास्त्र तथा कोशविद्या का भी यहाँ विवरण दिया गया है। चतुर्थ परिच्छेद में व्याकरण का सांगोपाङ्ग विवेचन है। पाणिनीय व्याकरण की विकास दिशा पूर्णतया दिखलाई गई है। पाणिनि से भिन्न व्याकरण-सम्प्रदायों का भी संक्षिप्त परिचय विषय को विशद बनाता है। संस्कृत के साथ में पालि तथा प्राकृत के व्याकरणग्रंथों का भी समुचित उल्लेख इस विवरण के वैशद्य तथा विस्तार का नितान्त द्योतक है।

लेखक मल्लिनाथी प्रतिज्ञा के यथासाध्य पूर्ण निर्वाह करने के लिए प्रयत्नशील रहा है, जो घोषित करती है—नामूलं लिख्यते किञ्चित्, नानपेक्षितमुच्यते। मूल शास्त्रीय ग्रंथों के दीर्घकालव्यापी अन्तरंग अध्ययन का परिणत फल है इस ग्रंथ की रचना। इसमें लेखक ने अपने अनुसन्धान द्वारा अनेक तथ्यों को परिष्कृत किया है; धारणाओं की भ्रान्ति को दूर किया है तथा पुरानी भूलों को शुद्ध किया है। विशेष कर व्याकरण-शास्त्र के इतिहास में उसकी नई उद्भावनायें विद्वानों के दृष्टिपथ से विचलित न होंगी—ऐसी वह आशा करता है।

इस ग्रंथ की रचना में अनेक सहयोगियों की सहायता सुलभ रही है। ग्रंथ के आयुर्वेद तथा ज्योतिष के विवरण लिखने में उसके कनिष्ठ पुत्र डा० गौरीशंकर उपाध्याय, एम० एस सी० (बरमिंघम) तथा डी० एस सी० (मास्को) ने विशेष सहायता दी है। इसी प्रकार उसके शिष्य डा० जानकी प्रसाद त्रिपाठी व्याकरणाचार्य विद्यावारिधि ने व्याकरण वाले अंश में यथासाध्य सहायता दी है। अनुक्रमणी श्री रवीन्द्र कुमार दूबे बी० एस सी० (मेटलर्जी) के परिश्रम का फल है। इन तीनों व्यक्तियों को मैं आशीर्वाद देना उचित समझता हूँ।

अन्त में उमापति विश्वनाथ से तथा रमापति नारायण से निवेदन है कि उनकी दया से यह ग्रंथ अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णतया सफल हो। जगद्धर भट्ट के शब्द में दोनों से समकालीन प्रार्थना है—

प्रिया मुखे यो धृत-पञ्चमस्वरा
गिरं वहन्तीममृतस्य सोदराम्।
विशेषविश्रान्तरुचिर्बिभर्ति मां
वपुष्यसौ पुष्यतु नः शिवोऽच्युतः॥

तथास्तु

वाराणसी
रामनवमी, सं० २०२६
२७ मार्च १९६९

बलदेव उपाध्याय

प्रस्तावना

नवीन संस्करण

'संस्कृतशास्त्रों का इतिहास' नामक ग्रंथ का नूतन संशोधित संस्करण विज्ञ पाठकों के सामने प्रस्तुत करते समय लेखक को विशेष हर्ष हो रहा है। कई वर्षों से यह ग्रंथ अलभ्य हो गया था। इसकी माँग पाठकों की ओर से लगातार होती रही। अब यह अध्ययन तथा अनुशीलन के लिए सुलभ हो रहा है—यह प्रसन्नता की बात है।

संस्कृत शास्त्रों की विविधता नितान्त स्पृहणीय है। यह साधारण मान्यता है कि संस्कृत में आध्यात्म विद्या का ही विशेष वर्णन है तथा तदुपयोगी ही विस्तृत ग्रंथों का निर्माण अधिकता से उपलब्ध होता है। परन्तु तथ्य इससे विपरीत है। भौतिक विद्याओं का विश्लेषण तथा विवरण संस्कृत भाषा में कम नहीं है, परन्तु इधर विद्वानों की दृष्टि आग्रहपूर्वक नहीं जाती। फलत, इन विद्याओं का अनुशीलन अपेक्षाकृत न्यून मात्रा में होता आया है और यही कारण है कि विज्ञान विषयक ग्रंथों की उपलब्धि देववाणी में स्वल्प मात्रा में होती हैं। इन विद्याओं के अनुशीलन की ओर अब विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है और इसीलिए एतद्विषयक नूतन ग्रंथों का प्रणयन अब होने लगा है। इसी आवश्यक विषय की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए प्रस्तुत ग्रंथ का प्रणयन किया गया है। इसके अन्य खण्डों के लिए साधन तथा अध्यवसाय की नितांत अपेक्षा है।

इस ग्रंथ में वर्णित विषयों में अनेक नवीनता तथा विविधता विराजमान है। ग्रंथ के गम्भीर अनुशीलन से पाठकों को निःसंदेह ज्ञान की वृद्धि होगी और इसी लक्ष्य को सामने रखकर यह नवीन परिवेश में प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है जिज्ञासुओं की ज्ञानपिपासा की तृप्ति करने में यह किसी अंश में अवश्य सहायक होगा। इस नवीन संस्करण के तैयार करने में डा० गंगासागर राय तथा श्री गौरीशंकर उपाध्याय ने मुझे विशेष सहायता दी है। इसके लिये मैं इन्हें आशीर्वाद देता हूँ।

अन्त में, महाकवि रत्नाकर के शब्दों में भूतभावन बाबा विश्वनाथ से प्रार्थना है कि वह लेखक तथा पाठक दोनों का कल्याण करें और उनकी ललाटाग्नि से सन्तप्त चन्द्रमा की पिघली हुई अमृत धारा के रूप में बहती हुई गङ्गा की ज्ञानधारा हमें शीतलता तथा अमृतत्व दोनों प्रदान करें। तथास्तु।

श्रेयांसि नो दिशतु यस्य सीताभ्रशुभ्रा
विभ्राजते सुरसरिद्वरमौलि—माला।
ऊर्ध्वेक्षण ज्वलनताप-विलीयमान—
चन्द्रामृत प्रविततामृतवाहिनीव ॥

चैत्र पूर्णिमा सं० १९४० —बलदेव उपाध्याय

२७-४-८३

वाराणसी

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

—

प्रथम परिच्छेद

आयुर्वेद का इतिहास

(क) आयुर्वेद का उदय-अभ्युदय
(ख) रसायनशास्त्र का विवरण

१

काय-वाग्-बुद्धिविषया ये मलाः समुपस्थिताः ।
चिकित्सा-लक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ॥
—वाक्यपदीय

२

सनातनत्वाद् वेदानामक्षरत्वात्तथैव च ।
चिकित्सितात् पुण्यतमं न किञ्चिदपि शुश्रुम ॥
—सुश्रुत

३

तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते ।
स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत् ॥
—चरक

४

सम्यक् प्रयोगं सर्वेषां सिद्धिराख्याति कर्मणाम् ।
सिद्धिराख्याति सर्वैश्च गुणैर्युक्तं भिषक्तमम् ॥
—चरक

५

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं साधनं यतः ।
तस्मादारोग्यदानेन तद्दत्तं स्याच्चतुष्टयम् ॥
—स्कन्दपुराण

प्रथम परिच्छेद

आयुर्वेद शास्त्र का इतिहास

आयुर्वेद वह शास्त्र है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी आयु को प्राप्त करता है। सुश्रुत मे इसीलिए इस शब्द की व्याख्या मे लिखा हुआ है—

आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वा आयुर्विन्दतीति आयुर्वेद ।

मानव जीवन को सुखमय बनाने के लिए, स्वस्थ शरीर की स्वास्थ्य रक्षा के लिए तथा व्याधिग्रस्त शरीर के रोगो के निवारण के लिए महर्षियो ने अपनी प्रतिभा, अनुभव तथा प्रयोगो के बल पर जिस शास्त्र को उत्पन्न किया उसी का नाम है आयुर्वेद[1]। किसी भी शास्त्र के दो अग होते हैं- पहिला होता है उसका सिद्धान्तभाग (थ्योरी), जिसमे उसके मूल तथ्य निर्दिष्ट किये जाते हैं। दूसरा होता है उसका कर्मभाग, जिसमे उसका व्यवहार (प्रेक्टिस) प्रतिपादित होता है। सुश्रुत का कथन है कि शास्त्रज्ञ तथा कर्मज्ञ दोनो एकागी होते हैं। अत न तो केवल शास्त्रज्ञ ही प्रशसा का पात्र होना है और न केवल कर्मज्ञ ही, प्रत्युत उभयज्ञ—शास्त्र तथा कर्म दोनो का ज्ञाता ही—प्रशसा के योग्य होता है। आयुर्वेद मे उभयज्ञ ही यथार्थत समाज के लिए मगल-साधक होता है। आयुर्वेद के प्रयोजन दो होते हैं—(१) व्याधि से युक्त व्यक्तियो का व्याधिपरिमोक्ष (व्याध्युपसृष्टाना व्याधिपरिमोक्ष)। (२) स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा (स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्)। प्रथम है रोग का प्रशमन तो द्वितीय है रोग के प्रादुर्भाव का निरोध। अग्रेजी मे पहिले को कहते हैं—क्यूरेटिव और दूसरे को प्रिवेन्टिव। आयुर्वेद के ये दोनो ही प्रयोजन हैं (सुश्रुत सहिता १।१२)।

मनुष्य के उदय के साथ साथ रोग भी उत्पन्न हुआ और उसी के साथ उसकी औषध द्वारा चिकित्सा भी आरम्भ हुई। भारतवर्ष में आयुर्वेद की परम्परा वैदिक युग से आरम्भ होती है। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद मे आयुर्वेद के रोगो का तथा औषधो का सकेतमात्र ही मिलता है, परन्तु अथर्ववेद मे शरीर विज्ञान के साथ साथ नाना प्रकार के रोगों को दूर करने की चिकित्सा का वर्णन बडे ही विस्तार तथा वैशद्य के

---

[1] हिताहित सुख दु.खमायुस्तस्य हिताहितम ।
मान च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेद स उच्यते ॥
(चरक सूत्रस्थान १।४१)

साथ किया गया है। इसीलिए आयुर्वेद *अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है।*[1] इन विस्तृत सकेतो के द्वारा अथर्ववेदीय युग के औषधो के रूप तथा उपचार के प्रकार का परिचय विद्वानो को भली भाँति लग सकता है।

वेद मे वैद्यक

वैदिक सहिताओ मे प्रसगवश वैद्यक सम्बन्धी जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं वे इतने महत्त्व के है कि उनकी सहायता से वैदिक-कालीन आयुर्वेद का स्पष्ट परिचय मिल सकता है। ऋग्वेद के मन्त्रो मे अश्विन् नामक देववैद्यो के चरित्र तथा चिकित्सा कार्य का बडा ही विस्तृत विवरण मिलता है। अश्विन् के विचित्र शल्यक्रियाओ के दृष्टान्त भी बडे ही विलक्षण तथा रोचक है। अश्विन् ने वृद्ध च्यवन ऋषि को पुन यौवन प्राप्त कराया। *युद्ध मे राजा खल की पत्नी विश्पला की शत्रुओ द्वारा टाँगें काट* दी जाने पर इन्होने लोहे की जघा जोड दिया (ऋ० १।११६।१५)। इन्होंने दधीचि ऋषि के असली सिर को हटाकर घोड का सिर लगा दिया तथा मधुविद्या को ग्रहण कर पुन असली सिर लगा दिया (ऋ १।११६।१२)। ये चमत्कारिक कार्य आयुर्वेद की विशिष्ट उन्नति के द्योतक हैं। शुक्लयजु सहिता मे श्लेष्म, अर्श, श्वयथु पाण्डु, श्लीपद, यक्ष्म, मुखपाक, क्षत आदि रोगो के नाश करने के उपायो का वर्णन है।

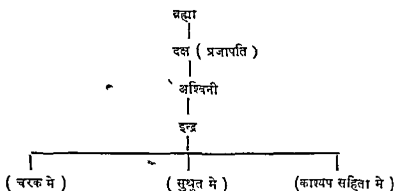
अथर्ववेद का तो उपाग ही आयुर्वेद है। फलत इस वेद में नाना प्रकार के रोगो का निदान तथा उनके लिए उपयोगी औषधो का वर्णन बडी ही विशदता के साथ किया गया है। नवे काण्ड का १४वाँ सूक्त रोगो का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है जिसमे *शीर्षामय* (सिरदर्द), *कर्णशूल*, *विलोहित* (*वह रोग जिसमे चेहरा लाल* हो जाता है), यक्ष्मा (क्षय रोग), अगभेद (शरीर मे ऐंठन) तथा अगज्वर का निर्देश यहाँ एक साथ किया गया है। तक्म (ज्वर) रोग तथा उसके ... सतत, शारद, ग्रैष्म, शीत, वार्षिक, तृतीयक आदि का—निर्देश (१।२५।४–५) बडे महत्त्व का है। शारीरिक शास्त्र के विषय मे भी शरीर की नाडी तथा ... का निर्देश, अस्थियो की ३६० सख्या आदि महत्त्व के हैं। रोग के प्रतीकार के ... मे अनेक औषधो का प्रयाग अथर्ववेद के उपयोग का द्योतक है। मूत्राघात मे शर शलाका आदि के द्वारा मूत्र का निकालना (१।३।१–९), सुखप्रसव ... *उसकी विकृति मे शल्यकर्म अर्थात् योनि का भेदन* (१।११।१–६), व्रण की ... द्वारा चिकित्सा, पकी हुई पिरको का शलाका द्वारा भेदन तथा उसे पकाने के ...

१ चरणव्यूह एव महाभारत (सभा० ११।३३ पर नीलकण्ठ) के अनुसार ऋग्वेद का उपवेद है, परन्तु चरक सुश्रुत, तथा उत्तरकालीन आयुर्वेद ग्रन्थकारो (यथा अष्टागहृदय कार) मे आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद स्वीकृत है। 'इह खलु आयुर्वेद। नामोपाङ्गमथर्ववेदस्य'—सुश्रुत सू० ११६०।

लवण का उपचार आदि प्रक्रियायें वर्णित हैं। पुरुषों में क्लीबत्व बढ़ाने के लिए भी वनस्पति का प्रयोग बतलाया गया है (६।१३८।१) गण्डमाला को दूर करने के लिए दो सूक्त हैं, तथा सफेद कुष्ट (किलास रोग) को दूर करने की ओर भी संकेत है। अनेक वनस्पति के गुण का वर्णन अनेक विशिष्ट सूक्तों में है। अपामार्ग नामक औषधि भूख-प्यास को दूर करने वाली तथा बच्चों को लाभदायक बतलाई गई है (४।१७।६), पिप्पली तथा पृश्निपर्णी नामक औषधियों का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। कृमियों को दूर करने के लिए सूर्य की रश्मियों का उपयोग बतलाया गया है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में रक्त-संचार का भी विशेष वर्णन है। ध्यान देने की बात यह है कि पाश्चात्य जगत् में शरीर के रक्त संचरण की जानकारी बहुत ही पीछे सत्तरहवीं शती में हुई। अथर्व के इस प्राचीनतम उल्लेख को हम इसी लिए बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं —"तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्र धूम्रा ऊर्ध्वा अवाची गुह्ये तिरश्ची।"

वैद्यक की परम्परायें

चरक तथा सुश्रुत संहिता के आरम्भ में वैद्यक शास्त्र के उदय की कथा बड़े रोचक ढंग से लिखी गई है। आयुर्वेदशास्त्र के सर्वप्रथम प्रवर्तक ब्रह्मा थे। उनसे यह ज्ञान सीखा प्रजापति ने, प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने, अश्विनी कुमारों से सीखा इन्द्र ने और इन्द्र के पास दीर्घजीवी होने का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से महर्षि भारद्वाज गये। उन्होंने इस शास्त्र को सीखकर भारतवर्ष में इसका प्रचार किया। चरक, सुश्रुत तथा काश्यप संहिता में आयुर्वेद के प्रचार की कथा कुछ भिन्नता लिए हुए इस प्रकार है—



उद्यन्नादित्य क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभि। ये अन्त क्रिमयो गवि।
(अथर्व० २।३२।१)

भरद्वाज	धन्वन्तरि	काश्यप, वशिष्ठ, अत्रि और भृगु।
।	।	।
आत्रेय पुनर्वसु	दिवोदास	
।	।	
अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षारपाणि	सुश्रुत, औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित, भोज।	इनके पुत्र और शिष्य

इस तालिका पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि इन्द्र तक आयुर्वेद के आचार्य स्वय देवता थे। इन्द्र से ही यह ज्ञान महर्षियो के माध्यम से इस भूतल पर आया। परम्परा की भिन्नता होने का कारण यह है कि प्रत्येक परपरा का आचार्य अपने आप को इन्द्र का साक्षात शिष्य मानता है। ये तीनो आचार्य आयुर्वेद के तीन अगो के प्रवर्तक आचार्य हैं। भरद्वाज कायचिकित्सा के प्रवर्तक हैं और उनकी परम्परा का सबसे श्रेष्ठ और आदिम ग्रथ हैं चरकसहिता। धन्वन्तरि शल्य चिकित्सा के महनीय प्रवर्तक हैं और इसीलिए शल्य चिकित्सक धान्वन्तरीय के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रथ है सुश्रुतसहिता, जिसमे शल्यतन्त्र को प्रधानता दी गई है। काश्यप ऋषि कौमारभृत्य (बालचिकित्सा) के प्रवर्तक आचार्य थे, जिनके सिद्धान्तो का प्रतिपादक श्लाघनीय ग्रथ है काश्यपसहिता। आयुर्वेद के आचार्यो की सख्या बहुत ही लम्बी है जिनके नाम तथा मत का उद्धरण चरकसहिता तथा अन्य सहिताओं मे उपलब्ध होता है। चरकसहिता मे निर्दिष्ट आचार्यों के कतिपय नाम ये हैं—काप्य, कुश, साङ्कृत्यायन, पूर्णाक्ष मौद्गल्य, शरलोमा, भार्गव, च्यवन, भद्रशौनक आदि। परन्तु दुःख की बात यह है कि इन प्राचीन आचार्यो के वे ग्रन्थ उपलब्ध नही होते जिनमे इन्होने अपनी औषधो तथा उपचारो का वर्णन विशेष रूप से किया हो। भिन्न भिन्न ग्रथो मे इनके नामो के साथ अनेक औषधो का भी उल्लेख मिलता है[1]।

आयुर्वेद के आठ अंग

आयुर्वेद के आठ अग हैं—शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगद तन्त्र, रसायन तन्त्र तथा वाजीकरण। इन अगो के सक्षिप्त परिचय से भी आयुर्वेद के विशाल रूप का परिचय हमें भली-भांति लग जाता है।

(१) शल्य तन्त्र—शल्य तन्त्र का अर्थ है आजकल की भाषा में सर्जरी। जिससे शरीर मे पीडा या तन्तुओं की हिंसा हो उसे कहते हैं शल्य (शल् हिंसायाम्)।

---

१ उन्ही के सकेत पर इन प्राचीन आयुर्वेद के आचार्यो के मत तथा सिद्धान्तों का सकलन बडी योग्यता तथा छानबीन के साथ गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने किया है—'हिस्ट्री आफ इण्डियन मेडिसिन' (कलकत्ता विश्वविद्यालय से कई जिल्दों में प्रकाशित)।

शल्य नाना प्रकार के हैं। शरीर में जितने भी पीडा हो, चाहे वह शरीर के अन्दर स्वत उत्पन्न हो या कहीं बाहर से आया हुआ हो, वह शल्य कहलाता है। इस पीडा या शल्य को हटाने के उपायों का वर्णन इस तन्त्र में है। इस अंग के प्रधान आचार्य धन्वन्तरि थे। इसलिए उनके सम्प्रदाय वाले इसी अंग को प्रधानता देते हैं। उनकी मान्यता है कि इससे रोग की चिकित्सा जल्दी होती है। यन्त्र, शस्त्र और क्षार का उपयोग होने से रोग शीघ्र शान्त हो जाता है।

(२) **शालाक्य**—शालाक्य शब्द का सम्बन्ध शलाका से है। नेत्र, नाक, कान, शिरोरोग और मुख के रोग में मुख्यत शलाका का उपयोग होता है। इसलिए यह तन्त्र शालाक्य कहलाता है, अर्थात् गले के ऊपर के रोग की गणना तथा उसकी चिकित्सा शालाक्य तन्त्र से सम्बन्धित है।

(३) **कायचिकित्सा**—काय शब्द का अर्थ है सम्पूर्ण शरीर। इस शब्द का प्रयोग जाठराग्नि के लिए भी होता है। मनुष्य के शरीर में जाठराग्नि की महत्ता सबसे अधिक है। अग्नि के विकृत होने पर ही मनुष्य विकृत होता है तथा अग्नि के ठीक होने पर ही मनुष्य स्वस्थ रहता है। इसलिए अग्नि की चिकित्सा ही शरीर की चिकित्सा है। भगवान् ने गीता में अपने को मनुष्यों के शरीर में रहने वाला वैश्वानर बतलाया है। चार प्रकार के अन्नों का पाचन इसी वैश्वानर की कृपा का फल है।[१] इसलिए शरीर की इस अग्नि की चिकित्सा ही इस अंग का मुख्य कर्त्तव्य है।[२]

(४) **भूतविद्या**—इस अंग के अन्तर्गत देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच, नाग, ग्रह आदि के आवेश से दूषित मन वाले व्यक्तियों के निमित्त शान्तिकर्म तथा बलिदान आदि का विधान किया जाता है। इसका दूसरा नाम है अमानुष उपसर्ग। चरक ने इसे उन्माद रोग के अन्तर्गत स्वीकार किया है। भूतविद्या की परम्परा प्राचीन है। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद मुनि ने स्वाधीन विद्याओं के भीतर भूतविद्या की भी गणना की है। यह विद्या आजकल भी है। झाडना, फूंकना आदि इसके नाना प्रकार हैं। अशिक्षितों में इसका विशेष प्रचार आजकल है परन्तु वस्तुत यह वैज्ञानिक चिकित्सा से भी कम महत्व नहीं रखता।

---

१ अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित ।
प्राणापानसमायुक्तो पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
(*गीता*)

२ जाठर प्राणिनामग्नि काय इत्यभिधीयते ।
यस्तं चिकित्सेद् विकृतं स वै कायचिकित्सक ॥

(५) कौमारभृत्य—इस शब्द का अर्थ है शिशु का भरण पोषण, चिकित्सा तथा उनका परिवर्धन। आजकल के युग मे प्रसूति तन्त्र का जो महत्त्व है उससे कहीं अधिक महत्त्व प्राचीन काल मे इस तन्त्र को प्राप्त था। किसी भी जाति या देश का उत्थान शुद्ध तथा पुष्ट सतान के ऊपर है और योग्य तथा उत्तम सन्तान का विचार इस अग का मुख्य विषय है। आत्रेय तथा काश्यप ऋषि ने अपनी सहिताओ मे जातिसूत्रीय नामक अध्याय मे इस विषय की ओर सकेत किया है। सूतिकागृह, प्रसव, शिशुपालन-आदि समस्त शिशु सम्बन्धी विषयो का साक्षात् सम्बन्ध इसी अग से है। संस्कृत साहित्य के कवियो ने अपने ग्रथो मे कौमारभृत्य मे कुशल वैद्यो का स्पष्ट उल्लेख किया है।

(६) अगद तंत्र—इसका दूसरा नाम है विषतन्त्र। विष नाना प्रकार के होते है तथा नाना स्थलो से उनकी उत्पत्ति होती है। साधारण जन की तो बात ही अलग है, परन्तु बडे-बडे राजाओ तथा ऐश्वर्यशाली पुरुषो को मारने के लिए शत्रु लोग स्थूल या सूक्ष्म रूप से विषो का प्रयोग करते थे। इसीलिए कौटिल्य का आदेश है कि जागालीविद वैद्य राजा के पास सदा रहना चाहिये, जिससे वह उसके खान पान की परीक्षा सदा किया करे। घरो मे पशु-पक्षी इसीलिए रक्खे जाते थे कि व विष से मिश्रित अन्न की परीक्षा बडी सुगमता से कर लेते थे। विषकन्या का प्रयोग चाणक्य के द्वारा नितान्त प्रसिद्ध है। इन विषयो की जानकारी के लिए अगद तन्त्र का स्वतन्त्र अस्तित्व है। आजकल भी इस शास्त्र का विशेष महत्व है।

(७) रसायन तंत्र—आयुर्वेद के अनुसार मनुष्य के शरीर म सात धातुओ का निवास रहता है, जिनके नाम है--रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र। इन्ही की पारिभाषिक सज्ञा है रस। जिस विज्ञान के द्वारा शरीर के ये रस अर्थात् सातों धातु स्थिर बने रहे तथा नवीन रूप मे विद्यमान रहे उसको रसायन कहते हैं। रसायन के सेवन से शरीर के ये रस, रक्त आदि धातु पुन नवीन हो जाते हैं जिससे दीर्घायु प्राप्त होती है। मनुष्य के शरीर म दिन प्रतिदिन के उपयोग से ये धातु क्षीण तथा ह्रास को प्राप्त होते रहते है। रसायन के सेवन से इनमे स्थिति तथा वृद्धि प्राप्त की जाती है। चरकसहिता से पता लगता है कि आयुर्वेद का आरम्भ ही दीर्घ जीवन पाने की इच्छा से हुआ।[1]

(८) वाजीकरण—वाजी शब्द का अर्थ[2] है घोडा, शुक्र एव शक्ति। जिस विज्ञान

---

१ दीर्घं जीवितमन्विच्छन् भरद्वाज उपागमत्।
इन्द्रमुग्रतपा बुद्ध्वा शरण्यममरेश्वरम्।
(चरक सूत्र १।३)

२ येन नारीषु सामर्थ्यं वाजीवल्लभते नर.।
व्रजते चाधिक येन वाजीकरणमेव तत्॥
(चरक सूत्र)

के बलपर मनुष्य मे शक्ति उत्पन्न होती है, मनुष्यो मे शुक्र तथा वेग की वृद्धि होती है उसका नाम वाजीकरण है। आज भी घोडा शक्ति का प्रतीक माना जाता है। वाजीकर औषधियो के द्वारा क्लीब और शक्तिहीन पुरुषो को शक्तिशाली एव बलवान् बनाया जाता है। इसका सम्बन्ध मुख्यत पुरुषो से है। स्त्रियो के बॉझपन की चिकित्सा तथा उसके लिए उपयोगी योगो का अन्तर्भाव भी इसी अग के अन्तर्गत किया जाता है।

इन अगो के ऊपर अलग अलग आचार्यो ने मौलिक ग्रन्थो की रचना की थी। इन ग्रन्थो का निर्देश आयुर्वेद के आचार्यो ने स्थान-स्थान पर किया है। कुछ ग्रन्थ पूर्णरुप से प्रकाशित हैं तथा मिलते भी हैं, परन्तु अधिकाश ग्रन्थ केवल उदाहरणो से ही ज्ञात हैं। सम्भव है कि विशेष छानबीन करने पर य ग्रन्थ उपलब्ध भी हो जायें।

(१) **काय चिकित्सा** –अग्निवेशसहिता (चरकसहिता से भिन्न ग्रन्थ), भेल-सहिता (कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित), जतूकर्ण-सहिता, पराशर सहिता, क्षारपाणि सहिता, हारीत सहिता, खरनाद-सहिता, विश्वमित्र सहिता, अगस्त्य-सहिता और अत्रि सहिता।

(२) **शल्यतंत्र**—औपधेनव तत्र, औरभ्र तन्त्र, सौश्रुत तत्र, पौष्कलावत तन्त्र, वैतरण तत्र, भोजतत्र, करवीर्यतन्त्र, गोपुररक्षित तत्र, भालुकीय तत्र, कपिल तत्र और गौतम तत्र।

(३) **शालाक्य तंत्र**— विदेहतत्र, निमितत्र, काकायनतत्र, गार्ग्यतत्र, गालवतत्र, सात्यकितत्र, शौनकतत्र, करालतत्र, चक्षुष्यतत्र और कृष्णात्रेय तन्त्र।

(४) **अगद तंत्र**—अलम्बायन सहिता, उशन सहिता, सनकसहिता तथा लाटचा-यनसहिता।

(५) **भूतविद्या**—चरक मे उन्माद चिकित्सित अध्याय, सुश्रुत म अमानुषप्रति-षेधाध्याय, वाग्भट मे भूतविज्ञानीय और भूतप्रतिषेधाख्य अध्याय।

(६) **कौमारभृत्य** –काश्यपसहिता या जीवकतत्र (प० हेमराज शर्मा द्वारा नेपाल से प्रकाशित)

(७) **वाजीकरणतंत्र**-वात्स्यायन कामसूत्र मे वर्णित औपनिषदिक नामक प्रकरण का समावेश इस तत्र मे है। कुचुमार नामक ऋषि ने इसके ऊपर स्वतन्त्रग्रन्थ लिखा था

(८) **रसायनतंत्र**—इसके विषय मे प्राचीन ग्रन्थो का नाम यहाँ दिया जाता है–पातञ्जलतत्र, वसिष्ठतन्त्र, व्याडितत्र, माण्डव्यतत्र नागार्जुनतत्र कक्षपुटतन्त्र और

आरोग्यमंजरी। इस विभाग के ऊपर इतना विशिष्ट साहित्य विद्यमान है कि उसको रसायन तन्त्र के नाम से अलग अध्याय ही हो सकता है[1]।

काल विभाजन

आयुर्वेद के इतिहास को हम तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) संहिता काल—(५ शती ईस्वी पूर्व—६शती तक)—यह आयुर्वेद की मौलिक रचनाओं का युग है। इसमें आचार्यों ने अपनी प्रतिभा तथा अनुभूति के बल पर भिन्न भिन्न अंगों के विषय में अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया। आयुर्वेद के त्रिमुनि–चरक सुश्रुत तथा वाग्भट के आविर्भाव का यही काल है।

(२) व्याख्याकाल—(७ शती से लेकर लगभग १५ शती तक) इस काल में संहिताओं के ऊपर टीकाकारों ने प्रौढ व्याख्यायें निबद्ध कीं। भट्टार हरिश्चन्द्र, जेज्जट, चक्रपाणि, डल्हण आदि प्रौढ व्याख्याकारों का समावेश इसी काल में होता है।

(३) विवृतिकाल—(१४ शती से लेकर आधुनिक काल तक) —इस युग की विशेषता है एक विशिष्ट विषय पर ग्रन्थ का निर्माण, जैसे 'माधवनिदान निदान के ऊपर, ज्वरदर्पण ज्वर के विषय में, चिकित्सा के योगसंग्रहों का भी यही काल है। यह युग आज-कल भी चल ही रहा है।

चरकसंहिता

चरकसंहिता की रचना के पीछे अनेक शताब्दियों का आयुर्वेदीय अध्ययन तथा अनुशीलन जागरूक है। अनेक युगों के विद्वानों ने अपनी प्रतिभा तथा बुद्धि वैभव के बल पर आयुर्वेद-सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों तथा तथ्यों का खोज निकाला उनका सुन्दर समन्वय हमें चरकसंहिता के पृष्ठों पर प्राप्त होता है। चरकसंहिता' का उपदेश दिया आत्रेय पुनर्वसु ने, प्रणयन किया उनके साक्षात् शिष्य अग्निवेश ने, प्रतिसंस्कार किया चरक ने तथा परिवर्धन किया दृढबल ने। इस प्रकार इन चार विद्वानों की विमल प्रतिभा की धारा इस संहिता के पृष्ठों में प्रवाहित होती है। इन चारों विद्वानों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(१) आत्रेय पुनर्वसु—कृष्णात्रेय, चान्द्रभागी तथा चान्द्रभाग नाम से भेल-संहिता, चरकसंहिता तथा नावनीतक ग्रन्थों में स्मरण किये जाते हैं। आत्रेय स्पष्ट ही गोत्रनाम है। पुनर्वसु सम्भवतः उनका व्यक्तिगत अभिधान प्रतीत होता है। कृष्ण-यजुर्वेद के साथ सम्बद्ध होने के कारण ये 'कृष्णात्रेय' के नाम से प्रख्यात हुए। इन की माता का नाम 'चन्द्रभागा' था और इसी नाम के आधार पर इनके दो

1 इन प्राचीन तन्त्रों के विषय में द्रष्टव्य अत्रिदेव विद्यालंकार-आयुर्वेद का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पृ० ६५-७२।

अभिधान और हैं— चान्द्रभागी तथा चान्द्रभाग। महर्षि व्यासदेव ने आत्रेय मुनि को आयुर्वेद का प्रवर्तक स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया है। उनका कथन है—

गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्।
देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्॥
(शान्तिपर्व २१० अध्याय)

आत्रेय की जन्मभूमि भारतवर्ष के किस प्रान्त मे थी? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर देना नितान्त कठिन है, परन्तु भेलसंहिता के एक प्रसग से इस समस्या पर कुछ प्रकाश अवश्य पडता है। भेलसंहिता ने गान्धार देश के राजर्षि नग्नजित् को चान्द्रभाग पुनर्वसु से विषयोग के विषय मे बडे आदर के साथ प्रश्न करते हुए दिखलाया है।[1] ये चान्द्रभाग चरक ही है। फलत इनका सम्बन्ध गन्धर्व देश के साथ विशेषत प्रतीत होता है। परन्तु इतना होने पर भी ये महर्षि चिकित्सा शास्त्र के प्रचार के निमित्त अथवा औषधियो के अन्वेषण के लिये पञ्चालक्षेत्र, चैत्ररथ (वन), पञ्चगङ्गा, धनेशायतन, कैलास तथा हिमालय के उत्तर पार्श्व मे स्थित त्रिविष्टप आदि देशों में अपने शिष्यों के साथ भ्रमण करते हुए अनेक ग्रन्थो मे दिखलाये गये हैं। फलत आत्रेय का सम्बन्ध समग्रउत्तर भाग के प्रधान प्रान्तो के साथ है, यह हम सामान्य रीति से मान सकते हैं। बौद्ध ग्रन्थो के अनुशीलन से स्फुट है कि तक्षशिला बुद्ध के जन्म से पहिले प्रधान विद्यापीठ था और आत्रेय यहीं के आयुर्वेद के प्रधान अध्यापक थे। डा० हार्नली आदि पश्चिमी विद्वानो ने इस प्रामाण्य पर आत्रेय का आविर्भावकाल बुद्ध के जन्म से पहिले माना है। यादव जी ने भी इनको फारस के प्रसिद्ध सम्राट् दारयवहु (डॅरियस, ५२१ ई० पू० —४८५ ई० पू०) का समकालीन माना है। फलत. आत्रेय का समय ईस्वी पूर्व पञ्चम शतक मानने मे विशेष विप्रतिपत्ति नहीं दीखती।

भेल सहिता

भेलसहिता[2] की छपी पुस्तक अधूरी है, परन्तु उसके भी देखने से इस सहिता का चरकसहिता के साथ प्रचुर सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। अग्निवेश के समान भेल भी पुनर्वसु-आत्रेय के ही षड् शिष्यों मे अन्यतम थे। यहा आत्रेय के सकेतक कृष्णात्रेय, पुनर्वसु आत्रेय तथा चान्द्रभागि शब्द प्राय आते हैं जैसे वे चरकसहिता मे आते है।

---

१ गान्धारदेशे राजर्षिर्नग्नजित् स्वर्णमार्गद।
सगृह्य पादौ पप्रच्छ चान्द्रभाग पुनर्वसुम्॥
(भेलसहिता, पृ ३०)

२ भेल सहिता—सर आशुतोष मुकर्जी द्वारा सम्पादित तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित।

दोनों ही शिष्य एक ही गुरु का निर्देश अपने-अपने ग्रन्थों में कर रहे हैं। भेल संहिता की रचना चरक-संहिता के समान ही सूत्र स्थान, निदान, विमान, शरीर, चिकित्सा, कल्प तथा सिद्धस्थान रूप प्रकरणों में हैं। वर्ण्य विषय चरक से मिलता-जुलता है। परन्तु अनेक विषय नवीन हैं तथा लेखक की मौलिक सूझ के प्रतिनिधि हैं। उन्माद की चिकित्सा के अवसर पर ग्रन्थ के विषय ध्यान देने योग्य हैं (चिकित्सा, अध्याय ८) वह कहता है— चित्तं हृदय-संस्थितम्। यहाँ हृदय से किसकी पहिचान की जाय ? हृदय को पद्म के स्वभाव वाला माना गया है—

> यथा हि संवृतं पद्मं रात्रौ चाहनि पुष्यति।
> हृत्तथा संवृतं स्वप्ने विवृतं जाग्रतं स्मृतम्॥
> (भेल, सूत्रस्थान अ० २१)।

कहा है कि हृदय से रक्त निकलता है और फिर शिराओं द्वारा उसी में लौट आता है— यह नवीन सिद्धान्त है। ग्रन्थ का प्रचार मध्ययुग में विशेष था। तभी तो डल्लन, विजयरक्षित, शिवदास सेन ने भेल संहिता से कतिपय वचन उद्धृत किये हैं। इसकी रचना का समय चरक संहिता का ही काल मानना उचित होगा। समान गुरु के विभिन्न दो शिष्यों की रचनाओं में साम्य के साथ वैषम्य होना स्वाभाविक है, परन्तु वैषम्य न्यून है, साम्य ही अधिक है।

पुनर्वसु की परम्परा के चिकित्सक **पौनर्वसव** कहलाते हैं जिस प्रकार धन्वन्तरि के द्वारा चलाये गये शल्यकर्म के अनुयायी (सर्जन लोग) **धान्वन्तरीय** के नाम से पुकारे जाते थे। बुद्ध का समकालीन जीवक नामक प्रख्यात वैद्य था, जिसकी विलक्षण चिकित्सा का बहुश: उल्लेख त्रिपिटकों में किया गया है। तिब्बतीय उपकथाओं के अनुसार तक्षशिला का आत्रेय इस जीवक का गुरु था, परन्तु बरमा की परम्परा के अनुसार जीवक विद्याध्ययन के लिए काशी आया था। फलत: मतभेद होने से हम निश्चय रूप से नहीं कह सकते कि आत्रेय जीवक के गुरु ही थे। चरकसंहिता में कई विचार गोष्ठियों का उल्लेख मिलता है जिसमें आयुर्वेद-सम्बन्धी सिद्धान्तों के ऊपर आचार्यों ने अपने मतों की व्याख्या की है। ये सब गोष्ठियाँ आत्रेय के सभापतित्व में सम्पन्न हुई थीं। ऐसी गोष्ठियों का उल्लेख सूत्रस्थान के १२ वें, २५ वें तथा २६ वें अध्याय में मिलता है।

आत्रेय पुनर्वसु ने विचार स्वातन्त्र्य तथा विचार विनिमय पर बड़ा जोर दिया है। उनका मत था कि आयुर्वेद के विद्वान को एकाङ्गी न होकर बहुश्रुत तथा बहुज्ञ होना चाहिए, साथ ही अन्य तन्त्रों के विद्वानों के साथ मिलकर उन्हें अपने ज्ञान का संवर्धन करते रहना चाहिए। इस विषय में विमानस्थान के ८ वें अध्याय के सम्भाषा (वाद विवाद) के नियमों का विवरण बड़ा ही रोचक, ज्ञानवर्धक तथा उपयोगी है।

(२) अग्निवेश—महर्षि आत्रेय के छ प्रधान शिष्य हुए—अग्निवेश, भेल (या भेड), जतूकर्ण, पराशर, हारीत तथा क्षारपाणि, जिनमे प्रथम दो शिष्यो की रचनायें उपलब्ध हैं। महर्षि भेड की कृति भेडसहिता है, जा कलकत्ते स प्रकाशित हुई है तथा अग्निवेश की कृति यही 'चरकसहिता' है। आत्रेय क समकालीन होने से इनका भी समय वही ई० पू० पञ्चम शतक है।

(३) चरक—एक प्राचीन परम्परा है कि योगशास्त्र के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि ने ही चरक के नाम से इस सहिता का प्रतिसस्कार किया।[1] बहुश प्रचलित होने पर भी इस परम्परा को हम मान्यता नही दे सकते। 'चरकसहिता' के प्राचीन टीकाकार इस परम्परा से परिचित नही है। इसका यही अर्थ प्रतीत होता कि आदिशेष ने अवतारभेद से महाभाष्य, योगसूत्र तथा चरकप्रतिसस्कार का सपादन किया। आजकल की 'चरकसहिता' का प्रतिसस्कार चरक ने किया था। दृढ़-बल के अनुसार प्रतिसस्कर्ता का कार्य यह है कि वह मूल ग्रन्थ के सक्षिप्त अश को विस्तृत कर देता है तथा अत्यन्त विस्तृत अश को सक्षिप्त कर दता है। इस प्रकार पुराना ग्रथ नवीन बन जाता है।[2] चरक ने भी अग्निवश क द्वारा निर्मित मूल ग्रन्थ मे इसी प्रकार के शोधन एव परिबृहण कर उसे समयोपयोगी तथा अधिक उपादेय बनाया।

चरक के समय का यथार्थ पता नही चलता। सिल्वालेवी ने चरक का नाम चीनी त्रिपिटक मे पाया और उसके आधार पर कल्पना की कि चरक कनिष्क का राजवैद्य था, अर्थात् उसका समय ईस्वी के द्वितीय शतक मे था। सर प्रफुल्लचन्द्र राय ने चरक को बुद्ध से भी पूर्ववर्ती माना है। कुछ लागो का अनुमान है कि चरक का समय नागार्जुन (द्वितीयशती) से पूर्ववर्ती अवश्य होना चाहिए, क्योकि नागार्जुन के समय मे पारे के बने औषध प्रचलित हो गये थे, जिनका उल्लेख चरक ने नही किया है। अत चरक सम्भवत ईसा से द्वितीयशती पूर्व के आचाय रहे होग।

---

१. पातञ्जल-महाभाष्य-चरकप्रतिसस्कृतै.।
मनोवाक्कायदोषाणा हन्त्रेऽहिपतये नम ॥

—चक्रपाणि

योगेन चित्तस्य पदेन वाचा मल शरीरस्य तु वैद्यकेन।

(भोजवृत्ति)

२ विस्तारयति लेशोक्त सक्षिपत्यति विस्तरम।
सस्कर्ता कुरुते तन्त्र पुराण च पुनर्नवम्।

(चरक, चिकित्सास्थान, १२ अध्याय)

(४) दृढ़बल—'चरकसंहिता' के परिवर्धनकर्ता दृढ़बल का भी परिचय हमें विशेष नहीं मिलता। दृढ़बल ने चिकित्सा स्थान के १७ अध्यायों को तथा कल्पस्थान और सिद्धिस्थान को स्वयं बनाकर ग्रन्थ में जोड़ दिया, क्योंकि ये मूल ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होते थे।[1] इस प्रसंग में दृढ़बल ने अपने स्थान का नाम 'पञ्चनदपुर' लिखा है तथा अपने को 'कापिलबलि' कहा है। फलतः इनके पिता का नाम कपिलबल था तथा वे पञ्चनदपुर के निवासी थे।[2] राजतरंगिणी (चतुर्थ तरंग, श्लोक २४९—२५०) से पता चलता है कि यह पञ्चनदपुर कश्मीर में था, जो आजकल वितस्ता तथा सिन्धु के संगम स्थल के पास वर्तमान पञ्चनोर नामक नगर बतलाया जाता है। वाग्भट ने बहुत से विषयों को दृढ़बल के द्वारा परिवर्धित इसी भाग के आधार पर लिखा है। अतः इनका समय वाग्भट (षष्ठ शतक) से प्राचीन ही होना चाहिए। जेज्जट ने (जो वाग्भट के शिष्य थे और अतएव उनके समकालीन थे) दृढ़बल की रचना से सवलित चरक ग्रन्थ के ऊपर 'निरन्तर-पदव्याख्या' नामक टीका लिखी है। फलतः दृढ़बल का समय षष्ठशतक से प्राचीन मानना उचित है।

खरनाद-संहिता

अरुणदत्त ने अष्टाङ्गहृदय की अपनी व्याख्या में 'खारणादि' नामक किसी वैद्यक आचार्य के मत का उल्लेख किया है। इस व्याख्या में कहीं-कहीं यही आचार्य 'खारनाद' तथा 'खरणादि' नाम्ना भी उद्धृत किए गए हैं। हेमाद्रि ने अष्टाङ्गहृदय की अपनी 'आयुर्वेद रसायन' नाम्नी वृत्ति में 'खारणादि' नामक आचार्य के ग्रंथ से प्रभूत उद्धरण दिये हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है लगभग १२७० ई० के आसपास हेमाद्रि को 'खारणादि' का ग्रंथ उपलब्ध था जिससे उन्होंने कहीं अपने मत की पुष्टि के निमित्त और कहीं विमति दिखलाने के लिए प्रचुर उद्धरणों को देने की व्यवस्था की है। हेमाद्रि जैसे विज्ञ तथा विशेषज्ञ विद्वान के द्वारा उद्धृत किये जाने से 'खारणादि' का ग्रन्थ अवश्यमेव उस युग में बड़े आदर के साथ देखा जाता था—यह कल्पना निराधार नहीं मानी जा सकती। इसके प्रमाण में वोपदेव का एक कथन बड़ा महत्व रखता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि वोपदेव हेमाद्रि के आश्रित पण्डित थे। अतएव उनका

---

१ अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च।
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते।
तानेतान् कापिलबलिः शेषान् दृढबलोऽकरोत्॥

(चरक, चिकित्सास्थान, ३० अध्याय)

२ अखण्डार्थं दृढबलो जातः पञ्चनदे पुरे।

(वही, १२ अध्याय)

भी आविर्भावकाल हेमाद्रि के समान ही १३ शती का उत्तरार्ध है (लगभग १२५० ई०–१३०० ई० । वोपदेव उस युग के प्रकाण्ड विद्वान थे—इस घटना का अनुमान उनके ही कथन से निर्धारित किया जा सकता है। 'मुक्ताफल' के अन्त मे दिया गया यह पद्य उनके विस्तृत लेखकत्व का विशद परिचायक है—

> यस्य व्याकरणे वेरण्यघटना स्फीता प्रबन्धा दश,
> प्रख्याना नव वैद्यकेऽपि तिथिनिर्धारार्थमेकोऽद्भुत ।
> साहित्ये त्रय एव भागवत-तत्त्वोक्तौ त्रय, तस्य च
> भुगीर्वाणशिरोमणेरिह गुणा के के न लोकोत्तरा ॥

वोपदेव ने अपने पिता केशव के 'सिद्धमन्त्र' नामक आयुर्वेदीय ग्रन्थ के ऊपर 'प्रकाश' नामक अपना व्याख्यान लिखा था। केशव ने 'खारणादि' का निर्देश इस पद्य में किया है –

> वातल चरको ब्रूते वातघ्न वष्टि सुश्रुत ।
> खारणादिर्वदत्यन्यद् इत्युक्तेरत्र निर्णय ॥

वोपदेव की टीका इस प्रकार है—

चरक सुश्रुत-खारणादीना च परस्परविरुद्धाना द्रव्यशक्तिविषयाणामामुक्तीनामत्र ग्रथे निर्णयो निर्णयार्थकथनम् ।

वोपदेव का पूर्वोक्त कथन बडे महत्वका है। केशवने चरक, सुश्रुत तथा खारणादि के द्रव्यगुण विषयक मतोके निर्णयके लिए ही अपना 'सिद्धमन्त्र' ग्रथका निर्माण किया था। महाराष्ट्रमे तद्धितान्त नाम 'खारणादि' प्रख्यात है, तो बगालमे केवल 'खरनाद' ही। इन समस्त ग्रन्थो के अनुशीलन से खारणादि के मत का परिचय भलीभाँति लग सकता है। कुछ ऐसी पक्तियाँ हैं जो अरुणदत्त मे 'खरनाद' के नाम से उद्धृत हैं, वे ही हेमाद्रि की टीका मे 'खारणादि' के नाम से उद्धृत की गई हैं जिससे खरनाद तथा खारणादि की अभिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है। वोपदेव तथा हेमाद्रि के ग्रन्थ म 'खारणादि' के दो श्लोक समानरूप से उद्धृत किये गये है जिससे स्पष्ट है कि दोनो ग्रन्थकार एक ही ग्रन्थ से उद्धरण दे रहे हैं। उद्धरणो का परीक्षण सिद्ध करता है कि खरनाद अथवा खारणादि का ग्रन्थ पद्य मे निबद्ध किया गया था। केशव के ऊपर उद्धृत श्लोक मे पता चलता है कि यह ग्रन्थ उस युग मे चरक तथा सुश्रुत के समान ही प्रमाण माना जाता था तथा इसके मत की युक्तिमत्ता दिखलाने तथा चरक-सुश्रुत से अविरोध प्रदर्शित करने के लिए केशव को अपना 'सिद्धमन्त्र' नामक ग्रन्थ की ही रचना करनी पडी।

खारणादि का कौन ता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे इदमित्थ कहना असम्भव है। वोपदेव तथा हेमाद्रि के द्वारा १२०२ ई० मे तथा अरुणदत्त तथा केशव द्वारा १२२०

ई० मे उद्धृत किये जाने से इनका समय ११५० के आसपास मानना ही उचित होगा। तीसट के पुत्र चन्द्रट ने अपने ग्रन्थ **योगरत्न-समुच्चय** मे (लगभग १००० ई०) खरनाद का उल्लेख किया है जिससे खरनाद का समय इस पूर्व होना चाहिए। काश्मीर के प्रख्यात विद्वान् मधुसूदन कौल ने खारनाद-न्यास का एक पत्र गिलगित की खुदाई से प्राप्त किया (१९३८) इस न्यास का समय ६०० ई०–९०० ई० के बीच कभी मानने के लिए इनके प्राप्तिकर्ता का अनुमान है। फलत खरनाद का समय इस न्यास से पूर्व ही होना चाहिए—षष्ठशती के आसपास।

चरक के टीकाकार

चरकसहिता टीका-सम्पत्ति की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इसके ऊपर ४० से अधिक टीकाओ के अस्तित्व का पता चलता है जिनमे से मुख्य टीकाकारो का यहाँ परिचय दिया जाता है—

(१) भट्टार हरिश्चन्द्र—चरक के सर्वप्रचीन टीकाकार ये ही हैं, क्योकि पिछले टीकाकारो ने इनके प्रदर्शित अर्थ का उल्लेख अपनी व्याख्याओ मे किया है। 'अष्टाङ्गहृदय' के टीकाकार इन्दु ने अपनी टीका 'शशिलेखा' मे इस बात का उल्लेख किया है कि हरिश्चन्द्र ने 'खरनादसहिता' का प्रतिसस्कार किया था (या च खरनादसहिता भट्टारहरिश्चन्द्रकृता श्रूयते। सा चरकप्रतिबिम्बरूपैव लक्ष्यते)। बाणभट्ट ने एक भट्टार हरिश्चन्द्र के गद्यबन्ध का उल्लेख हर्षचरित के आरम्भ मे किया है।[1] पता नही कि ये दोनो ग्रन्थकार भिन्न थे या अभिन्न ? यह टीका नितान्त महत्त्वशालिनी थी, इसका उल्लेख अनेक टीकाकारो ने किया है।[2] तीसट के पुत्र चन्द्रक का भी ऐसा ही मत है।[3] ये हरिश्चन्द्र 'विश्वप्रकाश' कोश के रचयिता महेश्वर के पूर्वपुरुष थे, तथा श्री साहसाक नृपति के प्रख्यात वैद्य थे।[4] कुछ लोग इस राजा को चन्द्रगुप्त द्वितीय से अभिन्न जानकर दोनो का समय एक ही बतलाते हैं (३७५—४१३ ई०) फलत हरिश्चन्द्र का समय पञ्चम शती का आरम्भकाल है। इनकी टीका का नाम 'चरकन्यास' है।

(२) जेज्जट—ये वाग्भट के शिष्य थे। इसका पता इनकी चरक टीका की पुष्पिका से लगता है। इनके सहाध्यायी इन्दु ने 'अष्टागसग्रह' पर शशिलेखा नाम्नी

---

१ भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते। (हर्षचरित)

२ हरिश्चन्द्रकृता व्याख्या विना चरकसम्मतम्।
यस्तनोत्यवृनप्रज्ञ पातुमोहति सोऽम्बुधिम्।

३ व्याख्यातरि हरिश्चन्द्रे श्रीजेज्जटनाम्नि सति सुधीरे न।
अन्यस्यायुर्वेदे व्याख्या धाष्ट्र्यं समावहति।

४, विश्वप्रकाश कोष का आरम्भ।

टीका लिखी है । जेज्जट की टीका का नाम है—निरन्तरपदव्याख्या । इसकी मद्रास मे उपलब्ध अधूरी प्रति को मोतीलाल बनारसी दास ने प्रकाशित भी किया है। इसमे चिकित्सा स्थान, कल्प स्थान तथा सिद्धिस्थान के कतिपय अध्याय उपलब्ध होते हैं। टीकाकार काश्मीरी था और ९ वी शती मे प्राचीन प्रतीत होता है।

(३) **स्वामीकुमार**— इनकी टीका 'चरकपंजिका' केवल प्रथम पाँच अध्यायो तक मद्रास राजकीय पुस्तकालय मे उपलब्ध है जिसमे भट्टार हरिश्चन्द्र के वचनो का विशेप उल्लेख मिलता है।

(४) **चक्रपाणि**—चरक का सबसे प्रसिद्ध टीकाकार यही चक्रपाणिदत्त है जिसकी पूरी व्याख्या अनेक स्थानो से प्रकाशित है[1]। ये बगाल के वीरभूमि जिले के निवासी थे तथा गौडनृपति नयपाल के यहाँ इनका परिवार नौकर था। पिता का नाम 'नारायण', ज्येष्ठ भ्राता का भानुदत्त तथा गुरु का नरदत्त था। इनके द्वारा स्थापित चक्रपाणीश्वर का मन्दिर भी पाया जाता है। नयपाल का समय १०४० ई०–१०७० ई० है। फलत इनका आविर्भावकाल ११ वी शती का उत्तरार्द्ध है। इनकी टीका आयुर्वेद दीपिका (या चरक तात्पर्य टीका) बडी ही प्रौढ, प्रमेयबहुल तथा चरक के तात्पर्य की वस्तुत प्रकाशिका है। इन्होंने सुश्रुत की भी टीका लिखी थी। इनका स्वतन्त्र ग्रन्थ (चिकित्सासग्रह या चक्रदत्त) सिद्धयोगों का एक लोकप्रिय सग्रह है। चक्रपाणि वास्तव मे एक बडे ही प्रौढ आयुर्वेदज्ञ हैं।

(५) **शिवदास सेन**—की टीका का नाम 'तत्त्वचन्द्रिका' है जिसका खण्डित भाग (सूत्र अ० १–२७) ही उपलब्ध है। टीकाकार बगाल का निवासी तथा १५ वी शती का ग्रथकार है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं– द्रव्यगुणसग्रहव्याख्या, तत्त्वप्रदीपिका तथा अष्टागहृदय की तत्त्वबोध व्याख्या।

चरकसंहिता

चरकसहिता मे ८ स्थान तथा १२० अध्याय है। इन स्थानो का नाम है—

(१) **सूत्रस्थान**—जिसमे वैद्यक सम्बन्धी बहुत सी उपयोगी सामान्य बातो का वर्णन है। इसमे ३० अध्याय है जिसके २७ वे अध्याय मे अन्न-पान विधि का विस्तृत वर्णन है। इसके भीतर शूकधान्य, शमीधान्य, मास, दुग्ध आदि बारह वर्गो का विस्तार से वर्णन है।

(२) **निदानस्थान**—मे केवल ८ अध्याय हैं।

(३) **विमानस्थान**—मे भी अध्यायो की सख्या उतनी ही है। 'विमान' का अर्थ है—दोषादि का मान, अर्थात् प्रभाव आदि का विशेष ज्ञान। इसका अन्तिम

---

१. यादवजी के द्वारा सम्पादित तथा निर्णयसागर से मुद्रित, बम्बई।

अध्याय तत्कालीन अध्ययन अध्यापन विधि की जानकारी के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण तथा पर्याप्त रोचक है।

(४) **शरीरस्थान**—मे ८ अध्याय हैं।

(५) **इन्द्रियस्थान**—मे १२ अध्याय है।

(६) **चिकित्सास्थान**—बहुत ही बडा तथा विशद हैं जिसमें सूत्रस्थान के समान ही ३० अध्याय हैं, परन्तु इन अध्यायो मे केवल १३ अध्याय मौलिक हैं तथा अन्तिम १७ अध्याय दृढबल के द्वारा पूरित हैं।

(७) **कल्पस्थान**—तथा अन्तिम खण्ड

(८) **सिद्धिस्थान**—मे प्रत्येक मे १२ अध्याय हैं और ये दृढबल के द्वारा पूरित हैं। इस प्रकार पूरे ग्रथ मे ८ स्थान तथा १२० अध्याय है जिनमे से अन्तिम ४१ अध्याय दृढबल की रचना है। इसलिए चरकसहिता के आदिम ७९ अध्यायो के अन्त मे सर्वत्र मिलता है—'अग्निवेशकृते चरकप्रतिसस्कृते'। शेष ४१ अध्यायो मे अतिम वाक्य इस प्रकार परिवर्तित हो गया है—अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसस्कृते दृढबलमपूरिते' (२५ वें अध्याय मे) 'अन्यत्र अप्राप्ते दृढबलपूरिते' या 'दृढबलसपूरिते' है।

शारीरस्थान मे पचमहाभूत तथा चेतना के मिलने से 'पुरुष' के उत्पन्न होने का वर्णन है। यहाँ ईश्वर, प्रकृति तथा आत्मा के विषय मे आवश्यक विवरण के बाद मोक्ष का मार्ग, उत्तम सन्तानविधि, सूतिकागृह, प्रसूति तथा कौमारभृत्य का वर्णन है। आधुनिक दृष्टि से विस्तृत न होने पर भी कायचिकित्सा के लिए, विशेषत आध्यात्मिक दृष्टि से यह पूर्ण तथा पर्याप्त है। पचम स्थान है—इन्द्रियस्थान। जिन लक्षणो से निश्चित मृत्यु जानी जाती है उन्हे 'रिष्ट' कहते हैं। ये रिष्ट चक्षु आदि इन्द्रियो के द्वारा जाने जाते हैं। इन्ही की जानकारी के लिए 'इन्द्रियस्थान' की रचना है जिससे वैद्य असाध्य रोगो के निवारण के लिए व्यर्थ प्रयास न करें। षष्ठ चिकित्सास्थान तो चरक का प्राण ही माना जाता है। इसी विशद विवेचन के कारण 'चरकस्तु चिकित्सिते' लोकोक्ति प्रख्यात है। सप्तम कल्पस्थान मे वमन, विरेचन द्रव्यो की कल्पना है तथा उनके भिन्न भिन्न रूपो का वर्णन है। अष्टम स्थान सिद्धिस्थान मे वमन, विरेचन तथा बस्ति की असम्यक योजना से उत्पन्न रोगों को औषधों से दूर कर उनकी सिद्धियो का वर्णन है।

इस सक्षिप्त विषय वर्णन मे भी 'चरकसहिता' के विपुल विन्यास का यत्किञ्चित् परिचय पाठको को लग सकता है। सच तो यह है कि यह चिकित्साशास्त्र—आयुर्वेद विज्ञान—का एक महनीय विश्वकोश है जिसमे इस शास्त्र के मौलिक तथ्यो तथा सिद्धान्तो का बडा ही गम्भीर विवेचन है। इसके अतिरिक्त चरक-सहिता प्राचीन

भारतीयो के जीवनवृत्त तथा भारतीय समाज का नितान्त उज्ज्वल चित्र प्रस्तुत करती है। चरक की अनेक विशिष्टतायें कश्यप-संहिता मे भी उपलब्ध होती हैं। चरक का युग विचार के स्वातन्त्र्य का पोषक था। कोई भी सिद्धान्त विद्वानो की सभा मे निर्णीत होने पर ही सर्वमान्य होता था। आयुर्वेदीय तथ्यो के निर्णय के लिए चरक ने तद्विद्य सभाषा (विषय के जानकारो की सभा या परिषद) की स्थापना की बात लिखी है। सभाषा दो प्रकार होती थी—सन्धाय सभाषा (= मित्रता पूर्वक विचार विमर्श) विगृह्य सभाषा (= विग्रह पूर्वक विचार)। इस प्रसग मे (विमानस्थान ८ अ०) मे चरक ने वाद के लिए उपयोगी शिक्षा तथा तर्कपद्धति का विन्यास किया है, जो गौतम के न्यायसूत्रो से पूर्णतया मिलती है। ऐसी गोष्ठियो का उल्लेख चरक ने कई बार किया है। चरक न अपने युग के वैद्यो को दो कोटियो मे रखा है—प्राणाभिसर (= सद्वैद्य) तथा रोगाभिसर = मूर्ख वैद्य) और दोनो का लक्षण बडे विस्तार से दिया है। चरक ने विवाह के विषय मे बहुत ही सुन्दर विवेचना की है। संभोग का वय उन्होने १६ से लेकर ७० तक माना है तथा विवाह का वय पुरुष के लिए २१ वर्ष तथा कन्या के लिए १२ वर्ष। तीन वर्ष के अनन्तर द्विरागमन होता था। तब जाकर सन्तान के उत्पादन की क्षमता आती थी। चरक उत्तम सन्तान को राष्ट्र का हित मानते हैं और इसलिए जातिसूत्रीय अध्याय मे गर्भाधान के सुन्दर नियमो का उल्लेख बडी गम्भीरता के साथ करते हैं। उस प्राचीन युग की रहन सहन की जानकारी के साधन तो यहाँ प्रतिपृष्ठ पर निर्दिष्ट हैं। उस युग मे 'आतुरालय' (अस्पताल) कितने तथा कौन कौन से साधनों से युक्त होते थे, इसका सुन्दर विवरण यहाँ है। तथ्य यह है कि चरकसंहिता की दृष्टि बडी उदार तथा विशाल है। उदार दृष्टि से देखने पर आयुर्वेद की अनन्तता समझ मे आती है। चरक के विषय मे भी महाभारत के समान ठीक ही कहा गया है—

चिकित्सा वह्निवेशस्य स्वस्थातुरहितं प्रति।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

सुश्रुतसंहिता

आयुर्वेद के इतिहास मे चरक के अनन्तर सुश्रुत का महत्त्वपूर्ण स्थान आता है और इनकी संहिता सुश्रुतसंहिता चरकसंहिता के समान ही उपादेय, प्रामाणिक तथा प्राचीन मानी जाती है। सुश्रुत के व्यक्तिगत इतिहास का पता नही चलता। उपलब्ध 'सुश्रुत-संहिता' के उपदेष्टा काशीपति दिवोदास हैं (जो धन्वन्तरि के अवतार माने जाते हैं) तथा श्रोता 'सुश्रुत' हैं। सुश्रुत के विश्वामित्रपुत्र होने का उल्लेख इस संहिता (उत्तरतन्त्र, अध्याय ६६) मे किया गया है। चक्रदत्त ने भी इसका समर्थन किया है। महाभारत से भी इसकी पुष्टि होती है (अनुशासन पर्व, अ० ४)। भावमिश्र ने भी

विश्वामित्र को काशीपति दिवोदास के पास अपने पुत्र सुश्रुत को अध्ययनार्थ भेजने का उल्लेख किया है। काश्यप तथा आत्रेय के समान विश्वामित्र गोत्रवाची शब्द हैं। फलत सुश्रुत विश्वामित्रगोत्री किसी ब्राह्मण के पुत्र थे। इससे अधिक पता नहीं चलता।

सुश्रुत सहिता का काल

सुश्रुत सहिता के रचनाकाल का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। डा० हार्नली तो इसे 'चरकसहिता' के समान ही प्राचीन मानते थे, परन्तु ग्रन्थ की अन्तरग परीक्षा उसकी इतनी प्राचीनता मानने मे बाधक है। खोटान से मिले हुए वैद्यक ग्रन्थ 'नावनीतक' के भाव तथा शब्द सुश्रुत के वचनो तथा भावो से मिलते हैं। नावनीतक की रचना तृतीय या चतुर्थ शती मे गुप्तों के युग मे बतलाई जाती है। फलत सुश्रुतसहिता इससे प्राचीनतर है। नागार्जुन के 'उपायहृदय' नामक दार्शनिक ग्रन्थ का तिब्बती भाषा से सस्कृत मे जो अनुवाद डा० तुशी ने प्रकाशित किया है उसमे वैद्यशास्त्र मे कुशल सुश्रुत का नाम निर्दिष्ट किया गया है, यथा—सुवैद्यो भेषजकुशलो मैत्रचित्तेन शिक्षक सुश्रुत। नागार्जुन का भी समय द्वितीय शतक है। फलत सुश्रुत को नागार्जुन से प्राचीन होना चाहिए। 'सुश्रुत' नाम तो बहुत ही प्राचीन है। महाभाष्य के कर्ता पतञ्जलि (द्वितीय शती ईसा पूर्व) ने ही १।१।३ सूत्र के भाष्य मे 'सौश्रुत पार्थिवा' का उल्लेख नहीं किया है, प्रत्युत महर्षि पाणिनि ने भी ६।२।३७ सूत्र मे इस नाम का सकेत किया है।

चरक के समान सुश्रुत की कीर्तिपताका भारत के बाहर भी फहराती रही है। नवम शती मे इसका उल्लेख अरबी भाषा के वैद्यक ग्रन्थ मे मिलता है वृहत्तर भारतके कम्बोजदेश के राजा यशोवर्मा (१०म शती) के शिलालेख मे भी 'सुश्रुत' के नाम का निर्देश उनकी महत्ता तथा व्यापकता का द्योतक है। 'वृद्धसुश्रुत' नामक प्राचीन ग्रन्थकार हो गये हैं जिनके ग्रथ 'सौश्रुत-तन्त्र' का उल्लेख प्राचीन टीकाग्रन्थो मे अनेकश किया गया है। विजय रक्षित ने 'माधवनिदान' की टीका मे तृणपुष्पाख्य ज्वर के विषय मे जो पाठ वृद्ध-सुश्रुत से दिया है, वह वर्तमान 'सुश्रुतसहिता' मे उपलब्ध नहीं होता। इसी प्रकार श्रीकठ ने सिद्धयोग की टीका मे पिप्पल्यादि तेल के प्रसग मे वृद्ध सुश्रुत का पाठ दिया है वह एकदम अपूर्व है। वर्तमान सुश्रुतसहिता मे इस तेल का नाम भी नहीं मिलता। बहुत से विद्वान् वर्तमान सुश्रुतसहिता को इसी वृद्ध सुश्रुत-रचित 'सौश्रुत-तन्त्र' के आधार पर विरचित मानते हैं परन्तु अभी तक इस प्रश्न का यथार्थ निर्णय नहीं हो सका है।

सुश्रुतसहिता का वर्ण्य विषय

इस सहिता मे ६ खण्ड या स्थान हैं—जिनके क्रमश नाम हैं—(१) सूत्रस्थान, (२) निदानस्थान, (३) शारीरस्थान, (४) चिकित्सास्थान, (५) कल्पस्थान तथा

(६) उत्तरतन्त्र । आदि के पाँच स्थानों के अध्यायों की सख्या १२० है तथा इनमे न आनेवाले विषयो का वर्णन उत्तरतन्त्र (६६ अध्याय) मे किया गया है । पहिले खण्डो मे आयुर्वेद के शल्य, कौमार भृत्य, रसायन वाजीकरण तथा अगद तन्त्र—इन पाँच अगों के विषयो का समावेश हो गया है । शेष तीन अगो (शालाक्य, कायचिकित्सा तथा भूतविद्या) का विवरण उत्तर-तन्त्र में देकर पूरे अगों का वर्णन इस संहिता को विषय की दृष्टि से भी सर्वाङ्गपूर्ण बना रहा है। (१) सूत्रस्थान मे ४८ अध्याय है जो पूरे ग्रन्थ के चतुर्थांश से भी अधिक है । यह स्थान विषय की दृष्टि से भी बहुत ही महत्वपूर्ण है और यहाँ आयुर्वेद के मौलिक तथ्यों का विवेचन बडी मार्मिकता के साथ सक्षेप मे किया गया है ।

सुश्रुत ने कर्मज्ञान तथा शास्त्रज्ञान दोनो पर जोर दिया है। वैद्य को दोनो का ज्ञान रखना नितान्त आवश्यक होना है। एक ज्ञान को रखनेवाला व्यक्ति एक पाख वाले पक्षी के समान अपना कार्य सम्पादन नहीं कर सकता।[1] इस प्रकार सुश्रुत की सम्मति मे आयुर्वेद शास्त्र का ज्ञान ही वैद्य के लिए उपादेय नही होना, प्रत्युत उसकी क्रिया का भी ज्ञान नितान्त आवश्यक है। शल्यशास्त्र का विशेष वर्णन यहा किया गया है । व्रणो के गुण, व्रण को जन्तुनाशक बनाने के लिए धूप का देना, जीवाणुओं से घाव को बचाना आदि उपयोगी बातें दी गई है। यन्त्रों की सख्या एक सौ बतलाई गई है, जो केवल सामान्यरूप से निर्देश है। शस्त्रो की सख्या बीस होती है । रक्तमोक्षण के लिए जलौका (जोक) का उपयोग भी विस्तार से बताया गया है। शल्यचिकित्सा भी यहाँ मुख्यरूप से वर्णित है ।

(२) निदान-स्थान—(१६ अध्याय) इसमे मुख्यत शल्यसम्बन्धी रोगो के निदान का वर्णन है ।

(३) शारीरस्थान—(१० अध्याय) मे शरीर के अवयवो का वर्णन है । सांख्यो के अनुसार सृष्टि के क्रम का भी वर्णन है । तदनन्तर शुक्र, शोणित, गर्भ का बनना, गर्भ के अग प्रत्यगो का वर्णन है। अस्थियो की गणना मे वेदवादियों का मत प्रदर्शित है । अन्तिम अध्याय मे कौमारभृत्य का रोचक विवरण है ।

(४) चिकित्सास्थान—(४० अध्याय) मे शल्यतन्त्र सम्बन्धी रोगो तथा उनके प्रकारो का विशिष्ट वर्णन है । शल्यसम्बन्धी विधि के अनन्तर-स्वस्थवृत्त तथा सदवृत्त का भी उपयोगी विवरण है ।

(५) कल्पस्थान—(८ अध्याय) मे विष की चिकित्सा वर्णित है। स्थावर तथा जगम विषो के लक्षण तथा प्रकार का विवेचन कर सर्पविष की चिकित्सा

---

१ उभावेतावनिपूर्णावसमर्थौ स्वकर्मणि ।
अर्धवेदधरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ ॥ —सुश्रुत, सूत्रस्थान ३।५०

आचूषण (रक्त चूस लेना), छेद (काटना) तथा दाह (काटे हुए स्थान को जलाना) के द्वारा बतलाई गई है।

(६) उत्तर तन्त्र—(६५ अध्याय) में नेत्र, कर्ण, नासा तथा शिर के रोगों का, बालग्रह की शान्ति का तथा काय—रोगों की चिकित्सा का सुन्दर वर्णन ग्रन्थ को समाप्ति पर लाता है। इस संक्षेप विवरण से ग्रन्थ के महत्वपूर्ण विषयों की जानकारी हो सकती है।

सुश्रुतसंहिता के टीकाकार

'सुश्रुतसंहिता' भी अपनी टीका सम्पत्ति के कारण नितान्त प्रख्यात है। बहुत सी टीकाएँ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। उनके नाम का अवान्तर टीकाग्रन्थों में उल्लेख होने से उनके अस्तित्व का परिचय हमें प्राप्त होता है। प्रधान टीकाकारों का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

(१) माधवकर—माधवनिदान के प्रणेता माधवकर ने 'सुश्रुत शास्त्रवार्तिक' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था, जो अब उपलब्ध नहीं है। इनके निदान-ग्रन्थ का अरबी भाषा में अनुवाद अष्टम शती में हुआ जिससे इनकी सत्ता इस शती से पूर्व ही सूचित होती है।

(२) जेज्जट—इनकी भी 'सुश्रुतटीका' नाम्नी सुनी गयी है। ये बड़े ही योग्य आयुर्वेदज्ञ थे। इन्होंने चरक के ऊपर भी टीका लिखी है जिसका परिचय दिया जा चुका है। कुछ लोग इन्हें वाग्भट का शिष्य मानते हैं, परन्तु ये वृद्ध वाग्भट के साक्षात् शिष्य समय की भिन्नता के कारण कथमपि नहीं हो सकते। इनका सम्भावित समय नवम शती है।

(३) गयदास—इन्होंने 'सौश्रुतपंजिका' नामक व्याख्या लिखी थी जिसका केवल निदान स्थान अंश उपलब्ध है, शेष भाग नष्ट हो गया है। बंगाल के किसी अधिपति के ये अन्तरंग वैद्य थे और इस नरपति का नाम सम्भवतः महीपाल था।

(४) चक्रपाणि—इनकी 'भानुमती' नाम्नी टीका सुनी जाती है, पर इस समय उपलब्ध नहीं है। ये बंगाल के राजा नयपाल के राजवैद्य तथा प्रधान मन्त्री थे। ये राजा १०४० ईस्वी में राजगद्दी पर बैठे। फलतः चक्रपाणि का समय ११ शती का मध्यकाल था। इनकी चरकटीका अपनी प्रामाणिकता तथा प्रमेय-बहुलता के कारण नितान्त प्रख्यात है। ये गुण इनकी सुश्रुतटीका में भी अवश्य विद्यमान होंगे, परन्तु टीका के न मिलने से इसके विषय में विशेष नहीं कहा जा सकता।

(५) डल्हण—सुश्रुत के ये ही प्रौढ़ टीकाकार हैं जिनकी टीका प्रकाशित है तथा प्रसिद्ध है। टीका का नाम है—निबन्धसंग्रह। यह टीका अपने गुणों के

कारण सर्वोत्तम मानी जाती है। ये भादानक प्रदेश म मथुरा के पास 'अकाला' ग्राम मे रहते थे। इनके पिता का नाम था भरतपाल, जो नृपालदेव के राजवैद्य थे। डल्लण इन्ही नृपालदेव के पुत्र सहदेव के राजवैद्य थे। इनके समय का सकेत अनुमानत किया जा सकता है। हेमाद्रि (१३ शती) ने इनके नाम का उल्लेख अपनी टीका मे किया है, तथा इन्होंने स्वय राजा लक्ष्मण सेन के सभापण्डित और ब्राह्मणसर्वस्व आदि ग्रन्थो के प्रणेता 'हलायुध (१२ शती) का उल्लेख अपने ग्रन्थ म किया है। फलत इनका समय १२वी तथा १३वी शती के मध्य मे होना चाहिए। इनकी टीका बडी प्रौढ मानी जाती है जिसमे सुश्रुत के मम समझन मे बडी सरलता आती है। डल्लण का बगभाषा स परिचय बहुत ही अधिक प्रतीत होता है। सस्कृत शब्दो का प्रतिशब्द इन्होंने बगला मे दिया है जो बिल्कुल ठीक है[१]।

सुश्रुत का महत्त्व

आयुर्वेद के प्राचीन इतिहास की जानकारी के लिए चरकसहिता के समान सुश्रुतसहिता का भी महत्त्वपूर्ण उपयोग है। सुश्रुतसहिता शल्यचिकित्सा का प्रधान ग्रन्थ है। किसी युग मे औपधेनव, औरभ्र आदि तन्त्रो का प्रचुर प्रचार था, परन्तु आज ये ग्रन्थ अतीत की स्मृति बन गये है और कतिपय वैद्यक ग्रन्थो मे दिये गये उद्धरणो के आधार पर जीवित हैं। इन तन्त्रो के कर्ता काशीपति दिवोदास के शिष्य थे। दिवोदास धन्वन्तरि के अवतार माने जाते हैं। इसीलिए शल्यचिकित्सको का सामान्य नाम है धान्वन्तरीय (सर्जन)। इस परम्परा का सुश्रुत सहिता उसी प्रकार प्रधान ग्रन्थ है जिस प्रकार चरकसहिता कायचिकित्सा का। सुश्रुत उस युग की सर्जरी का एक मौलिक ग्रन्थ है। सूत्रस्थान मे (९ । ३६) छेद्यकर्म भेद्यकर्म, लेख्यकर्म, वेध्यकर्म, एष्यकर्म, आहार्यकर्म, विस्राव्य कर्म, सीव्यकर्म, बन्धनकर्म, कर्णसधि, बन्ध-कर्म, अग्निक्षारकर्म नत्रप्रणिधान, बस्तिकर्म का वर्णन अभ्यास करने की विधि के साथ किया गया है। सुश्रुत ने शरीर के अवयवो का वर्णन बडी छानबीन के साथ किया है जिसमे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने स्वत अनुभव के आधार पर लिखा है। ग्रन्थकार जानता है कि शिराबेधन मे कोई भी व्यक्ति बहुत पारगत नहीं हो सकता, क्योंकि ये शिरायें तथा धमनियाँ मछली के समान चचल हुआ करती है। इसलिए उनका वेधन बडी सावधानी के साथ करना चाहिए।[२]

---

१ मूल ग्रन्थ तथा डल्लण की टीका का सस्करण निर्णय-सागर प्रेस से प्रकाशित है।

२ शिरासु शिक्षितो नास्ति चला ह्येता स्वभावत ।
मत्स्यवत् परिवर्तन्ते तस्माद् यत्नेन ताडयत् ॥
(सुश्रुत, शा० ८।१०)

इसी प्रकार घावों की सिलाई, सीने के प्रकार, घावों का बांधना (व्रणबन्धन) तथा उसके चौदह प्रकार पट्टी बांधने के स्थान, आलेप तथा आलेपन, शस्त्रागार तथा उपयुक्त सामग्री आदि विषयों का वर्णन इतने सांगोपांग रूप से किया गया है कि प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार आधुनिक गवेषणाओं से भी पूर्ण परिचित है। चरक-संहिता की अपेक्षा सुश्रुतसंहिता के युग में ब्राह्मणधर्म पर विशेष जोर दिखाई पड़ता है तथा वर्ण-व्यवस्था का विशेष साम्राज्य छाया हुआ था। जहाँ चरक ने शूद्रों को भी आयुर्वेद पढ़ने का अधिकार दिया है, वहाँ सुश्रुत उन्हें इस अधिकार से वञ्चित रखते हैं। अन्य बहुत सी बातें इस सिद्धान्त की पोषक हैं। तथ्य यह है कि सुश्रुत चरक के पूरक हैं। दोनों का अध्ययन आयुर्वेद के ठोस ज्ञान के लिए मूलाधार है। इन दोनों में वैद्यक शास्त्र के इतने मौलिक तथ्य स्थान-स्थान पर सकेतित तथा विकीर्ण पड़े हुए हैं जिन्हें एकत्र कर विषय पर नये-नये अनुसन्धान भली भाँति किये जा सकते हैं।

बावर हस्तलेख के वैद्यक ग्रन्थ

१८९० ई० बावर साहब को काशगर (मध्य एशिया) से अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों की प्राप्ति हुई जिनमें वैद्यक सम्बन्धी सात ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। यह पूरा संग्रह बावर हस्तलेख के नाम से विख्यात है जिसका विवरणात्मक संस्करण डा० हार्नली ने १९१४ ई० में इसी नाम से निकाला। लिपि की परीक्षा से ये ग्रन्थ निश्चय रूप से चतुर्थ शती के हैं। इसके सात ग्रन्थों में से प्रथम लघुकाय ग्रन्थ में लहसुन तथा उसके प्रयोग से उत्पन्न दीर्घजीविता का वर्णन किया गया है। दूसरे ग्रन्थ में एक सहस्र वर्ष तक जीने के लिए उपयोगी रसायन का वर्णन है तथा नेत्र रोग की उपयोगी चिकित्सा बतलाई गई है तीसरे ग्रन्थ में अन्तः तथा बाह्य उपचार के लिए चौदह औषध-योगों का वर्णन है।

इनमें सबसे महत्त्वशाली ग्रन्थ है 'नावनीतक', जो विस्तार में अन्य लघुकाय ग्रन्थों की अपेक्षा बड़ा है। इसमें सोलह अध्याय हैं जिनमें चूर्ण, कषाय, तैल, रसायन, वाजीकरण औषध तथा अन्य योगों का वर्णन है। बाल-चिकित्सा के विषय में भी एक उपादेय ग्रन्थ यहाँ सम्मिलित है। इसमें आया हुआ 'लहसुनकल्प' चरक-संहिता के लहसुनकल्प तथा अष्टाङ्गसंग्रह के लहसुनकल्प से मिलता है। इसमें चरक तथा सुश्रुत संहिता के वचन, जीवक आदि प्रसिद्ध विद्वानों के योग तथा भेलसंहिता के योग यहाँ संगृहीत हैं। यह एक संग्रह ग्रन्थ प्रतीत होता है, जो उस समय के प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थों के आधार पर संगृहीत किया गया है। नावनीतक में काशायन, आत्रेय, क्षारपाणि, जातूकर्ण, पराशर, भेल तथा हारीत के नाम और वचन उद्धृत हैं। यहाँ सुश्रुत का नाम है, परन्तु चरक का नाम निर्दिष्ट नहीं है, तथापि ग्रन्थकार

चरक से पूर्ण परिचित था और उसने उसकी संहिता का पर्याप्त उपयोग ग्रन्थ में किया है। ये ग्रन्थ छन्दोबद्ध हैं जिनमें नाना प्रकार के दीर्घवृत्तों का भी प्रयोग किया गया है। इसकी भाषा प्राकृत मिश्रित संस्कृत है और अवान्तर बौद्ध ग्रन्थों की भाषा से बहुत मिलती है। भाषा ऐसी है जिसमें प्रतीत होता है कि प्राकृत लिखने का अभ्यासी पुरुष संस्कृत में ग्रन्थ लिख रहा हो। शामयति के स्थान पर शमेति, शामयन्ति के स्थान पर शमेन्ति, धाविरवा के स्थान पर धोवित्वा, आमिशोदन के स्थान पर आमिशौदन प्राकृत रूप नावनीतक में विद्यमान हैं। पर्गी तुर्किस्तान से भी बहुत से औषध योगों का संग्रह मिला है। उसमें भी इसी तरह की प्राकृत मिश्रित संस्कृत का प्रयोग किया गया है। ऐसी भाषा के प्रयोग में कुछ आश्चर्य भी नहीं होता, क्योंकि वहाँ के वैद्य संस्कृत भाषा की सूक्ष्म बारीकियों से परिचित न होने के कारण ऐसी मनगढ़ संस्कृत लिखने के अभ्यासी प्रतीत होते हैं। ऐसी संस्कृत का प्रयोग अनेक बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है जिसे आजकल के विद्वान 'मिश्रित संस्कृत' (हाईब्रीड संस्कृत) के नाम से पुकारते हैं। अतः सम्भावना यह है कि इन ग्रन्थों के संकलनकर्ता बौद्ध थे।

वाग्भट

वाग्भट की चार रचनायें प्रख्यात हैं—

(१) **अष्टांगसंग्रह**—(जिसका नाम वृद्ध वाग्भट है)।

(२) **मध्यसंहिता** —(इसका नाम मध्यवाग्भट है। परन्तु यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है)।

(३) **अष्टांगहृदय**—(यह 'स्वल्प वाग्भट' के नाम से प्रख्यात है)।

(४) **रसरत्नसमुच्चय**—('रस वाग्भट' के नाम से प्रसिद्ध)। इनमें तीनों ग्रन्थ बहुत पहिले ही प्रकाशित हो चुके हैं। अष्टांगसंग्रह गद्यपद्य संवलित है जिसमें ६ स्थान तथा १५० अध्याय हैं[1]। बारह सहस्र श्लोक के होने से यह 'द्वादश साहस्री' के नाम से प्रख्यात है। अष्टांगहृदय—विशुद्ध पद्यबद्ध है। स्थान वे ही छः हैं, परन्तु अध्यायों की संख्या केवल १२० है। सम्भवतः यह 'अष्टसाहस्त्री' के नाम से प्रसिद्ध है। मध्यवाग्भट की संज्ञा सम्भवतः 'दशसाहस्री' रही होगी। रसरत्नसमुच्चय पूना के आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला में प्रकाशित है। अष्टांगहृदय (७४४४ श्लोक) पद्यबद्ध होने के कारण संग्रह की अपेक्षा कहीं अधिक लोकप्रिय तथा व्यापक है। इसके ऊपर ३५ टीकाओं की सत्ता विद्यमान है जिनमें हेमाद्रि तथा अरुणदत्त की टीकायें नितान्त प्रसिद्ध हैं।[2]

---

१ इन्दु रचित शशिलेखा व्याख्या के साथ तीन खण्डों में प्रकाशित, त्रिचूर, १९१३—२४।

२, अरुणदत्त की टीका के साथ प्रकाशित निर्णय-सागर प्रेस, १८९१ ई०)

मध्यसंहिता की पृथक् सत्ता

वाग्भट के नाम से प्रख्यात तीन ग्रन्थ प्रकाशित हैं, परन्तु 'मध्यसंहिता' के अस्तित्व के निमित्त प्रमाणों की अपेक्षा है। इस ग्रन्थ के अस्तित्व का तथा स्वातन्त्र्य का प्रमाण निश्चलकर (१११०—११२० ई०) के ग्रन्थ 'रत्नप्रभा' से सिद्ध होता है जिसमे वाग्भट के इतर दोनो ग्रन्थो के उद्धरण के साथ मे मध्यसंहिता से भी प्रभूत उद्धरण दिये गये है। एक दो उद्धरणो की भी समीक्षा इसका स्पष्ट प्रमाण है—

(१) निश्चलकर ने एक ही विषय मे वृद्ध वाग्भट तथा मध्य वाग्भट के वचनो को पृथक् रूप से उद्धृत किया है--

अत्रान्तरे सर्वज्वरशान्तये वृद्धवाग्भटवाक्य द्रष्टव्य × × × वाग्भटमुने-- मध्यसंहितायामपि तद्वाक्य स्मर्तव्यम्।

(२) उक्तं च वाग्भटमुनेन मध्यसंहितायाम् —मल्लातकानि तीक्ष्णानि · · तैलाभ्यङ्गानि सेवनात्।

यहाँ तीन श्लोक उद्धृत है जो संग्रह मे (उत्तर, अ० ४९) तथा हृदय (अ० ३९) मे उसी रूप मे उपलब्ध होते हैं।

(३) यदुक्त मध्यवाग्भटे—अर्शोऽतीसारग्रहणीविकारा सहसा व्रजन्ति।

यह श्लोक–संग्रह तथा हृदय दोनो ही ग्रन्थो मे उपलब्ध है।

ये तो पद्यात्मक उद्धरण हैं, अनेक गद्यात्मक उद्धरण भी इस ग्रन्थ मे मिलते हैं। 'मध्यवाग्भटे पित्तजेषु" आदि। यह गद्य संग्रह (तृतीय भाग, पृ० १९०) मे उपलब्ध है। इसका निष्कर्ष यह है कि 'मध्यसंहिता' नामक वाग्भट की रचना निःसन्देह १२ वी शती मे उपलब्ध थी और यह संग्रह के समान ही गद्य पद्य उभय रूप मे थी। परिमाण मे वृहदाकार अष्टागसंग्रह से न्यून तथा स्वल्पाकार अष्टागहृदय से बड़ा होने के कारण ही यह ग्रन्थ 'मध्यसंहिता' के नाम से प्रसिद्ध था। पद्यबद्ध 'हृदय' की समधिक लोकप्रियता ने इसका प्रचार ही निरस्त कर दिया और इसी हेतु यह ग्रन्थ पठन-पाठन से लुप्तप्राय हो गया।

वाग्भट एक ही ग्रन्थकार

तीनों ग्रन्थो के विभिन्न आकार के कारण ही उनके रचयिता वाग्भट तीन नामों से पुकारे गये हैं। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि ये तीनों ग्रन्थकार एक ही थे या भिन्न भिन्न ? अनेक आलोचको ने संग्रह तथा हृदय के तथ्यों मे विरोध दिखला कर उनके कर्ताओं मे भी पार्थक्य दिखलाने का प्रयास किया है, परन्तु यह सिद्धान्त नितान्त असमीचीन है। इनके ऐक्य-साधक कतिपय प्रमाण नीचे दिये जाते हैं —

(१) निश्चलकर ने तीनो वाग्भटो का निर्देश करते समय कभी उनके पार्थक्य का उल्लेख नही किया है। उनकी दृष्टि मे ये तीनो एक ही ग्रन्थकार थे, यह तथ्य उनके उद्धरणों की परीक्षा भली भांति सिद्ध करती है। 'कण्ठरोग' के विषय मे उन्होंने एक स्थान पर 'स्वल्पवाग्भटस्य' लिखकर उद्धृत पद्य के आधारस्थल 'अष्टाङ्गहृदय' की ओर संकेत किया है। इस स्थान पर 'पटोलशुण्ठीत्रिफला विशाला' पद्य के विषय मे 'वाग्भटस्य' निर्देश किया है, यद्यपि यह पद्य संग्रह में न मिलकर अष्टाङ्गहृदय मे ही मिलता है। निष्कर्ष यही है कि वे हृदय के कर्ता को संग्रह के कर्ता से भिन्न नही मानते थे।

(२) चक्रपाणि ने ज्वर के प्रसग मे 'इत्याह वाग्भट' कहकर एक श्लोक उद्धृत किया है, जो संग्रह तथा हृदय दोना ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है।

(३) इन्दु कश्मीर के निवासी थे और ११ वी शती मे विद्यमान थे। इन्होने अष्टागसग्रह की व्याख्या 'शशिलेखा' नाम से किया है। इनके पृ० ११७ पर उन्होंने दोनो की एकता स्पष्टत स्वीकृत की है।

(४) चन्द्रनन्दन ने (जो अष्टाग हृदय के प्राचीनतम व्याख्याकार हैं) अपनी टीका के अनेक स्थलो पर हृदय तथा संग्रह के कर्ताओ को एक ही माना है—

तथा च सग्रहे प्रोक्तमाचार्येण (पृ०१०२),
तथा च सग्रहेऽप्युक्तमाचार्येण (पृ० ४७६)।

आचार्य शब्द से ग्रन्थकार का ही उल्लेख यहाँ अभिमत है। व्याख्याकार का आशय है कि हृदय के निर्माता ने ही संग्रह मे भी यह मत व्यक्त किया था। फलत दोनो के लेखको को वे एक ही व्यक्ति मानते थे।

(५) अरुणदत्त भी दोनो के ऐक्य मानने के ही पक्ष मे हैं। हृदय की व्याख्या करते समय अनेकत्र इन्होने ग्रथकार के सग्रह मत का निर्देश किया है। "तथा ह्ययमेव तन्त्रकार सग्रहे मधुनो भेदानाख्यत्" (पृ० ३९)। इससे स्पष्टतर उक्ति क्या हो सकती है? हृदय के लेखक स्वल्प वाग्भट ने सग्रह मे मधु के भेदो को बताया है—यह कथन स्पष्टत दोना ग्रथो को एक ही व्यक्ति की रचना मानता है।

इतने सुदृढ प्रमाणो के होने पर अनेक वाग्भटो की कल्पना करना नितान्त अनुचित है। सग्रह तथा हृदय के वचनों मे विरोध दिखलाकर लेखक का पार्थक्य नही सिद्ध किया जा सकता। नागोजी भट्ट ने व्याकरणतन्त्र मे बृहत्-मञ्जूषा, लघुमञ्जूषा तथा परमलघुमञ्जूषा नामक तीन ग्रथो की रचना की है। इनके सिद्धान्तो मे कही कही विरोध होने पर भी क्या ग्रथकार की विभिन्नता मानी जाती है? फलत तथ्य यही है कि वाग्भट नामक एक ही ग्रथकार ने इन तीनो ग्रथो का कालान्तर से प्रणयन किया था। इस प्रकार वाग्भट की एकता मे सन्देह का लेश भी नही होना चाहिए।

अष्टांगहृदय के अन्तिम अंश के अनुशीलन से भी स्पष्ट हो जाता है कि संग्रह को ही अल्प प्रयास से सीखने वालों के लिए ही हृदय का निर्माण किया गया है। दोनों के रचयिताओं का ऐक्य भी भली-भाँति समर्थित होता है —

अष्टाङ्गवैद्यकमहोदधिमन्थनेन
योऽष्टांगसंग्रहमहामृतराशिराप्तः ।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां
प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम् ।।
(अष्टांगहृदय, पष्ठ-स्थान, ४० ८०)

इस पद्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस पृथक् तन्त्र (ग्रंथ) की रचना का उद्देश्य 'अल्पसमुद्यमानां प्रीत्यर्थम्' है। इससे संग्रह तथा हृदय के निर्माताओं की अभिन्नता स्पष्ट सिद्ध होती है।

'रसरत्नसमुच्चय', जो सुभीते के लिए 'रसवाग्भट' के नाम से वैद्यों में प्रख्यात है, इसी वाग्भट की रचना है। इसके प्रणेता वाग्भट ने अपने को सिंहगुप्त का पुत्र लिखा है जिससे संग्रह तथा रचयिता के साथ उनकी अभिन्नता सिद्ध हो जाती है। तीसट के पुत्र चन्द्रट ने अपने 'योगरत्नसमुच्चय' में 'रसवाग्भट' के नाम से जो उद्धरण दिया है वह रसरत्नसमुच्चय में उपलब्ध होता है। इनके द्वारा अपने ग्रंथ के आधार ग्रंथों में रसवाग्भट के साथ वाग्भट का तथा वृद्धवाहड (वाग्भट का यह प्राकृतभाषाजन्य अभिधान है) का एकत्र निर्देश इसका स्पष्ट प्रमाण है कि ये तीनों एक ही ग्रंथकार के नाम हैं। फलतः 'रसरत्नसमुच्चय' भी वाग्भट की ही निःसन्देह कृति है।

वाग्भट का देश-काल

वाग्भट ने स्वयं अपने जन्मस्थान का निर्देश किया है—'सिन्धुषु लब्धजन्मा' (संग्रह, उत्तरतन्त्र, अ० ५०) जिससे उनका जन्मस्थान सिन्धु प्रदेश निश्चयेन प्रतीत होता है। निश्चल ने उन्हें 'मुनि' और एक बार 'राजर्षि' भी कहा है। जज्जट की टीका के अनुसार ये 'महाजह्नुपति' कहे गये हैं। ये जज्जट वाग्भट के ही शिष्य थे। अतएव उनका प्रामाण्य सर्वतोभावेन मान्य है। यह 'महाजनु' सिन्ध का कोई प्रदेश ज्ञात पड़ता है। एक विद्वान ने कराची जिले में हैदराबाद से पचास मील की दूरी पर सिन्धु नदी के पश्चिमी किनारे पर स्थित 'महजन्द' नामक परगने के नाम से इसे पहिचाना है। वाग्भट यहीं के शासक थे।

वाग्भट वैदिकमतानुयायी थे, परन्तु बुद्धमत के प्रति इनकी आस्था कम न थी। इसलिए चिकित्सा के लिए उन्होंने बौद्ध देवी-देवता की उपासना भी लाभप्रद बत-

लाई है। अब ज्वरों की निवृत्ति के लिए इन्होंने आर्य अवलोकितेश्वर, पर्णशबरी, अपराजिता तथा आर्यतारा को प्रणाम करने का उपदेश दिया है—

आर्यावलोकितं पर्णशबरीमपराजिताम्
प्रणमेदार्यतारां च सर्वज्वरनिवृत्तये ॥

मायूरी, महामायूरी तथा रत्नकेतु जैसे बौद्ध स्तोत्रों के पढ़ने की भी शिक्षा दी गई जिनमें इन्दु के अनुसार मायूरी सात सौ पद्यों का तथा महामायूरी चार हजार श्लोकों का स्तोत्र था। निश्चल ने वाग्भटोक्त कथनों में यह श्लोक उद्धृत किया है—

बोधिचर्यावतारोक्तं कामशोकादिनिन्दितम् ।
आतुरं श्रावयेद् धीमान् बोधयेच्च मुहुर्मुहुः ॥

बोधिचर्यावतार शान्तिदेव की प्रसिद्ध रचना सप्तमी शती के मध्य में रची गई थी। यह श्लोक सम्भवतः मध्यवाग्भट का है, जो आज उपलब्ध नहीं है। फलतः वाग्भट का समय इस काल के पश्चात् ही होना चाहिए—८०० ई० के पीछे।

चक्रपाणि ने चन्द्रट को (योगरत्नसमुच्चय के प्रणेता को) अपने आधार स्थलों में अन्यतम माना है। चक्रदत्त की रचना ११ शती के पूर्वार्ध में की गई थी। चन्द्रट इनसे प्राचीन होने चाहिए। चन्द्रट ने ही रसवाग्भट तथा अन्य वाग्भटों का निर्देश अपने समुच्चय में किया है। फलतः इनका समय १०वीं शती होना चाहिए। इस प्रकार वाग्भट का आविर्भाव काल शान्तिदेव से पीछे तथा चन्द्रट से पूर्व होना चाहिए—नवम शती का मध्य काल (८०० ई० से लेकर ८५० तक)।

पलाण्डुकल्प[1] के प्रसंग में शकाधिपति का निर्देश इस कालनिश्चय में कथमपि बाधक नहीं हो सकता। यह तो इतिहास-प्रसिद्ध घटना है कि कुषाण लोग शक थे, परन्तु कालान्तर में शक शब्द का बहुत व्यापक प्रयोग होने लगा और यह समस्त आर्येतर जातियों—अर्थात् म्लेच्छों के लिए प्रयुक्त होने लगा। यहाँ शक का संकेत मुसलमानों की ओर है, जो वाग्भट के समय तक सिन्ध प्रान्त में अरब से आकर बस गये थे।[2] वाग्भट के ये तीनों ग्रन्थ वैद्यकशास्त्र के जाज्वल्यमान रत्न हैं और इसीलिए तो वाग्भट से अनभिज्ञ वैद्य की सर्वत्र निन्दा की गई है—

सुश्रुते सुश्रुतो नैव वाग्भटे नैव वाग्भटः ।
चरके चतुरो नैव स वैद्यः किं करिष्यति ॥

---

१ रसोनानन्तरं वायोः पलाण्डुः परमौषधम् ।
साक्षादिव स्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम् ॥
(संग्रह, उत्तर, ४९ अ०)

२ वाग्भट के प्रामाणिक विवरण देने का श्रेय डा० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य को है। लेखक इनका विशेष ऋणी है। उनके मत के लिए द्रष्टव्य— एनल्स आफ भण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट पूना, भाग २८, (१९४७), पृष्ठ ११२-१२७।

वाग्भट के ग्रन्थों में कहीं भी अवैदिक तथ्यों का सन्निवेश नहीं पाया जाता। ये बड़े प्रतिभावान् तथा व्यवहारकुशल भिषक् थे। इनके विचार बड़े ही उदात्त थे। सदाचार के वर्णन में ये बड़े अनुभवी थे। काष्ठौषधि के प्रयोग के साथ रसौषधि के प्रयोग को इन्होंने आवश्यक तथा उपादेय माना है। इनके समय में रसौषधों का प्रयोग वैद्यक शास्त्र में सर्वथा मान्य हो गया था। ये रूढ़िवादिता के सर्वथा विरोधी थे और सब स्थानों से ज्ञानसग्रह के पक्ष में थे। इसीलिए इन्होंने कुछ आवेश में आकर लिखा है कि यदि पुराने ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में ही अनुराग है, तो चरक, सुश्रुत को छोड़ कर भेड आदि प्राचीन ग्रन्थकारों की रचनायें क्यों नहीं पढ़ते? सुभाषित ही ग्राह्य होता है, चाहे वह कहीं से आया हो। यह उक्ति वाग्भट के विशाल दृष्टिकोण की परिचायिका है--

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम् ॥

वाग्भट के टीकाकार

इन्दु--इन्दु वाग्भट के ग्रन्थों के मर्मज्ञ व्याख्याता थे। उन्होंने अष्टाङ्गसग्रह की शशिलेखा नाम्नी पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखी है जो प्रकाशित है।[1] अष्टाङ्गहृदय की भी इन्होंने 'शशिलेखा' नामक टीका लिखी थी जिसका हस्तलेख मद्रास के मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी में उपलब्ध होता है[2]। इन्दु की दृष्टि में इन ग्रन्थों का लेखक एक ही अभिन्न वाग्भट नामक आचार्य है--उनकी टीकाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है। इन्दु ने निघण्टु पर भी ग्रन्थ लिखा था जो आज उपलब्ध नहीं है, परन्तु जिसका बहुल उद्धरण क्षीरस्वामी ने अपनी अमरकोश-व्याख्या में किया है। वाग्भट के टीकाकार इन्दु से पृथक् इन्दु नामक किसी वैद्यक ग्रन्थकर्ता का सकेत नहीं मिलता। फलत निघण्टुकार इन्दु को ही वाग्भट व्याख्याकार मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। क्षीरस्वामी का समय भोज के अनन्तर ११ शती का उत्तरार्ध पूर्व ही नियत किया गया है (पृष्ठ ३३७) फलत इन्दु का समय १० शती के अन्तिम चरण से ११ शती के प्रथम चरण तक मानना यथार्थ है (लगभग ९७५ ई --१०२५ ई०)।

इन्दु काश्मीर के ही निवासी थे, क्षीरस्वामी के ही देशवासी। इनकी अष्टाङ्गसग्रहव्याख्या में शाक तथा फलों के काश्मीरी नाम बहुश दिये गये हैं। फलत इनका तद्देशज होना स्वाभाविक है। इन्होंने भट्टारहरिश्चन्द्र या भट्टारक नाम से किसी वैद्यक आचार्य के मत का उल्लेख किया है[3]। परन्तु इन उल्लेखों से पता चलता है भट्टार हरिश्चन्द्र की व्याख्या विद्वज्जन मान्य नहीं था--

---

१ त्रिचूर से १९१३ ई० में तीन खण्डों में प्रकाशित।

२ Triennial Catalogue of Madras MSS Vol IV p 5142

३ किजवडेकर शास्त्री द्वारा सम्पादित सटीक अष्टाङ्ग सग्रह पृष्ठ ९ (निदानस्थान)।

एतदेव हृदि कृत्वा भट्टारहरिचन्द्रेण वा शब्दस्य
निर्दिष्टस्याप्राधान्य लङ्घनस्याप्राधान्य व्याख्यातम् ॥
तच्च भिषक्शास्त्र-निष्णाता नागीकुर्वन्ति ।

ऊपर निर्दिष्ट व्याख्या भट्टार हरिचन्द्र की चरक सहिता के ऊपर है जो चरक-सहिता–भाष्य के नाम से प्रख्यात है । इन्दु का निर्देश इस टीका के कतिपय व्याख्या-स्थलो से ही है, अन्यथा यह चरक की सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या है, नितान्त प्रामाणिक तथा उपयोगी । इन्दु के द्वारा उल्लिखित होने के कारण हरिचन्द्रका समय ९५० ई० अर्थात् दशम शती के मध्यकाल से कथमपि अर्वाचीन नहीं हो सकता । इन्दु ने अष्टाङ्ग सग्रह की व्याख्या मे लिखा है कि वाहट (वाग्भट) दुर्व्याख्याविष से सुप्त थे । उन्हे मेरी यह उक्तियाँ चैतन्य प्रदान कर पुनरुज्जीवित करेंगी—

दुर्व्याख्याविषसुप्तस्य वाहटस्यास्मदुक्तय ।
सन्तु सवित्तदायिन्य सदागमपरिष्कृता ॥

शशिलेखा व्याख्या सग्रहरूपी सरोज को विकसित करनेवाली है—ग्रन्थकार की गर्वोक्ति कथमपि मिथ्या नही है—

रचितदलमिवाङ्गै सग्रहाख्य सरोज ।
विकसति शशिलेखा व्याख्ययेन्दोर्यथाऽत् ॥
(आरम्भिक २ पद्य) ।

अष्टाङ्गहृदय के व्याख्याकार[1]

'अष्टाङ्गसग्रह' की अपेक्षा 'अष्टाङ्गहृदय' बहुत ही लोकप्रचलित तथा प्रख्यात ग्रन्थ रहा है । इसका सकेत उसकी विस्तृत व्याख्या-सम्पत्ति से आज भी मिलता है । इनकी दस टीकायें हस्तलेखो के रूप मे मिलती हैं जिनके नाम हैं—

(१) अरुणदत्त की सर्वाङ्गसुन्दरी, (२) हेमाद्रि का 'आयुर्वेद रसायन, (३) आशाधर कृत व्याख्या, (४) चन्द्रनन्दन की पदार्थचन्द्रिका. (५–७) रामनाथ, टोडरमल्ल तथा भट्ट नरहरि कृत टीकायें, (८) पथ्या नाम्नी टीका, (९) हृदय-प्रबोधिका नामक व्याख्या तथा (१०) दामोदर रचित सकेतमञ्जरी । इन टीकाओ मे से प्रथम दोनो सुन्दर सस्करण मे प्रकाशित हैं ।

(१) **अरुणदत्त**—डा० औफ्रेक्ट ने अपनी 'बृहत् ग्रन्थसूची' मे अरुणदत्त नाम के तीन व्यक्तियो का पृथक् पृथक् निर्देश किया है जिन्होने चार विषयो पर ग्रन्थ लिखे—आयुर्वेद, कोश, व्याकरण तथा शिल्पशास्त्र । ये तीनो समाननामधारी एक ही व्यक्ति

१ निर्णयसागर प्रेस बम्बई से दोनो टीकाओ के साथ अष्टाङ्गहृदय का प्रकाशन हुआ है, १९३८ ।

थे अथवा भिन्न-भिन्न ? यह समस्या अभी समाधेय है। कोषकर्ता तथा वैयाकरण अरुणदत्त को रायमुकुट ने (१४३१ ई०) तथा सर्वानन्द-वन्द्यघटीय (११५९ ई०) ने अपने अमरकोश के व्याख्यानो मे उद्धृत किया है। फलत ये १२ शती के मध्य से पूर्वतन ग्रन्थकार है। शिल्पशास्त्री अरुणदत्त ने 'मनुष्यालयचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया। तृतीय अरुणदत्त ने वाग्भट रचित अष्टाङ्गहृदय की सर्वाङ्ग सुन्दरी नाम्नी व्याख्या लिखी। विजय रक्षित (१२४० ई०) ने आँख की बनावट के बारे मे अरुणदत्त के मत का खण्डन किया है। फलत. ये उनसे पूर्ववर्ती होने से लगभग १२२५ ई० मे वर्तमान थे।

(२) हेमाद्रि रचित आयुर्वेद रसायन टीका—धर्मशास्त्र के इतिहास मे हेमाद्रि की कीर्ति महनीय है। इन्होने 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' नामक विशालकाय निबन्ध का संग्रह किया जिसमे पौराणिक तथा धर्मशास्त्रीय उद्धरण प्रचुर मात्रा मे दिए गये हैं। हेमाद्रि के पिता का नाम था कामदेव, पितामह का वासुदेव तथा प्रपितामह का वामन। ये देवगिरि (वर्तमान दौलताबाद) के यादव शासक महादेव (१२६०-१२७१ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी रामचन्द्र (१२७१-१३०९ ई०) के समय मे राज्य के उच्चाधिकारी थे। आयुर्वेदरसायन 'अष्टाङ्गहृदय' की बडी प्रौढ व्याख्या है। इसकी प्रस्तावना मे उन्होंने चतुर्वर्गचिन्तामणि को उल्लिखित किया है जिससे यह चिन्तामणि से पश्चात्कालीन रचना सिद्ध होती है। रसायन की रचना तब हुई जब वे रामचन्द्र के मान्य राज्याधिकारी थे—इसका उल्लेख इस ग्रन्थ के आरम्भ मे है[1]। फलत: इस टीका का रचनाकाल १२७१-१३०९ ई० के बीच मे है—सम्भवत १३ वीं शती के अन्तिम चरण मे।

हेमाद्रि[2] (१२६०-१३०९ ई०) निश्चयेन अरुणदत्त से—जिनका समय १२२० ई० निर्णीत है—अर्वाक्कालीन हैं। १३ वीं शती के आरम्भ मे अरुणदत्त का काल है और उसी शती के अन्त में हेमाद्रि का। हेमाद्रि ने अरुणदत्त का मत अपनी टीका मे निर्दिष्ट किया है 'मैरेय खर्जुरासव ' इत्यरुणदत्त. (पृ० १३६)। आयुर्वेद-रसायन हेमाद्रि का ही स्वोपज्ञ ग्रन्थ है—इसका परिचय पुष्पिका से निश्चितरूपेण मिलता है।

---

१ हेमाद्रिर्नाम रामस्य राज्ञ श्रीकरणेऽवधि।
तनुभो भगवन्निष्ट- षाड्गुण्यकरणेऽवधि ॥

२. रघुवंश के टीकाकार, ईश्वरसूरि के पुत्र, भट्टहेमाद्रि इन धर्मशास्त्री हेमाद्रि से भिन्न तथा पश्चात्कालीन हैं। भट्टहेमाद्रि रामचन्द्र (१२५० ई०-१४०० ई०) की प्रक्रियाकौमुदी से अपनी टीका में उद्धरण देते हैं। फलत वे १५ शती के पूर्वार्ध के ग्रन्थकार हैं—हेमाद्रि से लगभग डेढ सौ वर्ष बाद होने वाले व्यक्ति।

(३) अष्टाङ्गहृदय पर शिवदाससेन की टीका है जिसका नाम है तत्त्वबोध। इसके आरम्भ मे शिवदास ने अपना परिचय दिया है जो आगे दिया जावेगा। ये बगाल के नामी वैद्य थे (समय १३७५ ई०--१५०० ई०)। इस टीका मे इन्होंने निश्चलकर के मत का उल्लेख प्रभूतमात्रा में किया है।

प्राचीन सहितायें मे भेडसहिता तथा काश्यपसहिता का उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है। अग्निवेश के समान ही भेल (या भेड) भी आत्रेय के शिष्य थे। फलत इनकी सहिता विषयो के वर्णन मे तथा क्रमविन्यास मे 'चरकसहिता' से बहुत अधिक मिलती है। भेलसहिता के प्रत्येक स्थान' म अध्यायो की सख्या भी चरकसहिता के समान ही है। विमान, सिद्धि तथा इन्द्रिय आदि शब्द भी दानो मे एक ही पारिभाषिक अर्थ मे व्यवहृत किये गये है। इस प्रकार दोनो सहिताओ मे बहुत कुछ समानता है, परन्तु चरक की अपेक्षा भेलसहिता छोटी और अधिक गद्यात्मक है।

काश्यपसंहिता[1] *भी प्राचीन सहिताओ मे अन्यतम है। कौमारभृत्य का स्वतन्त्र* तथा विस्तार रूप से वर्णन करनेवाला यही ग्रन्थ है। यह भी अध्याय तथा विषयो के क्रम मे चरकसहिता से बहुत मिलता है। इन दोनो सहिताओ की योजना एक प्रकार की ही है।

शाङ्गर्धर-इनके द्वारा रचित शार्ङ्गधरसहिता आज वैद्यक का अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसके ऊपर आढमल्ल तथा काशीराम ने टीकायें लिखी हैं, जो निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हैं। इनके पिता का नाम दामोदर था। शाकम्भरी देश मे चहुआणवशी राजा हम्मीर की सभा मे दामोदर नामक पण्डित रहते थे। उन्ही के मध्यम पुत्र शार्ङ्गधर ने 'शार्ङ्गधरपद्धति' नामक प्रख्यात सूक्तिग्रन्थ की रचना की है। वैद्य तथा कवि दोनो शार्ङ्गधर एक ही व्यक्ति हैं। सोमदेव के द्वारा शार्ङ्गधरसहिता पर टीकाप्रणयन से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार १३ वीं शती के प्राचीन व्यक्ति है। अहिफेन (अफीम) का वर्णन मुसलमानो के प्रभाव का सूचक है।

ग्रन्थ मे तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड के विषय हैं—माप और तौल, औषध की सम्पत्ति, ऋतु सम्वत्सर सिद्धान्त, शरीर-रचना तथा शरीर क्रिया। अन्तिम ७ तम अध्याय (२०४ श्लोक) मे रोगो को उपभेदो के साथ एक लम्बी नामावली है। द्वितीय खण्ड मे स्वरस, चूर्ण, क्वाथ, अवलेह, वटिका आदि का वर्णन है। १२ वें अध्याय मे पारद की शुद्धि तथा ज्वर आदि रोगो के लिए उपयुक्त रस-नुस्खे, ...र,

1 'भेडसहिता' का सम्पादक कर सर आशुतोष मुकुर्जी ने कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित किया है। 'काश्यपसहिता' का सुन्दर सस्करण पाण्डित्यपूर्ण विशद भूमिका के साथ राजगुरु हेमराज शर्मा के प्रयास का परिणाम है।

राजमृगाङ्क आदि प्रस्तुत रसौषध के प्रयोग का सुन्दर विवरण है। तृतीय खण्ड में सामान्य उपचार का वर्णन है। नाडी-परीक्षा का वर्णन इस ग्रन्थ की विशिष्टता है, क्योंकि नाडी के द्वारा रोग की पहिचान अन्य प्राचीन संहिताओं में कहीं भी वर्णित नहीं है। थोड़े में बहुत सी आवश्यक बातों का कथन ग्रन्थ की उपयोगिता का निदर्शन है और इसलिये यह ग्रन्थ बहुत ही लोकप्रिय तथा प्रख्यात है।

माधवकर माधव निदान

माधवनिदान का वास्तव नाम तो है रुग्विनिश्चय (रोगनिश्चय), परन्तु, ग्रन्थकर्ता तथा प्रतिपाद्य विषय के नाम पर इसका लोकप्रिय अभिधान है माधव-निदान। इस ग्रंथ में ७९ रोगों के निदान (आदि कारण) का बड़ा ही सुन्दर तथा उपादेय विवरण है। आधार मुख्यतया चरक तथा सुश्रुत है, क्योंकि उनके ग्रंथों में निदान का वर्णन विद्यमान ही है। ग्रन्थकर्ता ने अपने विशाल अनुभव से भी काम लिया है और इसीलिये यह ग्रंथ अपने विषय का मुख्य स्वतन्त्र ग्रंथ है। वृन्द ने 'सिद्धयोग' में रोगों का क्रम इसी ग्रंथ के आधार पर रखा है, फलतः इनका समय वृन्द से प्राचीन है। ग्रंथ का विपुल प्रचार होने से इसके ऊपर अनेक टीकायें भी बनती गई जिनमें विजयरक्षित की मधुकोष व्याख्या तथा श्रीकण्ठदत्त का आतंकदर्पण विशेष प्रख्यात तथा प्रचलित है[1]। ये टीकायें १५ वीं शती की प्रतीत होती हैं।

इन दोनों टीकाओं में मधुकोष व्याख्या अपने पाण्डित्य तथा प्रामाण्य के विषय में अलौकिक है। मूल के सूत्रात्मक दार्शनिक तत्वों को मधुकोष में तत्तत् प्रमाणों के उपबृंहण के साथ इतनी सुन्दरता से दिखलाया गया है कि यह टीका दार्शनिक तथ्यों से ओतप्रोत है। मधुकोष का ज्ञान प्रवीण वैद्य की विद्वत्ता का उत्कृष्ट प्रमाण माना जाता था और आज भी ऐसी ही स्थिति है। मूल लेखक माधव का पूरा नाम माधवकर है और वे सम्भवतः महाराष्ट्र के निवासी प्रतीत होते हैं। इस ग्रंथ की विपुल प्रसिद्धि के कारण इसका अनुवाद चरक तथा सुश्रुत के साथ हारून तथा मंसूर नामक अरब के राजाओं के राजकाल में (७३३ ई०) अरबी भाषा में हुआ था। हारून-अल-रशीद के दरबार में संस्कृतशास्त्र के जानने वाले दो विशेषज्ञ थे—मका नामक राजवैद्य तथा अल अराबी नामक वैयाकरण। इन दोनों ने मिलकर 'माधवनिदान' का ८ शती के मध्य काल में अरबी भाषा में अनुवाद किया था। फलतः माधवनिदान का निर्माण काल ८ शती से प्राचीन है। सम्भवतः ६ शती तथा ७ शती के बीच यह लिखा गया।

---

१ इन दोनों टीकाओं के साथ ग्रंथ निर्णय सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित है।

माधव-निदान के टीकाकार

विजयरक्षित तथा उनके शिष्य श्रीकण्ठदत्त दोनो ने सम्मिलित रूप से माधवनिदान की मधुकोष व्याख्या का प्रणयन किया। 'आतङ्कदर्पण' वाचस्पति की रचना है, श्रीकण्ठदत्त की नही। यह मधुकोष के द्वारा प्रभावित है। फलत उससे पश्चाद्वर्ती है। इन टीकाओ का समय १३ वी शती का उत्तरार्ध निश्चयेन है। अरुणदत्त के समय का निरूपण उनके निकटवर्ती दो आयुर्वेदीय ग्रन्थकारो के परिप्रेक्ष्य मे डा० हार्नली ने अपने 'ओस्टियोलाजी' नामक प्रधान ग्रन्थ मे किया है जो सक्षेप मे इस प्रकार है—

(१) वाचस्पति ने माधव के निदान ग्रन्थ पर (अर्थात् माधवनिदान पर) 'आतङ्कदर्पण' नामक टीका लिखी।

(२) विजयरक्षित तथा उनके शिष्य श्रीकण्ठदत्त ने सम्मिलितरूप मे 'माधव निदान' पर 'मधुकोश' नामक प्रधान व्याख्या रचा।

(३) वाचस्पति ने 'आतङ्क-दर्पण' की प्रस्तावना के चतुर्थ पद्य मे लिखा है कि उन्होंने 'मधुकोश' व्याख्या का अनुशीलन कर अपनी पूर्वोक्त टीका प्रस्तुत की।

(४) विजयरक्षित ने आँख की बनावट के बारे मे अरुणदत्त के सिद्धान्त का खण्डन किया है।

(५) वाचस्पति ने अपनी प्रस्तावना के पञ्चमश्लोक मे अपने पिता प्रमोद के विषय मे लिखा है कि वे मुहम्मद हम्मीर के मुख्य वैद्य रहे। ये मुहम्मद मुहम्मद गोरी (११९३ ई०–१२०५ ई० तक दिल्ली के शासक) से अभिन्न व्यक्ति माने जाते हैं। फलत वाचस्पति का समय १२१० ई० के आसपास होना चाहिए।

(६) विजयरक्षित ने गुणाकार के 'योगरत्नमाला' का निर्देश अपने ग्रन्थ मे किया है। योगरत्नमाला की रचना का काल १२३९ ई० है।

इन प्रमाणो के आधार पर डा० हार्नली ने इन तीनो वैद्यकग्रन्थ के कर्त्ताओ का काल इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

(१) अरुणदत्त का आविर्भावकाल १२२० ई० के आसपास
(२) विजयरक्षित ,, १२४० ई० ,,
(३) वाचस्पति ,, १२६० ई० ,,

इन तीनो ग्रन्थकारा का यही समय सर्वमान्य है।

मध्यकालीन ग्रन्थकारो ने चिकित्सा के उपयोगी सग्रह ग्रथो का निर्माण कर साधारण पाठको के लिए वैद्यक को सुलभ बना दिया एव इनमे प्राचीनतम ग्रंथ (१) वृन्द का सिद्धयोग (या वृन्दमाधव) प्रतीत होता है। इसमे ज्वर से लेकर

वाजीकरण तक सब रोगों की चिकित्सा वर्णित है। हेमाद्रि ने 'अष्टाङ्गहृदय' की टीका में वृन्द के अनेक वचनों को उद्धृत किया है। शार्ङ्गधरसंहिता में भी वृन्द के अनेक उद्धरण हैं। यहाँ पारद के योग कम हैं। वृन्द ने रोगों के क्रम को 'माधवनिदान' से ग्रहण किया है। हेमाद्रि के द्वारा उद्धृत होने के कारण वृन्द का समय १३ वीं शती से पहले ही है। इस ग्रंथ की श्रीकण्ठ रचित टीका में भी चरक, सुश्रुत, वाग्भट, माधवनिदान से बहुत से उद्धरण दिये गये हैं। श्रीकण्ठ डल्हण चक्रपाणि तथा हेमाद्रि से प्राचीन प्रतीत होते हैं[1]।

वृन्द—सिद्धयोग

तीसट रचित 'चिकित्सा कलिका' के ढंग पर वृन्द ने अपना यह विशद ग्रन्थ तैयार किया। इस में रोगों का क्रम माधवनिदान के ही आधार पर रखा गया है। प्राचीन ग्रन्थों में निर्दिष्ट तथा स्वानुभूत योगों का यह अपूर्व संग्रह आयुर्वेद के इतिहास में अपना वैशिष्ट्य रखता है। इसमें चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट के योगों का संग्रह है तथा अन्य वैद्यों के योगों का भी। 'माधवनिदान' की विशेष ख्याति होने के कारण वृन्द ने रोगों के निदान लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं समझी। चिकित्सा को लक्ष्य में रखकर ग्रन्थ की रचना सम्पन्न की गई है। क्रियात्मक योगों की सत्ता इसे विशेष उपयोगी बना रही है। जैसे ज्वर में दाह के कारण उत्पन्न बेचैनी को हटाने के लिए वृन्द ने जो प्रयोग लिखा[2] है वह उनके अनुभव पर आधारित है तथा निष्पादन में सरल भी है। भाषा सरल सुबोध है। श्लोक रोचक तथा चमत्कारी भी है।

सिद्धयोग के ऊपर प्रख्यात टीका श्रीकण्ठदत्त की है—व्याख्या-कुसुमावली। विजयरक्षित (लगभग १२४० ई०) के शिष्य श्रीकण्ठ का समय १३वीं शती का अन्तिम चरण है (१२७५ ई०–१३०० ई० तक)। श्रीकण्ठ का कहना है कि उन्होंने ग्रन्थ के विस्तार के भय कहीं-कहीं व्याख्या छोड़ दी थी[3]। उसी की पूर्ति नागरवंश में उत्पन्न नारायण ने की है। यह व्याख्या प्रकाशित[4] है जिसमें पूर्ति वाला अंश भी अलग से दिया गया है।

---

१ श्रीकण्ठ की टीका के साथ प्रकाशित।

२ उत्तान-सुप्तस्य गभीरताम्रकांस्यादिपात्रं प्रणिधाय नाभौ।
शीताम्बुधारा बहुला पतन्ती निहन्ति दाहं त्वरितं सुधीरः॥
(१।१०८)।

३ श्रीकण्ठदत्तभिषजा ग्रन्थ-विस्तारभीरुणा।
टीकायां कुसुमावल्यां व्याख्या मुक्ता क्वचित् क्वचित्॥

४ आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला सं० २७, पूना, १८९४ ई०।

इनसे भी प्राचीन टीकाकार का उल्लेख मिलता है जिनका नाम था ब्रह्मदेव। ब्रह्मदेव ने सिद्धयोग (या वृन्दमाधव) पर व्याख्या लिखी थी। इसका प्रमाण श्रीकण्ठदत्त, हेमाद्रि तथा डल्लण के टीका ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है।

(क) श्रीकण्ठदत्त ने अपनी व्याख्या कुसुमावली मे इनके अनेक वचनों को उद्धृत किया है। एक दो उद्धरण ही पर्याप्त होगा—

(१) अथ श्री ब्रह्मदेव व्याख्या—लंघनशब्द उपवा पर्यायो, न तु वमन विरेचनानुवासनादिपर्याय (पृष्ठ ६)।

(२) ब्रह्मदेवाचार्यस्तु—एण्या इदमैणेयं, न तु पुनरेणस्येद तत्र ऐणेयमिति प्रयोगो न स्यात् (पृष्ठ ५७४)।

श्रीकण्ठदत्त के समय मे ब्रह्मदेव की टीका उपलब्ध थी। तभी तो उन्होने इतने उद्धरण देने की व्यवस्था की है। उनके प्रति विशेष आदर-भाव भी है। उनके लिए 'आचार्य' शब्द का प्रयोग तो यही सूचित करता है।

(ख) हेमाद्रि (१२६० ई०–१३०० ई०) ने अष्टाङ्गहृदय की टीका 'आयुर्वेद-रसायन' मे ब्रह्मदेव का मत उदधृत किया है—

आसवस्य सुरायाश्च द्वयोरप्येकभाजने।
सन्धान तद् विजानीयात् मैरेयमुभयात्मकम्॥
इति जेज्जटो ब्रह्मदेवश्च।

(ग) डल्लण ने सुश्रुत सहिता की अपनी टीका के आरम्भ मे ब्रह्मदेव को अपने लिए उपजीव्य ग्रन्थकारो मे अन्यतम माना है तथा उनके वचन भी उद्धृत किया है। डल्लण का समय डा० हार्नली ने १२वी शती माना है[1]—(११०० ई०–१२०० ई० लगभग) वृन्द का समय डा० पी० सी० राय के अनुसार ९०० ई० है। फलत ब्रह्मदेव का समय ९०० ई० से अनन्तर तथा ११५० ई० से पूर्व होना चाहिये। वृन्द का यह सिद्धयोग ही वृन्दमाधव' नाम्ना लोकप्रख्यात है।

मध्ययुगीय ग्रन्थकार

मध्ययुग मे अनेक आचार्य हुए हैं जिन्होने वैद्यक के विषय को बडा ही उपयोगी तथा सरल बना दिया है। इनमे से प्रसिद्ध ग्रन्थकारो का सामान्यत उल्लेख किया जा रहा है—

(क) वोपदेव तथा उनके आश्रयदाता हेमाद्रि (१३०९ ई०) ने वैद्यक ग्रन्थों की टीकायें लिखी है—वोपदेव ने शार्ङ्गधरपद्धति पर तथा हेमाद्रि ने वाग्भट के

---

१ डल्लण ने राजा भोज (१०५० ई०) तथा चक्रपाणिदत्त (१०६० ई०) को उद्धृत किया है तथा स्वय हेमाद्रि (१२६० ई०) द्वारा उद्धृत हैं। अतएव इनका पूर्वोक्त समय उचित प्रतीत होता है।

अष्टाङ्गहृदय पर। बोपदेव ने 'शतश्लोकी' नामक ग्रन्थ में चूर्ण तथा वटी आदि का विशेष विवरण प्रस्तुत किया है। (ख) कायस्थ चामुण्ड ने 'ज्वरतिमिरभास्कर' १४८९ ई० में ज्वर के ऊपर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणयन किया जिसमें सन्निपात ज्वर का विशेष विस्तृत वर्णन है। (ग) वीरसिंहावलोक इससे प्राचीन है। इसमें भी चिकित्सा का विस्तृत विवरण है, इसके रचयिता वीरसिंह एक राजकुमार थे *जिन्होंने १३८३ ई० में इस लोकप्रिय ग्रन्थ का निर्माण किया था।* (घ) इस ग्रन्थ के उल्लिखित होने के कारण तीसटाचार्य की 'चिकित्साकलिका' इससे अवश्य प्राचीन है। इसमें नाडीपरीक्षा का भी वर्णन है। भोजराज का उल्लेख होने से तीसट ११ शती के बाद तथा १४ वीं शती से प्राचीन ग्रन्थकार हैं। इनका समय १२वीं शती मानना उचित प्रतीत होता है।

तीसट

तीसट का ग्रन्थ चिकित्सा-कलिका एक प्रकार का योगसंग्रह है जो 'नावीनतक' से अनिविस्तृत है। इसमें प्राय योग काष्ठौषधियों के ही मिलते हैं। समग्र ग्रन्थ में चार सौ पद्य हैं। पद्यों की रचना बड़ी सरल सुबोध है। इनके समय का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इसके ऊपर चन्द्रट ने विवृति लिखी है जिसमें वे अपने को तीसट का पुत्र लिखते हैं। इन्होंने एक दूसरे श्लोक में कहा है कि हरिश्चन्द्र तथा जेज्जट जैसे सुधीर व्याख्याता होने पर किसी दूसरे व्यक्ति का व्याख्या लिखना उसका धृष्टता का ही सूचक है—

> तीसटसूनुर्भक्त्या चन्द्रटनामा भिषड्मनरचरणौ।
> नत्वा पितुश्चिकित्साकलिका-विवृतिं समाचष्टे॥
> व्याख्यातरि हरिचन्द्रे श्रीजेज्जटनाम्नि सति सुधीरे च।
> अन्यस्य युर्वेदे व्याख्या धाष्ट्यं समावहति॥

चन्द्रट का समय डा० हार्नली के मत में १००० ईस्वी है। अत तीसट का समय जो इनके पिता थे, ९७५ ई० माना जा सकता है। ९५० ई० से पूर्व [illegible] मानना उचित नहीं है। चन्द्रट के द्वारा उल्लिखित होने के कारण हरिचन्द्र तथा जेज्जट दोनों का समय १०म शती से पूर्व ही माना जाना चाहिये।

चिकित्सा कलिका[1] में मुख्यतया चिकित्सा के योगों का विस्तृत संग्रह है। आजकल प्रचलित [illegible] योग यहीं से लिये गये हैं। चन्द्रट ने [illegible] ग्रन्थ का प्रणयन किया था —जैसा इन्होंने इस प्रकार से लिखा है—

---

१ इस ग्रन्थ [illegible] चन्द्रट की टीका तथा [illegible] विद्या[illegible] कृत 'परिमल' नामक हिन्दी व्याख्या के साथ प्रकाशित है (१९८३ विक्रमी)।

चिकित्सा-कलिका-टीका योगरत्न-समुच्चयम् ।
सुश्रुते पाठशुद्धिं च तृतीया चन्द्रटो व्यधात् ॥

इस श्लोक मे तीन ग्रन्थ निर्दिष्ट हैं–(१) चिकित्सा कलिका टीका (२) योगरत्नसमुच्चय तथा (३) सुश्रुत-पाठ शुद्धि। इन तीनो मे प्रथम ही प्रख्यात है तथा प्रकाशित भी है। योगरत्न समुच्चय के हस्तलेख उपलब्ध होते हैं—प्रायः अधूरे ही। इसमे सात परिच्छेद हैं जिनमे योगो का बड़ा ही विस्तृत विवरण दिया गया है। चन्द्रट वैद्यविद्या के प्रकाण्ड पण्डित थे। इस ग्रन्थ मे उन्होने प्राचीन लगभग चालीस आयुर्वेदीय ग्रन्थकारो के वचनो या मतो का उल्लेख किया है। इनमे से अनेक ग्रन्थकार एक दम नवीन है जिनका उल्लेख अन्यत्र नही मिलता। डा० गोडे ने भण्डारकर शोध संस्थान के हस्तलेखो के आधार पर जो सूची तैयार की है[1] वह आयुर्वेद के इतिहास के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होती है, क्योकि इस ग्रन्थ मे निर्दिष्ट ग्रन्थकारों का समय १०म शती के उत्तरार्ध से पूर्वतर होने से उनके समय की ऊपरी सीमा निर्धारित हो जाती है।

(ट) मुगलकालीन ग्रन्थकारो मे भावमिश्र की गणना की जा सकती है। इनका ग्रन्थ भावप्रकाश विस्तृत तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसमे गरमी सुजाक रोग का उल्लेख 'फिरंग रोग' के नाम से है, जो यूरोपीय लोगो के सम्पर्क मे आने पर इस देश मे भी प्रथम बार आया। इसकी दवा क्वाबचीनी या शीतलचीनी है जो १५३५ ई० के आसपास विदेशों से भारतवर्ष मे आने लगी थी। फलतः भावप्रकाश १६ वी शती की रचना है। इस ग्रन्थ में 'शार्ङ्गधरसंहिता' के योग मिलते हैं। अतः भावमिश्र शार्ङ्गधर से अर्वाचीन हैं। इस ग्रन्थ मे तीन खण्ड हैं—पूर्व खण्ड मे आयुर्वेद की उत्पत्ति, गर्भरचना, शरीरविज्ञान, कौमारभृत्य तथा निघण्टु का वर्णन है। मध्य खण्ड मे निदान तथा चिकित्सा की विवेचना है। उत्तर खण्ड मे वाजीकरण और अवलेह दिये गये हैं। भावप्रकाश का निघण्टुवाला अध्याय बहुत ही विस्तृत, व्यापक तथा विशेष उपयोगी है।

(च) इसी युग की इसी पद्धति पर निर्मित एक अन्य रचना है—टोडरानन्द (आयुर्वेदसौख्य) जिसको अकबर के राजस्वमन्त्री प्रसिद्ध टोडरमल ने विद्वानो के द्वारा बनवाया था। टोडरमल हिन्दुत्व के विशेष अभिमानी थे। इनकी प्रेरणा मे लिखा गया टोडरानन्द नामक स्मृति ग्रन्थ दूसरा स्पष्ट प्रमाण है। (छ) लोलम्बिराज का वैद्यजीवन साहित्य की सरस शैली मे आयुर्वेद का वर्णन करता है। इसमें अनुभूत योगों का संग्रह है। ग्रन्थ का रचनाकाल १७ वी शती है। (ज) माधव का आयुर्वेद-प्रकाश (१७०६ ई०), (झ) त्रिमल्ल की योगतरंगिणी (१३६१ ई०), (ज) गोविन्द दास की भैषज्यरत्नावली (जो उत्तम योगो का संग्रह होने से आज भी

---

[1] डा० गोडे—स्टडीज भाग १, पृ० १३५–१३७।

लोकप्रिय है)— ये सब ग्रन्थ १८ वीं शती की कृतियाँ हैं जो इस बात का साक्ष्य उपस्थित करती हैं कि आयुर्वेद की प्रभा इस विकट परिस्थिति में भी क्षीण नहीं हुई। उसका अध्ययन अध्यापन चलता ही रहा।

लोलम्बिराज

इनका जीवनचरित प्रख्यात है।[1] ये पूना के पास जुन्नर नाम स्थान के निवासी थे। इनके पिता का नाम दिवाकर भट्ट था। लोलम्बिराज-आख्यान नामक ग्रन्थसे पता चलता है कि इन्होंने एक सुन्दरी यवनकन्या से शादी की थी जिसका नाम इन्होंने 'रत्नकला' रखा था। वे उसके प्रति नितान्त आसक्त थे। उसकी मृत्यु के अनन्तर इनका जीवन ही बदल गया। ये 'सप्तशृङ्गभवानी' के उपासक बन गये और अपनी तपस्या के बलपर जनता के आदर के पात्र हो गये। सप्तशृंग नासिक के उत्तर में है और उस स्थान पर देवी की प्रतिमा बारह फीट ऊँची है तथा अठारह भुजाओं वाली है। इन देवी की प्रगाढ भक्ति का तथा अपने अलौकिक काव्य निर्माण का उल्लेख इन्होंने अपने वैद्यक ग्रन्थ 'वैद्यजीवन' में किया है।[2] इनके ग्रन्थों में वैद्यजीवन सर्वापेक्षया प्रख्यात तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त वैद्यावतंस तथा चमत्कार-चिन्तामणि भी आयुर्वेदविषयक ग्रन्थ हैं। रत्नकला-चरित्र सम्भवत रत्नकला के विषय में मराठी में निबद्ध है। ये वैद्य होने के अतिरिक्त प्रतिभाशाली कवि भी थे। *इसका परिचय 'वैद्यजीवन' के चमत्कारी श्लोकों से पूर्णतया उपलब्ध होता है।*

नारायण भजत रे जठरेण युक्ता
नारायण भजत रे पवनेन युक्ता ।

नारायण भजत रे भवभीति युक्ता
नारायणात् परतर नाहि किञ्चिदस्ति ।

इस सुभग पद्य के प्रतिपाद में क्रमश नारायण चूर्ण, नारायण तैल तथा भगवान् नारायण के सेवन के फल का निर्देश है।

---

१ भावे ने अपने 'महाराष्ट्र सारस्वत' नामक मराठी साहित्य के इतिहास में इनका जीवन चरित षोडश शताब्दी के कवियों के प्रसग में दिया है द्वितीय स०, पूना, १९१९ ई०।

२ रता वामदृशा दृशा सुखकर श्रीसप्तशृङ्गास्पद
　　स्पष्टाष्टादशबाहु तद् भगवतो भर्गस्य भाग्य भज।
यद्भक्तेन मया घटस्तनि घटीमध्ये समुत्पाद्यते
　　पद्याना शतमङ्गनाधरसुधा-स्पर्धाविधानोद्धुरम् ॥
　　　　　　　　　　　　(वैद्यजीवन श्लोक २)।

भगवती की प्रार्थना कितने रुचिर पद्यो मे कवि ने प्रस्तुत की है—

अनुकृतमरकतवर्णा शोभितकर्णा कदम्बकुसुमेन
नखमुखमुखरितवीणा मध्ये क्षीणा शिवा शिवं कुर्यात् ॥
अधराधिवकृतबिम्बा जितशशिबिम्बा मुखप्रभया
गमनाविरलबिलम्बा विपुलनितम्बा शिवा शिवं कुर्यात् ॥

वैद्य जीवन—अपने विषय का बडा ही चमत्कारी ग्रन्थ है--सुन्दर रसमय पद्यो मे निवद्ध तथा ललित भाषा मे प्रस्तुत। भाषा के लालित्य से विषय को हृदयगम करते विलम्ब नही होता। इसके उपर अनेक टीकाय है जिनमे दामोदर की (१६१३ ई० का हस्तलेख) हरिहर की (रचनाकाल १६७० ई०) तथा रुद्रभटट की (हस्तलेख १७६६ ई०) व्याख्यायें उपलब्ध हैं। वैद्य जीवन की सर्वाधिक प्राचीन हस्तलिखित प्रति १६०८ ई० को डा० बूलर ने अंकित किया है। फलत लोलिम्बराज का समय १६०० ई० से पूर्व ही होना चाहिये। षोडश शती के ये ग्रन्थकार है।[1]

वर्तमान युग आयुर्वेद के पुनरुद्धार का युग माना जा रहा है और चारो ओर आयुर्वेद के प्रचार तथा प्रसार के विपुल प्रयास किये जा रहे हैं। एलोपैथी चिकित्सा का इतना प्रभाव है कि वह आयुर्वेद के उपर अपना प्रभाव जमाये बैठी है। दोनो के संमिश्रण और संघि का यह काल है। आवश्यकता इस बात की है कि इस नवीन युग मे अनुसन्धान कर्ता प्राचीन आयुर्वेद के तत्त्वो का वैज्ञानिक पद्धति से अनुशीलन करें। कही ऐसा न हो कि शुद्ध आयुर्वेद का ज्ञान अधिक परिश्रम-साध्य होने से इस होट तथा सघर्ष मे बिल्कुल ह्रास को प्राप्त हो जाय। भगवान् धन्वन्तरि आयुर्वेद को इस दुर्दिन से बचावें !!!

अन्य चिकित्सा पर आयुर्वेद का प्रभाव

आयुर्वेद का प्रभाव भारत के पडोसी देशो का चिकित्सा पद्धति पर विशेष रूप से पडा है। आठवी तथा नौवी शती के आसपास अनेक वैद्यक ग्रन्थो का तिब्बती भाषा मे अनुवाद हुआ जिससे तिब्बतीय चिकित्सा के आधारभूत ग्रन्थ सस्कृत के ही हैं।

---

१ हरिविलास काव्य के रचयिता का भी नाम लोलम्बिराज था, परन्तु वे वैद्य लोलम्बिराज से भिन्न प्रतीत होते है। कवि लोलम्बिराज कृष्ण के उपासक थे, परन्तु वैद्य लोलम्बिराज धन्वन्तरी के भक्त थे। समय की समता होने पर भी दोनो को भिन्न मानना उचित है। हरिविलास का रचना काल १५०५ शक अर्थात् १५८३ ई० है।

शके मते बाणनभशरेन्दुभि सुभानुसंवत्सरकोत्तरायणे।
अमोघमाघस्य च शुक्लपक्षे वलौ कृतं काव्यमिदं जगन्मुदे ॥
(काव्य का अन्तिम श्लोक)

त्रिदोष की कल्पना, गोमूत्र का रक्तमोक्षण के लिए उपयोग, गर्भावस्था में गर्भ के लिंग की पहिचान और अनेक भारतीय ओषधियों का प्रयोग तिब्बती चिकित्सा को हमारी देन है। तिब्बत से पहले ही लंका में आयुर्वेद ने बौद्धधर्म के साथ साथ प्रवेश किया और आजकल सिंहल के वैद्यक-ग्रन्थ संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर विरचित हैं। पूर्वी द्वीप समूह में भी भारतीय संस्कृति के प्रसार के साथ आयुर्वेद ने प्रवेश किया। सुश्रुत की प्रसिद्धि नवम शती में कम्बोज देश में पहुंच चुकी थी। इसलिए इन देशों में और ब्रह्मा में भी भारतीय वैद्यक आज भी आधारभूत चिकित्सा-पद्धति है। अरब तथा फारस की भाषा में भी चरक तथा सुश्रुत के अनुवाद की नौवीं तथा दसवीं शती में किये जाने की प्रसिद्धि है। जब इन देशों में विशेष आवागमन होने लगा, तब इन देशों की वस्तुओं का भी उपयोग भारतीय वैद्यों ने करना आरम्भ किया और अपने ग्रन्थों में इनका विवरण भी प्रस्तुत किया। 'पारसीक यवानी' का प्रयोग सिद्ध योगों में किया जाने लगा। हींग का उपयोग तो दवा के लिए बहुत पहिले से भारत में होता आया है, क्योंकि चरक और सुश्रुत में इसका वर्णन मिलता है। अफीम का प्रयोग तथा नाडी परीक्षा की पद्धति अरब तथा फारस से ली गई मानी जाती है। नाडीविषयक ग्रन्थ के रचयिता होने का श्रेय किसी 'रावण' को है और यह निर्देश भी शायद बाहरी प्रभाव का द्योतक हो सकता है, परन्तु इन देशों की चिकित्सा पर भारतीय पद्धति के प्रचुर प्रभाव की अवहेलना नहीं की जा सकती।

भारतीय तथा यूनानी वैद्यक—तुलना

पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय चिकित्सा तथा यूनानी चिकित्सा के साम्य तथा वैषम्य का पर्याप्त विवेचन किया है। इस विषय में जर्मन विद्वान् जौली (Jolly) का एतद्विषयक ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है। दोनों पद्धतियों में बहुत ही अधिक समता है। (१) वात-पित्त-कफ, अर्थात् त्रिदोष का सिद्धान्त दोनों देशों में मिलता है। इनके समन्वय रहने पर स्वास्थ्य है तथा समन्वय न रहने पर रोग होता है। (२) ज्वर तथा अन्य व्याधियों की तीन स्थितियाँ मानी जाती हैं। चरक में ज्वर का पूर्वरूप, ज्वर का अधिष्ठान तथा ज्वर का प्रशमनकाल अथवा ज्वर की आमावस्था, पच्यमान अवस्था तथा पक्वावस्था का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार यूनानी चिकित्सा में इनके सूचक तीन शब्द हैं। (apesia, pesis तथा krisis)। (३) ओषधों का शीत तथा उष्ण, गुरु तथा स्निग्ध रूप में विभाजन। (४) विरोधी द्रव्यों का प्रयोग रोग के उपशम के लिए दोनों का अभीष्ट है। (५) हिप्पोक्रेटीज के समान ही रोग-लक्षण का परीक्षण (Prognosis)। (६) यूनानी वैद्यों से कराई गई प्रतिज्ञा चरक में वैद्यों को दिये गये उपदेश से बिल्कुल मिलती है (द्रष्टव्य—चरक-संहिता, विमानस्थान, ८ अध्याय), (७) दोनों में ऋतुओं का स्वास्थ्य के ऊपर

प्रभाव मानते हैं। (८) अन्येद्युष्क, तृतीयक तथा चातुर्थिक ज्वरों का प्रभेद, यक्ष्मा का विशेष विवेचन, गर्भस्थिति का समान वर्णन, आठवें मास में गर्भ में ओज आने (viability) का वर्णन (सातवें महीने में नहीं), मृतगर्भ का शकु के द्वारा खींचकर बाहर निकालना, रक्तमोक्षण की विधि दोनों में समानरूप से मिलती है। जलौका (जोंक) लगाने की विधि में सुश्रुत ने 'यवन' देश का उल्लेख किया है[1] जिससे सम्भव है यूनानियों की ओर सकेत हो। शल्यतन्त्र की पद्धति तथा तदुपयोगी अनेक औजारों में भी समानता दीख पड़ती है। इन समानताओं को दृष्टि में रखकर कुछ पाश्चात्य विद्वान भारतीय आयुर्वेद पर यूनानी प्रभाव मानने के पक्षपाती हैं, परन्तु अन्य अन्वेषक इससे ठीक विपरीत दिशा में निर्णय करते हैं।

डाक्टर कीथ का कहना है कि वात, पित्त तथा कफ का सिद्धान्त सांख्यों के त्रिगुण (सत्त्व, रज, तम) के आधार पर कल्पित किया गया है और वह पूर्णतया भारतीय है। अथर्ववेद में वात के विषय में एक पूरा सूक्त है और 'कौशिक सूत्र' से पता चलता है कि उस युग में भी त्रिदोष का सिद्धान्त भारत में मान्य था। उनका यह भी कहना है कि सम्भवत चरक के समय में मानव शरीर पर शल्यक्रिया नहीं होती थी और इसलिए उनकी संहिता में इसका विशेष विवरण नहीं मिलता, परन्तु ईसा से तीसरी शती पूर्व सिकन्दरिया में यूनानी वैद्यों के लेखों में शल्यक्रिया का निश्चित विधान है। परन्तु इस कथन पर पूरा विश्वास नहीं होता। अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त में ही अस्थियों के संस्थान तथा संख्या का प्रामाणिक उल्लेख मिलता है। शतपथ-ब्राह्मण में ही अस्थियों की संख्या ३६० बतलाई गई है। ये सब आयुर्वेद की प्राचीनता और सुदीर्घ प्राचीनता के प्रमाण हैं। यूनानियों ने भारत की चिकित्सा से अनेक औषधियों का प्रयोग अपने ग्रन्थों में किया है। अत यूनानी वैद्यक पर भारतीय वैद्यक का प्रभाव मानना प्रमाण विरहित नहीं माना जा सकता[2]।

रसायन शास्त्र का इतिहास

भारतीय दर्शन के शैव तन्त्र की एक शाखा 'रसेश्वर दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत में जीवन्मुक्ति ही वास्तव मुक्ति है और उसकी प्राप्ति का एकमात्र साधन है स्थिर या दिव्य देह की प्राप्ति। शरीर को स्थिर, दृढ़ तथा व्याधिविरहित बनाने के लौकिक उपायों में पारद के भस्म का सेवन सर्वोत्तम है। सांसारिक दुखों से मुक्ति देने तथा उस पार पहुँचा देने के कारण ही 'पारद' के नाम की सार्थकता है। पारद

---

१ नाना यवनराज्ञ्यमल्लगौरनादीनि क्षेत्राणि।

(सुश्रुत, सूत्रस्थान १३।१३)

२ द्रष्टव्य Dr Keith History of Classical Skt Literature 513–515 Oxford, 1928

भगवान् शंकर का वीर्य माना जाता है तथा अभ्रक पार्वती का रज। इन दोनों के योग से उत्पन्न भस्म प्राणियों के शरीर को दिव्य बनाने में सर्वथा समर्थ होता है। इसके साथ प्राणवायु का नियमन भी सर्वथा उपकारी होता है। इसलिए हठयोग के साथ साथ पारद भस्म के सेवन से दिव्य देह की प्राप्ति प्राचीन काल में सुनी जाती है।

पारद का ही नाम 'रस' है और यही इस दर्शन में ईश्वर माना जाता है। स्वेदन मर्दन आदि अठारह संस्कारों के द्वारा इसे सिद्ध किया जाता है और इस सिद्ध रस के द्वारा जरा तथा मरण का भय सदा के लिए छूट जाता है। भर्तृहरि ने इसी तथ्य की ओर इस प्रख्यात पद्य में संकेत किया है—

> जयन्ति ते सुकृतिन रससिद्धा कवीश्वरा।
> नास्ति येषां यश काये जराम णज भयम्।

पारद भस्म की यही पहचान है कि ताँबा पर रगड़ते ही वह सोना बन जाता है। यह बाह्य परीक्षा है। इसके सेवन करने से शरीर के परमाणु बदल कर नित्य तथा दृढ बन जाते हैं। इस मत में साधना का क्रमिक विकास है—पारद भस्म के प्रयोग से दिव्य शरीर बनाना—योगाभ्यास करना तथा आत्मा का इसी शरीर में दर्शन। रस को ईश्वर मानने के कारण ही यह मत 'रसेश्वर' के नाम से अभिहित किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् का यह महनीय मन्त्र इस दर्शन की आधारशिला है—

> "रसो वै स। रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (२।७।१)

मध्ययुग में इस दर्शन का बहुत ही प्रचार था। कापालिक नामक शैव सम्प्रदाय इस रसप्रक्रिया का विशेष मर्मज्ञ माना जाता था।

नागार्जुन

भारतीय रसायन के इतिहास में नागार्जुन का विशिष्ट स्थान है। नागार्जुन ही भारतीय रसायन के प्रवर्तक हैं। आप बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। नागार्जुन के समय से बौद्धधर्म के सिद्धान्तों में ब्राह्मणधर्म के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण प्रारम्भ हुआ। नागार्जुन महायान सम्प्रदाय के कट्टर पक्षपाती थे। आपका समय ठीक-ठीक बताना कठिन है, फिर भी बहुत से आचार्य इन्हें सातवीं शताब्दी में मानते हैं। संस्कृत ग्रन्थों में नागार्जुन नाम का कई स्थलों पर निर्देश हुआ है। ११ वीं शताब्दी में भारत में आये अलबरुनी नामक यात्री ने अपने से सौ वर्ष पूर्व के रसशास्त्र के ज्ञाता बोधिसत्त्व नागार्जुन का उल्लेख किया है। सातवीं शताब्दी में आये चीनी यात्री ह्युएनसांग के अनुसार उस समय के चार सूर्य थे—नागार्जुन, देव, अश्वघोष और कुमार लब्ध। राजतरंगिणी के रचयिता कल्हण ने भी अपनी रचना में इनका उल्लेख किया है। बाणभट्ट के हर्षचरित में मन्दाकिनी नामक एकावली का नागार्जुन

द्वारा अपने मित्र त्रिसमुद्राधिपति सातवाहन नामक राजा को प्रदान करने का उल्लेख है।[1] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आप सातवाहन के समकालीन थे। इत्सिंग के अनुसार इनका समय बुद्ध के चार शताब्दी अनन्तर कनिष्क के समकालीन था।

नागार्जुन का जन्म विदर्भदेश में एक धनाढ्य ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इन्होंने शरभभद्र की आज्ञा से नालन्दा विहार में सब विद्याओं को सीखा और उसके अनन्तर वहीं आचार्य पद को सुशोभित किया। ऐसा सुना जाता है कि नालन्दा में एक बार घोर अकाल पड़ा। धनसंग्रह के लिए सभी भिक्षु इधर-उधर जाने लगे। इसी समय किसी एक तपस्वी से इन्होंने रसायन विद्या सीखी, जिसका उपयोग साधारण धातुओं से सोना बनाने में इन्होंने किया।

नागार्जुन नाम के अनेक आचार्य बौद्ध सम्प्रदाय में उत्पन्न हुये जिनमें सर्वप्राचीन आचार्य शून्यवाद के प्रतिष्ठापक तथा माध्यमिक कारिका के रचयिता थे। कुमारजीव ने ४०१ ई० में उसका जीवन चरित संस्कृत से चीनी भाषा में अनूदित किया। अतः शून्यवादी नागार्जुन का समय चतुर्थ शती का पूर्वार्ध है (२०० ई०–३२० ई० तक)। रसायन-शास्त्री नागार्जुन इससे भिन्न व्यक्ति थे। उनका समय विद्वानों ने अष्टम शती में माना है। इन दोनों आचार्यों की एकता भ्रान्तिवशात् कभी कभी मान ली जाती है। परन्तु दोनों हैं विभिन्न व्यक्ति। तान्त्रिक नागार्जुन रसायन-शास्त्री नागार्जुन से भिन्न व्यक्ति प्रतीत नहीं होते। शून्यवादी नागार्जुन ने सातवाहन नरेश यज्ञश्री गौतमीपुत्र को अपने 'सुहृल्लेख' नामक ग्रंथ द्वारा उपदेश दिया था। मूल संस्कृत में अनुपलब्ध यह उपदेश काव्य चीनी और तिब्बती भाषाओं में प्राप्त है।

रचना

नागार्जुन की सुप्रसिद्ध रचना 'रसरत्नाकर' है जिसे 'रसेन्द्रमंगल' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस ग्रंथ में रासायनिक विधियों का वर्णन नागार्जुन, माण्डव्य, वटयक्षिणी, शालिवाहन और रत्नघोष के संवादों के रूप में दिया गया है। इसकी रचना सातवीं या आठवीं शताब्दी में सम्भवतः की गयी थी। रस रत्नाकर में आठ अध्याय थे, जिनमें से आजकल केवल चार ही प्राप्त हुए हैं। इसमें रस के अट्ठारह संस्कार दिये गये हैं। यह ग्रंथ अपने क्षेत्र में बड़े महत्त्व का है। इसके आधार पर बहुत से रासायनिक विधियों का अनुमान लगाया गया है जो आज के रसायन विज्ञान की कसौटी पर खरी उतरती है।

इस ग्रंथ के प्रथम अधिकार में महारस शोधनविधि दी हुई है, जिनमें से कुछ का सामान्य विवेचन यहाँ किया जा रहा है—

१—समतिक्रामति च वियत्यपि काले तामेकावलीं तस्मान्नागार्जुनो नाम लेभे च, त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहनाय नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्।

(१) तार शुद्धि (चाँदी का शोधन)—

नागेन क्षारराजेन ध्मापितं शुद्धिमृच्छति ।
तारं त्रिवारनिक्षिप्तं पिशाची तैलमध्यमम् ॥

अर्थात् चाँदी सीसा के साथ और भस्मों के साथ गलाने पर शुद्ध होती है। आजकल भी हम इसी विधि का उपयोग Copellation Process मे शुद्धिकरण करने के लिए करते हैं।

(२) गन्धक शुद्धि—

किमत्र चित्रं यदि पीतगन्धकं पलाशनिर्यासरसेन शोधितम् ।
आरण्यकैरुत्पलकैस्तु पाचितं करोति तारं त्रिपुटेन काञ्चनम् ॥

अर्थात् इसमें आश्चर्य ही क्या, यदि पीला गन्धक पलाश के निर्यास में शोधित होने पर तीन बार गोबर के कंडों पर गरम करने पर चाँदी को सोने में परिवर्तित कर दे।

(३) रसक शोधन—

किमत्र चित्रं रसको रसेन ··· ··· ·· ।
क्रमेण कृत्वाम्बुधरेण रञ्जितः करोति शुल्वं त्रिपुटेन काञ्चनम् ॥

इसमें आश्चर्य ही क्या, यदि ताँबे को रसक रस (Calamine) द्वारा तीन बार तपाये तो यह सोने में बदल जाय।

(४) माक्षिक (Pyrites) शोधन—इस विधि में खनिज से ताँबा प्राप्त करने की विधि का वर्णन है। वह इस प्रकार है —

कुलत्थकोद्रवक्वाथे नरमूत्रेण पाचयेत् ।
वेतसाद्यम्लवर्गेण दत्त्वा क्षारं पुटत्रयम् ॥

किमत्र चित्रं कदलीरसेन सुपाचितं सूरणकन्दसम्यम् ।
वातारितैलेन घृतेन ताप्यं पुटेन दग्धं वरशुद्धमेति ॥

खनिजों को कुलथी और कोदों के क्वाथ, नरमूत्र और बेत आदि अम्लों द्वारा गरम करें और फिर इनमें क्षार मिलाकर तीन आँच दें। इसमें आश्चर्य ही क्या, यदि कदली रस द्वारा और सूरण कन्द द्वारा सुपाचित एवं अण्डी के तैल और घी के साथ एक आँच गरम करने पर माक्षिक पूर्णतः शुद्ध हो जावे, अर्थात् उसमें ताँबा प्राप्त हो जावे।

(५) दरद से पारा प्राप्त करना —

निम्बू निगुतावर काशीरामीसटङ्कणं ।
वज्रकन्दसमायुक्तं भावितं कदलीरसे ॥

माक्षीकक्षारसयुक्त ध्मापित मूकमूषके ।
सत्त्व चन्द्रार्कसंकाश पतते नात्र संशय ॥

अर्थात् विमल को शिग्रु के दूध, फिटकरी, कसीस और सुहागा के साथ वज्रकन्द मिलाकर कदलीरस के साथ भावित करें और माक्षिक क्षार मिला कर मूक मूषा (Closed crucible) में तपावें तो विमल का सत्त्व मिलता है।

दरदं पातनायन्त्रे पातितं च जलाशये ।
सत्त्व सूतकसंकाश जायते नात्र संशय ॥

पातना-यन्त्र मे पातन करने पर जलाशय मे दरद का सत्त्व अर्थात् पारा प्राप्त होता है।

(६) धातुओं का मारण या हनन —इनका निर्देश नागार्जुन ने इस प्रकार किया है —

तालेन वंग दरदेन तीक्ष्ण नागेन हेम शिलया च नागम् ।
गन्धाश्मना चैव निहन्ति शुल्ब तार च माक्षीकरसेन हन्यात् ॥

वंग (Tin) को ताल (Yellow pigment) के साथ, तीक्ष्ण (Iron or steel) को दरद (Cinnabar) के साथ, सोने को नाग (Tin or Lead) के साथ, नाग को शिला (Red arsenic) के साथ, शुल्ब या ताम्र को गन्धक (Sulphur) के साथ और तार या चाँदी को माक्षीक रस (Pyrites) के साथ मारण करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे राजावर्त्त शोधन, दरद-शोधन, विमलशुद्धि, चपल-शुद्धि, शुल्वशुद्धि, रसक से यशद (जस्ता) प्राप्त करना, अभ्रकादि की सत्त्वपातन-विधि, रसबन्ध, कज्जली बनाने की विधि तथा अन्य रासायनिक यन्त्रो का वर्णन मिलता है।

रसायन यन्त्र

रस रत्नाकर मे एक स्थान पर इस प्रकार लिखा हुआ है —

कोष्ठिका वङ्कनाल च गोमय दारमिन्धनम् ।
धमन लोहपात्राणि औषध काञ्जिक विडम् ॥
कन्दराणि विचित्राणि...... ।
सर्वमेतत्प्रयत्नेन कृत्वा तत्र कर्म समारभेत ॥

रासायनिक क्रियाओं के प्रारम्भ करने के लिए इतने यन्त्र चाहिये— कोष्ठिकायन्त्र, वङ्कनाल, गोबर, लकड़ी का ईंधन, धमन-लौह पात्र, औषध, काञ्जी, विड और भिन्न-भिन्न प्रकार की कन्दरायें।

—

इसी ग्रन्थ के एक स्थल पर इस प्रकार यन्त्रों की सूची दी गयी है —

"अथातो रसेन्द्रमंगलानि यन्त्रविधि --शिलायन्त्र पाषाणयन्त्र भूधरयन्त्र वंशयन्त्र नालिकायन्त्र गजदन्तयन्त्र दोलायन्त्र अधःपातनयन्त्र भूवपातनयन्त्र पातनयन्त्र नियामकयन्त्र गमनयन्त्र तुलायन्त्र कच्छपयन्त्र चाकीयन्त्र वालुकायन्त्र अग्निसोमयन्त्र गन्धकग्राहिकयन्त्र मूषायन्त्र हण्डिकायन्त्र कम्भाजनयन्त्र घोडायन्त्र गुडाभ्रकयन्त्र नारायणयन्त्र जालिकायन्त्र चारणयन्त्रम् ।"

पीठिका का भस्म तैयार करनेवाले गर्भयन्त्र का वर्णन इस ग्रन्थ में इस प्रकार किया गया है —

गर्भयन्त्रं प्रवक्ष्यामि पीठिकाभस्मकारकम् ।
चतुरंगुलदीर्घेण विस्तरेण च त्र्यंगुलम् ॥
मूषा तु मृण्मयी कृत्वा सुदृढा वर्तुला बुध ।
विंशभागन्तु लोहस्य भागमेकं तु गुग्गुलो ॥
सुश्लक्ष्णं पेषयित्वा तु तोयं दत्त्वा पुनः पुनः ।
मूषालेपं दृढं बद्ध्वा लोणार्द्धमृत्तिका बुध ॥
कर्षं तुषाग्निना भूमौ मृदुस्वेदेन स्वेदयेत् ॥

(अधिकार ३, श्लोक ६२-६५)

चार अंगुल लम्बी और तीन अंगुल चौड़ी, वर्तुल आकार की मिट्टी की बनी सुदृढ मूषा (Crucible) हो और इसमें बीस भाग लोहा तथा एक भाग गुग्गुल महीन पीस कर और बराबर पानी देकर मूषा पर लेप लगावे। ऐसा करने से दृढता आवेगी। इसे भूमि में भूसी की आग से गरम करके मृदु स्वेदन किया जाय।

गोविन्द भगवत्पाद

नागार्जुन के अनन्तर होनेवाले रस आचार्यों में गोविन्द का नाम नितान्त महत्त्वपूर्ण तथा प्रख्यात है। ये शंकराचार्य के साक्षात् गुरु बतलाये जाते हैं, परन्तु अद्वैत वेदान्त के ऊपर इनकी कोई भी रचना अब तक उपलब्ध नहीं हुई है। इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का नाम है 'रसहृदयतन्त्र', जिसके कतिपय श्लोकों को 'सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य ने उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ तेरहवीं शती से पूर्व बनाया गया था। ग्रन्थकार ने अपने परिचय में इतना ही लिखा है कि उन्होंने चन्द्रवंश के हैहय कुल के किरात नृपति श्री मदनरथ से बहुत मान प्राप्त किया था। यह राजा रसविद्या का स्वयं बहुत बड़ा ज्ञाता था। सम्भव है यह किरात देश भूटान के निकट कहीं हो। गोविन्दपाद मगलविष्णु के नाती और सुमेरुविष्णु के पुत्र थे। इसकी एक टीका चतुर्भुज मिश्र द्वारा रचित उपलब्ध हुई है।

यह ग्रन्थ इस विद्या के सिद्धान्तो के प्रतिपादन मे बहुत ही व्यवस्थित तथा पूर्ण है। पारद के अट्ठारह संस्कार, अभ्रकग्रासविधि, जारण, रञ्जन, बाह्यद्रुति, सारण, क्रामण आदि पारद भस्म के उपयोगी प्रक्रियाओ का यहाँ सुन्दर वर्णन है। पारे को शीशा और वंग से पृथक् करना, रस और उपरस का भेद, सारलौह और पुनर्लौह, लवण और क्षार—इन सबका विस्तृत वर्णन ग्रन्थ के वैज्ञानिक महत्त्व का पर्याप्त द्योतक है। रसविद्या की अच्छी प्रगति होने पर लिखे गये ग्रन्थो म सबसे प्रथम और सुव्यवस्थित ग्रन्थ यही है।

गोविन्द ने शरीर की दृढता के लिए पारद के उपयोग का रहस्य समझाया है। इसमे लिखा है कि विद्याओं का आयतन, पुरुषार्थो का मूल, यह शरीर बिना पारद के अमरत्व प्राप्ति नही कर सकता। पारद के सेवन का फल है अजरत्व और अमरत्व की प्राप्ति। जो लोग पारद से सुवर्ण और अभ्रक का जारण बिना किय इस फल की कामना करते हैं वे लोग उन्ही की श्रेणी म हैं जो खेत को बिना जोत फल की आशा करते हैं। बाह्य चिकित्सा मे बडा श्रम तथा तप अपेक्षित था। रसायन लेने से पहिले शरीर का शोधन अपेक्षित था, श्रम तथा समय का पर्याप्त व्यय था, परन्तु रसचिकित्सा मे केवल पारद का शोधन अपेक्षित होता है और उस शुद्ध पारद की स्वल्पमात्रा से ही आश्चर्यजनक फल तथा सिद्धि प्राप्त हो जाती थी। रसशास्त्र की उपयोगिता का रहस्य अनेक कारणो से है। प्रथमत दवा अल्पमात्रा मे ली जाती है, इससे अरुचि आदि दोषो की शिकायत नही रहती। साथ ही साथ आरोग्य बहुत शीघ्रता के साथ होता है। इन्ही कारणो मे रसचिकित्सा नितान्त उपयोगी तथा महत्त्वशालिनी थी। इस विषय मे रसशास्त्र की एकवाक्यता है। रसेन्द्रसारसंग्रह का यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है—

> अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रसगत ।
> क्षिप्रमारोग्यदायित्वाद् औषधिभ्योऽधिको रस ॥

रसेन्द्रचूडामणि

इसके लेखक **सोमदेव** अपने को करवाल भैरव कुल का अधिपति बतलाते हैं। यह ग्रन्थ बारह तथा तेरह शती के बीच मे बना हुआ मालूम पडता है। लेखक सोमदेव रसशाला-सम्बन्धी यन्त्रो के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने लिखा है कि उर्ध्वपातनयन्त्र और कोष्ठिकायन्त्र का नन्दी नामक किसी व्यक्ति ने आविष्कार किया था। इस ग्रन्थ मे पारा के अनेक रूपो का वर्णन प्रमाणपुरसर किया गया है। उदाहरण के लिए नष्टपिष्टि की व्याख्या मे सोमदेव लिखते हैं कि जब पारे का स्वरूप नष्ट हो जाय और उसमे बहने का गुण न रह जाय तब वह 'नष्टपिष्ट' कहा जाता है। इसी प्रकार चपल नामक पारे का भी सुदर वर्णन है।

रसप्रकाशसुधाकर

इसके रचयिता यशोधर थे, जो जूनागढ़ के रहने वाले गौड ब्राह्मण श्री पद्मनाभ के पुत्र थे। इस ग्रन्थ मे नागार्जुन, नन्दि, सोमदेव आदि ग्रन्थकारो के नाम प्रमाण रूप से आते है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि ग्रन्थकार ने बहुत से प्रयोग अपने हाथ से किये हैं। अतएव ग्रन्थ मे वर्णित प्रक्रिया लेखक की स्वानुभूति के ऊपर आश्रित होने से प्रामाणिक मानी जा सकती है। ग्रन्थ का रचना काल तेरहवी शती प्रतीत होता है। इसमे कर्पूररस बनाना, रसक से यशद बनाना, फिटकिरि (सौराष्ट्री) का वर्णन पाया जाता है। साथ ही साथ उन अनेक प्रकार के गर्तों का भी वर्णन जिसमे आग जलाकर रसायन प्राप्त किया जाता था। ऐसे गर्तों के कतिपय नाम हैं—महापुट, गजपुट, वराहपुट, कपोतपुट, वालुकापुट आदि। इन गर्तों के बनाने की लम्बाई चौडाई दी गई है। इनमे जलाये जाने वाले उपलो कडो की भी संख्या का विवरण दिया गया है। स्वर्ण बनाने की भी विधि का वर्णन ग्रन्थकार ने किया है जिसमे प्राचीन पद्धति के साथ अपने अनुभव को भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार निजी अनुभव पर आश्रित होने के कारण यशोधर का यह ग्रन्थ उपादेय तथा उपयोगी है।

रसार्णव

यह ग्रन्थ शिव-पार्वती के संवाद रूप मे है। अध्यायो का नाम 'पटल' है। सर्वदर्शनसंग्रह मे उल्लिखित होने के कारण यह ग्रन्थ तेरहवी शती से प्राचीन निःसन्देह प्रतीत होता है। इस ग्रंथ मे रसशोधन के लिए उपयोगी सामग्री का विस्तृत विवरण है। यहाँ एक विशेष वैज्ञानिक तथ्य का वर्णन किया गया है जिसमे विस्तृत रूप से लिखा है कि किस धातु की ज्वाला किस रंग की होती है। आजकल भी धातुवैज्ञानिक इस तथ्य का उपयोग लोहे तथा तांबे की प्राप्ति मे करते हैं, (Bessemer Converter)। रसार्णव के अनुशीलन से स्पष्ट पता चलता है कि उस समय कच्चे धातु मे से शुद्ध धातु के निकालने की प्रथा जारी हो गई थी और रसायन विद्या अपनी प्रारम्भिक अवस्था को पार करके प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ रही थी।

रसराजलक्ष्मी

इसके लेखक विष्णुदेव पण्डित महादेव के पुत्र थे। ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से स्पष्ट पता चलता है कि लेखक ने इसकी रचना महाराज बुक्क के राज्य काल मे की थी। ये महाराज बुक्क विजयनगर साम्राज्य के सम्राट थे। अत ग्रंथ का समय चौदहवी शती का मध्य काल है। ग्रन्थकार ने इसे वैद्य शास्त्र का एक सार ग्रन्थ बताया है। इसीलिए वाग्भट, सोमेश्वर, नागार्जुन, नन्दि, स्वच्छन्द, भैरव, दामोदर, चमुनामुदेव तथा भगवन गोविन्द आदि रसाचार्यों के ग्रन्थों का ही उपयोग नहीं किया

गया है प्रत्युत चरक सुश्रुत आदि वैद्यक ग्रन्थों का भी यहाँ पर्याप्त उपयोग किया गया है।

रसेन्द्रसारसंग्रह

इसके कर्त्ता गोपाल भट्ट है। यह ग्रन्थ भावप्रकाश से पूर्व तथा रसप्रकाश—सुधाकर के पश्चात् बना हुआ प्रतीत होता है। अत समय तेरहवी शती के आस पास है। इसमे धातुओं के शोधन के प्रकार सरल, सुबोध रीति से तथा थोडे में वर्णित है। इसमे चिकित्सा का वर्णन ग्रन्थकार ने विशेष रूप से किया है। सच तो यह है कि रस-चिकित्सा का यह ग्रन्थ एकत्र सग्राहक तथा व्यावहारिक दृष्टि से उपादेय है और इसीलिए बगाल मे इस ग्रथ का विशेष रूप से प्रचलन है। इस पुस्तक के ऊपर अनेक टीकायें बगाल के कविराजो ने लिखी है जिनमे से एक टीकाकार **रामसेन कवीन्द्रमणि** मीर जाफर के दरबार का वैद्य था। इस ग्रथ की रचना तथा रसेन्द्र चिन्तामणि का निर्माण एक ही युग की घटना है।

रसरत्नसमुच्चय

आजकल रसविद्या की जानकारी के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके लेखक वाग्भट हैं, जो अष्टागसग्रह तथा अष्टागहृदय के रचयिता वाग्भट से कथमपि भिन्न नहीं हैं। यह ग्रन्थ तीस अध्यायो मे विभक्त है, जिनमे प्रथम एकादश अध्यायो मे रसशास्त्र का विषय उपन्यस्त है। शेष भाग मे ज्वर आदि रोगो की चिकित्सा है। ग्रन्थ के आरम्भ में लगभग चालीस आचार्यों के नाम हैं, जिन्होने रसतत्र पर भिन्न भिन्न शतियो मे ग्रथों का निर्माण किया था। इनमे से केवल थोडे से ही आचार्यों के नाम तथा ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं। परन्तु बहुत से आचार्य केवल नाम से ही प्रसिद्ध हैं। इस सूची को देख कर जाना जा सकता है कि रसशास्त्र के आचार्यो की एक लम्बी परम्परा थी तथा यह शास्त्र बहुत ही प्राचीन एव उपादेय माना जाता था।

रसरत्नसमुच्चय के ग्यारह अध्यायो की सूची इस प्रकार है—

१ रसोत्पत्ति, २ महारस, ३ उपरस, ४ रस, ५ लोह, ६ शिष्योपनयन, ७ रसशाला, ८ परिभाषा, ९ यत्र, १० मूषादि, ११ रसशोधनादि।

इन अध्यायो मे अभ्रक के तीन प्रकार—पिनाक, नागमण्डूक और वज्र, माक्षिक के दो प्रकार—हेममाक्षिक, तारमाक्षिक, विमल के प्रकार तथा उनके गुण, चपल के चार प्रकार—गौर, श्वेत, अरुण और कृष्ण। रसक के भेद—दर्दुर और कारवेल्लक। इसके अतिरिक्त गन्धक, गैरिक, कसीस, सौराष्ट्री, हरताल, अजन, नवसार वराटक, राजावर्त, मणि, वज्र (हीरा) आदि का वर्णन बडे ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ किया गया है। इसके अतिरिक्त धातुओं और मिश्र धातुओं का भी विवरण

इस प्रकार मिलता है—सोना पाँच प्रकार का होता है—प्राकृतिक, सहज, वह्निसम्भूत, खनिसम्भव और रसेन्द्रवेधसजात। चाँदी भी तीन प्रकार की होती है—सहज, खनिसजात और कृत्रिम। लोहे को सीसा और सुहागे के साथ गलाने पर इसका शुद्धिकरण होता है। ताँबा दो प्रकार का होता है—(५।३३-३४)। नेपालक और म्लेच्छ। ताँबे के पत्र को नीबू के रस से रगड़ कर गन्धक और पारे से लिप्त करे और फिर तीन बार गरम करने पर यह मर जाता है (५।८४-५)। इसके अतिरिक्त इसमें लोहे के भी भेदों का वर्णन मिलता है। इसके तीन भेद पाये जाते हैं—मुण्ड, तीक्ष्ण और कान्त। मुण्ड के तीन, तीक्ष्ण के छ और कान्त के पाँच प्रकार हैं। लोहे की मारणविधि इस प्रकार है—एक भाग लोहे में बीसवाँ भाग हिंगुल मिलाकर, उसे नीबू के रस में मिलाकर चालीस बार मूषा में बन्द करके गरम करे।

रसायनशाला का जैसा वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं है। यह वर्णन (७।१-१८) इस प्रकार है—सर्वबाधा से रहित स्थान में रसशाला का निर्माण करे जहाँ ओषधियाँ सुगमता से मिलती हों और अच्छे कूप हों, रसशाला में अनेक उपकरण हों। इसकी पूर्व दिशा में पारे का शिवलिंग हो। अग्निकोण में वह्निकर्म के लिए स्थान हो। दक्षिण में पाषाणकर्म (Furnaces), दक्षिण पश्चिम में शस्त्रकर्म (Instruments), वरुण में धोवनकर्म, उत्तर में वेधकर्म तथा ईशकोण में अन्य सिद्ध रखने की जगह हो।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में भिन्न भिन्न प्रकार की मूषाओं का वर्णन मिलता है। उनमें से निम्नलिखित नामों का उल्लेख है—वज्रमूषा, योगमूषा, गारमूषा, वरमूषा, वर्णमूषा, रौप्यमूषा, विडमूषा, वृन्ताक मूषा, गोस्तनी मूषा, मल्लमूषा, पक्वमूषा, गोलमूषा, महामूषा, मण्डूकमूषा, मुसलाख्या मूषा, क्रौंचिका (१०।८-३१)। आगे चलकर इस ग्रंथ में भिन्न भिन्न प्रकार के खल्व (खरल) तथा मर्दक के वर्णन मिलते हैं। इसमें तीन प्रकार के खल्व और मर्दक का उल्लेख है—(१) अर्धचन्द्र खल्व, (२) वर्तुल खल्व, (३) तप्त खल्व (रसरत्न० १०। ८४९१)।

इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ में कोष्ठियों (भट्ठियों) का वर्णन मिलता है। इनका मुख्य उपयोग है [illegible] सत्त्वपातन तथा सत्त्वशोधन में किया जाता था। ये चार प्रकार की थीं—(१) अगार[illegible]रकोष्ठी, (२) पातालकोष्ठी, (३) गारकोष्ठी (४) मूषाकोष्ठी, (रसरत्नसमु० १०[illegible]३३-३९)। पातालकोष्ठी की तुलना आज कल के प्रचलित Pit Furnace के सा[illegible] की जा सकती है। आगे चलकर पुट प्रक्रिया का वर्णन इस ग्रंथ म[illegible] है। 'पुट' का अर्थ आप्टे साहब के कोष में इस प्रकार दिया गया है

"A particular method of preparing drugs in which the various in-

gredients are wrapped up in leaves and being covered with clay roasted in fire, आजकल के धातुविज्ञान में हम इसे Calcination & Roasting कहते हैं। ग्रंथ में इसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है —

रसादिद्रव्यपाकाना प्रमाणज्ञापन पुटम्।
नेष्टो न्यूनाधिक पाक सुपाक हितमौषधम् ॥

ये पुट दस प्रकार के होते हैं—(रस रत्नसमु० १०।५०) महापुट, गजपुट वाराहपुट, कुक्कुटपुट, कपोलपुट, गोवरपुट, भाण्डपुट, बालुकापुट, भूधरपुट और भावकपुट (रस १०।४४–६९)।

इस प्रकार हम इस ग्रंथ के अनुशीलन से जान सकते हैं कि भारतवर्ष मे रसशास्त्र कितना व्यापक, व्यावहारिक तथा प्रयोगो के ऊपर आश्रित था। इसके अध्ययन से इस विषय का मार्मिक वैज्ञानिक परिचय हमारे सामने उपस्थित होता है और इसी कारण डा० पी० सी० राय ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक History of Hindu Chemistry (प्रथम भाग) मे इसी ग्रंथ के आधार पर अधिकांशत लिखा है।

ऊपर वर्णित ग्रंथो के अतिरिक्त अन्य ग्रंथो मे निम्नलिखित मुख्य है —

(१) **रसरत्नाकर** —पार्वतीपुत्र सिद्ध नित्यनाथ इसके लेखक हैं। इसमे पाच भाग है, जिनके नाम हैं रसखण्ड, रसेन्द्रखण्ड, वादि खण्ड, रसायन खण्ड तथा मन्त्रखण्ड। रसरत्न समुच्चय मे नित्यनाथका नाम रस के आचार्योंमे उल्लिखित है। इससे स्पष्ट है कि ये तेरह शती के पहले के ग्रन्थकार हैं। यह एक विशाल ग्रंथ है जिसमे योगो की एक बडी लम्बी संख्या दी गई हैं। इसमे गुरुमुख से सुनी गई बातो के साथ-साथ स्वानुभूत विषयो का भी विवेचन है। ग्रंथकार का लक्ष्य इसे एक सकलन ग्रंथ बनाना था और इस उद्देश्य मे उन्हे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

(२) **रसेन्द्रचिन्तामणि** :— यह ग्रन्थ कालनाथ के शिष्य ढुढुकनाथ के द्वारा रचा गया था। इसमे पारे के ऐसे अनेक योग हैं जिन्हें ग्रन्थकार ने अपने अनुभव से लिखा है। साथ ही साथ नागार्जुन, गोविन्द, नित्यनाथ आदि आचार्यों के मतो का भी उल्लेख है।

(३) **रससार** :—लेखक श्री गोविन्दाचार्य हैं। ग्रन्थकार ने स्पष्टत लिखा है कि इस ग्रंथ की रचना भोटदेशीय (तिब्बत) बौद्धो के द्वारा निर्मित प्रयोगो तथा अनुभवों के आधार पर की गई। इस ग्रंथ मे ग्रन्थकार ने अफीम का प्रयोग औषध के रूप मे दिया है। 'अहिफेन' उसके लिए संस्कृत नाम बतलाया गया है। लेखक अहिफेन की उत्पत्ति विषैली मछलियों से बतलाता है। इससे स्पष्ट है कि इसकी वास्तविक उत्पत्ति का पता उन लोगो को उस समय न था। बहुत सम्भव है कि अरबी 'अफ्यून' शब्द का संस्कृतीकरण 'अहिफेन' शब्द मे कर दिया गया है।

रसप्रकाशसुधाकर

इसके रचयिता यशोधर थे, जो जूनागढ़ के रहने वाले गौड ब्राह्मण श्री पद्मनाभ के पुत्र थे। इस ग्रन्थ में नागार्जुन, नन्दि, सोमदेव आदि ग्रन्थकारों के नाम प्रमाण रूप से आते हैं। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि ग्रन्थकार ने बहुत से प्रयोग अपने हाथ से किये हैं। अतएव ग्रन्थ में वर्णित प्रक्रिया लेखक की स्वानुभूति के ऊपर आश्रित होने से प्रामाणिक मानी जा सकती है। ग्रन्थ का रचना काल तेरहवीं शती प्रतीत होता है। इसमें कर्पूररस बनाना, रसक से यशद बनाना, फिटकिरि (सौराष्ट्री) का वर्णन पाया जाता है। साथ ही साथ उन अनेक प्रकार के गर्तों का भी वर्णन जिसमें आग जलाकर रसायन प्राप्त किया जाता था। ऐसे गर्तों के कतिपय नाम हैं—महापुट, गजपुट, वराहपुट, कपोतपुट, वालुकापुट आदि। इन गर्तों के बनाने की लम्बाई चौड़ाई दी गई है। इनमें जलाने जाने वाले उपलों कंडों की भी संख्या का विवरण दिया गया है। स्वर्ण बनाने की भी विधि का वर्णन ग्रन्थकार ने किया है जिसमें प्राचीन पद्धति के साथ अपने अनुभव को भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार निजी अनुभव पर आश्रित होने के कारण यशोधर का यह ग्रन्थ उपादेय तथा उपयोगी है।

रसार्णव

यह ग्रन्थ शिव-पार्वती के संवाद रूप में है। अध्यायों का नाम 'पटल' है। सर्वदर्शनसंग्रह में उल्लिखित होने के कारण यह ग्रन्थ तेरहवीं शती से प्राचीन निःसन्देह प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में रसशोधन के लिए उपयोगी सामग्री का विस्तृत विवरण है। यहाँ एक विशेष वैज्ञानिक तथ्य का वर्णन किया गया है जिसमें विस्तृत रूप में लिखा है कि किस धातु की ज्वाला किस रंग की होती है। आजकल भी आधुनिक वैज्ञानिक इस तथ्य का उपयोग लोह तथा ताँबे की प्राप्ति में करते हैं, (Bessemer Convertor)। रसार्णव के अनुशीलन से स्पष्ट पता चलता है कि उस समय कच्चे धातु में से शुद्ध धातु के निकालने की प्रथा जारी हो गई थी और रसायन विद्या अपने प्रारम्भिक (२) को पार करके प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ रही थी।

द्वितीय परिच्छेद

ज्योतिष तथा गणित

का

इतिहास

(क) सिद्धान्त ज्योतिष (ख) गणित ज्योतिष (ग) फलित ज्योतिष

(१) अङ्कगणित

(२) बीजगणित

(३) रेखागणित

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता
कालादि पूर्वा विहिताश्च यज्ञा ।
तस्मादिद कालविधान-शास्त्र
यो ज्योतिष वेद स वेद यज्ञम् ॥

(वेदाङ्गज्योतिष, श्लोक ३)

अप्रदीपा यथा रात्रिरनादित्य यथा नभ ।
तथाऽसवत्सरो राजा भ्रमत्यन्ध इवाध्वनि ॥
नासवत्सरिके देशे वस्तव्य भूतिमिच्छता ।
चक्षुर्भूतो हि यत्रैष पाप तत्र न विद्यते ॥

(बृहत्-सहिता १।८, १।११)

द्वितीय परिच्छेद्

ज्योतिष शास्त्र का इतिहास

ज्योतिष का ज्ञान आदिम काल से ही मनुष्यों के लिये उपयोगी सिद्ध होता आया है। किसानों को इस बात को जानने की जरूरत सदा रहती है कि वर्षा कब होगी। इसी प्रकार पूजा के अधिकारियों को भी यह जानने की आवश्यकता बनी रहती है कि शुभ मुहूर्त कब है जब किसी विशेष पूजा का विधान किया जाय। प्राचीन काल मे साल साल भर तक यज्ञ चला करते थे। इसलिये यह जानना बहुत ही आवश्यक था कि वर्ष मे कितने दिन होते हैं, वर्ष कब आरम्भ होता है और वह कब समाप्त होता है। इसीलिए ससार की सभ्य तथा असभ्य जातियों मे ज्योतिष का ज्ञान कुछ न कुछ अवश्य ही रहता है।

भारतवर्ष मे ज्योतिष विज्ञान का जितना विकास हुआ उतना किसी भी प्राच्य या प्रतीच्य देश मे नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि वैदिक आराधना मे प्रधान स्थान यज्ञों का ही है। वेद की प्रवृत्ति यज्ञ के सम्पादन के लिए है और यज्ञ का विधान विशिष्ट समय के ज्ञान की अपेक्षा रखता है। यज्ञयाग के लिए समय शुद्धि की बड़ी आवश्यकता होती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि ब्राह्मण वसन्त मे अग्नि का आधान करे, क्षत्रिय ग्रीष्म मे तथा वैश्य शरद ऋतु मे आधान करे।[1] इसी प्रकार विशेष तिथियों को यज्ञ मे दीक्षा लेने का विधान था। नक्षत्र, तिथि, पक्ष माम, ऋतु तथा सवत्सर के ज्ञान के बिना यज्ञयाग का पूर्ण निर्वाह नही हो सकता। इसीलिए ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान वैदिक आर्यों को विशेष रूप से रखना पडता था। वेदाग ज्योतिष का तो इतना आग्रह है कि जो व्यक्ति ज्योतिष को भलीभाति जानता है वही यज्ञ को यथार्थ रूप से जान सकता है।

इसी कारण ज्योतिष वेद का एक महनीय अग माना जाता है। गणित वेद का सिर है। जिस प्रकार मयूरो की शिखा तथा सर्पों की मणि होती है उसी प्रकार वैदिक शास्त्रो मे गणित सबके मस्तक पर रहने वाला है। ज्योतिष वेद पुरुष का चक्षु है। जिस प्रकार नेत्र से हीन पुरुष अपने कार्य सम्पादन मे असमर्थ होता है, उसी प्रकार ज्योतिष ज्ञान से रहित पुरुष वैदिक कार्यों मे सर्वथा अन्धा होता है।

---

१ वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत। तै० ब्रा० १।१

वेदों में ज्योतिष-विषयक तथ्य

वेद में खगोल-विषयक नाना प्रकार के ज्ञातव्य तथ्यों का विशिष्ट वर्णन प्रसगत. उपलब्ध होता हैं। वैदिक आर्य इस विचित्र विश्व के रहस्य जानने के लिए सर्वदा उत्सुक थे और अपनी पैनी दृष्टि से उन्होंने इन रहस्यो का उद्घाटन बडी मार्मिकता से किया है। विश्वसत्ता के उत्पादक लोक तीन हैं —पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ (=आकाश)। अत्यन्त प्राचीन काल से पृथ्वीमाता तथा द्यौष्पितर की मान्यता आर्यों की महत्त्वपूर्ण मान्यताओं मे अन्यतम होने का गौरव रखती है। "द्यौष्पितर" ही यूनानियों मे 'जूस पिटर' तथा रोमवासियो में 'जूपिटर' देवता के रूप मे स्वीकृत किया गया है। सकल प्राणियो मानवो तथा पशुओ की क्रीडास्थली यह पृथ्वी है। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त मे इसका बडा ही भव्य तथा उदात्त वर्णन उपलब्ध होता है। द्यौ सूर्य का निवास स्थल है। इन दोनो का परिचायक समान नाम रोदसी', 'क्रन्दसी' तथा 'द्यावापृथिवी' वैदिक साहित्य मे बहुधा निर्दिष्ट है। दोनों के बीच के लोक को 'अन्तरिक्ष' नाम स पुकारते थे। यह नाम अन्वर्थक है—अन्तरि मध्ये क्षीयते इति अन्तरिक्षम्। अन्तरिक्ष मे मेघोदक की सत्ता तथा वायु के सचरण का स्थान है। अन्तरिक्ष मे ही पक्षियां अपनी उडान भरती हैं—

वेदा यो वीना पदमन्तरिक्षेण पतताम।
वेद नाव समुद्रिय ॥ (ऋ० १।२५।७)

वैदिक युग की त्रिलोकी की यही कल्पना है। स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल जैसी त्रिलोकी की कल्पना अगले युग की देन है। वैदिक साहित्य मे वह कल्पना निसन्देह उपलब्ध नहीं होती।

सूर्य

सूर्य विषयक अनेक सूक्तों के अध्ययन से उनके भव्यरूप का पूर्ण परिचय हमें मिलता है। सूर्य ही क्रियाभेद के कारण नाना देवों के रूप में कल्पित किया गया है। विश्व मे चैतन्य का सचरण करने के हेतु वही सविता है, तो लोकों को नाना व्यापारों मे प्रेरक होने से वही विष्णु है। विश्व को पुष्ट करने के कारण वह पूषा है, तो विश्व का कल्याण सम्पादन के हेतु वही मित्र है। समस्त भुवनों का वही आधार है। 'तस्मिन्नार्पित भुवनानि विश्वा'—ऋ० १।१६४।१४) ऋग्वेद म अनेक मन्त्रों में यह पद या इसी का भाव उच्चरित तथा मुखरित हुआ है। सूर्य के ही कारण ऋतुओ की सत्ता है। वायु के सचरण का भी वही हेतु है।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थु ॥
(ऋ० १।१६४।२)

इस मंत्र में रश्मि का उल्लेख भले ही न हो, परन्तु "अमी ये सप्तरश्मय" (ऋ० १।१०५।९) तथा "सूर्यस्य सप्तरश्मिभि" (ऋ० ८।७२।१६) मंत्रों में सूर्यरश्मियों की सात संख्या का स्पष्ट उल्लेख है।

ऋग्वेद का ऋषि जब सूर्य के रथ को ढोने वाले सात घोड़ों का संकेत करता है, तब उसका मुख्य ध्यान सूर्यकिरण के सप्तरंगी होने की ओर आकृष्ट होता है। अन्यथा वह भली भांति जानता है कि यह वर्णन सर्वथा आलंकारिक है—सूर्य के पास न रथ ही है और न उसे ढोने वाले घोड़े ही। इस विषय में वेद का स्पष्ट कथन है—

अनश्वो जातो अनभीशुरर्वा कनिक्रदत पतयदूर्ध्वसानु ।
(ऋ० १।१५२।५)

सूर्य का उदय लेना तथा अस्त होना जो लोक में प्रतिदिन दृष्टिगोचर होता है, वह वास्तविक नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण की तो इस विषय में नितान्त स्पष्ट उक्ति है कि सूर्य वास्तव में न तो कभी उदय लेता है और न कभी अस्त होता है--

स वा एष न कदाचनास्तमेति, नोदेति ।

पृथ्वी

पृथ्वी के गोल होने का संकेत मंत्रों में मिलता है। सूर्य विषयक एक मंत्र कहता है कि सूर्य अपने तेजों से जगत् को सुलाता हुआ तथा जागृत करता हुआ उदय लेता है—

निवेशयन् प्रसुवन् अक्तुभिर्जगत् (ऋ० ३।५३।३)

इस मंत्र का निःसन्देह तात्पर्य यही है कि सूर्य जैसे-जैसे आकाश में ऊपर चढ़ता जाता है, वैसे वैसे जगत के कुछ भागों में रात्रि होने लगती है और कुछ भागों में दिन होने लगता है। यह घटना तभी सम्भव हो सकती है जब पृथ्वी गोल हो। पृथ्वी के जितने अंश पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है उतना तो जागता है और जितने भाग से उसकी किरणें हट जाती हैं, उधर रात्रि होती है। पृथ्वी यदि सम-धरातल होती तो यह दृश्य कभी घटित नहीं होता। तब सूर्य अपनी किरणों से एक साथ ही जगत् के प्राणियों को जगा डालता, सुलाता नहीं।

चन्द्रमा

चन्द्रमा की स्थिति वेदों में अन्तरिक्ष लोक में बतलाई गयी है, अर्थात् चन्द्रमा सूर्य से नीचे के लोक में भ्रमण करता है। चन्द्र का प्रकाश सूर्य रश्मियों के कारण ही होता है। उसमें स्वतः प्रकाश नहीं है। इसीलिए वेद का मंत्र है—

सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व —(तै० स० ३।४।७।१)

अमावस्या को चन्द्रमा आकाश में दृष्टिगोचर नहीं होता। क्यों? इसका कारण

शतपथ की दृष्टि में यह है कि वह पृथ्वी पर आकर प्राणी, ओषधि तथा वनस्पतियों में *प्रवेश करता है (शतपथ० १।६।४५)। परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण अमावस्या* को सूर्य में प्रवेश करने का उल्लेख करता है और तदनन्तर वह सूर्य से ही उत्पन्न होता है—

चन्द्रमा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति आदित्याद् वै चन्द्रमा जायते।
(ऐत० ब्रा० ४०।५)

अंतिम वाक्य का यही तात्पर्य है कि शुक्लप्रतिपद् को वह पुनः दिखलाई देता है। अमावस्या में सूर्य के साथ चन्द्र के समागम की कल्पना इसी मंत्र के आधार पर पुराणों को भी अभिमत है। वायुपुराण तथा मत्स्यपुराण इसीलिए दर्श की व्याख्या के प्रसंग में कहते हैं—

आश्रित्य याममावास्यां पश्यतः सुसमागतौ।
अन्योन्यं सूर्यचन्द्रौ तौ यदा तद् दर्श उच्यते॥

अमावास्या का ही अपर नाम 'दर्श' है (दृश धातु से निष्पन्न)।

चन्द्रमा की कला की वृद्धि तथा ह्रास क्यों होता है? इस विषय में वेद मन्त्रों में अनेक ज्ञातव्य तथ्य दिये गये हैं। ऋग्वेद के अनुसार 'सोम' शब्द से लता तथा सोम नामधारी चन्द्रमा दोनों का ऐक्य प्रस्तुत होता है। सोमरस को देवता लोग यज्ञ में पीते हैं। तदनुरूप ही चन्द्र की कलाओं को भी देवता पीते हैं और इसी कारण उसमें ह्रास होता है—

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः॥
(ऋग्वेद १०।८५।५)

निरुक्त के अनुसार यह ऋचा सोमवल्ली को तथा चन्द्र को लक्षित करती है। फलतः इससे दोनों का अर्थ निकलना स्वाभाविक है। तैत्तिरीय-संहिता (२।४।१४) में यह महत्त्वशाली मंत्र आता है—

यमादित्या अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षितयः पिबन्ति।

इसका अर्थ है कि आदित्य चन्द्रमा को तेजस्वी करते हैं और पूर्ण हो जाने पर उसका प्राशन करते हैं। यहाँ 'आदित्याः' का बहुवचन द्वादश आदित्यों को लक्ष्य कर प्रयुक्त हुआ है। तदनन्तर इसका प्रयोग देववाचक होने से देवों के लिए भी किया गया होगा। सूर्य के द्वारा चन्द्रकला की पूर्ति तथा ह्रास की कल्पना प्राथमिक है। तदनन्तर 'आदित्य' शब्द के 'देव' अर्थ में प्रयुक्त होने से यह धारणा रूढ़ हो गयी कि देवगण चन्द्रकिरणों का पान करते हैं और इसीलिए कृष्णपक्ष में चन्द्र की कलाओं में ह्रास

होता है जिससे वह क्षीण से क्षीणतर होता हुआ अन्त में बिल्कुल गायब हो जाता है। "पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशो कलाक्षय श्लाघ्यतरो हि वृद्धे"—कालिदास की यह सूक्ति प्रचलित भावना की सद्योद्योतिका है।

ऋतु

ऋतु का नाम तथा सख्या का उल्लेख ऋग्वेद मे नही मिलता, परन्तु याग क्रिया-प्रधान तैत्तरीय संहिता तथा वाजसनेयी संहिता में ऋतुओं का उल्लेख अनेक बार किया गया है। ऋतु सूर्य से उत्पन्न होती हैं। नियमत उनकी सख्या छ ही है। जहाँ पांच सख्या का निर्देश है वहाँ हेमन्त तथा शिशिर को एक मान कर यह निर्वाह किया जाता है। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त तथा शिशिर—ये ही छ ऋतुएँ बहुश. निर्दिष्ट हैं। ऋतुओं का आरम्भ वसन्त से होता है और इसीलिए वसन्त ऋतुओं का मुख कहा गया है—

मुख वा एतद् ऋतूनाम्। यद् वसन्त ॥

(तैत्ति० ब्रा० १।१।२।६,७)

सवत्सर की कल्पना पक्षी के रूप मे की गयी है, जिसका मुख वसन्त है, दक्षिण पक्ष ग्रीष्म हैं, पुच्छ वर्षा है, शरद् उत्तर पक्ष है तथा हेमन्त मध्य है (तैत्ति० ब्रा० ३।१०।४।१)। सवत्सरपक्षी का यह रूप इस प्रकार होगा —

	मुख-वसन्त	
उत्तरपक्ष शरद्	मध्य हेमन्त	दक्षिणपक्ष-ग्रीष्म
	पुच्छ वर्षा	

यहाँ पांच ही ऋतुओं का सकेत है जिसके विषय मे ऐतरेय—ब्राह्मण (१।१) का यह परिचायक वाक्य है—

द्वादश मासा, पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयो समासेन।

ऋतु का प्रारम्भ कब से होता है? यह यथार्थत जानना एक विषम पहेली है। ऋत्वारम्भ के विषय मे तैत्तरीयसंहिता (६।५।३) का यह महत्त्वपूर्ण कथन है कि ऋतुपात्र का मुख दोनो ओर होता है। अत यह कौन जानता है कि ऋतु का मुख कौन सा है—

उभयतो मुखमृतुपात्र भवति। को हि तद् वेद यद् ऋतूना मुखम्।

यह कथन ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से भी यथार्थ है। ऋतुएँ सूर्य की स्थिति पर

अविलम्बित होती है, पर सौर मास की तिथि सदा अनिश्चित रहती है। फलतः ऋतु का आरम्भ जानना एक कठिन व्यापार है कि किसी भी ऋतु का आरम्भ कब से, किस तिथि से नियमत होता है।

मास

वर्ष मे नियत रूप से, बारह महीने होते हैं परन्तु कभी कभी एक अधिक मास भी होता है। इस अधिक मास की गणना वैदिक आर्यों के उत्कृष्ट ज्योतिष-ज्ञान का पर्याप्त परिचायक है। वरुणसूक्त म इस अधिमास की सत्ता का परिवाचक मन्त्र यह है—

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावत ।
वेदा य उपजायते ॥ (ऋ० म० १।२५।८)

इन मासो के वैदिक नाम भी विलक्षण हैं—

वैदिक नाम	आधुनिक नाम	ऋतु
मधु	चैत	वसन्त
माधव	वैशाख	
शुक्र	जेठ	ग्रीष्म
शुचि	आषाढ	
नभ	श्रावण	वर्षा
नभस्य	भाद्र	
इष	कुआर	शरद्
ऊर्ज	कार्तिक	
सह	अगहन	हेमन्त
सहस्य	पूष	
तप	माघ	शिशिर
तपस्य	फागुन	
संसर्प = अधिमास (पुरुषोत्तम मास)		
अहस्पति = क्षयमास		

ये नाम तैत्तिरीय-संहिता मे दो बार आये हैं (१।४।१४,४।४।११) इन नामों के अतिरिक्त तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।१०।१) मे इन मासो के लिए अरुण, अरुणरजा, पुण्डरीक आदि नाम पाये जाते हैं। संवत्सर के २४ अर्धमासों के लिए भी नाम दिये गये हैं। वेद के अध्ययन से स्पष्ट है कि मधवादि और अरुणादि के नाम तो वेदों में अवश्य मिलते हैं, परन्तु उनमें चन्द्रमा के पूर्ण होने की तथा तज्जन्य विशिष्ट मास-नाम की कल्पना संहिता भाग मे उपलब्ध नहीं होती। ब्राह्मणकाल मे फाल्गुनी (पौर्णमासी) आदि नाम प्रचलित थे, परन्तु फाल्गुन, चैत्र आदि मास-नाम तो

नही मिलते, सहिताकाल मे तो फाल्गुनी आदि नाम भी नही मिलते। किस गणना से धीरे धीरे फागुन, चैत्र, वैशाख आदि नामो का उदय कालान्तर मे, अर्थात् ब्राह्मणकाल के अनन्तर हुआ इसका सुन्दर वर्णन श्रीशकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'भारतीय ज्योतिष' (हिन्दी सस्करण) मे किया है (पृष्ठ ५४ ५६)।

अयन

सूर्य की गति से सम्बन्ध रखने से अयन दो होते है— उत्तरायण और दक्षिणायन। सायन मकरारम्भ से लेकर कर्कारम्भ पर्यन्त उत्तरायण होता है और कर्कारम्भ से लेकर मकरारम्भ तक दक्षिणायन होता है। सूर्य विषुवद् वृत्त के चाहे जिस ओर हो उत्तरायण मे प्रतिदिन क्रमश उत्तर की ओर और दक्षिणायन मे दक्षिण की ओर खिसकता रहता है। वैदिक साहित्य मे स्पष्ट शब्दो मे इन दिनो का प्रतिपादन नही है, परन्तु इस तथ्य के सकेत देने वाले उल्लेख अवश्य मिलते हैं। शतपथब्राह्मण (२।१।३) का यह महत्त्वपूर्ण कथन है—

> वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा ते देवा ऋतव ।
> शरद् हेमन्त शिशिरस्ते पितरो ॥
> स सूर्यो यत्रोदगावर्तते, देवेषु तर्हि भवति ।
> यत्र दक्षिणावर्तते, पितृषु तर्हि भवति ॥

इस कथन से स्पष्टत प्रतीत होता है कि सूर्य वसन्त, ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतुओ मे उत्तरायण होता है और अन्य तीन ऋतुओ मे दक्षिण दिशा की ओर मुडता है। फलत इसे दक्षिणायन भली-भाँति कह सकते हैं। यहा इन शब्दो के अभाव मे भी उनके नाम का स्पष्ट सकेत है। उपनिषत्काल मे नाम भी मिलते हैं। नारायण उपनिषद् (अनु० ८०) मे 'उदगयन' शब्द मिलता है जहाँ ज्ञानी की उस अयन मे मृत्यु होने पर देवमार्ग से जाकर आदित्य के साथ सायुज्य की प्राप्ति होती है। दक्षिणायन मे मरने पर पितृमार्ग से जाकर चन्द्रमा के साथ सायुज्य की उपलब्धि होती है। इन वक्तव्यो को दृष्टि मे रख कर देखने मे स्पष्ट है कि वैदिक युग मे अयन का तत्त्व निर्दिष्ट किया गया था और देवता तथा पितरो से उनका सम्बन्ध भी स्थापित हो गया था। अन्य ग्रथो मे देवयान तथा पितृयान की सज्ञायें उल्लिखित हैं। नाम न होने पर भी यहाँ उसका सकेत स्पष्टत हो जाता है।

नक्षत्र

नक्षत्रो का ज्ञान किस प्रकार सहिता तथा ब्राह्मण ग्रथो मे शनै शनै परिवर्धित होता गया—इसका परिचय तत्तत् ग्रथो के अध्ययन से भली भाँति लग सकता है, विशेषत तैत्तिरीय सहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण के द्वारा। ऋग्वेद मे दो चार ही नक्षत्रो के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। पुष्य वाचक 'तिष्य' का उल्लेख (५।५४।१३) तथा (१०।६४।८) मत्रो मे, चित्रा का (४।५१।२,) रेवती का

उल्लेख ८।५१।८७ मे उपलब्ध होता है। इनके नक्षत्रवाची होने मे संदेह नहीं है। एक मत्र मे दो नक्षत्रो का एकत्र उल्लेख किया गया है—

सूर्याया वहतु प्रागाद सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्यो पर्युह्यते॥
(ऋ० सं० १०।८५।१३)

सूर्य की दुहिता सूर्या के पतिगृह जाने का प्रसग है। मत्र का तात्पर्य है कि सविता ने जो दहेज (वहतु) अपनी कन्या के वास्ते दिया वह सूर्या से पहले ही आगे गया। अघा (मघा) नक्षत्र मे गायों को मारते हैं (पीटते हैं, आगे चलने के लिए) और अर्जुनी (फल्गुनी) नक्षत्र में कन्या को ले जाते हैं। यही मन्त्र अथर्व सहिता मे भी आया है (१४।१।१३)। यहाँ 'अघासु' के स्थान पर 'मघासु' और 'अर्जुन्यो' के स्थान 'फल्गुनीषु' पाठ उपलब्ध होता है। फलत ऋग्वेद के मन्त्र मे 'अघा' का अर्थ 'मघा' तथा अर्जुनी का अर्थ फल्गुनी है। ध्यान देने की बात है कि तैत्तिरीय वेद तथा वेदोत्तर कालीन ज्योतिष ग्रंथो मे इन शब्दो के लिंग वचन तथा क्रम वे ही माने जाते हैं जो ऋग्वेद के पूर्वोक्त मन्त्र मे हैं। आज भी 'फल्गुनी' विवाह कालीन कन्या-यात्रा के लिए शुभ नक्षत्र माना जाता है। यह सकेत ज्योतिष की वैदिक परम्परा का स्पष्ट सूचक है।

तैत्तिरीय सहिता (४।४।१०) तैत्तिरीय-ब्राह्मण (१। १) तथा (३।१।४६) अथर्वसंहिता (१९।७)—इनका एकत्र अनुशीलन करने से नक्षत्रो, उनके रूप, उनकी सख्या तथा उनके देवता के विषय मे प्रचुर प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होती है।[1] यहाँ २७ नक्षत्रो के नाम वे ही हैं जिनसे हम अवान्तर-कालीन ग्रन्थो म परिचित हैं। नक्षत्र शब्द का अर्थ भिन्न भिन्न रूपो मे किया जाता है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण का यह वचन क्षत न होने के कारण ही 'नक्षत्र' नामकरण का कारण बतलाता है--

न वा इमानि क्षत्राण्यभूवन्निति। तन्नक्षत्राणा नक्षत्रत्वम्।
(तै० ब्रा० २।७ १८।३)

निरुक्त के अनुसार 'नक्षत्र' की व्युत्पत्ति नक्ष् गतो धातु से है। नक्ष् का अर्थ है चलना। फलत नक्षत्र शब्द का सम्बन्ध इसी धातु से उत्पन्न होता है। वह अर्थ वस्तुत तै० ब्रा० (१। ५। २) के एक वाक्य के ऊपर आश्रित है।

अमु म लोक नक्षते। तन्नक्षत्राणा नक्षत्रत्वम्।

इसका तात्पर्य यही है कि यज्ञ करने वाला व्यक्ति उस लोक (स्वर्ग लोक) में

१ द्रष्टव्य दीक्षित—भारतीय ज्योतिष (हिन्दी स०) पृ० ७४ तथा ७५, (प्रकाशक हिन्दी समिति, लखनऊ १९५७)।

जाता है और वह 'नक्षत्र' बनकर वहाँ वास करता है। इस लोक के पुण्यात्मा हो उस स्वर्गलोक मे नक्षत्रों के रूप मे परिणत हो जाते हैं। अन्य बहुत सी ज्ञातव्य बातें नक्षत्रो के विषय मे यहाँ दी गयी हैं। किसी प्राचीन समय मे तारा तथा नक्षत्र मे अन्तर नहीं माना जाता था, परन्तु तैत्तरीय वेद ने दोनो का अन्तर स्पष्ट शब्दो मे किया है।

ब्राह्मणों मे इन नक्षत्रो के विषय मे कई रोचक आख्यायिकायें उपलब्ध होती हैं जो पुराणो मे परिबृंहित रूप से मिलती हैं। ऐसी ही मनोरंजक कथा मे रोहिणी, मृग तथा मृगव्याध के विषय मे ऐतरेय-ब्राह्मण (१३।९) मे उपलब्ध होती है जिसका उल्लेख कालिदास ने अपने शकुन्तला नाटक मे तथा पुष्पदन्त ने महिम्न स्तोत्र मे किया है।

ऋग्वेद के अनेक मत्रों के ज्योतिष-विषयक निर्देशो से लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ऋग्वेद मे वसन्त सपात मृगशीर्ष मे पड़ता था और तदनुसार वेद का आविर्भाव काल विक्रम से चार हजार वर्ष पूर्व होना चाहिए।[1]

वैदिक साहित्य में इस प्रकार खगोल विषयक महत्त्वशाली सामग्री उपलब्ध होती है। ज्योतिर्विज्ञान के विकास के निमित्त इसका परिचय नितान्त आवश्यक है।

वेद तथा ब्राह्मणो में उपलब्ध होनेवाले इन तथ्यों को देख कर हम भली भाँति कह सकते हैं कि ज्योतिषशास्त्र की नींव बहुत ही गहरी तथा प्राचीन है। वैदिक आर्य स्वय खगोल का ज्ञान रखते थे, नहीं तो इतना सटीक वर्णन इतने प्राचीन युग में सम्भव नहीं था। आगे चल कर ज्योतिष एक वेदाग ही माना जाने लगा, जिसकी सहायता से वेद के कर्मकाण्ड का मर्म समझा जाता था।

वेदाग ज्योतिष

वेदाग ज्योतिष ही भारतीय ज्योतिषशास्त्र का सबसे आदिम तथा प्राचीनतम स्वतन्त्र लक्षण-ग्रन्थ है। इसके दो पाठ उपलब्ध होते हैं—एक आर्च (ऋग्वेद से सम्बद्ध) और दूसरा याजुष (यजुर्वेद से सम्बद्ध)। विषय दोनो मे प्रायः एक समान ही है, परन्तु श्लोकों की सख्या मे अन्तर है। यजुर्वेदीय ज्योतिष में ४४ श्लोक हैं, जब कि ऋग्वेदीय मे केवल ३६। दोनो में अधिकांश श्लोक भी एक ही हैं, परन्तु श्लोकों के क्रमों मे अन्तर है। विद्वानों का कथन है कि दोनों मे श्लोकों के अन्तर का कारण यह है कि यजुर्वेदीय ज्योतिष मे टीका के रूप में कुछ श्लोक बढ़ा दिये गये हैं।

---

१ द्रष्टव्य—लोकमान्य का 'ओरायन' नामक अंग्रेजी ग्रंथ तथा ग्रन्थकार का 'वैदिक साहित्य और संस्कृति' पृष्ठ १११–११४।

वेदाङ्ग ज्योतिष परिमाण मे तो थोड़ा है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से नितान्त गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण है। इसके अर्थ समझने का उद्योग बहुत दिनो से होता आ रहा है। सोमाकर के भाष्य को अपूर्ण जानकर सुधाकर द्विवेदी ने एक नवीन व्याख्या लिखी। पाश्चात्य ज्योतिषी तथा भारतीय विद्वानो ने इस पर बहुत माथा लगाया है और उसके श्लोको के मूल अर्थ को समझाने का यत्न किया है। वेदाङ्ग ज्योतिष मे पञ्चाङ्ग-पद्धति स्थूल रूप से वही है जो आजकल प्रचलित है। महीने चन्द्रमा के अनुसार चलते थे, प्रत्येक मास ३० भागो मे बाँटा जाता था, जिन्हें तिथि कहते थे। वर्ष मे साधारणतया बारह महीने होते थे, परन्तु आवश्यकतानुसार वर्ष का आरम्भ तथा ऋतु का सम्बन्ध बनाये रखने के लिए एक महीना बढ़ा भी दिया जाता था।

वेदाङ्ग ज्योतिष मे पाँच वर्ष का युग माना गया है और बताया गया है कि एक युग मे १८३० दिन होते हैं तथा ६२ चान्द्रमास होते हैं। इस प्रकार एक चान्द्रमास का मान २९.५१६ दिन निकलता है जो वास्तविकता से कम है। यदि लम्बा युग चुना गया रहता जैसा कि सिद्धान्त ज्योतिष ग्रन्थो मे किया गया है, तो ऐसी त्रुटि नहीं होती। इसी प्रकार बहुत सी नक्षत्र सम्बन्धी गणनाओं की चर्चा यहाँ है। आठ श्लोकों मे बतलाया गया है कि पूर्णिमा या अमावस्या पर चन्द्रमा अपने नक्षत्र मे किस स्थान पर रहता है। विषुवत् की गणना का प्रकार भी यहाँ बतलाया गया है। विषुवत् पर दिन और रात बराबर होते हैं। वर्ष मे ऐसे दिन का पता लगाना ज्योतिषियो के लिए एक बहुत ही आवश्यक कार्य रहा है। ग्रहो के योग से जो शुभाशुभ फल उत्पन्न होते हैं, उनका भी वर्णन इस ग्रन्थ मे है।

वेदाङ्ग ज्योतिष के रचयिता का नाम लगध बतलाया गया है। यह कहना कठिन है कि लगध कौन थे, क्योंकि संस्कृत साहित्य मे इनका नाम अन्यत्र नहीं है। ग्रन्थ मे दिये गये साधनों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसका रचनाकाल १२०० ई० पूर्व है।

ज्योतिष के इतिहास मे वेदाङ्ग ज्योतिष प्राचीनतम काल की समाप्ति का सूचक है। इसके अनन्तर तथा आर्यभट (षष्ठ शतक) के बीच का काल एक प्रकार से अन्धकारयुग है। ईस्वी के आरम्भ काल मे संहिताओं का प्रणयन हुआ जिनमे आकाशीय पिण्डों की गति तथा स्वरूप आदि के विषय मे अनेक महत्त्वपूर्ण मौलिक गवेषणायें हैं। इस प्रकार प्रथम शती से लेकर पचम शती के काल को हम ज्योतिष के इतिहास मे 'संहिता-युग' के नामसे व्यवहृत करते हैं। आर्यभट से लेकर भास्कराचार्य तक का समय ज्योतिष का सुवर्ण युग है जिसमें अनेक प्रतिभाशाली ज्योतिषियों तथा गणितज्ञों ने अपनी मौलिक गवेषणा और पाण्डित्यपूर्ण व्याख्याओं के द्वारा इस

शास्त्र को खूब ही चमका दिया। विश्व के इतिहास मे ज्योतिष विज्ञान का उत्कर्ष इस-युग की प्रौढ रचनाओ के ही कारण है।

सिद्धान्त युग

वेदाग ज्योतिष से आरम्भ कर जो युग वराहमिहिर तक चला आता है उसे हम सिद्धान्त युग के नाम से पुकार सकते हैं, क्योकि इस युग मे सिद्धान्तो का प्रचलन विशेष रूप से हुआ है। यह युग हमारे लिये अन्धकारमय ही होता, यदि वराहमिहिर ने उस युग मे प्रचलित पाँच सिद्धान्तग्रन्थो का साराश अपने पचसिद्धान्तिका मे नही दिया होता। वराह-मिहिर स्वय एक प्रतिभाशाली ज्योतिषी थे और वे एक स्वतन्त्र सिद्धान्त ग्रथ के बनाने की क्षमता रखते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा न कर उस युग के सिद्धान्त ग्रन्थो का जो परिचय प्रस्तुत किया वह इतिहास की दृष्टि से नितान्त महत्त्वशाली है।

'पञ्चसिद्धान्तिका' की जो प्रति आज उपलब्ध है तथा जिसे डॉ० थीबो और महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी ने अंग्रेजी अनुवाद तथा सस्कृत टीका के साथ सन् १८८९ ई० मे प्रकाशित किया था वह अनेक स्थलो पर अशुद्ध तथा भ्रष्ट है। तथापि दोनो सम्पादको के अश्रान्त परिश्रम से इस ग्रथ का उद्धार करना ज्योतिषशास्त्र के इतिहास मे एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इन पाँच सिद्धान्तो के नाम हैं—पौलिश, रोमक, वासिष्ठ, सौर तथा पैतामह। इनके विषय मे वराहमिहिर ने स्वय लिखा है कि "इन पाचो मे पौलिश और रोमक के व्याख्याकार लाटदेव हैं। पौलिश सिद्धान्त स्पष्ट है, रोमक सिद्धान्त उसी के निकट है। सूर्यसिद्धान्त सबसे अधिक स्पष्ट है, तथा शेष दोनो, अर्थात् वासिष्ठ सिद्धान्त तथा पितामह सिद्धान्त बहुत भ्रष्ट हैं।" पितामह सिद्धान्त मे गणना के लिये ८० ई० को आदिकाल माना गया है। इससे अनुमान लगाया जाता है कि इस ग्रथ की रचना का काल यही है, अर्थात् प्रथम शती।

इन सिद्धान्त ग्रथो मे सूर्य सिद्धान्त नामक ग्रन्थ अलग से भी उपलब्ध है और इसका साराश पचसिद्धान्तिका मे भी दिया गया है। दोनो की तुलना करने से दोनो मे अन्तर प्रतीत होता है। जान पडता है कि प्राचीन सूर्य सिद्धान्त मे नये सशोधन किये गये हैं जिनका लक्ष्य यह था कि सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रहो के चक्कर लगाने का समय (जिसका पारिभाषिक नाम भगण हैं) आँख से देखे गये या यन्त्रो से नापे गये (वेध प्राप्त) मानो के यथासम्भव निकट आ जाय। इस प्रकार सशोधित सूर्यसिद्धान्त, यद्यपि इसका सशोधन आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व हुआ था, पुराने ग्रथ की अपेक्षा अधिक शुद्ध फल देता है। सूक्ष्म विवेचन के आधार पर थीबो तथा सुधाकर द्विवेदी का कहना है कि वराहमिहिर ने अपने समय मे प्रचलित सूर्यसिद्धान्त का सच्चा

साराश दिया था। इससे विश्वास है कि अन्य सिद्धान्तो का विवरण भी यथार्थ तथा अपनी ओर से विना किसी विवरण के हैं।

(१) *पितामह-सिद्धान्त*—पचसिद्धान्तिका के बारहवें अध्याय मे केवल पाँच श्लोको मे इनका परिचय दिया गया है जिससे पता चलता है कि इसका मत वेदाग-ज्योतिप से मिलता जुलता है और उसी के समान पाँच वर्षो का युग माना गया है। वर्ष मे महत्तम दिनमान १८ मुहूर्त माना गया है तथा लघुतम दिनमान १२ मुहूर्त।

(२) रोमक-सिद्धान्त—रोमक सिद्धान्त के लेखक श्रीषेण हैं। परन्तु थीबो का मत है कि श्रीषेण ने कोई मौलिक ग्रंथ न लिख कर किसी पुराने रोमक-सिद्धान्त को नया रूप दिया है। प्राचीन टीकाकारो ने अनेक वार श्रीषेण को रोमक-सिद्धान्त का रचयिता माना है। पचसिद्धान्तिका के प्रथम अध्याय मे रोमक-सिद्धान्त की युग-सम्बन्धी कल्पनायें निबद्ध हैं जिनका प्रचार प्रसिद्ध यवन ज्योतिषी मेटन ने ४३० ई० पूर्व किया था। इनके अनुसार वर्षमान ठीक वही है जो यूनानी ज्योतिषी हिपार्कस *(१४६–१२७ ई० पूर्व) ने अपने ग्रंथ मे दिया है। यह वर्षमान है* ३६५ *दिन* ५ घण्टा ५५ मिनट, १२ सेकेण्ड। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य बातो मे भी रोमक सिद्धान्त यवन-ज्योतिष से समानता रखता है। परन्तु कई बातो मे भिन्नता भी है। इसलिए हम रोमक-सिद्धान्त को यूनानी ज्योतिष का अन्धाधुन्ध अनुकरण नही मानते। वराहमिहिर के पूर्व भारत तथा यूनान मे आवागमन विशेष था। इसलिए यूनानी ज्योतिष का भी आगमन इसी विचार-विनिमय का स्फुट रूप है। पचसिद्धान्तिका मे रोमक सिद्धान्त के अतिरिक्त, रोमक देश, यवनपुर यवनाचार्य आदि शब्द भी आते हैं। *यवनपुर का जो देशातर दिया गया है उससे पता चलता है कि यह मिश्र देश का* प्रसिद्ध नगर सिकन्दरिया रहा होगा जिसकी स्थापना सन् ३३२ ई० पूर्व सिकन्दर महान् ने डाली और जो उस युग मे तथा रोमन काल मे अपनी विद्या, वैभव तथा विश्वविद्यालय के लिए पाश्चात्य देशों मे सर्वश्रेष्ठ नगर माना जाता था।

(३) पुलिश-सिद्धान्त—पंचसिद्धान्तिका मे इसके सिद्धान्तो का परिचय पाठों की अशुद्धि *के कारण विशुद्ध रूप से नही मिलता। यहाँ ग्रहणों की गणना के लिए भी* नियम दिये गये हैं, परन्तु वे सूर्यसिद्धान्त तथा रोमक-सिद्धान्त की अपेक्षा बहुत ही स्थूल है। यहाँ वर्ष का मान ३६५ दिन, ६ घण्टा, १२ मिनट का माना गया है तथा उज्जैन और काशी से यवनपुर का देशातर भी बतलाया गया है। भट्टोत्पल ने बृहत्-सहिता की टीका में तथा पृथूदक स्वामी ने ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त की टीका में पुलिश-सिद्धान्त का उल्लेख किया है, जो इस ग्रंथ से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। उसमें वर्ष का मान ३६५ दिन, ६ घण्टा, १२ मिनट, ३६ सेकण्ड था, जो उससे भिन्न है।

(४) वसिष्ठ-सिद्धान्त—*इसका बहुत ही सक्षिप्त विवरण मिलता है। इसका* बहुत कुछ सिद्धान्त-पितामह सिद्धान्त की तरह मिलता है। वराहमिहिर स्वय इसे

भ्रष्ट मानते हैं। ब्रह्मगुप्त ने स्फुटसिद्धान्त मे विष्णुचन्द्र के द्वारा लिखे गये वशिष्ठ-सिद्धान्त का उल्लेख किया है। सम्भव है कि विष्णुचन्द्र ने मूल वसिष्ठ-सिद्धान्त का एक सशोधित संस्करण निकाला था जिसे ब्रह्मगुप्त ने बहुत ही निम्नकोटि का माना था। आजकल 'लघुवसिष्ठ सिद्धात' के नाम से जो ग्रंथ प्रकाशित है वह इससे भिन्न है।

(५) सूर्यसिद्धान्त—वराहमिहिर ने स्वयं ही सूर्यसिद्धान्त को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। आज भी सूर्यसिद्धान्त उपलब्ध है जिसका अंग्रेजी तथा हिन्दी मे अनुवाद प्रकाशित है।[1] यह ग्रन्थ प्राचीन ग्रंथ से अनेक बातो मे भिन्नता रखता है। इस सशोधित सूर्यसिद्धान्त मे १४ अधिकार या अध्याय हैं। पहले अध्याय मे इस ग्रथ के रहस्य को बतलाने वाले स्वय भगवान् सूर्य बतलाये गये हैं और उन्ही के उपदेश को सुनकर मय नामक असुर ने इसका निर्माण किया। इसके मूल रचयिता का पता नही चलता। यहाँ ग्रहो की मध्यगतियो का वर्णन है। सूर्य, चन्द्रमा तथा बुध आदि ग्रह समानकोणीय वेग से नही चलते, परन्तु गणना की सुविधा के लिये यह मान लिया जाता है कि वे समान वेग से चलते हैं। इस कल्पना के अनुसार गणना करने से जो स्थिति प्राप्त होती हैं उसे मध्यमज्या मध्यम स्थिति कहते है। ग्रह की गतियो का वर्णन करने के अनन्तर बीजसस्कार करने का उपदेश है। गणना और वेध मे अन्तर होने के कारण बीज-सस्कार आवश्यक समझा गया, अर्थात् युग मे सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहों के भगणो की सख्या मे परिवर्तन कर दिया गया। दूसर शब्दो मे उनकी दैनिक गति बदल दी गयी। यह लगभग १६ वी शताब्दी मे किया गया होगा। सूर्य-चन्द्र की जो सारिणी बरजेस ने अपने अनुवाद ग्रथ मे दी है उससे पता चलता है कि सूर्यसिद्धान्त के मान पर्याप्त शुद्ध हैं। आधुनिक सूर्य वर्षमान ३६५ दिन, ६ घण्टा, ९ मिनट, १०.८ सेकेण्ड है। सूर्यसिद्धान्त मे यह मान ३६५ दिन ६ घण्टा, १२ मिनट, ३६.६ सेकण्ड है। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि आजकल भी वैज्ञानिक गणना के समकक्ष होने के कारण सूर्यसिद्धान्त की गणना पर्याप्त रूपेण शुद्ध प्रामाणिक तथा यथार्थ है और इसीलिए इसके आधार पर बने हुए पञ्चाग आदि भी उपयोगी तथा उपादेय हैं।

दूसरे अध्याय मे ग्रहो की स्पष्ट स्थिति का वर्णन हैं और इसके लिए ज्यासिद्धात का उपयोग किया गया है। ग्रहण के विषय मे चन्द्रमा का व्यास ४८० योजन बतलाया गया है। पृथ्वी के बताये गये व्यास (१६०० योजन) से तुलना करने पर

---

१. (क) महावीर प्रसाद श्रीवास्तव कृत विज्ञान भाष्य के साथ विस्तृत हिन्दी अनुवाद। प्रकाशक—विज्ञान परिषद प्रयाग।

- (ख) पादरी बरजेस द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, प्रथम स० १८६० ई०, द्वितीय स० १९३५, कलकत्ता विश्वविद्यालय।

चन्द्रमा का व्यास पृथ्वी के व्यास का ०.३३ है, जो वास्तविक माप ०·२७ से बहुत भिन्न नहीं है। परन्तु सूर्य के व्यास का वर्णन बिलकुल ही अशुद्ध है। सूर्य का व्यास पृथ्वी के व्यास से चौगुना यहाँ बतलाया गया है, जो वास्तविक व्यास से बहुत ही अशुद्ध है। इसी प्रकार सूर्यग्रहण बतलाने की पद्धति में बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ कई नियम बतलाये गये हैं, यद्यपि अनेक सशोधनों को छोड़ देने के कारण अन्तिम परिणाम ठीक नहीं निकलता। इसके अनन्तर ग्रहयुति, नक्षत्रयुति आदि का वर्णन है। एक अध्याय में ज्योतिष के यन्त्रों के बनाने का वर्णन है। अन्तिम अध्याय (मानाध्याय) में अयन, संक्रांति, उत्तरायण, दक्षिणायन, चान्द्र तथा सावन वर्ष के समयों का विवेचन किया गया है। यहाँ बतलाया गया है कि सावन दिन सूर्य के एक उदय से लेकर दूसरे उदय तक के समय को कहते हैं।

रचना-काल—सशोधित सूर्यसिद्धान्त का समय क्या है, एक विषम पहेली है। यह एक समय की रचना न होकर भिन्न भिन्न शताब्दियों के सशोधनों के जोड़ने से बना है। इसमें परिवर्तन तथा परिवर्धन होते रहे हैं। सूर्यसिद्धान्त में आजकल ठीक पाँच सौ श्लोक मिलते हैं और उसका पाठ वही है जो इसके भाष्यकार रंगनाथ ने १६०३ ई० में स्थिर कर दिया। उसके अनन्तर क्षेपक मिलाना कठिन हो गया। परन्तु वराहमिहिर के काल से १७ शती के आरम्भ तक नये-नये संशोधन समय-समय पर जोड़े ही जाते रहे। यह ग्रंथ की उत्तमता का पर्याप्त सूचक है कि जैसे-जैसे वेध से पता चला कि आँख से देखी हुई बातों तथा शास्त्रीय गणना में अन्तर पड़ता है वैसे-वैसे ज्योतिषियों ने उसके अंकों को थोड़ा थोड़ा बदल कर उसे अधिक उपयोगी तथा शुद्ध बना दिया। यह ५०० ई० में मूलतः लिखा गया और भारतीय ज्योतिष के इतिहास में यह ऐसा ग्रन्थरत्न है जिसकी प्रभा समय के परिवर्तन से धीमी न होकर बढ़ती ही जाती है।

आर्यभट्ट

भारतीय ज्योतिषशास्त्र के इतिहास की परम्परा निश्चित रूप से आर्यभट्ट से आरम्भ होती है। वेदांग ज्योतिष की रचना लगभग १५०० ई० पूर्व मानी जाती है। उसके बाद एक हजार वर्ष तक किसी भी ज्योतिषी का पता नहीं चलता। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुशीलन से पता चलता है कि उस समय ३०० ई० पूर्व में ज्योतिष की विशेष उन्नति हो चुकी थी। जैनियों के सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चंद्रप्रज्ञप्ति नामक दो ग्रंथ उपलब्ध होते हैं जो कौटिल्य के एक शताब्दी पीछे के हैं। उनका विषय विश्व की रचना है तथा इनमें सूर्य-चन्द्रविषयक कल्पनायें जैनधर्म के अनुसार निर्दिष्ट की गयी हैं।

आर्यभट्ट का जन्म ४७६ ई० में कुसुमपुर (पटना) में हुआ था। इन्होंने २३ वर्ष के वय में ४९९ ई० में अपना महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा, जो इन्हींके नाम पर आर्यभटीय

कहलाता है। इस ग्रन्थ में शककाल तथा विक्रम संवत् की चर्चा नहीं है और ग्रहों की गणना के लिये ३६०० कलिसंवत् (४९९ ई०) को निश्चय किया है। पंचम शती के मध्य में 'महासिद्धान्त' के रचयिता एक दूसरे ज्योतिषी इसी नाम के हुए हैं। उनसे इनको पृथक् करने के लिए इन्हें आर्यभट प्रथम कहना उचित होगा। ये बड़े ही प्रतिभाशाली ज्योतिषी थे जिन्होंने प्राचीन ग्रन्थों में लिखित सिद्धान्तों को अपने अनुभवों से शोधकर इस आर्यभटीय ग्रन्थ की रचना की है। आर्यभटीय की रचना-पद्धति बहुत ही वैज्ञानिक है तथा भाषा बहुत ही संक्षिप्त है जिससे इनके सिद्धान्त कुछ दुरूह से लगते हैं।

सदसज्ज्ञानसमुद्रात् समुद्धृतं देवताप्रसादेन।
सज्ज्ञानोत्तमरत्नं मया निमग्नं स्वमतिना वा॥

(गोलपाद। श्लोक ४९)

आर्यभटीय के सिद्धान्त

आर्यभटीय में कुल १२१ श्लोक हैं जो चार खण्डों में विभाजित हैं—(१) गीतिकापाद, (२) गणितपाद, (३) कालक्रियापाद, (४) गोलपाद। गीतिकापाद केवल ११ श्लोकों का है और जो विषय यहाँ वर्णित हैं वह सूर्यसिद्धान्त के कई अधिकारों में हैं। लम्बी संख्याओं को श्लोक में रखने की दृष्टि से इन्होंने अक्षरों के द्वारा संख्या प्रकट करने की नवीन रीति का प्रचलन किया। इस पद्धति के अनुसार 'क' से लेकर 'म' तक के वर्ण क्रमशः १ से लेकर २५ संख्या के द्योतक हैं। 'य' का मूल्य है ३० तथा उसके अनन्तर के हकार तक के सभी वर्णों के मूल्य में १० की वृद्धि होती गयी है। इस प्रकार य=३०, र = ४०, ल = ५०, व = ६० श = ७०, ष = ८०, स = ९०, ह = १००। मात्राओं तथा स्वरों का मूल्य इनके विलक्षण हैं। वह इस प्रकार है—

अ = १, इ – १००, उ = $१००^{२}$
ऋ = $१००^{३}$, लृ = $१००^{४}$, ए = $१००^{५}$
ऐ = $१००^{६}$, ओ – $१००^{७}$, औ = $१००^{८}$

(२) आर्यभट का मूल सिद्धान्त है कि पृथ्वी का दैनिक भ्रमण होता है, अर्थात् नाव के चलने के समान पृथ्वी भी सदा चला करती है तथा सूर्य स्वयं स्थिर है। (गोलपद ९ श्लोक)। इस सिद्धान्त से इनकी विचारस्वतन्त्रता का परिचय मिलता है। इनके इसी सिद्धान्त के कारण वराहमिहिर तथा ब्रह्मगुप्त आदि ज्योतिर्विदों ने इनकी निन्दा की है।

(३) युगों के परिमाण में भी इनका नवीन मत है जहाँ प्रत्येक महायुग न

सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग भिन्न-भिन्न परिमाण के माने जाते हैं, वहाँ इन्होंने सबको समान ही माना हैं।

आर्यभट ने अपने ग्रंथ के तीसरे अध्याय में अनेक ज्योतिष-सम्बन्धी बातें लिखी हैं जिससे पता चलता है कि चैत्र शुक्ल प्रतिपद् से युग, वर्ष, मास और दिवस की गणना आरम्भ होती है। यहाँ ग्रहों की मध्यमगति तथा स्पष्टगति सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है। ग्रंथ के अन्तिम अध्याय (गोलपाद) में ५० श्लोक हैं जिसमें गोल-सम्बन्धी अनेक नियम, युगसम्बन्धी नवीन कल्पनायें, सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहणों की गणना आदि अनेक ज्योतिष-सम्बन्धी नियमों की समीक्षा की गयी है। पृथ्वी के दैनिक भ्रमण के विषय में आर्यभट ने सुन्दर उदाहरण देकर लिखा है कि जैसे चलती हुई नाव पर बैठा हुआ मनुष्य किनारे के स्थिर पेड़ों को उलटी दिशा में चलता हुआ देखता है, वैसे ही लङ्का (भूमध्यरेखा) से स्थिर तारे पश्चिम की ओर चलते हुए दिखाई पड़ते हैं (श्लोक ९)। इसके अतिरिक्त खगोल सम्बन्धी बहुत-सी बातें दी गयी हैं। इस प्रकार ज्योतिष सिद्धान्त सम्बन्धी सभी बातें और उच्च गणित की कुछ बातें संक्षेप रूप से यहाँ लिखी गयी हैं।

आर्यभटीय' के ऊपर चार टीकायें मिलती हैं, जिनके रचयिताओं के नाम हैं—(१) भास्कर प्रथम, (२) सूर्यदेव, यज्वा, (३) परमेश्वर, (४) नीलकंठ। परमेश्वर की 'भट-दीपिका' के साथ उदयनारायण सिंह ने हिन्दी में टीका की है। सूर्यदेव यज्वा की अप्रकाशित टीका 'आर्यभटप्रकाश' पहले से अच्छा बतलाया जाता है।

वराहमिहिर

अवन्ति के सूर्यभक्त वराहमिहिर का स्थान ज्योतिष—जगत् में वस्तुत सूर्य के सदृश है। ये अवन्ति के निवासी थे। इन्होंने अपने समय की सुस्पष्ट चर्चा नहीं की है, तथापि 'पञ्चसिद्धांतिका' नामक अपने करणग्रंथ में गणितारम्भ का वर्ष ४२७ शकसंवत् (५०५ ई०) दिया है। उस समय यदि इनकी उम्र पचीस वर्ष की मान ली जाय तो इनका जन्मकाल ४८० ई० अनुमानत माना जा सकता है। फलत वराहमिहिर का जीवन-काल षष्टशती का पूर्वार्ध मानना सर्वथा उचित है। इनके पिता का नाम आदित्यदास था, जो इनके विद्यागुरु भी थे। 'कापित्थक' इनका वासस्थान था। यह स्थान आज भी उज्जयिनी के पास 'कायथा' नाम से प्रख्यात है। सूर्य को प्रसन्न कर इन्होंने अभीष्ट ज्ञान प्राप्त किया था। इनके पुत्र पृथुयश ने 'षट्पञ्चाशिका' का निर्माण किया जो आज भी प्रचलित है।

---

१ अंग्रेजी में इसके कई अनुवाद मिलते हैं—(१) पी० सी० सेनगुप्त कलकत्ता १९२७ तथा (२) डब्ल्यू० ई० क्लार्क, शिकागो १९३०। इन दोनों से पहिले डा० कर्न ने इसका अनुवाद हालैण्ड से १८७४ ई० में प्रकाशित किया था।

ग्रन्थ

इनके ग्रन्थ अपन विषय की प्रौढ़ प्रामाणिक रचनायें हैं। प्रधान ग्रन्थो के नाम हैं—(क) पञ्चसिद्धान्तिका (जिसका ऐतिहासिक महत्त्व पूर्व म वर्णित है); (ख) बृहज्जातक (जातक के विषय मे प्रामाणिक ग्रन्थ), (ग) बृहद्यात्रा तथा बृहद्विवाहपटल्यात्रा। (घ) बृहत्संहिता।

लाटदेव

वाराहमिहिर ने पञ्चसिद्धातिका मे जिन पाँच ग्रन्थो का सग्रह किया है उनसे प्रथम दो, पौलिश और रोमक, के ये रचयिता माने जाते है। भास्कर प्रथम द्वारा रचित महाभास्करीय से ज्ञान होता है कि ये आर्यभट के शिष्य थ। इनका समय सवत् ५६० से ६६५ के बीच मे माना जा सकता है। रोमक सिद्धान्त की रचना-शैली से यह ज्ञात होता है कि यह ग्रीक (यूनानी) सिद्धान्तो पर आश्रित है। कुछ विद्वानो का मत है कि सिकन्दरिया के सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद तालोमी के सिद्धान्तो के आधार पर इसकी रचना हुई है। इसका प्रमाण वे यवनपुर के मध्य-कालीन सिद्ध किये गये अहर्गण का रखन है। ब्रह्मगुप्त ने इसके सिद्धान्तो की खूब ही निन्दा की है। पुलिशसिद्धान्त नामक ग्रन्थ का उल्लेख भट्टोत्पल ने वाराहमिहिर के 'बृहत्संहिता' की टीका मे और पृथूदक स्वामी ने ब्रह्मगुप्त के 'स्फुटसिद्धान्त' की टीका मे किया है। अलबेरूनी के मतानुसार अलेकजेंड्रियावासी पौलस के युनानी सिद्धान्तो के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना हुई है। डा० कर्न ने इस मत का खण्डन किया है। उनके अनुसार प्राचीन भारतीयो को 'युवनपुर' (वर्तमान सिकन्दरिया) ज्ञात था तथा वे वहाँ के अक्षाश, देशान्तर आदि से पूर्ण परिचित थे। यह सिद्धान्त-ग्रन्थ रोमकसिद्धान्त की अपेक्षा बहुत ही स्थूल है। गणना की सुविधा के लिये सन्निकट मानो और सन्निकट नियमो से काम चलाया गया है। प्राचीन मूल ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नही है।

भास्कर प्रथम

ये भास्कर लीलावती के सुप्रसिद्ध रचयिता भास्कराचार्य से भिन्न थे। इनके दो ग्रन्थ आजकल पाये गये है—(१) महाभास्करीय, (२) लघुभास्करीय। इनका जन्मस्थान अश्मक बतलाया जाता है, जो नर्मदा और गोदावरी के बीच मे कही था। इन दोनो ग्रन्थो का उपयोग दक्षिण भारत मे पन्द्रहवी शताब्दी तक होता रहा है।

ब्रह्मगुप्त

ज्योतिष के आचार्यो मे ब्रह्मगुप्त का स्थान बहुत ही ऊँचा है। प्रसिद्ध भास्कराचार्य ने इनको 'गणकचक्रचूडामणि' कहा है और इनके मूलांको को अपनी रचना

सिद्धान्तशिरोमणि का आधार माना है। इनका जन्म ई० सन् ५९८ मे पंजाब मे 'भिलनालका नामक स्थान मे हुआ था। इनके दो ग्रन्थ हैं—(१) ब्राह्मस्फुटसिद्धात, (२) खण्डखाद्यक। इन ग्रन्थो का अनुवाद अरबी भाषा मे भी हुआ है जिसमे 'अस सिन्ध हिन्द' ब्राह्मस्फुटसिद्धात का तथा 'अल् अर्कन्द' खण्डखाद्यक का अनुवाद है। इन्होंने कई स्थानो पर इसका निर्देश किया है कि आर्यभट, श्रीषेण विष्णुचन्द्र आदि की गणना मे ग्रहो का स्पष्ट स्थान शुद्ध नही आता और इसलिये वे ग्राह्य नही हैं। आगे चलकर आपने यह भी लिखा है कि ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त से दृग्गणितैक्य होता है। इसलिए यह मान्य है।

तन्त्रभ्रंशे प्रतिदिनमेव विज्ञाय धीमता यत्न।
कार्य्यस्तस्मिन् यस्मिन् दृग्गणितैक्यं सदा भवति ॥

(तन्त्रपरीक्षाध्याय ६०)

इस कथन से यह स्पष्ट है कि इन्होंने ग्रथो की रचना ग्रहो का प्रत्यक्ष वेध करके ही की थी। ये ही प्रथम ज्योतिषी थे जो प्रयोगो पर अटूट आस्था रखते थे। एक स्थल पर इन्होंने कहा भी है कि जब कभी गणना और वेध मे अन्तर पड़ने लगे तो वेध के द्वारा गणना शुद्ध कर लेनी चाहिये।

ब्राह्मस्फुट मे २४ अध्याय इस प्रकार हैं—मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, त्रिप्रश्नाधिकार, चद्रग्रहणाधिकार, सूर्यग्रहणाधिकार, उदयास्ताधिकार, चन्द्रशृ गोन्नत्यधिकार, चन्द्रच्छायाधिकार, ग्रहयुत्यधिकार, भग्रहयुत्यधिकार, तन्त्रपरीक्षाध्याय, गणिताध्याय, मध्यगति-उत्तराध्याय, स्फुटगति-उत्तराध्याय, त्रिप्रश्नोत्तराध्याय, ग्रहणोत्तराध्याय, शृ गोन्नत्युत्तराध्याय, कुट्टकाध्याय, शकुच्छायादिज्ञानाध्याय, छन्दश्चित्युत्तराध्याय, गोलाध्याय, यन्त्राध्याय, मानाध्याय, और संज्ञाध्याय। इस ग्रथ मे न केवल ज्योतिष का, बल्कि बीजगणित, अकगणित और क्षेत्रमिति का भी प्रामाणिक विवरण हमे प्राप्त होता है। इन अध्यायो मे—ग्रहो की मध्यम गति की गणना, इनकी स्पष्ट गति जानने की रीतियाँ, दिशा, देश और काल जानने की रीतियाँ, चन्द्र एव सूर्य्यग्रहण की गणना, ग्रहो का एक दूसरे के पास आना, चन्द्रमा के वेध से छाया का ज्ञान, नक्षत्रो के साथ ग्रहों की युति आदि का विवरण भली-भाँति शास्त्रीय ढग से किया गया है।

गोलाध्याय नामक अध्याय मे भूगोल और खगोल सम्बन्धी गणना है। इसमें भी कई खड हैं—ज्या (Sine) प्रकरण, स्फुटगतिवासना, ग्रहणवासना, गोलबन्धाधिकार। इनमे भूगोल तथा खगोल सम्बन्धी परिभाषायें और ग्रहों के बिम्बों के व्यास आदि जानने की रीतियाँ दी गई है।

ब्रह्मगुप्त की दूसरी रचना 'खण्डखाद्यक' है जिसे इन्होंने शक ५८७ (६६५ ई०) में अपनी ६९ वर्ष के वय मे लिखा था। यह ग्रन्थ आर्यभट के सिद्धान्तो का अधिक पक्षपाती है। इसमे दस अध्याय हैं जिनमे आरम्भ के आठ अध्याय तो केवल आर्यभटके

के अनुकरणमात्र हैं और उत्तर भाग के तीन अध्यायो मे आर्यभट्ट की आलोचना सशोधनो के साथ की गई है। पूर्व खण्डखाद्यक के आठ अध्याय इस प्रकार हैं—तिथि, नक्षत्रादि की गणना, पच ताराग्रहो की मध्य और स्पष्ट गणना, त्रिप्रश्नाधिकार, चन्द्रग्रहणाधिकार, सूर्यग्रहणादि का उदयास्ताधिकार, चन्द्रशृगोन्नत्यधिकार, ग्रहयुत्यधिकार।

कल्याण वर्मा

इनका समय ई० सन् ५७८ माना जाता है। इन्होने यवनो के होराशास्त्र का सार 'सारावली' नामक ग्रथ मे दिया है। यह बहुत ही विशाल है और जातकशास्त्र मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस ग्रथ मे ४२ अध्याय हैं जिसमें ढाई हजार के लगभग श्लोक हैं। भट्टोत्पल ने बृहज्जातक की टीका मे इस ग्रथ का उल्लेख किया है।

लल्ल

इनके पिता का नाम भट्ट त्रिविक्रम था। आर्यभट्ट प्रथम इनके गुरु माने जाते हैं। इनका सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'शिष्यधी वृद्धि' है जो आर्यभट्ट के सिद्धान्तो का अनुसरण कर लिखा गया है। इसमे गणिताध्याय और गोलाध्याय नामक दो प्रकरण है। गणिताध्याय मे मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, त्रिप्रश्नाधिकार, चन्द्रग्रहणाधिकार, सूर्यग्रहणाधिकार, पर्वसम्भवाधिकार, ग्रहयुत्यधिकार, भग्रहयुत्यधिकार, महापाताधिकार और उत्तराधिकार नामक अध्याय हैं। गोलाध्याय मे छेदाधिकार, गोलबन्धाधिकार, मध्यगतिवासना, भूगोलाध्याय, ग्रहभ्रमसस्याध्याय, भुवनकोश, मिथ्याज्ञानाध्याय यन्त्राध्याय और प्रश्नाध्याय नामक अध्याय हैं। लल्ल का एक अन्य ग्रथ 'रत्नकोष' भी है, जो एक सहिता ग्रथ है। शिष्यधीवृद्धि ग्रथ के निर्माण का मुख्य उद्देश्य आर्यभट के सिद्धातो को विद्यार्थियो के लिए सरल एव सुबोध शैली मे प्रस्तुत करना था। जैसा इस श्लोक से ज्ञात भी होता है—

> विज्ञाय शास्त्रमलमार्यभटप्रणीत
> तंत्राणि यद्यपि कृतानि तदीयशिष्यैं।
> कर्मक्रमो न खलु सम्यगुदीरितस्तै
> कर्म ब्रवीम्यहमत क्रमशस्तदुक्तम्॥
>
> (मध्यमाधिकार, श्लोक २)

लल्ल के समय के विषय मे विद्वानो मे काफी मतभेद है। महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी ने इनका समय ४२१ शक स० बतलाया है अर्थात् इन्हें ब्रह्मगुप्त से प्राचीन माना है, परन्तु इधर के अनुसधानो से ये ब्रह्मगुप्त से लगभग एक शती पीछे सिद्ध किये जाते हैं। इनके ग्रथ का विषय निरूपण ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त के आधार पर ही

प्रतीत होता है। ब्रह्मगुप्त ने अपने ग्रंथ में ज्योतिष तथा गणित दोनों का समुचित वर्णन किया है, परन्तु इन्होंने विषय की व्यापकता के कारण अपने को केवल ज्योतिष के वर्णन में ही सीमित किया है। लल्ल का समय ६७० शक (=७४८ ई०) निश्चित होता है।

आर्यभट द्वितीय

आर्यभट द्वितीय का ज्योतिष एवं गणित दोनों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका समय ९५० ई० के लगभग माना जाता है। सुधाकर द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'गणकतरंगिणी' में इनका उल्लेख नहीं किया है। इनकी सुप्रसिद्ध रचना 'महासिद्धान्त' है जिसमें ज्योतिष एवं गणित दोनों का समावेश है। इस ग्रन्थ में अट्ठारह अधिकार हैं जिसमें सब मिलाकर कुल ६२५ आर्या छन्द हैं। गोलाध्याय नामक चौदहवें अधिकार में पाटीगणित के प्रश्न हैं। १५वें अध्याय में क्षेत्रफल, घनफल आदि विषय दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त प्रश्नोत्तराध्याय (१७) और कुट्टकाध्याय भी हैं जिनमें ग्रहों की मध्यगति तथा कुट्टक सम्बन्धी प्रश्नों पर क्रमशः विचार किया गया है।

आर्यभट का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य संख्याओं में लिखने की नवीन पद्धति है जो आर्यभट प्रथम की पद्धति से सर्वथा भिन्न है। इसे 'कटपयादि' पद्धति कहते हैं। इस पद्धति में मात्राओं के लगाने से संख्या में कोई भेद नहीं माना जाता। यह रीति आर्यभट प्रथम की रीति से अपेक्षाकृत सरल है—क्योंकि इसको याद करने में सुगमता है। यह रीति इस प्रकार है—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	०
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म	·		···	····	
य	र	ल	व	श	ष	स	ह	··	

अब तक के ज्योतिषियों ने जैसे ब्रह्मगुप्त, लल्ल आदि ने अयन-चलन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। आर्यभट द्वितीय ही सर्वप्रथम ज्योतिषी हैं जिन्होंने इसकी कल्पभगण की संख्या का निर्देश किया है, जो बहुत ही अशुद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यभट का समय वह था जब अयनगति के सम्बन्ध में हमारे सिद्धान्त निश्चित नहीं हुए थे। मुंजाल की पुस्तक 'लघुमानस' में अयन-चलन के स्पष्ट एवं शुद्ध उल्लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि आर्यभट इनसे कुछ पूर्व में हो चुके थे। मुंजाल का समय ८५४ शक (९३२ ई०) है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इनका समय ८०० शक (८७८ ई०) के आसपास होगा।

मुंजाल

इनका समय ८५४ शक के आसपास माना जाता है क्योंकि इन्होंने अपनी पुस्तक 'लघुमानस' में ग्रहों का ध्रुवकाल ८५४ शक ठहराया है। आगे चलकर भास्कराचार्य द्वितीय एवं मुनीश्वर ने मुंजाल के द्वारा बताये गये अयनगति का वर्णन किया है। इन प्रमाणों से यह निश्चित है कि ये ई० ९३२ के लगभग वर्तमान थे। मुंजाल अपने समय के एक सुप्रसिद्ध ज्योतिषी रह चुके हैं। ये ही सर्वप्रथम ज्योतिषी है जिन्होंने ताराओं का निरीक्षण कर नये विचारों को प्रस्तुत किया। अयनगति के सम्बन्ध मे भी इनका महत्त्वपूर्ण योग है। इनकी सुप्रसिद्ध रचना 'लघुमानस' है जिसमें आठ अधिकार है।

उत्पल

उत्पल का नाम ज्योतिष ग्रथो के टीकाकारो मे अमर रहेगा। बृहज्जानक की टीका मे इन्होंने उसके लिखे जाने के समय का उल्लेख किया है ८८८ शक (९६६ ई० चैत्र शुक्ल ५ गुरुवार)। इससे ज्ञात होता है कि ये दशम शती मे आविर्भूत थे। इनकी पाँच टीकायें उपलब्ध हैं (१) बृहज्जानक (२) बृहत्-संहिता की टीका (३) खण्डखाद्यक की टीका (४) षट्पचाशिका की टीका जिसके रचयिता वराहमिहिर के पुत्र बतलाये जाते हैं (५) लघुजातक की टीका। इन टीकाओं के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय का समस्त उपलब्ध ज्योतिष साहित्य उत्पल के अध्ययन का विषय था और इसीलिये इनकी टीकायें प्रौढ, पाडित्यपूर्ण तथा प्रमेय-बहुल हैं।

पृथूदक स्वामी

इन्होंने ब्रह्मगुप्त के ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त पर एक टीका लिखी है तथा इनके मत का उल्लेख भास्कराचार्य (द्वितीय) ने अपने ग्रन्थो मे अनेक स्थानो पर किया है। दीक्षित के मतानुसार ये उत्पल के समकालीन थे। इन्होंने ब्रह्मगुप्त के दूसरे ग्रन्थ 'खण्ड खाद्यक' की भी टीका लिखी है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जिस प्रकार उत्पल ने वराहमिहिर के मतो को अपनी टीकाओं के द्वारा अभिव्यक्त किया, उसी प्रकार पृथूदक स्वामी ने ब्रह्मगुप्त के कठिन ग्रयों को अपनी व्याख्या के द्वारा सुबोध तथा सरल बनाया। ब्रह्मगुप्त (६ शती) तथा भास्कराचार्य (१२ शती) के मध्यकाल मे इनका उदय माना जा सकता है—लगभग १०म शती।

श्रीपति

ये अपने समय के अद्वितीय ज्योतिर्विद थे। इनके प्रधान ग्रन्थ हैं (१) गणित तिलक (२) बीजगणित (३) धी कोटि-करण (४) सिद्धान्तशेखर (५) ज्योतिष रत्नमाला, (६) जातकपद्धति (जातकग्रन्थ) (७) दैवज्ञ वल्लभ (८) श्रीपतिनिबन्ध (९) ध्रुवमानस करण (१०) श्रीपति समुच्चय। इनके पाटीगणित के ऊपर सिंहतिलक

नामक जैन आचार्य की एक 'तिलक' नामक टीका है। ये गणित के ही विशेषज्ञ नही थे प्रत्युत ग्रहवेध-क्रिया से भी परिचित थे। इनका प्रधान ग्रन्थ सिद्धान्तशेखर वेधक्रिया द्वारा ग्रह-गणित की वास्तविकता को जान कर लिखा गया है। धी-कोटिकरण मे गणित का जो उदाहरण दिया गया है, उसमें ९६१ शक की चर्चा है। अत इनका समय एकादश शतक का मध्यकाल ठहरता है (१०४० ई०)।

शतानन्द

इनका ग्रन्थ 'भास्वती करण' वराहमिहिर के सूर्य्य सिद्धान्त के आधारपर १०२१ शक (१०९९ ई०) मे लिखा गया था। यह ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध था और इसलिए इसकी अनेक टीकायें संस्कृत तथा हिन्दी मे उपलब्ध होती हैं। इस ग्रन्थ में आठ अधिकार या अध्याय हैं जिनमे ग्रहो की गति के वर्णन के अतिरिक्त सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहण का वर्णन अलग अध्यायों मे किया गया है।

भास्कराचार्य द्वितीय

भास्कराचार्य द्वितीय वास्तव मे ज्योतिर्गगन के भास्कर थे। वराहमिहिर तथा ब्रह्मगुप्त के बाद इनके समान प्रतिभाशाली तथा सकलगुणसम्पन्न दूसरा ज्योतिर्विद् नही हुआ। इनका जन्म सह्याद्रि पर्वत के निकट विज्जडवीड ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम महेश्वर था जिनसे इन्होने ज्योतिर्विद्या सीखी थी। इनका जन्म काल १०३६ शक (१११४ ई०) माना जाता है जिसका उल्लेख उन्होंने स्वय किया है। ३६ वर्ष के वय मे इन्होने सिद्धान्त शिरोमणि की रचना की।

रसगुणपूर्णमही-समशकनृप-समयेऽभवन्ममोत्पत्तिः।
रसगुणवर्षेण मया सिद्धान्तशिरोमणी रचित.॥

गोलाध्याय का प्रश्नाध्याय ५८

इन्होने अपने 'करण कुतूहल' ग्रन्थ का आरम्भ ११०५ शक (११८३ ई०) में किया जिससे प्रकट होता है कि कम से कम ७० वर्ष तक ये जीवित थे।

इनके रचित प्रख्यात ग्रन्थ चार हैं —

(१) सिद्धान्तशिरोमणि　　　(२) लीलावती
(३) बीजगणित　　　(४) करणकुतूहल।

सिद्धान्त-शिरोमणि पर इन्होने स्वय वासना भाष्य लिखा जिससे इनके सरल तथा सरस गद्य का भी परिचय मिलता है। भास्कराचार्य एक सरस कवि भी थे जिसका प्रमाण उनका रमणीय ऋतु वर्णन है।

सिद्धान्त-शिरोमणि —ज्योतिष सिद्धान्त का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके गोलाध्याय मे पद्रह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय का नाम गोल प्रशसा तथा दूसरे का

नाम गोलस्वरूप प्रश्नाध्यायी है। इसमे प्रश्नरूप मे पूछा गया है कि यह पृथ्वी आकाश मे कैसे स्थिर है। इसका स्वरूप और मान क्या है ? आदि आदि।

तीसरा अध्याय 'भुवन कोश' है जिसमे विश्व का स्वरूप बताया गया इसमे यह विशेष रूप से बतलाया गया है कि पृथ्वी का कोई आधार नही है, केवल अपनी शक्ति से स्थिर है। इन्होने उल्लेख भी किया है 'पृथ्वी मे आकर्षण शक्ति है, उससे वह आकाश मे फेंकी गई भारी वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है और वह भारी वस्तु गिरती हुई दिखायी पडती है, परन्तु पृथ्वी कही नहीं गिर सकती, क्योकि आकाश सब ओर समान हैं, अब इससे हम पता लगा सकते है कि न्यूटन (१६४३–१७२७ ई०) से पाँच शताब्दी पूर्व ही भास्कराचार्य ने गुरुत्वाकर्षण के मान्य सिद्धान्त को सर्वप्रथम प्रस्तुत किया था। उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि पृथ्वी समतल न होकर गोल है। प्रमाण मे बतलाया है कि जैसे वृत्त की परिधि का छोटा सा भाग सीधा जान पडता है, वैसे ही 'इस भारी भूमि की तुलना मे, मनुष्य अत्यन्त क्षुद्र होने के कारण, भूमि के ऊपर उसकी दृष्टि जहाँ तक जाती है वह सब समतल ही जान पडता है।' इसके अतिरिक्त पृथ्वी की परिधि, व्यास और इसके पृष्ठ के क्षेत्रफल का भी उल्लेख किया गया है। इसमे परिधि और व्यास का अनुपात बहुत ही शुद्ध (३·१४१६) दिया गया है।

चौथा अध्याय मध्यगति वासना है जिसमे सूर्य चन्द्रमा और ग्रहो की मध्यगतियो का उल्लेख है। पाँचवाँ अध्याय ज्योत्पत्ति है जिससे त्रिकोणमिति की जानकारी प्राप्त होती है। छठाँ अध्याय छेद्यकाधिकार है जिसमे छेद्यक बनाने की विधि का वर्णन किया गया है। इसके अन्य अध्याय हैं—गोलबधाधिकार त्रिप्रश्नवासना, ग्रहणवासना, दृक्कर्मवासना, शृङ्गोन्नतिवासना, यन्त्रवासना, ऋतुवर्णन, प्रश्नाध्याय और ज्योत्पत्ति। यन्त्राध्याय मे उस समय मे प्रयोग मे लाये जाने वाले यन्त्रो का विस्तार मय वर्णन है। ये यन्त्र है—गोल, नाडीवलय, यष्टि, शकु, घटीयन्त्र, चक्र, चाप, तुर्य, फलक और धी। सिद्धान्तशिरोमणि पर आजकल अनेक टीकायें उपलब्ध हैं, जिसमे 'गणेश दैवज्ञ' की ग्रहमाधवाकार, नृसिंह की वासना-कल्पलता और वासना-वार्तिक एव मुनीश्वर या विश्वरूप की मरीचि नामक टीकायें बहुत ही ख्याति-प्राप्त हैं।

ऊपर के वर्णन से भास्कराचार्य के विपुल महत्त्व का परिचय पाठको को लग सकता है। पिछली सात शताब्दियो मे ज्योतिष विषयक ज्ञान का प्रकाशपुञ्ज इसी ग्रन्थ से बिखरता रहा और इन्हीं के ग्रथो का अध्ययन अध्यापन तथा ऊहापोह आज के सस्कृत-महाविद्यालयो मे सम्पूर्ण भारत मे होता है। भास्कराचार्य मे ज्योतिषी तथा गणितज्ञ का अपूर्व सम्मिलन था और इसीलिए आलोचको का कहना है कि इन्होने गणित-ज्योतिष का विस्तार ही नही किया, प्रत्युत उपपत्तिसम्बन्धी बातो

पर भी पूरा ध्यान दिया। परन्तु आकाश के प्रत्यक्ष वेध से इन्होंने बहुत कम काम लिया और इन वेधों के लिए इन्होंने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त को ही अपना आधार माना। सच तो यह है कि ज्योतिष शास्त्र मे नवीन खोज करने वाली प्रतिभा भास्कर के बाद बहुत ही धीमी पड गयी। ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन अध्यापन होता रहा था, नवीन ग्रंथो की भी रचना होती रही परन्तु उनमे उस मौलिक प्रतिभा की झलक तथा प्रेरणा की शक्ति बहुत ही कम दीख पडती है जिसका दर्शन हमे भास्कराचार्य के ग्रन्थो मे होता है।

भास्करोत्तर काल

भास्कराचार्य के अनन्तर ज्योतिष शास्त्र के लेखक भारतवर्ष मे इधर उधर मिलते हैं जिनमें फलित, जातक, मुहूर्त आदि विषयों का वर्णन मिलता है। इसमे से कतिपय अतिप्रसिद्ध ग्रंथों तथा ग्रंथकारों का निर्देश नीचे किया जा रहा है —

(१) वल्लाळ सेन—प्रसिद्ध राजा लक्ष्मण सेन के पिता महाराजाधिराज वल्लाल सेन ने ११६८ ई० मे 'अद्भुत सागर' नामक संहिता का बृहद् ग्रंथ बनाया जो बृहद् संहिता के ढग का है। इसमे अनेक प्राचीन आचार्यो तथा ग्रंथो के उद्धरण दिये गये हैं। इसमें ज्योतिष सम्बन्धी बहुत सी विलक्षण घटनाओ का उल्लेख है। (२) केशवार्क का 'विवाह वृन्दावन' (तेरह शती) नामक मुहूर्त ग्रंथ विवाह-सम्बन्धी मुहूर्तों का अच्छा परिचय देता है। (३) ज्योतिर्विदाभरण नामक मुहूर्त ग्रंथ जो किसी कालिदास के द्वारा विरचित बतलाया जाता है इसी युग की कृति है। (४) महेन्द्रसूरि का 'यन्त्रराज' (रचनाकाल १२९२ शक) यन्त्रो की जानकारी के लिए प्रामाणिक ग्रंथ है।

(५) मकरन्द—इन्होंने १३७८ ई० मे सूर्यसिद्धान्त के अनुसार तिथि आदि की जानकारी के लिए अपने ही नाम पर एक सारणी काशी मे रची जिसके अनुसार काशी तथा मिथिला प्रान्तों म आज भी पचाग बनाये जाते हैं।

(६) गणेश दैवज्ञ—इनका मुख्य ग्रंथ 'ग्रह लाघव' है जो आजकल बहुत ही प्रसिद्ध है। इसके ऊपर अनेक टीकायें मिलती हैं। इनके पिता केशव और भी बडे आचार्य तथा संशोधक थे। सूर्य, चन्द्रमा और ताराग्रहो का वेध करके गणना ठीक करने पर उन्होंने बडा जोर दिया है। केशव का मुख्य ग्रंथ 'ग्रहकौतुक' है जिसका आरम्भ १४९६ ई० मे किया गया था।

(७) नीलकठ—इनका ताजिक नीलकंठी नामक ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है जिसे वर्षफल बनाने के लिए ज्योतिषी लोग आज भी काम म लाते हैं। ये अकबर के दरबार के सभापण्डित थे और १५८७ ई० में नीलकंठी का निर्माण किया। इन्हीं के अनुज रामदैवज्ञ की 'मुहूर्त चिन्तामणि' (रचना काल शक १५२२) नामक अत्यन्त प्रसिद्ध

ग्रन्थ है जो आजकल मुहूर्त के निर्णय करने में सर्वाधिक लोकप्रिय है। इन ग्रन्थ के ऊपर इनके भतीजे गोविन्द ने 'पीयूषधारा' नामक टीका लिखी है।

(८) कमलाकर—कमलाकर पिछले युग के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी थे। इनका जन्म १६०८ ई० के लगभग हुआ था। इस प्रकार ये न्यूटन के समकालीन ज्योतिषी हैं। इनका महत्वपूर्ण सिद्धान्त ग्रन्थ है—सिद्धान्त-तत्त्व-विवेक जिसे इन्होंने काशी में १५८० शक (१६५८ ई०) में प्रचलित सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार लिखा था। इस ग्रन्थ में बहुत सी नवीन बातों का समावेश है जिससे पता चलता है कि ये मौलिक विचारधारा के थे। भारतीय ज्योतिष शास्त्र में कहीं भी ध्रुव तारा की गति का वर्णन नहीं है परन्तु ये उस गतिशील मानते थे जो आज की वैज्ञानिक गणना से प्रमाणित होता है। बकगणित, रेखागणित, क्षेत्रमिति तथा ज्यामाधन की रीतियाँ कई बातों में नई हैं।

ज्योतिषी वेधशालायें

वेधशाला ज्योतिष गणना का प्रधान साधन है जिसके अभाव में ज्योतिष की उन्नति कथमपि नहीं हो सकती। भारत में वैज्ञानिक वेधशाला के निर्माण का श्रेय जयपुर नरेश सवाई जयसिंह द्वितीय (१६८६ ई०–१७४३ ई०) को प्राप्त है। यह महाराजा राजनीति के दाँवपेंच में ही कुशल नहीं थे प्रत्युत ज्योतिष से गाढ़ प्रेम तथा परिचय रखते थे। आकाशीय पिण्डों की वेधप्राप्त तथा गणना-प्राप्त स्थितियों के अन्तर को सुधारने के लिए जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, काशी तथा मथुरा में वेधशालायें स्थापित कीं जिनमें से अनेक वेधशालायें आज भी ठीक हैं तथा काम कर रही हैं। इन यन्त्रों को बनवाने के लिए उन्होंने अपने पंडितों को विदेशों में भी भेजा। ऐसे पंडितों में सम्राट् जगन्नाथ मुख्य थे। ये वेधशालाएँ भारतीय इतिहास के अन्धकारमय युग में उज्ज्वल प्रकाश-स्तम्भ का कार्य कर रही हैं।

जयसिंह ने इन वेधशालाओं में आकाशीय पिण्डों की स्थिति नापने के लिए अनेक यन्त्रों का निर्माण किया है जिसमें यन्त्रराज, सम्राट्यन्त्र, जयप्रकाश तथा रामयन्त्र मुख्य हैं। इनमें यन्त्रराज 'ऐस्ट्रोलेब' का प्रतिनिधि है जो अरबवालों से सीख कर बनाया गया है। इन यन्त्रों में सम्राट्-यन्त्र सबसे महत्त्वशाली है। इसी प्रकार दिगंश-यन्त्र, नाडीवलय यन्त्र, दक्षिणोवृत्ति यन्त्र, षष्टांश यन्त्र तथा मिश्र यन्त्र अपनी उपयोगिता आज भी बनाये हुए हैं। सब वेधशालाओं में सब यन्त्र नहीं हैं। जयपुर तथा दिल्ली की वेधशाला सुरक्षित दशा में हैं। आधुनिक यन्त्रों से तुलना करने पर ये उतनी सूक्ष्म गणना में सफल नहीं हैं। परन्तु जिस युग में ये यन्त्र बनाये गये उस समय इनसे अधिक उपयोगी वैज्ञानिक यन्त्रों का निर्माण सम्भव नहीं था।

आधुनिक काल

जयसिंह के अनन्तर अंग्रेजों का शासन देश पर बढता गया और इस प्रकार पश्चिमी ज्योतिष तथा गणित का प्रभाव भारत पर पडने लगा। गत डेढ सौ वर्षों मे अनेक ऐसे ज्योतिषी उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने प्राचीन ज्योतिष तथा गणित का अध्ययन तथा अनुशीलन नयी पद्धति पर किया है। इन लोगो ने प्राचीन ग्रन्थो के संशोधित तथा आलोचनात्मक संस्करण भी निकाले हैं, नई व्याख्यायें लिखी हैं तथा प्राचीन मतो को समझने तथा समझाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। इनमे से प्रसिद्ध आचार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

(१) बापूदेव शास्त्री —ये काशी के संस्कृत महाविद्यालय के प्रधान गणिताचार्य थे। इनके बनाये गये अनेक संस्कृत तथा हिन्दी मे ग्रन्थ हैं। रेखागणित, त्रिकोणमिति, मायनवाद तत्त्वविवेकपरीक्षा तथा अंकगणित—ये प्रकाशित संस्कृत ग्रन्थ हैं। हिन्दी मे इन्होने अंकगणित तथा बीजगणित का निर्माण किया तथा सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय का तथा सूर्य सिद्धान्त का अंग्रेजी अनुवाद विल्किन्सन के सहयोग से किया (१८६१-६२ ई०)।

(२) केरो लक्ष्मण छत्रे—इन्होने 'ग्रह साधन कोष्टक' नामक मराठी ग्रन्थ फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी ज्योतिष ग्रन्थो के आधार पर लिखा। नाविक पंचाग के अनुसार उन्होंने पंचाग भी प्रकाशित किया जो उस प्रदेश मे खूब ही प्रसिद्ध है।

(३) चन्द्रशेखर सिंह सामन्त —ये उडीसा के निवासी थे। अपने बनाये हुए यन्त्रो की सहायता से इन्होने सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहो के मूलांकों का संशोधन कर एक बहुत ही उपयोगी पुस्तक लिखी है जिसका नाम सिद्धान्त दर्पण है (जिसे अंग्रेजी भूमिका के साथ योगेशचन्द्र राय ने प्रकाशित किया है ?)

(४) शंकर बालकृष्ण दीक्षित—ये पूना के बहुत ही बडे ज्योतिषी थे। इनका सबसे उपयोगी तथा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'भारतीय ज्योतिष शास्त्राचा इतिहास' मराठी भाषा मे है जिसमे लगभग ६०० पृष्ठो में वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के ज्योतिष तथा ज्योतिषियो का इतिहास बडी विवेचना के साथ दिया गया है (१८८८ ई०)। इसमे केवल इतिहास ही क्रमबद्ध रूप से नहीं है, प्रत्युत ज्योतिष शास्त्र के तथ्यो तथा सिद्धान्तों का भी बडा विशद वर्णन है। इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद लखनऊ से हिन्दी समिति ने प्रकाशित किया है भारतीय ज्योतिष नाम से (१९५६ ई०)।

(५) केतकर—इनका पूरा नाम वेंकटेश बापूजी केतकर था (१८५४ से १९३० ई०)। ये प्राच्य तथा पाश्चात्य ज्योतिष के अद्वितीय मर्मज्ञ ग्रन्थकार थे। इन्होंने संस्कृत मे बहुत से उपयोगी ग्रन्थो का निर्माण किया है जिसमें ज्योतिर्गणित तथा

केनकी ग्रहगणित मुख्य हैं। पहला ग्रन्थ सिद्धान्त ज्योतिष का परिचायक है, तो दूसरा ग्रन्थ संस्कृत श्लोकों में अर्वाचीन ज्योतिष के अनुसार पंचांग बनाने का उपयोगी ग्रंथ है। यह संस्कृत में अर्वाचीन ज्योतिष पर अद्वितीय पुस्तक है।

(६) बाल गंगाधर तिलक—(१८५६–१९२१) इनका ज्योतिष सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'ओरायन' (अंग्रेजी) है जिसमें वेदों के काल की मीमांसा बड़ी ही प्रौढ़ युक्तियों के सहारे की गई है। ग्रंथ इतना पाण्डित्यपूर्ण है तथा शैली इतनी वैज्ञानिक है कि पूर्ण सहमत न होने पर भी मैक्समूलर जैसे विद्वान भी इसका लोहा मानते थे।

(७) सुधाकर द्विवेदी—(१८६०–१९१० ई०) काशीवासी महामहोपाध्याय सुधाकर जी एक बहुत ही बड़े प्रतिभाशाली ज्योतिषी तथा गणितज्ञ थे। उत्तर भारत में ज्योतिष तथा गणित के विपुल प्रचार का श्रेय इनके शिष्यों को है। इन्होंने अनेक प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थों को शोध कर नवीन टीकायें लिखी हैं और अर्वाचीन उच्च गणित पर भी स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं। इनके अधिकांश ग्रन्थ संस्कृत में हैं जिनमें दीर्घवृत्त लक्षण, विचित्र प्रश्न, वास्तव चन्द्रश्रृङ्गोन्नति साधन, द्युचरचार, पिण्डप्रभाकर, भाभ्रमरेखा निरूपण, धराभ्रम, ग्रहण करण गोलीय रेखागणित, यूक्लिड की ६ठवीं, ११वीं और १२वीं पुस्तकों का संस्कृत में श्लोकबद्ध अनुवाद और गणक तरंगिणी मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त यन्त्रराज, लीलावती, बीजगणित, करण कुतूहल, पंचसिद्धान्तिका, सूर्यसिद्धान्त, ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त, महासिद्धान्त, याजुष और आर्च ज्योतिष तथा ग्रहलाघव पर आपने टीकाओं का निर्माण किया। इन टीकाओं के अतिरिक्त हिन्दी में चलन कलन, चलराशिकलन, और समीकरण–मीमांसा नामक पुस्तकों की भी रचना इन्होंने की है।

उपसंहार—आज भी ज्योतिष विज्ञान अध्ययन का एक महत्त्वशाली विषय है। विशुद्ध संस्कृत विद्यालयों में तथा आधुनिक अंग्रेजी विद्यालयों में इसका अध्ययन, समीक्षण तथा अनुसंधान बराबर हो रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि प्राचीन सिद्धान्तों को हम नये पश्चिमी सिद्धान्तों के साथ तुलना कर आवश्यक सुधार करें। आकाशीय पिण्डों का आधुनिक यन्त्रों के द्वारा वेध करके प्राचीन गणना को विशुद्ध तथा वैज्ञानिक बनायें। यह तभी सम्भव है जब भारत सरकार एक राष्ट्रीय वेधशाला उज्जैन या काशी में स्थापित करे और इस आवश्यक सुधार की ओर तीव्र गति से अग्रसर हो। हर्ष का विषय है कि भारत सरकार से पंचांगशोधन की दिशा में कदम बढ़ाया है। भारत की स्वतन्त्रता का प्रभाव ज्योतिष विज्ञान के अध्ययन पर अवश्य पड़ना चाहिये—ऐसा हमारा विश्वास है।

गणित शास्त्र का इतिहास

बहुत प्राचीन काल से विद्याओं में गणित विद्या अपना एक स्वतंत्र तथा प्रतिष्ठित स्थान धारण करती हुई आती है। छान्दोग्य उपनिषद् में राशि विद्या के नाम से अंकगणित का निर्देश किया गया है। सनत्कुमार के पूछने पर नारद जी ने अपनी अधीत विद्याओं की जो सूची दी है उसमें नक्षत्र विद्या के साथ राशिविद्या का भी महत्त्वपूर्ण उल्लेख है (छान्दोग्य ७।१।१)। अध्यात्मविद्या के जानने वालों के लिए गणित तथा ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त करना इन विद्याओं[1] के आपेक्षिक महत्त्व की स्पष्ट सूचना है। जैनियों ने भी अपने सूत्र ग्रन्थों में 'गणितानुयोग' और 'संख्यान' को महत्त्व प्रदान किया है। बौद्धों ने भी गणित के महत्त्व को मानने में अपने को पीछे नहीं रक्खा। ललितविस्तर के अनुसार बुद्ध ने बाल्यावस्था में गणित सीखा। कौटिल्य के अर्थशास्त्र' (३०० ई० पू०) के अनुसार शिक्षा का आरम्भ चूडाकरण संस्कार के अनन्तर लिपि (अक्षर-ज्ञान) तथा संख्यान (अंक-गणना) से होना चाहिए। हाथीगुम्फा के एक शिलालेख से पता चलता है कि कलिंग देश के जैन राजा खारवेल (१६३ ई० पू०) ने लेखा (लिखना) रूप (रेखागणित) तथा गणना सीखने में अपने जीवन के नव वर्ष, सोलह से पचीस वर्ष की अवस्था तक, व्यतीत किये थे। तब गणित विद्या का प्राचीन काल में कितना महत्त्व था तथा वह शिक्षा में कितनी आवश्यक समझी जाती थी, इसका परिचय ऊपर लिखित संकेतों से भलीभाँति मिलता है।

भारतीय गणित में प्रतिपाद्य विषयों का वर्णन जैनियों के स्थानांगसूत्र में इस निर्देश से अच्छी तरह लग जाता है--

> परिकम्म ववहारो रज्जु रासी कलासवन्ने य।
> जावान्तावति वग्गो घनो ततह वग्गवग्गो विकप्पो त ॥
>
> (सूत्र ७४७)

इस सूत्र में इतने विषयों का अन्तर्भाव गणित के भीतर किया गया है--(१) परिकर्म, (२) व्यवहार, (३) रज्जु, (रस्सी अर्थात् रेखागणित) (४) राशि (त्रैराशिक) (५) कलासवर्ण (भिन्न सम्बन्धी परिकर्म), (६) यावत्-तावत् (जितना उतना अर्थात् साधारण समीकरण) (७) वर्ग (८) घन (९) वर्ग वर्ग (चतुर्घात) तथा (१०) विकल्प (क्रमचय तथा संचय)। इस सूची पर दृष्टिपात करने से पता लग जाता है कि भारतीय गणित प्राचीन काल में केवल जोड़ने घटाने तथा गुणाभाग के सामान्य नियमों तक ही नहीं सीमित था प्रत्युत उसकी विशेष उन्नति भी उस युग में हो गयी थी।

---

१ भगवतीसूत्र, सूत्र सं० ९०। उत्तराध्ययन सूत्र, सू० सं० २५।७,८

२ वृत-चौलकर्मा लिपिसंख्यानं चोपयुञ्जीत। (कौ० १।५,७)

गणित के अन्तर्गत सामान्य रीति से तीन विषयो का समावेश होता है—अकगणित, बीजगणित तथा रेखागणित। इन तीनो मे रेखागणित का उदय सर्वप्राचीन है। रेखागणित का उपयोग यज्ञयाग के लिए बनाई जाने वाली वेदियो के निर्माण से सम्बन्ध रखता है। कर्मकाण्ड मे वेदी का निर्माण एक बडा ही विषम तथा रहस्यमय व्यापार है। इसमें भिन्न भिन्न यज्ञो के लिए भिन्न भिन्न आकारवाली वेदियो के निर्माण का ही वर्णन नही है, प्रत्युत उनमे लगने वाले ईटों का सख्या का भी पूरा निर्देश किया गया है। इस विषय से सम्बद्ध तथ्यो का निर्देश जिन ग्रन्थों म पाया जाता है वे 'शुल्व सूत्र' के नाम से प्रख्यात है। ये ही शुल्व सूत्र भारतीय क्षेत्र-गणित के सबसे प्राचीन तथा विशद प्रतिपादक सिद्धान्त ग्रन्थ हैं। इन्हीं ग्रन्थो के आधार पर प्रतिष्ठित रेखागणित शास्त्र भारतीय साहित्य मे प्राचीनतम माना जा सकता है। अन्य दो अगो का उदय इसके अनन्तर की घटना है।

सिद्धान्त ज्योतिष—यह गणित के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। बिना गणित की सहायता के ज्योतिष का काम चल ही नहीं सकता। इसीलिए प्राचीन ज्योतिषियो ने सारे सिद्धान्त ग्रन्थो मे गणित का वर्णन एक या दो अध्याय मे अवश्य ही किया है। आगे चल कर मध्ययुग मे केवल गणित से सम्बन्ध रखने वाले स्वतन्त्र गणित ग्रन्थों की रचना हुई। भारतवर्ष मे अकगणित के लिए दो नाम प्रयुक्त हैं—पाटीगणित तथा धूलिकर्म। पाटीगणित का अर्थ है लकडी की पट्टी पर लिख कर हिसाब लगाना। उस पाटी के ऊपर बालू या मिटटी बिछा कर गणना करने की प्रथा भी थी जिससे 'धूलिकर्म' की सज्ञा पडी। अरबी भाषा मे इन दोनो शब्दों का अनुवाद हुबहू मिलता है। पाटी गणित का अरबी पर्याय है 'इल्म हिसाब अल तख्त तथा धूलिकर्म का अरबी शब्द है 'हिसाब अल गुबार।' पीछे चल कर कुछ लेखकों ने पाटीगणित के लिए 'व्यक्त गणित' शब्द का प्रयोग किया जो बीजगणित से इसका पृथक् करता है। अज्ञात सख्याओ के प्रयोग करने के कारण बीजगणित का नाम है 'अव्यक्त गणित'। पाटीगणित तथा बीज गणित दोनो का वर्णन प्राय एक साथ ही सस्कृत ग्रन्थो मे मिलता है।

अंकगणित

अकगणित के इतिहास मे हिन्दुओ की महत्त्वपूर्ण देन सुवर्णाक्षरो में लिखने योग्य है। आज अकगणित का जो विश्वव्यापी अभ्युदय दृष्टिगोचर हो रहा है उसका वास्तव में श्रेय भारतीयो को मिलना चाहिए। लोगो को सबसे पहली अडचन यही पडी कि अक कितने हैं तथा उन्हें चिन्हों के द्वारा कैसे प्रकट किया जाय। आज भी अनेक जातियाँ ऐसी हैं जो पाँच अथवा बीस से ऊपर की सख्या नही जानती हैं। प्राचीन सुसभ्य जातियों का ज्ञान इस विषय में कहीं अधिक था क्योंकि उन्होंने

उन्हें व्यावहारिक जीवन के लिऐ अधिक सख्या की आवश्यकता थी। परन्तु वैदिक आर्यों को अंको का ज्ञान बहुत ही अधिक था। यजुर्वेद में (१७।२) सख्याओं का उल्लेख इस प्रकार है—एक, दश, शत, सहस्र, अयुत (दस हजार), नियुत (१ लाख), प्रयुत (१० लाख), अर्बुद (१ करोड), न्यर्बुद (१० करोड), समुद्र (अरब), मध्य (१० अरब) अन्त (१ खरब), परार्ध (१० खरब)। मैत्रायणी तथा काठक सहिताओं में भी इसी प्रकार का उल्लेख है। पचविंश ब्राह्मण में न्यर्बुद तक तो ऊपरवाली नामावली है पर इसके आगे निखर्व, वाडव, अक्षिति आदि नाम हैं। सांख्यायन श्रौतसूत्र में न्यर्बुद के बाद निखर्व, समुद्र, सलिल, अन्त तथा अनन्त की गणना है। इसमें प्रत्येक अंक अपने पूर्ववर्ती अंक के दसगुना है। इसलिए इन्हें (दशगुणोत्तर) सख्या कहते हैं।

बौद्ध परम्परा में इससे भी बढ़ कर उल्लेख है। 'ललित-विस्तर' (प्रथम शती) में शतगुणोत्तर पद्धति पर कोटि से आरम्भ कर तल्लक्षण नामक संख्या सबसे अन्तिम मानी गई है। आजकल के गणना के अनुसार एक तल्लक्षण $= 10^{53}$। कात्यायन के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पालि व्याकरण' में कोटिगुणोत्तर पद्धति दी हुई है जिसके अनुसार अन्तिम सख्या है असम्येय जो (कोटि)^{20} ($= 10^{140}$) के बराबर है। ऐसी संख्याओं का निर्माण इस बात का सूचक है कि अधिक से अधिक अंकों की गणना भारतीय गणित शास्त्र में बडी आसानी के साथ की जा सकती है।

अंक-लेखन-प्रणाली

अंक लिखने की प्रणाली भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन युग से चली आ रही है। ऋग्वेद में अंकों के लिपिबद्ध होने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद के प्रसिद्ध द्यूत सूक्त[1] में द्यूतकार अपने दुर्भाग्य को कोसता हुआ कह रहा है कि मैं 'एकपर' दांव लगाने के कारण हार गया। यहाँ 'एकपर' शब्द उस गोटी का सूचक है जिस पर एक का अंक लिखा रहता था। वैदिक कालीन द्यूत-विद्या में अक्षों के ऊपर एक, दो, तीन और चार के अंक लिखने की प्रथा थी। ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र में एक ऋषि का कथन है कि ऐसी हजार गायें मुझे मिली जिनके कान के ऊपर आठ लिखा था[2]। अथर्ववेद से भी पता चलता है कि उस युग में गाय के दोनों कानों के ऊपर मिथुन-चिह्न बनाने की प्रथा थी।[3] पाणिनि ने भी अपने सूत्रों में गायों के कानों

---

१ अक्षस्याहमेकपरस्य हेतो (१०।३४।२)

२ इन्द्रेण युजा नि सृजन्त वाघतो व्रजं गोमन्तमश्विनम्।
सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः श्रवो देवेष्वक्रत॥ (१०।६२।७)

३ लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयो कृधि। अथर्व (६।१४१।२)

पर अंक लिखने की प्रथा का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि भारत में अंकों को लिपिबद्ध करने की प्रथा बहुत ही प्राचीन है। ब्राह्मी लिपि में अंकों के जो चिह्न मिलते हैं वे पाठकों को नितान्त प्रसिद्ध हैं।

भारत में अंकों का इतिहास जानने से पहले प्राचीन जगत् की अंक प्रणाली का परिचय रखना आवश्यक है। विश्व के किसी भी देश में, किसी भी सभ्य तथा शिष्ट जाति में, एक से लेकर नव तक के अंकों के पृथक् चिह्न नहीं बने और न शून्य का कहीं आविष्कार हुआ। अंकों के ये दश चिह्न भारतवर्ष के गणितज्ञों का महत्तम आविष्कार है और आज भी वह विश्व में सम्मानित तथा आदृत है। मिश्र के प्राचीन अंकक्रम में केवल १, १० तथा १०० इन तीन संख्याओं के ही मूल चिह्न थे। अन्य संख्यायें इन्हीं की सहायता से बनाई जाती थी। एक से नौ तक की संख्याओं को लिखने के लिए १ चिह्न को (जो खड़ी लकीर के द्वारा सूचित किया जाता था) एक से नौ बार तक दुहराना पड़ता था। अन्य संख्यायें इसी प्रकार बनाई जाती थी। लाख को सूचित करने के लिए एक मेढक और १० लाख को बतलाने के लिए हाथ फैलाये हुए पुरुष का चिह्न तथा करोड़ के लिए एक गोला रहता था। इस प्रकार मिश्रवासी करोड़ से ऊपर बढ़ ही न सके। फिनीशिया वालों ने २० के लिए एक नया चिह्न खोज निकाला था तथा अन्य बड़ी संख्याओं के लिए इसी का उपयोग बार बार दुहरा कर करते थे। यूनान और रोम में जो पश्चिमी सभ्यता के प्रधान स्थल माने जाते हैं—अंकों के केवल ६ चिह्न थे, जो अक्षरों के ही संकेत मात्र थे ये हैं—१ = I, ५ = V, १० = X, ५० = L, १०० = C, १००० = M। इसी का नाम रोमन अंक प्रणाली है जो अंग्रेजी पुस्तकों में भी देखने को मिलती है। इस पूर्वपीठिका के अनन्तर भारतीय अंक प्रणाली के महत्त्व पर दृष्टि डालिए। ऋषियों ने सर्वप्रथम एक से लेकर नव तक के भिन्न भिन्न चिह्नों की खोज की और शून्य नामक एक नवीन चिह्न को प्रस्तुत किया जो गणित के इतिहास में क्रान्तिकारी आविष्कार है। शून्य का आविष्कार और उसकी सहायता से दस, सैकड़ा, हजार आदि संख्याओं का व्यक्त करना संसार की सबसे बड़ी खोजों में से एक है। शून्य का आविष्कार गणित के इतिहास में एक मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण देन है जिसका गुणगान प्रत्येक देश का गणितज्ञ करता है। एक पाश्चात्य गणितज्ञ की यह उक्ति कितनी यथार्थ[1] है। इन्हीं दस चिह्नों की सहायता से भारतवर्ष में अंक

---

1 'The importance of the creation of zero mark can never be exaggerated This giving to airy nothing, not merely a local habitation and name, a picture, a symbol, but helpful power, is the characteristic of the Hindu Race,whence it sprang It is like coining the nirvana into dynamos No

लिखने की नवीन पद्धति का अविष्कार किया जो दशमलव पद्धति के नाम से विख्यात है। यह पद्धति आजकल समस्त विश्व में व्याप्त है। इस पद्धति के अनुसार अङ्कों का स्थानीय मूल्य है जिसमें दाहिने से बाईं ओर हटने पर प्रत्येक अङ्क का स्थानीय मूल्य दसगुना बढ़ जाता है।

स्थानमान सिद्धान्त के विषय में नयी खोजों का सारांश इस प्रकार है।—

(१) स्थानमान पद्धति का प्रथम प्रयोग ५९४ ई० के दानपत्र में मिलता है। इस प्रकार पुरालेख सम्बन्धी प्राचीनतम प्रमाण छठी शताब्दी का अन्त है। संसार का कोई भी देश इस पद्धति के प्रयोग का इतना भी प्राचीन उदाहरण उपस्थित नहीं कर सकता।

(२) शब्दांकों के द्वारा स्थानमान सिद्धान्त का प्राचीनतम प्रयोग तीसरी या चौथी शताब्दी का है। ऐसा प्रयोग अग्निपुराण, बख्शाली हस्तलिपि और पुलिश सिद्धान्त में मिलता है।

(३) गणित ग्रंथों में इस प्रणाली का सबसे पहला प्रयोग बख्शाली हस्तलेख (२०० ई०) में किया गया है, संख्याओं के लिखने में। उसके अनन्तर आर्यभटीय आदि ग्रंथों में निश्चित रूप से किया गया है।

(४) वायु पुराण अग्निपुराण, विष्णुपुराण में यह पद्धति मिलती है। दार्शनिक ग्रन्थों में भी लेखकों ने अपने सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए इस पद्धति को उदाहरण रूप से प्रस्तुत किया है। शंकराचार्य ने अपने शारीरिक भाष्य (२।२।१७) में लिखा है कि यद्यपि रेखा एक ही है तो भी स्थानभेद के कारण उसका मान एक दस, हजार आदि हो सकता है। योगसूत्र के व्यासभाष्य में (३।१३) यही बात दुहराई गई है। जिस प्रकार एक ही रेखा सैकड़े के स्थान में होने पर एक सौ, दहाई के स्थान में होने पर दस और इकाई के स्थान में होने पर एक कहलाती है। शंकर (सप्तम शतक, तथा व्यासभाष्य (चतुर्थ शतक) से भी प्राचीन निर्देश वसुमित्र का है जिनका उल्लेख शान्त रक्षित कृत 'तत्त्व संग्रह' के टीकाकार कमलशील (पृष्ठ ५०४) ने किया है। इस उद्धरण का सारांश यह है—'जिस प्रकार मिट्टी की गोली इकाई के स्थान में होने पर १ को सूचित करती है, दहाई के स्थान में होने पर १० को, सैकड़े के स्थान में होने पर १०० को और हजार के स्थान में होने पर १००० को, उसी प्रकार

---

single mathematical creation has been more potent for the general on go of intelligence and power' G B Halsted 'On the foundation and technique of Arithmetic' नामक ग्रंथ में, Chicago पृ० २०

वसुमित्र का समय प्रथम शती है। यह सबसे प्राचीन उदाहरण हैं। इससे निश्चित रूप से पता चलता है कि स्थानमान का सिद्धान्त प्रथम शताब्दी के अन्त तक इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि दार्शनिक ग्रन्थो मे इसका प्रयोग दृष्टान्त के रूप म किया जाता था। दार्शनिक ग्रंथ गणितीय दृष्टान्त का प्रयोग तभी कर सकते हैं जब वह विषय जन-साधारण मे प्रख्यात, प्रचलित तथा सुबोध हो।[1]

(५) शून्य के साकेतिक चिह्न का प्रथम प्रयोग पिंगल के 'छन्दसूत्र' मिलता है जो २०० ई० पू० माना जाता है। शून्य का चिह्न बिन्दु ही था, न कि लघुवृत्त। इसका उल्लेख सुबन्धु की वासवदत्ता (षष्ठ शतक) मे है। श्री हर्ष ने नैषधचरित मे भी (लगभग ५२ शती) शून्य के लिए बिन्दु का प्रयोग माना है।[2]

विदेशो मे इस प्रणाली का प्रसार

भारतवर्ष का व्यापार मिश्र, सीरिया फारस आदि देशों के साथ बहुत प्राचीन काल से होता रहा है। मिश्र के साथ उसका सम्बन्ध अन्य देशो की अपेक्षा निकटतम तथा प्राचीनतम था। यह तो निश्चित तथ्य है कि व्यापार के साथ साथ उस देश का कलाकौशल भी नये देश मे प्रवेश करता है। फलत भारतवर्ष के अको ने मिश्र के प्राचीन विद्याकेन्द्र अलेक्जेन्ड्रिया म द्वितीय शती मे प्रवेश किया। किसी कारणवश एक से लेकर नव तक के अक ही जा सके शून्य का प्रयोग वहाँ न हो सका इन अको को गोबार अक के नाम से पुकारते हैं। मिश्र से इस प्रणाली को अरबवासियो ने भी सीखा। और जब यूनानी अको का बहिष्कार उस देश मे राजाज्ञा के द्वारा प्रचारित हुआ, तब ये अक वहा प्रचलित थे। सीरिया वासी विद्वान् सेवेरस सेबोरत (६६२ ई०) के ग्रथ से पता चलता है कि सातवी शताब्दी के आरम्भ मे ही हिन्दू अक का फरात इफरात नदी के तट तक पहुँच गई थी। उसमे बड़े ही स्वाभिमान-भरे शब्दो मे हिन्दुओ की प्रशसा की है तथा स्पष्ट लिखा है कि हिन्दुओ की गणना वर्णनातीत है और यह गणना नव चिह्नो की सहायता से की जाती है। यहा नव अको ही की चर्चा नही है, परन्तु शून्य की ओर भी सकेत है।

अरब देश मे ये हिन्दू अक तथा दशमलव मान पद्धति का प्रचार अष्टम शती के मध्य मे हुआ। यह युग खलीफा अलमन्सूर (७५३-७७४ ई०) के राज्यकाल से

१ डा० विभूतिभूषणदत्त तथा डा० अवधेश नारायण सिह द्वारा लिखित 'हिन्दू गणितशास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग (पृष्ठ ७९ ८०) प्रकाशक हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ—१९५६।

२ यदास्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी घनाश्रुबिन्दुस्रुति-कैतवात तव।
मसारतारासि ससारमात्मना तनोषि ससारमसशय यत ॥
—नैष च रित (१।१०४)

मे मुसलमान गुरुओ से हिन्दू गणित की शिक्षा ली थी। इस युग का सुप्रसिद्ध गणितज्ञ है मुहम्मद इब्न मूसा जो कि हिन्दुओ के अकगणित तथा बीजगणित का मध्ययुग के यूरोपीय गणितज्ञों के साथ शृखला जोडने का काम करता है। इसके तीन शताब्दी के पश्चात् सोलहवी शती से इन अको का प्रचार यूरोप में सामान्यतया सर्वत्र होन लगा।

चीन देश म भी इसका प्रचार ईस्वी सन के आरम्भ काल मे ही हो चला था। बौद्ध धर्म क प्रवेश के साथ साथ यह पद्धति बौद्धो के द्वारा चीन देश म प्रथमत लायी गयी।[1] इसका परिणाम यह हुआ कि चीनी लोगो ने अपनी प्राचीन अकलेखन पद्धति को, जिसे वे ऊपर से नीचे को लिखते थे, छोडकर भारतीय प्रणाली को ग्रहण किया जिसमे अक बाईं से दाईं ओर लिख जाते है। बृहत्तर भारत के द्वीपो मे भी इसका प्रचार गुप्त काल के अनन्तर होता गया और वहाँ की लेखन पद्धति पूर्णतया भारतीय है।

इस ऐतिहासिक विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक अकप्रणाली तथा स्थानमान का सिद्धात, जिसने विश्व में गणित को आगे बढाने मे पूर्णतया सहायता दी, सम्पूर्णतया भारतीय है और भारतीयो के वैज्ञानिक अनुसधान का महत्वपूर्ण प्रतीक है।

शून्य का पर्याय अरबी मे सिफर शब्द है। लियोनार्दो ने इसे 'जिफिरो' के नाम से पुकारा और इसी जिफिरो से बाद म चलकर 'जीरो' की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार यह अग्रेजी का जीरो शब्द अरबी माध्यम से गया हुआ सस्कृत का शून्य शब्द ही है। विज्ञान की उन्नति का आधार है गणितशास्त्र और इस शास्त्र को विकसित तथा परिवृहित करने का श्रेय है शून्य के आविष्कार को और यह आविष्कार भारतीय विद्वानो की महती देन है। धन्य है वह भारतीय मनीषी जिसने 'शून्य' का आविष्कार किया और धन्य है वह भारतीय गणित जिसने इसका प्रयोग कर इस शास्त्र को इतना उन्नत बनाया। विश्व की सस्कृति को भारत की यह देन सुवर्णाक्षरों मे उल्लेखनीय है।

प्रतिपाद्य विषय

प्रसिद्ध गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त ने पाटीगणित के अन्तर्गत बीस विषय और आठ व्यवहार सम्मिलित किये हैं। इन बीस विषयो के नाम हैं—

(१) सकलित (जोड) (२) व्यवकलित अथवा व्युत्कलित (घटाना) (३) गुणन (४) भागहार (५) वर्ग (६) वर्गमूल (७) घन (८) घनमूल (९–१३) पचजाति

1 Werner—Chinese Sociology London, 1910

(अर्थात् पाँच प्रकार के भिन्नों को सरल बनाने के नियम) (१४) त्रैराशिक (१५) व्यस्त त्रैराशिक (त्रैराशिक का उलटा) (१६) पचराशिक (१७) सप्तराशिक (१८) नवराशिक (१९) एकादश राशिक (२०) भाण्ड-प्रतिभाण्ड (अदला-बदला)। आठ व्यवहारों के नाम इस प्रकार है--(१) मिश्रण (२) श्रेणी (Series) (३) क्षेत्र (क्षेत्रफल निकालना) (४) खात (खाई आदि का घनफल जानने की रीति) (५) चिति (ढालू खाई का घनफल जानने की रीति) (६) क्राकचिक (आरा चलाने वाले के काम का गणित) (६) राशि (अन्न के ढेर का परिमाण जानने की रीति और (८) छाया (दीप और उसकी छाया से सम्बन्धित प्रश्न जानने की रीति)। इन नामों का उल्लेख पृथूदक स्वामी ने अपनी टीका मे किया है। इन परिकर्मों मे से केवल पहले आठ परिकर्मों को महावीर और उनके अनन्तर वाले गणितज्ञों ने मौलिक माना है। अन्य परिकर्म इन्हीं मौलिक परिकर्मों के मिश्रण से उत्पन्न हुए है। 'व्यवहार' की सज्ञा उन प्रश्नों के लिए प्रयुक्त है जिनमे विषम तथा कठिन गणित के नियमों का प्रयोग करने की आवश्यकता पडती है। अब इन मौलिक आठ परिकर्मों का वर्णन सक्षिप्त रूप से किया जा रहा है।

(१) सकलित—इसके अन्य नाम सकलन, मिश्रण, सम्मेलन, प्रक्षेपण, सयोजन, एकीकरण आदि है। सख्याओं को जोडने की दो प्रकार की विधि प्रचलित थी। एक का नाम था 'क्रमविधि' और दूसरे का नाम 'उत्क्रम विधि'। पहले मे इकाई के स्थान से जोड प्रारम्भ किया जाता था (दक्षिण से वाम की ओर) दूसरे प्रकार की विधि मे अन्तिम स्थान से जोड प्रारम्भ किया जाता था (वाम से दक्षिण ओर)। आजकल क्रम पद्धति का प्रयोग हम लोग करते हैं।

(२) व्युत्कलित—इसके अन्य पर्याय हैं—शोधन, पातन, वियोग आदि। घटाने पर जो बाकी बचता है उसे शेष या अन्तर कहते है। जिस सख्या मे से कोई सख्या घटाई जाती है उसे कहते हैं सर्वधन या वियोज्य और जो सख्या घटाई जाती है उसे कहते है वियोजक। यहाँ भी भास्कराचार्य ने क्रमविधि तथा उत्क्रमविधि दोनों का उल्लेख किया है।

(३) गुणन—इसके अन्य पर्याय है—हनन, वध, क्षय आदि। शुल्व सूत्रों मे 'अभ्यास' शब्द का प्रयोग जोड और गुणा दोनों के लिए किया जाता था। बरुशाली हस्तलेख (२०० ई०) मे गुणा करने के अर्थ मे 'परस्परकृत' शब्द का प्रयोग किया गया है जो प्राचीनकाल का एक पारिभाषिक शब्द प्रतीत होता है। परन्तु आर्यभट प्रथम, ब्रह्मगुप्त और श्रीधर ने सर्वत्र 'हनन' शब्द का प्रयोग किया है। जिसे सख्या को गुणा किया जाता है उसे 'गुण्य' कहते हैं और जिसके द्वारा गुणा किया जाता है उसे 'गुणक या गुणाकार' और गुणा करने से जो सख्या मिलती है उसे "गुणनफल या

प्रत्युत्पन्न' कहते हैं। ब्रह्मगुप्त ने गुणन की चार विधियों का वर्णन किया है—गोमूत्रिका, खण्ड, भेद और इष्ट। गुणा करने की जो सामान्य विधि है जिसमें एक अंक दूसरे अक के ऊपर लिखा जाता है 'कपाट सन्धि' के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीधर ने गुणा करने की चार रीतियाँ दी हैं—(१) कपाट सन्धि (२) तस्थ (३) रूप-विभाग (४) स्थान विभाग। गुणक की तस्थ विधि वही है जिसे आजकल Cross multiplication Method कहते है। स्थान-खण्ड विधि के अनुसार गुण्य और गुणक अपना स्थान बदलते रहते हैं। गोमूत्रिका विधि स्थान-खण्ड विधि से मिलती है। इष्ट-गुणन विधि बीजगणित के सिद्धान्त का अकगणित में प्रयोग है। इस विधि से दिये गये गुणक में से कोई सख्या घटा या बढा दी जाती है जिससे गुणनफल बडी आसानी से निकल आवे। फिर इसी सख्या को गुण्य से गुणा करके गुणनफल मे से घटाया या बढाया जाता है। इस विधि को समझाने के लिए दो उदाहरण दिये जा रहे हैं—

(१) १३५ × १२ = १३५ × (१२ + ८) – (१३५ × ८)
= २७०० – १०८०
= १६२०

(२) १३५ × १२ = १३५ × (१२ – २) + (१३५ × २)
= १३५० + २७०
= १६२०।

(४) भागहार—इसके दूसरे नाम हैं—भाजन, हरण, छेदन आदि। जिस संख्या को भाग देना हो उसे कहते हैं भाज्य या हार्य। जिस सख्या से भाग देना हो उसे कहते हैं भाजक, भागहार या हिन्दी मे केवल हर। भाग देने पर जो उत्तर आता है उसे लब्धि या लब्ध कहते हैं। यूरोप के विद्वान पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दी तक भाग की क्रिया को बहुत ही 'क्लिष्ट' समझते थे। परन्तु भारतवर्ष मे बहुत पहले से ज्ञात होने के कारण यह कठिन नही माना जाता था। इसलिए सर्वविदित तथा अत्यन्त साधारण होने के कारण आर्यभट ने अपने ग्रन्थ में इसकी प्रक्रिया का उल्लेख ही नही किया और पीछे के गणितज्ञो ने भी इसी का अनुसरण किया। भाग देने की एक ही विधि है जो आजकल की प्रचलित विधि से मिलती है। इस विधि का आविष्कार सम्भवत भारत में चतुर्थ शती में हुआ। यहाँ से नवी शती में यह अरब पहुँच जहाँ पर वह गैली (गैलिया या बटेल्लो) विधि के नाम से प्रख्यात है।

(५) वर्ग—सस्कृत में इसे कृति भी कहते हैं। कृति का अर्थ है करना, बनाना या कर्म। यह शब्द कार्य विशेष के सम्भवत. चित्रीय प्रदर्शन का भाव धारण

इसके अतिरिक्त अंकगणित के अनेक सिद्धांतों का वर्णन इन कतिपय श्लोकों में दिया गया है। त्रैराशिक निकालने का नियम, भिन्न के हरों को सामान्य हर में बदलने की रीति, भिन्नों को गुणा और भाग देने की रीति, Indeterminant समीकरण जैसे (ax+b=O) तथा कुट्टक नियम आर्यभट ने भली-भांति बतलाया है।

गणिताध्याय के इस सामान्य परिचय से आलोचक को समझते देर न लगेगी कि इन्होंने अंक, बीज तथा रेखा इन तीनों गणितों से सम्बद्ध सिद्धांतों तथा नियमों का विवेचन बड़े सक्षेप में किया है। सच तो यह है जिस प्रकार आर्यभट हमारे प्रथम ज्योतिषी हैं, उसी प्रकार वे हमारे प्रथम गणितज्ञ भी हैं। इन्हीं से स्फूर्ति लेकर पिछले युग के गणितज्ञों ने अपने ज्योतिष ग्रथों में गणित का समावेश किया।

ब्रह्मगुप्त

आर्यभट के अनन्तर ब्रह्मगुप्त महनीय गणितज्ञ हुए। ब्रह्मगुप्त ने अपने विश्रुत ग्रंथ 'ब्रह्मस्फुट सिद्धांत' के दो अध्यायों में गणित के विषयों का सन्निवेश किया। दूसरा १२वां अध्याय (गणिताध्याय) शुद्ध गणित के सम्बन्ध में है। इसमें जोड़ना, घटाना, गुणा, भाग, वर्ग तथा वर्गमूल, घन तथा घनमूल, भिन्नों को जोड़ घटाना आदि, त्रैराशिक, व्यस्त त्रैराशिक, भाण्ड प्रतिभाड (बदले के प्रश्न) मिश्रक व्यवहार आदि पाटीगणित से सम्बन्ध रखते हैं। श्रेणी व्यवहार, क्षेत्र व्यवहार (त्रिभुज चतुर्भुज आदि क्षेत्रों के क्षेत्रफल जानने की रीति), चिति व्यवहार (ढलू खाई का घनफल जानने की रीति), खात व्यवहार (खाई का क्षेत्रफल निकालना), क्राकचिक व्यवहार (आरा चलाने वालों का उपयोगी गणित) राशि व्यवहार (अन्न के ढेर के परिमाण जानने की विधि), छाया व्यवहार (दीप स्तम्भ तथा उसकी छाया से सम्बन्ध प्रश्न) आदि।

इस ग्रन्थ का १८ वाँ अध्याय (कुट्टकाध्याय) में कुट्टक निकालने की अनेक विधियाँ दी गई हैं। डा० कोलब्रुक ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया है। इस अध्याय के भीतर अनेक खण्ड हैं, प्रथम खण्ड तो जोड़, घटाना, गुणा, भाग के साथ करणी के जोड़, बाकी, गुणा, भाग करने की रीति को बतलाता है। करणी या करणीगत संख्या से तात्पर्य ऐसी राशियों से है जिनमें वर्गमूल, वर्गमूल आदि निकालना पड़े। दूसरे खण्ड में बीजगणित के प्रश्न हैं जैसे एकवर्ण समीकरण, वर्गसमीकरण, अनेक वर्ण समीकरण आदि। तृतीय खण्ड का नाम बीजगणित सम्बन्धी 'भावितबीज' है। चतुर्थ खण्ड वर्ग-प्रकृति नामक है। पाँचवें खण्ड में अनेक उदाहरण हैं। १०३ श्लोकों में पूर्ण होने वाला यह अध्याय गणित के मुख्य विषयों का विवरण देता है।

श्रीधर

श्रीधराचार्य की त्रिशती, त्रिशतिका अथवा गणितसार एक ही ग्रन्थ के नाम हैं। ग्रन्थ के आदिम पद्य मे श्रीधर ने स्वयं लिखा है[1] कि यह ग्रन्थ उनके पाटीगणित का सार है। फलत उनका कोई बड़ा ग्रन्थ एतद् विषय का होना चाहिये जिसका सार सङ्कलन 'त्रिशती' मे किया गया है। सौभाग्यवशात् इस बृहत् ग्रन्थ का सकेत मिलता है। राघवभट्ट ने शारदा तिलक की अपनी व्याख्या 'पदार्थादर्श' मे श्रीधर की 'बृहत्पाटी' के विषय मे लिखा है[2] कि—"श्रीधर ने 'बृहत्पाटी' मे दो प्रकारो का वर्णन कर उसके सग्रहभूत त्रिशती ग्रन्थ मे स्थूल ही प्रकारो को दिखलाया है। भास्कराचार्य ने लीलावती मे स्थूल के समान सूक्ष्म प्रकारो को भी कहा है।" इसका स्वारस्य यह है कि त्रिशती का मूलभूत ग्रन्थ 'बृहत्पाटी' है। भास्कराचार्य का अनन्तर वर्णन श्रीधर की पूर्वभाविता का द्योतक है। मक्किभट्ट ने श्रीपति के 'सिद्धात शेखर' की अपनी व्याख्या ('गणित भूषण' नाम्नी) मे श्रीधर के किसी 'नवशती' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है।[3] बहुत सम्भव है कि राघवभट्ट द्वारा निर्दिष्ट 'बृहत्पाटी' तथा मक्किभट्ट द्वारा उल्लिखित 'नवशती' एक ही अभिन्न ग्रन्थ है। सिद्धान्त शेखर के सम्पादक की सम्मत्ति भी इसी पक्ष मे है। फलत श्रीधर के बड़े ग्रन्थ का नाम नवशती था जिसमे नाम्ना नव सौ पद्यो की सत्ता प्रतीक होती हैं और यह पाटीगणित का ग्रन्थ था। त्रिशती या त्रिशतिका इसका सारसग्रह है।

त्रिशती का सस्करण म० म० सुधाकर द्विवेदी ने काशी से प्रकाशित किया था। यह गणित का बड़ा ही उपादेय तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। भास्कराचार्य ने अपनी 'लीलावती' का निर्माण इसी ग्रन्थ के आदर्श पर किया। त्रिशती (गणितसार) के विषयो के निर्देश से उसके महत्त्व का परिचय मिल सकता है। गणितसार मे अभिन्न गुणक, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्न, समच्छेद, भागजाति, प्रभागजाति-भागानुबन्ध, भागमातृजाति, त्रैराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, भाण्ड प्रतिभाण्ड, मिश्रक व्यवहार, भाव्यक व्यवहार सूत्र, एकपत्रीकरण सूत्र सुवर्ण गणित, प्रक्षेपक गणित, समक्रय विक्रय सूत्र, श्रेणी व्यवहार, क्षेत्र व्यवहार, खात व्यवहार, चिति

---

१ नत्वा शिवं स्वविरचितपाट्या गणितस्य सारमुद्धृत्य।
लोक व्यवहाराय प्रवक्ष्यति श्री श्रीधराचार्य।

२ तत्र भगवता श्रीधराचार्येण बृहत्पाट्यां प्रकारद्वयमुक्त्वा तत सग्रहे त्रिशती ग्रन्थे स्थूला एव प्रकारा प्रदर्शिता। काशी सस्कृत सीरीज, १९३४ पृ० ३९।

३ कोटयादि लक्षणं श्रीधराचार्येण नवशत्यामुक्तम्।
—सिद्धान्त शेखर पृ० १७ (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३२)

व्यवहार, काष्ठ व्यवहार, राशि व्यवहार, छाया व्यवहार आदि गणितों का विवरण है। भास्कराचार्य ने बीजगणित के अन्त मे श्रीधर के बीजगणित के अति विस्तृत होने का उल्लेख किया है[1]। पाटीगणित तथा बीजगणित के रचयिता एक ही व्यक्ति को मानना अनुचित नही प्रतीत होता, क्योंकि प्राचीन काल मे योग्य गणितज्ञ गणित के दोनो विभागो पर ग्रन्थ लिखते थे। भास्कराचार्य इसके प्रबल उदाहरण हैं। श्रीधराचार्य इस विषय मे भास्कराचार्य के आदर्श प्रतीत होते हैं। श्रीधर ने गुणन की जो पारिभाषिकी सज्ञा "प्रत्युत्पन्न" दी है, वह वास्तव मे विलक्षण है और वह भास्कर के पाटीगणित मे उपलब्ध नही होती।

ज्ञातव्य है कि श्रीधर की 'नवशती' का केवल उद्धरण ही प्राप्त है। ग्रन्थ का हस्तलेख भी कहीं नही मिलता। राघवभट्ट ने अपने पदार्थादर्श की रचना १४९३ ई० में तथा मल्लिकभट्ट ने अपने 'गणितभूषण' का निर्माण १३७७ ई० मे की थी। इनमें निर्दिष्ट होने से श्रीधर का समय १४ शती से प्राचीन होना चाहिये, परन्तु कितना प्राचीन ? इस प्रश्न का उत्तर विवादास्पद है।

श्रीधर के समय के विषय मे विद्वानो मे मतभेद हैं। म० म० सुधाकर द्विवेदी 'न्यायकन्दली' के रचयिता दार्शनिक श्रीधर से गणितज्ञ श्रीधर की एकता मानकर उनका समय ९१३ शक मानते हैं[2], क्योंकि न्यायकन्दली का यही निर्माणकाल है। परन्तु जब तक दोनो ग्रन्थकारो का ऐक्य प्रमाणो से पुष्ट न हो जाय, तब तक यह निर्माणकाल मानना उचित नही प्रतीत होता। दीक्षित का कथन है कि महावीर के 'गणितसार सग्रह' ग्रन्थ मे श्रीधर के मिश्रक व्यवहार के कुछ वाक्य आये हैं जिससे श्रीधर महावीर से पूर्वकालीन लेखक सिद्ध होते हैं। महावीर का समय ७७५ शक स० (=८५३ ई०) है।[3] अतः श्रीधर का समय यतत्पूर्व कभी होना चाहिये। सम्भवत. अष्टम शती ई० मे श्रीधर का आविर्भाव हुआ था।

श्रीपति

ये सिद्धान्त ज्योतिष के मर्मज्ञ होने के अतिरिक्त गणित के भी महनीय विद्वान् थे। गणित सम्बन्धी इनकी दो रचनाएँ बडी ही प्रौढ हैं।—(१) पाटीगणित तिलक (२) बीजगणित। गणित तिलक श्रीपति की विद्वत्ता का प्रतिपादक प्रौढ ग्रन्थ है। इसमें केवल १२५ पद्य हैं जिनमें सिद्धान्त का और उससे सम्बद्ध प्रश्नों का वर्णन

१ ब्रह्माह्वय-श्रीधर-पद्मनाभ बीजानि यस्मादतिविस्तृतानि ॥

२ द्रष्टव्य गणकतरङ्गिणी पृ० २४–२५ (काशी)।

३ भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृष्ठ २३०।

किया गया है। गणित के आठ मौलिक परिकर्मों का वर्णन यहाँ प्रथमत दिया गया है। तदनन्तर 'कला सवर्ण' के नाना भेदो तथा जातियो का उदाहरणपूर्वक वर्णन ग्रंथ की मौलिकता तथा नवीनता का पर्याप्त सूचक माना जा सकता है। अन्त मे त्रैराशिक पचराशिक, एकपत्रीकरण, समीकरण के पूर्व ही कला सवर्ण की भिन्न-भिन्न चार जातियों का वर्णन किया गया है। 'कला-सवर्ण' शब्द गणित का पारिभाषिक शब्द है। कला का अर्थ है भिन्न और सवर्ण का अर्थ है एक रूप मे लाना। जोडने, घटाने के पहले भिन्नो के हर को समान रूप मे लाना पडता है। इसी प्रक्रिया का नाम कला सवर्ण है।

इस ग्रन्थ के ऊपर जैन गणितज्ञ 'सिंह तिलक सूरि'[१] की महत्त्वपूर्ण टीका है जिसमे श्रीपति के सूत्रात्मक श्लोको की पूर्ण तथा प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इनके देश काल का पूरा पता नही चलता। ये अपने को 'विबुध चन्द्र गणभृत्' का शिष्य बतलाते हैं। इनकी तीन रचनाये मिलती है—(१) गणित तिलक वृत्ति (२) लीलावती वृत्ति सहित मन्त्रराज रहस्य (३) वर्धमान विद्याकल्प। इन्होंने अपनी इस वृत्ति मे श्रीधर कृत त्रिशतिका, भास्कराचार्य की लीलावती, लीलावती वृत्ति तथा ब्राह्मी गाटी ग्रन्थ का उल्लेख किया है जिससे इनका काल १२ शती ई० मे पूर्व कथमपि नही हो सकता।

पाटीगणित तथा बीजगणित के अतिरिक्त इनका सर्वश्रेष्ठ प्रख्यात ज्योतिष सिद्धान्त विषयक ग्रन्थ है—सिद्धान्त शेखर, जिसके ऊपर मक्किभट्ट का भाष्य अधूरा ही प्राप्त हुआ है[२]। आरम्भ के तीन अध्याय तथा चतुर्थ के आधे तक ही वह भाष्य उपलब्ध हुआ है। शेष अध्यायो का व्याख्यान स्वय सपादक ने लिखकर पूरा किया है। इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि का अनुमान भास्कराचार्य के द्वारा उल्लिखित होने की घटना से लगाया जा सकता है। सिद्धान्त ज्योतिष का यह ग्रन्थ प्रौढ तथा प्रामाणिक माना जाता है। इनके अतिरिक्त इनके अन्य ग्रन्थो का नाम यह है—

(१) जातक पद्धति (अथवा श्रीपति पद्धति), (२) ज्योतिष-रत्नमाला (या श्रीपति रत्नमाला); (३) रत्नसार, (४) श्रीपति निबन्ध, (५) श्रीपति-समुच्चय, (६) धीकोटिद (करण) तथा (७) ध्रुवमानस (करण)। इन ग्रन्थों के

१ सिंहतिलक सूरि कृत टीका के साथ प्रकाशित (गायकवाड सस्कृत सीरीज, सख्या ७८, १९३७ ई०)।

२. स० मक्किभट्ट के भाष्य (रचनाकाल—१३७७ ई०) के साथ पण्डित बबुआ मिश्र के द्वारा सम्पादित कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है (कलकत्ता, १९३२ ई०)।

निर्माण से श्रीपति के ज्योतिषशास्त्रीय बहुल पाण्डित्य, अलोक-सामान्य प्रतिभा तथा व्यापक वैदुष्य का परिचय भलीभाँति लग सकता है।

ज्योतिष रत्नमाला के टीकाकार महादेव के कथनानुसार श्रीपति काश्यप गोत्री, केशवभट्ट के पौत्र तथा नागदेव के पुत्र थे। ध्रुवमानस करण मे श्रीपति ने अपना परिचय स्वय लिखा है जो महादेव के कथन का पोषक है—

> भट्टकेशवपुत्रस्य नागदेवस्य नन्दन ।
> श्रीपती रोहिणीखण्डे ज्योति शास्त्रमिद व्यधात् ॥

'ज्योतिष रत्नमाला' की स्वोपज्ञ टीका भी उपलब्ध है श्रीपति द्वारा निर्मित मराठी भाषा मे जिससे प्रतीत होता है कि ये महाराष्ट्र के निवासी थे अथवा ऐसे स्थान मे रहते थे जहा मराठी बोली जाती थी। श्रीपति को महाराष्ट्रीय पण्डित मानना सर्वथा उचित है। इस रत्नमाला के आदिम द्वितीय श्लोक मे इन्होने वराह तथा लल्ल के द्वारा निर्मित शास्त्र का अनुशीलन कर ग्रन्थ लिखने की बात लिखी है—

> विलोक्य गर्गादि-मुनि-प्रणीत
> वराह लल्लादि-कृत च शास्त्रम्

फलत इनका समय वराह मिहिर (५०० ई०) तथा लल्ल (७४८ ई०) के पश्चात् है। सिद्धान्तशेखर का उल्लेख भास्कराचार्य (१२ शती) ने किया है[1] जिससे इन्हें १२ शती से पूर्व होना चाहिये। 'धीकोटिद' करण ग्रन्थ मे ९६१ शक स० (=१०३९ ई०) का काल माना गया है[2] जो स्वय लेखक का काल है। उस समय यदि ये लगभग चालीस वर्ष के हो, तो इनका जन्म काल ९९९ ई० के पास मानना चाहिए ग्रन्थकार के द्वारा स्वय निर्दिष्ट होने से श्रीपति का आविर्भाव-काल एकादश शती का पूर्वार्ध माना जाना चाहिये। (लगभग १००० ई० से लेकर १०५० ईस्वी तक)। ये बडे ही निरभिमानी, काव्य-कला निष्णात तथा पक्षपातहीन दैवज्ञ थे। रत्नमाला का यह अन्तिम श्लोक इनकी इस मनोवृत्ति का पर्याप्त परिचायक है—

> भ्रातरद्यतन विप्रनिर्मित
> शास्त्रमेतदिति मा वृथा त्यज ।
> आगमोऽयमृषिभाषितोपमो
> नापर किमपि भाषित मया ॥

---

१ त्रिनवभवनजातेनि स्वोक्त सिद्धान्तशेखरोक्तलक्षणेनापि पातो गतः (गणिता-ध्याय—पाताधिकार)।

२ सुधाकर द्विवेदी—गणकतरंगिणी पृष्ठ २९–३१।

महावीर—गणित सार-सग्रह

महावीराचार्य ने इस ग्रंथ को 'अमोघवर्ष' राजा के राज्य काल मे लिखा था। इसका उल्लेख उन्होने स्वय इनके मगलाचरण मे किया है। यह अमोघवर्ष राष्ट्रकूट-वशीय राजा था जिसकी उपाधि 'नृपतु ग' थी। शासन काल ८१४ ई०—८७७ ई०। अत महावीर का समय नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। ये कर्नाटक देश के प्रसिद्ध जैन आचार्य थे। इस प्रकार महावीर ब्रह्मगुप्त एव भास्कराचार्य के मध्यवर्ती युग के प्रतिनिधि गणितज्ञ हैं।

'गणितसार सग्रह'[1] भारतीय गणित का पूर्व परिचायक ग्रथ है जिसमे पाटीगणित के साथ क्षेत्रगणित के भी अश सम्मिलित हैं। ग्रथ मे नव अध्याय हैं जिनके नाम से ही इसके व्यापक विषय का परिचय मिल सकता है। इनके नाम हैं —(१) सज्ञा (२) परिकर्म (३) कला-सवर्ण (४) प्रकीर्णक (५) त्रैराशिक (६) मिश्रण (७) क्षेत्रगणित (८) खात और (९) छाया। ग्रथ के विषय तो वे ही हैं जो ब्रह्मगुप्त आदि प्राचीन गणितज्ञो के हैं, परन्तु प्रश्नों की सिद्धि के लिए नये नये नियमों का आविष्कार ग्रन्थकार ने अपनी प्रतिभा के बल पर किया है।

जैन गणित

जैन सम्प्रदाय ने गणित को विशेष महत्त्व प्रदान किया। जैनो की परम्परा के अनुसार प्रत्येक आगम के लिए चार अनुयोग आवश्यक बतलाये गये हैं जिनमे 'गणितानुयोग' भी अन्यतम है। भगवती सूत्र का कहना है कि जैन मुनि के लिए सख्यान (अकगणित) और ज्योतिष का ज्ञान आवश्यक होता है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर अकगणित मे पारगत बतलाये जाते हैं। इसलिए महावीराचार्य ने उन्हे 'संख्या-ज्ञान-प्रदीप' कहा है।

जैन धार्मिक साहित्य मे सूर्यप्रज्ञप्ति (प्राकृत नाम सूरपन्नत्ति) तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति (प्राकृत नाम चन्द पन्नत्ति) मे ज्योतिष शास्त्र का विषय विवेचित किया गया है। सूर्य प्रज्ञप्ति जैनागमो का पाचवा उपाग है और चन्द्रप्रज्ञप्ति सातवां उपाग। नाम से तो पता चलता है कि एक मे सूर्य का भ्रमण तथा दूसरे मे चन्द्र का भ्रमण विवृत होगा परन्तु चन्द्र प्रज्ञप्ति का विषय सूर्य प्रज्ञप्ति के समान ही है। सूर्य प्रज्ञप्ति मे सूर्य चन्द्र और नक्षत्रो की गति आदि का विवरण १०८ सूत्रो मे विस्तार से दिया गया है। इसमे २० प्राभृत (खण्ड हैं) जिनका वर्ण्य विषय इस प्रकार है —सूर्य के मण्डलो की गति सख्या, सूर्य तिर्यक् गमन, प्रकाश्य क्षेत्र का परिमाण, सवत्सर के आदि-

---

१ मद्रास सरकार ने अग्रेजी अनुवाद के सहित १९१२ मे प्रकाशित किया।

अन्त तथा भेद, चन्द्रमा की वृद्धि और ह्रास, शीघ्र गति और मन्द गति का निर्णय, चन्द्र सूर्य आदि का उच्चत्वमान, चन्द्र सूर्य का परिमाण आदि आदि।

जैनियों के अनुसार दो सूर्य और दो चन्द्र की मान्यता है। इन दो सूर्यों[1] में से दक्षिण दिशा का सूर्य दक्षिणार्ध मण्डल का, और उत्तर दिशा सूर्य का उत्तरार्ध मण्डल का परिभ्रमण करता है। इस जम्बू द्वीप में दो सूर्य हैं। जैनमत में ब्राह्मण पुराणों की भांति इस लोक में असख्यात द्वीप और समुद्र स्वीकार किये गये हैं। इन असख्यात द्वीप समुद्रों के बीच में मेरु पर्वत अवस्थित है। पहिले जम्बूद्वीप है, उसके बाद लवण समुद्र है। जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में भारतवर्ष अवस्थित है और उत्तर भाग में ऐरावत वर्ष है। इन दोनों वर्षों में भिन्न भिन्न सूर्यों की उपस्थिति है। एक सूर्य भारतवर्ष में है और दूसरा ऐरावत वर्ष में है। ये सूर्य ३० मुहूर्त में एक अर्धमण्डल का तथा ६० मुहूर्त में समग्र मण्डल का चक्कर लगाते हैं। परिभ्रमण करते हुए इन सूर्यों में कितना अन्तर होता है—इस तथ्य का भी उद्घाटन किया गया है। दाम प्राभृत में २२ अध्याय हैं जिनमें नक्षत्रों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक ज्योतिष सम्बन्धी विषयों का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया गया है—नक्षत्रों का योग उनका कुल अमावस्या तथा पौर्णमासी को चन्द्र के साथ संयुक्त होनेवाले नक्षत्रों का उल्लेख, चन्द्र के परिभ्रमण का मार्ग, नक्षत्रों के देवता आदि। नक्षत्रों के गोत्रों का उल्लेख एक विशिष्ट तथ्य है जैसे पुनर्वसु का वशिष्ठ गोत्र, हस्त का कौशिक, मूल का कात्यायन आदि। इन २८ नक्षत्रों में समागमान हितकारी भोजनों का भी निर्देश एवं मननीय विचार है। इस प्रकरण को 'नक्षत्र भोजन' कहते हैं। उदाहरणार्थ कृतिका नक्षत्र में दही, आर्द्रा में नवनीत, पुनर्वसु में घृत, पुष्य में घृत, श्रवण में खीर, आदि-आदि। इन नक्षत्रों में तत्तत् पदार्थों के हितकारी होने का रहस्य भी विचारणीय है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति जैन आगमों का षष्ठ उपांग है। इनमें भौगोलिक विषयों के साथ ज्योतिष विषयों का भी विस्तृत सन्निवेश है। इस प्रज्ञप्ति के अन्तिम (सप्तम) वक्षस्कार (खण्ड) में ज्योतिष शास्त्र का वर्णन दिया गया है जैसे—जम्बूद्वीप में दो सूर्य, दो चन्द्र, ५६ नक्षत्र और १७६ महाग्रह प्रकाशित करते हैं। संवत्सर पाँच प्रकार

---

१. ब्रह्मगुप्त ने स्फुट सिद्धान्त में तथा भास्कराचार्य ने अपने 'सिद्धान्त शिरोमणि' में जैनों की दो सूर्य तथा दो चन्द्र की मान्यता का खण्डन किया है। डा० थीबो के कथनानुसार भारतवर्ष में आने से पूर्व यूनानी लोगों में भी उक्त सिद्धांत मान्य था। द्रष्टव्य डा० थीबो का 'आन दी सूर्य विज्ञप्ति' शीर्षक निबंध (जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल; कलकत्ता, जिल्द ४९)।

के बतलाये गये हैं–(१), नक्षत्र (२) युग, (३) प्रमाण, (४) लक्षण, (५) शनैश्चर और इनके भी अवान्तर भेद होते हैं। अनन्त नक्षत्रों के देवता, गोत्र, आकार, कुल आदि का, सूर्य-चन्द्र के परिभ्रमण आदि का विवरण जैन मान्यता के अनुसार यहाँ दिया गया है। ब्राह्मण ज्योतिषियों के ग्रंथों के तथ्यों के साथ इनकी तुलना करने से इस युग की जैन मान्यता का स्वरूप भलीभाँति समझा जा सकता है।[१]

मलयगिरि ने इन तीनों के ऊपर संस्कृत में टीका लिखी है[१]। आचार्य मलयगिरि (१२ वी शती) हेमचन्द्र के सहाध्यायी थे—इसका पता जिनमण्डन गणि कृत 'कुमारपाल प्रबन्ध' से चलता है। मलयगिरि हेमचन्द्र को गुरुवत् मानते थे और इसलिए अपने ग्रंथ मे उनकी एक कारिका को 'तथा चाहु गुरव' कहकर उद्धृत किया है। इस टीका के अध्ययन से जैनधर्मानुयायियों की ज्योतिष कल्पना का और भी अधिक परिचय मिलता है।

ज्योतिष्करण्डक भी इसी युग का ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों मे ज्योतिष तथा गणित दोनों का मिश्रण है। विशुद्ध गणितीय ग्रंथों मे महावीराचार्य का यह ग्रन्थ अनुपम है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सिंहतिलक सूरि नामक जैन गणितज्ञ ने श्रीपति के गणित तिलक के ऊपर एक बड़ी प्रामाणिक वृत्ति लिखी है। जैनियों के गणित साहित्य का एक अनुपम ग्रंथ है त्रिलोकसार जिसकी रचना नेमिचन्द्र ने की है। इस ग्रन्थ के छ अधिकारों मे गणित की दृष्टि से प्रथम अधिकार अत्यधिक महत्त्व का है। त्रिलोकसार मे चौदह धाराओं का वर्णन किया गया है। क्षेत्रमिति के बहुत से आवश्यक नियमों का वर्णन ग्रंथ की उपादेयता का द्योतक है।[३]

जैन आगम के सबसे प्राचीन ग्रन्थ अग' कहलाते हैं जो अर्धमागधी मे निबद्ध हैं। इनमे रेखागणित के पारिभाषिक शब्दों का अत्यन्त प्राचीन उल्लेख है और साथ ही साथ क्षेत्रमिति का भी विवरण है। भगवती सूत्र मे पांच रेखाकृतियों के नाम दिये गये हैं –त्र्यस्र (त्रिभुज, चतुरस्र चतुर्भुज), आयत, वृत्त, परिमण्डल (Ellipse) इनमें से प्रत्येक दो प्रकार का होता है। समतल होने पर उसका नाम है प्रस्तर तथा ठोस होने पर घन। इस प्रकार इन ठोसों के नाम मिलते हैं घन त्र्यस्र, घन

१ इन तीनों प्रज्ञप्तियों के विषय के निमित्त द्रष्टव्य 'जैन साहित्य का बृहत् इतिहास' द्वितीय भाग (प्र० जैनाश्रम, वाराणसी) पृ० १०५–१२०

२ इन टीकाओं के विवरण के लिए द्रष्टव्य 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' भाग तीसरा पृ० ४२१ ४२६ (प्रकाशक—जैनाश्रम वाराणसी, १९६८)।

३ द्रष्टव्य डा० सत्यप्रकाश रचित 'वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा' पृ० ६१-६२ (प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना)।

चतुरस्र, घनायत, घन वृत्त तथा घन परिमण्डल। आजकल की ठोस ज्यामिति में तो इन सब ठोसों का विवरण मिलता ही है। इससे स्पष्ट है कि उस प्राचीन युग में भी इनकी रचना-पद्धति ज्ञात थी जो गणित के इतिहास में महत्त्व का सूचक है। परिधि और व्यास के सम्बन्ध का भी स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है—(१) $\sqrt{१०}$ (२) तीन से थोड़ा अधिक (त्रिगुण सविशेष) (३) ३.१६। पहला निर्देश भगवती सूत्र (सू० ९१), जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (सू० ३), और सूर्यप्रज्ञप्ति सू० २०) तथा तत्त्वार्थसूत्र भाष्य में मिलता है। दूसरा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (सू० १९) और उत्तराध्ययन सूत्र (३६।५९) में दिया गया है। तीसरा जीवाजीवाभिगम सूत्र (११२) में दिया है। जैनियों के ग्रन्थों में मायावर्ग (मैजिक स्क्वायर) बनाने की भी अनेक विधियों का उल्लेख मिलता है। इन कतिपय महत्त्वपूर्ण निर्देशों से आलोचक का पता[1] लग सकता है कि जैन गणित की अपनी अलग महत्ता है। जैन अंगों तथा ग्रन्थों की वैज्ञानिक छानबीन करने से अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की अवगति हो सकती है जो आजकल भी उपयोगी सिद्ध हो सकती है।[२]

भास्कराचार्य

लीलावती पाटीगणित का सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। भास्कराचार्य काव्यकला में निष्णात पण्डित थे। वे रूखे सूखे खूसट ज्योतिषी न थे फलतः इनके उदाहरणों में कवि सुलभ कोमल शब्द विन्यास है। यह पाटीगणित तथा क्षेत्रमिति (मेंसुरेशन) का सम्मिलित ग्रन्थ है। भास्कर ने क्षेत्र व्यवहार को अंकगणित के भीतर ही समाविष्ट किया है। आजकल यह 'रेखागणित' के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। भास्कर के समय १२ शती तक रेखागणित उतना विकसित नहीं हो सका था। विशेष उन्नति १८ वीं शती में हुई जब जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह (द्वितीय) ने पण्डित जगन्नाथ सम्राट् से पश्चिमी रेखागणित 'यूक्लिड्' का संस्कृत में अनुवाद कराके प्रचारित किया। भास्कर की प्रतिभा अलौकिक थी। उसका परिचय क्षेत्रमिति-सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान के अवसर पर पदे पदे होता है। इन प्रश्नों का एक नमूना देखिये—

---

1 Dr B Dutta 'The Jain School of Mathematic' (pp 141--142) —The Bulletin of Calcutta Mathematical Society Vol 21, No 2 1929

२ एच० आर० कापड़िया—गणित तिलक की अंग्रेजी भूमिका—पृ० २२ ४७। (गायकवाड़ संस्कृत सीरीज नं० ७८, १९३७)।

बाले मराल-कुल-मूल-दलानि सप्त
तीरे विलास भरमन्थरगान्यपश्यम् ।
कुर्वंच्च केलि-कलहं कलहंसयुग्मं
शेषं जले वद मराल कुल-प्रमाणम् ॥

आशय है कि हंससमूह के वर्गमूल का सप्तगुणित आधा (७/२) जो क्रीडा की थकावट से धीरे धीरे सरोवर के तट पर जाते हुए मैंने देखा और शेष दो हंसो को पानी मे क्रीडा कलह करते देखा, तो हंसो की संख्या बताओ।

'लीलावती' के नामकरण के विषय मे पण्डित समाज मे अनेक किम्वदन्तियां प्रसिद्ध हैं। कोई तो इसे उनकी विधवा कन्या के नाम पर निमित्त बतलाते हैं, जिसे पढ़ाने के लिए ग्रंथ का निर्माण हुआ, तो कोई अपत्याभाव से नितान्त दु:खित अपनी धर्मपत्नी के मनोविनोदार्थ इसकी रचना बताते हैं। इसमे दूसरा पक्ष बाधित है। भास्कर के पौत्र चंगदेव ने अपने पितामह के तथा तद्वंशीय अन्य विद्वानो के ग्रंथों के अध्यापनार्थ 'पाटण' नामक ग्राम मे (महाराष्ट्र—खानदेश) एक मठ का निर्माण कराया था। इस शिलालेख मे भास्कर के पूरे वंश का वर्णन है जो भास्करोक्त वर्णन से मेल खाता है। भास्कराचार्य के आदि पुरुष त्रिविक्रम भट्ट दमयन्तीचम्पू के लेखक थे तथा भास्कर के वेदविद्या मे निपुण, राजा जैत्रपाल द्वारा सम्मानित पुत्र का नाम लक्ष्मीधर था[1]। फलत भास्कराचार्य का वंश उनके अनन्तर भी चलता रहा—इसमे सन्देह करने के लिए स्थान नही है।

ग्रंथ मे सब मिलाकर २७८ पद्य हैं। बीच मे उदाहरणों का स्पष्टीकरण गद्य मे भी किया है। विविध परिमाणो के पैमाना तथा परार्ध पर्यन्त संख्या देने के बाद पूर्णाङ्कों का योग, अन्तर, गुणा, भाग, वर्गमूल, घन तथा घनमूल दिए गये हैं जिन्हे परिकर्माष्टक कहते हैं। भिन्न का परिकर्माष्टक इष्टकर्म, त्रैराशिक, पञ्चराशिक, श्रेणी, क्षेत्रों तथा घनो के क्षेत्रफल घनफल कुट्टक, पाक्षिक विपर्यय, सर्वाशिक विपर्यय से सम्बद्ध बातें तथा उदाहरण दिये गये हैं। ग्रंथ की प्रसिद्धि इसके वैशद्य तथा

---

१ लक्ष्मीधराख्योऽखिलसूरिमुख्यो
वेदार्थवित् तार्किकचक्रवर्ती ।
क्रतु क्रिया-काण्डविचार सारो
विशारदो भास्करनन्दनोऽभूत् ॥
पूरे शिलालेख के लिए द्रष्टव्य गणकतरङ्गिणी पृ० ३९–४१
तथा शंकर बालकृष्ण दीक्षित—भारतीय ज्योतिष पृ० ३४.

व्यापकत्व के ऊपर आश्रित है। टीका-सम्पत्ति तथा विभिन्न भाषाओं में अनुवाद इसके सद्य प्रमाण हैं।

टीका सम्पत्ति

लीलावती के ऊपर टीका लिखना मध्ययुगीय ज्योतिषियों की विद्वत्ता की कसौटी थी। व्याख्या में कतिपय के नाम ये हैं—(१) गंगाधर की गणितामृत सागरी (१३४२ शक), (२) गणेशदैवज्ञ की बुद्धिविलासिनी (१४६७ शक), (३) धनेश्वर दैवज्ञ की लीलावतीभूषण, (४) मुनीश्वर की लीलावतीविवृति (१५४७ शक), (५) महीधर का लीलावती विवरण, (६) रामकृष्ण की गणि तामृतलहरी, (७) नारायण की पाटीगणित कौमुदी, (८) सूर्यदास की गणितामृतकूपिका, (९) बापूदेव शास्त्री की टिप्पणी सहित व्याख्या तथा (१०) सुधाकर द्विवेदी की उपपत्ति सहिता सुधाकरी टीका। इनके 'बीजगणित' पर कृष्णदैवज्ञ की बीजनवाङ्कुर टीका (१५२४ शक) तथा सूर्यदास की टीका उपलब्ध होती है।

इन दोनों ग्रथों के अनुवादों की कमी नहीं है। बादशाह अकबर के समय में फैजी ने लीलावती का अनुवाद फारसी में किया (१५८७ ई०) और शाहजहाँ के समय में अताउल्लाह रसीदी ने बीजगणित का अनुवाद फारसी में किया (१६३४ ई०)। १९ वी सदी में अंग्रेजी का जब परिचय इन ग्रंथों से हुआ, तब से इनके अनुवाद प्रस्तुत किये गये। अंग्रेजी में अनेक अनुवाद हैं जिनमें स्ट्रेची[1] ने बीज बीजगणित का १८१३ ई० में टेलर[2] ने लीलावती का १८१६ में तथा कोलब्रुक[3] ने दोनों का अनुवाद १८१७ ई० में किया। भारतीय भाषाओं में भी अनेक अनुवाद उपलब्ध होते हैं।

बीजगणित नामक ग्रन्थ के आरम्भ में भास्कराचार्य ने बीजगणित की उपयोगिता बतलाई है। उनका कहना है कि व्यक्त गणित के प्रश्नों का उत्तर तब तक ठीक रूप से नहीं दिया जा सकता, जब तक बीजगणित की युक्तियों का उपयोग न किया जाय। इसलिए व्यक्तगणित की सुव्यवस्था के लिए बीजगणित की सत्ता आवश्यक है।[4] भास्कराचार्य ने इस गणित के लिए बीज-क्रिया का उपयोग किया है। इस ग्रंथ की रचना लीलावती की रचना के अनन्तर हुई। भास्कराचार्य का यह बीजगणित विषय के स्पष्ट विवेचन से इतना मौलिक है कि अपने विषय का यह प्रतिनिधि ग्रंथ

---

1 E Strachey 2 J Tavler 3. Henry Thomas Colebrooke

४ पूर्व प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तबीजं प्रायः प्रश्ना नो विनाऽव्यक्तयुक्त्या।
ज्ञातुं शक्या मन्दधीभिर्नितान्तं यस्मात्तस्माद् वच्मि बीजक्रियां च॥

बीजगणित श्लोक १। २

माना जाता है। इसीलिए इसका अनुवाद मध्ययुग (१६वीं शती) में फारसी में हुआ तथा १९वीं शती के आरम्भ में अंग्रेजी में हुआ। ग्रन्थ के आरम्भ में धन, ऋण आदि का वर्णन देकर, बीजगणित के अनुसार जोड़, घटाना, गुणा आदि का वर्णन दिया गया है। इसके अनन्तर करणी के छ प्रकार का वर्णन है। तदनन्तर कुट्टक सम्बन्धी सिद्धान्तों का विशद विस्तृत विवरण है। वर्गप्रकृति तथा चक्रवाल के वर्णन के अनन्तर समीकरण तथा उसके भिन्न भिन्न प्रकारों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। एकवर्ण समीकरण में क का मूल्य निकालने की विधि है और अनेक वर्ण समीकरण में क और ख दोनों अज्ञात सख्याओं के मूल्य निकालने का वर्णन है। इस प्रकार बीजगणित से सम्बद्ध समस्त विषयों का सागोपाग विवेचन ग्रन्थ को उपयोगी तथा उपादेय बना रहा है।[१]

भास्कर एक प्रतिभाशाली कवि थे और उन्हें अपने कवित्व का समुचित अभिमान था। सिद्धान्तशिरोमणि के तेरहवें अध्याय में रचित ऋतुवर्णन उनकी कवि प्रतिभा का पर्याप्त परिचायक है। यह ऋतु-वर्णन वर्ण्य विषय से साक्षात सम्बद्ध नहीं है और सरस कवि के मधुर उद्गार का मधुमय प्रतीक है। कविता की यह प्रशस्ति कितनी सुन्दर तथा श्लेषमयी है—इसे विशेष बतलाने की आवश्यकता नहीं है—

सरसमभिलपन्ती सत्कवीना विदग्धा-
नवरतरमणीया भारती कामितार्थम्।
न हरति हृदय वा कस्य सा सानुरागा
नवरत रमणीया भारती कामितार्थम्।

—सिद्धान्त शिरोमणि १३। १३

सिद्धान्तशिरोमणि का स्वोपज्ञ भाष्य (वासना भाष्य) सरल टीका प्रणयन का आदर्श उपस्थित करता है जिसमें सरल-सुबोध शब्दों में मूल के निगूढ अर्थ को अनायास समझाया गया है। फलत भास्कराचार्य ज्योतिर्विज्ञान के क्षेत्र में चतुरस्र पाण्डित्य से मण्डित पण्डित थे —यह कथन पुनरुक्तिमात्र ही है।

नारायण पण्डित

पाटीगणित के इतिहास में लीलावती का यदि कोई स्पर्धी ग्रन्थ है, तो वह नारायण पण्डित की गणित कौमुदी ही है। नारायण के देश का पता नहीं चलता, परन्तु

१ प० विशुद्धानन्द गौड रचित स० हि० टीका समेत १९६३, मास्टर खेलाडीलाल (काशी)। स० चौखम्भा काशी सस्कृत सीरीज, न० १४८ काशी, १९४९, हिन्दी तथा नवीन संस्कृत टीका के साथ।

ग्रंथ के अन्तिम श्लोक[1] में ग्रंथ का रचनाकाल १२७८ शक (=१३५६ ई०) बतलाया गया है जिससे इनका आविर्भाव काल चतुर्दश शती का मध्यकाल सिद्ध होता है।[2] प्रतिपादन की शैली लीलावती की परिपाटी को स्पर्श करती है। ग्रंथकार के पिता नृसिंह श्रौतस्मार्तार्थ वेत्ता सकल गुणनिधि तथा शिल्प विद्या प्रगल्भ बतलाये गये हैं। गणितकौमुदी के प्रश्न लीलावती के समान ही ललित भाषा में निबद्ध है। *नारायण के कथनानुसार गणित कौमुदी से पूर्व बीजगणित' की रचना की गई थी।*[3] फलतः ये अव्यक्त तथा व्यक्त उभयविध गणितों के प्रौढ़ प्रतिभाशाली ज्योतिर्विद प्रतीत होते हैं। इन दोनों ग्रंथों की पुष्पिका एक समान है जो दोनों के लेखकों की अभिन्नता का स्पष्ट प्रमाण है। दोनों की पुष्पिका में ग्रंथकार अपने को 'सकल कलानिधि श्रीमन् नृसिंह नन्दन गणित विद्या चतुरानन नारायण पण्डित' बतलाता है। दोनों में भेद मानने का अवसर नहीं है।

'गणित कौमुदी' की अनेक विशिष्टताओं में गणित के कठिन प्रश्नों के समाधान की नवीन रीति के साथ 'माया वर्ग' (मैजिक स्क्वायर) की रचना के अनेक प्रकार बतलाये गये हैं। यह जानने की बात है कि मायावर्ग की प्रथम रचना तथा आविष्कृति का श्रेय हिन्दू गणितज्ञों को है। नारायण से पहिले भी मायावर्ग की रचना के नियम निर्दिष्ट थे, परन्तु इसे तान्त्रिक पूजा का गुह्य अंग मानकर गणितज्ञ लोग अपने ग्रंथों में इसका *वर्णन नहीं करते थे।* इससे पूर्व *भैरव तथा शिव ताण्डव तन्त्रों में* इसकी निर्माण विधि बतलाई गई। परन्तु गणितज्ञों में नारायण ही इस विद्या के प्रथम प्रतिपादक प्रतीत होते हैं। यूरोप में १५ शती में इस विद्या का उदय हुआ जिससे लगभग एक सौ वर्ष पूर्व *गणित कौमुदी में यह विषय वैज्ञानिक रीति से विन्यस्त है* और यह इस ग्रंथ की महती विशिष्टता है—इसमें दो मत नहीं हो सकते।

---

१ ग्रंथ का प्रकाशन सरस्वती भवन ग्रंथमाला (नं० ५७) में दो खण्डों में हुआ है—प्रथम खण्ड १९३६ में और दूसरा खण्ड १९४१ में। सम्पादक की विद्वत्तापूर्ण भूमिका मननीय तथा द्रष्टव्य है।

२ गजनग रविमित शाके दुर्मुखवर्षे च बाहुले मासि ॥
धातृनियौ कृष्णदले गुरौ समाप्तिंगत गणितम् ॥

३ अत्र पाटीगणिते खहरे कृते लोकस्य व्यवहृतौ प्रतीतिर्नास्तीत्यतो खहरो नोक्त। अस्मदीये बीजगणिते बीजोपयोगित्वात् तत्र खहर कथित (शून्यपरिकर्म में नारायण का वचन) 'नारायणीयबीजम्' नाम से इसकी एक अपूर्ण प्रति सरस्वती भवन में उपलब्ध (प्रकाशित) है।

मुनीश्वर (विश्वरूप)

सत्रेहवीं शती के पूर्वार्ध मे मुनीश्वर नामक एक प्रख्यात ज्योतिर्विद हो गये हैं जिन्होंने सिद्धान्त तथा पाटीगणित दोनो के ऊपर टीका और स्वतन्त्र ग्रथो का प्रणयन किया है। इन्होंने भास्कराचार्य के लीलावती तथा सिद्धान्तशिरोमणि दोनो के ऊपर प्रख्यात व्याख्याये लिखी। लीलावती की व्याख्या का नाम 'निसृष्टार्थदूती' है, तथा सिद्धान्तशिरोमणि की व्याख्या का नाम 'मरीचि' है जो प्रमेयों के बाहुल्य, प्राचीन ग्रथो के उद्धरण तथा सिद्धान्तो के तर्कयुक्त विवरण के कारण भाष्य नाम से अभिहित किया जाता है। इसके पूर्वार्ध की रचना १५६७ शक (= १६३५ ई०) में हुई तथा उत्तराध का निर्माण उसके तीन वष पीछे १५७० शक (= १६३८ ई०) मे हुआ। मुनीश्वर को बादशाह शाहजहाँ का आश्रय प्राप्त था जिसके राज्याभिषेक का ठीक ठीक समय हिजरी सन् म इन्होंने यहाँ दिया है जो ४ फरवरी १६२८ ई० मे सूर्योदय से ३ घडी बाद सिद्ध होता है। ये काशीवासी थे तथा ज्योतिर्विदो क प्रख्यात वश मे उत्पन्न हुए थे[१]। इनके पिता रगनाथ ने सूर्यसिद्धान्त के ऊपर 'गूढार्थप्रकाशक' नामक टिप्पण १५३५ शक (= १६२० ई०) मे लिखा जो एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इनके टिप्पण से पता चलता है कि उस समय पर यूरोप निवासी (फिरग नाम से प्रख्यात) भारत मे आने लग थे। मुनीश्वर ने दो स्वतन्त्र ग्रथो का प्रणयन किया था—

(१) सिद्धान्त सार्वभौम—यह सिद्धान्त ज्योतिष का महनीय ग्रथ है जिसके ऊपर ग्रथकार ने स्वोपज्ञ टीका लिखी। ग्रथ का रचनाकाल—१५६८ शक (=१६ ६ ई०) तथा टीका का निर्माण काल १५७२ शक (=१६५० ई०) है।

(२) पाटीसार—पाटीगणित के ऊपर इनकी स्वतन्त्र रचना है। इन ग्रथो मे मरीचिभाष्य ही अत्यन्त उदात्त तथा प्रौढ ग्रन्थ माना जाता है। इस भाष्य के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि मुनीश्वर भास्कराचार्य के परमभक्त थे और इसलिए भास्कर के विरोधी कमलाकर भट्ट के साथ इनका महान् सघर्ष हुआ था। इस सघर्ष के खण्डन मण्डन के प्रमापक ग्रथ भी उपलब्ध हैं।[२] मरीचिभाष्य का नई टीका तथा हिन्दी विवृत्ति के साथ पण्डित केदारदत्त जोशी ने काशी स हाल मे सम्पादन किया है[३]। वह सर्वथा स्तुत्य तथा प्रशसनीय है। मुनीश्वर 'विश्वरूप' के नाम भी प्रख्यात थे।

---

१ इस वश के वर्णन के लिए द्रष्टव्य गणक तरगिणी पृ० ७९–८१।

२ द्रष्टव्य गणक-तरगिणी पृष्ठ ९२।

३ हिन्दू विश्वविद्यालय की ज्योतिष ग्रथमाला म प्रकाशित, वि० स० २०२०। ईसवी सन् १९६४, दो खण्डो मे प्रकाशित।

(ख) बीजगणित

'बीजगणित' नाम की उत्पत्ति का श्रेय भारतीय गणितज्ञ आर्यभट को देना उचित है। 'बीजगणित' का तात्पर्य उस गणित से है जिसमें बिना किसी अंक की सहायता से गणित का विधान किया जाता है। 'बीजगणित' का शाब्दिक अर्थ है मूल अक्षरों से सिद्ध होने वाला गणित। 'अव्यक्त गणित' इसी का नामान्तर है। पाटीगणित या 'अंकगणित' को व्यक्त गणित कहा जाता है, क्योंकि वह व्यक्त अंकों के द्वारा सम्पन्न होता है। उससे भिन्न होने के हेतु अक्षरों की सहायता से साध्य होने के कारण इसे 'अव्यक्त गणित' कहा जाता है।

यूरोपीय देशों में इस विद्या को 'अलजब्रा' कहा जाता है। इस नामकरण का अपना एक विशिष्ट कारण है।

'अलजब्रा' नाम का उदय

'अलजब्रा' का नामकरण आकस्मिक है। यह अरब के एक मान्य गणितज्ञ के द्वारा प्रणीत ग्रंथ के नाम पर है। इस गणितज्ञ का नाम था—मुहम्मद इब्न मूसा अल खोवारिज्मी [अर्थात् खोवारिज्म (प्रसिद्ध नाम ख्वारेज्म) के निवासी, मूसा के पुत्र मुहम्मद] इसने बगदाद में ८२५ ईस्वी के आसपास एक प्रख्यात ग्रंथ का प्रणयन किया जिसका नाम है—'अल जब्र वल मुकाबला'। इस ग्रंथनाम की ठीक ठीक व्याख्या नहीं हो सकी थी। अब इसका अर्थ लगा है। अल्जब्र अरबी का शब्द है और इसी का समानार्थक फारसी शब्द है 'मुकाबला'। अर्थात इन भिन्न भाषीय शब्दों का एक ही अर्थ है—समीकरण। यही समीकरण बीजगणित का विशिष्ट विषय माना जाता था और यूरोप के अनेक देशों में बीजगणित का यही अर्थ आज भी समझा जाता है। किसी अज्ञात संख्या का ज्ञात संख्या के साथ समीकरण करने से अज्ञात संख्या का परिचय मिल जाता है और यह परिचायक गणितशास्त्र ही बीजगणित है।

जैसे $x^2 + 2x = 24$। इस समीकरण का निर्धारण कर अज्ञात 'x' का मूल्य ४ होता है। और यही मूलत कार्य था बीजगणित का। इसीलिए मुहम्मद इब्न मूसा ने अपने ग्रंथ का नाम इसी समीकरण की मुख्यता के कारण दिया। इस ग्रंथ ने यूरोप पर अपना प्रकृष्ट प्रभाव जमाया। इसका अनुवाद ११४० ई० के आसपास चेस्टर के राबर्ट नामक विद्वान ने किया और तब से यह यूरोप में बीजगणित का सर्वमान्य ग्रंथ हो गया और इसी ग्रंथ के आदि शब्द के आधार पर यह अव्यक्त गणित 'अल्जब्रा' के नाम से प्रख्यात हो गया।

बीजगणित के आविष्कार करने का श्रेय भारतीयों को है। इस विषय में आचार्यों के दो मत नहीं हैं। गणित के प्रसिद्ध इतिहास लेखक काजोरी का अनुमान था

यह है कि बीजगणित के प्रथम यूनानी विद्वान् दियोफान्तस[1] (२४६–३३० ई०) को बीजगणित का प्रथम आभास भारत से ही मिला था। १९वी सदी के गणितज्ञ द मोरगॉ ने लिखा है कि दियोफान्तस का बीजगणितीय ज्ञान भारतीय विज्ञान के सामने नाम मात्र का है। उसी सदी के जर्मन गणितज्ञ हानकेल का कथन है कि यदि अकरणीगत[2] और करणीगत[3] सख्याओ और राशियो के मान-निर्धारण मे व्यक्तगणित के प्रयोग का नाम बीजगणित हो, तो उसके आविष्कार का सम्पूर्ण श्रेय हिन्दुओ को ही है।

यूनानी बीजगणित

दियोफेन्टस ग्रीक देश का निवासी था, परन्तु उसके जन्मस्थान का पता नही चलता। विशेषज्ञो की सम्मति है कि यदि उसका ग्रन्थ ग्रीक भाषा मे निबद्ध नही होता, तो कोई भी उसे ग्रीक मानने के लिए तैयार नही होता। ८४ वर्ष की आयु मे लगभग ३३० ईस्वी मे उसकी मृत्यु हुयी। अपनी पूरी आयु का षष्ठाश उसने बिताया बाल्यकाल मे, द्वादशाश यौवन मे, तदनन्तर सप्तमाश बिताया कुमारावस्था मे। अनन्तर वह गृहस्थ बना। पुत्र भी उसे हुआ, परन्तु वह भी उसके जीवन काल मे ही गतायु हो गया। उसके प्रधान ग्रन्थ का नाम है—'अरिथमेटिका' जो तेरह खण्डो मे समाप्त हुआ था, परन्तु जिसका केवल सात खण्ड ही आज उपलब्ध है। इस ग्रथ के प्रथम खण्ड मे उसने बीजगणित से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले नियमो का वर्णन किया है। ये नियम एकदम नूतन हैं तथा यूनान की गणितीय परम्परा से नितान्त असम्बद्ध है। इन नियमों के आविष्कार की प्रेरणा दियोफेन्टस को कहाँ से प्राप्त हुयी है ? इस समस्या का पूरा समाधान अभी तक नही हो पाया है। परन्तु 'गणित का इतिहास' के प्रणेता डा० एफ० काजोरी की मान्यता है कि ये नियम उसे भारतीय पण्डितों के बीजगणित से प्राप्त हुए थे, अन्यथा इनके उद्गम की समस्या असमाहित ही रह जाती है।[४] यूनानी गणित की परम्परा से उनकी प्राप्ति होना नितान्त असम्भव व्यापार है।

निष्कर्ष यह है कि दियोफान्तस नामक यूनानी गणितज्ञ ने चौथी सदी के मध्यकाल मे तेरह अध्यायो मे 'पाटी-गणित' के जिस ग्रन्थ को लिखा था, उसके केवल एक अध्याय मे ही बीजगणित का वर्णन है। इसने सरल समीकरणो और वर्गात्मक समीकरणों की नींव डाली। परन्तु इस ग्रन्थ का बहुल प्रचार न हो सका, क्योंकि

1 Diophantus 2 Rational 3 Irrational

४ द्रष्टव्य काजोरी का ग्रन्थ 'ए हिस्ट्री ऑफ मैथेमेटिक्स' (न्यूयार्क, १९०६) पृष्ठ ७४–७७।

उसके ग्रन्थ का पता चला सोलह शती के मध्य इटली के एक पुस्तकालय में, जब उसका लातिनी भाषा में अनुवाद किया जाइलैण्डर नामक विद्वान् ने १५७५ ई० में। इससे पहिले ही मुहम्मद बिन मूसा का पूर्वोक्त ग्रन्थ यूरोप के विद्वानों में प्रख्यात हो गया था और बीजगणित की नींव मध्ययुग में इसी ग्रन्थ की सहायता से पड चुकी थी। मूसा का अरबी में लिखा ग्रन्थ भारतीय बीजगणित के आधार पर ही लिखा गया है। जिस हिन्दू गणितज्ञ ने भारत में बीजगणित की नीव डाली, वे आर्यभट ही हैं। इनके अनन्तर ब्रह्मगुप्त ने बीजगणित का परिष्कार तथा परिबृंहण किया। इन्हीं के ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ और यहीं से अरब वालों ने यह विद्या सीखी। कोलब्रुक ने अनेक तर्क देकर यह सिद्ध किया है कि ब्रह्मगुप्त का बीजगणितीय वर्णन अरब वालो के वैज्ञानिक उत्थान से पूर्व का है। इसीलिए स्पष्ट है कि बीजगणित की उद्भावना तथा प्ररणा का श्रेय हिन्दुओं को ही है। भास्कराचार्य (१२ शती) ने बीजगणित के ऊपर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर इस शास्त्र को और भी अधिक प्रगति की और अनेक नवीन तथ्यों का वर्णन कर इसे पूर्णरूपेण विज्ञान की कोटि में प्रस्तुत कर दिया।

यूरोप के बीजगणित तथा भारतीय बीजगणित को एक शृंखला में लाने का श्रेय अरब के विख्यात गणितज्ञ मुहम्मद इब्न मूसा को ही है। मुहम्मद के ऊपर ब्रह्मगुप्त का प्रभाव पडा और मूसा के ग्रन्थो का अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में होकर यूरोप में बीजगणित को प्रगति देने में समर्थ हुआ। इतना ही नहीं, चीन के गणित पर तथा उनके द्वारा जापान के गणित पर भी भारतीय बीजगणित का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। विलियम्स का कहना है कि हिन्दुओं की बीजगणितीय प्रक्रिया चीन साम्राज्य के गणितज्ञों को ज्ञात थी, और यद्यपि दोनों देशों का बौद्धिक आदान-प्रदान बहुत दिनों से बन्द था तो भी इनका अनुशीलन आज भी चीन में उसी रीति से विद्यमान है। इस सब निर्देशों से स्पष्ट है कि वर्तमान बीजगणित का मूल आर्यभट और उनसे पूर्व के युग में भी प्रतिष्ठित था। तथ्य तो यह है कि ज्योतिष के सिद्धान्तों के विकास के साथ-साथ बीजगणित का भी विकास होता आया, और इस प्रकार हिन्दुओं को बीजगणित का ज्ञान कम से-कम ३००० ई० पूर्व से है। मैंकडानल्ड ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—ये ग्रन्थ एक से अधिक अज्ञात संख्याओं के समीकरण और एक से ऊँचे स्तर[1] के समीकरण की रीति बताते हैं। इन विषयों में भारतीय बीजगणित सिकन्दरिया के यूनानी गणितकार डियोफान्तुस् की गणित से आगे बढ़ी हुयी है। भारतीय ग्रन्थकारों ने विश्लेषण क्रिया को बहुत दूर तक पहुँचाया था और उनका बीजगणित में महत्त्वपूर्ण आविष्कार द्वितीय स्तर[1] की असीमाबद्ध[2] संख्याओं के समाधान की क्रिया है।"

---

1 Degree 2 Indeterminate

सिद्धान्त

भास्कराचार्य ने अपने ग्रन्थ में बीजगणित के चारों क्रियाओं—जोड़ बाकी, गुणा, भाग का वर्णन तथा वर्गमूल नियमों का सरल रीति से वर्णन किया है। शून्य के विषय में भास्कर ने जो नियम दिये हैं वे बड़े ही मौलिक तथा सैद्धान्तिक महत्व के हैं। उन नियमों का संक्षेप में उल्लेख इस प्रकार है—शून्य को किसी राशि में जोड़ दें या किसी राशि में से घटा दें तो धन या ऋण राशि का विपर्यास (अदला बदला) नहीं होता। पर यदि शून्य में से धन राशि घटाओगे तो ऋण और ऋण राशि घटाओ तो धन हो जाता है। शून्य के गुणन में गुणनफल शून्य ही होता है। केवल भाग में भेद होता है। यदि किसी राशि को शून्य से भाग दें तो 'खहार' राशि प्राप्त होगी। खहार का तात्पर्य अनन्त संख्या है।" इस प्रकार भास्कराचार्य ने बीजगणित के इन समीकरणों को सिद्ध किया है—

$क + ० = क$, $क - ० = क$, $क \times ० = ०$, $क \div ० = \infty$, $०^2 = ०$, $\sqrt{०} = ०$, $० - (क) = -क$, $० - (-क) = +क$। बीजगणित की दृष्टि से ये तथ्य बड़े ही मौलिक हैं।

समीकरण[1]

ब्रह्मगुप्त ने समीकरण के लिए समकरण तथा समीकरण दोनों शब्दों का प्रयोग 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' में किया है (१८।६३)। इसके टीकाकार पृथूदक स्वामी ने इसके लिए साम्य शब्द का भी प्रयोग किया है। श्रीपति इसे सदृशीकरण' कहते हैं तथा नारायण पण्डित समीकरण, साम्य तथा समत्व इन तीनों शब्दों का प्रयोग करते हैं। समीकरण में प्रयुक्त अव्यक्त राशियों का नामकरण इस प्रकार है—यावत्-तावत् (या), कालक (का), नीलक (नी), पीतक (पी), लोहितक (लो), हरीतक (ह), श्वेतक (श्वे), चित्रक (चि), कपिलक (क), पिंगलक (पि), धूम्रक (धू) पाटलक (पा), शवलक (श), श्यामलक (श्या), और मचक (मे)। नारायण पण्डित ने वर्णमाला के क आदि अक्षरों का ही प्रयोग किया है। भास्कराचार्य ने अपने बीजगणित में रत्नों के नाम के प्रथमाक्षरों को अव्यक्त राशियों के लिए प्रयुक्त किया है जैसे माणिक्य (मा), इन्द्रनील (नी), मुक्ताफल (मु) इत्यादि।

समीकरणों के अनेक प्रकार संस्कृत के एतद्विषयक ग्रन्थों में दिये गये हैं। जिन्हें यावत्-तावत् (Simple equation), वर्ग (Quadratic), घन (Cubic), वर्गवर्ग (Biquadratic), कहा जाता था। ब्रह्मगुप्त ने इनका नाम रखा—(१) एकवर्ण

1. Equation

समीकरण जिसमे एक अज्ञात हो, (२) अनेकवर्ण समीकरण जिसमे अनेक अज्ञात हो और (३) भावित समीकरण जिसमे कई अव्यक्तों का गुणन हो।

पृथूदक स्वामी ने एक भिन्न ही वर्गीकरण किया है। उनकी दृष्टि मे ये चार प्रकार के होते हैं—(१) रैखिक (Linear समीकरण एक अव्यक्त राशि वाला (२) अनेक अव्यक्त राशि वाला रैखिक समीकरण, (३) एक, दो या अनेक अव्यक्त राशियो वाला द्वितीय, तृतीय और उच्च घातो के समीकरण और (४) कई अव्यक्त के गुणन वाले समीकरण। तीसरे कोटि के समीकरण को मध्यमाहरण भी कहते हैं।

कुट्टक (Indeterminate Equations)

प्रथम घात (Degree) के अनिर्णीत विश्लेषण को भारतीय गणित में कुट्टक, कुट्टकार या कुट्ट नाम से पुकारते हैं। ये नाम भिन्न भिन्न ग्रंथो में उपलब्ध होते है। यदि किसी दी हुई सख्या को किसी ऐसी अज्ञात सख्या से गुणा करे और फिर इसमे कोई क्षेपक घटाये या जोडे और फिर किसी दिये गये भागहार से भाग दे कि अन्त मे शून्य शेष बचे तो उस गुणक को कुट्टक कहते हैं। कुट्टक की यही परिभाषा भिन्न भिन्न गणित ग्रन्थो में मिलती है। आर्यभटीय की टीका में कुट्टक और कुट्टाकार नामो का प्रयोग है। ब्रह्मगुप्त ने भी अपने ग्रंथ में कुट्टक, कुट्टाकार और कुट्ट इन तीनो शब्दो का प्रयोग किया है। महावीराचार्य ने कुट्टीकार शब्द का विशेष प्रयोग किया है। कुट्टक की प्रक्रिया में आने वाले शब्दों के लिए भास्कराचार्य की शब्दावली महावीर की शब्दावली से भिन्न है। जो कुछ भी हो भारतीय बीजगणित मे कुट्टक की मीमासा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। कुट्टक की सहायता से अय−बर=±ग इस प्रकार के समीकरणो का हल होता था। इस समीकरण का समीचीन समाधान सबसे पहले आर्यभट प्रथम (४९९ ई०) ने किया था। ब्रह्मगुप्त और महावीर की भी मीमासा बडी सुन्दर है। आर्यभट द्वितीय ने भी इसकी मीमासा विस्तार से की है और इसके सम्बन्ध म कई प्रक्रियायें दी हैं। भास्कराचार्य के बीजगणित का कुट्टकाध्याय सैद्धान्तिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का माना जाता है।

चक्रवाल विधि (Cyclic Method)

इस विधि का प्रयोग 'न क^{2}+न=ख^{2}' इस प्रकार के समीकरणों के लिये किया जाता है जो विशेष महत्त्व का है। इस चक्रवाल का सकेत तो ब्रह्मगुप्त की विधि में भी मिलता है पर इसका विस्तार से वर्णन भास्कराचार्य ने अपने बीजगणित में एक पूरे अध्याय मे किया है।

इसके अतिरिक्त पूर्णाङ्क भुजाओं वाले समकोण त्रिभुज के बनाने के लिए तथा दिये गए दत्त के अनुसार समकोण त्रिभुज बनाने के निमित्त जिस बीजगणितीय नियम

की आवश्यकता होती है, उसका अनेकश वर्णन संस्कृत के अनेक गणित ग्रन्थों में मिलता है। इन त्रिभुजों के निर्माण की विधि तो शुल्व सूत्रों में भी दी गई है परन्तु उसके लिए उपयोगी अनेक बीजगणितीय प्रक्रिया का वर्णन पिछले युग के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में दिया है। पैथेगोरस के नाम से विख्यात साध्य की—समकोण त्रिभुज में कर्ण का वर्ग दोनों भुजाओं के वर्गों के योग के समान होता है—बीज गणित की विधि से दो सिद्धियाँ भास्कराचार्य ने दी हैं जिनमें से एक वही है जिसे यूरोप में वालिस (१६१६-१७०३ ई०) ने अपने कोणविभाग विषयक ग्रन्थ में सर्वप्रथम दिया था। इसी प्रकार चलन-कलन (Differential Calclus) का सिद्धान्त यूरोप में सर्वप्रथम न्यूटन ने सत्रहवीं सदी में प्रतिपादित किया था। परन्तु भारतवर्ष में उससे कम से कम पांच सौ वर्ष पूर्व भास्कराचार्य (१२वीं शती) 'तात्कालिकी गति' के नाम से इस गणित का आविष्कार कर चुके थे। बाद के भारतीय गणितज्ञों ने इसका महत्त्व उतना नहीं समझा और इसलिए उसे विकसित करने की जगह उसका खण्डन ही किया।[1]

करणी (Surds)

करणी की परिभाषा यह है— यस्य राशेर्मूलेऽपेक्षिते निरग्रं मूलं न सम्भवति स करणी' अर्थात् जिस राशि का पूर्ण (निरग्र) मूल नहीं मिले उसे करणी कहते हैं। भास्कराचार्य ने अपने बीजगणित में करणीसम्बन्धी सङ्कलन, व्यवकलन, गुणा, भागहार, वर्ग तथा वर्गमूल निकालने से सम्बन्ध रखने वाली सभी प्रक्रियायें दी हैं। दो करणियों के योग का नाम है 'महती संज्ञा' और उसके घात को (गुणन को) दुगुना करें, तो इसका नाम है—'लघु संज्ञा'।

$$करणी = \sqrt{क} + \sqrt{ख} \quad या \quad \sqrt{क} - \sqrt{ख}$$

$$इसके\ वर्ग\ करने\ पर\ होता\ है = क + ख + २\sqrt{कख}$$

इसमें (क + ख) का नाम है महती संज्ञा तथा तथा २$\sqrt{कख}$ का नाम है 'लघुसंज्ञा'।

करणियों का जोड़ घटाना, गुणा भाग आदि निकालने के लिए भास्कराचार्य ने भिन्न-भिन्न विधियों का भी उल्लेख किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि १२वीं शती तक भारतीयों ने बीजगणित के जिन बड़े बड़े नियमों का आविष्कार कर दिया था उसमें से महत्त्वपूर्ण कतिपय नियम ये हैं–

(१) ऋण राशियों के समीकरण की कल्पना।

(२) वर्ग घन और अनेक घात समीकरणों को सरल करना।

(३) अंकपाश, एकादिभेद और कुट्टक के नियम।

---

१ सुधाकर द्विवेदी—चलन कलन, काशी १८८६ ई०, पृ० ५।

(४) एकवर्ण और अनेकवर्ण समीकरण।

(५) केन्द्रफल वर्णन करना जिसमे व्यक्त और अव्यक्त गणित का उपयोग हो।

(६) असीमाबद्ध समीकरणो का हल। इसका पता पश्चिमी जगत् मे सबसे पहले १६२४ ई० मे लगा। भारत मे आर्यभट ने पंचमशती में ही इसका वर्णन सबसे पहले किया है।

(७) द्वितीय घात का असीमाबद्ध समीकरण। पश्चिम मे इसकी सर्वप्रथम खोज यूलर (१७०७–८३ ई०) ने किया था। भारतीयो ने बीजगणित के इन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो की सर्वप्रथम खोज की थी। इसकी प्रशस्ति विख्यात अमेरिकन गणितज्ञ डा० कजोरी ने की है।[1]

इस प्रकार बीजगणित का आविष्कार और विकास तथा ज्यामिति और खगोल मे इसका प्रयोग भारतीयो ने पहले पहल किया था। अरब मे इसका प्रचार भारतीयो के द्वारा ही हुआ। उन्ही से सीख कर अरबी विद्वान् मूसा तथा याकूब ने अरब मे इसे प्रचारित किया, जहाँ से यह यूरोप मे फैला। चीन और जापान मे भी इसके प्रचार का श्रेय भारत को ही है।

रेखा गणित

रेखा गणित का भी आविष्कार भारतवर्ष मे ही हुआ और वह भी अत्यन्त प्राचीन काल मे। ऐसे प्रबल प्रमाण मिलते हैं जिनसे स्पष्ट पता चलता है कि ऋग्वेद के युग मे भी रेखागणित के मान्य सिद्धान्तो का उदय हो चुका था। रेखागणित का यथार्थ *भारतीय नाम शुल्ब' है। इसीलिए रेखागणित की प्रक्रिया को अर्थात् त्रिकोण, चतुर्भुज,* वृत्त आदि बनाने को 'शुल्बी क्रिया' के नाम से पुकारते हैं। रेखागणित को रज्जु शब्द के द्वारा भी पुकारते थे। कात्यायन ने अपने 'शुल्बसूत्र' के आरम्भ मे इस विद्या के लिए रज्जु शब्द का ही प्रयोग किया है। संस्कृत मे शुल्ब तथा रज्जु का समान ही अर्थ है रस्सी जिससे कोई लम्बाई नापी जाय। शुल्ब शब्द संस्कृत की शुल्ब धातु से *निकला है जिसका अर्थ होता है मापना। अतएव शुल्ब का अर्थ 'नापने की विद्या* या रेखागणित होना स्वाभाविक है। शुल्बसूत्र मे रज्जु शब्द से रेखा का भी बोध होता है। उदाहरण के लिए 'अक्ष्णया रज्जु'। जिसका अर्थ है कर्ण रेखा। 'मानव शुल्ब

---

1 The glory of having invented general methods in this most subtle branch of mathematics belongs to the Indians

—History of Mathematics, New York 1909.

सूत्र में रेखागणित के विज्ञान को 'शुल्ब विज्ञान' कहा गया है। इसी प्रकार रेखागणित के विशेषज्ञ को शुल्बविद तथा पूछने वाले को शुल्ब परिपृच्छक नाम दिया गया है। ये सब प्रमाण सिद्ध करते हैं कि इस शास्त्र का प्राचीन संस्कृत नाम शुल्बविद्या या शुल्बविज्ञान है।

भारतीय रेखागणित का प्रभाव पंचम शती ई० पूर्व में ही यूनानी रेखागणित पर पड़ा था। यूनानी लेखक डिमाक्रितास' (४४० ई० पूर्व) के ग्रन्था में रेखागणितज्ञ के लिए एक विलक्षण शब्द प्रयुक्त है जिसका अर्थ है 'रस्सी तानने वाला'। यह शब्द निश्चय ही शुल्ब सूत्रों में प्रयुक्त 'समसूत्र निरचक' शब्द का पर्यायवाची है। यूनानी शब्द और विचारधारा न तो मूल निया की है, और न उनके माने गए आचार्य मिश्र वासियों की है। रस्सी से भूमि नापने की कला निश्चित रूप से भारत में उत्पन्न हुई। पाली साहित्य में रज्जुक तथा 'रज्जुग्राहक' शब्दों का प्रयोग राजा के भू सर्वेक्षकों के लिए किया गया है। रज्जुक का प्रयोग अशोक के शिलालेखों में भी बहुश मिलता है। वैदिक काल में यज्ञयाग के अनुष्ठान के लिए उपयुक्त वेदी का निर्माण नितान्त आवश्यक माना जाता था। भारत में रेखागणित का उदय इसी 'चितिविद्या' से सम्बंधित है।

शुल्बसूत्र

भारतवर्ष में रेखागणित के प्राचीन इतिहास की जानकारी के लिए शुल्बसूत्रों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। शुल्बसूत्र वेदाङ्ग के अन्तर्गत कल्पसूत्र का अन्यतम अंग है। कल्पसूत्र का मुख्य विषय है वैदिक कर्मकाण्ड। ये मुख्यतया दो प्रकार के हैं— गृह्यसूत्र तथा श्रौतसूत्र जिनमें गृह्यसूत्र का मुख्य विषय है विवाहादि संस्कारों का विस्तृत वर्णन। श्रौत सूत्रों में श्रुति में प्रतिपादित नाना यज्ञ-यागों का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है। शुल्बसूत्र इन्हीं श्रौतसूत्रों के एक उपयोगी अंश हैं। 'शुल्ब' शब्द का अर्थ है रज्जु। अर्थात् रज्जु के द्वारा नापी गई वेदि की रचना शुल्बसूत्र का प्रतिपाद्य विषय है।

सिद्धान्त की दृष्टि से तो प्रत्येक वैदिक शाखा का अपना विशिष्ट 'शुल्बसूत्र' होता है, परन्तु व्यवहार में ऐसी बात नहीं है। कर्मकाण्ड के साथ मुख्यतः सम्बद्ध होने के कारण शुल्बसूत्र यजुर्वेद की ही शाखा में पाये जाते हैं। यजुर्वेद की अनेक शाखाओं में शुल्बसूत्रों का अस्तित्व पाया जाता है। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध एक ही शुल्बसूत्र है —कात्यायन शुल्बसूत्र, परन्तु कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध छः शुल्बसूत्र मिलते हैं — बौधायन, आपस्तम्ब, मानव, मैत्रायणीय, वाराह तथा वाधूल। इनके अतिरिक्त आपस्तम्ब शुल्ब (११। ११) की टीका में करविन्द स्वामी ने मशक शुल्ब तथा हिरण्यकेशी शुल्ब का उल्लेख किया है जो आजकल उपलब्ध नहीं है। आपस्तम्ब शुल्ब (६। १०) में हिरण्यकेशी शुल्ब से एक उद्धरण भी उपलब्ध होता है।

इन सात उपलब्ध सूत्रों में बौधायन शुल्ब ही सबसे बड़ा तथा सम्भवत सबसे प्राचीन शुल्बसूत्र है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में ११६ सूत्र हैं जिनमें मंगलाचरण के अनन्तर वर्णन है। शुल्ब में प्रयुक्त विविध मानों का (सूत्र ३–२१), याज्ञिकवेदियों के निर्माण के लिए मुख्य रेखागणितीय तथ्यों का (सूत्र २२ ६२) तथा विभिन्न वेदियों के क्रमिक स्थान तथा आकार प्रकार का वर्णन है (सूत्र ६३ ११६)। द्वितीय परिच्छेद में ८६ सूत्र हैं जिनमें वेदियों के निर्माण के सामान्य नियमों के बहुश वर्णन (१–६१ सूत्र) के पश्चात गार्हपत्यचिति तथा छन्दश्चिति[1] के बनावट का विवरण प्रस्तुत किया गया है। तृतीय परिच्छेद में ३२३ सूत्र है जिनमें काम्य इष्टियों के १७ प्रभेदों के लिए वेदि के निर्माण का विशद विवरण है। इनमें से कई वेदियों की रचना बड़ी ही पेचीदी है परन्तु अन्यों की रचना अपेक्षाकृत सरल है।

आपस्तम्ब का शुल्बसूत्र ६ पटल (अध्याय) में विभक्त है जिनके भीतर अन्य अवान्तर वर्ग हैं। इस प्रकार इसमें २१ अध्याय तथा २२३ सूत्र हैं। प्रथम पटल (१–३ अध्याय) में वेदियों की रचना के आधारभूत रेखागणितीय सिद्धान्तों का विवेचन है। द्वितीय पटल (४–६ अध्याय) वेदि के क्रमिक स्थान तथा उनके रूपों का वर्णन करता है। यहां इनके बनाने का ढंग या प्रक्रिया का जो विवरण दिया गया है। अन्तिम १२ अध्यायों में काम्य इष्टि के लिए आवश्यक विभिन्न वेदियों के आकार प्रकार का विशद विवेचन है। यहाँ बौधायन तथा आपस्तम्ब ने प्राय समस्त काम्येष्टियों का समान रूप से विवेचन किया है। अन्तर इतना ही है कि आपस्तम्ब की अपेक्षा बौधायन में अधिक विस्तार तथा विभेदों की रचना मिलता है। आपस्तम्ब अपेक्षाकृत सरल तथा सक्षिप्त है।

बौधायन के टीकाकार[2]

बौधायन के दो टीकाकारों का पता चलता है जिनमें से एक उतने प्राचीन प्रतीत नहीं होते, परन्तु दूसरे टीकाकार पर्याप्तरूपेण प्राचीन प्रतीत होते हैं—

---

१ 'छन्दश्चिति' मन्त्रों के द्वारा निर्मित वेदि है। इसमें वेदिका निर्माता बाज की आकृति वाली वेदि की रूपरेखा पृथ्वी के ऊपर खींचता है तथा मन्त्रों का उच्चारण करता है। ईंटों को रखने की वह कल्पना करता है अर्थात् मन्त्रों को पढ़ता जाता है तथा ईंटों को रखने की कल्पना करता है, परन्तु वस्तुत वह रखता नहीं। इसीलिए यह वेदि छन्दश्चिति के नाम से प्रसिद्ध है।

२ बौधायन शुल्बसूत्र (सटीक) को अंग्रेजी अनुवाद के साथ डा० थिबो ने प्रकाशित किया पण्डितपत्र में भाग ९ तथा १०।

(क) द्वारकानाथ यज्वा—ये आर्यभट से पश्चाद्वर्ती निश्चित रूप से प्रतीत होते हैं, क्योंकि इन्होंने अपनी टीका में आर्यभटीय के एक सिद्धान्त का निर्देश किया है। शुल्बसूत्र के अनुसार व्यास तथा परिधि का सम्बन्ध एक नियम में बताया गया है, परन्तु द्वारकानाथ यज्वा ने इस नियम में शोधन उपस्थित किया है जिससे π का मूल्य आधुनिक गणना के अनुसार ही ३.१४१६ तक सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य गणना के लिए भी यज्वा ने अपनी विमल प्रतिभा का परिचय दिया है। इस व्याख्या का नाम है - शुल्बदीपिका।

(ख) वेंकटेश्वर दीक्षित—इनकी टीका का नाम शुल्ब मीमांसा है। ये यज्वा की अपेक्षा अर्वाचीन ग्रन्थकार प्रतीत होते।

आपस्तम्ब[1] शुल्व के टीकाकार

टीका की दृष्टि से यह शुल्बसूत्र बहुत ही लोकप्रिय रहा है। इसके ऊपर चार टीकायें प्रसिद्ध हैं—

(क) कर्पर्दि स्वामी—इन टीकाकारों में ये ही सबसे प्राचीन प्रतीत होते हैं। इन्होंने इन ग्रन्थों की टीकायें की है —आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब सूत्र परिभाषा, दर्शपौर्णमास सूत्र, भरद्वाज गृह्यसूत्र आदि। शूलपाणि, हेमाद्रि तथा नीलकण्ठ ने इनके मत का उद्धरण अपने ग्रन्थों में दिया है। इस निर्देश से इनके समय का निरूपण किया जा सकता है। शूलपाणि का समय ११५० ई० के आसपास है। वदार्थदीपिका के रचयिता षड्गुरुशिष्य (११८४ई०—११९३ ई०) के ये गुरु थे। हेमाद्रि का भी काल १३ शती है, क्योंकि ये देवगिरि के राजा महादेव (१२६० ई०–१२७१ ई०) तथा उनके भतीजे और उत्तराधिकारी रामचन्द्र (१२७१ ई०–१३०९ ई०) के महामात्य थे। इस प्रकार शूलपाणि तथा हेमाद्रि के द्वारा उद्धृत किये जाने के कारण कर्पर्दि स्वामी का समय १२ वी शती से प्राचीन होना चाहिए। ये दक्षिण भारत के निवासी प्रतीत होते हैं। अपनी टीका में इन्होंने कतिपय नियमों तथा रचनाप्रकारों का सरल विवरण दिया है।

(ख) करविन्द स्वामी—इन्होंने आपस्तम्ब के पूरे श्रौत सूत्र के ऊपर अपनी व्याख्या लिखी हैं। इनके समय का निर्धारण अभी तक ठीक ढंग से नहीं किया जा सका है। इन्होंने बिना नाम निर्देश किये ही आर्यभट प्रथम (जन्मकाल ४७६ ई०) के ग्रन्थ आर्यभटीय (रचनाकाल ४९९ ई०) के कतिपय निर्देशों को अपने ग्रन्थ में

[1] प्रथम तीन टीकाओं के साथ मैसूर प्राच्य विद्या संशोधन संस्था द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ नं० ७३।

उल्लिखित किया है जिससे ये पञ्चम शती से अर्वाचीन तो निश्चित रूप से प्रतीत होते हैं। इनकी टीका का नाम शुल्व प्रदीपिका है और यह मूलग्रन्थ को समझने के लिए एक उपयोगी व्याख्या है।

(ग) सुन्दरराज—इनकी टीका का नाम 'शुल्वप्रदीप' है जो ग्रन्थकार के नाम पर 'सुन्दरराजीय' के भी नाम से प्रख्यात है। इनके भी समय का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इस ग्रन्थ के प्राचीन हस्तलेख का समय सम्वत् १६३८ (=१५८१ ई०) है जो तञ्जौर के राजकीय पुस्तकालय में (नं० ९१६०) सुरक्षित है। फलतः इनका समय १६वीं शती से प्राचीन होना चाहिए। इन्होंने बौधायन शुल्व के टीकाकार द्वारकानाथ यज्वा के कतिपय वाक्यों को अपनी टीका में उद्धृत किया है।

(घ) गोपाल—इनकी व्याख्या का नाम है—आपस्तम्बीय शुल्व भाष्य। इनके पिता का नाम गार्ग्य नृसिंह सोमसुत् है। इससे प्रतीत होता है कि ये कर्मकाण्ड में दीक्षित वैदिक परिवार में उत्पन्न हुए तथा कर्मकाण्डीय परम्परा से पूर्ण परिचित थे।

कातीय शुल्व के टीकाकार

कात्यायन शुल्व सूत्र का प्रसिद्ध नाम है कात्यायन शुल्व परिशिष्ट अथवा कातीय शुल्व परिशिष्ट। यह दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग सूत्रात्मक है तथा छः कण्डिकाओं में विभक्त होकर इसमें १०१ सूत्र हैं। इसमें वेदियों की रचना के लिए आवश्यक रेखागणितीय तथ्य, वेदियों का स्थान, क्रम तथा उनके परिमाण का पूरा वर्णन है। यहाँ काम्य इष्टियों की वेदियों का वर्णन नहीं है, क्योंकि कात्यायन ने श्रौतसूत्र के १७ वें अध्याय में इसका वर्णन पहिले ही किया है। द्वितीय खण्ड श्लोकात्मक है जिसमें ३९ श्लोक मिलते हैं। यहाँ मापने वाली रज्जुका, निपुण वेदिनिर्माता के गुणों का तथा उनके कर्तव्यों का तथा साथ ही साथ पूर्वभाग में वर्णित रचना-पद्धति का भी विवरण दिया गया है। इसी द्वितीय खण्ड का नाम 'कातीय परिशिष्ट' है क्योंकि इसमें पूर्वखण्ड के विषयों का संक्षेप में पुनः वर्णन दिया गया है। पूर्व दोनों शुल्वसूत्रों की अपेक्षा इसमें कतिपय रोचक विशिष्टता पाई जाती है। कात्यायन ने वेदि के निर्माण के आवश्यक समस्त रेखागणितीय नियमों का विवरण विशेष क्रमबद्ध रूप से यहाँ प्रस्तुत किया है।

इसके ऊपर पांच टीकायें उपलब्ध होती हैं—

(क) कर्कोपाध्याय भाष्य—(चौखम्भा से प्रकाशित)।

(ख) महीधर—महीधर काशी के रहने वाले प्रकाण्ड वैदिक थे। वेद तथा तन्त्र के विषय में इनके अनेक प्रौढ़ ग्रन्थरत्न आज भी मिलते हैं। इन्होंने अपने 'मन्त्र महोदधि' की समाप्ति १५८९ ईसवी में तथा विष्णुभक्ति कल्पलता-प्रकाश

की रचना १५९७ ईस्वी मे की। कातीय शुल्बसूत्रो की व्याख्या का रचनाकाल सवत् १६४६ (– १५८९ ईस्वी) है।

(ग) राम या राम वाजपेय—ये नैमिष (= लखनऊ के पास निमिखार) के निवासी थे। इन्होने बहुत से ग्रथो की रचना की है जिनमे मुख्य है—क्रमदीपिका, कुण्डाकृति (टीका के साथ), शुल्बवार्तिक, साख्यायन गृह्य पद्धति, समरसार (टीका के साथ) समरसारसग्रह, शारदातिलकतन्त्र की व्याख्या तथा कातीय शुल्बसूत्र की टीका। कुण्डाकृति की रचना का समय १५०६ विक्रमी (= १४४९ ईस्वी) दिया गया है। फलत राम के आविर्भाव का काल १५ शती का मध्य भाग है। राम अपने विषय के विज्ञपण्डित प्रतीत होते हैं। इन्होने शुल्बसूत्रो मे उल्लिखित $\sqrt{२}$ का जो मूल्य दिया है वह शुल्बसूत्र मे दिये गये मूल्य की अपेक्षा कही अधिक सूक्ष्म तथा ठीक है। शुल्ब के अनुसार $\sqrt{२}$ का मूल्य है—१ ४१४२१५६८६३ तथा राम के अनुसार $\sqrt{२}$ का मूल्य है –१ ४१४२१३५०२ । आजकल की गणना के अनुसार $\sqrt{२}$ का मूल्य है १ ४१४२१३५६ । इन तीनो की तुलना करने से स्पष्ट है कि शुल्बसूत्रों का निर्णय ५ दशमलव अको तक ही ठीक है, परन्तु राम की गणना ७ दशमलव अको तक ठीक उतरती है। यह टीकाकार की सूक्ष्म गणना पद्धति का विशद प्रतीक है।

(घ) गंगाधर कृत टीका।

(ङ) विद्याधर गौड रचित वृत्त (प्रकाशक अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, स० १९८४)।

शुल्बसूत्रों मे सबसे प्राचीन तथा महत्वपूर्ण ये ही तीनो ग्रथ है—बौधायन, आपस्तम्ब तथा कात्यायन के शुल्बसूत्र जिनके अनुशीलन से जैनधर्म के उदय से पूर्व भारतीय रेखागणित का विशिष्ट रूप आलोचको के सामने प्रस्तुत हो जाता है। इन तीनो मे अनेक नवीन तथ्यो का सकलन है जो एक दूसरे के परिपूरक हैं। इनसे अतिरिक्त शुल्बसूत्र उतने महत्वपूर्ण नही हैं तथा महत्त्व की दृष्टि से सामान्य ग्रथमात्र है। इन ग्रथो का परिचय इस प्रकार है—

(क) मानव शुल्बसूत्र—गद्य तथा पद्य से मिश्रित यह छोटा ग्रथ है। इनमे अनेक नवीन वेदियो का वर्णन मिलता है जो पूर्वोक्त ग्रथों मे नही मिलता। यहाँ 'सुपर्ण चिति' के नाम से उस प्रसिद्ध वेदि का वर्णन है जो 'श्येन चिति' के नाम से अन्यत्र प्रसिद्ध है।

(ख) मैत्रायणीय शुल्बसूत्र—मानव शुल्ब का यह एक दूसरा सस्करण है। दोनो का विषय ही एक समान नहीं है, बल्कि दोनो मे एक समान श्लोक भी मिलते हैं। परन्तु दोनों मे कतिपय अन्तर भी है विशेषत क्रम व्यवस्था मे।

(ग) बाराह शुल्बसूत्र--यह मानव तथा मैत्रायणीय शुल्ब के समान ही है। कृष्णयजु से सम्बद्ध होने के कारण इन तीनों में समानता होना कोई आश्चर्य की घटना नहीं है।

टीकाकार--काशी के निवासी तथा नारद के पुत्र शिवदास ने मानव शुल्बोपर एक टीका लिखी है। शिवदास के अनुज शंकर भट्ट ने मैत्रायणीय शुल्ब पर टीका रची है। दोनों भाइयों ने अपनी टीकाओं में राम वाजपेय के मत का उल्लेख किया है जो निश्चय ही कात्यायन शुल्ब के टीकाकार राम ही है। शिवदास ने वेदभाष्यकार सायण के मत का उल्लेख किया है जिससे इनका समय १४ शती से पूर्ववर्ती नहीं हो सकता। शुल्बसूत्रों से सम्बद्ध यही प्राचीन साहित्य है।

चितिविद्या

यज्ञयाग का अनुष्ठान प्रत्येक वैदिक आर्य के लिए प्रधान कर्त्तव्य था। अग्नि की उपासना वैदिक धर्म का मेरुदण्ड है। अग्नि की उपासना करने के लिए अर्थात् यज्ञके पूर्ण अनुष्ठान के लिए वेदि की रचना नितान्त आवश्यक होती है। प्रत्येक यज्ञके लिए वेदि का आकार निश्चित रहता है कि वह वर्गाकार होगी या आयताकार या वृत्ताकार। इतना ही नहीं, उसमें ईंटों की संख्या तथा ईंटों के आकार का भी निर्धारण किया गया था। जिस आकार की जितनी ईंटें किसी विशिष्ट वेदि के निर्माण के लिए निर्दिष्ट थीं उनका ठीक ठीक जानना एकदम जरूरी होता था (यावतीर्वा यथा वा) इसमें त्रुटि होने पर यज्ञ का विधान न पूर्ण माना जाता था और न वह उद्दिष्ट फल देने की क्षमता ही रखता था। इसीलिए वैदिक कर्मकाण्ड में वेदिनिर्माण एक महत्त्व शाली कला है। वेदि के निर्माण का पारिभाषिक नाम है, अग्निचयन या केवल चिति तथा उसके निर्माण में कुशल व्यक्ति का नाम है--अग्निचित्।

यज्ञ दो प्रकार का होता है--नित्य तथा काम्य। नित्य यज्ञ के अनुष्ठान न करने से प्रत्यवाय होता है जिसमें उसका साधन करना प्रत्येक द्विज का कर्त्तव्य होता था। काम्य इष्टि किसी कामना विशेष से किये जानेवाले यज्ञ का साधारण अभिधान था। इसके अन्तर्गत तीन प्रकार के यज्ञ प्रधान थे --(१) इष्टियाग--प्रत्येक अमावास्या तथा पूर्णमासी के दिन फल, घी आदि नाना द्रव्यों से अग्नि का हवन किया जाता था। (२) पशुयाग (या निरूढ पशुबन्ध) जो प्रतिवर्ष किया जाता था, विशेषत वर्षा ऋतु में अमावास्या या पूर्णमासी के दिन। (३) सोमयाग--यह यज्ञ बहुत विशाल तथा व्ययसाध्य होता था और इसलिए यह प्राय कम किया जाता था। परन्तु प्रत्येक हिन्दू के घर में तीन पीढ़ियों में एक बार तो इसे करना बहुत ही आवश्यक माना जाता था। प्रत्येक याग के लिए वेदि-विधान आवश्यक होने से वैदिक युग में नाना आकृति वाली अनेक वेदियाँ बनाई जाती थीं। नित्य याग के लिए इन तीन

अग्नियों की स्थापना की जाती थी—(क) गार्हपत्य, (ख) आवहनीय तथा (ग) दक्षिण। गार्हपत्य की वेदि किन्हीं आचार्यों के मत में वर्गाकार होती थी और अन्य आचार्यों के मत में वृत्ताकार होती थी। आवहनीय की वेदि सदा वर्गाकार होती थी तथा दक्षिणाग्नि की वेदि अर्धवृत्ताकार होती थी। आकार में विभिन्नता होने पर भी उनका क्षेत्रफल एक समान ही होता था। वह नियत क्षेत्रफल था एक वर्गव्याम (व्याम ९६ अंगुलि)। इसी प्रकार सौमिकी वेदि (जो महावेदि के नाम से भी प्रख्यात थी) आकार में समद्विबाहुचतुर्भुज (Trapezium) होती थी। जिसका सामना होता २४ पद, आधार ३० पद तथा ऊँचाई होती थी ३६ पद। सौत्रामणी वेदि इस महावेदि के क्षेत्रफल का तृतीयांश होती थी तथा पैतृकी वेदि सौत्रामणी का नवमांश होती थी। प्राग् वंश आयताकार होता था।

काम्य इष्टियों के अनेकविध होने से उनके लिए व्यवहृत होने वाली वेदियों की भी आकृतियाँ नाना प्रकार की होती थीं। इनमें श्येनचिति एक आदर्श वेदि मानी जाती थी। इस वेदि का शरीर होता था चार वर्ग पुरुष (पुरुष = व्याम = ९६ अंगुलियाँ)। दोनों पक्षों में होता था एक वर्ग पुरुष तथा एक 'अरत्नि' (=पुरुष का $\frac{1}{5}$) से बना आयत तथा पुच्छ होता था एक वर्ग पुरुष तथा एक 'प्रादेश' (=पुरुष का $\frac{1}{10}$) से बना आयत। दूर से देखने में यह चिति बाज पक्षी के आकार के समान प्रतीत होती थी और इसीलिये दूसरा अन्वर्थक नाम था श्येनचिति (=बाज की आकृति वाली वेदी)। इस आदर्श वेदि का आयाम ७½ वर्ग पुरुष होता था और इसीलिए इसका पूरा नाम था – सप्तविध सारत्नि-प्रादेश चतुरस्र श्येनचित्, जो इसके रूप तथा परिमाण का पूरा परिचायक था।

अन्य काम्येष्टियों के लिये विभिन्न आकार की वेदियाँ बनाई जाती थीं जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—(१) वक्रपक्ष व्यस्तपुच्छ श्येन (अर्थात् पखों को टेढ़ा करने वाला तथा पूँछ को फैलाने वाला बाज), (२) प्रउग (समद्विबाहु त्रिभुज), (३) उभयत प्रउग (दोनों ओर से समद्विबाहु त्रिभुज या Rhombus), (४) परिचाय्य (=वृत्ताकार), (५) कूर्म (कछुआ की आकृति वाली वेदि) आदि। परन्तु इन समस्त प्रभेदों में वही क्षेत्रफल होना चाहिये जो आदर्श वेदि (=श्येन चिति) का होता था, अर्थात् ७½ वर्ग पुरुष।

ये वेदियाँ ईंटों के द्वारा रची जाती थीं जिनके पाँच तह होते थे और इस प्रकार वेदियाँ साधारण रीति से घुटनों तक ऊँचाई में होती थी, अर्थात् ३२ अंगुलि)। ईंटों की संख्या में तथा उनके आकार में भी भिन्नता रहती थी (इष्टका यावतीर्वा यथा वा)। वर्गाकृति गार्हपत्य वेदि के प्रत्येक तह में २१ ईंट लगाये जाते थे, जो या तो वर्गाकार होते थे या आयताकार। चौकोनी श्येनचिति में २०० वर्गाकार ईंटें हर

एक तह मे लगाये जाते थे। काम्य इष्टि की वेदियो के रूप मे भले ही अन्तर हो, परन्तु इनमे ईंटो की संख्या सदा २०० होती थी। इस नियम का पालन करना अनिवार्य था। कभी कभी एक ही वेदि भिन्न-भिन्न आकार मे बनाई जाती थी, (ऊपर कहा गया है कि काम्य अग्नि का क्षेत्रफल सदा ७½ वर्ग पुरुष होता था, परन्तु यह प्रथम रचना के समय की बात है। दूसरी बार रचना के समय यह क्षेत्रफल एक वर्गपुरुष और बढा दिया जाता था। तृतीय रचना मे दो वर्गपुरुष और बढा दिये जाते थे। इसी प्रकार १०१½ वर्गपुरुष तक यह वृद्धि की जाती थी। चितिविद्या या अग्निचयन का यह सक्षिप्त परिचय शुल्वसूत्रो के आधार पर है।

चितिविद्या का उद्भव

ऐतिहासिको के लिये ध्यान देने की बात यह है कि चितिविद्या का यह उद्भव शुल्वसूत्र युग (६०० ई० पू०-४०० ई० पू०) से भी प्राचीनतम काल मे हुआ था। तथ्य तो यह है कि अग्निचयन वैदिक कर्मकाण्ड का मौलिक उपकरण है। इसके बिना किसी भी यागविधान की कल्पना नही की जा सकती। वेदो का सकलन भी यागविधान की ही दृष्टि से किया गया है (वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता)। वेदो की प्रवृत्ति यज्ञो के लिये है। फलत वैदिक युग के अत्यन्त प्राचीन काल मे भी वेदि की रचना अज्ञात कला नही थी। अतएव शुल्वसूत्रो मे उपलब्ध होने पर भी अग्निचिति का इतिहास उससे कही अधिक प्राचीन है, इसकी कल्पना हम भली-भाँति कर सकते है। इसके लिए यथेष्ट प्रमाण भी बहुश उपलब्ध हो रहे हैं।

शुल्वसूत्र अपने नियमो की परिपुष्टि मे अनेक स्थलो पर 'इति ह विज्ञायते' कहकर ब्राह्मण ग्रथो के अपने आधारो की ओर सकेत करते हैं। डा० गार्बे ने सप्रमाण दिखलाया है कि आपस्तम्ब शुल्वसूत्र मे दिये गये उद्धरण तैत्तिरीय ब्राह्मण अथवा तैत्तिरीय सहिता के ब्राह्मणतुल्य भागो अथवा तैत्तिरीय आरण्यक से अक्षरश मिलते है। बौधायन शुल्व ने तो स्पष्ट रीति से विशिष्ट अन्य ब्राह्मणो का नाम निर्देश कर अपने ब्राह्मण (अर्थात् तैत्तिरीय ब्राह्मण) को अपने तथ्यो की पुष्टि मे उद्धृत किया है। कात्यायन शुल्वसूत्र मे 'इति श्रुति', कहकर दो स्थलो पर श्रुति का प्रामाण्य उपस्थित किया गया है। निश्चित है कि शुल्वसूत्रो ने सहिता तथा ब्राह्मणों मे प्रदत्त वर्णन के आधार पर अपने नियमो का विवरण दिया है।

अग्निचयन का प्राचीनतम इतिहास सहिता तथा ब्राह्मणों के अध्ययन से स्पष्टत. परिज्ञात हो सकता है। ऋग्वेद मे इस विद्या का उल्लेख नही मिलता, परन्तु यजुर्वेद मे इसकी नि सदिग्ध स्थिति है। विषय भी वही है जो शुल्वसूत्रो मे ऊपर विवेचित हुआ है। कारण स्पष्ट है। यजुर्वेद तो वैदिक कर्मकाण्ड का आधारपीठ है और

इसीलिए अग्निचयन का वहाँ विशद तथा विस्तृत विवेचन आश्चर्य का विषय नही है। ऋग्वेद मे वेदि मे अग्नि के जलने का सामान्य उल्लेख ही नही, प्रत्युत आहवनीयादि त्रिविध वेदियो का स्पष्टत निर्देश इस मन्त्र मे मिलता है—

यज्ञस्य केतु प्रथम पुरोहितमग्नि नरस्त्रिषधस्थे समिधिरे।

(ऋग्वेद ५।११।२)

इस मन्त्र मे 'त्रिषधस्थ' का तात्पर्य उस अग्नि से है जो तीन स्थानो मे स्थित किया जाता है। यह त्रिविध अग्नि का विशद उल्लेख है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो मे (१।१५।१२, ६।१५।१९ तथा १०।८५।२७) 'गार्हपत्य' अग्नि के नाम का निर्देश भी किया गया है। तैत्तिरीय सहिता तथा तत्सम्बद्ध ब्राह्मणो मे अग्नि की नाना वेदियो के रूप का स्पष्ट निर्देश किया गया है। ऋग्वेद के काल मे इस प्रकार गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि का सकेत स्पष्ट रूप से मिलता है। इनके स्थानक्रम का वर्णन शतपथ ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्रो मे इसी रूप मे पाया जाता है। तैत्तिरीयसहिता (६।२।४।५), मैत्रायणी सहिता (३।८।४), कठसहिता (२५।३) तथा कपिष्ठल सहिता (३८।६) मे सौमिकी वेदि ('महावेदि') का वही आकार वर्णन मिलता है जो ऊपर शुल्बसूत्रों के आधार पर दिखलाया गया है। तैत्तिरीय सहिता मे श्येनचिति का भी वर्णन वही है जो ऊपर दिया गया है। शतपथ मे यह सुपर्ण गरुत्मान् (सुन्दर पख वाले पक्षी) के नाम से उल्लिखित किया गया है। फलत यह तो निश्चित है कि त्रेता अग्नि का सामान्य रूप तो ऋग्वेदकाल (४००० ई० पूर्व) मे ही ज्ञात था, परन्तु अग्निचयन का विधा रूप से परिशीलन तथा उदय तैत्तिरीय सहिता के प्राचीन काल (३००० ई० पू०) की एक सुव्यवस्थित तथा प्रामाणिक घटना है। ब्राह्मण युग मे इस विद्या की और भी उन्नति हुई जिसका परिचय हमे शतपथ ब्राह्मण के अध्ययन से होता है। १४ काडात्मक शतपथ के तीन भाग से अधिक भाग मे ५ अर्थात् काण्डो का (६१० काण्ड) अग्निचयन से पूरा सम्बन्ध है। गार्हपत्य की वेदि एक वर्ग व्यास (=पुरुष) की वृत्ताकार होती है तथा आहवनीय वेदि उसी आकार की वर्गाकार की होती है—इस तथ्य का स्पष्ट वर्णन शतपथ ब्राह्मण (७।१।१।३७, ७।२।२।१) मे सबसे पहिले उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय सहिता (५।२।५।१) मे आहवनीय के एक वर्गपुरुष होने का सकेत मिलता है। व्याम तथा पुरुष एक ही परिमाण के सूचक हैं (=९६ अगुलियाँ)।

इस विशिष्ट अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि शुल्बसूत्रो मे वर्णित वेदियो का आकार-प्रकार कोई नई वस्तु न होकर सहिताकालीन परम्परा की एक विशिष्ट शृंखला है। इस प्रकार इस वर्णन के आधारभूत सिद्धान्तों की सत्ता केवल शुल्वो के ही युग के लिए मान्य नही है, प्रत्युत वह तैत्तिरीय सहिता (२००० ई० पू०)

तथा शतपथ ब्राह्मण (२००० ई० पू०) युग में भी उसी प्रकार मान्य तथा अनिवार्य थी। अब इन आधारभूत मौलिक तथ्यों का वर्णन आगे किया जायगा।

चिति के मूलस्थ रेखागणितीय तथ्य

अग्निचयन के लिए दिये गये नियमों के अध्ययन करने से प्राचीन भारतीय रेखागणित-सम्बन्धी अनेक तथ्यों का ज्ञान हमें होता है। ये तथ्य जब तक सिद्ध नहीं माने जाँयगे तब तक वह यज्ञीय वेदि की रचना कथमपि साध्य कोटि में नहीं आती। ये तथ्य कल्पना-प्रसूत नहीं हैं प्रत्युत प्रयोगों के द्वारा सिद्ध किये गए हैं। इनमें से मुख्य तथ्यों का यहाँ संकेत किया जाता है —

(१) दी गई सीधी रेखा के ऊपर वर्ग बनाना।

(२) वर्ग को वृत्त में परिवर्तन करना अथवा वृत्त को वर्ग के रूप में बदलना। यह पता लगता है आहवनीय तथा गार्हपत्य अग्नि की रचना के प्रसंग से। आहवनीय वर्गाकार वेदि है तथा गार्हपत्य वृत्ताकार। दोनों का रूप भले ही भिन्न हो, परन्तु इनका क्षेत्रफल समान ही रहता है। फलतः इन दोनों वेदियों का निर्माण इस तथ्य के आधार पर ही आश्रित है।

(३) दी गई भुजाओं वाला आयत बनाना।

(४) समद्विबाहु Trapezium (विषम चतुर्भुज) बनाना जिसका सामने का आकार, आधार तथा ऊँचाई दी गई है तथा इसका क्षेत्रफल निकालना।

(५) दिये गए वर्ग से कई गुना बड़े वर्ग की रचना करना।

(६) एक आयत को वर्गों के रूप में बदलना अथवा वर्ग को आयत के रूप में बदलना।

(७) वर्ग के समान क्षेत्रफल वाले त्रिकोण या Rhombus (समचतुर्भुज) की रचना करना।

(८) सबसे महत्त्वपूर्ण रेखागणितीय नियम यही है—आयत के कर्ण (Diagonal) के ऊपर बनाया गया वर्ग क्षेत्रफल में उन दोनों वर्गों के योग के समान होता है जो इस आयत के दोनों भुजाओं के ऊपर बनाये जाते हैं।

यह सिद्धान्त पश्चिमी रेखागणित में बहुत ही प्रसिद्ध है—जिसके सर्वप्रथम सिद्ध करने का श्रेय ग्रीस देश के प्रख्यात गणितज्ञ तथा दार्शनिक पाइथेगोरस (५३२ ई० पू०) को दिया जाता है और इसीलिए यह सिद्धान्त 'पाइथेगोरसीय सिद्धान्त' के नाम से बहुत प्रसिद्ध है, यद्यपि आधुनिक अनुसंधान से पाइथेगोरस इसके वास्तव उद्भावक प्रमाणित नहीं होते। पश्चिमीय गणित में यह समकोण त्रिभुज के कर्ण (Hypotenuse) के वर्ग से सम्बद्ध माना जाता है। परन्तु शुल्बसूत्रों में इसका निरूपण आयत के कर्ण

(Diagonal) के वर्ग के सम्बन्ध मे किया गया है। बौधायन, आपस्तम्ब तथा कात्यायन ने प्राय समान शब्दो मे इस नियम का निर्देश किया है। कात्यायन शुल्व-सूत्र का प्रतिपादन इस प्रकार है[1]—

दीर्घचतुरस्रस्याक्ष्णया रज्जु निर्यङ्मानी पार्श्वमानी च यत् पृथग्भूते कुरुतस्तदुभय करोतीति क्षेत्रज्ञानम् (कात्या० शुल्व २।११)।

इस नियम का अक्षरश अर्थ यही है कि आयत का कर्ण दोनो क्षेत्रफलो को उत्पन्न करता है जिसे उसकी लम्बाई तथा चौडाई अलग अलग उत्पन्न करती हैं।

इस नियम की कल्पना वैदिक ऋषियो को आकस्मिक नही हो गई, प्रत्युत इसकी खोज उन्होंने युक्तियो तथा प्रमाणो के आधार पर की थी इसका भी परिचय हमे शुल्वसूत्रो के अध्ययन से लगता है। कात्यायन शुल्व ने दो नियमो का उल्लेख किया है जो पूर्वोक्त सिद्धान्त का प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त माने जा सकते हैं—

(१) एक आयत लो जिसकी चौडाई एक पाद है और लम्बाई तीन पाद है। इसका कर्ण (diagonal) दसगुने को उत्पन्न करने वाला है अर्थात् यह एक पदवाले वर्ग के दस गुना वर्ग उत्पन्न करता है—

$$१^२ + ३^२ = १०$$

(२) एक आयत लो जिसकी चौडाई दो पाद है तथा लम्बाई ६ पाद है। इसका कर्ण ४० गुने को उत्पन्न करता है अर्थात् एक पाद वाले वर्ग के चालीस गुने वर्ग को पैदा करता है—

$$२^२ + ६^२ = ४०$$
$$४ + ३६ = ४०$$

ये दोनों नियम[2] इस बात के पर्याप्त पोषक हैं कि शुल्वसूत्रों के युग मे पाइथेगोरस का सिद्धान्त प्रमाणों के आधार पर निर्धारित किया गया था। यह कल्पना प्रसूत सत्य नहीं है, प्रत्युत प्रयोगसिद्ध है।

ऊपर चितिविद्या के प्रसग मे दिखलाया गया है कि त्रेता अग्नि की उपासना ऋग्वेदीय युग मे विस्तार से होती थी। फलत. ऋग्वेद (४००० ई० पू०) के युग में भी इस रेखागणितीय तथ्य की उद्भावना हो चुकी थी। भारतीयों ने ज्यामिति सम्बन्धी नियमों को सबसे पहिले खोज निकाला था—इसका यह विशद निदर्शन है।

१ बौधायन शुल्व १।४८ तथा आपस्तम्ब शुल्व।

२ द्रष्टव्य कात्यायन शुल्वसूत्र २।८–९।

इस विषय का वैज्ञानिक वर्णन डाक्टर विभूतिभूषण दत्त ने अपने गवेषणापूर्ण मौलिक ग्रंथ 'The Science of the Sulba' में बड़े विस्तार के किया है।[1]

(९) वृत्तखंड की ज्या और इस पर से खींचे गए कोदंड तक के लम्ब के ज्ञात होने पर (१) वृत्त का व्यास निकालना और (२) वृत्त खंड का क्षेत्रफल निकालना। ये दोनों विधियों को ब्रह्मगुप्त ने दिया है।

त्रिकोणमिति—भारतीयों को त्रिकोणमिति का ज्ञान बहुत ही व्यापक था। इन लोगों ने ज्या (Sine) और उत्क्रम ज्या (Reversed Sine) की सारिणियां बना ली थी जिनमें वृत्तपाद (Quadrant) के चौबीसवें भाग तक का प्रयोग है। ज्या को अंग्रेजी में (Sine) कहते हैं जिसकी उत्पत्ति संस्कृत-पर्याय शिञ्जिनी के अरबी रूपान्तर से हुआ है। ज्याओं का प्रयोग प्राचीन यूनानी नहीं जानते थे। प्राचीन भारतवासियों की ज्योतिष सारिणियों से सिद्ध होता है कि गोलीय (Spherical) त्रिकोणमिति से भी पूर्ण परिचित थे।

Coordinate Geometry

पश्चिमी जगत् में ठोस ज्यामिति के सिद्धान्तों के पता लगाने का श्रेय फ्रांस के प्रसिद्ध तत्त्वज्ञ डेकार्ते (१५९६–१६५० ई०) को दिया जाता है। परन्तु भारतवर्ष में वाचस्पति मिश्र ने इस ज्यामिति के नियमों का ऊहापोह इससे लगभग आठ शताब्दी पूर्व किया। वाचस्पति ने किसी भी अण्ड की दैशिक स्थिति के निर्णय करने के लिए जिस नियम का उल्लेख किया है, उसके आधार पर डा० ब्रजेन्द्रनाथ सील ने यह तथ्य निकाला है[2]।

(३) फलित ज्योतिष

ज्योतिष को प्रतिपाद्य तीन ही मुख्य शाखायें हैं जिनके नाम वराहमिहिर के अनुसार हैं—(क) सिद्धान्त, (ख) संहिता, (ग) होरा। इस वर्गीकरण के कारण ज्योतिष 'त्रिस्कन्ध' कहलाता है।

(क) जिस शाखा में गणित-द्वारा ग्रहों की आकाशीय स्थिति का निर्धारण किया जाता है उसे सिद्धान्त कहते हैं। कालगणना, ग्रहगति-गणना, अङ्कगणित,

---

१ Dr B Datta - Science of the Sulba, Calcutta University, Calcutta 1932.

२ द्रष्टव्य उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ—Positive Sciences of Ancient Hindus (नया स० मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६५)।

बीजगणित, रेखागणित, पृथ्वी-नक्षत्र ग्रहों की सस्था का निरूपण तथा ग्रहवेध के लिए यन्त्रों का निर्माण—आदि अनेक वस्तु सिद्धान्त के प्रतिपाद्य है। 'तन्त्र' तथा 'करण' का भी अन्तर्भाव इस स्कन्ध मे किया जाता है। 'तन्त्र मे युगादि से काल गणना करके ग्रहों का आनयन किया जाता है[1], परन्तु 'करण मे किसी नियत शकवर्ष से ही ग्रहों का साधन किया जाता है। उदाहरणार्थ सूर्यसिद्धान्त है सिद्धान्त ग्रन्थ, आर्य भटीय आदि है तन्त्र ग्रंथ तथा ग्रहलाघव केतकी ग्रहगणित आदि 'करण ग्रन्थ' हैं।

(ख) सहिता—ज्योतिष की जिस शाखा मे ग्रहों की तात्कालिक स्थिति से सुभिक्ष दुर्भिक्ष, राष्ट्रीय लाभ तथा हानि आदि पूरे राष्ट्र के लिए उपयोगी सार्वभौम शुभाशुभ फलों का निर्देश किया जाता है, उसे सहिता' कहते हैं। वराहमिहिर ने 'सहिता' के प्रतिपाद्य विषयों के अन्तर्गत अनेक विषयों का विवरण दिया है जिनमे राष्ट्र की समृद्धि तथा अकाल सूचक ग्रहचारों के अतिरिक्त वास्तु विद्या अङ्गविद्या (जैनियों की अगविज्जा') वायसविद्या, प्रासादलक्षण प्रतिमालक्षण, वृक्षायुर्वेद, दकार्गल (पृथ्वी मे पानी मिलने वाले स्थानों का निर्देश) आदि विचित्र तथ विलक्षण (आधुनिक दृष्टि से) विद्यायें सनिविष्ट मानी जाती है।[2] प्राचीनकाल मे यही स्कन्ध प्रमुख माना जाता था और इसलिए इस शाखा के लेखक आचार्यों की एक लम्बी परम्परा उपलब्ध होती है। ऐसे आचार्यों मे काश्यप, गर्ग, देवल, पराशर, वृद्धगर्ग, वसिष्ठ आदि के नाम ही उपलब्ध नही होते, प्रत्युत भट्टोत्पल की व्याख्या के अनुसार इनके लम्बे लम्बे उद्धरण भी मिलते है। यह इस बात का प्रमाण है कि ये ग्रंथ दशम शती के उत्तरार्ध तक उपलब्ध होते थे जब भट्टोत्पल ने वराहमिहिर के ग्रंथों पर अपनी विशिष्ट विवृतिया लिखी। वराहमिहिर की बृहत् सहिता इस स्कंध का सर्वप्रमुख ग्रंथ है जिसके उदय ने प्राचीन सहिताओं को निरस्त कर दिया।

(ग) होरा—अंग्रेजी के घटावाची शब्द का उच्चारण उसके आदि अक्षर के अनुच्चरित होने के हेतु 'अवर' है परन्तु उसका आद्यवर्ण हकार है (Hour हवर)। इसी शब्द से होरा' शब्द की उत्पत्ति आज मानी जाती है। परन्तु वराहमिहिर का कहना है कि 'अहोरात्र' शब्द के आदि तथा अन्त वर्णों के लोप हो जाने से 'होरा' निष्पन्न होता है और इसलिए यह सस्कृत शब्द है, यूनानी नही। 'होरा' की आधुनिक सज्ञा 'जातक' है। ज्योतिष की जिस शाखा मे प्राणी के जन्मकालिक ग्रहों की स्थिति से उसके जीवन मे घटित होने वाली अतीत, भविष्य तथा वर्तमान बातें बताई

---

१ द्रष्टव्य बृहत्-सहिता, प्रथम खड उत्पलटीका पृ० ६३ ६४।

२ द्रष्टव्य वही पृ० ७०–७३।

जाती हैं वह जातक (जात–क) कहलाता है।[1] होरा के ही अन्तर्गत अरबी भाषा मे अनूदित ताजिक शास्त्र भी है। ताजिक मे किसी मनुष्य के वर्षप्रवेश-काल की ग्रहस्थिति पर से वर्षभर मे होने वाले शुभाशुभ का तथा प्रश्नकालिक ग्रहस्थिति से फलादेश का विचार किया जाता है। इस शास्त्र के समस्त पारिभाषिक शब्द अरबी भाषा के ही हैं।

इन तीनो स्कन्धो मे सिद्धान्त के ऊपर दैवज्ञो का विशेष आग्रह होने से उसका साहित्य विपुल है। संहिता आरम्भ मे बडी महत्त्वपूर्ण शाखा मानी जाती थी, पर अब उसका आदर नही है। होरा तथा मुहूर्त आदि का सम्मिलित अभिधान फलित ज्योतिष है।

जातक का उदय वराहमिहिर से मानना ऐतिहासिक दृष्टि से यथार्थ नहीं है। बृहज्जातक मे वराह ने पराशर को दो बार उद्धृत किया है। उसकी टीका मे भट्टोत्पल ने गार्गी, बादरायण, याज्ञवल्क्य तथा माण्डव्य के जातक सम्बन्धी वचनों को उद्धृत किया है जो वराहमिहिर से पूर्वकालीन हैं। बृहज्जातक (७।७) मे वराह ने विष्णुगुप्त का संकेत किया है जिसे भट्टोत्पल चाणक्य के साथ अभिन्न मानते हैं। यदि यह अभेदकल्पना प्रामाणिक हो, तो आर्य चाणक्य के समय मे विक्रमपूर्व चतुर्थ शती मे जातक स्कन्ध का उदय सम्पन्न हो गया था।

वराहमिहिर

फलित ज्योतिष के प्राचीन आचार्यों मे वराहमिहिर का महत्त्व सर्वातिशायी है। इन्होंने सिद्धान्त के विषय मे दो ग्रंथों का निर्माण किया है पञ्चसिद्धान्तिका तथा 'जातकार्णव'। दोनों करण-ग्रंथो मे 'पञ्चसिद्धान्तिका' विश्रुत तथा प्रकाशित है, परन्तु 'जातकार्णव' आज भी काठमाण्डू (नेपाल) के वीर पुस्तकालय में हस्तलेख के रूप मे ही प्राप्त है। वराहमिहिर की विशेष अभिरुचि फलित ज्योतिष की ओर थी और इस स्कन्ध की समृद्धि मे उनका विशेष हाथ है। होरा (जातक) के विषय में इनका (१) बृहज्जातक[2] ग्रंथ सर्वमान्य तथा लोकप्रिय है जिसमें जन्मकुण्डली का विचार विस्तार से किया गया है। इसी का लघुरूप है (२) लघुजातक और इन दोनों के ऊपर भट्टोत्पल की व्याख्या प्रकाशित है। (३) बृहद् यात्रा (योगयात्रा) का प्रधान विषय राजाओं की युद्धविषयक यात्रा है और इस विषय में इसका प्रामुख्य है। युद्ध मे सफलता के प्रतिपादक ग्रहों तथा मुहूर्तों का सुन्दर विवेचन इस ग्रंथ का

१ द्रष्टव्य बृहत्-संहिता प्रथम भाग पृ० ६६–६९।

२. भट्टोत्पल की टीका के साथ प्रकाशित काशी मे तथा अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित 'सेक्रेड बुक्स आफ हिन्दूज' ग्रंथमाला में प्रयाग से।

वैशिष्ट्य है। (४) बृहद्-विवाह-पटल[1] ग्रंथ में नामानुसार ही विवाह का विवेचन है तथा शुभाशुभ सूचक लग्नों तथा मुहूर्तों का विवरण है। इन ग्रंथोंके प्रनयन के अनन्तर[2] वराहमिहिर ने अपनी प्रतिभा तथा वैदुषी का द्योतक वह ग्रन्थ लिखा जिसके कारण उनका नाम ज्योतिष क इतिहास में अमर है। वह ग्रंथ है—बृहत्-संहिता जो ग्रंथकार के नाम से 'वराही संहिता' भी कहलाता है।

बृहत्संहिता—वराहमिहिर के अलौकिक पाण्डित्य, विस्तृत ज्ञान तथा विशाल दृष्टिकोण के पूर्ण परिचायक होने से निश्चित रूपेण एक अद्भुत ग्रंथ है। यह वस्तुतः प्राचीन भारत का ज्ञान-विज्ञान का एक विश्वकोष[3] ही है जिसमें उस युग की नाना विद्याओ का विशाल समुच्चय एकत्र किया है। इसकी लोकप्रियता के कारण तत्-प्राचीन संहिताओं का लोप ही हो गया। संहिता स्कन्ध का यही एकमात्र प्रतिनिधि ग्रंथ है। ग्रंथ मे एक सौ छः अध्याय हैं। प्रारम्भिक अध्यायों मे राजा के लिए फलित ज्योतिषी की विशेष आवश्यकता बतलाई गई है। जिस प्रकार प्रदीप-हीन रात्रि तथा आदित्य-विहीन आकाश होने पर मनुष्य रास्ते मे अन्धे के समान घूमता रहता है और अपने गन्तव्य स्थान को नहीं पाता, उसी प्रकार ज्योतिष रहित राजा की दशा है। इनका तो दृढ निश्चय है कि सांवत्सरिक (वर्षफल बतलाने वाले ज्योतिषी से विहीन देश में कल्याणकामी व्यक्ति को कभी वास नहीं करना चाहिये। ज्योतिष देश की आँख है। उसके निवास-स्थान पर कभी कोई पाप नहीं कर सकता। फलतः फलित ज्योतिष को वराहमिहिर बड़े ही गौरव तथा सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

फलित ज्योतिष के अनेक प्रामाणिक ग्रंथ उस युग मे विद्यमान थे जिनमें 'वृद्धगर्ग संहिता' या गार्गी संहिता पर्याप्त रूपेण प्रसिद्ध थी। इसके अनेक उद्धरण यहाँ मिलते हैं। ग्रंथ १०६ अध्यायो में विभक्त है जिनमें ग्रह नक्षत्रो की गति का, मानव जीवन पर उनके प्रभाव का तथा भू-गति का वर्णन उपलब्ध होता है। सामान्यत विषयों के निर्देश पर दृष्टि डालने से उनकी व्यापकता तथा विशालता का परिचय किसी को

१ सरस्वती भवन मे एतन्नामक ग्रंथ किसी पीताम्बर द्वारा प्रणीत उपलब्ध है। ये वराहमिहिर के पश्चात्कालिक ग्रंथकार हैं।

२. द्रष्टव्य बृहत्संहिता १।१० तथा उसकी भट्टोत्पली टीका।

३. डा० कर्नद्वारा सम्पादित, कलकत्ता १८६२ ई०, विजयनगरम् संस्कृत ग्रंथमाला काशी में म० म० सुधाकर द्विवेदी द्वारा दो भागों में सम्पादित (१८९५ ई०—१८९७ ई०) इसी का नवीन परिशोधित सं० (प्र० वाराणसेय संस्कृत विश्व-विद्यालय, वाराणसी १९६८)

आलोचक को हो सकता है। इसमे सूर्य की गति, चन्द्रमा के परिवर्तन तथा ग्रहों से युति तथा ग्रहण का वर्णन किया गया है। भिन्न भिन्न नक्षत्रो का मानव जीवन तथा भाग्य के ऊपर जो प्रभाव पडता है उसका वर्णन कर भारतीय भूगोल का संक्षिप्त तथा रोचक वर्णन भी है (अ० १४)। राजाओ के युद्ध तथा भाग्य, विपत्ति आदि सूचक ग्रहो की योजना बतलाई गयी है तथा वस्तुओ के भाव में वृद्धि तथा न्यूनता का भी निर्देश है। तालाब खोदवाना, बागीचा लगवाना, मूर्ति-निर्माण, गृह निर्माण आदि का वर्णन अनेक अध्यायो का विषय है (अ० ५३–५९) उसके अनन्तर बैल, कुत्ता, मुर्गा, कछुआ, घोडे, हाथी, मनुष्य तथा स्त्रियो के विशिष्ट चिह्नों का विवरण है (६१-७) क्षत्रियो की प्रशंसा मे एक बडा ही कवित्वमय अध्याय है जिसके अनन्तर उस युग के अन्तःपुर के जीवन (७४ अ०) का वर्णन कामशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के समान यहाँ भी दिया गया है। वास्तुविद्या, भूगर्भादिविद्या, प्रासाद, प्रतिमा, गवाक्ष और पुरुष के लक्षण ५२–६७ अध्यायो तक वर्णित है।

बृहत् संहिता मे ज्योतिष के विषयो के अतिरिक्त अन्य ज्ञातव्य विषयो का समावेश बड आग्रह के साथ है। १४ अध्याय मे तात्कालिक भारतीय भूगोल का बडा ही सर्वाङ्गीण विवेचन है। यहाँ बहुत से अज्ञात अथवा अल्पज्ञात देशो, नदियों तथा पर्वतो का विवरण बडा ही रोचक तथा ज्ञानवर्धक है। 'दकार्गल विद्या' वह विद्या है जिसके द्वारा भूमि के अन्दर जलस्रोत का परिज्ञान होता था और इसी के द्वारा कूपखनन विद्या का पूरा परिचय मिलता था। इसका भी विवरण एक पूरे ५३ वें अध्याय मे है। इस प्रकार शकुन का वर्णन तो ऐसे ग्रंथ का आवश्यक अंग है ही। निष्कर्ष यह है कि बृहत संहिता सचमुच भारतीय विद्याओं का विश्वकोश है।

वराहमिहिर के श्लोको मे कवित्व है। विलक्षण शब्दों के प्रयोग से इसका भाषाशास्त्रीय अध्ययन भी विशेष महत्त्व रखता है। स्त्री की प्रशंसा का यह पद्य सचमुच एक रमणीय सुभाषित है —

रत्नानि विभूषयन्ति योषा
भूष्यन्ते वनिता न रत्नकान्त्या।
चेतो वनिता हरन्त्यरत्ना
नो रत्नानि विनाङ्गनाङ्गसङ्गम्॥
(बृहत्-संहिता ७३।२)

आब्रह्मकीटान्तमिदं निबद्धं
पुंस्त्रीप्रयोगेण जगत् समस्तम्।
व्रीडात्र का ? यत्र चतुर्मुखत्व-
मीशोऽपि लोभाद् गमितो युवत्या॥
(वही, ७३।२०)

वराहमिहिर के देशकाल का पता चलता है। वे उज्जयिनी के निवासी थे। अपने पूज्य पिता आदित्यदास से उन्होंने ज्योतिष विद्या का अध्ययन किया था।[1] वराह ने अपने करण-ग्रंथ पञ्चसिद्धान्तिका में गणितारम्भ का वर्ष ४२७ शक माना है (= ५०५ ईस्वी)। अत उनका आविर्भाव काल षष्ठ शती का आरम्भिक काल भलीभाँति माना जा सकता है। ये ज्योतिर्विदों के एक विद्वान कुल में उत्पन्न हुए थे। ये यवन ज्योतिष के भी विशेषज्ञ थे। बहुत सम्भव है कि इन्होंने यवन भाषा का अध्ययन कर उसके ज्योतिष का पूर्ण परिचय प्राप्त किया था। वृहज्जातक में क्रिय, तावुरि, जितुम, लेय आदि यवन ज्योतिष-शास्त्र की पारिभाषिक सज्ञायें इस अनुमान को पुष्ट करती हैं बृहत्संहिता में यवन दैवज्ञो की प्रससा भी की गई है[2]--

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिद स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं नपुर्दैवविद् द्विज ॥

वृहज्जातक में वराह ने मय, यवन, मणित्थ, शक्ति, विष्णुगुप्त, देवस्वामी, सिद्धसेन जीवशर्मा तथा सत्याचार्य नामक आचार्यों का उल्लेख किया है। वराह के पुत्र पृथुयश ने 'षट्पञ्चाशिका' की रचना की है जो भट्टोत्पल की वृत्ति के साथ बहुश प्रकाशित है।

आजकल जातक स्कन्ध के कतिपय ग्रन्थ विख्यात हैं जिनमें पाराशरी तथा जैमिनि-सूत्र मुख्य हैं। पाराशरी के दो सस्करण हैं—लघु पाराशरी तथा वृहत् पाराशरी। लघुपाराशरी बडी लोकप्रिय है। वृहत् पाराशरी के नाम से प्रकाशित ग्रंथ की प्रामाणिकता मे विद्वानो को सदेह है। पराशर तो नि सन्देह वराह-पूर्व दैवज्ञ हैं, परन्तु उसका मूल ग्रन्थ-मूल पाराशरी—कही उपलब्ध है या नही? भट्टोत्पल के प्रामाण्य पर इतना ही ज्ञात होता है[3] कि पराशर-रचित ज्योतिष के तीनो स्कन्ध उस युग मे सुने जाते थे। पराशरी संहिता उपलब्ध थी, परन्तु पराशर-जातक का दर्शन उन्हें नही हुआ था। दशम शती में ही पराशर-जातक की यह दशा थी, तो

१ आदित्यदासतनयस्तदवाप्त-बोध
काम्पिल्यके सवितृलब्धवर-प्रसाद ।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्
होरा वराहमिहिरो रुचिरा चकार ॥

वृहज्जातक का उपसहार श्लोक।

२ बृहत्संहिता २ अ० १४ श्लोक।

३ पाराशरीया संहिता केवलमस्माभिर्दृष्टा, न जातकम्। श्रूयते स्कन्धत्रय पराशरस्येति। तदर्थं वराहमिहिर शक्तिपूर्वैरित्याह।

वृहज्जातक ७।९ की टीका।

१६०७ शक=१६८५ ई०)। विवाह आदि के विषय में भी अनेक मुहूर्त ग्रंथों का अस्तित्व है। फलित ज्योतिष का विशाल साहित्य आज भी प्रकाशन की अपेक्षा रखता है।[1]

संस्कृत में अरबी ज्योतिष ग्रंथ

अष्टादश शती के आरम्भ में उत्पन्न सवाई जयसिंह द्वितीय, जिन्होंने जयपुर नगर का निर्माण कर उसे अपनी राजधानी बनाई, ज्योतिष तथा गणित के महनीय विद्वान् थे। जयपुर, दिल्ली, मथुरा, उज्जैन तथा काशी—इन पांच स्थानों पर आकाशीय पिण्डों के वेध के निमित्त इन्होंने वेधशालायें बनाईं जिनमें से कुछ आज भी अच्छी दशा में हैं और अपने उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। ये कर्मकाण्ड में भी विशेष रुचि रखते थे। इन्होंने अपने जीवन की सन्ध्या में एक महनीय अश्वमेध यज्ञ भी किया था-सं० १७९९ की आषाढ वदी द्वितीया को (=१७४२)। कुछ लोगों को इस अश्वमेध की सत्ता में विश्वास नहीं है, परन्तु जयपुर के महाकवि कृष्ण कवि ने, जो इस यज्ञ में वैदिक सदस्यों में अन्यतम थे, 'ईश्वर विलास' नामक महाकाव्य में (चतुर्थ तथा पंचम सर्ग) इसका सांगोपांग वर्णन किया है। फलतः समसामयिक प्रमाण पर आधारित होने से इस यज्ञ का अस्तित्व पूर्णतया समर्थित है। महाराज जयसिंह द्वितीय का जन्म १६६८ ई० में हुआ तथा मृत्यु १७४३ ई० में ७५ वर्ष की आयु में हुई। अश्वमेध की समाप्ति से एक वर्ष के बाद महाराज की मृत्यु हुई थी। महाराज ने जगन्नाथ सम्राट् नामक ज्योतिर्विद् के द्वारा उस युग के मान्य दो अरबी ज्योतिष ग्रंथों का अनुवाद संस्कृत में कराया था।

पंडित सुधाकर द्विवेदी ने अपनी 'गणक तरंगिणी' में एक प्राचीन परम्परा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार जयसिंह ने औरंगजेब के दरबारी सभासदों के वचन को असत्य साबित करने के लिये महान उद्योग किया था। उन लोगों की धारणा थी कि कोई भी संस्कृत पण्डित अरबी और फारसी में दक्षता नहीं प्राप्त कर सकता। जयसिंह जब १६७२ ई में शिवाजी से लड़ने के लिए औरंगजेब के द्वारा दक्षिण भेज गये तब वे अपने साथ पण्डित जगन्नाथ को अरबी और फारसी सिखलाने के लिए लाये। जगन्नाथ की अवस्था उस समय २० वर्ष की थी। परन्तु उसी समय वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उत्तर भारत में आकर उन्होंने अरबी और फारसी में बड़ी दक्षता प्राप्त की और अपने आश्रयदाता जयसिंह के आग्रह तथा प्रेरणा पर अरबी भाषा के दो ग्रन्थों का अनुवाद संस्कृत में किया।

रेखागणित–अरबी से अनूदित ग्रन्थो मे यह प्रथम है। रेखागणित[1] मे पन्द्रह अध्याय है तथा ४७८ साध्य तथा क्षेत्रो का वर्णन है। पूरा ग्रंथ गद्य मे लिखा गया है। आरम्भ में परिभाषाओं का वर्णन है जो रेखागणित की मौलिक कल्पनायें है। इसमें प्रमेयेपपाद्य तथा वस्तूपपाद्य दोनो का वर्णन सिद्धान्त रूप से प्रथमत किया गया है। तदनन्तर उसकी उपपत्ति दिखलाई गई है। उनमे से कुछ प्रमेयोपपाद्य के नमूने इस प्रकार है—

१—तत्र यावत्यो रेखा एक-रेखाया समानान्तरा भवन्ति ता रेखा परस्पर सामानान्तरा एव भविष्यन्ति।

२—यस्य त्रिभुजस्य न्यूनकोणोस्ति तत्कोण सन्मुख-भुज वर्ग इतरभुजवर्ग-योगान्न्यूनो भवति।

३—यद्वृत्तद्वयमेकस्मिश्चिह्ने ऽन्तर्मिलति तद्वृत्तद्वयस्य केन्द्रमेकश्च न भवति।

ग्रंथ के प्रथम चार तथा छठवें अध्याय का विषय समतल ज्यामिति से है। पचम अध्याय मे समानुपात के नियम दिये गये हैं जिनका उपयोग छठे अध्याय मे किया गया है। ७, ८ और ९ वें अध्याय का सम्बन्ध पाटीगणित से है। दस से लेकर पन्द्रहवे अध्याय का विषय ठोस ज्यामिति से है जिसके ठीक ठीक समझने के लिए बीच के तीन अध्यायो मे अङ्कगणित का वर्णन किया गया है। इन अध्यायों मे घनक्षेत्र जैसे घन (Cube) शकु (Cone) सूचिफलक घनक्षेत्र (Pyramid) समतल मस्तक-परिधिरूप शकु घनक्षेत्र (Cylinder) छेदितघन क्षेत्र (Prism) गोलक्षेत्र (Spheres) और घनहस्त क्षेत्र या समानान्तर-धरातल-घनक्षेत्र (Parallelepiped) का सैद्धान्तिक विवरण है। इन अध्यायो के अनुशीलन से रेखा गणित तथा ठोस ज्यामिति के प्राय सभी मुख्य सिद्धान्त समीचीन रूप से यहाँ दिखलाये गये है।

इस ग्रंथ के द्वारा युक्लीद का रेखागणित सस्कृत पण्डितो के लिए सुलभ हो गया। युक्लीद के जन्म स्थान का तो ठीक परिचय नही, परन्तु उनके काल का पता है। ये मिश्र के अधिपति टालमी (३२१–२८४ ई० पू०) के राज्यकाल तथा आश्रय मे रहते थे। ये यूनानी गणितज्ञ थे तथा अपने से पूर्व रेखागणित के सिद्धान्तों को एकत्र कर इन्होने एक मौलिक तथा युगान्तरकारी ग्रन्थ का प्रणयन किया जिसके सिद्धान्त हजारो वर्षो तक अकाट्य थे।

---

[1] सस्करण, के० पी० द्विवेदी द्वारा सम्पादित तथा अंग्रेजी मे अनूदित। बाम्बे सस्कृत सीरीज, २ भाग, १९०१–१९०२ ई०।

एक भ्रान्ति का निराकरण

अरबी से अनूदित दूसरे ग्रंथ के विषय मे पर्याप्त भ्रान्ति है। जयपुर के संस्थापक तथा निर्माता राजाधिराज जयसिंह द्वितीय की आज्ञा से जगन्नाथ सम्राट् नामक ज्योतिषी ने अरबी भाषा मे निबद्ध यवन ज्योतिष के प्रख्यात ग्रन्थ 'अलमजिस्ती' का संस्कृत मे अनुवाद किया और वह ग्रंथ 'सिद्धान्त सम्राट्' के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक भ्रान्त धारणा है जो अपना खण्डन चाहती है। इस धारणा का, मेरी जानकारी मे, प्रथम उल्लेख म० म० सुधाकर द्विवेदी ने अपने 'गणक तरंगिणी' मे १८९२ ई० मे किया और इससे चार वर्ष पीछे (१८९६ ई०) लिखे गये मराठी ग्रंथ 'भारतीय ज्योतिःशास्त्राचा इतिहास' मे श्री शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने पृष्ठ ४०१ पर इस बात की पुनरुक्ति की। तब से यह घटना प्रख्यात हो चली।[१] परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्त है।

जयसिंह के आदेशानुसार जगन्नाथ सम्राट् ने सिद्धान्त विषय मे दो ग्रंथो का प्रणयन किया (१) सिद्धान्त-कौस्तुभ तथा (२) सिद्धान्त-सम्राट्। इनमे से प्रथम ग्रन्थ ही अलमजिस्ती का अक्षरशः अनुवाद है और इस तथ्य का उल्लेख ग्रंथ के आरम्भ मे जगन्नाथ ने इन शब्दो मे किया है—

> अरबी भाषया ग्रन्थो मिजास्ती नामकः स्थितः।
> गणकानां सुबोधाय गीर्वाण्यां प्रकटीकृतः॥

'सिद्धान्त सम्राट्' ग्रंथ जगन्नाथ की सिद्धान्त के विषय में स्वतन्त्र रचना है, न कि मिजास्ती का अनुवाद (जैसा साधारणतया समझा जाता है)। इन दोनो ग्रंथो के आरम्भिक पांच श्लोक जिनमे देवता की स्तुति तथा जयसिंह की प्रशस्ति है एक ही हैं। सिद्धान्त सम्राट् के आरम्भ के षष्ठ श्लोक मे श्री जयसिंह की तुष्टि के निमित्त इस ग्रंथ के निर्माण की बात कही गई है—

> ग्रंथं सिद्धान्त-सम्राजं सम्राट् रचयति स्फुटम्।
> तुष्टयै श्री जयसिंहस्य जगन्नाथाह्वयः कृती[२]॥

---

१ डा० गोरखप्रसाद ने 'भारतीय ज्योतिष का इतिहास' नामक अपने ग्रंथ में पृष्ठ २१८ पर इसे दुहराया है (लखनऊ १९५६)।

२. इस श्लोक के बाद 'अरबी भाषया ग्रन्थों मिजास्ती नामकः स्थितः' श्लोक गणक-तरंगिणी पृष्ठ १०३ पर निर्दिष्ट है, परन्तु इस ग्रंथ के किसी भी हस्तलेख मे यह श्लोक नहीं मिलता। यह श्लोक-निर्देश ही सिद्धान्त-सम्राट् को अनुवाद बतलाने के लिए उत्तरदायी है। वस्तुतः यह भ्रान्ति है।

दोनों ग्रंथो के वर्ण्यविषयों की तुलना करने से इस पार्थक्य का स्पष्टीकरण हो जाता है। मूल अरबी ग्रंथ अलमजिस्ती १३ खण्डो मे विभक्त है और सिद्धान्त कौस्तुभ भी उसी प्रकार १३ अध्यायो मे विभक्त तथा पूर्ण है। 'सिद्धान्त-सम्राट्' अभी तक अधूरा ही मिला है जिसमें केवल चार अध्याय ही मिलते हैं। यन्त्राध्याय, मध्यमाधिकार तथा स्पष्टाधिकार तो पूर्ण रूपेण प्राप्त हैं। त्रिप्रश्नाधिकार अधूरा ही है जिसमे केवल दो प्रश्नो का ही उत्तर है, तृतीय प्रश्न खण्डित है। व्यापक रूप से विषय की तुलना वैशद्य के लिए आवश्यक है।[1]

अलमिजास्ती का परिचय

सिद्धान्त कौस्तुभ के मूलभूत अरबी ग्रंथ अलमिजास्ती या अलमिजिस्ती का परिचय विषय की पूर्णता के लिए नितान्त आवश्यक है। यवन (यूनानी) ज्योतिषियों मे सर्वश्रेष्ठ ज्योतिषी का नाम था टालमी जो जात्या तो यवन था, परन्तु यवन देश से बाहर मिश्र देश (इजिप्ट) की राजधानी अलेक्जैंड्रिया का निवासी था। उसका पूरा यूनानी नाम क्लाडियस टालिमेइयम था जो अंग्रेजी मे संक्षिप्त होकर टालमी हो गया। वह प्राचीन युग का सर्वश्रेष्ठ ज्योतिषी, गणितज्ञ तथा भौगोलिक था। उसके जीवन की घटनायें आज भी अन्धकार-पूर्ण है। केवल इतना ही ज्ञात है कि वह १२१ ईस्वी से लेकर १५१ ई० तक अलेकजैंड्रिया मे ही ताराओ तथा ग्रहो का वेध करता था। इसी से उसका जीवन काल लगभग १०० ईस्वी से लेकर १७० ई० तक माना जाता है। अरबी लेखको के अनुसार वह ७८ वर्ष की आयु मे मरा। जो कुछ हो, ईस्वी के द्वितीय शती में इस प्रख्यात यवन ज्योतिर्विद् ने अपना जीवन यापन किया। टालमी ने अपने पूर्ववर्ती यवन ज्योतिषी हिपार्कस (१४० ई० पू०) की गणना को आधार मानकर ही आकाशीय पिण्डो की गणना तथा निरीक्षण का अपना कार्य सम्पन्न किया। विश्व के विषय मे उसका मुख्य सिद्धान्त पृथ्वी केन्द्रीय मानने मे है अर्थात् टालेमी के अनुसार विश्व का पृथ्वी ही केन्द्र है जिसके चारो ओर सब ग्रह अपना भ्रमण किया करते हैं। हिपार्कस की गणना को स्वयं अनुभव से उन्होंने पुष्टकर उसे आगे बढाया तथा तारापुञ्जो की सूची तैयार की। उनका यह कार्य बडे महत्व का माना जाता है और मध्ययुग के यूरोप मे इन्हीं के मत का बोलबाला था।

---

१ 'सिद्धान्त कौस्तुभ' का नाना प्रतियो के आधार पर सम्पादित करने का श्रेय संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसन्धाता डा० मुरलीधर चतुर्वेदी को है। उन्होंने सिद्धान्त सम्राट् के अधूरे उपलब्ध अंश को भी परिशिष्ट के रूप में समाविष्ट किया है। यह ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित ही है।

टालेमी ने अपने इन निरीक्षणो तथा गणनाओं को एक विशाल ग्रंथ मे अंकित किया जिसका यूनानी लोगों ने नाम दिया मैथिमेटिके सिनटैक्सिस[1] जिसका अर्थ है– गणित संहिता। इस ग्रंथ का प्रथम शब्द है मजेस्ट (अर्थात् उत्तमोत्तम)। अरब वालो ने जब इस ग्रंथ का अरबी मे अनुवाद किया, तब अरबी उपसर्ग 'अल' लगाकर इसी शब्द के आधार पर पूरे ग्रंथ का नामकरण किया अलमैजस्ट (जिसका शाब्दिक अर्थ है ग्रंथराज, उत्तम ग्रंथ)। अरबी भाषा मे इस ग्रंथ का सर्वप्रथम अनुवाद ८२७ ई० मे सम्पन्न हुआ था जिसका अनुवाद यूरोप की अरबी नाम ही प्रख्यात हो गया। इसलिए जगन्नाथ सम्राट् ने भी अरबी ग्रंथ को मिजास्ती नाम से उल्लिखित किया है।

मिजास्ती मे १३ खण्ड हैं। प्रथम खण्ड मे पृथ्वी, उसका रूप, उसका बेलाग स्थित रहना, आकाशीय पिण्डो का वृत्तो मे चलना, सूर्यभाग की तिर्यक्ता तथा उसके नापने की रीति, तथा ज्योतिष के लिए आवश्यक समतल और गोलीय त्रिकोणमिति– ये सब विषय वर्णित हैं। द्वितीय खण्ड मे खगोल-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। तृतीय खण्ड मे वर्ष की लम्बाई, सूर्य कक्षा की आकृति आदि की गणना विधि का विवेचन है। इस खण्ड के प्रथम अध्याय मे टालेमी ने बतलाया है कि सिद्धान्त ऐसा होना चाहिये जो सरलतम हो और जो वेधप्राप्त तथ्यो से विपरीत या विरुद्ध न हो। चतुर्थ खण्ड मे चन्द्रमा की गति तथा चान्द्रमास की लम्बाई बतलाई गई है। पञ्चम खण्ड मे ज्योतिष-सम्बन्धी यन्त्रो की रचना, सूर्य चन्द्रमा के व्यास, सूर्य की दूरी आदि विषयो का विवरण है। षष्ठ खण्ड मे चन्द्रमा और सूर्य की युतियो तथा ग्रहणो पर विचार किया गया है। सप्तम अष्टम खण्डों मे उत्तरी ताराओ तथा दक्षिणी ताराओ की क्रमश सूची है, दोनो सूचियो मे मिलाकर कुल ताराओ की संख्या १,०२२ दी गई है। प्रत्येक तारे का भोगांश और शर बतलाये गये हैं तथा उनके चमक का भी संकेत है। अष्टम मे आकाशगंगा का भी वर्णन किया गया है। अन्त के पाँच खण्डो मे (खण्ड नवम से लेकर त्रयोदश तक) ग्रहसम्बन्धी अनेक बातें दी गई है।

इस संक्षिप्त विवरण से इस ग्रंथ की महत्ता तथा उपादेयता का परिचय किसी भी पाठक को हो सकता है। अल्मैजेस्ट यवन ज्योतिष के उच्चतम ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है। इसी के अनुवाद-पुनरनुवाद से अरब तथा यूरोप के विभिन्न देशों को ज्योतिर्विज्ञान के सिद्धान्तो का परिचय मिलता रहा। टालेमी के बाद डेढ़ हजार

---

१ टालेमी के जीवनचरित तथा ग्रंथ के विषय मे देखिये अमेरिकन इन्साइक्लोपीडिया (विश्वकोश) भाग २२, पृष्ठ ७१२–७१३।

साल तक कोई बडा ज्योतिषी नही हुआ जो अपने अनुभवो से तथा वेधो से नये सिद्धान्तो का निर्माण करता। ज्योतिषियो की कमी नही थी, परन्तु वे सब टालेमी के भाष्यकार ही हुए। फलत टालेमी के सिद्धान्तो से हिन्दुओ को परिचित कराने के महनीय उद्देश्य से प्रेरित होकर जयसिह ने इनके ग्रन्थो का सस्कृत मे अनुवाद प्रस्तुत कराया।

अरब लोगो मे भी कोई नवीन आविष्कार करने मे समर्थ नही हुए, परन्तु उन लोगो ने टालेमी के सिद्धान्तो को सर्वात्मना स्वीकार कर लिया। उलगवेग इतिहास प्रसिद्ध तैमूरलग का (लगभग १४२० ई०) पौत्र था। उसने समरकन्द मे १४२० ई० मे एक प्रख्यात वेधशाला का निर्माण कराया और यही से ग्रहो का वेधकर टालेमी के सिद्धान्तो मे त्रुटियो का विस्तार से शोधन किया। उसने ताराओ तथा आकाशीय पिण्डो की जो सारणी प्रस्तुत की, उसने टलेमी की प्राचीन सारिणी को निरस्त कर दिया।

सिद्धान्त कौस्तुभ

सिद्धान्त कौस्तुभ तथा सिद्धान्त सम्राट के हस्तलेख आपमे मे इतने मिले जुले हैं कि दोनों का पार्थक्य करना कठिन व्यापार है। यही कारण है कि 'सिद्धान्त-सम्राट्' को ही प्रख्याति हो सकी और 'सिद्धान्त कौस्तुभ' विलुप्त सा हो गया। परन्तु हस्तलेखो की छानबीन से दोनो की पृथक् सत्ता सप्रमाण सिद्ध हो सकी है।

ग्रन्थ के आरम्भ मे ११ पद्य उपलब्ध होते हैं जिनमे आरम्भ के दो पद्य मगला-चरण के विषय मे हैं तथा आगे के पाँच पद्य जयसिह की प्रशस्ति के विषय मे हैं। अन्तिम चार पद्य ग्रन्थ की उपयोगिता तथा उद्देश्य के विषय मे हैं। सिद्धान्त के वर्णन के निमित्त ही इस ग्रन्थ की रचना है (श्लोक ९)। सिद्धान्त शिरोमणि आदि ग्रन्थो के अध्ययन से भ्रान्ति का निवारण नही होता। अत इस ग्रन्थ का अध्ययन आवश्यक है (श्लोक १०)। तदनन्तर इसके अनुवाद होने की सूचना इस पद्य मे है (श्लोक ११)—

अरवी भाषया ग्रन्थो मिजस्ति नामक स्थित।
गणकाना सुबोधाय गीर्वाण्या प्रकटीकृत ॥

इसमे १३ अध्याय, १४१ प्रकरण तथा १९६ क्षेत्र हैं। इस विषय सूचा स ग्रन्थ के स्वरूप का परिचय मिलता है। भाषा बडी सरल है। भाव समझने मे कठिनाई नही होती। समग्र ग्रन्थ पद्य में है। मूल ग्रन्थ से क्षेत्रो का वणन तो किया गया है, परन्तु उनके द्योतक रेखाचित्र नही है। इसकी पूर्ति विद्वान् सम्पादक न बडे परिश्रम तथा अध्यवसाय से की है। ऊपर मिजास्ती के १३ अध्यायों का विषय प्रतिपादित

किया गया है। इस ग्रन्थ के अध्यायों का वर्ण्यविषय भी तदनुसार ही है। फलत वर्ण्यविषयों की समता के कारण तथा ग्रन्थकार के स्पष्ट उल्लेख के हेतु सिद्धान्त-कौस्तुभ ही मिजास्ती का संस्कृत अनुवाद है। प्रत्येक अध्याय के अन्त मे सम्राट् जगन्नाथ ने लिखा है कि राजाधिराज के तोषणार्थ सिद्धान्तसार (अपर नाम कौस्तुभ) का अमुक अध्याय समाप्त हुआ जिससे इसका सिद्धान्तसार नाम भी प्रतीत होता है।[1]

सिद्धान्त-सम्राट्

इसके आरम्भ मे प्रथम सात श्लोक तो कौस्तुभ के ही श्लोक हैं। अष्टम श्लोक मे कहा गया है कि राजा जयसिंह ने गोल के विचार मे दक्ष तथा गणित मे प्रवीण ज्योतिर्विदो को तथा यन्त्र बनाने वालो (कारु) को बुलाकर गोलादि यन्त्रो के द्वारा आकाशीय पिण्डो का वेध किया। उन्हीं के प्रसन्नतार्थ इस सिद्धान्त सम्राट् की रचना की गई। समग्र ग्रन्थ पद्यबद्ध है। प्रथम अध्याय मे यन्त्रो का वर्णन गद्य मे किया गया है। इस अध्याय मे ८ यन्त्रो का विवरण तथा उपयोग सरल गद्य मे दिया गया है —नाडीवलय यन्त्र, गोल यन्त्र, दिगश यन्त्र, दक्षिणोदक्भित्ति यन्त्र, वृत्तषष्ठाश-संज्ञक यन्त्र, सम्राट् यन्त्र, जयप्रकाश यन्त्र, क्रान्तिवृत्त यन्त्र। जयसिंह की वेधशालाओं में ये यन्त्र बनाये गये हैं। अत यह यन्त्राध्याय लेखक के स्वानुभव के ऊपर आश्रित है। तदनन्तर मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार तथा त्रिप्रश्नाधिकार—ये तीन अध्याय हैं—प्रथम दो पूर्ण तथा अन्तिम अपूर्ण। सिद्धान्त पद्यो में प्रतिपादित हैं और उपपत्तियाँ गद्य में हैं। फलत वर्ण्यविषयो की भिन्नता के कारण यह ग्रन्थ अनुवाद न होकर मौलिक रचना है और जगन्नाथ ने स्वय इसके स्वरूप का परिचय दिया है—

> तेन श्रीजयसिंहेन प्रार्थित शास्त्रसविदा।
> करोति जगन्नाथ सम्राट् सिद्धान्तमुत्तमम् ॥[2]

इस मौलिक कृति का अनुशीलन तथ्यो की जानकारी के लिए गम्भीरता से करने की आवश्यकता है।

सिद्धान्त कौस्तुभ तथा रेखागणित

ये दोनो ग्रन्थ अरबी भाषा में लिखे ग्रन्थों के अनुवाद हैं। रेखागणित के मूल

---

१ उदाहरण के लिए द्रष्टव्य—
राजाधिराज प्रभुतोषणार्थे सम्राट् जगन्नाथकृते सुशिल्पे।
सिद्धान्तसारे खलु कौस्तुभेऽस्मिन् अध्याय आगाद् विरति तु षष्ठ. ॥

२. आरम्भ का ९म श्लोक।

अरबी ग्रन्थ की प्रस्तावना[1] से यह पता चलता है कि मूल अरबी लेखक ने प्रथमत मजिस्ती नामक ग्रंथ का प्रणयन किया और उसके अनन्तर रेखागणित की रचना की। उन्होंने हज्जात तथा साबित नामक अरबी लेखको की रचनाओ का इसमे उद्धरण दिया है, विशेषत साबित के ग्रन्थ का। इन दोनो ग्रन्थो के अरबी लेखक का नाम है नसीर एद्दीन (पूरा नाम नसीर एद्दीन अहम्मद बिन हुसेन अल तूस्सी)। ये फारस के ज्योतिषी थे जिनकी मृत्यु १२७६ ई० मे हुई। इन्होंने यूक्लिड के रेखागणित का अरबी भाषा मे अनुवाद किया था। इस प्रकार जगन्नाथ ने नसीर के ही दोनो ग्रन्थो का सस्कृत भाषा मे अनुवाद किया जिनमे से एक का विषय है ज्योतिष और दूसरे का रेखागणित। रेखागणित अरबी ग्रंथ का अनुवाद अवश्य है परन्तु ग्रन्थ मे मौलिकता कम नही है। जगन्नाथ सम्राट् स्वय बडे गणितज्ञ थे और इसलिए इन्होने अनेक प्रकार की सिद्धियाँ एक ही प्रमेय को सिद्ध करने के लिए दी हैं। शुल्ब सूत्रो के ऊपर दिये गये वर्णन से स्पष्ट है कि रेखागणित का उदय सर्वप्रथम भारतवर्ष के मनीषियो के द्वारा किया गया। आर्यभट तथा उनके बाद के गणितज्ञो ने अपने ग्रन्थो में ज्यामिति सम्बन्धी क्षेत्रो का उपयोग खूब किया है। परन्तु अर्वाचीन रेखागणित की आवश्यकता मध्ययुग मे अवश्य प्रतीत होती थी। इसकी यथार्थ पूर्ति जगन्नाथ सम्राट् ने की। और इसलिए वे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

हयत

हयत नामक ग्रन्थ अरबी ज्योतिष के किसी फारसी ग्रन्थ का सस्कृतानुवाद है अथवा अरबी ज्योतिष के विभिन्न गन्थो के अनुशीलन पर अवलम्बित एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। 'हयत' शब्द साक्षात् अरबी का है जिसका अर्थ होता है आकाशचारी ग्रहनक्षत्रादि पिण्ड। फलत उन पिण्डो के गति, मान आदि से सम्बद्ध ग्रन्थ को उस नाम से अभिहित करना यथार्थ है। ग्रन्थकार के देश और काल अनुमानत ज्ञात हो सकते हैं। ग्रन्थ के अन्तरग परीक्षण से प्रतीत होता है कि इसकी रचना वाराणसी मे ही हुई है।

ग्रन्थ के चार अध्याय है—(१) सज्ञाध्याय, (२) गोलाध्याय, (३) भूगोलाध्याय तथा (४) प्रकीर्णक। सज्ञाध्याय मे ज्योतिष की तथा भूगोल की प्रख्यात अरबी पारिभाषिकी सज्ञाओ का सस्कृत मे लक्षण दिया गया है। समग्र ग्रन्थ संस्कृत गद्य मे है। जैसे —

यदि कोणा न्यूनाधिकाश्च स्यु, तदा अधिककोणो 'मुनफरजं' सज्ञ न्यूनकोणो 'हादं' सज्ञ।

---

१. द्रष्टव्य के० पी० त्रिवेदी की अग्रेजी भूमिका पृ० ३७–३९।

अर्थात अधिक कोण की संज्ञा 'मुनफरजे' है तथा न्यूनकोण की हाद्दं। एक बार व्याख्यात हो जाने पर ग्रन्थकार अगले अध्यायों मे उन्ही संज्ञाओ का प्रयोग करता है।

दूसरे अध्याय मे वृहद्वृत्त, लघुवृत्त तथा चाप का निरूपण, नक्षत्र ग्रहो की गोल गति, सूर्यादि का गोल-स्वरूप, ग्रहो की तथा तत्सम्बद्ध शरो की व्यवस्था आदि विषयो का विधिवत प्रतिपादन है। ग्रहस्पष्टीकरण की विधि, अयनांश का संस्कार, क्रान्तिवृत्तीय ग्रहस्थान--आदि का वर्णन ज्योतिष की विचार दृष्टि से इस अध्याय को विशेष महत्त्व प्रदान करता है।

भूगोल के प्रकरण मे भूगोल के विभिन्न विभागस्थ देशो की आकृति तथा निवासियो का वर्णन उपलब्ध होता है। आरम्भ मे ग्रन्थकार का कथन है कि पृथ्वी गोलाकार है। उसका सतह बाहुल्येन जल से आवृत्त है, चतुर्थ भाग से न्यून ही भूमि निवास के योग्य है। जिस चतुर्थांश मे मनुष्य रहते है, उसका नाम 'रुबैम सकून' है। इसी प्रकार दिन के आरम्भ विषयक विभिन्न सिद्धान्तो का भी विवरण दिया गया है। प्रसिद्ध संवत्सर चार प्रकार के बतलाये गये हैं--हिजरी, फ़ारसी, रूमी (ईशवीय) तथा मलकी। इनके अनुसार मासों के नाम, मासो की दिनसंख्या तथा वर्षों के दिन निर्दिष्ट किये गये हैं।

प्रकीर्णक अध्याय सबसे छोटा है। इसमे पृथ्वी के व्यास तथा परिधि, तथा भूपृष्ठ का सव्यारम्भ मान दिया गया है। अन्त मे किवले साधन दिशा का ज्ञान बतलाया गया है। मक्का नगर की दिशा का पता लगाने की विधि बतला कर ग्रन्थ का उपसंहार किया गया है।

ग्रन्थ[1] का वैशिष्ट्य--ग्रहो की गति के वर्णन प्रसंग मे गोल स्थिति का वर्णन, तथा ग्रहो का गतिविज्ञान चित्र के समान स्पष्ट उपस्थित किया गया है। यहाँ गोल की स्थितियों का विशद तथा रोचक वर्णन भारतीय ज्योतिष की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण है। इस वर्णन से ग्रह गति का ज्ञान सुखपूर्वक किया जा सकता है। चन्द्र की सूक्ष्मगति के निरूपण के लिए गोलचतुष्टय की कल्पना, बुधगति की सूक्ष्म विवेचना के निमित्त भी गोलचतुष्टय की कल्पना भारतीय ज्योतिष मे नही मिलती। भूगोलाध्याय मे विभिन्न स्थानो मे गोल के स्वरूप का वर्णन अतीव चमत्कारी है। अरबी ज्योतिष मूलत यवन ज्योतिषी टालेमी की गणना के आधार पर ही प्रवृत्त होता है, परन्तु उसमें अनेक

---

१ सरस्वती भवन ग्रन्थमाला (सं० ९६) मे प्रकाशित। प्र० अनुसन्धान विभाग, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, २०२४ वि० सं, सम्पादक विभूतिभूषण भट्टाचार्य, ग्रन्थाध्यक्ष सरस्वती भवन। सरस्वती भवन की तीन हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित यह संस्करण सम्पादक के विशद पाण्डित्य तथा अश्रान्त परिश्रम का द्योतक है।

मौलिकता विराजमान है। अरब ज्योतिषियों ने स्वयं ग्रहों का वेध कर जो परिणाम निकाला है, वह नितान्त सूक्ष्म है। इस ग्रंथ के अध्ययन से अरबी ज्योतिष की मौलिकता का भी परिचय आलोचकों को भलीभाँति लग सकता है। इस ग्रंथ के अन्तिम अध्याय मे (पृ० १३५–१३६ पर) मुन्शमूर्तों मे व्याख्यात प्रसिद्ध दिक्साधन पद्धति अंगीकृत की गई है। इस रीति के अनुसार अक्रनीय वृत्त की संज्ञा 'दायरे हिन्दी' या 'दायरे हिन्दसी' दी गई हैं। यह नाम इस तथ्य का प्रमापक है कि अरब की दिक्साधन पद्धति भारतीय ज्योतिष से उद्भूत है तथा यवन ज्योतिष मे उस प्रकार की किसी पद्धति का अभाव भी इससे सच उद्घोषित होता है। फलत अरबी तथा भारतीय ज्योतिष के सिद्धान्तों की पुखानुपुख तुलना करने के लिए इस ग्रंथ का अनुशीलन नितान्त उपादेय तथा उपयोगी सिद्ध होगी।

ग्रन्थ का देशकाल

ग्रंथकार ने इस ग्रंथ मे कहीं भी न तो अपने नाम का संकेत किया है, न ग्रंथ रचना स्थल का ही और न रचना काल का ही। ग्रंथ के अन्तरंग अनुशीलन से इसका यतकिञ्चत् परिचय दिया जा सकता है। अनेक वर्णनों से पता चलता है कि रचयिता काशी का निवासी था। ग्रंथ मे अक्षांश चर्चा के समय लेखक काशी के अक्षांश की चर्चा करता है, भारत के किसी भी अन्य स्थान के नहीं। लंका की तुलना मे सूर्य के उदयास्त का विवरण काशी नगरी मे ही दिया गया है इस विवरण के पढने से स्पष्ट मालूम पडता है कि ग्रंथकार काशी मे बैठकर इस ग्रंथ का प्रणयन कर रहा है।[1] इसका रचनाकाल भी अनुमानत सिद्ध किया जा सकता है। एक स्थान पर (पृष्ठ ६९) ११७८ हिजरी वर्ष में अयनांश का ज्ञान बतलाया गया है। इस वर्ष मे समस्त ग्रहों का अयनांश विधिवत् वेध द्वारा अनुभव कर लिखा गया है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रंथ का रचना-काल ११७८ हिजरी वर्ष है[2] (अर्थात् १७६४ ई०)। यह ग्रंथ सवाई

---

१ द्रष्टव्य हयत पृष्ठ २२।

२ हिजरी वर्ष को ईस्वी सन् मे परिवर्तन करने की सरल विधि इस प्रकार है। हिजरी वर्ष मे २ से गुणाकर ६५ से भाग दे। पूर्ण संख्या को जो भजन-फल-रूप में उपलब्ध होती है हिजरी वर्ष से घटावे और तदनन्तर ६२२ जोडे, प्राप्त फल ही ईस्वी वर्ष होगा। हिजरी वर्ष के चान्द्रमास होने के कारण वर्ष के दिन ३५४ ही होते हैं। इसी से यह वैषम्य है।

$$\frac{११७८ \times २}{६५} = ३६ । (११७८ - ३६) + ६२२ = १७६४ \text{ ई०}$$

जयसिंह द्वितीय के द्वारा आरब्ध परम्परा को अग्रसर करता है और उनकी मृत्यु के २५ वर्षों के भीतर ही निर्मित हुआ।

ग्रंथकार भारतीय सिद्धान्त ज्योतिष का भी प्रकृष्ट विद्वान् है साथ ही साथ अरबी ज्योतिष का तथा फारसी भाषा का भी इस ग्रंथ का प्रणयन भारतीय पण्डितों के कालज्ञान का पर्याप्त सूचक है। मुसलमानों के समय में अरबी ज्योतिष का ज्ञान नितान्त आवश्यक होने के कारण संस्कृतज्ञ पण्डितों को इस विषय का पूर्ण परिचय देने के लिए ही इस प्रकार के ग्रंथों का प्रणयन किया गया। इस पद्धति का अनुसरण कर आधुनिक ज्योतिषियों को भी यूरोपीय ज्योतिष के मूल सिद्धान्तों का परिचय संस्कृत के माध्यम से करना नितान्त समुचित है। इस ओर हमारे विज्ञ दैवज्ञों को ध्यान देना चाहिये।

उकरा

इस ग्रंथ का प्रकाशन अरबी ज्योतिष के संस्कृत अनुवाद की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण शृंखला है। हयत के समान इन ग्रन्थ के मूल लेखक तथा अनुवादक अज्ञात नहीं हैं, प्रत्युत ग्रंथ के आरम्भ में इन तथ्यों का ग्रंथकार द्वारा ही उल्लेख है। ग्रंथ के आरम्भ तथा ग्रंथान्त की पुष्पिका से पता चलता है कि इसके मूल लेखक का नाम सावजूसयूस था। यह पुस्तक मूलतः यूनानी भाषा में लिखी गई थी जिसका अरबी मे अनुवाद किया अबुल अब्बरस अहमद की आज्ञा से कुस्ताविनी लूका बालबक्की-संज्ञक लेखक ने और संस्कार किया साबित् विनिकुर्स नामक विद्वान् ने। नसीर तूसी ने इस पर टीका लिखी। नयन-सुखोपाध्याय ने इस अरबी ग्रन्थ का संस्कृत मे अनुवाद किया। इस ग्रंथ के दो हस्तलेख काशी से प्राप्त हुये हैं और 'सरस्वती भवन' (संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी का पुस्तकालय) मे सुरक्षित।[1] एक प्रति का लेखन काल १८५९ संवत् है (= १८०२ ई०)। फलतः ग्रंथ की रचना १८ वीं शती के उत्तरार्ध से कथमपि पश्चात्-कालीन नहीं हो सकती।

ऊपर दिये गये विवरण से मूल ग्रंथ के अनुवाद तथा व्याख्यान का भलीभाँति परिचय मिलता है मूल ग्रन्थ के टीकाकार नसीरत्तूसी एक विख्यात फारस देशीय ज्योतिर्विद् थे जो १३ वी शती के उत्तरार्ध मे जीवित थे (१२७६ ई०)। वे अपने युग के एक वरिष्ठ ज्योतिषी थे। इन्होने टालेमी के यूनानी ग्रन्थ 'सिनटैक्सिस' की आलोचना लिखी, टालेमीय सिद्धान्तों मे उन्होंने अपनी अरुचि दिखलाई और अपने स्वतन्त्र मत के प्रतिपादक ग्रन्थों का प्रणयन कर अरबी ज्योतिष का वैज्ञानिक

---

१. इन्हीं प्रतियों के आधार पर यह संस्कृत ग्रन्थ श्री विभूति भूषण भट्टाचार्य के सम्पादकत्व में सरस्वती भवन ग्रंथमाला में प्रकाशित हो रहा है (१९६८)।

आधार पर प्रतिष्ठित किया।[1] इनके द्वारा टीका-प्रणयन से मूल ग्रन्थ का रचनाकाल १३वीं शती से प्राचीन होना चाहिए। उससे प्राचीन होगा उसका अरबी मूल और उससे भी प्राचीनतर होना चाहिए उसके यूनानी मूल ग्रन्थ को। इस प्रकार इस ग्रन्थ के अनुवाद पुनरनुवाद की एक लम्बी परम्परा हमारे सामने आती है। संस्कृत उकरा ग्रन्थ के अनुवादक नयनसुखोपाध्याय भी महाराज जयसिंह के प्रभावक्षेत्र के बहिर्मुख नही प्रतीत होते। मेरी दृष्टि मे यह प्रति नयनसुखोपाध्याय के समय से बहुत पीछे नहीं प्रतीत होती है। अतएव जयसिंह (मृत्युकाल १७४३ ई०) के कुछ ही समय बाद इस ग्रन्थ का प्रणयन काशी मे हुआ—यह तथ्य मानना अनुचित नहीं है।

उकरा नाम मूल अरबी ग्रन्थ का प्रतीत होता है जिसे अनुवादक महोदय ने संस्कृत अनुवाद मे ज्यो का त्यो रख लिया है। इसमे तीन अध्याय हैं और सब मिलाकर ५९ क्षेत्र हैं। प्रथम अध्याय मे २२ क्षेत्र हैं। अध्याय के आरम्भ मे परिभाषायें दी गई हैं। तदनन्तर क्षेत्रो का वर्णन है। प्रति क्षेत्र के वर्णन मे प्रथमत साध्यनिर्देश है, तदनन्तर क्षेत्र की निर्माण विधि तथा उपपत्ति दी गई है। अन्त मे उससे सिद्ध किया गया तथ्य प्रतिपादित है। सर्वत्र यही रीति है। द्वितीय अध्याय मे २३ क्षेत्रो का विवरण पूर्वोक्त शैली मे दिया गया है। तृतीय अध्याय मे १४ क्षेत्रो का वर्णन यथाविधि किया गया है। समग्र ग्रन्थ गोलीय रेखागणित का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अनुशीलन से अरबी ज्योतिष के अनेक तथ्यो का यथावत् परिचय संस्कृतज्ञ ज्योतिर्विदो को हो सकता है। और इसी महनीय उद्देश्य की पूर्ति इस अनुवाद के मूल मे कार्य कर रही हैं। आशा ही नही, पूर्ण विश्वास है कि इसके प्रकाशन से एक विशेष अभाव की पूर्ति नि सन्देह हो सकेगी।

प्राचीन फारसी तथा अरबो मे संस्कृत ज्योतिष

प्राचीन पारसीक देश पर ससानियन वश का राज्य था और इस वश के शासक बडे विद्याप्रेमी तथा विद्वानो के गुणग्राही थे। ऐसे राजाओं मे तृतीय शती मे विद्यमान राजा अर्दशीर प्रथम तथा राजा शापूर प्रथम के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

---

१ इनके ज्योतिष सम्बन्धी कार्यों के लिए द्रष्टव्य डा० सत्यप्रकाश रचित ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त की अंग्रेजी प्रस्तावना पृ० ३३-३८ (प्रकाशक इण्डियन इन्सिटीच्यूट आफ ऐस्ट्रानोमिकल एण्ड संस्कृत रिसर्च, नई दिल्ली, १९६६)।

आगे चलकर इसी वंश मे षष्ठ शती मे खुसरो अनूशीरवान का नाम विद्याप्रेमी के तथा न्यायशीलता के कारण विशेष महत्त्व रखता है और इसीलिए वे 'न्यायी नौशेरवाँ' के नाम से जनसाधारण मे प्रख्यात हैं। इस प्राचीन काल में भी भारतीय ज्योतिष का प्रभाव इस देश की ज्योतिर्विद्या पर पडा—यह नितान्त महत्त्व की घटना है।

ससान वंश के काल का पहलवी (प्राचीन फारसी) में रचित कोई भी ज्योतिष ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, परन्तु उस युग मे इन ग्रन्थो के अस्तित्व का पता पिछले युग के ग्रन्थो के साक्ष्य पर चलता है। नवम शती का पहलवी डेनकार्ट नामक ग्रन्थ सप्रमाण बतलाता है कि तृतीय शती मे अदशीर प्रथम तथा शापूर प्रथम ने यूनानी तथा भारतीय ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थो का पहलवी मे अनुवाद कराया और ये अनुवाद ग्रन्थ षष्ठ शती मे खुसरो अनूशीरवान के समय में पुन सशोधित किये गये। फारस के प्रख्यात बादशाह हारूँ अल रशीद के पुस्तकालय के एक अधिकारी सहूल इब्न नौबख्त का कथन है कि बादशाह अर्दशीर तथा शापूर के शासनकाल मे यूनानी ज्योतिष ग्रन्थो के साथ 'फ़मस्प' नामक किसी भारतीय ज्योतिर्विद् के ग्रन्थ का भी अनुवाद पहलवी मे कराया गया था और अनूशीरवान के समय तक सिद्धान्त ज्योतिष के ग्रन्थों का अनुवाद कार्य चलता रहा। यह तो हुई तृतीय शती की बात।

पष्ठशती के मध्य मे ४५० ई० के लगभग पहलवी मे ज्योतिष के मौलिक ग्रन्थ का निर्माण हुआ जिसकी काल गणना विष्णुधर्मोत्तर पुराण के पैतामह सिद्धान्त के नियमो के अनुसार की गई। बादशाह की आज्ञा से जो ग्रहसारणी प्रस्तुत की गई उसका फारसी नाम है जीज अल-शाह (राजकीय सारणी)। इसका निर्माण षष्ठ शती से पूर्व कभी उस देश में किया जा चुका था। परन्तु ५५६ ईस्वी से खुसरो अनूशीरवान ने पता चलाया कि वह सारणी अपर्याप्त है और अपने ज्योतिषियों को आदेश दिया कि वे उसमे सुधार कर उसे पूर्ण करें। बसरा शहर के निवासी फारसी यहूदी माशा अल्लाह (आविर्भाव ७५० ई० से ८१५ ई० का मध्यकाल) के कथन को आधार मान कर अलहाशिमी नामक लेखक (समय ८७५ ई०) ने लिखा है कि नौशेरवाँ ने अपने ज्योतिषियों को अलमजेस्त और अरकन्द की सहायता से ग्रह-सारणी के शोधन के लिए आदेश दिया। उन लोगो ने अरकन्द को ही अधिक पसन्द किया और उसी के आधार पर सशोधन कर जीज अलशाह का एक नवीन सुमस्कृत परिशोधित सस्करण तैयार किया।

ये दोनों ग्रन्थ दो पद्धतियों के आधार पर निर्मित किये गये थे। अलमजेस्त का अनुवाद तो पहलवी में तृतीयशती में ही हो चुका था। और पूर्वोक्त कथन से स्पष्ट है कि षष्ठ शती में अर्कन्द भी पहलवी में विद्यमान था। परन्तु अर्कन्द क्या है? यह एक विषम पहेली है। यह किसी भारतीय ज्योतिष ग्रन्थ का अनुवाद प्रतीत

होता है। कुछ विद्वान् अर्कन्द को ब्रह्मगुप्त के प्रधान ग्रन्थ 'खण्ड खाद्यक' का फारसी अनुवाद बतलाते हैं। दोनो ग्रन्थो में प्रतिपाद्य तथ्यों की समता है अवश्य, परन्तु कालबाधित होने से इस कथन पर आस्था नही की जा सकती। ब्रह्मगुप्त ने ५५६ ई० से लगभग एक शताब्दी बाद ठीक ६६५ ई० में अपना 'खण्ड-खाद्यक' रचा। फलत दोनो ग्रन्थो मे ऐक्य स्थापित करना असम्भव है। परन्तु आर्यभट के आर्धरात्रिक सिद्धान्त मे वे ही प्राचल (पारामीटर) विद्यमान हैं। ये आर्यभट खुसरो के द्वारा ज्योतिर्विदो की मण्डली एकत्र किए जाने के अर्धशताब्दी पूर्व ही वर्तमान थे। इसलिए एक विद्वान् की सम्मति है कि अर्कन्द शब्द सस्कृत शब्द अहर्गण का पहलवी अपभ्रंश है। ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ का उसे द्योतक मानना यथार्थ नहीं है।

जीज-अल शाह (राजकीय सारिणी) पहलवी भाषा मे लिखी गई थी जिसका अन्तिम सशोधन राजा यज्दिजिर्द तृतीय के समय मे किया गया, जिसने ६३२ ई० से लेकर ६५२ ई० राज्य किया। इस पहलवी ग्रन्थ का अनुवाद हारूँ-अल रशीद के राज्यकाल मे अल-तामीमी नामक विद्वान् ने अरबी मे किया, परन्तु इसकी पूरी प्रति उपलब्ध नहीं होती। अल-हाशोमी तथा अल-बीरूनी के ग्रन्थों मे विशेषत इसके कुछ अश मिलते हैं। इसके परीक्षण से पता चलता है कि इसने अरकन्द मे दिये गये प्राचल का उपयोग किया है। जीज-अल-शाह के ये उपलब्ध अश भी बड़े महत्त्व के हैं जिनमे आकाशपिण्डों की गति, सूर्य तथा चन्द्र के ग्रहण, आदि की गणना बडी सत्यता से दी गई है। यह ग्रन्थ 'कर्दज' शब्द के प्रयोग करने का अभ्यासी है। यह शब्द वस्तुत. सस्कृत शब्द क्रमज्या' का ही विकृत रूप है। क्रमज्या का उपयोग पौलिश सिद्धान्त से गृहीत होने का उल्लेख वराहमिहिर ने किया है। 'कर्दजों' का इस्लामी ज्योतिष पर बहुत अधिक प्रभाव पडा है विशेष करके स्पेन में, जहाँ से ये १२ शती में यूरोप मे प्रचलित हो गये।

ससानवशीय प्राचीन फारस मे भारतीय सिद्धान्त ज्योतिष का ही प्रभाव नहीं पडा, प्रत्युत भारतीय फलित ज्योतिष का भी। प्रथम शती ईस्वी मे सिडोन के निवासी डोरोथिअस ने ज्योतिष के विषय मे कवितावद्ध पोथी लिखी। यद्यपि यह मूल यूनानी भाषा मे उपलब्ध नही होती। परन्तु इसका प्रभाव पिछले युग के ज्योतिर्विदों पर विशेष रूप से पडा। तृतीय शती मे इसका अनुवाद पहलवी मे हुआ और इसी अनुवाद का अरबी भाषा में अनुवाद किया फारसी विद्वान् उमर इब्न अल फर्रुखान अल-तबरी ने। यह अरबी अनुवाद उपलब्ध है और इसके परीक्षण से पता चलता है कि फारसी सस्करण के निर्माता विद्वान् ने भारतीय ज्योतिष की बहुत-सी उपादेय सामग्री का उपयोग इस सस्करण के लिए किया है, विशेषत नवांश विषयक सिद्धान्त का। यह घटना ४०० ई० के आसपास की है। यह निश्चित प्रमाण

है कि प्राचीन फारस के ज्योतिर्विदों को भारतीय ज्योतिष के कुण्डलीविज्ञान का पूरा पूरा पता था और कुण्डली बनाने की विद्या उन लोगों ने भारतीयों से सीखी थी। एक विद्वान् का कथन है कि नवम शती में अरबी ज्योतिषियों ने, विशेषतः अल-कश्रानी और अल-सैमारी ने भारतीय ज्योतिष की जो विपुल सामग्री अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत की है, वह प्राचीन फारस के द्वारा ही उन्हें प्राप्त हुई थी।

सिन्दहिन्द की रचना

अब अरबी ज्योतिष के ऊपर भारतीय ज्योतिष के प्रभाव का निरीक्षण करें। खुसरो *अनूशीरवान तथा यज्दजिर्द तृतीय के शासन काल में* प्रस्तुत किये गये जीज-अल-शाह के अरबी संस्करण के द्वारा अष्टम शती के अन्त में अरब लोगों को भारतीय ज्योतिर्विद्या से परिचय प्राप्त हो गया। परन्तु अरब लोगों ने साक्षात् रूप से भारतीयों से सम्पर्क में आकर इस विद्या का प्रभूत ज्ञान प्राप्त किया। दशम शती के *आरम्भ में उत्पन्न इब्न अल आदमी नामक अरबी ज्योतिषी ने लिखा है कि बगदाद के* शासक अल्मन्सूर के दरबार में एक अज्ञातनामा ज्योतिषी भारत से आया और फजारी तथा याकूब इब्न-तारीक नामक ज्योतिर्विदों के साहाय्य से सिन्दहिन्द नामक ग्रन्थ का अनुवाद प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ के केवल खण्ड ही मिलते हैं परन्तु इतने अंश के परीक्षण से भी उसमें भारतीय ज्योतिष प्रक्रिया का ज्ञान उपलब्ध होता है। सिन्दहिन्द के वर्ण्यविषयों का प्रचुर ज्ञान अल ख्वारिज्मी के द्वारा ८३० ई० आसपास लिखित जीज (सारिणी) से होता है। आजकल इसके विषय का ज्ञान हमें अनुवादों की सहायता से यथार्थतः होता है। होनेद न अल-मज्रीती नामक विद्वान् ने दशम *शती के अन्त में मूल अरबी के जीज का संशोधित संस्करण निकाला* जिसका १२ शती के आरम्भ में बाथ के अडेलार्ड नामक विद्वान् ने लातिनी भाषा में अनुवाद किया। इस लैटिन अनुवाद के परीक्षण से स्पष्ट है कि स्थान-स्थान पर परिवर्तन तथा संशोधन होने पर भी सिन्दहिन्द का संस्कृत मूल ब्रह्मगुप्त विरचित ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त ही है। अल ख्वारिज्मी के मूल ग्रन्थ पर टीका का प्रणयन ८७५ ई० के आसपास किया गया। काहिरा के पुस्तकालय में उपलब्ध इस टीका का हस्तलेख जब प्रकाशित होगा, तब इस ग्रन्थ के विषय में अन्य अज्ञात तथ्यों का पूर्ण परिचय प्राप्त हो सकेगा।

नवमशती के अरबी ग्रन्थों में अर्जभर (या आर्यभट) का नाम प्रायः उल्लिखित मिलता है, परन्तु उनके सम्प्रदाय के तथ्यों का पता नहीं चलता। इससे यह सन्दिग्ध है कि इनके ग्रन्थ का अनुवाद अरबी में हो गया था अथवा यह केवल नाम से परिचित था। परन्तु इतना निश्चित है कि जीज-अल-शाह के पिछले दो संस्करण (अरकन्द के ऊपर आधारित) तथा सिन्दहिन्द (ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त पर आश्रित) — ये ही

दोनों ग्रंथ अरब लोगों के आकाशीय गणित के ऊपर निर्मित प्रथम ग्रंथ हैं जो अरबों के ज्योतिष विषयक परिचय के पर्याप्त सूचक हैं। अल् मामून के शासन काल में अल्मेजेस्ट का अनुवाद यूनानी भाषा से सीधे तौर पर अरबी में किया गया और भारतीय ज्योतिष का प्रभाव अब धीरे धीरे अरब से कम होने लगा। अरबों ने दार्शनिक क्षेत्र में अरस्तू तथा प्लोटिनस के सिद्धान्तों को अपनाया और अब उनकी भारतीय सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा कम हो चली, परन्तु केवल स्पेन में सिन्दहिन्द का प्रभाव १२ वीं शती तक चलता रहा और यह प्रभाव इतना सुदीर्घकालीन तथा व्यापक था कि यूरोप में लैटिन भाषा में लिखित ज्योतिष का प्रथम गम्भीर ग्रंथ ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त के अनुवाद के संशोधित संस्करण का केवल अनुवाद ही था और इस प्रकार भारतीय ज्योतिष की विद्या सिन्दहिन्द के इस परोक्ष अनुवाद के द्वारा समग्र यूरोप में व्याप्त हो गयी।

फलित ज्योतिष का प्रभाव

भारतीय सिद्धान्त ज्योतिष के साथ ही साथ फलित ज्योतिष का भी प्रभाव अरब के ज्योतिषियों पर पड़ा। भारतीय फलित की बहुत सी बातें पहलवी के द्वारा अरबवासियों को प्राप्त हुई थीं, क्योंकि पहलवी भाषा में भारतीय फलित के अनेक सिद्धान्त निबद्ध पाये जाते हैं। परन्तु फलित ज्योतिष के विषय में अरब को भी भारत से साक्षात् सम्पर्क की कमी नहीं थी। कनक नामक एक दैवज्ञ के भारत से बगदाद में जाने तथा हारूँ अल-रशीद के दरबारी ज्योतिषियों में अन्यतम होने का उल्लेख मिलता है। बहुत सम्भव है कि यह कनक दैवज्ञ वही कनकाचार्य हैं जिसके वियोनि जन्म विषयक मत का उल्लेख कल्याणवर्मा ने अपने ग्रंथ 'सारावली' में किया है।[1] कनक के समस्त ग्रन्थों की तो उपलब्धि नहीं होती, परन्तु उनके कुछ अंश इब्न हिब्रिन्ता के द्वारा अन्य स्रोतों से आज भी उपलब्ध हैं। नवम शती के आरम्भ में अनेक अरबी ग्रंथों में भारतीय फलित दैवज्ञों के नाम मिलते हैं। इनके विचित्र अरबी नामों में एक ऋषि का, एक राजा का तथा एक जिन का नाम मिलता है जो निश्चयेन भारतीय फलित ज्योतिषियों के नामों के संकेत हैं। अरब वालों ने भारत के फलित ज्योतिष को, सिद्धान्त ज्योतिष के समान ही, बाइजेन्टियम तथा पश्चिम लैटिन देशों को धरोहर के रूप में दिया। ११वीं शती में एल्यूथिनस जेबजनुस नामक ज्योतिषी ने चार खण्डों में पूरबी यूनानी भाषा में एक विशाल ग्रंथ का

---

१ दैवविदां प्रीतिकरं विस्मयनीयं समस्तलोकस्य।
कनकाचार्यस्य मताद् वियोनि सञ्ज प्रवक्ष्यामि॥
सारावली, १ श्लोक /५ अ०, काशी सं० १९५३।

संकलन किया जो अखमत् नामक किसी फारसी के ग्रंथ का अनुवाद कहा जाता है। इस ग्रंथ के प्रति पृष्ठ पर भारतीय फलित का भूरिश. प्रभाव पदे पदे लक्षित होता है।

नवम शती का सबसे बड़ा अरबी फलित ज्योतिषी था आबू मशहूर अलबल्खी। इसने अपने ग्रंथों मे भारतीय, फारसी तथा यूनानी ज्योतिष की परम्पराओं को एक सूत्र मे समन्वित कर बाँधने का श्लाघनीय प्रयास किया है। उसने भारतीय फलित के सिद्धान्तों को प्राप्त किया फारसी स्रोतों से, कनक के समान दैवज्ञों से तथा सम्भवत अपने व्यक्तिगत सम्पर्क के द्वारा भी। वह भारत के राजाओं के सम्पर्क मे सम्भवत आया था, क्योंकि उसके शिष्य श हदान के मधूकरान से पता चलता है कि उसने किसी भारतीय नरेश के पुत्र की कुण्डली ८२६ ई० मे तैयार की थी। उसके ग्रंथो मे पूर्वोक्त तीनों सम्प्रदायों की मूल बातें एकत्र सम्मिलित की गई हैं। ग्रहों की गति का मध्यमान उसने ग्रहण किया सिन्दहिन्द से, जो ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त के ही सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रंथ है। उसने युगसिद्धान्त के आधार पर गणना की और तीन लाख ६० हजार वर्षों का युगमान माना। ग्रहों का समीकरण उसने फारसी जीज-अल् शाह् (राजकीय सारणी) से लिया और हम देख चुके हैं कि यह सारणी अर्कन्द के ऊपर आधारित है। इस प्रकार अनेक ज्योतिष सम्प्रदायों का एकत्रीकरण कर उनमे परस्पर सन्तुलन बैठाना इस वरिष्ठ ज्योतिषी का ही महनीय कार्य है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि भारतीय सिद्धान्त तथा भारतीय फलित— उभय प्रकार के ज्योतिष ने ससान्वशीय ईरान के ऊपर तथा आरम्भिक इस्लाम पर अपना अमिट प्रभाव डाला। यह तो अभी तुलनात्मक अध्ययन का आरम्भ है। आज भी संस्कृत, ग्रीक, फारसी, अरबी तथा लैटिन भाषा मे हजारों हस्तलेख पड़े हैं जिनके अध्ययन से इस विषम समस्या का समाधान भली भाँति निकाला जा सकता है।[1]



१ विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य डा० डेविड पिंग्रे का एतद्विषयक गवेषणात्मक निबन्ध (जर्नल आफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, खण्ड ११, १९६८ ई०, पृष्ठ १–८)। लेखक ने ऊपर निबद्ध तथ्यों के लिए इसी ग्रंथकार को प्रमाणभूत माना है जिनका इस विषय का शोध नितान्त स्तुत्य है।

तृतीय परिच्छेद

साहित्यशास्त्र
का
इतिहास

(१) साहित्यशास्त्र
(२) छन्दोविचित
(३) कोशविद्या

विना न साहित्यविदा परत्र
गुण कथञ्चित् प्रथते कवीनाम् ।
आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव
विस्तारमन्यत्र न तैलबिन्दु ॥

—मङ्खक,

उपकारकत्वात् अलङ्कार सप्तममङ्गम् ।
ऋते च तत्स्वरूप-परिज्ञानाद् वेदार्थानवगति ॥

—राजशेखर

अपूर्वं यद् वस्तु प्रथयति विना कारणकला
जगद् ग्रावप्रख्य निजरसभरात् सारयति च ।
क्रमात् प्रख्योपाख्यप्रसर-सुभग भासयति यत
सरस्वत्यास्तत्त्व कवि-सहृदयाख्य विजयतात् ॥

—अभिनवगुप्त

तृतीय परिच्छेद

साहित्यशास्त्र का इतिहास

भारतवर्ष का यह सुन्दर देश सदा से प्रकृति-नटी का रमणीय रंगस्थल बना हुआ है। प्रकृति-देवी ने अपने कर-कमलों से सजाकर इसे शोभा का आगार तथा सुषमा का निकेतन बना रखा है। इसका बाह्य रूप जितना अभिराम है, आन्तर रूप उतना ही आभामय है। इसका बाहरी रूप कितना सुन्दर है—उत्तर में हिम से आच्छादित हिमकिरीटी हिमालय है, जिसका शुभ्र शिखर-श्रेणी सौन्दर्य का मूर्तिमान् अवतार है। दक्षिण में नील आभामय नीलाम्बुधि, जिसकी चपल लहरियाँ इसके चरण-युगल को धोकर निरन्तर शोभा का विस्तार करती हैं। पश्चिम में अरब का प्रभा-मण्डित अर्णव और पूरब में श्यामल बंगाल की खाड़ी। मध्य देश में बहती हैं गंगा, यमुना की विमल धाराएँ। इस बाह्य रूप के समान ही इसका आभ्यन्तर रूप भी सुन्दर तथा अभिराम है। इसे ललित कला तथा कमनीय कविता की जन्मभूमि मानना सर्वथा उचित है। अत्यन्त प्राचीन काल में कमनीय कविता का उद्गम इसी भारत भूतल पर सम्पन्न हुआ।

नामकरण

आलोचनाशास्त्र की उत्पत्ति इस देश में अपेक्षाकृत प्राचीन समय में हुई तथा उसका विकास अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का परिणाम है। आलोचना-शास्त्र का प्राचीन तथा लोकप्रिय अभिधान है--अलंकारशास्त्र। साहित्यशास्त्र भी इसी का अभिधान है, परन्तु कालक्रम से इसकी उत्पत्ति मध्ययुगीन तथा अवान्तर-कालीन है। 'अलंकारशास्त्र' नामकरण उस युग की स्मृति बनाये हुए है जब अलंकार का तत्त्व काव्यगत अभिव्यंजना के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। अलंकार-युग हमारे शास्त्र के आद्य आचार्य भामह से भी प्राचीनतर है तथा वह उद्भट, वामन तथा रुद्रट के समय तक विद्यमान था। इन आचार्यों के ग्रन्थों के नाम से इसका पूरा परिचय मिलता है। भामह के ग्रंथ का नाम है—काव्यालंकार। इसके टीकाकार उद्भट के ग्रंथ का अभिधान है—काव्यालंकार-सार-संग्रह। वामन तथा रुद्रट के ग्रंथों का नाम भी इसी शैली पर 'काव्यालंकार' है। दण्डी के ग्रन्थ का नाम 'काव्यादर्श' अलंकार के तत्त्व पर आश्रित नहीं है, फिर भी, दण्डी 'अलंकार' को

काव्य मे आवश्यक उपकरण मानने मे इन सब आचार्यों मे अप्रतिम हैं। साहित्यशास्त्र के आरम्भयुग मे 'अलकार' ही कविता का सबसे अधिक महत्त्वशाली उपकरण माना जाता था। अलकारयुग इस शास्त्र के इतिहास मे अनेक दृष्टियो से महत्त्व रखता है। कारण यह है कि अलकार की गहरी मीमासा करने से एक ओर 'वक्रोक्ति' का सिद्धान्त उद्भूत हुआ, तो दूसरी ओर दीपक, पर्यायोक्ति, तुल्ययोगिता आदि अलकारो के द्वारा काव्य मे प्रतीयमान अर्थ से सम्पन्न ध्वनि' के सिद्धान्त का भी उदगम हुआ। 'वक्रोक्ति' तो अलकार युग की ही देन है, इसमे तनिक भी सन्देह नहीं है। इसलिए इसके अप्रतिम आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' को 'काव्यालकार' के नाम से अभिहित किया है[1]। कुमारस्वामी का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि रस, ध्वनि, गुण, आदि विषयो के प्रतिपादक होने पर भी प्राधान्य दृष्टि से ही इस शास्त्र का 'अलकारशास्त्र' अभिधान युक्तियुक्त है[2]। इस आलोचनाशास्त्र मे *विवेच्य विषय तो अनेक हैं —रस, ध्वनि, गुण, दोष आदि, परन्तु प्राधान्य है अलकार* का ही। और 'प्राधान्यतो व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से प्रधानता के ही हेतु यह 'अलकारशास्त्र' के नाम से प्रख्यात है।

वामन ने 'अलकार' शब्द के अभिप्राय को और भी महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय बना डाला। उनकी दृष्टि मे अलकार केवल शब्द तथा अर्थ की बाह्य शोभा का वर्धक भूषणमात्र न होकर काव्य का मूलभूत तत्त्व है। वामन के लिए अलकार सौन्दर्य का ही प्रतीक है—सौन्दर्यमलकार (वामन—काव्यालकार १।१।२)। काव्य मे *जितने शोभादायक तत्त्व है— दोषो का अभाव तथा गुणो का सद्भाव—जिनके द्वारा* काव्य की विशिष्टता अन्य प्रकार के शब्दार्थों से सिद्ध होती है, उन सबका सामान्य अभिधान है—अलकार। वामन के हाथ मे आकर इस शब्द ने अत्यन्त महत्त्व तथा गौरव प्राप्त कर लिया और यह सौन्दर्यशास्त्र का प्रतिनिधि माना जाने लगा।

सौन्दर्यशास्त्र

हमारे आलोचकों की सूक्ष्म गवेषणा काव्य के तत्त्वों मे 'सौन्दर्य' पर आकर टिकी थी। वे भली भांति जानते थे कि काव्य मे सौन्दर्य ही मौलिक तत्त्व है जिसके *अभाव मे न तो अलकार मे अलकारत्व रहता है और न ध्वनि मे ध्वनित्व*। दण्डी के शब्दो मे काव्य मे शोभा करने वाले धर्मों का ही नाम अलकार है।

---

१ काव्यास्यायमलकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते। —व० जी० १।३

२ यद्यपि रसालकाराद्यनेकविषयमिद शास्त्र तथापि छत्रिन्यायेन अलकारशास्त्रमुच्यते। —प्रतापरुद्रीय की टीका-रत्नापंण, पृ० ३।

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।
—काव्यादर्श २।१

यदि अलकार मे शोभाधायक गुण का अभाव हो, तो यह 'भूषण' न होकर नि सदेह 'दूषण' बन जाएगा। अभिनवगुप्त ने अलकार के लिए चारुत्व के अतिशय को नितात आवश्यक माना है[1]। चारुत्व के अतिशय से विरहित अलंकार की काव्य मे कोई भी उपादेयता नही होती। जो सोने की अंगूठी अंगुलियो की शोभा बढाने मे समर्थ नहीं होती, वह सर्वथा त्याज्य ही है, स्पृहणीय नही। अत अलकार का सर्वमान्य गुण है चारुत्व सौन्दर्य।

भोजराज का भी यही मत है। उन्होने दण्डी के मत का अनुसरण कर काव्य-शोभाकरत्व' को अलकार का सामान्य लक्षण माना है और 'धूमोऽयमग्ने' (अग्नि के कारण यह धूम है)—वाक्य किसी प्रकार के सौन्दर्य के अभाव मे किसी भी अलकार का उदाहरण नही बन सकता, ऐसा वे मानते हैं। अप्पय दीक्षित ने अपनी 'चित्रमीमासा' मे इसी बात पर विशेष जोर देते हुए लिखा है—

सर्वोऽपि अलकार कविसमयप्रसिद्धयनुरोधेन हृद्यतया काव्यशोभाकर एव अलकारता भजते। अत 'गोसदृशो गवयः' इति नोपमा।
—चित्रमीमासा, पृ० ६।

'गाय सदृश गवय होता है' इस वाक्य मे सादृश्य होने पर भी उपमा अलकार का इसीलिए अभाव है कि यहां किसी प्रकार का सौन्दर्य नही है। अलकार के लिए यह सामान्य नियम है कि वह हृदयावर्जक होता हुआ काव्य की शोभा का विधायक भी होता है।

अलकार के लिये ही इस आवश्यक उपकरण की अपेक्षा नही रहती, प्रत्युत ध्वनि के लिए भी। किसी काव्य में प्रतीयमान अर्थ का सद्भाव ही 'ध्वनि' के लिए पर्याप्त नही होता, प्रत्युत उसे सुन्दर भी होना ही चाहिए। असुन्दर प्रतीयमान अर्थ से 'ध्वनि' का उदय कभी नही होता। अभिनवगुप्त का इस विषय मे स्पष्ट कथन है कि ध्वनन व्यापार होने पर भी गुण अलकार के औचित्य से सम्पन्न, सुन्दर शब्दार्थ

---

१ तथा जातीयानामिति। चारुत्वातिशयवतामित्यर्थ। सुलक्षिता इति यत किलैषा तद्विनिर्मुक्त रूपं च तत् वाच्येऽभ्यर्थनीयम्। उपमा हि 'यथा गौस्तथा गवय.' इति ... एवमन्यत्। न चैवमादि काव्योपयोगीनि।
— लोचन, पृ० २१०

शरीर वाले वाक्य को काव्य की पदवी दी जाती है।[1] इसलिए ध्वनन व्यापार होने पर ही 'ध्वनि' की सत्ता सर्वत्र मानी नहीं जा सकती, क्योंकि ध्वनि के लिए ध्वनन व्यापार की ही अपेक्षा नहीं रहती, प्रत्युत उसके सौन्दर्य मण्डित होने की भी नितान्त आवश्यकता रहती है। अभिनवगुप्त की उक्ति नितान्त स्पष्ट है—

तेन सर्वत्रापि न ध्वननतद्भावेऽपि तथा व्यवहार। (लोचन, पृ० २८)

इसलिए अभिनवगुप्त का यह परिनिष्ठित मत है—सौंदर्य ही काव्य की, कला की आत्मा है--

यच्चोक्तम्-- चारुत्वप्रतीति तर्हि काव्यस्य आत्मा' इति तद् अगीकुर्म एव। नास्ति खल्वय विवाद इति--(लोचन, पृ० ३३)।

इस अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय आलोचको की दृष्टि काव्य के बाह्य उपकरणो को हटकर अन्तस्थल तक पहुची हुई थी। वे केवल बाह्य अलकार को काव्य का भूषण मानने के लिए तब तक उद्यत नहीं होते थे, जब तक उनमें 'सौन्दर्य' की सत्ता नहीं होती थी। यही सौदर्य भिन्न भिन्न अभिधानो से प्रसिद्ध था। चमत्कार, विच्छित्ति, वैचित्र्य तथा वक्रता इसी सौन्दर्यतत्त्व की भिन्न भिन्न सज्ञाएँ हैं। भारतीय आलोचनाशास्त्र के अन्तरग से अपरिचित ही विद्वान् यह दोषारोपण किया करते है कि यह केवल बहिरग की समीक्षा को ही अपना सवस्व मानता है तथा अलकार जैसे बाहरी अस्थायी शोभातत्त्व को ही काव्य का मुख्य आधायक मानता है। परन्तु तथ्य इससे नितान्त भिन्न है। यह आरोप एकदम मिथ्या तथा निराधार है। यह शास्त्र काव्य की आत्मा के समीक्षण में ही अपनी चरितार्थता मानता है। फलत यहाँ बहिरग के साथ अन्तरग की, शरीर के साथ आत्मा की पूरी समीक्षा भारतीय आलोचनाशास्त्र का मुख्य तात्पर्य है।

सौन्दर्य को अत्यन्त महत्त्वशाली मानने पर भी हमारा शास्त्र 'सौंदर्यशास्त्र' के नाम से अभिहित होते होते बच गया। ऐसा होने पर यह पाश्चात्यों के 'ऐसथेटिक्स' का पर्यायवाची शास्त्र बन गया होता, परन्तु सौंदर्य शास्त्र का क्षेत्र साहित्यशास्त्र के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक तथा विशाल है। साहित्यशास्त्र तो केवल शब्द। माध्यम द्वारा निर्मित कला की ही योजना करता है, परन्तु सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं (जैसे मास्कर्य, चित्र तथा सगीत आदि) में निर्दिष्ट चारुत्व को भी अपने क्षेत्र के अन्तर्गत करता है। अत दोनो का पार्थक्य मानना न्यायसगत है।

---

१ गुणालङ्कारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननाख्यात्मनि आत्मनि काव्यरूपताव्यवहार —(लोचन पृ० १७)।

साहित्यशास्त्र

मध्ययुग में हमारे शास्त्र के लिए 'साहित्यशास्त्र' का अभिधान पड़ा। सबने प्रथम राजशेखर ने (१० शतक) इस शब्द का प्रयोग हमारे शास्त्र के लिए किया है—**पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीय** (काव्यमीमांसा, पृ ४)। साहित्य शब्द की उत्पत्ति के मूल में शब्द तथा अर्थ के परस्पर वैयाकरण सम्बन्ध की घटना आवश्यक है। इस शब्द की उत्पत्ति भामहकृत काव्यलक्षण से हुई। भामह का लक्षण है—**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्** (काव्यालकार १।१६) और साहित्य की व्युत्पत्ति है—**सहितयो शब्दार्थयो भावः साहित्यम्**। आनन्दवर्धन के समय में इस शब्द की महत्ता अंगीकृत हो चली थी, परन्तु भोज और कुन्तक ने इस शब्द के वास्तव महत्वपूर्ण तात्पर्य का प्रकाशन कर इसकी महिमा का स्फुटीकरण किया। कुन्तक 'साहित्य' के अभिप्राय प्रकाशक हमारे मान्य आलोचक हैं। उनके पश्चात इस शब्द का गौरव बढ़ने लगा और रुय्यक ने 'साहित्यमीमांसा' तथा कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' लिखकर इस अभिधान को और भी लोकप्रिय बनाया। विश्वनाथ कविराज के ग्रन्थ के समधिक लोकप्रिय होने से यह नाम अधिकतर व्यापक हुआ। इस प्रकार 'अलकारशास्त्र' के समान प्राचीन न होने पर भी यह नाम उतना ही लोकप्रिय तथा व्यापक है।

क्रियाकल्प

इन अभिधानों की अपेक्षा इस शास्त्र का एक प्राचीनतम नाम है—क्रियाकल्प, जिसका उल्लेख चौसठ कलाओं की गणना में कामशास्त्र में किया गया है। 'काव्य-क्रिया' के अनन्तर दो सहायक विद्याओं के नाम आते हैं—(१) अभिधानकोश, (२) छन्दोज्ञान। तदनन्तर क्रियाकल्प का नाम कलाओं की गणना में आता है। यह विद्या भी काव्य विद्या से ही सम्बद्ध होनी चाहिए। और है भी वैसी ही। क्रियाकल्प का पूरा नाम है काव्यक्रियाकल्प, अर्थात् काव्यक्रिया की विधि या आलोचनाशास्त्र। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग साहित्य-ग्रन्थों में मिलता भी है। ललितविस्तर में कलाओं की गणना में 'क्रियाकल्प' का उल्लेख है। कामशास्त्र की टीका जयमगला के अनुसार इसका अर्थ है—**क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधि काव्यालकार इत्यर्थ** (अलंकारशास्त्र)। दण्डी इस नाम से परिचित प्रतीत होते हैं। उनका कथन है—

वाचा विचित्रमार्गाणा निबबन्धु क्रियाविधिम्—(काव्यादर्श १।९)।

यहाँ 'क्रियाविधि' क्रियाकल्प का ही नामान्तर है और दण्डी के टीकाकारों ने इस शब्द की व्याख्या इसी अर्थ में की है। रामायण के उत्तरकाण्ड में अनेक कलाओं

और विद्याओं के साथ इस शब्द का भी प्रयोग उपलब्ध होता है। ९४ वें अध्याय में (श्लोक ४–१०) वाल्मीकि ने लवकुश के गायन को सुनने वाले विद्वानों की चर्चा की है जो राम की सभा में उपस्थित थे। उनमें पण्डित, नैगम, पौराणिक, शब्दविद् (वैयाकरण), स्वरलक्षणज्ञ, गान्धर्व, कला-मात्रविभागज्ञ, पदाक्षरसमासज्ञ, छन्दसि परिनिष्ठित लोग उपस्थित थे। इनके साथ उपस्थित थे—

"क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जना" (श्लोक ७)।

व्याकरण तथा छन्दःशास्त्र के साथ अलंकारशास्त्र का ही निर्देश युक्ततर प्रतीत होता है। इस श्लोक में दो प्रकार के व्यक्तियों का निर्देश किया गया है। एक तो वे हैं जो सामान्य रूप से काव्य को जानते हैं (काव्यविद) और दूसरे वे हैं जो काव्य की समीक्षा के वेत्ता हैं। दोनों में यह सूक्ष्म अन्तर अभीष्ट है। एक तो सामान्य रूप में काव्य को समझते-बूझते हैं और दूसरे काव्य के अन्तरंग को पहचानने वाले हैं (क्रियाकल्पविद)। इस व्याख्या से इस शास्त्र के नाम तथा गुण की गरिमा का पता भलीभाँति चलता है।

अतः दण्डी, वात्स्यायन तथा रामायण के साक्ष्य पर यह निःसन्देह प्रतीत होता है कि हमारे आलोचनाशास्त्र का प्राचीनतम नाम 'क्रियाकल्प' था और यह सुप्रसिद्ध चतुःषष्टि कलाओं में अन्यतम कला माना जाता था।

शास्त्र का प्रारम्भ

भारतीय साहित्य में अलंकारशास्त्र एक महनीय तथा सुप्रतिष्ठित शास्त्र है जिसके सिद्धान्त का प्रतिपादन विक्रम के आरम्भकाल से लेकर आज तक—लगभग २००० वर्ष के सुदीर्घ काल में—होता चला आ रहा है, परन्तु इस शास्त्र का आरम्भ किस काल में हुआ ? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। राजशेखर ने काव्यमीमांसा के आरम्भ में इस शास्त्र के उदय की चर्चा की है। यह वर्णन किसी भी अलंकार-ग्रन्थ में अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है, परन्तु अब तक अज्ञात होने के कारण इस वर्णन की हम अवहेलना भी नहीं कर सकते। बहुत सम्भव है कि राजशेखर किसी प्राचीन परम्परा का अनुसरण कर रहे हों, जो या तो सर्वथा उच्छिन्न हो गयी है या बहुत ही कम प्रसिद्ध है। राजशेखर के अनुसार काव्यमीमांसा का प्रथम उपदेश भगवान् शिव ने ब्रह्मा, विष्णु आदि अपने ६४ शिष्यों को दिया। स्वयम्भू ब्रह्मा ने भी अपने मानसजन्मा विद्यार्थियों को इस शास्त्र का उपदेश दिया। इन्हीं में सबसे वन्दनीय सर्वशास्त्रवेत्ता थे सरस्वती के पुत्र सारस्वतेय काव्यपुरुष। प्रजापति ने प्रजाओं को

हितकामना से प्रेरित होकर इन्हीं काव्यपुरुष को काव्य-विद्या की प्रवर्तना के लिए नियुक्त किया। उन्होंने इस विद्या को अठारह अधिकरणों में लिखकर अठारह शिष्यों को अलग-अलग पढ़ाया। इन शिष्यों ने गुरु के द्वारा प्रदत्त विद्या के बहुल प्रचार के लिए काव्य के अठारहों अङ्गों पर अठारह ग्रंथों का निर्माण किया[1]। सहस्राक्ष ने कविरहस्य का, उक्तिगर्भ ने औक्तिक का सुवर्ण-नाभ ने रीतिनिर्णय का, प्रचेतायन ने अनुप्रास का, चित्राङ्गद ने यमक और चित्र का, शेष ने शब्दश्लेष का, पुलस्त्य ने वास्तव का, औपकायन ने औपम्य का, पाराशर ने अतिशय का, उतथ्य ने अर्थश्लेष का, कुबेर ने उभयालंकारिक का, कामदेव ने विनोद का, भरत ने रूपक निरूपण का, नन्दिकेश्वर ने रसाधिकारिक का, धिषणा ने दोषाधिकरण का, उपमन्यु ने गुणोपादानिक का तथा कुचमार ने औपनिषदिक का स्वतन्त्र शास्त्रों मे वर्णन किया।

इन आचार्यों में कतिपय आचार्य वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में भी वर्णित हैं। सुवर्णनाभ और कुचमार (अथवा कुचुमार) कामशास्त्र में उपजीव्य आचार्यों के रूप में उल्लिखित किये गये हैं (कामसूत्र १।१।१३, १७)। नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत को रूपक का शास्त्रकर्ता मानना उचित ही है। नन्दिकेश्वर का रसविषयक ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नही हुआ है, परन्तु कामशास्त्र, संगीत तथा अभिनय के विशेषज्ञ के रूप मे उनका उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ पंचसायक तथा रतिरहस्य में नन्दीश्वर कामशास्त्र के एक आचार्य माने गये हैं। अभिनय-विषयक इनका ग्रंथ अभिनय-दर्पण के नाम से प्रसिद्ध है[2]। संगीतरत्नाकर में शार्ङ्गदेव नन्दिकेश्वर को संगीत का आचार्य मानते हैं इन आचार्यों के अतिरिक्त राजशेखर के द्वारा उल्लिखित ग्रंथकारों का परिचय नही मिलता।

वेदों मे अलंकार

वैदिक साहित्य में अलंकार शास्त्र का कहीं भी निर्देश नहीं मिलता और न वेद के षडङ्गों मे अलंकार शास्त्र की गणना है, परन्तु इस शास्त्र के मूलभूत अलंकार उपमा रूपक, अतिशयोक्ति आदि के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हमे वैदिक संहिताओं और उपनिषदों मे उपलब्ध होते हैं। अलंकारों मे उपमा तो अत्यन्त प्राचीन है।

---

१ राजशेखर—काव्यमीमांसा, पृ० १।

२ 'अभिनय दर्पण'—संस्कृत मूल तथा अंग्रेजी अनुवाद के साथ कलकत्ता संस्कृत सीरीज मे (नं० ५, १९३४ ई०) प्रकाशित हुआ है। इसके पहले डा० कुमारस्वामी ने इसका केवल अंग्रेजी अनुवाद 'मिरर आफ जेस्चर' के नाम से प्रकाशित किया है।

इसका सम्बन्ध कविता के प्रथम आविर्भाव से ही है। आर्यों की प्राचीनतम कविता ऋग्वेद में उपनिबद्ध है। बहुत से अलंकारों के उदाहरण ऋग्वेद की ऋचाओं में मिलते हैं। उषा-विषयक इस ऋचा में चार उपमाएँ एक साथ दी गई हैं—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची, गर्ताहगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा, उषा हस्रेव निरिणीते अप्स ॥
(ऋ० वे० १।१२४।७)

अतिशयोक्ति अलङ्कार का यह उदाहरण देखिये—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥
(ऋ० वे० १।१६४।२०)

रूपकालङ्कार का सुन्दर प्रयोग कठोपनिषद् के इस सुप्रसिद्ध मन्त्र में हैं—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
(कठोपनिषद् १।३।३)

इन उदाहरणों में स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रों में अलङ्कारों की सत्ता स्पष्टतः विद्यमान है। यही क्यों? उपमा शब्द भी ऋग्वेद (५।३४।९,१।३१।१५) में उपलब्ध होता है जिसका सायण ने अर्थ किया है—उपमान या दृष्टान्त। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इतने प्राचीन काल में उपमा का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया था। यह केवल सामान्य निर्देश है।

निरुक्त में 'उपमा'

उपमा के वर्णन तथा विभाजन का निश्चित रूप से विवेचन निघण्टु तथा निरुक्त में मिलता है। भाषा के सामान्य विवेचन के अनन्तर उसे शोभित करनेवाले अलङ्कारों की ओर लेखकों की दृष्टि जाना स्वाभाविक है। निरुक्त में 'अलङ्कार' शब्द पारिभाषिक अर्थ में उपलब्ध नहीं होता, परन्तु यास्क ने 'अलङ्करिष्णु' शब्द का प्रयोग अलंकृत करने के शीलवाले व्यक्ति के अर्थ में अवश्य किया है। यह शब्द इसी अर्थ में शतपथ ब्राह्मण (३।५।१।३६) तथा छान्दोग्य उपनिषद् (८।८।५) में भी उपलब्ध होता है। परन्तु निघण्टु में वैदिक उपमा के द्योतक बारह निपातों (अव्ययों) का उल्लेख किया गया है। इसी प्रसंग में यास्क ने उपमा के अनेक भेद

तथा गार्ग्य नामक वैयाकरण द्वारा उपमा के लक्षण का वर्णन अपने ग्रन्थ मे किया है। गार्ग्य निरुक्तकार यास्क से भी प्राचीन आचार्य थे। उनका उपमा का लक्षण इस प्रकार है[1]—उपमा यत् अतत् तत्सदृशमिति—अर्थात् उपमा वहाँ होती है जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होते हुए भी उसी के सदृश हो। दुर्गाचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट लिखा है कि उपमा वहाँ होती है जहाँ स्वरूपत भिन्न होते हुए भी कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के साथ गुण की समानता के कारण सदृश मानी जाय[2]। गार्ग्य का यह भी उल्लेख है कि उपमान को उपमेय की अपेक्षा गुणो मे श्रेष्ठ तथा अधिक होना चाहिए। इसके विपरीत भी उदाहरण दिये गये हैं, जहाँ हीन गुणवाले उपमान से अधिक गुणवाले उपमेय की तुलना की गई है और इस प्रसग मे ऋग्वेद से उदाहरण भी दिये गये हैं। गार्ग्य के इस उपमा-लक्षण को देखकर किसी भी आलोचक को मम्मट के सुप्रसिद्ध उपमा-लक्षण का स्मरण आये बिना नही रहेगा[3]। इससे स्पष्ट है कि निरुक्तकार (६०२ ईसा-पूर्व) से पूर्व ही उपमा की शास्त्रीय कल्पना हो चुकी थी।

यास्क ने पाँच प्रकार की उपमा का वर्णन अपने ग्रन्थ मे किया है[4]। उपमा के द्योतक निपात—इव, यथा, न चित्, नु और आ हैं। इन वाचक पदो के प्रयोग होने पर यास्क के अनुसार 'कर्मोपमा' होता है। 'भ्राजन्तो अग्नयो यथा' (ऋ० वे० १।५०।३) 'अग्नि के समान चमकते हुए' यह कर्मोपमा का उदाहरण है।

भूतोपमा वहाँ होती है जहाँ उपमित स्वय उपमान बन जाता है। रूपोपमा वहाँ होती है जहाँ उपमित उपमान के साथ स्वरूप के विषय मे समता रखता है। सिद्धोपमा मे उपमान स्वत सिद्ध रहता है और एक विशेष गुण या कर्म के द्वारा अन्य वस्तुओ से बढकर रहता है। वत् प्रत्यय के जोडने पर यह उपमा निष्पन्न होती है—'ब्राह्मणवत्' 'वृषलवत्'। अन्तिम भेद अर्थोपमा है जिसका दूसरा नाम लुप्तोपमा है। यह पिछले आलकारिको का रूपकालकार है। इस उपमा के उदाहरण हैं—'सिंह पुरुष' तथा 'काक पुरुष'। यास्क के अनुसार सिंह तथा व्याघ्र शब्द

१. अर्थात् उपमा यत् अतत् तद् सदृशमिति गार्ग्य। तदासा कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयास वा प्रख्यात वोपमिमीते, अथापि कनीयसा ज्यायासम—निरुक्त ३।१३।

२ सव एतत् तत्स्वरूपेण गुणेन गुणसामान्यात् उपमीयते इत्येव गार्ग्याचार्यो मन्यते। दुर्गाचार्य—निरुक्त की टीका। ३।१३।

३. साधर्म्यम् उपमा भेदे—काव्यप्रकाश १०।१।

४ यास्क—निरुक्त ३।१३।१८।

—पूजा के अर्थ मे और श्वा तथा काक, निन्दा के अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं। इस विभाजन से यह प्रतीत होता है कि यास्क के समय मे अलकार का शास्त्रीय विवेचन आरम्भ हो चुका था।

पाणिनि और उपमा

पाणिनि के (५०० ईसा-पूर्व) समय मे उपमा की यह शास्त्रीय कल्पना सर्वत्र स्वीकृत की गयी थी। इसीलिए पाणिनि की अष्टाध्यायी ने उपमान, उपमिति तथा सामान्य जैसे अलकार-शास्त्र के परिभाषिक शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। पूर्ण उपमा के चार अग होते हैं—उपमान, उपमेय, सादृश्यवाचक तथा साधारण धर्म। और इन चारो का स्पष्ट निर्देश पाणिनि ने अपने व्याकरण शास्त्र मे किया है। इतना ही नही, कृत्, तद्धित, समासान्त प्रत्ययो, समास के विधान तथा स्वर के ऊपर सादृश्य के कारण जो व्यापक प्रभाव पडता है उसका पाणिनि के सूत्रो मे स्पष्ट उल्लेख है। कात्यायन इस विषय मे पाणिनि के स्पष्ट अनुयायी हैं। शान्तनव नामक आचार्य ने अपने फिट् सूत्रों (७।१६,४।१८) मे स्वरविधान पर सादृश्य का जो प्रभाव पडता है उसका स्पष्ट वर्णन किया है। पतञ्जलि ने पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त 'उपमान' शब्द की व्याख्या महाभाष्य (२।१।५५) मे की है। उनका कहना है कि 'मान' वह वस्तु है जो किसी अज्ञात वस्तु के निर्धारण के लिए प्रयुक्त की जाती है। 'उपमान' मान के समान होता है और वह किसी वस्तु का अत्यन्त रूप से नही प्रत्युत सामान्य रूप मे निर्देश करता है, जैसे—'गौरिव गवय' गाय के समान नीलगाय होती है[२]। काव्यपद्धति से 'गौरिव गवय' चमत्कारविहीन होने के कारण उपमालकार का उदाहरण नही हो सकता, तथापि शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक दृष्टि से पतञ्जलि का यह उपमा-निरूपण महत्त्व रखता है।

व्याकरण का अलकारशास्त्र पर प्रभाव

अलकारशास्त्र के उदय का [illegible] का इतिहास जानने के लिए उस पर व्याकरणशास्त्र के व्यापक प्रभाव को [illegible] समझ लेना भी आवश्यक है। उपमा का श्रौती तथा आर्थी रूप मे

१ तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् २।३।७२।

उपमानानि सामान्यवचनैः २।१।५५।

उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे। २।१।५६।

२ मानं हि नाम अनिर्ज्ञातार्थमुपादीयते अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति। तत्समीपे यद् नात्यन्ताय मिमीते तद् उपमानं गौरिव गवय इति। पाणिनि २।१।५५। पर महाभाष्य।

विभाजन पाणिनि सूत्रों पर ही अवलम्बित है। जहाँ यथा, इव, वा आदि पदों के द्वारा साधर्म्य की प्रतीति होती है वहाँ आर्थी उपमा होती है। पाणिनि के 'तत्र तस्येव' सूत्र के अनुसार 'इव' के अर्थ में द्योतित करने के लिए जब वत् प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है तब श्रौती उपमा होती है, यथा—मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्रासादाः' अर्थात् मथुरा के समान पाटलिपुत्र में महल हैं। यहाँ—'मथुरावत्' पद में 'वत्' प्रत्यय सप्तमी विभक्ति से युक्त होने पर जोड़ा गया है। यहाँ 'मथुरावत्' का अर्थ है 'मथुरायामिव'। इसी प्रकार 'चैत्रवत् गोविन्दस्य गात्रं' इस वाक्य में 'वत्' प्रत्यय षष्ठी विभक्ति से युक्त पद में जोड़ा गया है, चैत्रवत्—चैत्रस्य इव। परन्तु जहाँ क्रिया के साथ सादृश्य का बोध कराना अभीष्ट होता है वहाँ भी 'वति' प्रत्यय जोड़ा जाता है और वहाँ आर्थी उपमा होती है। 'ब्राह्मणवत् क्षत्रियोऽधीते' इस वाक्य में आर्थी उपमा है और यह 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्र के अनुसार है। इसी प्रकार समासगा श्रौती उपमा 'इव' पद के प्रयोग करने पर 'इवेन सह नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च' वार्तिक के अनुसार होती है। इसी तरह कर्म तथा आधार में 'क्यङ्' प्रत्यय के प्रयोग होने पर तथा 'क्यच्' प्रत्यय के विधान करने पर कई प्रकार की लुप्तोपमाएँ उत्पन्न होती हैं। उपमा का यह समग्र विभाजन पाणिनि के सूत्रों के आधार पर ही किया गया है। इस विभाजन को सर्वप्रथम आचार्य उद्भट ने किया था। अतः यह अर्वाचीन आलंकारिकों के प्रयत्न का फल नहीं है, वरन् अलंकारशास्त्र के आदिम युग से सम्बन्ध रखता है।

उपमा के विषय में ही व्याकरण का प्रभाव नहीं लक्षित होता, प्रत्युत 'संकेत' के विषय में भी। संकेतग्रह के विषय में भी आलङ्कारिक वैयाकरणों का ही अनुयायी है[1]। नैयायिक लोग जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेत मानते हैं। मीमांसक केवल जाति में ही शब्दों का संकेत मानता है और जाति के द्वारा वह व्यक्ति का आक्षेप स्वीकार करता है। परन्तु आलंकारिक वैयाकरणों के 'चतुष्टयी हि शब्दानां प्रवृत्तिः' सिद्धान्त का अनुगमन करता है। पतञ्जलि के अनुसार शब्द का संकेत जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा में हुआ करता है और आलंकारिकों का भी यही मत है। इतना ही नहीं ध्वनि तथा व्यञ्जना के मौलिक सिद्धान्त भी वैयाकरणों के तथ्यों पर ही आश्रित हैं। ध्वनि की कल्पना स्फोट के ऊपर पूर्णतः अवलम्बित है, यह मम्मट ने स्पष्टतः स्वीकार किया है। वैयाकरण स्फोट को अभिव्यञ्जित करनेवाले केवल शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग करता है। परन्तु आलंकारिक ध्वनि के अर्थ को विस्तृत कर व्यञ्जना में समर्थ शब्द तथा अर्थ, दोनों के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग करता है—

1 संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।

—काव्यप्रकाश २।८

"बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। तन्मतानुसारिभिः अन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यवाचकस्य शब्दार्थयुगलस्य।"

—काव्यप्रकाश, उद्योग १।

भारतीय दार्शनिकों के मतों का खण्डन कर आलंकारिकों ने 'व्यंजना' नामक जिस नवीन शब्दशक्ति की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा के लिए अश्रान्त परिश्रम किया है उस की नवीन उद्भावना वैयाकरणों ने पहले ही की थी[1]। स्फोट की सिद्धि के लिए व्यंजना की कल्पना व्याकरणशास्त्र में की गई है। इसी कल्पना के आधार पर आलंकारियों ने भी व्यंजना का अपना भव्य प्रासाद खड़ा किया है। अतः आनन्दवर्धन ने व्याकरण को अलंकार का उपजीव्य स्पष्ट स्वीकार किया है—

'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः। व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्।"

—ध्वन्यालोक, उद्योत १

इस उपर्युक्त वर्णन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिन सिद्धान्तों को आधार मान कर अलंकारशास्त्र विकसित होनेवाला था वे विक्रम से बहुत पूर्व व्याकरण के आचार्यों द्वारा उद्भावित किये गए थे। अलंकारशास्त्र के प्रारम्भिक इतिहास की खोज करते समय उपर्युक्त बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। इससे यह ज्ञात होता है कि अलंकारशास्त्र का प्रारम्भ भी उतना ही प्राचीन है, जितना वैयाकरणों के द्वारा इस शास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों का निर्देश है।

वाल्मीकि—प्रथम आलोचक

इस प्रसंग में संस्कृत भाषा में निबद्ध प्राचीन काव्यों का अनुशीलन भी अनेक अंश में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि संस्कृत साहित्य के आदिकवि ही नहीं थे प्रत्युत आदि आलोचक भी थे। कारयित्री प्रतिभा के विलास से कविता होती है और भावयित्री प्रतिभा का परिणाम भावकता होती है। वाल्मीकि में यह दोनों प्रकार की प्रतिभा पूर्ण रूप से विद्यमान थी। व्याध के बाण से बिंधे हुए क्रौञ्च के लिए विलाप करनेवाली क्रौञ्ची के करुण क्रन्दन को सुनकर जिस ऋषि के मुँह से—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

१ पतञ्जलि—महाभाष्य।

यह श्लोक बरबस निकल पडता है वह निःसन्देह सच्चा कवि है। जो व्यक्ति इसकी व्याख्या करते समय—

सपाक्षरैश्चतुर्मियं पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूय शोक श्लोकत्वमागत ॥
—बालकाण्ड २।४०

'लिखकर 'शोक' का 'श्लोक' के साथ समीकरण करता है वह निःसन्देह एक महनीय भावक है, आलोचक है। कविता का मूल स्रोत भावाभिव्यक्ति है। कवि के हृदय में उद्वेलित होनेवाले भावों को शब्दों द्वारा प्रकट करने वाली ललित वस्तु का ही नाम 'कविता' है। जब तक भावों के द्वारा पूर्ण होकर कवि का हृदय उन भावों को अपने श्रोताओं तक पहुँचाने के लिए छलक नहीं उठता, अपनी अभिव्यक्ति के लिए शब्द का कमनीय कलेवर जब तक भाव धारण नहीं करता तब तक कविता का जन्म नहीं होता। इस तथ्य का व्याख्याता एक महनीय आलोचक है। महाकवि कालिदास[1] तथा आनन्दवर्धन[2] ने शोक तथा श्लोक का समीकरण करनेवाले वाल्मीकि को महान् कवि होने के अतिरिक्त महान् आलोचक भी माना है। तथ्य यह है कि संस्कृत कविता के जन्म के साथ ही साथ संस्कृत आलोचना शास्त्र का भी जन्म हुआ। जिस प्रकार वाल्मीकि रामायण को उपजीव्य मानकर पिछले महाकवियों ने महाकाव्य लिखने की स्फूर्ति प्राप्त की उसी प्रकार अलंकारिकों ने भी काव्य स्वरूप का संकेत इसी आदिम महाकाव्य से ग्रहण किया।

वाल्मीकि-रामायण के आधार पर प्रवर्तित प्रथम महाकाव्य के रचयिता महर्षि पाणिनि ही हैं। इनका 'जाम्बवतीविजय' नामक महाकाव्य यद्यपि आजकल उपलब्ध नहीं होता, तथापि सूक्ति संग्रह तथा अलंकार ग्रन्थों के उल्लेख से उसका सरस तथा चमत्कारपूर्ण होना निःसन्देह सिद्ध होता है। यह महाकाव्य कम से कम १८ सर्गों में लिखा गया था[3]। पतंजलि ने वररुचि के द्वारा निर्मित 'वाररुच काव्यम्' का उल्लेख अपने भाष्य में किया है। कात्यायन ने अपने वार्तिक में आख्यायिका नामक ग्रन्थों का

---

१ तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यात।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥
—रघुवंश १४।७०

२ काव्यस्यात्मा स एवार्थ, तथा चादिकवे पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ, शोक श्लोकत्वमागत ॥
ध्वन्यालोक १।८

३. बलदेव उपाध्याय संस्कृत साहित्य का इतिहास (अष्टम सं०) पृ० १६३।

उल्लेख किया है, जिसकी व्याख्या करते समय पतञ्जलि ने 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी' नामक आख्यायिकाओं का उदाहरणरूप मे निर्देश किया है। आजकल उपलब्ध न होने पर भी प्राचीन काल मे इनकी सत्ता अवश्य विद्यमान थी। पतञ्जलि ने अन्य बहुत से श्लोकों को अपने ग्रन्थ मे उद्धृत किया है। बौद्ध कवि अश्वघोष ने दो महाकाव्यो—सौन्दरनन्द और बुद्धचरित—की रचना की। कविता का आश्रय लेकर अपने धर्म का सन्देश जनता के हृदय तक पहुचाना ही उनका महनीय उद्देश्य था। इस युग के कवियो मे हरिषेण तथा वत्सभट्टि का नामोल्लेख गौरव की वस्तु है। हरिषेण ने ३५० ई० के आस पास समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन गद्य पद्य मिश्रित फड़कती भाषा मे किया। यह शिलालेख चम्पूकाव्य शैली का उत्कृष्ट नमूना है। परन्तु इससे दो सौ वर्ष पहले ७२ शक सवत् (१५० ई०) मे निबद्ध रुद्रदामन का गिरनार पर्वत पर उट्टकित शिलालेख भाषा के सौन्दर्य तथा प्रवाह के कारण गद्य-काव्य का आनन्द देता है। इस शिलालेख मे रुद्रदामन को यौधेयो का उत्पादक, महती विद्याओं का पारगामी, स्फुट, लघु मधुर, चित्र, कान्त तथा उदार एव अलकारमडित गद्य-पद्य की रचना मे प्रवीण बतलाया है—

"सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाविधेयाना यौधेयाना प्रसह्योत्सादकेन शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्याना विद्याना महतीना पारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्तविपुल-कीर्तिना 'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालकृतगद्यपद्य स्वयम-धिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्या स्वयम्वरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना।'

—रुद्रदामन् का गिरनारशिलालेख

इस शिलालेख से स्पष्ट है कि द्वितीय शतक मे काव्य के गद्य और पद्य—दो भेद स्वीकृत किये थे। अलकार-ग्रन्थो मे उल्लिखित बहुत से गुणो की कल्पना की जा चुकी थी। इस लेख मे उल्लिखित स्फुट, मधुर, कान्त तथा उदार काव्य 'काव्यादर्श' मे निर्दिष्ट प्रसाद माधुर्य, कान्ति तथा उदारता नामक गुणो का क्रमश प्रतिनिधि प्रतीत होता है। इन सब प्रमाणो से स्पष्ट है कि इस काल से पहले—विक्रम के आविर्भाव के कम से कम तीन सौ वर्ष पहले—आलोचना की शास्त्रीय व्यवस्था हो चुकी थी तथा अलकारशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ भी बन चुके थे जो आजकल उपलब्ध नही होते। यदि ऐसा शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत नही होता तो काव्य का गद्य पद्य मे विभाजन, महाकाव्य की कल्पना, आख्यायिका का निर्माण और काव्य के विभिन्न गुणों का निर्देश भला कैसे सम्भव था?

नाट्य की प्राचीनता

ऐतिहासिक अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि नाट्य का शास्त्रीय निरूपण अलकार के निरूपण से कही प्राचीन है। पाणिनि के समय मे ही नटों की

शिक्षा, दीक्षा तथा अभिनय से सम्बन्ध रखनेवाले ग्रंथो की रचना हो चुकी थी, क्योंकि इन्होंने अपने सूत्रो मे शिलालि तथा कृशाश्व के द्वारा रचित नटसूत्रो का उल्लेख किया है।[1] पतञ्जलि ने महाभाष्य मे 'कंसवध' तथा 'बलिबंधन' नामक नाटको के अभिनय का स्पष्ट उल्लेख किया है[2]। भरत का नाट्यशास्त्र तो सुप्रसिद्ध ही है, जिसमे अलंकारशास्त्र से सम्बद्ध चार अलंकार, दश गुण एवं दश दोषो का वर्णन सोलहवें अध्याय मे किया गया है। इस प्रकार अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्र के सहायक शास्त्र के रूप मे पहले नाट्यग्रंथो मे वर्णित किया जाता था। सर्वप्रथम भामह को इसे स्वतन्त्र शास्त्र के रूप मे वर्णित करने का श्रेय प्राप्त है। इन्होंने कुछ ऐसे अलंकार-शास्त्र के सिद्धान्तो का उल्लेख किया है जो पहले से ही स्वीकृत थे। मेधाविरुद्र नामक आचार्य के नाम का तो इन्होंने स्पष्टतः ही उल्लेख किया है। काव्यादर्श की हृदयंगमा टीका के अनुसार काव्यादर्श की रचना के पूर्व 'काश्यप' तथा 'वररुचि' एवं अन्य आचार्यों ने लक्षण ग्रंथो की रचना की थी। काव्यादर्श की ही एक दूसरी 'श्रुतानुपालिनी टीका काश्यप ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी को दण्डी से पूर्ववर्ती अलंकार का आचार्य मानती है। सिंहली भाषा मे निबद्ध 'सिय बस लकर' नामक अलंकार ग्रंथ मे भी आचार्य काश्यप का उल्लेख मिलता है। काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दि-स्वामी दण्डी तथा भामह के निःसन्देह पूर्ववर्ती प्राचीन आलंकारिक थे परन्तु इनके ग्रंथो तथा मतों से हम आज नितान्त अपरिचित हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र (विक्रमपूर्व ३००) मे राज्यशासनवाले प्रकरण म अर्थ-क्रम, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य तथा स्पष्टत्व नामक गुणो का उल्लेख किया गया है[3]। कौटिल्य ने राजकीय शासनो (राजाज्ञा) को इन उपर्युक्त गुणो से युक्त होना लिखा है। ये अलंकार ग्रंथो मे वर्णित काव्यगुणो के निश्चित प्रकार हैं। इन सब उल्लेखो से यही तात्पर्य निकलता है कि अलंकारशास्त्र का उदय भरत मे बहुत पहले हो चुका था। भामह तथा दण्डी से जो अलंकारशास्त्र की सामग्री उपलब्ध होती है वह कालक्रम से भरत से अर्वाचीन भले ही हो, परन्तु सिद्धान्त-दृष्टि से भरत से अत्यन्त प्राचीन है। इस प्रकार अलंकारशास्त्र का प्रारम्भ विक्रम संवत् से अनेक शताब्दी पूर्व हुआ, इस सिद्धान्त के मानने मे विप्रतिपत्ति लक्षित नहीं होती।

१ पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। (४।३।११०)
कर्मन्द-कृशाश्वादिनिः। (४।३।१११)

२ ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षञ्च बलिं बन्धयन्तीति।

—महाभाष्य भाग १ पृ० ३४ ३६ (कील्हार्न का संस्करण)

३ कौटिल्य—अर्थशास्त्राधिकरण।

सर्वांग पूर्ण काव्य का विचार प्रथम नाटक के रूप में था और इसलिए प्रथमत अलकारशास्त्र नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत आता था। पर साहित्य की उन्नति होने पर, काव्य नाटक के अन्तर्हित नही रह सका। उसके लिए स्वतन्त्र स्थान दिया गया और समय पाकर उसमें नाटक का भी अन्तर्भाव होने लगा। इसलिए संस्कृत अलकारशास्त्र का इतिहास सुविधा के लिए तीन अवस्थाओ मे अध्ययन किया जा सकता है। पहिली तो वह अवस्था है जब अलकारशास्त्र नाट्यशास्त्र के अन्तगत था। दूसरी वह जब दोनो पर स्वतन्त्र विचार होता था और तीसरी वह अवस्था जब नाट्यशास्त्र अलकारशास्त्र के अन्तर्गत समझा जाने लगा। पहिली अवस्था मे वैसे ही साधारण विचार थे जैसा प्रारम्भ मे एक नयी विद्या के लिए हो सकते हैं। तीसरी अवस्था मे विचार-गाम्भीर्य आ गया और प्राय साहित्यशास्त्र अपनी पूणता को प्राप्त हो गया।

अब कालक्रम के अनुसार इस शास्त्र के प्रधान आचार्यों का ऐतिहासिक विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—भरत

भरत का नाट्यशास्त्र दो तीन स्थानो में प्रकाशित हुआ है। प्रथम संस्करण काव्यमाला, बम्बई से सन १८९४ ई० म प्रथमत प्रकाशित हुआ था। इसका नवीन संस्करण काशी संस्कृत सीरीज काशी से सन् १९२९ ई० मे निकला। यह संस्करण काव्यमाला वाले सस्करण की अपेक्षा कही अधिक विशुद्ध तथा विश्वसनीय है। अभिनवभारती के साथ यह ग्रंथ गायकवाड ओरियण्टल सीरीज मे चार खण्डो मे प्रकाशित हुआ। इस संस्करण का वैशिष्ट्य है भरत की एकमात्र उपलब्ध तथा सर्वश्रेष्ठ व्याख्या **अभिनव-भारती** का प्रकाशन। इसका प्रथम खण्ड १९२६ ई० मे द्वितीय खण्ड १९३६ मे, तृतीय खण्ड १९५४ ई० म तथा चतुर्थ खण्ड १९६४ ई० मे प्रकाशित हुआ। प्रथम तीन खण्डों के सम्पादक थे श्री रामकृष्ण कवि तथा अन्तिम खण्ड के श्री जे० एस० पदे। कलकत्ता विश्वविद्यालय के अध्यापक डा० मनमोहन घोष ने नाट्यशास्त्र का विशेष प्रशसनीय अनुसधान किया है और नाट्यशास्त्र का मूल तथा अग्रेजी अनुवाद पृथक्-पृथक दो-दो भागो मे प्रकाशित किया है और नाट्यशास्त्र का द्वितीय खण्ड (अठाइस अध्याय से छत्तीस अध्याय तक) मूल का संस्करण १९५६ में तथा अनुवाद १९६१ मे प्रकाशित हुआ। प्रथम खण्ड (आरम्भ के २७ अ०) का संस्करण १९६७ मे तथा अनुवाद (प्रथम बार १९५४ तथा संशोधित स० १९६७) मे प्रकाशित है (प्रकाशक—मनीषा ग्रंथालय, कलकत्ता)।

यह समस्त ग्रन्थ ३६ अध्यायो में विभक्त है जिनमे लगभग पाँच हजार श्लोक हैं जो अधिकतर अनुष्टुप् छन्दों मे ही निबद्ध हैं। कही कही विशेषत. अध्याय ६, ७ तथा २७ मे कुछ गद्य अंश भी हैं। कहीं-कहीं आर्या छन्द भी मिलता है। छठे अध्याय मे रस निरूपण के अवसर पर कतिपय सूत्र तथा उनके गद्यात्मक व्याख्यान (भाष्य) भी उपलब्ध होते हैं। भरत ने अपनी कारिकाओ की पुष्टि मे अनुवश्य श्लोको को उद्धृत किया है।[१] अभिनवगुप्त के अनुसार शिष्य परम्परा से आनेवाले श्लोक 'अनुवश्य' कहे जाते हैं।[२] इनकी रचना भरत से भी किसी प्राचीन काल मे की गई थी। प्रमाणभूत होने के कारण ही भरत ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि मे इनका उद्धरण किया है। वर्तमान नाट्यशास्त्र किसी एक समय की अथवा किसी एक लेखक की रचना नही है। इस ग्रन्थ के गाढ अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका निर्माण अनेक लेखको द्वारा अनेक शताब्दियो के दीर्घ व्यापार का परिणत फल है। आजकल नाट्यशास्त्र का जो रूप दिखाई पडता है वह अनेक शताब्दियो मे क्रमश विकसित हुआ हैं। नाट्यशास्त्र मे तीन स्तर दीख पडते हैं—(१) सूत्र, (२) भाष्य, (३) श्लोक या कारिका। इन तीनो के उदाहरण हमे इसमे देखने को मिलते हैं। ऐसा जान पडता है कि मूलग्रन्थ सूत्रात्मक था जिसका रूप ६ ठे और ७ वें अध्याय मे आज भी देखने को मिलता है। तदनन्तर भाष्य की रचना हुई जिसमे भरत के सूत्रो का अभिप्राय उदाहरण देकर स्पष्ट समझाया गया। तीसरा तथा अन्तिम स्तर कारिकाओं का है जिनमे नाटकीय विषयो का बडा ही विपुल तथा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

विषय-विवेचन

नाट्यशास्त्र के अध्यायो की सख्या मे भी अन्तर मिलता है। उत्तरी भारत के पाठानुसार उसमे ३६ अध्याय हैं, परन्तु दक्षिण भारतीय तथा प्राचीनतर पाठानुसार उसमे ३७ अध्याय ही हैं और यही मत उचित प्रतीत होता है। अभिनव ने भरतसूत्र की सख्या मे ३६ बतलाया है[३]—यहाँ 'सूत्र' से अभिप्राय भरत के अध्यायो

---

१ नाट्यशास्त्र पृ० ७४–३६ (बडोदा स० १९१६)।

२ ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिता। मुनिना तु सुखसग्रहाय यथास्थानं निवेशिता। —अभिनवभारती अध्याय ६

३ षट्त्रिंशकात्मक—जगद्-गगनावभास-
संविन्मरीचिचयचुम्बितबिम्बशोभम्।
षट्त्रिंशक भरतसूत्रमिद विवृण्वन्
वन्दे शिव श्रुतिदर्थविवेकि धाम। —अभिनवभारती पृ० १, श्लोक २

से ही प्रतीत होता है। नाटयशास्त्र मे उतने ही अध्याय हैं जितने शैवमतानुसार विश्व मे तत्त्व होते हैं। काव्यमाला सस्करण मे ३७ अध्याय हैं, काशी सस्करण मे ३६। अभिनवगुप्त की मान्यता पर ३६ अध्यायो मे ग्रन्थ का विभाजन प्राचीनतर तथा युक्ततर है।

नाटचशास्त्र का विषय विवेचन बडा ही विपुल तथा व्यापक है। नाम के अनुसार इसका मुख्य विषय है नाटच का विस्तृत विवेचन, परन्तु साथ ही साथ छन्द शास्त्र, अलकारशास्त्र, सगीतशास्त्र आदि सम्बद्ध शास्त्रो का भी प्रथम विवरण यहां उपलब्ध होता है। इसीलिए प्राचीन ललितकलाओ का भी इसे विश्वकोश मानना न्याय्य है। इसके अध्यायो का विषय-क्रम इस प्रकार है--(१) अध्याय मे नाटच की उत्पत्ति, (२) अध्याय मे नाटचयशाला (प्रेक्षागृह), (३) अ० मे रगदेवता का पूजन, (४) अ० मे ताण्डव सम्बन्धी १०८ कारणो का तथा ३२ अगहारो का वर्णन, (५) अ० मे पूर्वरग का विस्तृत विधान, (६) अ० मे रस तथा (७) अ० मे भावो का व्यापक विवरण अष्टम अध्याय से अभिनय का विस्तृत वर्णन आरम्भ होता है—(८) अध्याय मे उपागो द्वारा अभिनय का वर्णन, (९) अ० मे हस्ताभिनय, (१०) अ० मे शरीराभिनय, (११) अ० मे चारी (भौम तथा आकाश) का विधान, (१२) अ में मण्डल (आकाशगामी तथा भौम) का विधान,) (१३) अ० में रसानुकूल गतिप्रचार, (१४) अ० में प्रवृत्तधर्म की व्यञ्जना, (१५) अ० में छन्दोविभाग, (१६) अ० में वृत्तो का सोदाहरण लक्षण, (१७) अ० में वागभिनय जिसमें लक्षण, अलकार, वाच्य-दोष तथा काव्यगुण का वर्णन है (अलकार शास्त्र), (१८) अ० में भाषाओं का भेद तथा अभिनय में प्रयोग, (१९) अ० में काकुस्वर व्यञ्जना, (२०) अ० में दशरूपको का लक्षण, (२१) अ० में नाटकीय पचसन्धियो तथा सन्ध्यगो का विधान, (२२) अ० में चतुर्विध वृत्तियो का विधान, (२३) अ० मे आहार्य अभिनय, (२४) अ० मे सामान्य अभिनय, (२५) अ० मे बाह्य उपचार, (२६) अ० मे चित्राभिनय, (२६) अ० मे सिद्धि व्यञ्जन का निर्देश। अठाइसवें अध्याय से सगीत शास्त्र का वर्णन (२८ अ० से ३३ अ० तक) हुआ है—(२८) अ० मे आतोद्य, (२९) अ० में ततातोद्य, (३०) अ० मे सुषिरातोद्य का विधान वर्णित है। (३१) अ० मे ताल, (३२) अ० मे ध्रुवाविधान, (३३) अ० मे वाद्य का विस्तृत विवेचन है। अन्तिम तीन अध्यायो मे विविध विषयो का वर्णन है—(३४) अ० मे प्रकृति (पात्र) का विचार, (३५) अ० मे भूमिका की रचना तथा (३६) अ० मे नाटच के भूतल पर अवतरण का विवरण हैं। यही है नाटचशास्त्र का सक्षिप्त विषयक्रम।

नाटचशास्त्र का विकास

भरत का मूल सूत्र ग्रन्थ किस प्रकार वर्तमान कारिका के रूप मे विकसित हुआ ?

इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर देना अभी तक सभव नही है। नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय से प्रतीत होता है कि कोहल नामक किसी आचार्य का हाथ इस ग्रन्थ के विकास के मूल मे अवश्य है। भरत ने स्वय भविष्यवाणी की है कि—'शेष प्रस्तार-तन्त्रेण कोहल कथयिष्यति'। इससे कोहल को इस ग्रन्थ को विस्तृत तथा परिवर्धित करने का श्रेय प्राप्त है। 'कोहल' नाम के आचार्य का, नाट्याचार्य के रूप मे परिचय हमे अनेक अलकारग्रन्थो से उपलब्ध होता है। दामोदर गुप्त ने कुट्टिनीमत (श्लोक ८१) मे भरत के साथ कोहल का भी नाम नाट्य के प्राचीन आचार्य के रूप में निर्दिष्ट किया है। शार्ङ्गदेव कोहल को अपना उपजीव्य मानते है (सगीत रत्नाकर ११५)। हेमचन्द्र ने नाटक के विभिन्न प्रकारो के विभाजन के अवसर पर भरत के साथ कोहल का भी उल्लेख किया है[1]। शिगभूपाल ने भी रसार्णवसुधाकर में भरत, शाण्डिल्य, दत्तिल और मतग के साथ कोहल को भी मान्य नाट्यकर्ता के रूप में निर्दिष्ट किया है—(विलास १, श्लोक ५०—५२)। कोहल के नाम से एक 'तालशास्त्र' नामक सगीत ग्रन्थ का भी वर्णन मिलता है। कोहल के साथ दत्तिल नामक आचार्य का नाम भी सगीत के ग्रन्थो में उपलब्ध होता है। 'दत्तिलकोहलीय" नामक सगीतशास्त्र का एक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है जिसमें कोहल तथा दत्तिल के सगीत विषयक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया प्रतीत होता है। अभिनव गुप्त ने भरत के एक पद्य (६।१०) की टीका लिखते समय लिखा है कि यद्यपि नाट्य के पाँच ही अग होते है, तथापि कोहल और अन्य आचार्यों के मत के अनुसार एकादश अगो का वर्णन मूल ग्रन्थ में यहाँ किया गया है[2]। इससे स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के विस्तृतीकरण में आचार्य कोहल का विशेष हाथ है। कोहल के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में शाण्डिल्य, वत्स तथा धूर्तिल नामक नाट्य के आचार्यों के नाम भी उल्लिखित है[3]। इनके मत का भी समावेश वर्तमान नाट्यशास्त्र में किया प्रतीत होता है। 'आदिभरत तथा 'वृद्धभरत' के नाम भी इस प्रसग में यत्र तत्र लिखे जाते हैं। परन्तु वर्तमान जानकारी की दशा में भरत के मूल ग्रन्थ का विकास वर्तमान रूप में किस प्रकार सम्पन्न हुआ ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नही दिया जा सकता।

---

१ प्रपञ्चस्तु भरतकोहलादि शास्त्रेभ्योऽवगतव्य ।

हेमचन्द्र—काव्यानुशासन, पृ० ३२५, ३२९

२ आभिनयत्रय गीतातोद्ये चेति पंचागे नाट्यम् ... अनेन तु श्लोकेन कोहलादि-मतेन एकादशागत्वमुच्यते।

अभिनवभारती ६।१०

३ नाट्यशास्त्र—३७।२४

'भावप्रकाशन' के अनुशीलन से पता चलता है कि शारदातनय की सम्मति में नाट्यशास्त्र के दो रूप थे। प्राचीन नाट्यशास्त्र बारह हजार श्लोकों में निबद्ध था, परन्तु वर्तमान नाट्यशास्त्र विषय की सुगमता के लिए उसका आधा ही भाग है अर्थात वह छः हजार श्लोकों में ही निबद्ध है[1]। इनमें से पूर्व नाट्यशास्त्र के रचयिता को शारदातनय 'वृद्धभरत' के नाम से तथा वर्तमान नाट्यशास्त्र के कर्ता को केवल 'भरत' के नाम से पुकारते हैं[2]। धनञ्जय[3] तथा अभिनवगुप्त[4] दोनों ग्रन्थकार भरत को 'षट्साहस्रीकार' के नाम से उल्लिखित करते हैं। अभिनवगुप्त ने भी नाट्यशास्त्र के विषय में बड़ी जानकारी की बात लिखी है। उनका कहना है कि जो आलोचक इस ग्रन्थ को सदाशिव, ब्रह्मा तथा भरत, इन तीनों आचार्यों के मतों का संक्षेप मानते हैं वे नास्तिक हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ केवल भरत के ही मत और सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है[5]। परन्तु उनकी सम्मति में भी इस नाट्यशास्त्र में प्राचीन काल की भी उपादेय सामग्री संगृहीत की गई है। भरत ने अपने मत की पुष्टि में जिन अनुवश्य श्लोकों या आर्याओं का उद्धरण अपने ग्रन्थ में, विशेषत षष्ठ तथा सप्तम अध्याय में दिया है वे भरत से प्राचीनतर हैं और पुष्टि तथा प्रामाण्य के लिए ही यहाँ निर्दिष्ट की गई है।

काल

भरत के आविर्भाव-काल का निर्णय भी एक विषम समस्या है। महाकवि भवभूति ने भरत को 'तौर्यत्रिक सूत्रधार' कहा है[6] जिससे भरत के ग्रन्थ का सूत्रात्मक रूप सिद्ध होता है। यह तो सुप्रसिद्ध ही है कि दशरूपक (दशम शतक) वर्तमान नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त रूप है। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर अपनी टीका अभिनवभारती की रचना ११वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में की। भरत का सबसे प्राचीन निर्देश महाकवि कालिदास को विक्रमोर्वशीय में उपलब्ध होता है। कालिदास का कथन है कि भरत देवताओं के नाट्याचार्य थे तथा नाटक का मुख्य उद्देश्य आठ

---

१ एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः ।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः ॥
भरतैर्नामतस्तेषां प्रख्यातो भरताह्वयः ॥
—भावप्रकाशन पृ० २८७

२ भावप्रकाशन, पृ० ३६।

३ दशरूपकालोक ४।२।

४. अभिनवभारती पृ० ८, २४ (प्रथम भाग)।

५. अभिनवभारती पृ० ७ (प्रथम भाग)।

६ उत्तर-रामचरित ४।२२।

रसो का विकास करना था तथा नाटक के प्रयोग मे अप्सराओ ने भरत को पर्याप्त सहायता दी थी—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्त ।
ललिताभिनय तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमना सलोकपाल. ॥

विक्रमोर्वशीय २।१८

कालिदास के द्वारा उल्लिखित नाट्य की यह विशेषता वर्तमान नाट्यशास्त्र मे नि सन्देह उपलब्ध होती है । रघुवश[1] मे भी कालिदास ने नाट्य को 'अगसत्त्ववचनाश्रयम्' कहा है जो मल्लिनाथ की टीका के अनुसार भरत की इस कारिका से समानता रखता है—

सामान्याभिनया नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वज ।

नाट्यशास्त्र ।

इससे स्पष्ट है कि कालिदास भरत के वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' मे पूर्ण परिचित थे। अत नाट्यशास्त्र के निर्माण की यह पश्चिम अवधि है । इसकी पूर्व अवधि का पता अब तक नही लगता । वर्तमान नाट्यशास्त्र मे शक, यवन, पल्लव तथा अन्य वैदेशिक जातियो का वर्णन है जिन्होने भारतवर्ष के ऊपर ई० सन् की प्रथम शताब्दी के आसपास आक्रमण किया । वर्तमान नाट्यशास्त्र का यही समय है । मूल सूत्रग्रथ की रचना सम्भवत ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी मे हुई, क्योंकि सस्कृत के इतिहास मे 'सूत्रकाल' यही है जब सूत्ररूप मे शास्त्रीय ग्रथो के रचने की परिपाटी सर्वत्र प्रचलित थी । इतना तो निश्चित है कि कारिकाग्रथ मूल सूत्रग्रथ के बहुत ही पीछे लिखा गया, क्योकि इसमे भरत नाट्यवेद के व्याख्याता एक प्राचीन ऋषि रूप मे उल्लिखित किये गये हैं ।[2] इस प्रकार भरतनाट्यशास्त्र का रचना-काल विक्रमपूर्व द्वितीय शतक से लेकर द्वितीय शतक विक्रमी तक माना जाता है ।

भरत के टीकाकार

भरत का ग्रथ विपुल व्याख्यासम्पत्ति से मण्डित है । अभिनवगुप्त तथा शार्ङ्गदेव के द्वारा उल्लिखित काल्पनिक तथा वास्तविक टीकाकारो के नाम नीचे दिये जाते

१ रघुवश १९।३६ ।

२. भरत के काल निर्णय के लिये विशेष विवरण के लिये देखिये—
डा० डे, हिस्ट्री आफ सस्कृत पोयटिक्स, भाग १, पृ० ३२-३६ ।
डा० काणे-सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४९-५८ (१९६६) ।

हैं—(१) उद्भट, (२) लोल्लट, (३) शकुक, (४) भट्टनायक, (५) राहुल, (६) भट्टयन्त्र, (७) अभिनवगुप्त, (८) कीर्तिधर, (९) मातृगुप्ताचार्य।

(१) उद्भट—इनका नाम अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती (६।१०) में दिया है। शार्ङ्गदेव ने भी इनको भरत का टीकाकार बतलाया है।[1] परन्तु इनकी टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

(२) लोल्लट—ये भरत के निश्चित रूप से टीकाकार थे। इनका परिचय केवल अभिनवगुप्त के उल्लेखों से ही नहीं मिलता, प्रत्युत मम्मट (काव्यप्रकाश ४।५), हेमचन्द्र (काव्यानुशासन पृ० ६७, टीका पृ० २१५), मल्लिनाथ (तरला पृ० ८५, ८८) और गोविन्दठक्कुर (काव्यप्रदीप ४।५) निर्देशों से भी प्राप्त होता है। लोल्लट के कतिपय श्लोकों को हेमचन्द्र तथा राजशेखर ने 'आपराजित' के नाम से उल्लिखित किया है। इससे इनके पिता का नाम 'अपराजित' होना सिद्ध होता है।[2] अभिनवगुप्त ने काश्मीरी उद्भट के मत का खण्डन करने के लिए लोल्लट का उल्लेख किया है, जिससे इनका उद्भट के बाद होना सिद्ध होता है। नाम की विशिष्टता से स्पष्ट है कि लोल्लट काश्मीर के ही निवासी थे।

(३) शकुक—अभिनवगुप्त ने शकुक को भट्टलोल्लट के मत के खण्डनकर्ता के रूप मे चित्रित किया है। कल्हण पण्डित ने राजतरंगिणी में किसी शकुक कवि तथा उनके काव्य 'भुवनाभ्युदय' का नामोल्लेख किया है।[3] यह निर्देश काश्मीर नरेश अजितपीड के समय का है, जिनका काल ८१३ ई० के आसपास है। यदि हमारे आलंकारिक शकुक कवि शकुक के साथ अभिन्न व्यक्ति माने जायें तो उनका समय नवम शताब्दी का आरम्भकाल (८२० ई०) माना जा सकता है।

(४) भट्टनायक—इन्होंने शकुक के अनन्तर नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी, क्योंकि ये अभिनवभारती मे शकुक के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए दिखलाये गये हैं। इनके कतिपय श्लोकों को हेमचन्द्र, महिमभट्ट, माणिक्यचन्द्र आदि ग्रन्थकारों ने अपने अलंकार ग्रन्थों मे उद्धृत किया है। ये श्लोक इनके 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ

---

१ व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः॥

—संगीतरत्नाकर

२. द्रष्टव्य भारतीय साहित्यशास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० ५३।

३ कविर्बुधमनःसिन्धुशशाङ्कः शङ्कुकाभिधः।
यमुद्दिश्याकरोत् काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम्॥

(राजतरंगिणी ४।७०४)

से उद्धृत किये गये हैं। यह भारत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या से नितान्त पृथक् ग्रन्थ प्रतीत होता है, जो अनुष्टुप छन्दो मे लिखा गया था और ध्वनि का मार्मिक खण्डन होने के कारण 'ध्वनिध्वम' के नाम से विख्यात था। भट्टनायक आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' से पूर्णत परिचित थे। अभिनवगुप्त ने ही सर्वप्रथम इनका उल्लेख किया है। अत इनका आविर्भावकाल आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के मध्य युग में हुआ था। अत इनका नवम के अन्त तथा दशम शतक के आरम्भकाल मे आविर्भूत होना सिद्ध है। कल्हण ने काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा के पुत्र तथा उत्तराधिकारी शङ्करवर्मा के समय के किसी भट्टनायक नामक विद्वान् का राजतरंगिणी मे उल्लेख किया है। बहुत सम्भव है कि ये दोनो एक ही व्यक्ति हो[१]।

(५) राहुल—अभिनवगुप्त ने इनके मत का उल्लेख अनेक स्थलो पर अपनी अभिनवभारती मे किया है। अभिनवभारती के प्रथम खण्ड मे दो स्थानो पर इनका प्रामाण्य उद्धृत हुआ है। पृ० ११३ (अ० ४।९७) पर राहुलकृत 'रेचित' शब्द की व्याख्या उद्धृत की गई है तथा पृ० १७० (अ० ४।२६०) पर राहुल के नाम से यह पद्य निर्दिष्ट किया गया है—

परोक्षेऽपि हि वक्तव्यो नार्या प्रत्यक्षवत् प्रिय ।
सखी च नाट्यधर्मोऽयं भरतेनोदित--द्वयम् ॥

(६) भट्टयन्त्र तथा (७) कीर्तिधराचार्य के नाट्यविषयक मत का उल्लेख अभिनवभारती मे पृ० २०६ पर एक बार किया गया है। प्रतीत होता है कि ये प्राचीन नाट्याचार्य थे। भरत के टीकाकार होने की बात अन्य प्रमाणो से अपनी पुष्टि चाहती है।

(७) वार्तिक—अभिनवभारती के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त से पहिले नाट्यशास्त्र पर 'वार्तिक ग्रन्थ' को रचना हो चुकी थी जिसका उल्लेख उन्होने नाट्य तथा नृत्य के पार्थक्य दिखलाने के अवसर पर किया है (पृ० १७२, १७४)। इन वार्तिक के रचयिता कोई हर्ष थे। अत उनके नाम पर यह ग्रन्थ 'हर्षवार्तिक' के नाम से प्रसिद्ध था। यह ग्रन्थ अधिकतर आर्या छन्द मे निबद्ध था, परन्तु कही कही गद्यात्मक अश भी इसमे विद्यमान थे[३]।

(८) अभिनवगुप्त—इनकी सुप्रसिद्ध टीका का नाम 'अभिनवभारती' है। भरत

१ राजतरंगिणी ५।१५९ ।

२ इनका विशेष वर्णन आगे दिया जायगा ।

३ द्रष्टव्य अभिनवभारती (प्रथम खण्ड) पृ० २०७ ।

की यही एकमात्र टीका है जो सम्पूर्णतया उपलब्ध होती है। पूर्व टीकाकारों का नाम तथा सिद्धान्तों का परिचय केवल इसी टीका से हमे मिलता है। इस टीका के प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर टीकाकार की विद्वत्ता की छाप पड़ी हुई है। भरत के रहस्यो का उद्घाटन इस टीका की सहायता के बिना कथमपि नही हो सकता। भरत का नाट्यशास्त्र अत्यन्त प्राचीन होने के कारण दुरूह बन गया था, परन्तु अभिनवगुप्त ने ही अपनी गम्भीर टीका लिखकर इसे सुबोध तथा सरल बनाया। इनके देश तथा काल का विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

(६) मातृगुप्ताचार्य—अभिज्ञान शाकुन्तल की टीका मे राघवभट्ट ने मातृगुप्त के नाम से अनेक पद्यो को उद्धृत किया है। ये श्लोक नाटक के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या मे उद्धृत किये गये हैं। विशेषत सूत्रधार (पृ० ५), नान्दी (पृ० ४), नाटक-लक्षण (पृ० ९) और यवनी (पृ० २७) के लक्षण के अवसर पर इनके पद्य दिये गये हैं। राघवभट्ट ने अपनी टीका मे एक स्थान (पृ० १५) पर भरत के आरम्भ तथा बीच के विषय वाले पद्यो को उद्धृत किया है और यह लिखा है कि मातृगुप्ताचार्य ने इसका विशेष वर्णन किया है—

> अत्र विशेषो मातृगुप्ताचार्य्यैरुक्त —
> क्वचित् कारणमात्रन्तु क्वचिच्च फलदर्शनम्।
> .... ।

सुन्दर मिश्र ने अपने नाट्यप्रदीप (रचनाकाल १६१३ ई०) मे भरत के ग्रन्थ से (नाट्यशास्त्र ५।२५, ५।२८) नान्दी का लक्षण उद्धृत किया है और मातृगुप्ताचार्य के उस पद्य की व्याख्या की ओर सकेत किया है—

"अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्य्यै षोडशाङ्घ्रिपदापीयम् उदाहृता।"

सुन्दर मिश्र के इस उल्लेख से मातृगुप्त भरत के व्याख्याता प्रतीत होते हैं, परन्तु राघवभट्ट के निर्देश से यह जान पड़ता है कि इन्होने नाट्यशास्त्र के विषय मे कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था। राजतरंगिणी मे हर्ष विक्रमादित्य के द्वारा काश्मीर के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किये जानेवाले कवि मातृगुप्त का वर्णन मिलता है। परन्तु यह कहना कठिन है कि मातृगुप्ताचार्य कवि मातृगुप्त से अभिन्न व्यक्ति थे या भिन्न[1]।

---

१ विशेष वर्णन के लिए देखिए—
बलदेव उपाध्याय—संस्कृत सुकवि समीक्षा, पृ० १४२–१४६।
(चौखम्भा विद्याभवन, काशी १९६३)

२—मेधाविरुद्र

मेधाविरुद्र नामक ग्रन्थकार का उल्लेख भामह, नमिसाधु तथा राजशेखर ने अपने ग्रन्थों में किया है। राजशेखर के अनुसार मेधाविरुद्र कवि थे और जन्म से ही अन्धे थे। इनके नाम का उल्लेख राजशेखर ने प्रतिभा के प्रभाव निरूपण के प्रसंग में किया है। प्रतिभावाले कवि को कोई भी विषय न दिखाई देने पर भी प्रत्यक्ष के समान ही प्रतीत होता है जैसे मेधाविरुद्र, कुमारदास आदि जन्मान्ध सुने जाते हैं।[1] नमिसाधु ने मेधाविरुद्र को अलंकार ग्रन्थ का रचयिता माना है।[2] विचारणीय प्रश्न है कि मेधाविरुद्र एक नाम है अथवा मेधावी और रुद्र दो नाम हैं। भामह ने अपने अलंकार ग्रन्थ में मेधावी नामक आचार्य के नाम का उल्लेख दो बार किया है।[3] अतः मेधावी भामह से प्राचीनतर आचार्य निःसन्देह हैं। परन्तु मेधावी और मेधाविरुद्र एक ही व्यक्ति हैं, इसका यथार्थ निर्णय नहीं किया जा सकता।

मेधावी के सिद्धान्त

(१) भामह के अनुसार मेधावी ने उपमा के सात दोषों का वर्णन किया है[4]—हीनता, असम्भव, लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमानाधिक्य, उपमानासादृश्य। इन्हीं उपमा दोषों का निर्देश करते हुए नमिसाधु ने मेधावी का नाम अपनी रुद्रट की टीका में उल्लिखित किया है।[5] इन दोनों निर्देशों से स्पष्ट है कि उपमा के दोषों का

---

१ प्रत्यक्षप्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव, यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते—काव्यमीमांसा, पृ० ११-१२।

२ ननु दण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येव अलंकारशास्त्राणि।

रुद्रट—काव्यालंकार की टीका १।२।

३ भामह—काव्यालंकार २।४०, २।८८।

४ हीनताऽसम्भवो लिंगवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वञ्च तेनासदृशताऽपि च॥
त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र च ते पृथक्॥

(भामह—काव्यालंकार २।३९, ४०)

५ अत्र च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणाद्यन्मेधाविप्रभृतिभिरुक्तं यथा लिंगवचनभेदौ हीनताधिक्यमसंभवो विपर्ययो सादृश्यमिति सप्तोपमादोषाः ······ तदेतन्निरस्तम्॥

रुद्रट—काव्यालंकार की टीका ११।२४।

प्रथम निर्देश करने का श्रेय मेधावी को ही प्राप्त है। इन दोषो का उल्लेख वामन ने काव्यालकार मे तथा मम्मट ने भी काव्यप्रकाश मे किया है। वामन ने ऊपर निर्दिष्ट विपर्यय दोष को हीनता और अधिकता के भीतर ही सम्मिलित कर दिया है। अत उनकी दृष्टि मे उपमा-दोष छ: ही प्रकार के होते हैं।[1] मम्मट ने भी इस विषय मे वामन का ही पदानुसरण किया है।

(२) भामह ने अपने ग्रन्थ (२।८८) मे मेधावी का उल्लेख इस प्रकार किया है।

यथासख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वय　　　विदु·।
सख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित् ॥

इस श्लोक का यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। इसके उत्तरार्ध का यह तात्पर्य है कि मेधावी उत्प्रेक्षा अलकार को सख्यान नाम से पुकारते हैं। परन्तु दण्डी के कथनानुसार कुछ आचार्य 'यथासख्य' अलकार को 'सख्यान' नाम से पुकारते हैं।[2] दण्डी के इस कथन के अनुसार मेधावी ही यथासख्य अलकार को सख्यान के नाम से उल्लिखित करनेवाले आचार्य प्रतीत होते हैं। यदि यह बात सत्य हो तो उपर्युक्त पाठ के स्थान पर होना चाहिए—

सख्यानमिति मेधावी नोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्।

(३) नमिसाधु के अनुसार मेधाविरुद्र ने शब्द के चार ही प्रकार माने हैं, यथा—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इन्होंने कर्मप्रवचनीय को नहीं माना है।[3]

इन उल्लेखो से ज्ञात होता है कि मेधाविरुद्र भामहपूर्व युग के एक महनीय आचार्य थे। इनका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, परन्तु मतो का परिचय ही उपर्युक्त आलंकारिकों के निर्देश से मिलता है।

१　अनयार्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अत एवास्माक मते षड् दोषा इति।

वामन—काव्यालकारसूत्र ४।२।११ की वृत्ति।

२　यथासख्यमिति प्रोक्त सख्यान क्रम इत्यपि—काव्यादर्श-२।२७३।

३　एत एव चत्वारः शब्दविधा. इति येषा सम्यङ् मत तत्र तेषु नामादिषु मध्ये मेधाविरुद्रप्रभृतिभि. कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयु ॥ रुद्रट की टीका २।२ पृ० ९ देखिये।

३—भामह

आचार्य भामह भारतीय अलंकार-शास्त्र के आद्य आचार्य माने जाते हैं। भरत के 'नाट्यशास्त्र' मे अलंकार शास्त्र के तत्वों का विवेचन गौण रूप से किया गया है, प्रधान रूप से नहीं। भरत के अनुसार अभिनय चार प्रकार के होते हैं जिनमे वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग मे भरत ने अलकार शास्त्र का सन्निवेश किया है। भामह का ग्रन्थ ही भरत पश्चात् युग का सर्वप्रथम मान्य ग्रन्थ है जिसमे अलकारशास्त्र नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से अपने को मुक्त कर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत होता है। निश्चय रूप से हम नहीं कह सकते कि भामह किस देश के निवासी थे तथा किस काल को उन्होने अपने आविर्भाव से विभूषित किया था। अनेक अनुमानों के आधार पर उनके देश और काल का निर्णय किया जा सकता है। काश्मीर के आलकारिकों के ग्रन्थो मे ही इनके नाम तथा मत का प्रथम समुल्लेख इन्हे काश्मीरी सिद्ध करता है। काश्मीर के ही मान्य विद्वान् भट्ट उद्भट ने इनके 'काव्यालकार' के ऊपर 'भामह विवरण' नामक एक अपूर्ण व्याख्या ग्रन्थ लिखा था जो अभी तक उपलब्ध नही हुआ है। यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध होता तो इससे भामह के ही सिद्धान्तों का पूर्ण परिचय नही मिलता, प्रत्युत अलकारशास्त्र के प्रारम्भिक युग की अनेक समस्याओ का भी अनायास समाधान हो जाता। काश्मीरी पण्डितो का भी प्रवाद है—भामह ने काश्मीर देश को ही अपने जन्म से अलकृत किया था।

जीवनी

भामह के पिता का नाम 'रक्रिलगोमी' था[१]। यह नाम कुछ विलक्षण सा प्रतीत होता है। कतिपय आलोचक सोमिल, राहुल, पोत्तिल आदि बौद्ध नामो की समता से रक्रिल को भी बौद्ध मानते हैं, चान्द्र व्याकरण के अनुसार पूज्य अर्थ में 'गोमिक' शब्द का निपात (गोमिन् पूज्ये) होता है। चान्द्र व्याकरण के रचयिता चन्द्रगोमि स्वयं बौद्ध थे। इस प्रकार रक्रिल तथा गोमी, इन दोनों पदों के सान्निध्य से यही प्रतीत होता है कि भामह के पिता बौद्ध ही थे। इस सिद्धान्त के दृढ़ीकरण मे भामह के ग्रन्थ का मंगलाचरण भी सहायता करता है[२]। भामह ने अपने मंगलश्लोक मे

१ अवलाक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्।
(भामहालकार ६।६४)

२ प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभि।
काव्यालकार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते॥
(काव्या० १।१)

सर्वं सर्वज्ञ को प्रणाम किया है। अमरकोश के प्रमाण से—सर्वज्ञ सुगतो बुद्धो मारजित लोकजिज्जिन —सर्वज्ञ शब्द भगवान् बुद्ध का ही दूसरा नाम है। सार्व शब्द भी 'सर्वेभ्यो हितम्' इस अर्थ में सर्व शब्द से 'ण' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। अतएव यह शब्द भी परोपकारियों में अग्रगण्य बुद्धदेव का ही सूचक सिद्ध होता है। अत एव सर्वज्ञ की स्तुति करनेवाले रक्रिलगोमी के पुत्र भामह को बौद्ध मानना ही न्यायसंगत प्रतीत होता है।

कतिपय आलोचकों का यह उपर्युक्त सिद्धान्त तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। अमर ने 'सर्वज्ञ' शब्द को बुद्ध का पर्यायवाची अवश्य माना है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सर्ववेत्ता भगवान शंकर के लिये इस शब्द का अभिधान हो ही नहीं सकता। शंकर का नाम भी सर्वज्ञ है, इसे अमरसिंह ने स्वयं ही लिखा है[1]। बौद्ध व्याकरण के अनुसार गोमिन् भले ही सिद्ध हो परन्तु इसका क्या प्रमाण है कि वह बौद्धों के लिए ही पूजा के अर्थ में प्रयुक्त होता था? 'काव्यालंकार' में भामह ने बुद्ध के जीवन की किसी भी घटना का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इसके विपरीत, रामायण, महाभारत तथा बृहत्कथा के प्रख्यात आख्यान उनके नायकों के नाम तथा काम का स्फुट वर्णन स्पष्ट शब्दों में वर्णित किया गया है। अतः इससे हम इसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि भामह बौद्ध न होकर वैदिक धर्मावलम्बी ब्राह्मण थे।

समय

एक समय था जब दण्डी और भामह के काल निर्णय के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद था। कुछ आलोचक दण्डी को ही भामह से पूर्ववर्ती मानते थे। परन्तु *अब तो प्रबलतर प्रमाणों से भामह ही दण्डी से पूर्ववर्ती* सिद्ध होते हैं। बौद्धाचार्य शान्तरक्षित ने (अष्टम शतक) अपने 'तत्त्वसंग्रह' नामक ग्रन्थ में भामह के मत का निर्देश करते हुए इनके ग्रन्थ से कतिपय श्लोकों को उद्धृत किया है। अतः इनका अष्टम शतक से पूर्ववर्ती होना ध्रुव सत्य है। आनन्दवर्धन ने भामह के एक श्लोक[2] को बाणभट्ट के एक वाक्य[3] से प्राचीनतर बतलाया है। आनंद की सम्मति में बाणभट्ट का वाक्य

---

१ *कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटि नीललोहितः।*
(अमरकोश)

२ शेषो हिमगिरिस्त्वञ्च महान्तो गुरवः स्थिराः।
यदलंघितमर्यादाश्चलन्तीं बिभ्रते भुवम्॥
(काव्या० ३।२८)

३ धरणीधारणाय अधुना त्वं शेषः।
—हर्षचरित। द्रष्टव्य ध्वन्यालोक, उद्योत ४।

भामह के पद्यानुयायी होने पर भी ध्वनि की सत्ता के कारण ही नवीन प्रतीत होता है। अतः आनन्द की सम्मति मे भामह बाणभट्ट से (६२५ ई०) प्राचीन थे।

भामह ने अपने ग्रथ के पचम परिच्छेद मे न्याय निर्णय के अवसर पर बौद्ध दार्शनिकों के सिद्धांतो से अपना गाढ परिचय दिखलाया है। इस अवसर पर इन्होंने प्रत्यक्ष प्रमाण का जो लक्षण दिया है वह आचार्य दिङ्नाग के ही मत से साम्य रखता है, परन्तु वह उनके व्याख्याकार धर्मकीर्ति के मत से भिन्न है।[१] दिङ्नाग का प्रत्यक्ष लक्षण है—**प्रत्यक्ष कल्पनापोढम्**—अर्थात प्रत्यक्ष कल्पना से रहित होता है। और 'कल्पना' कहते हैं किसी वस्तु के विषय मे नाम तथा जाति आदि की कल्पना को। इस लक्षण मे धर्मकीर्ति ने 'अभ्रान्त' पद जोडकर इसे भ्रान्तिरहित बनाने का उद्योग किया है। भामह धर्मकीर्ति के इस लक्षण सुधार से परिचित नही हैं। प्रतिज्ञा दोष के भेद और दृष्टान्त दिङ्नाग के 'न्याय प्रवेश' से साम्य रखते हैं। अतः भामह का समय दिङ्नाग के (५०० ई०) पश्चात् और धर्मकीर्ति (६२० ई०) से पूर्व मानना चाहिये। अतः इनका समय षष्ठ शतक का मध्यकाल है।

ग्रन्थ

यह कहना नितात असम्भव नही तो कठिन अवश्य है कि हमारे ग्रथकार ने प्रसिद्ध काव्यालकार को छोडकर और कोई ग्रथ लिखा या नही। इसमे सन्देह नहीं कि भामह का नाम बहुत से ऐसे वाक्यो के साथ लिया जाता है जो काव्यालकार मे नही मिलते। राघवभट्ट ने अपने अभिज्ञान शाकुन्तल की टीका 'अर्थद्योतनिक' मे दो बार भामह के नाम से ऐसे वाक्यो को दिया है जो काव्यालकार मे कही नहीं मिलते। एक वाक्य तो किसी छन्द शास्त्र[२] मे लिखा गया है और दूसरा अलकार शास्त्र से[३]। दूसरा वाक्य, आश्चर्य हैं कि कुछ परिवर्तन के साथ उद्भट के काव्यालकार में मिलता है और उसका उदाहरण काव्यप्रकाश मे मिलता है। कुछ श्लोक नारायण भट्ट ने

१ काव्या० ५।६।

२ क्षेम सर्वं गुरुर्दत्ते मगणो भूमिदैवत ।
इति भामहोक्तं । —अभिज्ञान शाकुन्तल टीका पृ० ४ (नि० सा०)।

३ तल्लक्षणमुक्त भामहेन—
पर्यायोक्तं प्रकारेण यदन्येनाभिधीयते ।
वाच्यवाचकशक्तिभ्या शून्येनावगमात्मना ॥ इति ।
उदाहृत च हयग्रीववधस्य पद्यम्—
य प्रेक्ष्य चिररूढापि निवास प्रतिरञ्जिता ।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरे ॥ इति पृ० १०।

'वृत्त रत्नाकर' पर अपनी टीका मे भामह के नाम से कहे हैं। यह शायद किसी छन्द शास्त्र से लिया गया है (पृ० ६ तथा ७, चौखम्भा सस्करण, काशी)।

इन वाक्यो के सिवा जो हमे भामह के नाम से सुनाई देते हैं और जो शायद ऐसे ग्रन्थो से लिये गये हैं जो अब लुप्त हो गये हैं, हम लोगो को भामहभट् के नाम से प्राकृत प्रकाश की प्रसिद्ध टीका मिलती है जिसके द्वारा वररुचि ने सूत्र रूप मे प्राकृत का व्याकरण लिखा है। यह 'प्राकृत मनोरमा' कहलाती है और बची हुई टीकाओ मे सबसे प्राचीन समझी जाती है।

हमारे पास इस बात के सिद्ध या असिद्ध करने के लिए कोई साक्षात् प्रमाण नही है कि काव्यालकार के रचयिता ही इन ग्रन्थो के भी लिखनेवाले थे। कौन कह सकता है कि इस एक ही नाम के कई व्यक्ति न हो। पर एक ही नाम के हर एक पुरुष उसी प्रकार प्रसिद्ध नही होते। कुछ लोग तो प्राकृत-मनोरमा के रचयिता को काव्यालकार के लिखनेवाले से भिन्न नही समझते। पिटर्सन का अनुसरण करते हुए डा० पिशेल[1] को इसका सन्देह भी नही हुआ कि यह दो भामह थे[2]। जहाँ तक हमे मालूम होता है, उनका कहना पण्डितो के कथनों के आधार पर है। कितना ही विश्वास योग्य उनका मत हो, हम लोग यही चाहेंगे कि उनके मत को पुष्ट करने के लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण हो जिससे उनका मत दृढ हो जाय। पर यह विश्वास करना बिलकुल असम्भव मालूम होता है कि काव्यालकार के रचयिता के ऐसा प्रखर विद्वान् अलकार शास्त्र के ऐसे अपूर्व ग्रन्थ लिखने के पूर्व या अनन्तर बिलकुल चुप बैठा हो। एक शब्द मे इतना ही कह सकते हैं कि किसी ओर हम अपना निश्चित मत नही दे सकते।

काव्यालकार

इस ग्रथ[3] मे ६ परिच्छेद हैं जिनमे पांच विषयो का विवरण है। वे इस प्रकार हैं—

---

१ पिशेल ग्रामातिक देर प्राकृत स्प्राखेन (जर्मन) पृ० ३५।

२ सुभाषितावली, पृ० ७९।

३ भामह ने काव्यालकार के अन्त मे इस प्रकार सबका सार दे दिया है —
षष्ट्या शरीर निर्णीत शतषष्ट्या त्वलकृति ।
पञ्चाशता दोषदृष्टि सप्तत्या न्यायनिर्णय ॥
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धि स्यादित्येव वस्तुपञ्चकम् ।
उक्त षड्भि परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण व ॥

(१) काव्य शरीर—इसमे ६० श्लोक है जिनमे काव्य, उनके प्रयोजन और लक्षणादि दिये हैं। (प्रथम परिच्छेद)

(२) अलंकार--इसमे अलंकारो के लक्षण और उदाहरण दिये है। यहाँ थोड़े कवियो के नाम भी सौभाग्यवश सुनाई पड़ते हैं जिनको हम अब बिल्कुल नही जानते। इसमे १६० श्लोक हैं। (द्वितीय तथा तृतीय परि०)

(३) दोष- काव्यो के दोष ५० श्लोको मे यहाँ दिये है। (चतुर्थ परिच्छेद)

(४) न्याय-निर्णय--इसका विशेष वर्णन ७० श्लोको मे है। (पंचम परिच्छेद)

(५) शब्द-शुद्धि— व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियो का वर्णन कर विशिष्ट शब्दो की साधुता प्रदर्शित की गई है। ६० श्लोक हैं। (षष्ठ परि०)

भामह के मान्य सिद्धात

(१) शब्द और अर्थ दोनों के मिलने से काव्य की निष्पत्ति होती है (शब्दार्थो सहित काव्यम्)।

(२) भरत-प्रतिपादित दश गुणो के स्थान पर ओज, माधुर्य तथा प्रसाद इस गुणत्रय का निर्देश तथा निरूपण।

(३) वक्रोक्ति का समस्त अलकारो का मूलभूत होना। इसका चरम विकास कुन्तक की 'वक्रोक्ति-जीवित' मे दीख पड़ता है।

(४) दशविध दोषो के अतिरिक्त अन्य नवीन दोषो की कल्पना[1]।

भामह का काल निर्धारण

भामह तथा दण्डी के पौर्वापर्य के विषय मे विद्वानो मे बड़ा मतभेद है। मेरी दृष्टि मे भामह दण्डी से पूर्ववर्ती थे और इस मत की सपुष्टि आवश्यक है कि भामह का आविर्भावकाल यथार्थत निश्चित किया जाय। भामह के ग्रंथ मे उपलब्ध न्याय-विषयक सामग्री का गम्भीर अनुशीलन करने पर हम एक विशद परिमाण पर पहुचते हैं। प्रश्न यह है कि काव्यालकार मे उपलब्ध न्याय विषयक तथ्य धर्मकीर्ति से लिये गए हैं अथवा तत्पूर्ववर्ती बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग से ? इस प्रश्न के समाधान मे हमारा उत्तर पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानो को सर्वथा मान्य है। अब समाधान की ओर ध्यान दें।

---

१. भामह के काल, ग्रंथ तथा सिद्धान्त के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए बलदेव उपाध्याय-भारतीय साहित्य शास्त्र (प्रथम भाग, द्वि०सं० १९५४, पृ० १३९–१८०)

भामह और धर्मकीर्ति

ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन के प्रमाण पर भामह बाण के अनन्तर, जो सप्तम शताब्दी के पूर्व भाग में थे, नहीं रखे जा सकते, लेकिन यह मत इस विचार से नहीं ठहर सकता कि भामह ने कुछ न्याय की बातें धर्मकीर्ति से ली हैं। डा० याकोबी ने इस बात का कुछ दूर तक विवेचन किया है और उसी सम्बन्ध में धर्मकीर्ति के समय का भी विचार किया है। युवनेच्वांग और इत्सिंग के भारत में आगमन के मध्य काल में धर्मकीर्ति थे यह वे कहते हैं। युवेनच्वांग जिन्होंने भारत की यात्रा ६३० ई० से ६४३ तक की है इस बौद्ध नैयायिक के बारे में कुछ नहीं कहते। इत्सिंग ने, जिन्होंने यात्रा ६७१ ई० से ६९५ ई० तक की है, अवश्य उनके बारे में सुना है। तारानाथ[१] धर्मकीर्ति को तिब्बत के नृप स्रोनत्सन गम्पो का समकालीन समझते हैं, जो ६२७ से ६९८ ई० तक राज्य करते थे। इसलिए धर्मकीर्ति का समय सप्तम शताब्दी का मध्य भाग कहा जा सकता है। यदि यह सिद्ध हो जाय--जैसा कि याकोबी सिद्ध करना चाहते हैं--कि भामह ने सचमुच धर्मकीर्ति के न्यायशास्त्र की सहायता ली है, तो आनन्दवर्धन का कथन बहुत कुछ असत्य हो जाय और भामह को अष्टम शताब्दी तक कम से कम खींच लाया जाय। हम लोग इन युक्तियों का थोड़ा विवेचन करके देखेंगे।

भामह ने धर्मकीर्ति के न्यायशास्त्र की सहायता ली है, इसके लिए जितनी युक्तियां हैं वे सब यही कहती हैं कि दोनों ग्रन्थों में कुछ समानता है। ये समानताएँ केवल तीन हैं। एक एक का विचार किया जायगा।

अनुमान विचार

(१) भामह ने अनुमान के यह दो लक्षण दिये हैं--

त्रिरूपाल्लिंगतो ज्ञानमनुमानं च केचन।
तद्विदो नान्तरीयार्थदर्शनं चापरे विदुः॥

(काव्या० ५।११)

हम लोग वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिक की तात्पर्यटीका से जानते हैं कि दूसरा लक्षण--जो यहाँ अनुमान का दिया है--दिङ्नाग का है। परन्तु पहिले लक्षण के बारे में क्या कहा जाय? डा० याकोबी लिखते हैं कि यह लक्षण किसी दूसरे दर्शनकार का है, पर यह दूसरे कौन हैं? डा० याकोबी कहते हैं कि वह धर्मकीर्ति हैं, क्योंकि उनके न्यायबिन्दु में एक स्थान पर लिखा है--

१ विद्याभूषण—हिस्ट्री आफ इंडियन लाजिक, पृ० ३०५-६।

अनुमान द्विधा--स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।

यहाँ पर और दूसरे प्रश्न मे भी हमे यही जानना है कि कोई विशेष विचार जैसा लिङ्गस्य त्रैरूप्यम्--किसी विशेष व्यक्ति का है अथवा यह साधारण विचार कई व्यक्तियों का है? ऐसी युक्तियों का मान तभी हो सकता है, जब विचार मौलिक हो। दुर्भाग्य से यहाँ ऐसी कोई बात नहीं हैं। 'लिङ्गस्य त्रैरूप्यम्' यह एक साधारण लक्षण नैयायिकों का है, धर्मकीर्ति का निजी मौलिक नहीं। इस समय हमारा काम इसी से चल जाता है कि यह लक्षण दिङ्नाग ने अपने 'प्रमाण समुच्चय' मे इस प्रकार स्वार्थानुमान के विषय मे लिखा है[1]--"तीन प्रकार के चिह्नों से जिसका ज्ञान मिले उसी को स्वार्थानुमान--अपने लिए अनुमान--कहते हैं"। इसी के संस्कृत रूप से क्या कुछ ठीक ऐसी ही बात धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु से--जो ऊपर उद्धृत की गयी है--नहीं मिलती? इस सम्बन्ध मे एक बात और कहनी है। जिस प्रकार भामह ने और दिङ्नाग ने यह लक्षण दिया है, उससे क्या यह नहीं प्रतीत होता कि यह न केवल दूसरे किसी और मूलग्रन्थ से लिया गया है, बल्कि यह भी कि यह एक प्राचीन और सर्वमान्य विचार है। प्रमाण समुच्चय के साथ साथ न्यायप्रवेश मे[2] 'लिङ्गस्य त्रैरूप्यम्' का पूरा वर्णन है। चाहे कोई भी इसका रचयिता हो, यह किसी ने अभी तक सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की है कि यह ग्रंथ धर्मकीर्ति के अनन्तर लिखा गया है। इसलिए हमलोग कह सकते हैं कि भामह ने किसी प्रकार भी 'लिङ्गस्य त्रैरूप्यम्' यह लक्षण धर्मकीर्ति से नहीं लिया है। हमारी तो प्रवृत्ति यहाँ तक लिखने की है कि भामह को इस मत मे कम से कम दिङ्नाग का भी ऋणी न समझना चाहिए। बहुधा उन्हें यह ज्ञान किसी प्राचीन नैयायिक से मिला होगा।

(२) धर्मकीर्ति के कथन के समान भामह का दूसरा कथन 'दूषणं न्यूनताद्युक्तिः' है (काव्या० ५।२८)। धर्मकीर्ति ने भी 'दूषणानि न्यूनताद्युक्तिः' लिखा है।[3] समानता अवश्य चित्त को आकर्षण करनेवाली है, पर प्रश्न फिर यही है कि क्या यह धर्मकीर्ति का मौलिक विचार है?

---

१. वही, पृ० २८०।

२ यह ग्रन्थ अभी तक केवल तिब्बती भाषा मे था। सौभाग्य से अब वह गायकवाड ओरिएण्टल सिरीज में प्रिन्सिपल ए० बी० ध्रुव के सम्पादकत्व मे प्रकाशित हुआ है।

३. न्यायबिन्दु (पीटर्सन स०) ३।१३३, काशी स० मे दूषणा न्यूनताद्युक्तिः हैं, पृ० १३२।

(३) यही प्रश्न तीसरी समानता पर भी किया जा सकता है। वह यह है— जायतो दूषणाभासा[1] (काव्या० ५।२९ । क्या धर्मकीर्ति ने कोई नया विचार "दूषणाभासास्तु जातय" कहकर किया है ? ऊपर लिखे हुए दोनो उदाहरणो मे धर्मकीर्ति का कुछ भी मौलिक लिखा हुआ नही कहा जा सकता। दूषण और जाति पहिले के ग्रन्थकारो को भी मालूम थे[2]। न्यायप्रवेश मे ऐसे ही वर्णन दूषण जाति के अर्थ मे हुए हैं।

काणे ने[3] स्वतन्त्र रूप से कुछ समानताएँ भामह और धर्मकीर्ति के ग्रन्थो की दी हैं, उनमे एक यह भी है कि भामह के काव्यालकार का एक श्लोक धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु के एक वाक्य से बहुत कुछ मिलता है। भामह का श्लोक इस प्रकार का है—

सत्त्वादय प्रमाणाभ्या प्रत्यक्षमनुमा च ते।
असाधारण सामान्य विषयत्व तयो किल॥
(काव्या० ५५)

धर्मकीर्ति ने इस प्रकार लिखा है—

द्विविध सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्षमनुमान च (पृ० १०), तस्य विषय स्वलक्षणं (पृ० २१) अन्यत् सामान्यलक्षण (पृ० २४), सोऽनुमानस्य विषय (पृ० २५)।

यहाँ पर भी फिर वही बात कही जा सकती है कि प्रमाणो का यह विभाग और लक्षण धर्मकीर्ति के अपने नही हैं। अक्षपाद के विरोधी प्राय सभी नैयायिको का अधिकतर यही विचार है। उदाहरण के लिए दिङ्नाग ने अपने प्रमाण-समुच्चय मे कहा है कि 'दो ही प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। सब बातें उन्ही से जानी जाती

---

१ न्यायबिन्दु (पीटर्सन का स०) ३।१४० काशी स०, पृ० १३३।

२ इस सम्बन्ध मे गौतम का न्यायसूत्र और उस पर वात्स्यायनभाष्य इस प्रकार है—'साधर्म्य वैधर्म्याभ्या प्रत्यवस्थान जाति" यह सूत्र १।२।१७ है। इसी पर वात्स्यायन लिखते हैं—"प्रयुक्ते हि हेतौ य प्रसगो जायते स जाति। स च प्रसग साधर्म्यवैधर्म्याभ्या प्रत्यवस्थानमुपालम्भ प्रतिषेध इति। ' ... .
प्रत्यनीकभावाज्जायमानोऽर्थो जातिरिति।"

३ काणे—संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (प्र० मोतीलाल बनारसीदास, काशी १९६६, पृष्ठ १५८–१६०)

हैं। इसलिए और कोई दूसरे प्रमाण नहीं हैं।' डा० विद्याभूषण ने मूल संस्कृत इस प्रकार दिया है—

प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्।
प्रमेयं तच्च सिद्धं हि न प्रमाणान्तरं भवेत्॥

उपर्युक्त बातों से यह प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति के वह सब वाक्य मौलिक न होने के कारण भामह के वे ही मूल हैं, यह हम कह नहीं सकते। धर्मकीर्ति के वे ही सब विचार हैं जो प्रसिद्ध विचार थे और जो बौद्ध न्याय के पूर्व भी विद्यमान थे। ऐसी अवस्था में यह कहना कि भामह ने धर्मकीर्ति से ही अपने सब विचार लिये हैं और किसी से नहीं, यह सर्वथा ठीक नहीं है। डा० याकोबी ऐसे साधारण विद्वान् नहीं है कि केवल आकस्मिक विचारों की समानता से ही कह देते कि भामह ने धर्मकीर्ति के विचार ग्रहण किए हैं। हम यह अनुमान करते हैं कि विचारों के शब्दों की समानता से ही याकोबी ने ऐसा अपना मत स्वीकार किया है। पर हम लोगों की दृष्टि से शब्दों की समानता किसी महत्त्व की नहीं है। केवल दूषण और जाति के ही सम्बन्ध में जो वाक्य आये हैं वे ही कुछ समान प्रतीत होते हैं। परन्तु वहाँ पर भी हम यह नहीं कह सकते कि धर्मकीर्ति ने सर्वप्रथम वे शब्द प्रयोग किये थे। जिस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वे धर्मकीर्ति के शब्द हैं उसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि उनका भामह ही ने सर्वप्रथम प्रयोग किया। इनमें कोई आपत्ति नहीं मालूम होती। यदि शान्तरक्षित दर्शनशास्त्रकार होकर भी हमारे आलंकारिक के वचन ग्रहण कर सकता है, तो कोई कारण नहीं है कि धर्मकीर्ति भी वही न करे जब उसे कोई तैयार ग्रन्थ उसके मतलब के मिल जायँ।

हम बलपूर्वक इतना ही कहना चाहते हैं कि शब्दों की समानता से ही निस्सन्देह कोई बात सिद्ध नहीं होती। ऐसी अवस्था में तीन बराबर के विचार सम्भव है और प्रत्येक सत्य माने जा सकते हैं। अब उपस्थित प्रश्न पर जब तक कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलते यह कहना न्याययुक्त न होगा कि भामह ने धर्मकीर्ति के विचार और शब्द ग्रहण किये हैं। यह भी उसी प्रकार कहा जा सकता है कि धर्मकीर्ति ने भामह के शब्द ग्रहण किये हैं या दोनों ने किसी एक ही सूत्र से अपने अपने विचार लिए हैं।

प्रत्यक्ष लक्षण

भामह ने धर्मकीर्ति के वाक्य ग्रहण किए हैं या नहीं? इसका सबसे अच्छा निश्चय करने का मार्ग यही होता कि धर्मकीर्ति के विशेष मतों के साथ भामह के

-मतों की तुलना की जाती। मध्यकाल के न्याय का कुछ भी हाल जो लोग जानते हैं उन सबको भले प्रकार विदित है कि धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के अनुयायी होते हुए भी एकदम उनका अनुकरण नहीं किया। धर्मकीर्ति की विशेषताएँ डा० विद्याभूषण ने[1] अच्छी तरह संग्रह की हैं और इनके ऊपर थोड़ा भी विचार इस बात को सिद्ध कर देगा कि बौद्ध नैयायिक का कोई विशेष मत भामह ने ग्रहण नहीं किया। ठीक इसके विरुद्ध प्रमाण है कि इससे बिलकुल उल्टी बातें हुई हैं। यहाँ पर कुछ बातें दी जा सकती हैं। दिङ्नाग का प्रत्यक्ष का लक्षण-प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढम्[2] है। एक महत्त्व का योग धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्[3] यह कर दिया है। 'अभ्रान्त' यह पद ऐसा नहीं है कि कोई भी उनके अनन्तर आनेवाला हटा सकता है। दिङ्नाग का लक्षण बहुत व्यापक था और इसलिए सर्वत्र लगाया जा सकता था। इससे सब वस्तुएँ प्रत्यक्ष हो सकती हैं। उद्योतकर ने सचमुच इसी प्रकार इसका अर्थ किया[4]। यह आपत्ति हटाने के लिए धर्मकीर्ति ने 'अभ्रान्त' जोड़ दिया, जिससे यह स्पष्ट हो गया कि प्रत्यक्ष से केवल प्रत्यक्ष ज्ञान लिया जा सकता है दूसरा कुछ नहीं। कौन ऐसा होगा कि एक बार दोष दिखाने पर इतना व्यापक लक्षण ग्रहण करेगा।

भामह ने प्रत्यक्ष के दो लक्षण एक ही पंक्ति में दिये हैं। वह इस प्रकार है—"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं ततोऽर्थादिति केचन" काव्या० (५।)। इन दो लक्षणों में से पहिला वाचस्पति मिश्र के कथनानुसार दिङ्नाग का है। और दूसरा उन्हीं के कथनानुसार दिङ्नाग के गुरु वसुबन्धु का है[5]। अब क्या यह अनुमान किया जा सकता है कि भामह यह लक्षण छोड़ देते, यदि वे इसको जानते रहते। इसके साथ ही साथ

---

१. विद्याभूषण—हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृ० ३१५–३१६।

२. वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्य-टीका में 'अपरे तु मन्यन्ते प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति' पर इस प्रकार लिखा है—सम्प्रति दिङ्नागस्य लक्षणमुपन्यस्यति अपर इति। विद्याभूषण पृ० ३७६–७७, डा० रैण्डल—फ्रैगमेन्टस फ्राम दिङ्नाग, पृ० ८–१०।

३ न्यायबिन्दु (काशी स०) पृ० ११।

४ उन्होंने 'स्वरूपतो न व्यपदेश्यम्' इस प्रकार लिखा है।

५. वाचस्पति मिश्र 'अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षम्' इस पर टीका लिखते हुए कहते हैं—नदेव प्रत्यक्षलक्षणं समर्थ्यं वासुबन्धवं तावत् प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितुमुपन्यस्यति—रैण्डल का पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० १२-१३।

धर्मकीर्ति ने कल्पना का जरा भिन्न मार्ग से लक्षण किया है। उनके अनुसार कल्पना का अर्थ "अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीति" है[1]। परन्तु उद्योतकर दिङ्नाग प्रत्यक्ष के लक्षण का विवेचन करते हुए कहते हैं[2]—अथ केयं कल्पना। नाम जातियोजनेति। यत् किल न नाम्नाभिधीयते। न च जात्यादिभिर्व्यपदिश्यते।" वाचस्पति मिश्र इसका लक्षण वादिनामुत्तरम् कहते हैं[3]। अब लक्षणवादी दिङ्नाग और दूसरे लोग होंगे जिनका ऐसा मत था। हम इस बात का अनुमान करते हैं कि भामह भी उनमें से एक थे, कम से कम उनको यह मत मालूम था, क्योंकि वह कहते है—'कल्पना नाम जात्यादियोजना प्रतिजानते'—काव्या० (५।६)। यह बात स्वीकार की जाती है कि धर्मकीर्ति की कल्पना का लक्षण शास्त्रीय ढंग से दिया गया है और उनके प्रत्यक्ष के लक्षण की भाषा बहुत शुद्ध है। यदि भामह एक महत्त्व के प्रश्न पर दो मत दे सकते तो हम समझते हैं कि यदि उपयोगी और उपयुक्त होता तो तीसरा मत भी देते, जैसे कि धर्मकीर्ति के लक्षण सचमुच हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात और लिखनी चाहिए। जहाँ तक हम लोगों को मालूम है धर्मकीर्ति ने कहीं पर भी अपने ग्रन्थों में वसुबन्धु के मतों का आदर नहीं किया है, यद्यपि उनके शिष्य दिङ्नाग प्रमाण स्वरूप माने गये हैं। परन्तु भामह ने प्राचीन वसुबन्धु के मतों का आलोचन किया है। हम लोग यह अनुमान लगा सकते हैं कि धर्मकीर्ति के समय तक, शिष्य दिङ्नाग के सामने वसुबन्धु की कीर्ति लुप्त हो गई थी। यह बहुत सम्भव है कि भामह ऐसे समय में थे जब वसुबन्धु भूले नहीं गये थे, प्रत्युत उनका विद्वान् लोग वैसा ही मान किया करते थे जैसा दिङ्नाग का।

भामह और दिङ्नाग

भामह ने छ पक्षाभास दिये हैं[4], धर्मकीर्ति ने केवल चार[5]। यदि न्यायप्रवेश को देखें तो नव[6] मिलते हैं। परन्तु बड़ी विचित्र बात यह है कि इनमें भामह के लक्षण और उदाहरण कुछ 'न्यायप्रवेश' से अधिक मिलते हैं। धर्मकीर्ति ने दृष्टान्त को त्रिरूप

---

१ न्यायबिन्दु, पृ० १३।
२. न्यायवार्तिका पृ० ४४।
३ तात्पर्यटीका पृ० १०२।
४ काव्या० ५. १३-२०।
५ न्यायबिन्दु पृ० ८४-८५।
६. विद्याभूषण, पृ० २९०-२९१।

जाता था, दण्डी के समय मे कर्कश विचार समझा जाने लगा।[1] बाण के समय मे भी हमे दिङ्नाग के समय का घोर शास्त्रार्थ और वाद-विवाद नही मिलता। गुप्तों के पाँचवी और छठी शताब्दी के शिलालेखो मे भी इस बात का कोई चिह्न नही मिलता। इस प्रकार हमे यह विश्वास करने मे कोई क्षति नही है कि शास्त्रार्थ का यह काल दिङ्नाग से ही समाप्त हो गया। इसलिए हम यह सिद्धान्त निकाल सकते हैं—भामह दिङ्नाग के समकालीन थे या दिङ्नाग के कुछ ही अनन्तर हुए थे। अन्त मे इसी निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि भामह ४०० ई० के लगभग अवश्यमेव विद्यमान थे।

४—दण्डी

भामह के बाद दण्डी अलकार-शास्त्र के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। इनका समय निरूपण अत्यन्त विवाद का विषय है। आनन्दवर्धन ने जिस प्रकार भामह को अपने ग्रन्थ में उदधृत किया है उस प्रकार दण्डी को नही किया। दण्डी का सर्वप्रथम निर्देश प्रतिहारेन्दुराज ने (पृ २६) किया है। दक्षिण भारत की भाषाओ के अलकारशास्त्र विषयक ग्रथो से—जिनकी रचना सम्भवत नवम शताब्दी मे की गई थी—दण्डी एक सिद्ध तथा प्रामाणिक आलकारिक के रूप मे दिखाई पडते हैं। सिहली भाषा के अलकार ग्रथ 'सिय-वस-लकर'—(स्वभाषालकार जिसकी रचना नवम शताब्दी से कथमपि पश्चात् नही मानी जा सकती—दण्डी को अपने उपजीव्य ग्रन्थकारो मे मानता है। कनड भाषा मे लिखित 'कविराजमार्ग' नामक ग्रन्थ मे—जिसकी रचना का श्रेय राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष नृपतुग (नवम शतक का प्रथमार्ध) को है—अलकारो के उदाहरण मे जो अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं वे दण्डी के काव्यादर्श के अक्षरश अनुवाद हैं। इन ग्रन्थो के अतिरिक्त वामन के 'काव्यालकार' के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि वामन दण्डी से परिचित थे। दण्डी ने केवल दो ही रीति या मार्ग का वर्णन किया है परन्तु वामन ने एक मध्यवर्तिनी रीति—पञ्चाली—का भी निर्देश कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी वामन से प्राचीन हैं। अत इनके काल की अन्तिम अवधि अष्टम शतक के पश्चात् नहीं हो सकती।

इनके काल की पूर्व अवधि का निश्चय करना सरल नहीं है। दण्डी के एक श्लोक मे बाणभट्ट के द्वारा कादम्बरी मे वर्णित यौवन के दोषों के वर्णन की छाप

---

१ विचार कर्कशप्रायस्तेनालीढेन किं फलम्।—काव्यादर्श।

स्पष्ट दीख पड़ती है[1]। दण्डी के एक अन्य पद्य मे माघ के शिशुपालवध की छाया है[2]। डाक्टर के० पी० पाठक के अनुसार दण्डी ने कर्म के निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य नामक भेदत्रय की कल्पना, भर्तृहरि के वाक्यपदीय के अनुसार की है[3]। दण्डी ने अपनी 'अवन्ति सुन्दरी कथा' में बाणभट्ट की पूरी कादम्बरी का सरस साराश उपस्थित किया है। इन निर्देशो से स्पष्ट है कि बाण, भर्तृहरि और माघ (सप्तम शतक) से प्रभावित होनेवाले दण्डी सप्तम शतक के उत्तरार्ध मे उत्पन्न हुए थे।

टीका

भामह की अपेक्षा दण्डी अधिक भाग्यवान् थे। भामह की प्राचीन व्याख्या (भामह विवरण) अभी तक केवल अंशत उपलब्ध है। भामह के ग्रंथ का मूल पाठ भी विशुद्ध रूप से अभी उपलब्ध नही है। इनके ग्रथ का उद्धार भी अभी कुछ दिन पूर्व ही हुआ है। परन्तु दण्डी का व्यापक प्रभाव प्राचीन काल से ही लक्षित हो रहा है। सिंहली भाषा मे मान्य अलकार ग्रन्थ 'सिय वस-लकर' पर दण्डी के 'काव्यादर्श' की छाप है। कन्नड भाषा का कविराजमार्ग तो दण्डी के प्रभाव से ओतप्रोत ही नही है, प्रत्युत उनके अलकारो के उदाहरणों में दण्डी के श्लोकों के नि सदिग्ध अनुवाद हैं। सम्भवत तिब्बती भाषा मे भी इनके ग्रन्थ का अनुवाद हुआ था। इनके ग्रन्थ के ऊपर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं जिनसे उनकी लोकप्रियता का पता चलता है।

'काव्यादर्श' की सबसे प्राचीन टीका (१) तरुणवाचस्पति द्वारा विरचित है। इनकी दूसरी टीका का नाम (२) हृदयगमा' है जिसके लेखक के नाम का पता नही चलता। ये दोनो टीकाएँ मद्रास से प्रकाशित हुई हैं। तरुणवाचस्पति के समय का अनुमान लगाया जा सकता है। इन्होने अपनी टीका मे (काव्यादर्श २।२८१) दशरूपक को उद्धृत किया है और सम्भवत रीति के षड्भेदो मे सरस्वतीकण्ठाभरण को भी। तरुण वाचस्पति के पुत्र केशव भट्टारक की 'तात्पर्य निर्णय' नाम्नी टीका उपलब्ध है। ये केशव महाराजाधिराज रामनाथ के गुरु थे जो १२५५ ई० में सिंहास-

१ अरत्नालोकसहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभि ।
दृष्टिरोधकर यूना यौवनप्रभव तम ॥ --काव्यादर्श २।१९७
कादम्बरी की निम्नलिखित पक्तियो से इसकी तुलना कीजिये--
केवल च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहन तमो यौवनप्रभवम्।

२ दण्डी २।३०२ = माघ २।४।

३ दण्डी २।२४० = भर्तृहरि ३।४५।

नाधिरूढ़ होने वाले होयसल वीर रामनाथ से अभिन्न हैं। फलत तरुण वाचस्पति का समय १३ वीं शताब्दी है। हृदयगमा का लेखक तथा समय दोनों अज्ञात हैं। केवल दो परिच्छेदों पर ही यह टीका है। इन दोनो व्याख्याओं का मूल के साथ प्रकाशन प्रो० रङ्गाचार्य ने मद्रास मे किया है।

(३) महामहोपाध्याय हरिनाथ जो विश्वधर के पुत्र तथा केशव के अनुज थे के द्वारा विरचित मार्जन नामक टीका। हरिनाथ का कथन है कि उन्होंने 'सरस्वती कण्ठा भरण' पर भी मार्जन नामक टीका लिखी हैं। फलत इनका समत १२ वीं शती के अनन्तर ही होगा। काव्यादर्श की व्याख्या का एक प्रतिलिपि का काल स० १७४६ (= १६९० ई०) है। अतएव इनका समय १३ वी तथा १७ वी शती के मध्य में कहीं होना चाहिए।

(४) काव्यतत्त्व विवेचक-कौमुदी—गोपालपुर (बगाल) के निवासी कृष्ण किङ्कर तर्कवागीश द्वारा रचित।

(५) श्रुतानुपालिनी टीका—वादि जङ्घाल विरचित।

(६) वैमल्य विधायिनी टीका—जगन्नाथ के पुत्र मल्लिनाथ द्वारा निर्मित।

(७) विजयानन्द कृत व्याख्या—

(८) यामुन कृत व्याख्या—इसमे काव्यादर्श चार परिच्छेदों मे विभक्त है। चतुर्थ परिच्छेद की रचना दोषनिरूपण के आधार पर की गई है।

(९) रत्नश्री—लका निवासी रत्नश्री ज्ञान द्वारा रचित। (प्रकाशक मिथिला इन्स्टीच्यूट दरभगा सम्पादक श्री अनन्तलाल ठाकुर, १९५७)।

इन टीकाओं मे से प्रारम्भ की दोनों व्याख्यायें तथा अन्तिम व्याख्या ये तीन ही प्रकाशित हैं। अन्य व्याख्यायें अभी हस्तलेख रूप में ही उपलब्ध हैं।

दण्डी ने तीन ग्रंथों की रचना की है—(१) काव्यादर्श, (२) दशकुमार चरित और (३) अवन्ति सुन्दरी-कथा। दशकुमार चरित मे दस राजकुमारों का जीवन चरित वर्णित है। यह उपन्यास ग्रंथ है जिसमें राजकुमारों को शिक्षा दी गई है। अवन्ति-सुन्दरी-कथा सुन्दर भाषा मे लिखा गया सुन्दर गद्यकाव्य है। परन्तु इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ काव्यादर्श है जिस पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इस ग्रंथ मे तीन परिच्छेद हैं तथा समस्त श्लोकों की संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद में काव्य-लक्षण, काव्य भेद, गद्य के दो भेद—आख्यायिका और कथा, रीति, गुण, तथा कवि के आवश्यक गुणों का वर्णन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में अलकार

की परिभाषा, ३५ अलंकारों की परिगणना तथा उदाहरण का विवरण है। तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्रबन्ध—जैसे गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र और वर्णनियम आदि, १६ प्रकार की प्रहेलिका और १० प्रकार के दोषों का सुविस्तृत वर्णन है।

दण्डी केवल आलंकारिक ही नहीं थे, प्रत्युत सरस काव्य कला के उपासक सफल कवि थे। उनका दशकुमार चरित संस्कृत गद्य के इतिहास में अपनी चारुता, मनोरंजकता तथा सरसता के लिए सदा स्मरणीय रहेगा। काव्यादर्श के समग्र उदाहरण दण्डी की निजी रचनाएँ हैं। इन पद्यों मे सरसता तथा चारुता पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। अत आलंकारिक दण्डी की अपेक्षा कवि दण्डी का स्थान कुछ कम उन्नत नही है इसीलिए प्राचीन आलोचकों ने वाल्मीकि और व्यास की मान्य श्रेणी में दण्डी को भी स्थान दिया है।

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

५—उद्भट भट्ट

प्रसिद्धि

संस्कृत अलंकार-शास्त्र के आचार्यों में उद्भट भट्ट का भी स्थान बड़ा ऊँचा है। पीछे के बड़े बड़े शास्त्रकारों ने बड़े आदर के साथ उनका और उनके मत का उल्लेख किया है। जो उनका मत नहीं भी मानते, अनेक बातों में उनके पूरे विरोधी हैं, वे भी जब उनका नाम अपने ग्रन्थों मे लेते हैं, उनके प्रति पूरा सम्मान दिखाने का प्रयत्न करते हैं। ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्द्धनाचार्य कितने बड़े पण्डित थे, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। वे भी अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर यों लिखते हैं—"अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभि"[1]। रुय्यक का अलंकारसर्वस्व प्रसिद्ध ही है[2]। उसी के आधार पर अप्पय दीक्षित ने अपने अलंकार ग्रन्थों मे बहुत कुछ लिखा है। इसमें भट्ट उद्भट का नाम आया है। बल्कि यह कहना चाहिए कि भामह और इनके नाम से ही ग्रन्थ प्रारम्भ होता है—'इह हि तावद् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिर-

१ ध्वन्यालोक पृ० १०८ (निर्णयसागर)।

२ दक्षिण के टीकाकार समुद्रबन्ध का कहना है कि रुय्यक ने केवल सूत्र ही लिखा। उन सूत्रों की वृत्ति का ही नाम अलंकार-सर्वस्व है, जो उनके शिष्य मंखक ने लिखा। किन्तु यह मत कई कारणों से ठीक नहीं ठहरता।

रन्तदालकारकारा" इत्यादि। यही रुय्यक जब व्यक्तिविवेक ऐसे बड़े महत्त्व के ग्रन्थ की टीका लिखने बैठें, तब भी उद्भट भट्ट को न भूले थे। यहाँ वे यों लिखते हैं— "इह हि चिरन्तनैरलंकारतन्त्रप्रजापतिभिरुद्भटप्रभृतिभिः शब्दधर्मा एवालंकाराः प्रतिपादिता नाभिधाधर्माः"[2]। इन प्राचीनों की बात ही क्या है, पीछे के जो उद्धत भी नवीन आचार्य हुए हैं, उनको भट्ट उद्भट के सामने सिर नवाना ही पड़ा है। जिसने रसगंगाधर एक बार भी पढ़ा है, वह अच्छी तरह जानता है कि पण्डितराज जगन्नाथ कैसे थे। किसकी उन्होंने खबर न ली! अप्पय दीक्षित के धुर्रे उड़ा दिये, विमर्शिणीकार के छक्के छुड़ा दिये। पर वे भी जहाँ कहीं उद्भट का नाम लेते हैं, आदर ही दिखाते हैं। कहीं उनके ग्रन्थ के लगाने का प्रयत्न किया, कहीं उन पर किये गये आक्षेपों का उत्तर दिया, और कहीं अपने कथन के समर्थन में उनका उल्लेख किया। एक स्थान के लिए हुए वाक्य को नमूने के तौर पर देखिये— "अत्राहुरुद्भटाचार्याः। येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधक इति न्यायेनालंकारान्तरविषय एवायमाभारायमाणोऽलंकारान्तर बाधते"[3] इत्यादि। और कहाँ तक कहें, भट्ट उद्भट की प्रसिद्धि इतनी जोरों की हुई कि सबसे प्राचीन आचार्य बेचारे भामह कोसों दूर पड़े रह गये। इनके आगे वे फीके से जँचने लगे। यही कारण है कि भामह के काव्यालंकार की पुस्तक तक नहीं मिलती।

देश और समय

'उद्भट' नाम सुनते ही कौन न कह बैठेगा कि ये काश्मीरी होंगे कैयट, जैयट, मम्मट, अल्लट, झल्लट, कल्लट सरीखे नाम काश्मीर देश में ही उपलब्ध होते हैं इन्हीं नामों की समता पर हम निःसन्देह कह सकते हैं कि उद्भट काश्मीर के ही निवासी थे। केवल नाम ही की बात नहीं। और भी दूसरे विश्वासार्ह प्रमाण हैं जिनसे उनका काश्मीरी होना अच्छी तरह सिद्ध होता है।

राजतरंगिणी में कल्हण किसी एक भट्ट उद्भट को महाराज जयापीड का सभापति बतलाते हैं। महाराज जयापीड का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

---

१ अलंकार-सर्वस्व, पृ० ३ (निर्णयसागर)
२ व्यक्तिविवेक टीका, पृ० ३ (अनन्तशयन)।
३ रसगंगाधर, पृ० ६२३ (काशी)।

विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यह् कृतवेतन ।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुं सभापति ॥-४.४९५.

उस राजा के सभापति विद्वान् उद्भट भट्ट थे, जिनका दैनिक वेतन एक लाख दीनार था। यह उद्भट, जिनके संरक्षक महाराज जयापीड थे, और वह उद्भट जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं, जहाँ तक पता लगा है, दोनों का एक व्यक्ति होना डा० ब्यूलर की काश्मीर रिपोर्ट मे बहुत प्रमाणों से सिद्ध किया गया है[1]। डा० ब्यूलर ने ही पहले पहल काश्मीर जाकर अन्य ग्रन्थों के साथ भट्ट उद्भट के अलंकार-सार-सग्रह का पता लगाया था।

महाराज जयापीड वि० स० ८३६ से ८७० तक राज्य करते रहे। अपने राज्य के अन्तिम काल मे ये कुछ बदनाम से हो गये थे। इनसे प्रजाओं को पीडा होते देखकर ब्राह्मणों ने सब सम्बन्ध छोड दिया था। इसी कारण डा० याकोवी भट्ट उद्भट को इनके राज्य के पहले भाग मे रखना अधिक उचित समझते हैं। यही समय इनका दूसरी तरह से भी प्रमाणित होता है। ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्द्धनाचार्य ने इनका नाम कई बार लिया है[2]। आनन्दवर्द्धनाचार्य का भी नाम राजतरंगिणी मे आया है—

मुक्ताकण शिवस्वामी कविरानन्दवर्द्धन ।
प्रथा रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मण ॥५-३४

मुक्ताकण, शिवस्वामी, कवि आनन्दवर्द्धन तथा रत्नाकर, ये सब अवंतिवर्मा के राज्य-काल में प्रसिद्ध हुए। महाराज अवन्तिवर्मा वि० स० ९१२ से ९४१ तक काश्मीर का शासन करते रहे। आनन्दवर्द्धन का भी, पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार, यही समय मानना चाहिए। इसलिए इस बात से भी भट्ट उद्भट का पूर्वोक्त समय ही ठीक

---

1 Dr G Buhler's Detailed Report on a Tour in Search of Sanskrit MSS made in Kashmir etc Extra number of the J B. R A. S., 1877

२ ध्वन्यालोक, पृ० ९६ और १०६ (निर्णयसागर)।

प्रामाणिक होता है। एक दूसरी बात भी यहाँ ध्यान रखने योग्य है। वह यह कि भट्ट उद्भट ने कहीं आनन्दवर्द्धनाचार्य का क्या, ध्वनि मत का भी अच्छी तरह उल्लेख नहीं किया है। इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि उनके समय तक ध्वनि मत की पूर्ण रूप से स्थापना नहीं हुई थी। ऐसा ही पता प्रतिहारेन्दुराज की टीका से तथा अन्य ग्रन्थों से भी चलता है[1]। इन सब बातों का विचार करने से यही सिद्ध होता है कि भट्ट उद्भट विक्रमी नवम शतक के पूर्वार्द्ध में अवश्य विद्यमान थे।

ग्रन्थ

अभी तक भट्ट उद्भट के तीन ग्रन्थों का पता लगा है। वे ये है—

(१) भामह विवरण, (२) कुमारसम्भव काव्य और (३) अलकारसार-सग्रह।

भामह विवरण

भामह विवरण का केवल नाम ही नाम मिला है, सौभाग्य से इस ग्रन्थ का कतिपय अंश रोम विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है। हस्तलेख के त्रुटित होने से पूरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। प्रतिहारेन्दुराज अलकारसार सग्रह की लघु विवृति नाम की टीका मे एक स्थान पर लिखते हैं—"विशेषोक्तिलक्षणे च भामह विवरणे भट्टोदभटेन एकदेशशब्द एव व्याख्यातो यथैतास्माभिर्निरूपित [2]"। इस कथन से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि भामह विवरण नाम का ग्रन्थ भट्ट उद्भट ने लिखा था। इस कथन की पुष्टि अभिनवगुप्ताचार्य भी कई स्थानों पर करते हैं[3]। एक स्थल पर वे यों लिखते हैं—"भामहोक्त 'शब्दच्छन्दोभिधानार्थ' इत्यभिधानस्य शब्दाद् भेद व्याख्यातु भट्टोद्भटो बभाषे।"[4] इससे तो स्पष्ट ही निकलता है कि भट्ट उद्भट ने भामह के ग्रन्थ पर व्याख्या लिखी थी। अन्य स्थलों से भी यही सिद्ध होता है। हेमचन्द्र भी अपने काव्यानुशासन की अलकार चूडामणि नाम की टीका मे भट्ट उद्भट कृत भामह-विवरण का कई बार उल्लेख करते हैं[5]। रुय्यक अपने अलकारसर्वस्व मे इस भामह विवरण का

१ अलकारसारलघुविवृति, पृ० १९—"कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यजक-भेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहित। स कस्मादिह नोपादिष्ट। उच्यते। एष्व-लकारेष्वन्तर्भावात्।" अलकारसर्वस्व टीका (अलकार विमर्शिनी) पृ० ३ (निर्णयसागर)—"ध्वनिकारमतमेभिर्न दृष्टमिति भाव।"

२ वही पृ० १३।

३ ध्वन्यालोकलोचन (निर्णयसागर) पृ० १०।

४ वही　　　　पृ० ४०, १५९।

५ काव्यानुशासन टीका (निर्णयसागर) पृ १७, ११०।

'भामहीय-उद्भट लक्षण' कहकर उल्लेख करते हैं[1]। इसी अलंकार-सर्वस्व की टीका में समुद्रबंध इसको 'काव्यालंकार विवृति' कहते हैं[2]। भट्ट उद्भट के अलंकारसार-संग्रह से पता चलता है कि इन्होंने भामह के अलंकार लक्षणों को बहुत स्थलों पर वैसे का वैसा ही उठा लिया है। इससे भी यही मालूम होता है कि इनका भामह के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था।

कुमारसम्भव काव्य

भट्ट उद्भट के दूसरे ग्रंथ की भी यही दशा है। इस ग्रन्थ का नाम था कुमार-सम्भव काव्य। प्रतिहारेन्दुराज के कथन से उसके अस्तित्व का पता चलता है, तथा यह मालूम होता है कि अलंकार संग्रह में आये हुए उदाहरण प्रायः उसी काव्य से लिये गये हैं। प्रतिहारेन्दुराज अपनी लघुविवृति में एक स्थान पर यों लिखते हैं—'अनेन ग्रंथकृता स्वोपरचितकुमारसम्भवैकदेशोऽत्रोदाहरणत्वेन उपन्यस्त[3]।' जैसा काणे महाशय कहते हैं, इन श्लोकों को देखने से स्पष्ट यही प्रतीत होता है कि मानो कालिदास के कुमारसम्भव की नकल की गई हो। यह सादृश्य केवल शब्द और अर्थ का नहीं है, बल्कि घटनाल्लेख का भी है। यहां एक-दो उदाहरण दिखाना अप्रासंगिक न होगा।

उद्भट का श्लोक—प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः स्त्रीणां भावपरीक्षणे।
प्रतस्थे धूर्जटिरतस्तनु स्वीकृत्य वाटवीम्॥
(२ १०)[4]

कालिदास का श्लोक--विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं
शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा। इत्यादि।
(कुमार० ५ १२)

उद्भट का श्लोक—अपश्यच्चातिकष्टानि तप्यमाना तपांस्युमाम्।
असमाव्य-पतीच्छाना कन्यानां का परा गतिः॥
(२. १२.)[5]

---

१ अलंकारसर्वस्व पृ० २०५ (अनन्तशयन स०)।
२. अलंकारसर्वस्व टीका (अनन्तशयन) पृ० ८९।
३ अलंकारसार संग्रह, लघुविवृति पृ० १३ (निर्णयसागर)।
४ अलंकारसार संग्रह, लघुविवृति पृ० ३१।
५ वही पृ० ३४।

कालिदास का श्लोक—इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपता
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मन ।
अवाप्यते वा कथमीदृश द्वय
तथाविध प्रेम पतिश्च तादृश ॥
(५ २)

उद्भट का श्लोक—शीर्णपर्णाम्बुवाताशकष्टेऽपि तपसि स्थिताम् ।
(२ १)[1]

कालिदास का श्लोक— स्वय विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुन । इत्यादि ।
(५ २८)

अलकारसार सग्रह

भट्ट उद्भट का तीसरा ग्रथ है अलकारसार-सग्रह । इस समय एक यह साधन है, जिससे भट्ट उद्भट की विद्वत्ता का पता लग सकता है । इसका पहले पहल पता डा० ब्यूलर ने काश्मीर मे लगाया था और इसका पूरा विवरण अपनी रिपोर्ट मे दिया था । इसका अनुवाद कर्नल जेकब ने निकाला था । पर ग्रथ जब तक निर्णय-सागर मे न छपा, तब तक सर्वसाधारण के लिए दुर्लभ ही था । वै० स० १९७२ मे पडित मगेश रामकृष्ण तैलग ने प्रतिहारेन्दुराज की लघुविवृति नाम की टीका के साथ इसका सम्पादन कर इसे प्रकाशित किया ।

यह ग्रथ छ वर्गों मे विभक्त है । इसमे लगभग ७९ कारिकाओ द्वारा ४१ अल-कारों के लक्षण दिये गये हैं । इनके उदाहरण की तरह लगभग १०० श्लोक अपने कुमारसभव काव्य से (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) दिये गये हैं ।

जिन अलकारो के लक्षण और उदाहरण इसमे दिये गये हैं, उनके नाम वर्गक्रम से नीचे दिये जाते हैं ।

प्रथम वर्ग—(१) पुनरुक्तवदाभास, (२) छेकानुप्रास, (३) त्रिविध अनुप्रास (परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या या कोमला, (४) लाटानुप्रास, (५) रूपक, (६) उपमा, (७) दीपक (आदि, मध्य, अन्त) (८) प्रतिवस्तूपमा ।

द्वितीय वर्ग—(१) आक्षेप, (२) अर्थान्तरन्यास, (३) व्यतिरेक, (४) विभावना, (५) समासोक्ति, (६) अतिशयोक्ति ।

तृतीय वर्ग—(१ यथासख्य, (२) उत्प्रेक्षा (३) स्वभावोक्ति ।

---

१ अलकारसार-सग्रह, लघुविवृति पृ० ३७ ।

चतुर्थवर्ग—(१) प्रेय, (२) रसवत, (३) ऊर्जस्विन्, (४) पर्यायोक्त (५) समाहित, (६) उदात्त (द्विविध), (७) श्लिष्ट ।

पंचम वर्ग—(१) अपह्नुति, (२) विशेषोक्ति, (३) विरोध, (४) तुल्य-योगिता (५) अप्रस्तुतप्रशंसा, (६) व्याजस्तुति, (७) निदर्शना, (८) उपमेयोपमा, (९) सहोक्ति, (१०) सकर (चतुर्विध), (११) परवृत्ति ।

षष्ठ वर्ग—(१) अनन्वय, (२) ससंदेह, (३) संसृष्टि, (४) भाविक, (५) काव्यलिंग (६) दृष्टांत ।

उद्भट का भामह से तारतम्य

(१) सादृश्य

ऊपर एक स्थान पर कहा जा चुका है कि भट्ट उद्भट भामह के बडे भक्त थे। उन्होंने भामह के काव्यालकार पर 'भामह-विवरण' नाम की टीका लिखी। इतना ही नहीं उसी ग्रंथ का बहुत कुछ सहारा लेकर उन्होंने अपना 'अलकारसार-संग्रह' लिखा अब यहाँ यह देखना भी उचित होगा कि उन्होंने इस ग्रंथ के बनाने में कहाँ तक भामह का अनुकरण किया और कहाँ तक अपनी बुद्धि लगाई। पहली बात जो देखते ही दृष्टिगत होती है, वह यह है अलकारो के लक्षण और उदाहरण जिस क्रम से भामह के काव्यालकार मे कहे गये हैं, उसी क्रम से यहाँ भी दिये गये हैं। दो लक्षणो को मिलाने से पता लगता है कि आक्षेप विभावना, अतिशयोक्ति, यथासख्य पर्यायोक्त, अपह्नुति, विरोध, अप्रस्तुतप्रशसा, सहोक्ति, ससन्देह और अनन्वय के लक्षण हूबहू वही के वही हैं। कुछ और दूसरे अलकार जैसे अनुप्रास उत्प्रेक्षा, रसवत्, भाविक आदि ऐसे हैं, जिनके लक्षण बिलकुल वही के वही तो नही हैं, पर तो भी दोनों मे बहुत कुछ सादृश्य अवश्य है। यह तो हुई ऊपरी समता। भीतरी मत भी भामह और भट्ट उद्भट का करीब-करीब एक-सा था। दोनो अलकार-मत के माननेवाले थे।

(२) विलक्षणता

इतना सादृश्य होने पर भी भट्ट उद्भट बिलकुल ही अनुकरण करने वाले न थे। उन्होंने भामह के कहे हुए कितने ही अलकारों के नाम तक नहीं लिये हैं, और कितने ही भामह के कहे हुए अलंकारों को अपने ग्रंथ मे स्थान दिया है। यमक, उपमा-रूपक, उत्प्रेक्षावयव भामह के काव्यालंकार में आये हैं, पर उद्भट के अलकारसार-सग्रह मे उनका कहीं नाम भी नही मिलता। इसी तरह पुनरुक्तवदाभास, संकर, काव्यलिंग और दृष्टान्त भामह के ग्रंथ में न आने पर भी भट्ट उद्भट के ग्रंथ मे

मिलते हैं। निदर्शना को उद्भट विदर्शना कहते हैं, पर बहुत सम्भव है कि यह लिखने की ही भूल हो।

इसके अतिरिक्त और भी कई बातें हैं, जिनमे इनका मत भामह के मत से नही मिलता। प्रतिहारेन्दुराज एक स्थान पर कहते हैं—

"भ महो हि ग्राम्योपनागरिकावृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रास व्याख्यातवान्। तथा रूपकस्य ये चत्वारो भेदा वक्ष्यन्ते तन्मध्यादाद्यमेव भेदद्वितय प्रादर्शयत्।"[1]

भामह ने ग्राम्या वृत्ति और उपनागरिका वृत्ति, यही दो प्रकार के अनुप्रास माने हैं। रूपक के भी उन्होने दो ही भेद दिखायें हैं। इसके विरुद्ध उद्भट भट्ट ने अनुप्रास तीन तरह के माने हैं। इन्होंने एक परुषा वृत्ति और जोड दी है। इसी तरह रूपक के भी इन्होने दो और भेद जोडकर चार भेद कर दिये हैं। प्रतिहारेन्दुराज फिर एक दूसरे स्थान पर कहते हैं—"भामहो हि 'तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशास्त्रिविध यथा।' इति श्लिष्टस्य त्रैविध्यमाह।"[2] भामह ने श्लेष के तीन भेद माने हैं, पर उदभट दो ही भेद मानते हैं।

उद्भट अलकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं। भामह और उद्भट दोनो के सम्मिलित प्रयास का यह परिणत फल है कि अलकार सम्प्रदाय अपने पूर्ण वैभव के साथ विकसित हो सका। अलकार के विषय मे इनके कई मान्य सिद्धात हैं जिनसे परिचय पाना यहां आवश्यक है।

विशेषताएँ

उद्भट के मत से कई बातें सबसे विलक्षण हैं। यहाँ उनका सग्रह कर देना अनुचित न होगा। प्रतिहारेन्दुराज एक स्थानपर कहते हैं—"अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्ते इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्त "[3]। अर्थभेद से शब्दों का भेद होता है, यह भट्टोद्भट का सिद्धान्त है। ये दो तरह का श्लेष मानते हैं–शब्दश्लेष और अर्थश्लेष। दोनो को अर्थालकार ही मानते है[4]। श्लेष को यह प्रधान अलकार मानते हैं और इसे सब अलकारों का बाधक समझते हैं[5]। इन्होंने स्पष्ट कहा है--अलकारान्तरगता प्रतिभा जनयत्पदै "। ये अभिधा व्यापार तीन तरह का मानते थे[6]। अर्थ ये दो तरह के मानते थे—

१. अलकारसार लघुवृत्ति, पृ० १।

२ अलकारसार-लघुवृत्ति, पृ० ४७।

३ अलकारसार-लघुवृत्ति, पृ० ५५।

४. काव्यप्रकाश, ९ उल्लास।

५. ध्वन्यालोक, पृ० ९६।

६ काव्यमीमासा, पृ० २२।

अविचारित सुस्थ और विचारित रमणीय[1]। गुणो को ये सघटना के धर्म मानते थे[2]। व्याकरण के विचार पर जो बहुत से उपमा के भेद पाये जाते हैं, वे सब प्राय उद्भट के ही निकाले हुए हैं।

इतना कहने के बाद अब यह फिर दोहराने की आवश्यकता नही कि भट्ट उद्भट बडे भारी विद्वान् और धुरन्धर आलकारिक थे। जिस किसी बडे अलकार ग्रन्थ को उठाकर देखिए, कही न कही भट्ट उद्भट का नाम अवश्य देखने मे आवेगा। इनका मत पीछे से उड सा गया। जब लोग व्यग्य को ही काव्य का आत्मा मानने लगे, तब अलकारो का बाहरी उपकरण ठहराया जाना कोई आश्चर्य की बात नही है। इतना होने पर भी उनकी कीर्ति अक्षुण्ण बनी रही, यह क्या बहुत बडी बात नही है?

इनके दो टीकाकारों का पता चलता है—

(१) प्रतिहारेन्दुराज—इनकी टीका का नाम लघुवृत्ति[3] है, जिसमे इन्होने भामह, दण्डी, वामन, ध्वन्यालोक तथा रुद्रट के पद्यो को उद्धृत किया है। अन्तिम तीन ग्रन्थो के नाम का भी स्पष्ट निर्देश यहाँ मिलता है। ये कोकण के निवासी तथा मुकुल भट्ट के शिष्य थे। ये मुकुल भट्ट भट्ट कल्लट के (नवम शतक का मध्यभाग) पुत्र तथा 'अविधावृत्ति मातृका' के रचयिता थे। *अत मुकुल का समय हुआ नवम* शतक का अन्तिम काल तथा प्रतिहारेन्दुराज का समय हुआ १० शतक का प्रारम्भ काल। अभिनवगुप्त के एक गुरु का नाम भट्टेन्दुराज था जो इनसे भिन्न प्रतीत होत हैं। प्रतिहारेन्दुराज ध्वनि से परिचित होने पर भी उसकी प्रधानता नही मानते थे। *अत ध्वनिवादी अभिनवगुप्त का उन्हे गुरु मानना युक्तियुक्त प्रतीत नही होता।*

(२) राजानक तिलक—इनकी टीका का नाम 'उद्भटविवेक' है[4]। यह टीका *अल्पाक्षरा है जिसमे उद्भट के सिद्धान्त का सक्षिप्त विवेचन है। ये मध्ययुगी काश्मीरी* आलोचक थे। जयरथ ने अलंकारसर्वस्व के विमर्शिणी नामक अपनी टीका मे राजानक तिलक को उद्भट के टीकाकार के रूप में उल्लिखित किया है। साथ ही साथ यह भी बतलाया है कि अलकारसर्वस्व ने तिलक के मत का अनुसरण किया है। और इस

---

१ काव्यमीमासा, पृ० ४४, व्यक्तिविवेक टीका, पृ० ४।

२ ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १३४।

३ सस्करण काव्यमाला तथा बाम्बे सस्कृत सीरीज मे।

४ सस्करण गायकवाड सीरीज म० ५५।

तथ्य का स्वय उल्लेख करके उन्होंने अपना गर्वराहित्य प्रकट किया है[1]। जयरथ का यह कथन बतलाता है कि तिलक अलंकारसर्वस्व से प्राचीन ग्रन्थकार हैं। काव्यप्रकाश की संकेत टीका के प्रणेता रुय्यक ने अलंकारशास्त्र का अध्ययन तिलक से किया था—ऐसा उल्लेख वे स्वय करते हैं ग्रन्थ के आरम्भ मे[2]। जयरथ के अनुसार अलंकारसर्वस्व के रचयिता ही काव्यप्रकाश संकेत के भी निर्माता हैं। फलत रुय्यक (अर्थात् रुचक) के पिता ही राजानक तिलक थे। फलत पुत्र को पिता से साहित्य शास्त्र का अध्ययन तथा उनके मत का अपने ग्रन्थ मे उपन्यास सर्वथा शोभन तथा औचित्यपूर्ण है। काव्यप्रकाश के टीकाकार होने की दृष्टि से रुय्यक का समय ११०० ईस्वी है। राजानक तिलक का समय तदनुसार १०७५ ई० के आसपास अर्थात् एकादश शती का उत्तरार्ध मानना न्यायसगत है। तिलक ने 'उद्भटविवेक' मे प्रतिहारेन्दुराज के मत का स्थान स्थान पर खण्डन किया है।

६—वामन

संस्कृत के आलंकारिकों मे वामन का एक विशिष्ट स्थान है। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा मानकर साहित्य-जगत् मे एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की, जो रीति-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इनके प्रतिद्वन्द्वी आचार्य उद्भट ने तो आलोचनाशास्त्र के एकदेश—अलंकार—पर ही ग्रन्थ रचना कर कीर्ति लाभ किया, परन्तु वामनाचार्य ने आलोचनाशास्त्र के समस्त तत्त्वों को अपनी विद्वत्तापूर्ण समीक्षा से उद्भासित किया। इस दृष्टि से इनकी तुलना अलंकार, सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह के साथ की जा सकती है। उद्भट और वामन, दोनों ही काश्मीरी थे और एक ही राजा जयापीड की सभा के सभापण्डित थे। परन्तु यह आश्चर्य है कि दोनों एक दूसरे के विषय मे मौन हैं। न तो वामन ने उद्भट के सिद्धान्त का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है और न उद्भट ने वामन के सिद्धान्त का निर्देश।

समय

वामन के समय का निरूपण पुष्ट प्रमाणों के आधार पर किया गया है। इनके

---

१. एतच्च उद्भटविवेके राजानकतिलकेन सप्रपञ्चमुक्तमिति विरम्यतेति (अल० स०) अनेनास्माभि सर्वत्र तन्मतानुसृतिरेव कृतेत्यात्मविषयमनौद्धत्यमपि प्रकृता प्रकाशितमिति (अल० स० विमर्शिनी पृ २२७)।

२. ज्ञात्वा श्रीतिलकात् सर्वालङ्कारोपनिषत्क्रमम्।
काव्यप्रकाश-संकेतो रुचकेनेह लिख्यते॥

समय की पूर्व अवधि महाकवि भवभूति (७००–७५० ई०) हैं जिनके एक पद्य[1] को वामन ने रूपक अलकार के उदाहरण मे प्रस्तुत किया है। अत वामन का भवभूति से पश्चाद्वर्ती होना न्यायसिद्ध है। राजशेखर ने (९२० ई०) काव्यमीमांसा मे वामन के सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त आलकारिको का उल्लेख 'वामनीया.' शब्द से किया है। अभिनवगुप्त की समीक्षा से प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन से पहले ही वामन का आविर्भावकाल था। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में —

> अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत् पुर.सर ।
> अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागम. ॥

इस श्लोक को उद्धृत किया है। इसके ऊपर लोचनकार का कहना है कि इस पद्य मे वामन के अनुसार आक्षेपालंकार है और भामह की सम्मति मे समासोक्ति अलकार है। इस आशय को अपने हृदय मे रखकर ग्रन्थकार ने समासोक्ति और आक्षेप, इन दोनो अलंकारो का यह एक ही उदाहरण दिया है[2]। अत लोचनकार अभिनवगुप्ताचार्य की सम्मति मे वामन आनन्दवर्धन से (८५० ई०) पूर्ववर्ती हैं।

इस प्रकार इनका समय ७५० से ८५० ई० के बीच मे लगभग ८०० ई० के है। कल्हण से राजतरगिणी मे काश्मीर-नरेश जयापीड के मन्त्रियों में वामन नामक मन्त्री का उल्लेख किया है[3]। काश्मीरी पण्डितों का यह प्रवाद है कि जिस वामन को जयापीड ने मन्त्रिकार्य मे नियुक्त किया था वे ही काव्यालकारसूत्र के रचयिता आलकारिक वामन हैं। देश और काल की अनुकूलता के कारण हम इस प्रवाद को सत्य मानते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि जो व्यक्ति सरस्वती की साधना से लब्धप्रतिष्ठ हो, वह मन्त्रणा के महनीय कार्य मे नियुक्त न किया जाय।

---

१ इय गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो
रसावस्या स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरस ।
अय बाहु कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसर
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरह ॥ उ० रा० च० १।३८।

२ वामनाभिप्रायेणायमाक्षेप, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशय हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकमेवोदाहरण व्यतरत् ग्रन्थकृत्।

लोचन, पृष्ठ ३७।

३ मनोरथ शङ्खदत्तश्चटक सन्धिमांस्तथा।
बभूवु कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिण ॥ राजतर० ४।४९७।

ग्रन्थ

वामन के ग्रन्थ का नाम है काव्यालंकारसूत्र। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि अलंकारशास्त्र के इतिहास में यही एक ग्रन्थ ऐसा है जो सूत्रशैली में लिखा गया है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। इसमें दिये गये उदाहरण संस्कृत के प्रामाणिक काव्यों से उद्धृत किए गए हैं। सूत्र और वृत्ति दोनों की रचना स्वयं वामन ने की। इसका निर्देश ग्रन्थ के मंगल श्लोक में ग्रन्थकार ने स्वयं किया है[1]। पीछे के आलंकारिकों ने भी निःसन्देह रूप से वामन को ही वृत्ति का रचयिता स्वीकार किया है।[2] लोचनकार अभिनवगुप्त ने वामन के आक्षेप अलंकार के उदाहरणों को—जो वृत्ति में दिए गए हैं—वामन की ही रचना माना है। इससे स्पष्ट है कि वामन ने ही सूत्र तथा वृत्ति, दोनों की रचना स्वयं की।

यद्यपि यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण था तथापि मध्ययुग में इसका प्रचार लुप्त हो गया था। कहा जाता है कि काश्मीर के प्रसिद्ध आलोचक मुकुल भट्ट ने कहीं से इसकी हस्तलिखित प्रति (आदर्श) प्राप्त कर इसका उद्धार किया। इसकी सूचना वामन के टीकाकार सहदेव ने दी है[3]।

वामन का ग्रन्थ पाँच अधिकरणों में विभक्त है। प्रत्येक अधिकरण में कतिपय अध्याय हैं। इस प्रकार पूरे ग्रन्थ में पाँच अधिकरण, बारह अध्याय तथा ३१९ सूत्र हैं। प्रथम अधिकरण में काव्य के प्रयोजन तथा अधिकारी का वर्णन है। रीति को काव्य की आत्मा बतलाकर वामन ने रीति के तीन भेद तथा काव्य के अनेक प्रकारों का वर्णन किया है। दूसरा अधिकरण (दोषदर्शन) पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोषों का दर्शन कराता है। तृतीय अधिकरण (गुणविवेचन) अलंकार और गुण के पार्थक्य का विवेचन कर शब्द तथा अर्थ के दशगुणों का पृथक् पृथक् विस्तार के साथ विवरण प्रस्तुत करता है। चतुर्थ अधिकरण में (आलंकारिक) अलंकार का विस्तार से वर्णन

---

१ प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते॥ का० सू० मंगलश्लोक।

२ लक्षणाया हि झगित्यर्थप्रतिपत्तिक्षमत्वं रहस्यमाचक्षते।
वामन, का० लं० सू० ४।३।८ की वृत्ति।

३ वेदिता सर्वशास्त्राणां भट्टोभून् मुकुलाभिधः।
लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शं भ्रष्टाम्नायं समुद्धृतम्॥
काव्यालंकारशास्त्रं यत्तेनैतद्वामनोदितम्।
असूया नात्र कर्तव्या विशेषालोकिभिः क्वचित्॥

है। पंचम अधिकार मे (प्रायोगिक) सदिग्ध शब्दों के प्रयोग तथा शब्द-शुद्धि की समीक्षा है।

वामन ने अपने ग्रन्थ मे विशिष्ट ऐतिहासिक तथ्यो का उल्लेख किया है। अर्थ-प्रौढि के उदाहरण मे उन्होंने एक प्राचीन पद्य उद्धृत किया है जिसमे इन्होंने चन्द्रगुप्त के पुत्र को वसुबन्धु के आश्रयदाता के रूप मे प्रस्तुत किया है[1]। इस श्लोक की व्याख्या के प्रसग मे ऐतिहासिको मे घनघोर वाद विवाद उठ खडा हुआ। अधिकाश विद्वानो की यही सम्मति है कि गुप्तवशी नरेश चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र समुद्रगुप्त ही बौद्ध आचार्य वसुबन्धु के आश्रयदाता थे। इस ऐतिहासिक तथ्य का निर्धारण वामन की सहायता से हुआ है।

वामन का विशिष्ट मत

रीति सम्प्रदाय के उन्नायक होने के कारण वामन के कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त हैं जिन पहला सिद्धान्त है।

(१) "रीतिरात्मा काव्यस्य"। रीति का सिद्धान्त आलोचना शास्त्र मे अत्यन्त प्राचीन है। भामह ने पूर्वकाल मे ही रीति सिद्धान्त की उद्भावना हुई थी परन्तु रीति काव्य की आत्मा है, इतना महत्वपूर्ण प्रतिपादन वामन की निजी विशेषता है।

(२) भामह और दण्डी रीति के द्विविध भेद—वैदर्भी और गौडी—से ही परिचित थे। परन्तु वामन को तृतीय पाञ्चाली रीति के आविर्भाव का श्रेय प्राप्त है। इसका वर्णन तथा समीक्षण वामन ने ही सर्वप्रथम किया।

(३) गुण और अलकार दोनों ही काव्य के शोभादायक तत्त्व माने जाते थे। इन दोनो के पार्थक्य के निर्देश का श्रेय वामन को ही प्राप्त है।

(४) वामन के पूर्व अलकार-जगत् मे केवल दश गुण ही माने जाते थे परन्तु वामन ने अपने प्रतिभा के बल से दश शब्द गुण और दश अर्थ गुण—इस प्रकार बीस गुणो की उद्भावना की। यद्यपि वामन का यह मत पीछे के आलकारिकों को मान्य नही हुआ, फिर भी उनकी मौलिकता मे किसी को सन्देह नही हो सकता।

(५) *अलकारो के विवेचन में ही इनकी मौलिकता दीख पडती है।* इन्होने उपमा को मुख्य अलकार माना है। अन्य समस्त अलकार उपमा के ही प्रपञ्च स्वीकृत किये गये हैं।

---

[1] *साभिप्रायत्वं यथा—*

"सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रय कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रम ॥"

आश्रय कृतधियामित्यस्य च वसुबन्धु साचिव्योपक्षेपपरत्वात साभिप्रायत्वम्।
का० सू० ३।२।२

(६) वक्रोक्ति के विषय मे इनकी कल्पना नितान्त मौलिक और विलक्षण है। भामह और दण्डी वक्रोक्ति को अलकार का मुख्य आधार मानते थे परन्तु वामन ने इसे अर्थालकार के रूप मे माना है। उनका लक्षण है—**सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्ति**। अर्थात् सादृश्य से उत्पन्न होनेवाली लक्षणा वक्रोक्ति कहलाती है।

(७) ये आक्षेप को दो प्रकार का मानते हैं। मम्मट ने इनमें से एक को प्रतीत अलकार माना है और दूसरे को समासोक्ति।

(८) वामन काव्य मे रस की सत्ता के विशेष पक्षपाती हैं। अलकार सम्प्रदाय मे रस केवल बाह्य काव्य-साधन के रूप मे अंगीकृत किया गया था, किन्तु वामन ने उसे कान्ति नामक गुण के रूप में स्वीकृत कर काव्य मे रस को अधिक व्यापकता, अधिक स्थायिता तथा अधिक उपादेयता प्रदान की। इन्ही विशिष्टताओं के कारण वामन अलकार जगत् के एक जाज्वल्यमान रत्न माने जाते हैं।

वामन के ग्रन्थ के कई टीकाकारो का नाम सुना जाता है जिसमे सहदेव कोई प्राचीन टीकाकार हैं, परन्तु न तो उनके देश का पता है और न काल का। महेश्वर की टीका का नाम साहित्यसर्वस्व है जिसका हस्तलेख प्राप्त है। गोपेन्द्र तिप्प भूपाल की कामधेनु नाम्नी टीका नितान्त लोकप्रिय है और कई बार प्रकाशित हो चुकी है। इन्होने काव्यप्रकाश, विद्याधर, विद्यानाथ, विदग्धमुख मण्डन तथा अन्य उत्तर-कालीन ग्रन्थकारो का उल्लेख किया है। इससे इनका समय १२ शती से पूर्ववर्ती नही हो सकता।

७—रुद्रट

आचार्य रुद्रट का नाम अलकारशास्त्र के इतिहास मे अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने अलंकारो का सर्वप्रथम वैज्ञानिक श्रेणी विभाग कुछ निश्चित सिद्धान्तो के आधार पर किया। इनके जीवनवृत्त के विषय में हमारी जानकारी अत्यन्त अल्प है। इनके नाम से पता चलता है कि ये काश्मीरी थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे गणेश और गौरी की वन्दना की है और अन्त म भवानी, मुरारि और गजानन की। इससे पता चलता है कि ये शैव थे। इनके टीकाकार नमिसाधु के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि इनका दूसरा नाम शतानन्द था[1]। इनके पिता का नाम वामुकभट्ट था तथा ये सामवेदी थे।

---

१ अत्र च चक्रे स्वनामाकभूतोऽयं श्लोक कविनान्तर्भाविनो।
यथा—शतानन्दापराख्येन भट्टवामुकसूनुना।
साधित रुद्रटेनेद सामाजा धीमता हितम्॥
काव्यालकार ५।१२ १४ की टीका।

अलकार ग्रथो मे इनके मत का उल्लेख इतनी अधिकता से किया गया है कि इनके समय निरूपण मे विशेष कठिनाई नही दीख पडती । मम्मट, धनिक तथा प्रतिहारेन्दुराज ने अपने ग्रन्थों मे इनके मत तथा श्लोकों का उद्धरण स्पष्टत किया है। परन्तु सबसे प्राचीन आलकारिक जिन्होने इनके मत तथा श्लोकों को उद्धृत किया है राजशेखर हैं। इन्होंने अपनी काव्यमीमासा मे रुद्रट के विशिष्ट मत का उल्लेख किया है कि काकु-वक्रोक्ति एक विशिष्ट शब्दालकार है।[1] वक्रोक्ति को शब्दालकार के रूप मे मानने का प्रथम निर्देश हम रुद्रट मे ही मिलता है। इस निर्देश से रुद्रट राजशेखर (९२० ई०) से पूर्ववर्ती आचार्य सिद्ध होते है। रुद्रट ध्वनि-सिद्धान्त से सर्वथा अपरिचित है। आनन्दवर्धन ने न तो रुद्रट को अपने ग्रथ मे उद्धृत किया और न रुद्रट ने ही आनन्दवर्धन के विशिष्ट सिद्धान्तो का उल्लेख अपने विस्तृत ग्रथ में किया। इससे यही प्रतीत होता है कि इनका आविर्भाव ध्वनि सिद्धान्त की उद्भावना के पूर्व ही हो चुका था। अत इनका समय आनन्दवर्धन (८५० ई०) से पहिले अर्थात् नवम शताब्दी के आरम्भ मे मानना उचित है।

ग्रन्थ

रुद्रट के ग्रथ का नाम काव्यालकार है जो इनकी एकमात्र कृति है। विषय की दृष्टि से यह बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत ग्रथ है, क्योकि इसमे अलकारशास्त्र के समस्त तत्त्वो का विशिष्ट निरूपण है। पूरा ग्रथ आर्या छन्द मे लिखा गया है जिनकी सख्या ७३४ है। इसमे अध्यायो की सख्या १६ है। इस ग्रथ मे काव्यस्वरूप, पांच प्रकार के शब्दालकार, चार प्रकार की रीति, पांच प्रकार की अनुप्रास वृत्ति, यमक, श्लेष, चित्र, अर्थालकार, दोष, दश प्रकार के रस, नायक नायिका-भेद तथा काव्य क प्रकार का क्रमश वर्णन भिन्न भिन्न अध्यायों मे किया गया है।

रुद्रट के काव्यालकार के ऊपर तीन टीकाओ का पता चलता है-(१)रुद्रटालकार-वल्लभदेव की यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। ये (वल्लभदेव) काश्मीर के मान्य टीकाकार हैं जिन्होंने कालिदास, माघ, मयूर तथा रत्नाकर के काव्यो पर प्रामाणिक व्याख्यायें लिखी हैं। इनका समय दशम शताब्दी का प्रथमार्ध है। रुद्रट की सबसे प्राचीन टीका यही है। यदि इस टीका का पता लगा होता तो इससे अलकार शास्त्र के सम्बन्ध म अनेक नयी बातो का ज्ञान होता। (२) नमिसाधु की टीका— यही टीका उपलब्ध तथा प्रकाशित है। नमिसाधु श्वेताम्बर जैन थे और शालिभद्र के शिष्य थे। इन्होने अपनी टीका की रचना का समय ११२५ वि० (१०६९ ई०)

---

१ काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालकारोऽयम् ॥ इति रुद्रट ।

का० मी० अध्याय ७, पृ० ३१

दिया है[१]। इनकी टीका पाण्डित्यपूर्ण है जिसमें भरत, मेधाविरुद्र, भामह, दण्डी, वामन आदि मान्य आलंकारिकों के मत का निर्देश स्थान-स्थान पर किया गया है। (३) तीसरी टीका के रचयिता आशाधर हैं जो एक जैन यति थे और १३वी शताब्दी के मध्य भाग मे विद्यमान थे।

रुद्रट को अलकार सम्प्रदाय का आचार्य मानना ही उचित है। ये यद्यपि रसयुक्त काव्य की महत्ता स्वीकार करते हैं और तदनुसार काव्य में रसविधान का निरूपण बडे विस्तार के साथ करते हैं तथापि इनका आग्रह अलकार-सिद्धान्त के ऊपर ही विशेष है। अलकारो का श्रेणी-विभाग करने का श्रेय आचार्य रुद्रट को है। इन्होंने अर्थालंकारो को चार तत्वो—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष—के आधार पर विभक्त करने का प्रयत्न किया। यह श्रेणी विभाग उतना वैज्ञानिक तो नही है, फिर भी अलकारो के प्रति रुद्रट की सूक्ष्म दृष्टि का पर्याप्त परिचायक है।

रुद्रटने अनेक नवीन अलकारों की भी कल्पना की है। इन्होंने 'भाव' नामक एक नवीन अलकार माना है जिसको मम्मट और आनन्दवर्धन ने अलकार न मानकर गुणीभूतव्यङ्ग्य का ही एक प्रकार माना है। इनके नवीन अलकार हैं —मत, साम्य एव पिहित जिनका वर्णन प्राचीन ग्रथो मे कही नही मिलता। इन्होने कुछ प्राचीन अलकारो के नवीन नाम दिये हैं। उदाहरणार्थ इनका व्याजश्लेष (१०। ११) भामह की व्याजस्तुति है। अवसर अलकार (७। १०३) मम्मट के उदात्त का दूसरा प्रकार है। इनकी 'जाति' मम्मट की स्वभावोक्ति है और 'पूर्व' अलकार (९। ३) अतिशयोक्ति का चतुर्थ प्रकार है। इस अलकार-विधान के अतिरिक्त काव्य मे रस का विस्तृत विधान रुद्रट के ग्रथ की महती विशेषता है।

रुद्रभट्ट

रुद्रभट्ट की एकमात्र रचना शृ गार-तिलक है जिसके तीन परिच्छेदो मे रस का विशेषत शृ गार-रस का–विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रथम परिच्छेद मे नवरस, भाव तथा नायक-नायिका के विविध प्रकारों का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद मे विप्रलम्भ शृ गार का तथा तृतीय मे इतर रसों का तथा वृत्तियो का वर्णन है। नाम की तथा विषय की समता के कारण अनेक पश्चिमी विद्वानो ने रुद्रभट्ट को रुद्रट से अभिन्न व्यक्ति माना है। सुभाषित ग्रथो मे एक के श्लोक दूसरे के नाम से दिये गये हैं जिससे इन दोनो के विषय मे और भी भ्रान्ति फैल गई है।

---

१ पञ्चविंशति-संयुक्तैरेकादश-समाशतैः।
विक्रमात् समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम्॥
टीका का अन्तिम श्लोक

दोनों के ग्रंथों के गाढ अनुशीलन से इस भ्रान्ति का निराकरण भलीभाँति किया जा सकता है। आलोचनाशास्त्र के विषय में दोनो आचार्यों के दृष्टिकोण भिन्न भिन्न हैं। रुद्रट की दृष्टि मे काव्य का विशिष्ट उपादेय अंग है अलंकार और इसी कारण इन्होंने अपने ग्रंथ के ग्यारह अध्यायों में इस तत्त्व का विवेचन किया है। अन्तिम अध्याय में इन्होंने रस का वर्णन सामान्य रूप से किया है। उधर रुद्रभट्ट की आलोचना का मुख्य आधार रस है और विशेषत शृङ्गार रस। इसीलिए इन्होंने काव्य के अन्य अंगों की अवहेलना कर रस का विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रकार रुद्रभट्ट की दृष्टि रुद्रट की अपेक्षा बहुत ही संकुचित तथा सीमित है। रुद्रट ने काव्य के समग्र अंगों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है तो रुद्र या रुद्रभट्ट ने काव्य के केवल एक ही अंग में अपने को सीमित तथा संकुचित रखा है। तथ्य तो यह है कि रुद्रट एक महनीय तथा मौलिक आलंकारिक हैं और रुद्रभट्ट एक सामान्य कवि हैं जिन्होंने अपने विषय विवेचन के लिए रुद्रट के ग्रंथ से विशिष्ट सहायता ली है।

इन दोनो आचार्यों के ग्रंथो में पर्याप्त पार्थक्य है। रुद्रट के ग्रंथ के चार अध्याय 'शृङ्गारतिलक' के विषय से पूर्ण समानता रखते हैं। यदि इन दोनो ग्रंथो का रचयिता एक व्यक्ति होता तो काव्यालंकार की रचना के अनन्तर शृंगारतिलक के लिखने का क्या प्रयोजन था? विषय की भिन्नता ग्रन्थकारो की भिन्नता स्पष्ट प्रमाणित कर रही है। (१) शृंगारतिलक में रुद्रभट्ट ने केवल नव रसो का वर्णन किया है परन्तु रुद्रट ने 'प्रेय' नामक एक नवीन रस की उद्भावना कर रसो की संख्या दस कर दी है। (२) रुद्रभट्ट ने कैशिकी आदि चारो नाट्य-वृत्तियों का काव्य मे उल्लेख किया है। उधर रुद्रट ने उद्भट के अनुसार पाँच वृत्तियाँ (मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा) का वर्णन किया है जो अनुप्रास के ही विविध प्रकार हैं। (३) नायिका-नायक के विभिन्न प्रकारो मे भी इसी प्रकार का भेद है। नायिका के तृतीय भेद वेश्या का वर्णन बड़े आग्रह से रुद्रभट्ट ने किया है, परन्तु रुद्रट ने केवल दो श्लोको में वर्णन कर उसे तिरस्कार के साथ हटा दिया है। इन्हीं कारणों से रुद्रभट्ट का रुद्रट से भिन्न व्यक्ति मानना ही न्यायसंगत है।

इन दोनो ग्रंथकारो के काल में भी पर्याप्त अन्तर है। हेमचन्द्र ही प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने 'शृंगारतिलक' के मंगल श्लोक को उद्धृत कर खण्डन किया है। अतः रुद्रभट्ट का काल दशम शताब्दी के पूर्व कदापि नहीं माना जा सकता। परन्तु रुद्रट का समय नवम शताब्दी का आरम्भ काल है जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है।

८—आनन्दवर्धन

ध्वनि सिद्धान्त के उद्भावक के रूप में आचार्य आनन्दवर्धन का नाम अलङ्कार-शास्त्र के इतिहास में सर्वदा अजर-अमर रहेगा। व्याकरण शास्त्र के इतिहास में जो स्थान पाणिनि को प्राप्त है तथा अद्वैत वेदान्त में जो स्थान शंकराचार्य को मिला है अलंकार-शास्त्र में वही स्थान आनन्दवर्धन का है। आलोचनाशास्त्र को एक नवीन दिशा में ले जाने का श्रेय इन आचार्य को प्राप्त है। पण्डितराज जगन्नाथ का यह कथन यथार्थ है कि ध्वनिकार ने आलंकारिकों का मार्ग सदा के लिए व्यवस्थापित तथा प्रतिष्ठित कर दिया। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' एक युगान्तकारी ग्रन्थ है।

आचार्य आनन्दवर्धन के देश और काल से हमें पर्याप्त परिचय है। ये काश्मीर के निवासी थे और काश्मीर-नरेश राजा अवन्तिवर्मा (८५५-८८४ ई०) के सभा-पण्डितों में अन्यतम थे। कल्हण पण्डित का राजतरंगिणी में यह निर्देश[1] सर्वथा मान्य और प्रामाणिक है। कल्हण पण्डित के उपर्युक्त मत की पुष्टि अन्य प्रमाणों से भी की जा सकती है। आनन्दवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त ने अपने 'क्रमस्तोत्र' की रचना ९९१ ई० में की। आनन्दवर्धन के अन्य ग्रंथ 'देवीशतक' के ऊपर कैयट ने ९९७ ई० के आसपास व्याख्या लिखी। इतना ही क्यों, राजशेखर ने—जिनका समय नवम शताब्दी का अन्त तथा दशम का आरम्भ है—आनन्दवर्धन के नाम तथा मत का स्पष्टत उल्लेख किया है। इससे इनका समय नवम शताब्दी का मध्यभाग निश्चित रूप से सिद्ध होता है।

इन्होंने अनेक काव्य ग्रंथों की भी रचना की है जिनमें 'देवीशतक', 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित' प्रसिद्ध हैं। परन्तु इनकी सर्वश्रेष्ठ और विख्यात रचना ध्वन्यालोक है, जो इनकी कीर्ति की आधारशिला है। ध्वन्यालोक में ४ उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनिविषयक प्राचीन आचार्यों के मतों का निर्देश और उनका युक्तियुक्त खण्डन है। यह उद्योत ध्वनि के इतिहास जानने के लिए नितान्त उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण है। दूसरे उद्योत में ध्वनि के विभेदों का विशिष्ट वर्णन प्रस्तुत किया गया है, साथ ही साथ गुण तथा अलङ्कारों का विवेचन भी प्रसङ्ग की पूर्ति के लिए ग्रन्थकार ने किया है। तृतीय उद्योत का विषय भी ध्वनि के विभेदों का विवेचन ही है।

---

१ मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥ राजतरंगिणी ५।८।

इस उद्योत में काव्य के अन्य भेद गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्र काव्य का वर्णन भी उदाहरणों के साथ दिया गया है। व्यंजना नामक नवीन शब्दव्यापार की कल्पना काव्य-जगत् मे क्यो की गई? क्या अभिधा और लक्षणा के द्वारा काव्य के अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति नही हो सकती? इन प्रश्नों का युक्तियुक्त उत्तर आनन्दवर्धन ने इस उद्योत मे प्रस्तुत किया है। चतुर्थ उद्योत मे ध्वनि के प्रयोजन का पर्याप्त विवेचन है। ध्वनि की सहायता से पूर्वपरिचित अर्थ मे भी अपूर्वता का सचार होता है, नीरस विषय मे भी रसवत्ता विराजने लगती है। ध्वनि काव्य की रचना करने में ही कवि की अमर कला का विलास है। इसका निरूपण इस उद्योत मे है।

कारिकाकार तथा वृत्तिकार

ध्वन्यालोक के तीन भाग हैं—(१) कारिका, (२) गद्यमयी वृत्ति तथा (३) उदाहरण। इनमे उदाहरण तो संस्कृत के प्रामाणिक कवियो के प्रख्यात ग्रंथों से लिये गये हैं, परन्तु कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति की लेखनी से प्रसूत हुए हैं, या इनके रचयिता दो भिन्न व्यक्ति हैं? यह बड़ा ही विवाद का विषय है। आलंकारिकों की परम्परा सर्वदा आनन्दवर्धन को ही कारिका तथा वृत्ति का अभिन्न रचयिता मानती आती है, परन्तु ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' मे कुछ निर्देश ऐसे अवश्य मिलते हैं जिनसे वृत्तिकार तथा कारिकाकार के पार्थक्य का आभास मिलता है[1]। अभिनवगुप्त ने वृत्तिग्रंथ को कारिका ग्रंथ से अलग माना है तथा वृत्तिकार के लिये ग्रन्थकृत् और कारिकाकार के लिये मूलग्रन्थकृत् शब्दो का व्यवहार किया है। इसी आधार पर काणे और डाक्टर डे ने कारिकाकार को वृत्तिकार से भिन्न व्यक्ति माना है[2]। वृत्तिकार का नाम आनन्दवर्धन है, परन्तु कारिकाकार का नाम अज्ञात है। डाक्टर काणे ने कारिकाकार का नाम 'सहृदय' बतलाया है। परन्तु पिछले आलंकारिकों ने कारिका और वृत्ति के रचयिताओं में किसी प्रकार का भेद न मानकर आनन्दवर्धन का ही समभावेन दोनो का निर्माता स्वीकार किया है। (१) राजशेखर ने आनन्द-

१ कतिपय स्थलो का निर्देश यहाँ किया जा रहा है—

(क) न चैतन्मयोक्तम् अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणत्याह—तत्रेति। भवति मूलता द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति भावः।

(लोचन, पृ० ६०)

(ख) उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति— (लोचन पृ० १२२)।

२. काणे—संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (पृ० ४० पृ० २१० २२१)।

डा० डे—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ११४।

वर्धन के मत का उल्लेख करते समय एक श्लोक उद्धृत किया है, जो 'ध्वन्यालोक' की वृत्ति में उपलब्ध होता है। राजशेखर ने आनन्दवर्धन को ही ध्वनि का प्रतिष्ठाता माना है, जिसका परिचय इस सुप्रसिद्ध पद्य से मिलता है—

ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेदिणा।
आनन्दवर्धन कस्य नासीदानन्दवर्धन ॥

(२) वक्रोक्ति जीवितकार (कुन्तक) भी वृत्तिकार को ध्वनिकार के नाम से ही पुकारते हैं। उन्होंने आनन्दवर्धन के एक पद्य को रूढिशब्दवक्रता का उदाहरण देकर स्पष्ट ही लिखा है—"ध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरा समर्थित, किं पौनरुक्त्येन'। अत कुन्तक की सम्मति में आनन्दवर्धन ही ध्वनिकार सिद्ध होते हैं। (३) महिमभट्ट की सम्मति भी इसी मत की पोषिका है। महिमभट्ट कश्मीर के निवासी ही न थे, प्रत्युत लोचन के रचयिता अभिनवगुप्त के समकालीन भी थे। उन्होंने 'व्यक्तिविवेक' में 'ध्वन्यालोक' की कारिकायें तथा वृत्तिभाग को अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है और उनके रचयिता का सर्वत्र ध्वनिकार के नाम से निर्देश किया है। (४) क्षेमेन्द्र ने भी, जो अभिनवगुप्त के साहित्यशास्त्र के साक्षात् शिष्य थे और कश्मीरी पडितों की परम्परा से नितान्त अवगत थे, 'औचित्यविचारचर्चा' में 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं को आनन्दवर्धन के नाम से उद्धृत किया है। (५) हेमचन्द्र ने ध्वन्यालोक' की कारिका को आनन्दवर्धन की ही रचना माना है। (६) विश्वनाथ कविराज ने भी वृत्ति के लेखक को ध्वनिकार के नाम से उल्लिखित किया है। इतनी प्रौढ परम्परा के रहते हुए कारिका तथा वृत्ति के लेखकों में भेद मानना कथमपि न्यायसगत नहीं प्रतीत होता।

९—अभिनवगुप्त

ध्वन्यालोक तथा नाट्यशास्त्र के व्याख्याता के रूप में अभिनवगुप्त अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनकी व्याख्यायें इतनी प्रौढ, पाण्डित्यपूर्ण तथा तलस्पर्शिणी हैं कि वे मौलिक ग्रथों से भी अधिक आदरणीय हैं। अलकारशास्त्र के इतिहास में अभिनवगुप्त को वही श्लाघनीय स्थान प्राप्त है जो व्याकरण शास्त्र के इतिहास में पतञ्जलि का और अद्वैत वेदान्त के इतिहास में भामतीकार को। अभिनवगुप्त आलकारिक की अपेक्षा दार्शनिक अधिक थे। अत जब उन्होंने अलकारशास्त्र में ग्रथ-रचना की, तब इस शास्त्र को एक निम्न स्तर से उठाकर दार्शनिक क्षेत्र में पहुँचाकर ऊँचा उठा दिया।

जीवनी

इनके देश, काल तथा जीवनवृत्त का परिचय हमें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। इनके 'परात्रिंशिका विवरण' नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि इनके पितामह का नाम वराहगुप्त था, पिता का नाम चुखल एवं अनुज का नाम मनोरथ गुप्त था। इनके भिन्न-भिन्न शास्त्रों के भिन्न भिन्न गुरु थे। इनके शैवदर्शन के गुरु लक्ष्मण गुप्त थे। 'लोचन' में इन्होंने अपने अलंकारशास्त्र के गुरु का नाम भट्टेन्दुराज दिया है। भट्टेन्दुराज एक सामान्य कवि नहीं थे, प्रत्युत महान् आलोचक थे। इसका परिचय लोचन' के शब्दों से ही मिलता है—'यथा वा अस्मदुपाध्यायस्य विद्वद्कविसहृदयचक्रवर्तिनो भट्टेन्दुराजस्य।" अभिनवगुप्त की लिखी भगवद्गीता की टीका से पता चलता है कि भट्टेन्दुराज कात्यायन गोत्र के थे। इनके पितामह का नाम सौचुक और पिता का नाम भूतिराज था। 'लोचन' में इन्होंने अपने गुरु के मत एवं श्लोकों को अनेक बार उद्धृत किया है। 'ध्वन्यालोक' के सदिग्ध स्थलों के निराकरण के लिए अपने गुरु के मत का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार से किया है कि प्रतीत होता है कि शिष्य ने गुरु की मौखिक व्याख्या सुनकर ही इस महनीय टीका का प्रणयन किया है। 'लोचन' के निर्माण की स्फूर्ति जिस प्रकार इन्हें भट्टेन्दुराज के व्याख्यानों से हुई, उसी प्रकार नाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनव भारती' के निर्माण की प्रेरणा इन्हें अपने दूसरे साहित्य-गुरु भट्टतोत या भट्टतौत से मिली। 'अभिनव भारती' के विभिन्न भागों में इन्होंने अपने गुरु भट्टतौत के व्याख्यानों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख बड़े आदर तथा उत्साह से किया है। भट्टतौत अपने समय के मान्य आलंकारिक थे, जिनकी महनीय कृति 'काव्य-कौतुक' आज भी विस्मृति के गर्भ में पड़ी हुई है। अभिनवगुप्त ने इसके ऊपर 'विवरण' नामक टीका भी लिखी थी जो मूल के समान ही अभी तक उपलब्ध नहीं है। यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध हो जाय तो साहित्य शास्त्र की एक टूटी कड़ी का पता लग जाय।

काल

अपने कई ग्रन्थों का रचना-काल ग्रन्थकार ने स्वयं दिया है। इन्होंने अपना 'भैरवस्तोत्र' ६८ लौकिक संवत् (९९३ ई०) में लिखा। उत्पलाचार्य के 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा' नामक महनीय ग्रन्थ के ऊपर इन्होंने विमर्शिणी' नामक जो बृहती वृत्ति लिखी है उसकी रचना ९० लौकिक संवत् तथा ४११५ कलि वर्ष (१०१५ ई) में हुई थी। काल गणना का निर्देशक यही इनका अन्तिम ग्रन्थ है। इससे सिद्ध होता है कि इनका आविर्भावकाल दशम शताब्दी का अन्त तथा एकादश शताब्दी का आरम्भ-काल है।

इन्होंने दर्शन तथा साहित्यशास्त्र के ऊपर अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनके दार्शनिक ग्रन्थों में 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्षिणी', 'तन्त्रसार', 'मालिनीविजयवार्तिक',

परमार्थसार, 'परात्रिंशिका-विवरण' त्रिक दर्शन के इतिहास में नितान्त प्रामाणिक माने जाते हैं। इनका विपुलकाय 'तन्त्रालोक' ग्रन्थ तन्त्र-शास्त्र का विश्वकोश ही है। साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामञ्जस्य करने का श्रेय परम माहेश्वराचार्य आचार्य अभिनवगुप्त को प्राप्त है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होने के अतिरिक्त ये एक अलौकिक पुरुष थे। ये अर्धत्र्यम्बक मत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल (तान्त्रिक) थे। साहित्यशास्त्र में इनकी महनीय कृतियाँ तीन ही हैं।

ग्रन्थ

(१) ध्वन्यालोक-लोचन—आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' की यह टीका सचमुच आलोचकों को लोचन प्रदान करती है, क्योंकि बिना इसकी सहायता के ध्वन्यालोक के तत्त्वों का उद्घाटन नहीं हो सकता था। इस टीका में रसशास्त्र के प्राचीन व्याख्याकारों के सिद्धान्त—जिनकी उपलब्धि अन्यत्र होना नितान्त दुर्लभ है—एकत्र दिये गए हैं। यह टीका इतनी पाण्डित्यपूर्ण है कि कहीं-कहीं पर मूल की अपेक्षा टीका ही दुरूह हो गई है जिसे समझना अत्यन्त कठिन है। ध्वन्यालोक के ऊपर 'लोचन' से पहले चन्द्रिका नाम की टीका लिखी गई थी[1] और इसके लेखक इन्हीं के कोई पूर्वज थे। 'लोचन' में इन्होंने इस टीका का खण्डन अनेक अवसरों पर किया है[2]। अन्त में इन्होंने यह भी स्पष्ट लिखा है—"अलं निजपूर्ववंश्यैः विवादेन" अर्थात् अपने पूर्वज के साथ अधिक विवाद करने से क्या लाभ ?

(२) अभिनवभारती—नाट्यशास्त्र के ऊपर एकमात्र यही उपलब्ध टीका है[3]। भरत के कठिन ग्रन्थ को समझने के लिए इस टीका का गाढ़ अनुशीलन अपेक्षित है। यह 'लोचन' के समान ही पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है, जिसमें प्राचीन आलंकारिकों तथा संगीतकारों के मतों का उपन्यास बड़ी ही सुन्दरता के साथ किया गया है। प्राचीन भारत की नाट्यकला—संगीत, अभिनय, छन्द, करण, अंगहार आदि—के रूप को यथार्थतः समझने के लिए इस टीका का अध्ययन तथा अनुशीलन नितान्त अपेक्षित है। परन्तु दुःख है कि यह टीका अभी भी विशुद्ध रूप में सम्पूर्णतया प्राप्त नहीं है। बड़ोदा से प्रकाशित टीका अब पूरी हुई है। अभिनवभारती टीका नहीं, प्रत्युत

१　किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
　　तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥
　　　　　　(लोचन, प्रथम उद्योत का अन्तिम श्लोक)

२　लोचन, पृ० १२३, १३८, १७८, १८७, २१५ (काव्यमाला सं०)।

३　गायकवाड ओरियण्टल सीरीज (चार खंडों में) बड़ोदा से प्रकाशित।

एक स्वतन्त्र मौलिक महाग्रन्थ है। भरत के ऊपर प्राचीन आलङ्कारिकों ने भी टीकायें लिखी थीं, परन्तु ये सर्वथा उच्छिन्न हो गई हैं। इन टीकाओं का जो कुछ पता हमें चलता है वह 'अभिनवभारती' के उल्लेख से ही प्राप्त है। यह टीका नितान्त विशद, पाण्डित्यपूर्ण तथा मर्मस्पर्शिनी है।

(३) **काव्यकौतुकविवरण**—ऊपर हमने इनके गुरु भट्टतौत का उल्लेख किया है। यह 'काव्यकौतुक' उन्हीं की रचना है, जिसके ऊपर अभिनवगुप्त ने यह 'विवरण' लिखा है। परन्तु यह खेद का विषय है कि आज न तो यह मूल ग्रंथ ही उपलब्ध है और न इनकी टीका ही। इसकी सत्ता का परिचय भी हमें अभिनवभारती के उल्लेख से ही मिलता है[1]।

१०—राजशेखर

राजशेखर महनीय नाटककार के रूप में ही अभी तक प्रसिद्ध थे, परन्तु इधर इनका एक अलङ्कार ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। यह ग्रन्थ इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसी के बल पर इनकी गणना प्रधान आलोचकों में होने लगी है।

जीवनवृत्त

इनके काल तथा जीवनवृत्त का विशेष विवरण हमें उपलब्ध है। ये विदर्भ के निवासी थे। इनका कुल 'यायावर' के नाम से विख्यात था। इसीलिए इन्होंने अपने मत का उल्लेख 'यायावरीय' के नाम से किया है। अकाल-जलद, सुरानन्द, तरल, कविराज आदि संस्कृत भाषा के मान्य कवियों ने इस वंश को अलंकृत किया था। ये महाराष्ट्र-चूडामणि कविवर अकालजलद के प्रपौत्र थे तथा दुर्दुक और शीलवती के पुत्र थे। चौहानवंशी अवन्तिसुंदरी नामक एक क्षत्रिय विदुषी स्त्री से इन्होंने अपना विवाह किया था[2]। अवन्तिसुन्दरी संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं की विदुषी थीं। *अलङ्कार शास्त्र के विषय में भी उसके कुछ मौलिक सिद्धान्त थे, जिनका उल्लेख* राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में स्थान-स्थान पर किया है। ये निवासी तो थे विदर्भ (बरार) देश के, परन्तु इनका कर्मक्षेत्र था कन्नौज प्रदेश। यहीं के प्रतिहारवंशी

---

१ अभिनवभारती, पृ० २९१ (प्रथम खण्ड)।

२ चाहुमानकुलमौलिमालिका राजशेखरकवीन्द्रगेहिनी।
भर्तुः कृतिमवन्तिसुन्दरी सा प्रयोक्तुमेवमिच्छति ॥
(कर्पूरमंजरी १।११ संस्कृत)।

नरेश महेन्द्रपाल तथा महीपाल (दशम शतक का प्रथमार्ध) के ये गुरु थे।[1] इस प्रकार इनके जीवनकाल में ही इन्हें विशेष गौरव तथा सम्मान प्राप्त था।

काल

इस उल्लेख से इनके समय का निरूपण भली-भाँति हो जाता है। सियोदोनी शिलालेख से ज्ञात होता है कि महेन्द्रपाल का राज्यकाल ९०७ ई० तक था तथा इनके पुत्र महीपाल ९१७ ई० में राज्य कर रहे थे। इनके समसामयिक होने से राजशेखर का भी यही समय (दशम शतक का पूर्वार्ध) है। इस प्रमाण के अतिरिक्त विभिन्न कवियों के राजशेखर विषयक निर्देशों से भी इनके समय का निरूपण किया जा सकता है। इन्होंने काव्यमीमांसा में काश्मीर नरेश जयापीड (७७९ ई०—८१३ ई०) के सभापति उद्भट का तथा अवन्तिवर्मा (८५७–८८४ ई०) के सभा-पण्डित आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है। राजशेखर के मत का उल्लेख सबसे पहले सोमदेव ने अपने 'यशस्तिलकचम्पू' में किया है, जिसकी रचना ९६० ई० में हुई थी। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि राजशेखर लगभग ८८० ई० से लेकर ९२० ई० के बीच में थे।

इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की है, जिनमें (१) बालरामायण, (२) बालभारत, (३) विद्धशालभञ्जिका तथा (४) कर्पूरमंजरी मुख्य हैं। काव्यमीमांसा इनका अलङ्कारशास्त्र का एकमात्र ग्रन्थ है जिसकी उपलब्धि आज से चालीस वर्ष पहले हुई। यह ग्रन्थ गायकवाड ओरियण्टल सीरीज (नं० १) बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ १८ भागों या अधिकरणों में लिखा था। जिसका 'कविरहस्य' नामक केवल प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध है। इस अधिकरण में १८ अध्याय हैं जिनमें कवि तथा आलोचक के स्वरूप, प्रकार, काव्य के भेद, रीति-निरूपण, काव्यार्थ की योनि, शब्दहरण तथा अर्थापहरण का विचार आदि अनेक उपादेय विषयों का नवीन तथा रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस अधिकरण का नाम कविरहस्य यथार्थ है, क्योंकि लेखक ने कवि के लिए आवश्यक समस्त सिद्धान्तों का एकत्र निरूपण बड़ी ही सुन्दरता तथा नवीनता के साथ किया है। इस ग्रंथ में कतिपय नूतन सिद्धान्त हैं। जैसे काव्यपुरुष की उत्पत्ति तथा साहित्य विद्यावधू

---

१ आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारानिधि-
स्त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत्कान्तः कवीनां गुरुः।
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणी॥

(बालरामायण १।१८)

के साथ उसका विवाह सम्बन्ध। प्राचीन काल में इस ग्रन्थ का आदर खूब ही था, क्योंकि हेमचन्द्र, वाग्भट्, भोजराज तथा शारदातनय आदि आलंकारिकों ने इस ग्रन्थ से अनेक प्रसंगों का पूरा उद्धरण अपने ग्रन्थ में उठाकर रख दिया है। इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें अनेक अज्ञातनामा, अप्रसिद्ध आलंकारिकों का निर्देश किया गया है जिससे हम उनके नाम और सिद्धान्तों से अवगत हो सके हैं। राजशेखर भारत के प्राचीन भूगोल के बड़े भारी ज्ञाता थे। इसीलिए प्राचीन भारतीय भूगोल के जानने की विपुल सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध होती है। राजशेखर बहुज्ञ आलंकारिक थे। भारत के विभिन्न प्रान्तों के कविगण काव्य का पाठ किस रीति से किया करते थे, इसका रोचक विवरण हमें काव्यमीमांसा के पृष्ठों में ही उपलब्ध होता है।

११—मुकुल भट्ट

मुकुलभट्ट की एकमात्र कृति 'अभिधावृत्तिमातृका' है। इसमें केवल पन्द्रह कारिकाएँ हैं जिनके ऊपर ग्रन्थकार ने ही वृत्ति लिखी है। इसमें अभिधा तथा लक्षणा का विशिष्ट विवेचन है। ग्रन्थकार ने अपनी वृत्ति में उद्भट, कुमारिलभट्ट, ध्वन्यालोक, भर्तृमित्र, महाभाष्य, विज्जका, वाक्यपदीय तथा शबरस्वामी जैसे ग्रन्थकार और ग्रन्थों का निर्देश किया है। किसी समय इस ग्रन्थ की इतनी ख्याति थी कि मम्मट ने काव्यप्रकाश में लक्षणा के भेदों का विवरण इसी ग्रन्थ के आधार पर किया है। काव्यप्रकाश के 'लक्षणा तेन षड्विधा' तथा लक्षणा के स्वरूप का विवेचन 'अभिधावृत्तिमातृका' की सहायता के बिना कथमपि नहीं समझा जा सकता।

ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से पता चलता है कि ग्रन्थकार के पिता का नाम भट्ट कल्लट था, जो कल्हण पण्डित के अनुसार काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा के (८५५-८८३ ई०) राज्यकाल में उत्पन्न हुए थे तथा इस प्रकार आनन्दवर्धन और रत्नाकर के समकालीन थे[1]। कल्हण के इस कथन के अनुसार मुकुलभट्ट को नवम शताब्दी के अन्त तथा दशम के आरम्भ में मानना उचित होगा। उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज का कथन है कि उन्होंने अलंकारशास्त्र की शिक्षा मुकुलभट्ट से पाई थी[2] इन्होंने अपनी टीका के अन्तिम श्लोक में मुकुलभट्ट की प्रशस्त प्रशंसा की है

---

१ अनुग्रहाय लोकानां भट्टा श्रीकल्लटादयः ।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन् ॥ (राजतरंगिणी ५।६६)

२ विद्वदग्र्यान्मुकुलादधिगम्य विविच्यते ।
प्रतिहारेन्दुराजेन काव्यालंकारसंग्रहः ॥ (अन्तिम पद्य)

और उन्हें मीमांसा, व्याकरण, तर्क तथा साहित्य का प्रकाण्ड पण्डित निर्दिष्ट किया है। है।। इस उल्लेख से मुकुल के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज का समय भी दशम शताब्दी के प्रथमार्ध में निश्चित होता है।

१२—धनञ्जय

धनञ्जय का 'दशरूपक' भरत नाट्यशास्त्र का सबसे प्राचीन तथा उपादेय सारग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र इतना विपुलकाय ग्रन्थ है कि उसके भीतर प्रवेश करना विद्वानों के लिए भी कष्टसाध्य है। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए धनञ्जय ने दशरूपक की रचना की।

धनञ्जय के पिता का नाम विष्णु था। दशरूपक के टीकाकार धनिक भी अपने को विष्णु का ही पुत्र बतलाते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे धनञ्जय के ही भाई थे। दशरूपक की रचना मुञ्ज के राज्यकाल में हुई थी[1], जो परमारवंश के सुप्रसिद्ध नरेश थे। मुञ्ज का समय ९७४ ई० से ९९४ ई० तक है। यही समय दशरूपक की रचना का भी है। धनिक ने इस ग्रन्थ पर अपनी टीका कुछ वर्षों के अनन्तर लिखी थी, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि इन्होंने पद्मगुप्त परिमल के 'नवसाहसाङ्कचरित' के कुछ उद्धरण अपनी टीका में दिये हैं, जिसकी रचना मुञ्ज के भाई तथा उत्तराधिकारी सिन्धुराज के समय में की गई थी।

धनञ्जय का एकमात्र ग्रन्थ दशरूपक है जिसमें चार प्रकाश या अध्याय और लगभग ३०० कारिकाएँ हैं। प्रथम प्रकाश में सन्धि के पाँच प्रकार, उनके अंग तथा अन्य नाटकीय वस्तु का विवेचन है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका के भेद, चारों नाट्य-वृत्तियों तथा उनके अंगों का वर्णन है। तृतीय में नाटक के दश प्रकारों का सांगोपांग निरूपण है। चतुर्थ प्रकाश में नाटक में रस का विशिष्ट विवेचन है। रस-निष्पत्ति के विषय में धनञ्जय व्यंजनावादी नहीं हैं। ये तात्पर्यवादी ही हैं, विशेषतः भट्टनायक के मत से इनका सिद्धान्त मिलता है।

इस ग्रन्थ की टीका का नाम 'अवलोक' है जिसकी रचना धनञ्जय के ही भ्राता धनिक ने की है। यह टीका अनेक दृष्टियों से बड़ी ही उपादेय है। धनिक ने 'काव्य-निर्णय' नामक एक अलंकार ग्रन्थ का भी निर्माण किया था, जिसके अनेक श्लोक

---

१ विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतु।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥

(दशरूपक ४।८६)

इन्होंने इस टीका में उद्धृत किये हैं। धनञ्जय के ग्रन्थ की प्रसिद्धि प्राचीन काल में बहुत ही अधिक थी। इसीलिए इस पर अनेक टीकाओं की रचना का पता चलता है। नृसिंह भट्ट, देवपाणि, कुरविराम की टीकाएँ उतनी महत्त्वपूर्ण भले ही न हों परन्तु बहुरूप मिश्र की टीका तो बहुत उपादेय तथा प्रमेयबहुल है। ये चारों ही टीकाएँ हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं जिनका प्रकाशन—कम से कम बहुरूप मिश्र की टीका का—अत्यन्त आवश्यक है।

१३—भट्ट नायक

आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त को न माननेवाले आलंकारिकों में भट्टनायक प्राचीनतम तथा अग्रगण्य हैं। परन्तु यह हमारा दुर्भाग्य है कि इनका वह मौलिक ग्रन्थ, जिसमें इन्होंने व्यञ्जना का खण्डन कर काव्य में भावना व्यापार को स्वीकार किया है, अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। इनके सिद्धान्त का परिचय अभिनवगुप्त के द्वारा 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन' में मिलता है। इनके ग्रन्थ का नाम 'हृदय-दर्पण' था जिसका पता पिछले आलंकारिकों के निर्देशों से भली भाँति मिलता है। महिमभट्ट का कहना है कि उन्होंने 'हृदय-दर्पण' का बिना अवलोकन किए ध्वन्यालोक के खण्डन का समस्त श्रेय प्राप्त करने की अभिलाषा में 'व्यक्ति-विवेक' का निर्माण किया।

> सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यताऽदृष्टदर्पणा मम धीः।
> स्वालंकारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम्॥

इस पद्य में श्लेष के द्वारा यह आशय प्रकट किया गया है कि 'दर्पण' नामक ग्रन्थ में ध्वनि के सिद्धान्त का मार्मिक खण्डन 'व्यक्ति-विवेक' की रचना के पूर्व ही किया जा चुका था। इस पद्य की व्याख्या 'दर्पण' के रहस्य को भली-भाँति समझाती है—

> दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि।

'अलंकार-सर्वस्व' के टीकाकार जयरथ ने भट्टनायक को हृदयदर्पणकार' कहा है। इन दोनों निर्देशों से यही प्रतीत होता है कि जिस 'दर्पण' ग्रन्थ का उल्लेख महिमभट्ट ने किया है, वह भट्टनायक का 'हृदय-दर्पण' ही था। भट्टनायक ने अपने ग्रन्थ को ध्वनि के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए ही लिखा था, इसका पता लोचन से भी लगता है। लोचन में भट्टनायक के मत का उल्लेख अनेक बार आया है। इन निर्देशों की समीक्षा हमें इसी सिद्धान्त पर पहुँचाती है कि भट्टनायक ने 'ध्वन्यालोक' का खण्डन बड़ी ही सूक्ष्मता तथा मार्मिकता के साथ किया था।

भट्टनायक काश्मीरी थे और आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के मध्य में विद्यमान थे। अभिनवगुप्त ने इतना कटु तथा व्यक्तिगत आक्षेप इन पर किया है कि ये आनन्दवर्धन की अपेक्षा अभिनवगुप्त के ही अधिक समीप ज्ञात होते हैं। अत इनका समय दशम शतक का मध्यकाल (९५० ई०) मानना नितान्त न्यायसगत है। रस के विषय मे इनका स्वतन्त्र मत था जिसका खण्डन लोचन तथा अभिनवभारती दोनो मे किया गया है। इनके काव्य सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन अन्यत्र किया गया है[1]।

१४—कुन्तक

कुन्तक या कुन्तल अलकारशास्त्र के इतिहास मे 'वक्रोक्ति-जीवितकार' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका विशिष्ट सिद्धान्त यह था कि वक्रोक्ति ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है। इसीलिए इनका ग्रन्थ 'वक्रोक्ति जीवित' के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ अधूरा ही प्राप्त हुआ है परन्तु इसके उपलब्ध अंशो से ही कुन्तक की मौलिकता तथा सूक्ष्म विवेचन शैली का पर्याप्त परिचय मिलता है। इस ग्रन्थ मे चार अध्याय या उन्मेष हैं जिनमे वक्रोक्ति के विविध भेदो का बडा ही सागोपाग विवेचन है। वक्रोक्ति का अर्थ है 'वैदग्ध्यभगीभणिति' अर्थात् सर्वसाधारण के द्वारा प्रयुक्त वाक्यो से विलक्षण कहने का ढग। वक्रोक्ति की मूल कल्पना भामह की है परन्तु उसे व्यापक साहित्यिक तत्त्व मे विकसित करने का श्रेय कुन्तक को ही है। वक्रोक्ति के भीतर ही समस्त साहित्यिक तत्त्वो को अन्तर्भुक्त कर कुन्तक ने जिस विदग्धता का परिचय दिया है उस पर साहित्य-मर्मज्ञ सदा रीझता रहेगा।

समय

इनके समय का निरूपण ग्रन्थ मे निर्दिष्ट आलकारिको की सहायता से भलीभाँति किया जा सकता है। कुन्तक आनन्दवर्धन (८५० ई०) के ग्रन्थ तथा सिद्धान्त से भली भाँति परिचित थे[2]। राजशेखर के ग्रन्थो का उद्धरण 'वक्रोक्ति-जीवित' मे इतनी बार किया गया है कि नि.सन्दिग्ध रूप से कुन्तक राजशेखर के पश्चादवर्ती हैं। उधर महिमभट्ट ने कुन्तक के सिद्धान्त का पर्याप्त खण्डन किया है[3]। महिमभट्ट का

---

१. बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्यशास्त्र भाग २, पृ० २६८।

२ वक्रोक्ति-जीवित पृ० ८९।

३ काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना, कुन्तकेन निजकाव्य-लक्ष्मणि ।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता, श्लोक एष स निदर्शितो मया ॥
व्यक्ति-विवेक पृ० ५८।

समय ग्यारह शतक का अन्तिम भाग है। अत कुन्तक का काल दशम शतक का अन्त तथा एकादश शतक का आरम्भ मानना उचित जान पडता है। अभिनवगुप्त के आविर्भाव का भी यही समय है। इस प्रकार दोनों समकालीन सिद्ध होते हैं। कुन्तक ने अभिनवगुप्त का न तो कहीं निर्देश किया है और न अभिनवगुप्त ने कुन्तक का। परन्तु 'लोचन' तथा अभिनवभारती' से प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त कुन्तक की वक्रोक्ति के विभिन्न प्रकारो से परिचित थे[1]। अत ये अभिनवगुप्त के समसामयिक होते हुए भी अवस्था मे उनसे कुछ ज्येष्ठ मालूम पडते हैं।

ग्रन्थ

कुन्तक की एकमात्र रचना 'वक्रोक्ति जीवित' है। इस ग्रन्थ मे चार अध्याय या उन्मेष है जिनमे से प्रथम दो उन्मेष तो पूर्ण रूप से उपलब्ध हुए हैं परन्तु अन्तिम दो उन्मेष अधूरे ही मिले हैं। इस ग्रन्थ का सुन्दर सस्करण प्रस्तुत करने के कारण डाक्टर सुशीलकुमार हमारे धन्यवाद के पात्र हैं[2]। इस ग्रन्थ मे तीन भाग हैं— कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिका और वृत्ति कुन्तक की अपनी रचना है। उदाहरण सस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थों से लिये गये हैं। प्रथम उन्मेष मे काव्य का प्रयोजन, साहित्य की कल्पना तथा वक्रोक्ति का लक्षण बडी सुन्दरता के साथ दिया गया है। वक्रोक्ति के छ भेद ग्रन्थकार ने माने हैं तथा इन सभी भेदो का सामान्य निर्देश इस उन्मेष मे किया गया है। द्वितीय उन्मेष मे वक्रोक्ति के प्रथम तीन प्रकार—वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता तथा प्रत्ययवक्रता का वर्णन किया गया है। तृतीय उन्मेष मे वाक्यवक्रता का विस्तृत विवेचन पाया जाता है। वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत ही अलकारो का अन्तर्निवेश किया गया है। कुन्तक ने अलकारो की छानबीन एक नवीन दृष्टि से की है। इसके परिचय के लिए इस उन्मेष का गाढ अनुशीलन अपेक्षित है। चतुर्थ उन्मेष मे वक्रोक्ति के अन्तिम दो प्रकार— प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का विशिष्ट विवरण प्रस्तुत किया गया है।

कुन्तक का वैशिष्ट्य वक्रोक्ति की महनीय कल्पना के कारण है। "वक्रोक्ति अलकार का सर्वस्व तथा जीव है"। भामह की इस उक्ति से स्फूर्ति तथा प्रेरणा

---

1 तथा हि—'तटीतार ताम्यति इत्यत्र तटशब्दस्य पुस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्व-मेवाश्रित सहृदये' स्त्रीति नामापि मधुरम् इति कृत्वा लोचन पृ० १६०। यह समीक्षा वक्रोक्तिजीवित पृ० २२ के आधार पर है यद्यपि अभिनव ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

2 कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज (न० ८) मे प्रकाशित।

(द्वितीय परिवर्धित स० १९२८)

ग्रहण कर कुन्तक ने वक्रोक्ति का व्यापक विधान काव्य में निर्दिष्ट किया है। काव्य में रस तथा ध्वनि के पूर्ववर्ती सिद्धान्तों से ये पूर्णत अवगत थे। परन्तु काव्य में इन्हें पृथक् स्थान न देकर वक्रोक्ति के ही अन्तर्गत मानते हैं। कुन्तक की विवेचना नितान्त मौलिक है। इनकी शैली अत्यन्त रोचक तथा विदग्धतापूर्ण है। इनकी आलोचना अलोकसामान्य भावकप्रतिभा की द्योतिका है। पिछले आलङ्कारिकों पर इनका प्रभाव पर्याप्त रूप में पड़ा है। इनकी वक्रोक्ति को ध्वनिवादी आचार्यों ने मान्यता भले ही न प्रदान की हो, परन्तु उसके विशिष्ट प्रकारों को ध्वनि के भीतर अन्तर्भुक्त मानकर उन लोगों ने कुन्तक के प्रति अपना सम्मान ही दिखलाया है।

१५—महिमभट्ट

ध्वनिविरोधी आचार्यों में महिमभट्ट का नाम अग्रगण्य है। 'व्यक्तिविवेक' की रचना का उद्देश्य ही ध्वनीसिद्धान्त का खण्डन करना था। इस ग्रंथ के आरम्भ में ही इन्होंने प्रतिज्ञा की है कि समस्त ध्वनि का अनुमान के अन्तर्भुक्त दिखलाने के लिए ही मैंने इस ग्रंथ की रचना की है।

> अनुमानान्तर्भाव सर्वस्यैव ध्वने प्रकाशयितुम्।
> व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

राजानक महिमक या महिमभट्ट साधारणतया काव्यग्रन्थों में अपने ग्रन्थ के नाम के कारण 'व्यक्ति विवेककार' के नाम से प्रसिद्ध हैं। राजानक उपाधि से ही प्रतीत होता है कि ये काश्मीर के निवासी थे। इनके पिता का नाम श्रीधैर्य था और गुरु का नाम श्यामल था। इन्होंने भीम के पुत्र तथा अपने पौत्रों की व्युत्पत्ति के लिए इस ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने 'तत्त्वोक्ति-कोष' नामक एक अन्य अलङ्कार ग्रंथ की भी रचना की थी[1] जिसका पता अभी तक नहीं चला है।

इनके मत का उल्लेख 'अलङ्कार सर्वस्व' में रुय्यक ने किया है। अतः ये ११००ई० से पूर्ववर्ती होंगे। इन्होंने 'बाल-रामायण' के पद्यों को उद्धृत किया है तथा 'वक्रोक्ति-जीवित' और 'लोचन' के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। अतः ये १००० ई० के बाद में आविर्भूत हुए थे। अतः इनका समय ११ वीं शताब्दी का आरम्भ मानना उचित है (१०२५ ई०)।

---

१ इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम्।
शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्ये इति नेह प्रपञ्चितम्॥
व्यक्ति विवेक पृ० ११८ (चौखम्बा संस्करण)

ग्रन्थ

महिमभट्ट की एकमात्र कृति व्यक्तिविवेक है[१]। जैसा इसके नाम से प्रतीत होता है यह 'व्यक्ति' अर्थात् व्यञ्जना का 'विवेक' अर्थात् समीक्षण है। इस ग्रन्थ मे तीन अध्याय या विमर्श हैं। प्रथम विमर्श मे व्यञ्जना का मार्मिक खण्डन है। ध्वनि को ये लक्षणा से पृथक् नही मानते। अत अनुमान के द्वारा समस्त ध्वनि-प्रकारो का विवरण दिखलाकर महिमभट्ट ने अपने प्रौढ पाण्डित्य का परिचय दिया है। द्वितीय विमर्श मे अनौचित्य को काव्य का मुख्य दोष स्वीकार कर उसके विभिन्न प्रकारो का वर्णन बडे विस्तार के साथ किया गया है। अनौचित्य दो प्रकार का होता है—अर्थविषयक और शब्दविषयक अथवा अन्तरंग और बहिरग। अन्तरग अनौचित्य के भीतर रसदोष का अन्तर्भाव किया गया है। बहिरग अनौचित्य पाँच प्रकार का होता है—(१) विधेयाविमर्श, (२) प्रक्रमभेद, (३) क्रमभेद (४) पौनरुक्त्य और (५) वाच्यावचन। इन्ही पाँचो दोषो के पाण्डित्यपूर्ण विवरण से यह विमर्श पूर्ण है। काव्य मे दोष-निरूपण की दृष्टि महिमभट्ट की सचमुच अलौकिक है। मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश मे महिमभट्ट के इन सिद्धान्तो को पूर्णतया अपनाया है। आलोचको मे मम्मट के दोषज्ञ होने की प्रसिद्धि है—दोषदर्शने मम्मट', परन्तु महिमभट्ट से तुलना करने पर यह गौरव आचार्य महिमभट्ट को ही देना उचित प्रतीत होता है। जिस आलोचक ने 'काव्यप्रकाश' की स्तुति मे यह प्रशस्त पद्य—

काव्यप्रकाशो यवनो काव्यालीच कुलागना।
अनेन प्रसभाकृष्टा कष्टामेयाऽश्नुते दशाम् ॥

लिखा है, सम्भवत उसे यह ज्ञात नहीं था कि व्यक्तिविवेक मे महिमभट्ट ने दोषो का निरूपण तथा व्यवस्थापन बडी प्रामाणिकता के साथ पहले ही कर दिया था जिसका ग्रहण मम्मट ने अपने सप्तम उल्लास मे किया है।

तृतीय विमर्श मे ग्रन्थकार 'ध्वन्यालोक' के ध्वनि-स्थापन पर टूट पडता है और इसमे से चालीस ध्वनि के उदाहरणो को लेकर यह दिखलाता है कि ये सभी अनुमान के ही प्रकार हैं।

'व्यक्तिविवेक' की एक ही प्राचीन टीका है और वह भी अधूरी ही मिली है। यह टीका मूल के साथ अनन्तशयन ग्रन्थमाला मे प्रकाशित हुई है। इस टीका-

१ रुय्यक की वृत्ति के साथ मूलग्रन्थ अनन्तशयन ग्रन्थमाला में १९०९ ई० मे प्रकाशित हुआ था। इधर एक नवीन टीका (मधुसूदन मिश्र लिखित) के साथ यह ग्रन्थ काशी से प्रकाशित हुआ है। हिन्दी अनुवाद रेवाप्रसाद द्विवेदी—प्र० चौखम्भा विद्याभवन, काशी।

(वृत्ति) के रचयिता का नाम उपलब्ध नहीं है। परन्तु आन्तरिक परीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि 'अलंकार सर्वस्व' के रचयिता रुय्यक ने ही इस वृत्ति की रचना की थी। इस वृत्तिकार का कहना है (पृ० ३२) कि उसने साहित्य मीमांसा तथा नाटक मीमांसा नामक ग्रन्थों की रचना की थी और ये ग्रन्थ अलंकार सर्वस्व के (पृ० ६१) प्रामाण्य पर रुय्यक की ही रचनायें हैं। इससे सिद्ध होता है कि रुय्यक ही व्यक्तिविवेक की टीका के रचयिता हैं। यह टीका बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण है परन्तु टीकाकार ध्वनिवादी हैं। अतः मूलग्रन्थकर्ता के दृष्टिकोण से टीकाकार का दृष्टिकोण भिन्न होने के कारण उसने महिमभट्ट की बडी खिल्ली उडाई है—तदेतदस्य विश्वमगणनीय मन्यमानस्य स्वात्मनः सर्वोत्कर्षशालिताख्यापनमिति (पृ० ४१)।

१६—क्षेमेन्द्र

विभिन्न विषयों के ऊपर विपुल काव्यराशि प्रस्तुत करने वाले महाकवि क्षेमेन्द्र अलंकार-जगत् में औचित्य-विषयक महनीय कल्पना के कारण सदा प्रख्यात रहेंगे। इन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के बल से अनेक उपदेशप्रद काव्यग्रन्थों का प्रणयन किया। अलंकार साहित्य में इनकी विशिष्ट कृति 'औचित्यविचार-चर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण' हैं। ये काश्मीर के निवासी थे। इनके पितामह का नाम सिन्धु और पिता का नाम प्रकाशेन्द्र था। ये पहले शैव थे। परन्तु अपने जीवन की सन्ध्या में सोमाचार्य के द्वारा वैष्णवधर्म में दीक्षित किये गये। अपने समस्त ग्रन्थों में इन्होंने अपना दूसरा नाम 'व्यासदास' लिखा है[1]। साहित्यशास्त्र में ये अभिनवगुप्त के साक्षात् शिष्य थे[2]। इन्होंने अपने ग्रन्थों में उनके रचनाकाल का भी उल्लेख किया है। 'औचित्यविचार चर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण' की रचना काश्मीर-नरेश अनन्त के (१०२८-१०६५ ई०) राज्यकाल में की गई थी[3]। इन्होंने 'दशावतार-चरित' का

---

१ इत्येष विष्णोरवतारमूर्तेः काव्यामृतास्वादविशेषभक्त्या।
श्री व्यासदासान्यतमाभिधेन, क्षेमेन्द्रनाम्ना विहितः प्रबन्धः॥
—दशावतारचरित, १०।४१

२ श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्य बोधवारिधेः।
आचार्यशेखरमणेः विद्याविवृति-कारिणः॥
—बृहत्कथामञ्जरी १९।३७

३ तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः। —औ० वि० च०।
राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः॥ —कविकण्ठाभरण।

रचनाकाल १०६६ ई० दिया है जब अनन्त के पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजा कलश काश्मीर देश पर राज्य कर रहे थे। अतः क्षेमेन्द्र का आविर्भावकाल ११वें शतक का उत्तरार्ध है।

ग्रन्थ

इनका सबसे मौलिक ग्रन्थ 'औचित्यविचार-चर्चा' है। इसमे औचित्य के सिद्धान्त की बडी ही सुन्दर व्याख्या की गई है। काव्य मे औचित्य की कल्पना का प्रथम निर्देश हमे भरत मे उपलब्ध होता है। इसका विशदीकरण आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' मे मिलता है। वहीं से स्फूर्ति ग्रहण कर ध्वनिवादी क्षेमेन्द्र ने औचित्य के नाना प्रकारो का विशिष्ट विवेचन इस छोटे परन्तु महत्वपूर्ण ग्रन्थ मे किया है। 'सुवृत्त-तिलक' छन्द के विषय मे इनका सुन्दर ग्रन्थ है जिसे 'वृत्त-औचित्य' के विषय मे 'औचित्य-विचार चर्चा' का पूरक ग्रंथ समझना चाहिये। 'कविकण्ठाभरण' कवि-शिक्षा के विषय मे लिखा गया है। इसमें पांच सन्धि या अध्याय है और ५५ कारिकाएँ हैं। इसमे कवित्वप्राप्ति के उपाय, कवियो के भेद, काव्य के गुण-दोष का विवेचन सक्षेप मे परन्तु सुबोध रीति से किया गया है। इन दोनो ग्रथों के अतिरिक्त इन्होंने 'कवि-कर्णिका' नामक ग्रथ अलङ्कार के ऊपर लिखा था। इसका उल्लेख 'औचित्यविचार-चर्चा' के द्वितीय श्लोक मे उपलब्ध होता है परन्तु यह ग्रंथ अभी तक नहीं मिला है।

अभिनवगुप्त के दर्शनशास्त्र मे एक पट्टशिष्य थे जिनका नाम क्षेमराज था। इन्होंने शैवदर्शन के ऊपर अनेक ग्रथों की रचना की है तथा अभिनवगुप्त के 'परमार्थ-सार' ग्रथ पर व्याख्या लिखी है। नाम की समता के कारण कुछ लोग इन्हें क्षेमेन्द्र से अभिन्न व्यक्ति मानते हैं परन्तु यह उचित नहीं है। दोनो की धार्मिक दृष्टि में भेद था। क्षेमराज तो पक्के शैव थे, परन्तु क्षेमेन्द्र वैष्णव थे। इसलिए इन्होंने विष्णु के दशावतार के विषय मे अपना सुन्दर महाकाव्य 'दशावतार-चरित' लिखा है। क्षेमेन्द्र के कौटुम्बिक वृत्त से हम भली-भांति परिचित हैं जिसका उल्लेख इन्होंने अपने अनेक ग्रथो मे किया है। परन्तु क्षेमराज अपने विषय मे नितान्त मौन हैं। इन्ही कारणो से समकालीन तथा समदेशीय होने पर भी क्षेमेन्द्र और क्षेमराज दोनो भिन्न व्यक्ति हैं।

१७—भोजराज

धारानरेश भोजराज केवल संस्कृत कवियो के आश्रयदाता ही नहीं थे प्रत्युत स्वय एक प्रगाढ पडित तथा प्रतिभाशाली आलोचक भी थे। अलङ्कारशास्त्र में इनकी दो कृतियाँ हैं और ये दोनों ही अत्यन्त विशालकाय हैं। भोज का समय प्राय निश्चित है। मुञ्जराज के अनन्तर राज्य करने वाले 'नवसाहसाङ्क' उपाधिधारी

सिन्धुराज या सिन्धुल भोजराज के पिता थे। भोजराज के एक दान पत्र का समय सवत् १०७८ (१०२१ ई०) है। भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का एक शिलालेख सवत् १११२ (१०५५ ई०) का मिला है। इससे सिद्ध होता है कि १०५४ ई० भोज की अन्तिम तिथि है, अर्थात् भोज का आविर्भाव-काल ११वी शताब्दी का प्रथमार्ध है।

ग्रन्थ

भोज ने अलङ्कारशास्त्र सम्बन्धी दो ग्रन्थो की रचना की है—(१) सरस्वती-कण्ठाभरण[1] और (२) शृङ्गार-प्रकाश[2]। सरस्वतीकण्ठाभरण रत्नेश्वर की टीका के साथ काव्यमाला मे प्रकाशित हुआ है। यह ग्रथ पाँच परिच्छेदो मे विभक्त है। प्रथम परिच्छेद मे दोषगुण का विवेचन है। इन्होने पद, वाक्य और वाक्यार्थ प्रत्येक के १६ दोष माने है। शब्द तथा अर्थ के पृथक् पृथक् २४ गुण माने हैं। दूसरे परिच्छेद मे २४ शब्दालङ्कारो का वर्णन है। तीसरे परिच्छेद मे २४ अर्थालङ्कारो तथा चतुर्थ मे २४ उभयालङ्कारो का विवेचन है। पचम परिच्छेद मे रस, भाव, पचसधि तथा चारो वृत्तियो का विवरण प्रस्तुत किया है। सरस्वती-कण्ठाभरण मे इन्होने प्राचीन ग्रंथकारो के लगभग १५०० श्लोको को उद्धृत किया है। भोज की दृष्टि समन्वयात्मिका है। इन्होने अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए प्राचीन आलङ्कारिको के मतों का समावेश अपने ग्रथ मे अधिकता से किया है। परन्तु इनके सबसे प्रिय उपजीव्य आलङ्कारिक दण्डी है, जिनके काव्यादर्श का आधा से अधिक भाग उदाहरण के रूप मे इन्होने उद्धृत किया है। इस प्रकार इस ग्रथ का ऐतिहासिक मूल्य कुछ कम नही है, क्योकि इस ग्रथ मे आए हुए उद्धरणो की सहायता से सस्कृत के अनेक कवियो का समयनिरूपण हम बडी आसानी से कर सकते हैं।

भोजराज की दूसरी कृति शृगार-प्रकाश है। यह ग्रथ हस्तलिखित रूप मे सम्पूर्णतया प्राप्त है परन्तु यह अभी तक पूरा प्रकाशित नहीं हुआ है। डा० राघवन् ने इसके ऊपर जो अपनी थीसिस (निबन्ध) लिखी है उसी से इस ग्रथ का पूरा परिचय प्राप्त होता है। यह ग्रथ अलङ्कारशास्त्र के ग्रथो मे सबसे बडा, विस्तृत तथा विपुलकाय है। इसमे ३६ अध्याय या प्रकाश हैं। प्रथम आठ प्रकाशो मे शब्द और अर्थ विषयक अनेक वैयाकरण सिद्धान्तो का वर्णन है। नवम और दशम प्रकाश मे गुण

---

१. सरस्वती-कण्ठाभरण—काव्यमाला (न० ९४) निर्णयसागर से प्रकाशित।

२ यह ग्रथ अभी तक पूरा अप्रकाशित है। केवल तीन परिच्छेद (२२–२४ प्रकाश) मैसूर से १९२६ मे प्रकाशित हुए हैं। ग्रथ के विवरण के लिए देखिए—डा० राघवन् का 'शृङ्गार-प्रकाश' नामक अग्रेजी ग्रन्थ।

और दोष का विवेचन है। एकादश और द्वादश परिच्छेद मे महाकाव्य तथा नाटक का वर्णन क्रमश दिया गया है। अन्तिम चौबीस प्रकाशो मे रस का उदाहरण से मण्डित बडा ही सागोपाग वर्णन है। शृ गार-प्रकाश को अलकार शास्त्र का विश्वकोष कहना अनुचित न होगा, क्योकि इसमें प्राचीन आलकारिको के मतो के साथ नवीन मतो का समन्वय कर एक बडा ही भव्य विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

साहित्यशास्त्र के इतिहास में भोज को हम समन्वयवादी आलकारिक मान सकते हैं। इन्होंने प्राचीन आलकारिको के मतो को ग्रहण कर उनके परस्पर समन्वय का विधान बडी युक्ति के साथ किया है। काव्य के विविध अगो पर इनके नवीन मत हैं। इनका सबसे विशिष्ट मत यह है कि शृ गाररस ही समस्त रसो मे एकमात्र रस है—

> शृङ्गारवीरकरुणादभुतरौद्रहास्य—
> वीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्न ।
> आम्नासिपुर्दश रसान् सुधियो वय तु,
> शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनाम ॥

परन्तु यह शृ गार साधारण शृ गार से भिन्न है। शृङ्गार को ये अभिमानात्मक मानते हैं और इसी विशिष्ट मत के निरूपण के लिए इन्होंने अपना विपुलकाय ग्रथ 'शृङ्गार-प्रकाश' लिखा है। शृ गार-प्रकाश की तो टीका नही मिलती परन्तु सरस्वती-कण्ठाभरण की रत्नेश्वरकृत टीका उपलब्ध है तथा मूल ग्रथ के साथ प्रकाशित भी है। यह टीका तिरहुत के राजा रामसिंह देव के आग्रह पर लिखी गई थी। यह टीका प्रामाणिक है तथा ग्रथ को समझने मे विशेष सहायक है।

१८—मम्मट

अलंकारशास्त्र के इतिहास में मम्मट के काव्यप्रकाश का स्थान बडा ही गौरव-पूर्ण है। अलकार जगत् मे अब तक जो सिद्धान्त निर्धारित किये गये थे उन सबका दिग्दर्शन कराते हुए काव्य के स्वरूप तथा अगो का यथावत् विवेचन मम्मट ने अपने ग्रथ मे किया है। यह ग्रथ उस मूल स्रोत के समान है जहाँ से काव्य-विषयक विभिन्न काव्य धारायें फूट निकली। ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना के अनन्तर भट्टनायक तथा महिमभट्ट ने ध्वनि को ध्वस्त करने की जो युक्तियाँ दी थीं, उन सबका खण्डन कर मम्मट ने ध्वनि-सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया। इसी कारण वे 'ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य' की उपाधि से विभूषित किये गये हैं।

वृत्त

मम्मट का कौटुम्बिक वृत्त विशेष उपलब्ध नही होता। इनके टीकाकार भीमसेन ने मम्मट को कैय्यट तथा उव्वट का ज्येष्ठ भ्राता तथा जैय्यट का पुत्र बतलाया है। परन्तु यह कथन विशेष महत्त्व नही रखता, क्योंकि उव्वट ने अपने ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्य में अपने को वज्रट का पुत्र लिखा है, न कि जैय्यट का। काश्मीरी पण्डितों की परम्परा के अनुसार मम्मट नैषधीयचरित के रचयिता श्रीहर्ष के मामा माने जाते हैं परन्तु यह भी प्रवादमात्र है, क्योंकि यदि श्रीहर्ष काश्मीरी होते तो काश्मीर में जाकर काश्मीरी विद्वानो की अपने ग्रथ के विषय में सम्मति प्राप्त करने का उद्योग ही क्यो करते ?

मम्मट के प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा व्यापक अनुशीलन के विषय मे कोई सन्देह नही कर सकता। ये साहित्य के अतिरिक्त व्याकरण के भी महान् मर्मज्ञ विद्वान् प्रतीत होते है। महाभाष्य और वाक्यप्रदीप का उद्धरण देना, शब्द सकेत के विषय मे वैयाकरणो के सिद्धान्त को मानना, वैयाकरणो को सर्वश्रेष्ठ विद्वान् स्वीकार करना इनके व्याकरण-विषयक पक्षपात का यथेष्ट परिचायक है।

समय

मम्मट ने अभिनवगुप्त को (जो १०१५ ई० मे जीवित थे, तथा महाकवि पद्मगुप्त को (जिन्होने १०१० ई० के आसपास अपना 'नवसाहसाक-चरित' लिखा) अपने ग्रथ मे उद्धृत किया है। इन्होने उदात्त अलकार के उदाहरण-विषयक पद्य मे विद्वज्जनो के प्रति की जाने वाली भोज की दानशीलता का उल्लेख किया है[1]। इससे स्पष्ट है कि मम्मट भोज के अनन्तर आविर्भूत हुए। काव्यप्रकाश के ऊपर द्वितीय टीका माणिक्यचन्द्र सूरि की सकेतनाम्नी है, जिसकी रचना १२१६ सवत् मे (११६० ई०) हुई थी। रुय्यक ने 'अलकार-सर्वस्व' में काव्यप्रकाश के मत का खण्डन किया है तथा सकेतनाम्नी टीका भी लिखी है जो कालक्रम से काव्यप्रकाश की प्रथम टीका है। इस प्रकार मम्मट का समय भोज (१०५० ई०) तथा रुय्यक के (११५० ई०) के बीच में अर्थात् ११ वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे मानना चाहिए।

ग्रन्थ

मम्मट की एकमात्र रचना काव्यप्रकाश है। इसमे दस उल्लास हैं तथा समस्त कारिकाओ की सख्या १५० के लगभग है। यह ग्रन्थ पाण्डित्य तथा गम्भीरता मे

१. यद् विद्वद्भवनेषु भोजनृपते तत् त्यागलीलायितम्।
—काव्यप्रकाश, उल्लास १०।

अपनी समता नही रखता । इसकी शैली सूत्रात्मक है । अत इसे समझने मे बडी कठिनाई उपस्थित होती है । यही कारण है कि भाव प्रकाशिनी ७० टीकाओ के लिखे जाने पर भी इनका भावार्थ अभी तक दुर्बोध बना हुआ है। अत पाण्डित्यमण्डली का काव्य प्रकाश के विषय मे निम्नाकित कथन अक्षरश सत्य प्रतीत होता है—

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे, टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गम. ।

इस ग्रथ के प्रथम उल्लास मे काव्य के हेतु, लक्षण तथा त्रिविध भेद का वर्णन है । द्वितीय मे शब्द-शक्ति का विचार तथा विवेचन विस्तार के साथ किया गया है । तृतीय उल्लास मे व्यञ्जना है । चतुर्थ शाब्दी मे ध्वनि के समस्त भेदो का तथा रस एव भाव का विवेचन विस्तार से किया गया है । पचम मे गुणीभूत व्यग्य काव्य की व्याख्या के अनन्तर व्यजना को नवीन शब्द-शक्ति मानने की युक्तियाँ बडी प्रौढता तथा पाण्डित्य के साथ प्रदर्शित की गई हैं। षष्ठ उल्लास बहुत छोटा है और उसमे केवल चित्रकाव्य का सामान्य वर्णन हैं । सप्तम उल्लास मे काव्य-दोषो का वर्णन विस्तार के साथ है। यह उल्लास काव्यलक्षण के 'अदोषौ' पद की व्याख्या करता है । अष्टम उल्लास मे 'सगुणौ' की व्याख्या है । मम्मट के मत मे गुण केवल तीन ही होते हैं—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद । इन्हीं के भीतर भरत-प्रतिपादित दशगुण तथा वामन निर्दिष्ट बीस गुणो का अन्तर्भाव हो जाता है। नवम और दशम उल्लास मे क्रमश: शब्दालकार तथा अर्थालकार का निरूपण उदाहरणो के साथ किया गया है। इस ग्रन्थ के उपर्युक्त साराश से उसकी व्यापकता का पता लग सकता है ।

इस ग्रथ के तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण । उदाहरण तो नाना काव्य-ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं। परन्तु कारिका और वृत्ति मम्मट की ही निजी रचनाएँ है । इन कारिकाओ मे कही-कही भरत की कारिकाएं सम्मिलित कर ली गई हैं । सम्भवत इसी कारण बगाल मे यह प्रवाद उठ खडा हुआ था कि कारिकाएं भरत-रचित हैं जिन पर मम्मट ने केवल वृत्ति की रचना की है। परन्तु यह बात ठीक नही है । पीछे के आलकारिको ने भी कारिकाकार और वृत्तिकार को एक ही माना है । हेमचन्द्र, जयरथ, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ इन सब मान्य आलकारिको ने कारिका तथा वृत्ति दोनो की रचना का श्रेय मम्मट को ही दिया है । अन्तरग परीक्षा से भी यही मत उचित प्रतीत होता है। (१) चतुर्थ उल्लास मे रस का निर्देश कर उसकी पुष्टि के लिए भरत के रससूत्र का निर्देश किया गया है—यथा तदुक्त भरतेन । यदि भरत ही काव्यप्रकाश की कारिकाओ के रचयिता होते तो ऐसा निर्देश वे कभी नहीं करते । (२) दशम उल्लास मे यह निम्नकारिका मिलती है—

"साङ्गमेतन्निरङ्गन्तु शुद्ध माला तु पूर्ववत् ।"

इस कारिका का आशय है कि रूपक का भी एक प्रभेद 'मालारूपक' होता है और यह मालारूपक पूर्व में निर्दिष्ट मालोपमा के समान ही होता है। परन्तु मालोपमा का वर्णन कारिका मे न होकर वृत्ति में ही पहले किया गया है। 'माला तु पूर्ववत्' से स्पष्ट है कि एक ही व्यक्ति वृत्ति तथा कारिका दोनो के लिखन के लिये उत्तरदायी हैं।

काव्यप्रकाश के अन्त मे यह पद्य उपलब्ध होता है जिसकी व्याख्या प्राचीन टीकाकारों ने भिन्न भिन्न रूप से की है—

इत्येष मार्गो विदुषा विभिन्नोऽप्यभिन्नरूप प्रतिभासते यत्।
न तद् विचित्र यदमुत्र सम्यक्, विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतु ॥

इसके ऊपर प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र का कहना है कि यह ग्रंथ दूसरे के द्वारा आरम्भ किया तथा किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा समाप्त किया गया है। इस प्रकार दो व्यक्तियों के द्वारा रचित होने पर भी संघटना के कारण यह अखण्ड रूप में प्रतीत हो रहा है —

"अथ चाय ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थित इति द्विखण्डोऽपि सघटनावशात् अखण्डायते[1]।"

काश्मीर के ही निवासी राजानक आनन्द ने अपनी टीका मे प्राचीन परम्परा का उल्लेख कर लिखा कि मम्मट ने परिकर अलकार (दशम उल्लास) तक ही काव्यप्रकाश की रचना की थी तथा अवशिष्ट भाग को अलक या अल्लट नामक पण्डित ने पूरा किया[2]। इसीलिए ग्रंथ की पुष्पिका म काव्यप्रकाश राजानक मम्मट तथा अल्लट की सम्मिलित रचना माना गया है।[3] अर्जुनवर्मदेव के एक प्रमाणहीन उल्लेख से प्रतीत होता है कि अल्लट ने मम्मट को सप्तम उल्लास की रचना मे भी सहायता दी थी[4]। इन निर्देशो से यही तात्पर्य निकलता है कि मम्मट को अपने ग्रंथ

१ उपर्युक्त श्लोक की माणिक्यचन्द्र की सकेत टीका।

२ यदुक्त—कृत श्रीमम्मटाचार्यवर्य्यै. परिकरावधि।
प्रबन्ध पूरित शेषो विधायालकसूरिणा।

अन्येनाप्युक्तम्—काव्यप्रकाशदशकोपि निबन्ध-कृद्भ्या,
द्वाभ्या कृतोऽपि कृतिना रसतत्त्वलाभ।

३. इति श्रीमद्राजानकाल्लटमम्मटरुचकविरचिते निजग्रन्थकाव्यप्रकाशसङ्केते प्रथम उल्लास.।

४. यथोदाहृत दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्या—प्रसादे वर्तस्व। दूसरा सकेत—अत्र केचित् वायुपदेन जुगुप्साश्लीलमिति दोषमाचक्षते ...... तदा वाग्देवतादेश इति व्यवसितव्य एवासौ। किंतु हृ्लादैकमयीवरलब्धप्रसादौ काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टी।—अमरुशतक की टीका।

के दशम उल्लास की रचना में ही अल्लट की सहायता प्राप्त हुई थी। काव्यप्रकाश का सर्वप्राचीन समयाङ्कित हस्तलेख सं० १२१५ आश्विन सुदि १४ का है[1], जो अंग्रेजी गणना के अनुसार १८ अक्टूबर ११५८ ई० ठहरता है। माणिक्यचन्द्र के संकेत व्याख्या से यह हस्तलेख दो वर्ष पुराना है। फलत उपरिनिर्दिष्ट निम्नतर अवधि का यह स्पष्ट प्रमापक है। इसमें ग्रन्थ के लेखक राजानक मम्मट और अलक बतलाये गये हैं। यह बड़े महत्त्व की बात है। १२वीं शती में काव्यप्रकाश के लेखकद्वय का नाम्ना उल्लेख यह सिद्ध कर रहा है कि ग्रन्थ निर्माता के द्वैत का परिचय उस समय ही हो गया था। मम्मट के सहयोगी के नाम अलक, अलट तथा अल्लट मिलते हैं, परन्तु इस हस्तलेख के साक्ष्य पर यथार्थ नाम अलक ही है। अर्जुनवर्मदेव ने सप्तम उल्लास में भी जो दोनों का कर्तृत्व माना है, वह यथार्थ नहीं। राजानक आनन्द का ही कथन ठीक है कि परिकर अलकार में आगे ग्रन्थ का अश अलक की रचना है।

टीकाकार

काव्यप्रकाश के टीकाकारों की सख्या लगभग सत्तर है। प्राचीन काल में काव्य-प्रकाश पर टीका लिखना विद्वत्ता का मापदण्ड था। इसीलिए मौलिक ग्रन्थ लिखने वाले आचार्यों ने भी काव्यप्रकाश के ऊपर टीका लिखकर अपने पाण्डित्य का परिचय दिया। इनमें कतिपय प्रसिद्ध टीकाकारों का उल्लेख यहाँ किया जाता है। (१) राजानक रुय्यक कृत संकेत टीका। (२) माणिक्यचन्द्रसूरि कृत संकेत टीका—रचनाकाल सवत् १२१६ (११६० ई०)। (३) नरहरि या सरस्वतीतीर्थकृत बालचित्तानुरंजिनी टीका। रचनाकाल १३वीं शताब्दी का उत्तरार्ध—(४) जयन्तभट्ट की टीका का नाम दीपिका है—रचनाकाल १३५० संवत (१२९४ ई०)। जयन्तभट्ट गुजरात के राजा शार्ङ्गदेव के पुरोहित के पुत्र थे तथा कादम्बरी कथासार के रचयिता काश्मीर के जयन्तभट्ट से भिन्न हैं। (५) सोमेश्वरकृत टीका का नाम काव्यादर्श है—रचना-काल १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। (६) वाचस्पति मिश्र-कृत टीका—ये भामती-कार से भिन्न है परन्तु मैथिली ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं। (७) चण्डीदास की टीका का नाम दीपिका है। ये विश्वनाथ कविराज के पितामह के अनुज थे। अत इनका समय १३वीं शताब्दी का मध्य भाग है। यह टीका सरस्वतीभवन सीरीज, काशी से प्रकाशित हुई है। (८) विश्वनाथ कविराज की टीका का नाम काव्यप्रकाश दर्पण है। इसका समय १४वें शतक का प्रथमार्ध है। (९) गोविन्द ठक्कुर—इनकी

१ हस्तलेख के लिए द्रष्टव्य डा० गोडे—स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, भाग १ पृ० २३४–२३८ (बाम्बे, १९५३)।

इस कारिका का आशय है कि रूपक का भी एक प्रभेद 'मालारूपक' होता है और यह मालारूपक पूर्व में निर्दिष्ट मालोपमा के समान ही होता है। परन्तु मालोपमा का वर्णन कारिका में न होकर वृत्ति में ही पहले किया गया है। 'माला तु पूर्ववत्' से स्पष्ट है कि एक ही व्यक्ति वृत्ति तथा कारिका दोनों के लिखने के लिये उत्तरदायी हैं।

काव्यप्रकाश के अन्त में यह पद्य उपलब्ध होता है जिसकी व्याख्या प्राचीन टीकाकारों ने भिन्न भिन्न रूप से की है—

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद् विचित्रं यदमुत्र सम्यक्, विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः॥

इसके ऊपर प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र का कहना है कि यह ग्रंथ दूसरे के द्वारा आरम्भ किया तथा किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा समाप्त किया गया है। इस प्रकार दो व्यक्तियों के द्वारा रचित होने पर भी संघटना के कारण यह अखण्ड रूप में प्रतीत हो रहा है —

"अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थित इति द्विखण्डोऽपि सङ्घटनावशात् अखण्डायते[1]।"

काश्मीर के ही निवासी राजानक आनन्द ने अपनी टीका में प्राचीन परम्परा का उल्लेख कर लिखा कि मम्मट ने परिकर अलंकार (दशम उल्लास) तक ही काव्यप्रकाश की रचना की थी तथा अवशिष्ट भाग को अलक या अल्लट नामक पण्डित ने पूरा किया[2]। इसीलिए ग्रंथ की पुष्पिका में काव्यप्रकाश राजानक मम्मट तथा अल्लट की सम्मिलित रचना माना गया है।[3] अर्जुनवर्मदेव के एक प्रमाणहीन उल्लेख से प्रतीत होता है कि अल्लट ने मम्मट को सप्तम उल्लास की रचना में भी सहायता दी थी[4]। इन निर्देशों से यही तात्पर्य निकलता है कि मम्मट को अपने ग्रंथ

१ उपर्युक्त श्लोक की माणिक्यचन्द्र की संकेत टीका।

२ यदुक्तं—कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायालकसूरिणा॥

अन्येनाप्युक्तम्—काव्यप्रकाशदशकोऽपि निबन्धकृद्भ्यां,
द्वाभ्यां कृतोऽपि कृतिनां रसतत्त्वलाभः।

३. इति श्रीमद्राजानकमल्लमम्मटरचकविरचिते निजग्रंथकाव्यप्रकाशसंकेते प्रथम उल्लासः।

४. यथोदाहृत दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्याम्—प्रसादे वर्तस्व। दूसरा संकेत—अत्र केचित् वायुपदेन जुगुप्साश्लीलमिति दोषमाचक्षते ······ तदा वाग्देवतादेश इति व्यवसितव्य एवासौ। किंतु हृल्लादैकमयीवरलब्धप्रसादौ काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टी।—अमरुशतक की टीका।

उपक्षेपक, सन्धि, प्रदेश, पताकास्थानक, वृत्ति, लक्षण, अलंकार, रस, भाव, नायिका के गुण तथा भेद, रूपक के भेद तथा उपरूपक के अन्य प्रकार। इस प्रकार नाटक के लिए आवश्यक उपकरणों का सरल वर्णन ग्रन्थ की विशेषता है।

सागरनन्दी के समय का निरूपण अनुमानत किया गया है। नन्दी के द्वारा उद्धृत ग्रन्थकारों मे राजशेखर (९२० ई०) सबसे प्राचीन है। यह उनकी एक अवधि है। दूसरी अवधि का निरूपण नन्दी को अपने ग्रन्थो मे उद्धृत करने वाले ग्रन्थकारों के समय से किया जा सकता है। सुभूति, सर्वानन्द, जातवेद, रायमुकुट, कुम्भकर्ण, शुभकर तथा जगद्धर ने अपने ग्रन्थों मे 'रत्नकोश' के मत तथा पद्य उद्धृत किये है। इनमे प्रथम चार अमरकोश के टीकाकार हैं। अन्य दो नाटच तथा सगीत के रचयिता हैं। अन्तिम ग्रन्थकार ने मालतीमाधव तथा मुद्राराक्षस की अपनी टीका मे 'रत्नकोश' को अपना उपजीव्य बतलाया है। इनमे रायमुकुट का समय १४३१ ई० माना जाता है। अत, रायमुकुट के द्वारा उद्धृत किए जाने के कारण सागरनन्दी का समय १५ शतक के मध्यभाग से पूर्ववर्ती होना चाहिए। अत इन्हे हम दशरूपक के कर्त्ता धनञ्जय का समकालीन अथवा किञ्चित् पश्चाद्वर्ती मान सकते हैं।

इनके ग्रन्थ मे प्रचलित नाटचग्रन्थो से अनेक वैशिष्टच हैं। उदाहरणार्थ सागरनन्दी वर्त्तमान नरपति के चरित्र को नाटक के विषय बनाने के पक्ष मे है, परन्तु अभिनवगुप्त की सम्मति इसके ठीक विपरीत है। वे वर्त्तमान राजा के चरित को नाटक की वस्तु बनाने के विरोधी है[1]। नन्दी ने वृत्तियों को रसोकी दृष्टि से विभाजन के अवसर पर कोहल का अनुवर्तन किया है, भरत का नहीं। अभिनवभारती के अनुसार कोहल तथा भरत मे इस प्रसग मे मतभेद है[2]। अन्य सूक्ष्म भेद भी धनञ्जय के सिद्धान्त से

---

१. वर्त्तमान-राजचरित चावर्णनीयमेव। तत्र विपरीतप्रसिद्धिबाधया अध्यारोपितस्य अकिंचित्करत्वात् योगानन्दरावणादिविषयचरिताध्यारोपवत्। एतदर्थमेव प्रख्यात-ग्रहण प्रकर्षद्योतक पुन पुनरुपात्तम्।

—अभिनवभारती १८।१।२, पृ० ४१३।

२ कोहल का मत—(रत्नकोश पृ० १०५९-६३)

वीराद्भुतप्रहसनैरिह भारती स्यात्
सात्त्वत्यपीह गदिताद्भुतवीररौद्रै।
शृ गारहास्यकरुणैरपि कैशिकी स्या-
दिष्टा भयानकयुताऽऽरभटी सरौद्रा॥

अभिनवभारती ने इस पद्य की तृतीय पक्ति के मत को मुनिमत से विरुद्ध होने से उपेक्षणीय माना है।

द्रष्टव्य, अभिनवभारती (द्वि० खण्ड, पृ० ४५२)

इस ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि सागरनन्दी का ग्रन्थ हमारे शास्त्र के मध्ययुग में विशेष महत्वपूर्ण माना जाता था[1]।

२०—अग्निपुराण में साहित्यचर्चा

पुराण भारतीय विद्या के आगार हैं। इनमें केवल भारतीय वैदिक धर्म का ही विशिष्ट विवेचन नहीं है, प्रत्युत वेद से सम्बद्ध अनेक विद्याओं का भी विवरण अनेक पुराणों में उपलब्ध होता है। विशेषतः अग्निपुराण तो प्राचीन भारत के ज्ञान और विज्ञान का विश्वकोष ही है। इसके कतिपय अध्याय में साहित्य-शास्त्र का विवरण प्रस्तुत किया गया है। काव्यप्रकाश की 'आदर्श' टीका के रचयिता महेश्वर[2] ने तथा विद्या-भूषण की 'साहित्यकौमुदी' की टीका 'कृष्णानन्दिनी'[3] में 'अग्निपुराण' साहित्य-शास्त्र का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ निर्दिष्ट किया गया है जहाँ से स्फूर्ति तथा सामग्री ग्रहण कर भरत मुनि ने अपनी कारिकाओं की रचना की। परन्तु ग्रन्थ की तुलनात्मक परीक्षा से पिछले आलंकारिकों का यह मत प्रमाणसिद्ध नहीं जान पड़ता।

अग्निपुराण के दस अध्यायों में (अध्याय ३३६—३४६) अलंकार शास्त्र से संबद्ध विषय का विस्तृत वर्णन किया गया है। ३३६ अध्याय में काव्य का लक्षण, काव्य का भेद, कला, आख्यायिका तथा महाकाव्य का वर्णन किया गया है। ३३७ अध्याय में नाट्यशास्त्र का विषय—यथा नाटक के भेद, प्रस्तावना, पाँच अर्थ-प्रकृति पंचसंधि वर्णित हैं। ३३८ वें अध्याय में रस का विवेचन तथा नायक-नायिका भेद का वर्णन है। ३३९वें अध्याय में चार प्रकार की रीति—पाञ्चाली-गौडी-वैदर्भी और लाटी तथा चार प्रकार की वृत्ति—भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी—का वर्णन है। ३४०वें अध्याय में नृत्य के अवसर पर होने वाले अंग-विक्षेपों का विवरण है तथा अगले अध्याय में चार प्रकार के अभिनय का सात्विक, वाचिक, आंगिक तथा आहार्य का—उल्लेख है। ३४२वें अध्याय में शब्दालंकारों का विशेषतः अनुप्रास, यमक (दस

---

१. सागरनन्दी के काल-निर्णय के लिए द्रष्टव्य
गोडे-स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, प्रथम भाग पृ० ८४-५६।

२ सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलंकारशास्त्र कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्।

३ काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टा साहित्यप्रक्रिया भरत संक्षिप्ताभिः कारिकाभिः निबन्ध।

भेद) तथा चित्र (सात भेद) वर्णन प्रस्तुत कर अगले दो अध्यायों के अर्थालंकार का निरूपण किया गया है। अन्तिम दो अध्यायों में (३४५-४६) गुण तथा दोष का क्रमश वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इन दसों अध्यायों म ३६२ श्लोक हैं।

अग्निपुराण के इस साहित्यखण्ड की रचना कब हुई ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस अश का लेखक साहित्य के किसी मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादक नहीं है प्रत्युत उसने इस भाग को उपयोगी बनाने के लिए अनेक प्राचीन आलकारिकों के सिद्धान्तो का सग्रह मात्र उपस्थित किया है। भरत नाट्यशास्त्र के श्लोक तो अक्षरश इसमे उद्धृत किये हैं। रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपह्नुति तथा समाधि अलकारों के लक्षण वे ही हैं जो काव्यादर्श में दिये गये हैं। रूपक, आक्षेप आदि कतिपय अलकारों के लक्षण भामह से अधिकतर मिलते हैं। अग्निपुराण ध्वनि के सिद्धान्त से परिचित है परन्तु वह उसको काव्य मे स्वतन्त्र स्थान न देकर आक्षेप, समासोक्ति आदि अलकारों के भीतर ही समाविष्ट करता है। 'अलकारसर्वस्व' के अनुसार यह मत भामह तथा उद्भट आदि प्राचीन आलकारिकों का है। इतना ही नहीं, इस भाग मे भोज के साहित्य विषयक विशिष्ट सिद्धान्तो का समावेश उपलब्ध होता है। मम्मट ने काव्यप्रकाश मे विष्णुपुराण का तो उद्धरण दिया है, परन्तु अग्निपुराण का निर्देश कहीं नहीं किया है। अग्निपुराण को अलकारशास्त्र का प्रमाणभूत ग्रन्थ मानकर इसको उद्धृत करने वाले सर्वप्रथम आलकारिक विश्वनाथ कविराज है। अग्निपुराण को धर्मशास्त्र के विषय मे प्रमाणभूत ग्रन्थ मानने वाले 'अद्भुतसागर के रचयिता राजा बल्लालसेन हैं जिन्होंने इस ग्रथ को ११६८ ई० मे आरम्भ किया था। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि अग्निपुराण का यह साहित्य विषयक अश भोज तथा विश्वनाथ कविराज के मध्यकाल मे लिखा गया है। अर्थात् इस भाग की रचना १२०० ई० के आसपास मानना अनुचित न होगा। अग्निपुराण को प्राचीन मौलिक ग्रथ न मानकर एक सग्रह ग्रन्थ मानना ही न्यायसगत है।

२१—रुय्यक

मम्मट के अनन्तर महनीय आलोचक रुय्यक हैं। इन 'रुय्यक' का निर्देश विद्याचक्रवर्ती, कुमारस्वामी, अप्पयदीक्षित, राघवभट्ट तथा रत्नकण्ठ ने 'रुचक नाम से ही किया है और रुय्यक ने स्वय ही अपनी रचना 'सहृदयलीला' की पुष्पिका मे अपना अपर नाम 'रुचक' दिया है। 'राजानक' उपाधि इन्हे काश्मीरक सिद्ध कर रही है। इनके पूज्य पिता राजानक तिलक ने उद्भट के काव्यालकार सार सग्रह की विवृति 'उद्भट विवेक' या 'उद्भट विचार' नाम से लिखी है जो गायकवाड सस्कृत सीरीज मे १९३१ में प्रकाशित हुई है। विवृति है तो आकार मे छोटी, परन्तु महत्त्व मे नि सन्देह बडी है।

रुय्यक मम्मट के पश्चात्वर्ती काश्मीर के मान्य आलोचक हैं। इनका दूसरा नाम 'रुचक' था और उनके आलंकारिकों ने इसी नाम से उनका उल्लेख किया है। ये निश्चित रूप से काश्मीर के निवासी थे, क्योंकि उनके नाम के साथ जो 'राजानक' उपाधि सम्मिलित है वह काश्मीर के ही मान्य विद्वानों को दी जाती थी। ये 'राजानक' तिलक के पुत्र थे जिन्होंने जयरथ के कथनानुसार (विमर्शिणी पृ० २४, ११५) उद्भट के ऊपर 'उद्भट-विवेक' या 'उद्भट-विचार' नामक व्याख्या ग्रन्थ लिखा था।

रचयिता—रुय्यक या मंखक ?

रुय्यक का "अलंकारसर्वस्व[1]" दो भागों में विभक्त है—सूत्र और वृत्ति। 'ध्वन्यालोक' के समान यहाँ भी यही समस्या है कि रुय्यक ने केवल सूत्रों की ही रचना की अथवा वृत्ति की भी। 'अलंकारसर्वस्व' के प्रसिद्ध टीकाकार जयरथ ने रुय्यक को सूत्र तथा वृत्ति दोनों का रचयिता माना है। ग्रन्थ के मंगलश्लोक का उत्तरार्ध इसी मत को पुष्ट करता है। इस उत्तरार्ध का रूप यों है 'निजालंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते'। परन्तु दक्षिण भारत में उपलब्ध होने वाली 'अलंकारसर्वस्व' की प्रतियों में इसके स्थान पर "गुर्वलंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते" लिखा मिलता है तथा उनकी पुष्पिका में मंखक या मंखुक—जो काश्मीर नरेश के सान्धिविग्रहिक थे—वृत्ति के रचयिता बतलाये गये हैं। इस प्रकार वृत्ति तथा सूत्रधार की एकता में सन्देह उत्पन्न होता है।

श्रीकण्ठचरित के रचयिता राजानक मंख या मंखक काश्मीर के निवासी थे तथा रुय्यक के शिष्य थे। यदि ये शिष्य नहीं होते, तो सम्भव है कि यह मत उतना सारहीन नहीं दीख पड़ता परन्तु शिष्य होने से इस मत के सत्य होने में सन्देह होता है। श्रीकण्ठचरित की रचना का काल है ११३५ ई० से लेकर ११४५ ई०। यहाँ हमें यह विचार करना है कि हम उत्तर भारत की परम्परा को सत्य मानें जिसके अनुसार रुय्यक ने ही सूत्र और वृत्ति दोनों की रचना की थी या दक्षिण भारतीय परम्परा में आस्था रखें जिसके अनुसार रुय्यक केवल सूत्रकार हैं और उनके शिष्य मंखक वृत्तिकार हैं। काश्मीर की परम्परा निरवच्छिन्न है। परन्तु दक्षिण भारतीय परम्परा अव्यवस्थित है, क्योंकि दक्षिण भारत के ही मान्य आलंकारिक अप्पय दीक्षित ने रुय्यक को ही वृत्तिकार के नाम से उल्लिखित किया है। उधर जयरथ रुय्यक के देशवासी ही नहीं थे, प्रत्युत उनसे एक शताब्दी के भीतर ही उत्पन्न हुए थे। अतः जयरथ को विशुद्ध परम्परा का ज्ञाता मानना नितान्त आवश्यक है। अलंकार ग्रन्थों में

१. जयरथ की टीका के साथ निर्णयसागर से तथा समुद्रबन्ध की टीका के साथ अनन्त शयन-ग्रन्थमाला में प्रकाशित।

रुय्यक, रुचक तथा 'सर्वस्वकार' के नाम से तो अनेक बार उद्धृत किये गये हैं, परन्तु आलकारिक रूप से मखक का निर्देश कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ। आलकारिको का साक्ष्य दोनो को एक मानने के पक्ष मे है। 'अलकार रत्नाकर' के रचयिता शोभाकर ने अलकारसर्वस्व के सूत्र को औरवृत्ती को एक ही कृति मानकर अनेकत्र खण्डन मण्डन किया है। काव्यप्रकाश का टीका 'साहित्य चूडामणि' के कर्ता भट्टगोपाल ने भी दोनो को एक ही माना है। विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित आदि आलकारिको ने भी सूत्र और वृत्ति के रचयिता को अभिन्न व्यक्ति माना है और वह 'रुय्यक' के सिवा कोई अन्य नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि रुय्यक ने ही 'अलकार-सर्वस्व' के सूत्र तथा वृत्ति की रचना स्वय की।

समय

रुय्यक के आविर्भाव काल की सूचना अनेक स्थलो से प्राप्त होती है। इन्होंने मम्मट के काव्यप्रकाश पर 'काव्यप्रकाशसकेत' नामक टीका लिखी थी जिससे इनका समय मम्मट के पश्चात् होना निश्चित है। रुय्यक ने अपने 'शिष्य मखक के प्रसिद्ध महाकाव्य 'श्रीकण्ठचरित' से पाँच पद्यो को उदाहरण-रूप से अपने ग्रथो मे उद्धृत किया है। मखक के काव्य के रचनाकाल की तिथि ११३५ ई०, ११४५ ई० है। अत अलकारसर्वस्व की रचना इस तिथि से पहले नहीं हो सकती। अत रुय्यक का काल १२ वी शताब्दी का मध्यभाग मानना सर्वथा युक्तियुक्त है (११३५ ई०-११५० ई०)।

ग्रन्थ

रुय्यक ने अलकारशास्त्र पर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थो की रचना की जिनके नाम हैं--अलकारमजरी, अलकारानुसारिणी, नाटकमीमासा, हर्षचरितवार्तिक। इन ग्रथो का परिचय हमे रुय्यक और उनके टीकाकार जयरथ के निर्देशों से मिलता है। इनके प्रकाशित ग्रथों मे (१) सहृदयलीला—एक लघुकाय ग्रन्थ है जिसमे स्त्रियों के सौंदर्य गुण तथा आभूषण का विशेष वर्णन है। (२) साहित्यमीमासा—अनन्तशयन ग्रथ-माला मे प्रकाशित (सन् १९३६) इस ग्रथ के ८ प्रकरण हैं। इसकी दो विशेषतायें हैं—प्रथमत इसमे व्यञ्जना शक्ति का कहीं भी उल्लेख नहीं है, अपितु तात्पर्यवृत्ति का प्रतिपादन है जिससे रस की अनुभूति होती है (अपदार्थोऽपि वाक्यार्थो रस-स्तात्पर्यवृत्तित पृ० ८५। द्वितीयत अर्थालकारो के अन्तर्गत थोडे से ही अलकारो पर विचार है। सम्भवत यह रुय्यक की आरम्भिक रचना है। सर्वस्व मे इन्होंने ध्वनि-वाद का आश्रय लिया है जो ग्रथकार के दृष्टिकोण के परिवर्तन का सूचक है। इस ग्रथ के प्रकरणो का विषय विवेचन इस प्रकार है--कवि तथा रसिक के प्रभेद, वृत्यादि का लक्षण दोष का विवेचन, गुण की मीमा सा, अलकार का विवेचन, रस और भाव

का विवेचन, कवि की चार विशेषतायें तथा आनन्द का रूप। इस प्रकार यह ग्रन्थ आलोचना के प्रकीर्ण विषयों का प्रतिपादन करता है और राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' की शैली का है। (३) व्यक्तिविवेक टीका—यह महिमभट्ट के व्यक्ति-विवेक की व्याख्या है जो अब तक अधूरी ही मिली है। जयरथ ने इनका निर्देश 'व्यक्तिविवेकविचार' के नाम से किया है (विमर्शिणी पृ० १३)। यह वही टीका है जो अनन्तशयन ग्रन्थमाला में मूलग्रन्थ के साथ प्रकाशित हुई है। (४) अलंकार-सर्वस्व—रुय्यक की कीर्ति का यही ग्रन्थ एकमात्र आधार है। यह अलंकार-निरूपण के लिए बड़ा ही प्रौढ़ तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ध्वनिसिद्धान्त का अनुयायी है और ग्रन्थ के आरम्भ में उसने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत की बड़ी ही सुन्दर समीक्षा की है। इन्होंने मम्मट वर्णित अलंकारों से अधिक अलंकारों का निरूपण इस ग्रन्थ में किया है और साधारणतः इनका निरूपण मम्मट की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। इन्होंने दो नये अलंकारों की उद्भावना की है जिनके नाम *विकल्प और विचित्र हैं। विश्वनाथ कविराज, अप्पय दीक्षित तथा विद्याधर आदि* पिछले आलंकारिकों ने रुय्यक के इस मान्य ग्रन्थ से प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्राप्त की है और इनके मतों का उद्धरण अपने मत की पुष्टि के लिए दिया है। (५) काव्यप्रकाश संकेत—यह टीका लघुटिप्पणी के रूप में है तथा काव्यप्रकाश की सर्वप्रथम टीका है। *विशेष ध्यान देने की बात है कि इसमें काव्यप्रकाश के सिद्धान्तों की मीमांसा है।* पिछले युग के टीकाकार काव्यप्रकाशकार को वाग्देवतावतार मानकर इनके वाक्यों को अक्षरशः मानते हैं और उनकी आलोचना नहीं करते। परन्तु रुय्यक की टीका में मम्मट का स्थान-स्थान पर खण्डन अनेकशः लक्षित होता है।

टीकाकार—

'अलंकारसर्वस्व' की व्याख्याएँ अनेक विद्वानों ने की है जिनमें (१) राजानक अलक सबसे प्राचीन प्रतीत होते हैं। इनके ग्रन्थ का अभी तक उल्लेख ही मिलता है। पूरे ग्रन्थ की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है। काव्यप्रकाश के सहलेखक अलक के साथ इनकी अभिन्नता मानने का पुष्ट प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

(२) जयरथ—इनकी टीका का नाम विमर्शिणी है[१]। नाम के अनुसार ही यह रुय्यक के ग्रन्थ की वास्तविक समीक्षा करती है। यह बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण टीका है। जयरथ ने अभिनवगुप्त के विपुलकाय ग्रन्थ 'तन्त्रालोक' के ऊपर 'विवेक' नामक *व्याख्या लिखी।* इससे सिद्ध होता है कि ये केवल आलोचक ही न थे, प्रत्युत एक महनीय दार्शनिक भी थे। इनके पिता का नाम शृङ्गारथ था जो अपने पूर्वजों

१. काव्यमाला नं० ३५ बम्बई से प्रकाशित।

के समान ही काश्मीर के राजा राजराज (राजदेव) के प्रधान सचिव थे। ये राजराज काश्मीर के निकट 'सतीसर' के राजहंस बताए गए हैं। मख के अनुसार सतीसर उत्तर दिशा के मण्डनभूत काश्मीर का वह मण्डल है जहाँ ब्रह्मा ने सृष्टि-यज्ञ के अनन्तर अवभृथ स्नान किया था (श्रीकण्ठचरित ३।१)। जयरथ के विद्यागुरु थे शखधर और दीक्षागुरु थे श्री 'सुभटदत्त' जो इनके पिता के भी गुरु थे। जयरथ व्याकरण-न्याय आदि शास्त्रों के अतिरिक्त शैवागम और क्रमदर्शन के भी विशेषज्ञ विद्वान् थे, ऐसा तन्त्रालोक (भाग १२, पृ० ४३४–५) का मान्य कथन है। इनके समय का निर्णय कठिन नहीं है। राजराज का (जिन्हें ऐतिहासिक राजदेव के नाम से जानते है) समय १२०३ ई० से लेकर १२२६ ई० तक माना जाता है। जयरथ के पिता इन्हीं के मन्त्री थे और स्वयं जयरथ को भी इन्हीं से विवेक 'लिखने' का प्रोत्साहन मिला था। 'पृथ्वीराजविजय' से विमर्शिणी मे उद्धरण मिलता है। पृथ्वीराज का अवसान-काल ११९३ ई० है। अत जयरथ का समय द्वादश शतक का अन्तिम भाग तथा त्रयोदश का प्रथम भाग मानना उचित है (११८० ई०–१२३० ई०)।

उन्होंने अपने पौत्र को पढाने के लिए 'अलकारोदाहरण' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। यह विमर्शिणी के अनन्तर लिखा गया था और विमर्शिणी में प्रत्याख्यात अलकारों का भी यहाँ बालावबोध के लिए सग्रह किया गया है। विमर्शिणी मे जयरथ ने शोभाकर के द्वारा अपने ग्रन्थ 'अलकार रत्नाकर' मे किये गये सर्वस्व के खण्डनों को मार्मिक रीति से ध्वस्त किया है। इस प्रकार शोभाकर के मतों का यहाँ मार्मिक खण्डन भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जयरथ ने विमर्शिणी में अलकारसार तथा अलकारभाष्य नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया है जो अलकारसर्वस्व के अनन्तर लिखे गये थे। इनके मतों के तो वर्णन मिलते हैं, परन्तु रचयिताओं का पता नहीं है। इन दोनों ग्रन्थों ने शोभाकर और जयरथ दोनों को प्रभावित किया था। भाष्य मे 'सस्कार' तथा 'वितर्क' नामक दो नवीन अलकारों का वर्णन किया गया है। यह सादृश्य और सादृश्येतर दोनों सम्बन्धों से लक्षणा का उपयोग रूपक मे मानता है, जब कि सर्वस्व प्रथम प्रकार से ही। 'वास्तवत्व नालकार' इस ग्रन्थकार का मत है। फलत ये 'विनोक्ति' को अलकार नहीं मानते। पण्डितराज ने इन मतों को अपने ग्रन्थ मे निर्दिष्ट किया है (रसगगाधर पृ० २३९ तथा ३६८)। इतिहास की दृष्टि से इन ग्रन्थों का क्रम यह है—अलकारसर्वस्व अलकारसार-अलकारभाष्य-अलकाररत्नाकर विमर्शिणी।

(३) समुद्रबन्ध—ये केरल देश के राजा रविवर्मा के राज्यकाल में उत्पन्न हुए थे। इस राजा का जन्म १२६५ ई० मे हुआ था। अत समुद्रबन्ध का समय १३ वीं शताब्दी का अन्त तथा १४ वीं का आरम्भकाल है। जयरथ की टीका के

समान पाण्डित्यपूर्ण न होने पर भी यह व्याख्या मूल को समझने के लिए अत्यन्त उपादेय हैं[1]। समुद्रबन्ध अलकार शास्त्र के मान्य आचार्यों से पूर्ण परिचित थे। उनके उद्धरणो से यह बात स्पष्ट है।

(४) श्री विद्याचक्रवर्ती—इनकी टीका का नाम 'अलकारसारसजीवनी' या सर्वस्वसजीवनी' है। इसका उल्लेख दक्षिण भारत के पिछले आलकारिको ने अपने ग्रथो मे किया है। इन्होने मम्मट के ग्रन्थ के ऊपर भी 'सम्प्रदायप्रकाशिनी' नामक टीका लिखी है। मल्लिनाथ के द्वारा उद्धृत किये जाने के कारण इन्हे १४वीं शताब्दी के अन्तिम भाग से पूर्व मे मानना चाहिए[2]।

२२—हेमचन्द्र

समय

जैनधर्म के धुरन्धर विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र ने अलकार शास्त्र मे भी एक उपादेय ग्रन्थ की रचना की है। इनके देशकाल का परिचय हमे पूर्णतया प्राप्त है। ये गुजरात के अहमदाबाद जिले के धुन्धुक नामक गाँव मे ११४५ वि० (१०८८ ई०) मे पैदा हुए थे। अनहिलपटन के चालुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज (१०९३–११४३ ई०) की प्रार्थना पर इन्होंने अपना प्रसिद्ध 'सिद्धहेम' नामक व्याकरण बनाया। जयसिंह के उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल (११४३–११७२ ई०) इनके शिष्य थे। इनके आदेशानुसार भी उन्होंने अनेक ग्रथों की रचना की। हेमचन्द्र की मृत्युतिथि ११७२ ई० है। इस प्रकार इनका काल १०८८ ई० से ११७२ ई० है।

ग्रथ

इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यानुशासन'[3] है जो सूत्रात्मक पद्धति से लिखा गया है। ग्रन्थकार ने इन सूत्रों पर स्वय 'विवेक' नामक टीका लिखी है। यह ग्रथ आठ अध्यायो मे विभक्त है। प्रथम अध्याय मे काव्य के प्रयोजन, काव्यहेतु, लक्षण तथा शब्द और अर्थ के स्वरूप का विवेचन है। द्वितीय मे रस तथा उसके भेदों का सुदर विवरण है। तीसरे में दोषो का निर्णय है तो चौथे म माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक

---

१ अनन्तशयन ग्रन्थमाला न० ४० मे प्रकाशित।

२ इस टीका का प्रकाशन मोतीलाल बनारसीदास ने किया है। सम्पादक डा० रामचन्द्र द्विवेदी ने इसके आधार पर 'अलकारमीमासा' नामक प्रौढ ग्रन्थ की रचना की है।

३. (क) काव्यमाला मे प्रकाशित।
(ख) गुजरात से दो खडों मे प्रकाशित।

त्रिविध गुणो का वर्णन है। पांचवें मे छ प्रकार के शब्दालकारो का तथा छठे मे २९ प्रकार के अर्थालकारो का विवेचन है। हेमचन्द्र ने सकर अलकार के भीतर ही ससृष्टि को रखा है तथा दीपक के भीतर तुल्ययोगिता को। 'परावृत्ति' नामक एक नवीन अलकार की इन्होने उद्भावना की है जिसके भीतर मम्मट का 'पर्याप्त' तथा 'परिवृत्ति' अलकार दोनो आ जाते हैं। निदर्शन के भीतर प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त तथा प्रसिद्ध निदर्शना अलंकार का निवेश किया गया है। इन्होने रस और भाव से सम्पर्क रखने वाले रसवद् आदि अलकारो को बिल्कुल छोड दिया है। सप्तम अध्याय मे नायक और नायिका के भेदो का विवेचन कर अन्तिम अध्याय मे काव्य के भेद तथा उपदेशो का वर्णन उनके विशिष्ट लक्षण के साथ देकर ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

काव्यानुशासन एक सग्रहग्रन्थ है जिसमे विशेष मौलिकता नहीं दीख पडती। ग्रथकार ने राजशेखर की काव्य-मीमासा, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, लोचन तथा अभिनवभारती से लम्बे-लम्बे उद्धरण अपने ग्रन्थ मे दिये हैं। हेमचन्द्र ने इस ग्रंथ की वृत्ति मे विभिन्न ग्रथकारो के ग्रन्थो से लगभग १५०० पद्य उद्धृत किये हैं जिससे इनके अगाध पाण्डित्य का पता चलता है। पिछले आलंकारिको के ऊपर इनका प्रभाव बहुत ही कम पडा। अत इनके मत का उल्लेख अन्य ग्रथकारों के द्वारा बहुत ही कम मिलता है। हेमचन्द्र मे सग्राहकवृत्ति विशेष रूप से लक्षित होता है। ये अपने उपजीव्य ग्रथों के आवश्यक अशों को अक्षरश उद्धृत करते हैं—इतना सटीक तथा ठीक-ठीक कि इनके उद्धरणों की सहायता से हम मूलग्रथों के पाठो के शोधने मे कृतकार्य होते हैं। उदाहरणार्थ अभिनवभारती का रस प्रकरण 'काव्यानुशासन विवेक' में अक्षरश पूरा का पूरा उद्धृत है और इसकी सहायता से मूल ग्रंथ के वचनों का तात्पर्य बडी सुन्दरता से समझा जाता है जो अन्यथा असम्भव नही, तो दु सम्भव अवश्य था।

२३—रामचन्द्र

रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र की सम्मिलित कृति है नाटचदर्पण[1]। इसमे चार विवेक या अध्याय है जिनमे नाटक, प्रकरणादिरूपक, वृत्तिरसभावाभिनय तथा रूपक के साधारण लक्षण का वर्णन क्रमश किया गया है। ग्रथ कारिकाबद्ध है जिस पर

---

१ नाटचदर्पण का प्रकाशन गायकवाड ओरियण्टल सीरीज (सख्या ४८) मे बडोदा से १९२९ ई० मे हुआ है तथा नलविलास का भी प्रकाशन इसी ग्रथमाला मे (सख्या २९) १९२६ ई० मे हुआ है।

ग्रन्थकारों ने अपनी वृत्ति लिखी है। नाट्यविषयक शास्त्रीय ग्रन्थों मे नाट्यदर्पण का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह शृंखला है जो धनजय के साथ विश्वनाथ कविराज को जोडती है। इसमे अनेक विषय बडे महत्त्वपूर्ण है तथा परम्परागत सिद्धान्तो से विलक्षण हैं जैसे रस का सुखात्मक होने के अतिरिक्त दुःखात्मक रूप। प्राचीन और अधुना लुप्तप्राय रूपकों के उद्धरण प्रस्तुत करने के कारण भी इसका ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। जैसे 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक विशाखदत्त-रचित नाटक के बहुत से उद्धरण यहां मिलते हैं जिससे चन्द्रगुप्त द्वितीय से पहले रामगुप्त की ऐतिहासिक स्थिति का पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होता है।

रामचन्द्र हेमचन्द्र के शिष्य थे तथा जैनधर्म के मान्य आचार्य थे। ये गुजरात के सिद्धराज (१०९३–११४३ ई०), कुमारपाल (११४३–११७२ ई०) तथा जयपाल (११७२–७५ ई०) के समय मे वर्तमान थे। कहा जाता है कि कारणवश अजयपाल की ही आज्ञा से इन्हे प्राणदण्ड मिला था। सिद्धराज ने जब हेमचन्द्र से उनके उत्तराधिकारी (पट्टधर) के विषय मे पूछा तो हेमचन्द्र ने रामचन्द्र का ही नाम इस पद के लिए लिया। इनका आविर्भावकाल १२ शतक का मध्यभाग है। रामचन्द्र के सहयोगी गुणचन्द्र के विषय मे हम इतना ही जानते है कि ये दोनों हेमचन्द्र के शिष्य थे। गुणचन्द्र के किसी स्वतन्त्र ग्रंथ का पता नही चलता, परन्तु रामचन्द्र तो 'प्रबन्धशतकर्ता' के नाम से जैन साहित्य मे विख्यात हैं। इनके एकादश नाटकों का निर्देश इसी ग्रन्थ मे उपलब्ध होता है जिनमे 'नलविलास' मुख्य है।

२४—शोभाकर मित्र

इनके प्रख्यात ग्रन्थ का नाम 'अलङ्काररत्नाकर'[1] है जिसका उल्लेख अप्पय दीक्षित ने तथा पण्डितराज ने 'रत्नाकर' के नाम से अपने ग्रंथो मे किया है। जयरथ ने इनके मत का बहुत खण्डन अपनी 'विमर्शिणी' मे अनेक स्थानों पर किया है जिससे इनका समय निश्चित रूप से जयरथ (१३ शती) से प्राचीन सिद्ध होता है। ये काश्मीर के निवासी प्रतीत होते है। काश्मीरी कवि यशस्कर ने इस ग्रन्थ के अलङ्कारों के उदाहरण देने के लिए 'देवीस्तोत्र' नामक काव्य का निर्माण किया। इनका 'अलङ्काररत्नाकर' सूत्रवृत्ति के ढंग पर लिखा गया अभिनव शैली का ग्रन्थ है। इसमे लगभग एक सौ अलङ्कारों का निरूपण किया गया है जिनमे कुछ अलङ्कार इनकी मौलिक कल्पना से प्रसूत हैं तथा कतिपय प्राचीन अलङ्कारों के ही परिवर्तित अभिधान हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी रत्नाकर के आधार पर 'असम' तथा 'उदाहरण' नामक नवीन अलङ्कारों की कल्पना की है परन्तु पण्डितराज इन्हे मान्यता नहीं देते।

---

१ ग्रंथ का प्रकाशन पूना से हुआ है।

अलंकार रत्नाकर में ऐसे अनेक अलंकार भी हैं जिनका उल्लेख न तो रुय्यक के 'अलंकार सर्वस्व' मे है और न जयरथ के 'अलंकारोदाहरण' नामक ग्रन्थ मे। ऐसे अलंकारों की सूची इस प्रकार है—अचिन्त्य, अनुकृति, अभेद, अवरोह, अशक्य, आपत्ति आदि। जयरथ ने विमर्शिणी में इनके द्वारा स्वीकृत अभेद, प्रतिमा, वर्धमानक आदि अलंकारों का खण्डन किया है। परन्तु तुल्य, वैधर्म्य, प्रत्यूह, प्रत्यनीक आदि अलंकारो का अक्षरश लक्षण रत्नाकर के ही आधार पर किया है। इस प्रकार जयरथ के ऊपर शोभाकार मित्र का प्रभाव विशेषत उल्लेखनीय है। तथ्य तो यह है कि अलंकारो के विकास मे 'अलंकाररत्नाकर' एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है जिसका अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है।

२५—वाग्भट

हेमचन्द्र के समकालीन एक दूसरे जैन आलंकारिक हुए जिनका नाम वाग्भट है। उनकी एकमात्र कृति 'वाग्भटालंकार' है। इसके एक पद्य की टीका से पता चलता है कि इनका प्राकृत नाम 'बाहड' था[1] तथा ये सोम के पुत्र थे तथा किसी राजा के महामात्य पद पर प्रतिष्ठित थे। अपने ग्रंथ मे इन्होने स्वनिर्मित संस्कृत उदाहरणो के अतिरिक्त प्राकृत मे भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिससे इनकी संस्कृत तथा प्राकृत उभय भाषा की अभिज्ञता प्रकट होती है। नेमि निर्वाण महाकाव्य से भी इन्होने कई पद्य उद्धृत किये हैं। इस महाकाव्य के रचयिता कोई वाग्भट बतलाये जाते हैं। पता नहीं कि आलंकारिक वाग्भट ही इस महाकाव्य के रचयिता हैं अथवा कोई दूसरे वाग्भट। इस ग्रन्थ के उदाहरणो मे कर्ण के पुत्र, अनहिलवाड के अधिपति चालुक्य-वंशी नरेश जयसिंह की स्तुति प्रतीत होती है[2] जिससे प्रतीत होता है कि इनका जय-

---

१ बम्भण्डसुत्तिसंपुड-मुत्तिअ-मणिणो पहासमूह व्व।
सिरिबाहडत्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स॥

इदानीं ग्रंथकार इदमलंकारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नामगाथयैकया निदर्शयति। (४।१४८)

२ इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनु-
रैरावणेन किमहो यदि तद्द्विपेन्द्र।
दम्भोलिनाप्यलमल यदि तत्प्रताप
स्वर्गोऽप्ययं ननु मुधा यदि तत्पुरी सा॥—४।७६

जगदात्मकीर्तिशुभ्र जनयन्नुद्दामधामदोःपरिघ।
जयति प्रतापपूषा जयसिंहक्ष्माभृदधिनाथ॥—४।८५

अणहिल्लपाटकं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगतीह॥—४।१३२

का लवण सिंह के पुत्र अरिसिंह ने ढोलका (गुजरात) के राणा वीरधवल के प्रसिद्ध जैन मन्त्री वस्तुपाल की स्तुति में 'सुकृतसंकीर्तन' नामक काव्य लिखा है। अमरचन्द्र इनसे अधिक बड़े लेखक प्रतीत होते हैं। इन्होंने जिनेन्द्रचरित (दूसरा नाम पद्मानन्द काव्य), बालभारत (काव्यमाला नं० ४५ में प्रकाशित) तथा स्यादि-शब्द-समुच्चय नामक सम्भवतः किसी व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। काव्यकल्पलता की वृत्ति में इन्होंने अपने तीन अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है—(१) छन्दोरत्नावली (२) काव्यकल्पलतापरिमल तथा (३) अलंकारप्रबोध।

अमरचन्द्र और अरिसिंह दोनों एक ही गुरु के सहपाठी शिष्य प्रतीत होते हैं। इनके गुरु का नाम था जिनदत्त सूरि। वीरधवल तथा वस्तुपाल के समकालीन होने से इन दोनों ग्रन्थकारों का समय १३ शतक का मध्यभाग है। 'काव्यकल्पलतावृत्ति' में चार प्रतान (खण्ड) हैं और प्रत्येक प्रतान के भीतर अनेक स्तबक (अध्याय) हैं। इन प्रतानों के विषय क्रमशः हैं—(१) छन्दसिद्धि, (२) शब्दसिद्धि, (३) श्लेषसिद्धि और (४) अर्थसिद्धि। कविता सीखने के लिए यह नितान्त उपादेय ग्रन्थ है[1]।

२८—देवेश्वर

कविशिक्षा पर दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है—कविकल्पलता। इसके रचयिता का नाम देवेश्वर है। इनके पिता का नाम वाग्भट था जो मालवा के राजा के महामात्य थे। देवेश्वर ने अपने ग्रन्थ के लिए अमरचन्द्र की काव्यकल्पलता को ही अपना आदर्श माना है। विषय के विन्यास में ही वे उनके ऋणी नहीं हैं, बल्कि बहुत से नियमों तथा लक्षणों का अक्षरशः ग्रहण देवेश्वर ने अपने ग्रन्थ में किया है। ये अमरचन्द्र के द्वारा दिये गए उदाहरणों को भी देने में संकोच नहीं करते। यह केवल आकस्मिक घटना नहीं है प्रत्युत व्यवस्थित रूप से जान-बूझकर ऐसा किया गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्होंने काव्यकल्पलता के अनन्तर ही अपने इस नवीन ग्रन्थ की रचना की।

देवेश्वर का एक पद्य शार्ङ्गधरपद्धति में उद्धृत किया गया है (नं० ५४५)। इस सूक्तिग्रन्थ की रचना १३६३ ई० में की गई थी। इसलिए १४वीं शताब्दी का मध्यभाग देवेश्वर के समय की अन्तिम अवधि है। इस प्रकार इनका समय अमरचन्द्र तथा शार्ङ्गधर के बीच में अर्थात् १४वीं शताब्दी के आरम्भ में मानना उचित है। देवेश्वर की 'कविकल्पलता' के ऊपर अनेक टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं।

---

१ सं० काशी संस्कृत सीरीज, नं० १०, काशी, १९३१।

२१—जयदेव

जयदेव का 'चन्द्रालोक' अलङ्कार शास्त्र का सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रंथ है। इसकी लोकप्रियता का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि राजा जसवन्त सिंह ने इसका हिन्दी मे 'भाषा भूषण' के नाम से अनुवाद किया है। जयदेव ने अपना दूसरा नाम 'पीयूषवर्ष' लिखा है[1]। इनके टीकाकार गागाभट्ट के अनुसार पीयूषवर्ष जयदेव का ही नामान्तर था[2]। ये महादेव तथा सुमित्रा के पुत्र थे[3]। प्रसन्नराघव के रचयिता जयदेव ने भी अपने को महादेव और सुमित्रा का पुत्र बतलाया है[4]। इससे स्पष्ट है कि आलङ्कारिक जयदेव तथा कवि जयदेव एक ही व्यक्ति थे। ये गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव से नितान्त भिन्न हैं। गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव, भोजदेव तथा रामादेवी के पुत्र थे तथा बंगाल के किन्दुबिल्व नामक गाँव के निवासी थे। यह स्थान बंगाल के वीरभूमि जिले मे कदुली के नाम से आज भी विद्यमान है जहाँ पुण्यश्लोक जयदेव की स्मृति मे विशेष तिथि पर वैष्णवो का बडा भारी मेला लगता है। पीयूषवर्ष जयदेव बंगाल के निवासी नही प्रतीत होते। प्रसन्नराघव की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि जयदेव बडे भारी नैयायिक थे[5]। मिथिला मे यह किंवदन्ती है कि चन्द्रालोक के रचयिता ही नैयायिक जगत मे पक्षधर मिश्र' के नाम से प्रसिद्ध थे। पक्षधर मिश्र के न्यायग्रंथो के नाम के अन्त मे 'आलोक' शब्द आता है जैसे मण्यालोक। परन्तु जयदेव और पक्षधर मिश्र की अभिन्नता पुष्ट प्रमाणो के द्वारा अभी तक प्रमाणित नहीं की जा सकी है।

---

१ चन्द्रालोकममु स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती।

—चन्द्रालोक १।२।

२ जयदेवस्यैव पीयूषवर्ष इति नामान्तरम्।

—गागाभट्ट—राकागम।

३ महादेवः सत्रप्रमुखमखविघ्नैकचतुरः।
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ॥

—चन्द्रालोक १।१६।

४ प्रसन्नराघव, अंक १, श्लोक १४।१५।

५ ननु अयं प्रमाणप्रवीणोऽपि श्रूयते।
येषां कोमलकाव्यकौशलकला लीलावती भारती।
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते॥

—प्रसन्नराघव १।१८।

समय

जयदेव के समय का निरूपण अभी तक निःसन्दिग्ध प्रमाणों के आधार पर नहीं हो सका है। अनुमान के द्वारा पता चलता है कि इनका समय १२०० ई० से पश्चात् नहीं हो सकता। इनके टीकाकार प्रद्योतनभट्ट ने 'शारदागम' नामक टीका का प्रणयन १५८३ ई० में किया। विश्वनाथ कविराज ने ध्वनि के उदाहरण में प्रसन्नराघव का यह प्रसिद्ध श्लोक अपने साहित्य दर्पण (४।३) में उद्धृत किया है—

कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

प्रसन्नराघव के कतिपय श्लोक शार्ङ्गधर-पद्धति में उद्धृत किये गये हैं। इस पद्धति का निर्माणकाल १३६३ ई० है। जयदेव के समय की यही अन्तिम अवधि है। ऊपरी अवधि के समय में अनुमान किया जा सकता है। इन्होंने मम्मट के काव्यलक्षण "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि"—का खण्डन करते हुए यह सुन्दर पद्य लिखा है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

—चन्द्रालोक १।८

अतः जयदेव का मम्मट से पश्चाद्वर्ती होना युक्तियुक्त है। ये रुय्यक के 'अलंकार-सर्वस्व' से भी पूर्णतः परिचित हैं। ऊपर दिखलाया गया है कि रुय्यक ने ही सर्वप्रथम विचित्र तथा विकल्प नामक दो नवीन अलंकारों की कल्पना काव्यजगत् में की। जयदेव ने भी इन दोनों अलंकारों को 'सर्वस्वकार' के शब्दों में ही अपने ग्रन्थ में दिया है। अतः जयदेव रुय्यक के भी पश्चाद्वर्ती हैं। अतः रुय्यक (१२०० ई०) तथा शार्ङ्गधर (१३५० ई०) के मध्यवर्ती होने के कारण जयदेव का समय १३ वीं शताब्दी का मध्यभाग भली भाँति माना जा सकता है।

ग्रन्थ

इनका अलंकार शास्त्र-संबंधी एक ही ग्रंथ चन्द्रालोक है। यह पूरा ग्रंथ १० मयूखों या अध्यायों में समाप्त है तथा इसमें ३५० अनुष्टुप् श्लोक हैं। इसकी भाषा बड़ी ही रोचक तथा सुन्दर है। शैली बहुत ही सरस तथा सुन्दर है। पहले मयूख में काव्य के लक्षण, काव्य के हेतु तथा शब्द के त्रिविध प्रकार (रूढ, यौगिक, योगरूढि) का वर्णन है। द्वितीय मयूख दोषों का निरूपण करता है तथा तृतीय लक्षण नामक काव्यांग का। चतुर्थ में दश गुणों का विवेचन है तथा पंचम में पाँच शब्दालंकारों तथा एक सौ अर्थालंकारों का विशिष्ट वर्णन है। छठवें मयूख में रस, भाव, त्रिविध रीति—गौडी, पाञ्चाली, लाटी तथा पाँच वृत्तियों—मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता

तथा भद्रा का विवेचन है। सप्तम मे व्यजना तथा ध्वनिकाव्य के भेदों का, अष्टम मे गुणीभूत व्यग्य के प्रकारों का वर्णन है। अन्तिम दो मयूखो मे क्रमश लक्षणा तथा अभिधा का वणन देकर जयदेव ने अपना सुबोध ग्रथ समाप्त किया है।

इस ग्रथ की विशेषता यह है कि एक ही श्लोक मे अलंकार का लक्षण तथा उसका उदाहरण भी दिया गया है। इस प्रकार समास शैली मे अलकार का इतना सुन्दर विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नही। इस पद्धति को दिखलाने के लिये एक दो पद्य नीचे दिये जाते हैं--

व्यतिरेको विशेषश्चेद् उपमानोपमेययो।
शैला इवोन्नता सन्त किन्तु प्रकृतिकोमला ॥--५।५९
विभावना विनापि स्यात् कारण कार्यजन्म चेत्।
पश्य लाक्षारसासिक्त रक्त त्वच्चरणद्वयम् ॥--५।७७

इस सुबोध शैली के कारण यह ग्रथ अलकार के जिज्ञासुओ के लिए इतना उपादेय सिद्ध हुआ कि अप्पयदीक्षित ने इस ग्रंथ के अलकार भाग को अपने कुवलयानन्द मे पूर्णतया उठाकर रख दिया है। इन्होने कतिपय नये उदाहरण देकर अपनी एक पाण्डित्यपूर्ण वृत्ति जोड दी है। इस बात को इन्होंने अपने ग्रंथ के अन्त मे स्पष्टत: स्वीकार किया है--

चन्द्रालोको विजयतां शरदागमसभव।
हृद्य: कुवलयानन्दो यत्-प्रसादादभूदयम् ॥

इस पद्य का आशय यह है कि शरदागम मे उत्पन्न होने वाले चन्द्रालोक की विजय हो जिसके प्रसाद से यह रमणीय कुवलयानन्द प्रादुर्भूत हुआ। शरद् के आगमन से ही चन्द्र का आलोक स्पष्ट दीख पडता है और तभी कुमुद विकसित होता है। श्लेषालकार के द्वारा ग्रथकार चन्द्रालोक को कुवलयानन्द का आधारग्रन्थ मानता है। शरदागम शब्द भी श्लेष के बल से चन्द्रालोक की टीका का निर्देश कर रहा है जिसे प्रद्योतनभट्ट ने १५८३ ई० मे लिखा था।

टीका

जयदेव का यह ग्रंथ अलकारजगत् मे अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। इसके ऊपर ७ टीकाएँ उपलब्ध होती हैं जिनमे (१) दीपिका, (२) शारदशर्वरी एव (३) वाजचन्द्र की टीका हस्तलिखित रूप मे उपलब्ध है। इसकी प्रकाशित टीकाओ मे सबसे प्राचीन टीका है (४) 'शरदागम'[1]। इसके लेखक अपने समय के बडे भारी

---

[1] यह टीका म० म० नारायण शास्त्री खिस्ते के सपादकत्व मे काशी सस्कृत सीरीज मे (न० ७५) प्रकाशित हुई है।

विद्वान् थे। ये बलभद्र मिश्र के पुत्र थे। इनके आश्रयदाता का नाम वीरभद्रदेव या वीरभद्रदेव था, जो बुन्देलखण्ड के राजा थ। इस टीका का निर्माण १५८३ ई० मे हुआ। इनके आश्रयदाता भी १६वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे विद्यमान थे, क्योकि वात्स्यायन के कामशास्त्र के ऊपर उनकी लिखी 'कन्दर्पचूडामणि' नामक टीका १५७७ ई० मे समाप्त हुई थी।

(५) रमा[1]—इसके लेखक का नाम वैद्यनाथ पायगुण्ड है। वैद्यनाथ तत्सत् गोविन्द ठक्कुर के 'काव्यप्रदीप' तथा अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द के टीकाकार है। अनेक ग्रथ सूचियो मे दोनो एक ही व्यक्ति माने गये हैं, परन्तु दोनो के कुलनाम बिल्कुल भिन्न हैं। 'रमा' टीका के आरम्भिक पद्यो में वैद्यनाथ ने अपने को स्पष्टत 'पायगुण्ड' लिखा है। अत उनको तत्सत् गोत्रीय वैद्यनाथ से पृथक् भिन्न व्यक्ति मानना ही न्यायसगत प्रतीत होता है।

(६) राकागम[2] या सुधा—इसके लेखक का नाम विश्वेश्वर भट्ट है जो 'गागाभट्ट' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होने इसके अतिरिक्त मीमासा शास्त्र तथा स्मृतियो के ऊपर अनेक ग्रथो का निर्माण किया है। ये काशी के भट्ट वश के अवतस थे। ये सुप्रसिद्ध धर्मशास्त्री कमलाकर भट्ट के भतीजे थे। ये अपने समय के काशी के इतने सुप्रसिद्ध विद्वान् थे कि छत्रपति शिवाजी के राज्याभिषेक कराने के लिए ये ही नियुक्त किए गये थे। इनका मुख्य विषय मीमासा तथा धर्मशास्त्र था।

३०—विद्याधर

समय

एकावली के रचयिता विद्याधर के ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसके समस्त उदाहरण विद्याधर के द्वारा ही विरचित हैं तथा इनके आश्रयदाता उत्कल के राजा नरसिंह की स्तुति मे लिखे गये हैं[3]। इस उल्लेख से इनके समय का निरूपण भली-भाँति हो जाता है। विद्याधर ने रुय्यक का उल्लेख अपने ग्रथ मे किया है (एकावली, पृ० १५०), जिससे इनके समय की उत्तर अवधि १२ वी शताब्दी का मध्यकाल है। नैषध के रचयिता श्रीहर्ष के उल्लेख करने से इसी अवधि की पुष्टि होती है। विद्याधर ने इसी प्रसग मे हरिहर नामक कवि का भी उल्लेख किया है जिन्होने अर्जुन नामक

---

१ काशी, चौखम्भा से प्रकाशित।

२ यह टीका चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी से प्रकाशित हुई है।

३ एष विद्याधरस्तेषु कान्तासम्मितलक्षणम्।
करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन्॥ एकावली।

राजा ने अपनी काव्यप्रतिभा के बल पर असख्य धन प्राप्त किया था। इनका समय १३वी शताब्दी का आरम्भ काल है। इनके समय की पूर्व अवधि का पता मल्लिनाथ (१४वी शताब्दी का अन्त) द्वारा टीका लिखने से तथा शिगभूपाल (१३३० ई०) के द्वारा उल्लिखित[1] होने से चलता है। अत इनका समय १३वें शतक का उत्तरार्द्ध मानना युक्तियुक्त है। जिस राजा नरसिंह का इन्होंने वर्णन किया है वे उडीसा के राजा नरसिंह द्वितीय माने जाते हैं, जिनका समय १२८० ई० से १३१४ ई० है। अत. 'एकावली' का रचनाकाल १३ वें शतक का अन्त तथा १४वें का आरम्भ है।

ग्रन्थ

एकावली मे आठ उन्मेष या अध्याय हैं, जिनमे काव्यस्वरूप, वृत्तिविचार, ध्वनिभेद, गुणीभूत व्यग्य, गुण और रीति, दोष, शब्दालकार तथा अर्थालकार का विवेचन क्रमश किया गया है। यह ग्रन्थ काव्यप्रकाश तथा अलकारसर्वस्व पर आधारित है। वस्तुत यह काव्यप्रकाश का सक्षिप्त सस्करण है। इसकी एकमात्र टीका का नाम तरला है जिसके लेखक संस्कृत महाकाव्यो के सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ (१४वें शतक का अन्तिम काल) हैं। एकावली पर टीका लिखने के कारण ही मल्लिनाथ ने महाकाव्यों की अपनी टीका मे अलंकारो के निर्देश के अवसर पर एकावली का ही उद्धरण दिया हैं। 'तरला' एक आदर्श टीका है जो मूल के साथ बाम्बे सस्कृत सीरीज मे प्रकाशित हुई है।

३१—विद्यानाथ

समय

विद्यानाथ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के रचयिता हैं। यह ग्रन्थ दक्षिण भारत मे बहुत ही लोकप्रिय है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण। इसमें जितने उदाहरण हैं वे सब विद्यानाथ की रचना है, जिसमें प्रतापरुद्रदेव (वीररुद्र या रुद्र) नामक काकतीयवशीय नरेश की स्तुति है[2]। इनकी स्तुति मे विद्यानाथ ने

१ उत्कलाधिपते श्रृंगाररसाभिमानिनो नरसिंहदेवस्य चित्तमनुवर्तमानेन विद्याधरेण कविना बाटमभ्यन्तरीकृतोऽसि। एव खलु मर्मायितमेकावल्यामनेन। रसार्णवसुधाकर, पृ० २०६ (अनन्तशयन)।

२ प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मित।
अलकारप्रबन्धोऽय सन्त कर्णोत्सवोऽस्तु व ॥ —प्रतापरुद्रयशोभूषण १।९

अपने ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में अलङ्कार के अंगों तथा उपांगों के उदाहरण में 'प्रतापरुद्रकल्याण' नामक नाटक की रचना कर निविष्ट कर दिया है। प्रतापरुद्र काकतीय नरेश बतलाये जाते हैं जिनकी राजधानी एकशिला नगरी त्रिलिंग देश या आन्ध्र देश में थी। प्रतापरुद्रदेव बड़े प्रतापी नरेश थे। इन्होंने यादववंशी नरेश सेवण (देवगिरि के राजा रामदेव १२७१–१३०९ ई०) को परास्त किया था। इस वर्णन के आधार पर प्रोफेसर के० पी० त्रिवेदी ने विद्यानाथ के आश्रयदाता प्रतापरुद्र की एकशिला (वारंगल) के सप्तम काकतीय नरेश के साथ अभिन्नता सिद्ध की है जिनके शिलालेख १२९८ ई० से १३१७ ई० तक उपलब्ध होते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रतापरुद्रदेव ने १३वीं शताब्दी के अन्त तथा १४वीं के प्रथमार्ध में राज्य किया था। अतः विद्यानाथ का भी यही समय है। इनके ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से भी यही बात सिद्ध होती है। विद्यानाथ ने रुय्यक का उल्लेख किया है तथा उनका स्वतः उल्लेख मल्लिनाथ ने काव्य की अपनी टीकाओं में बिना नाम-निर्देश किये अनेक बार किया है। इन निर्देशों से भी इसी समय की पुष्टि होती है।

ग्रन्थ

इस ग्रन्थ में नव प्रकरण हैं जिनमें नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा मिश्रालंकार का विवेचन क्रमशः किया गया है। ग्रन्थकार ने मम्मट को ही अपना आदर्श माना है, परन्तु अलंकार के विषय में वे रुय्यक के ऋणी हैं। इसीलिए परिणाम, उल्लेख, विचित्र तथा विकल्प नामक अलंकार—जिनका मम्मट ने अपने ग्रन्थ में वर्णन नहीं किया है—रुय्यक के आधार पर इन्होंने अपने ग्रन्थ में दिया है। इसके टीकाकार कुमारस्वामी हैं, जो अपने को काव्यग्रन्थों के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार मल्लिनाथ का पुत्र बतलाते हैं। अतः कुमारस्वामी का समय १५वीं शताब्दी का आरम्भ है। इस टीका का नाम 'रत्नापण' है जो बहुत ही विद्वत्तापूर्ण टीका है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण मिलते हैं, जिनमें मुख्य ये हैं—भोज का शृंगारप्रकाश, शिंगभूपाल का रसार्णवसुधाकर, एकावली तथा मल्लिनाथ की 'तरला' टीका, साहित्यदर्पण, चक्रवर्ती (रुय्यक के ग्रन्थ पर संजीवनी नामक टीका के कर्ता)। इन्होंने भावप्रकाश का भी उल्लेख किया है जिनके रचयिता शारदातनय हैं। इन्होंने वसन्तराज के द्वारा निर्मित वसन्तराजीय नाट्यशास्त्र का भी उल्लेख अपने ग्रंथ में किया है।

'रत्नापण' टीका के साथ मूल ग्रंथ का सुन्दर संस्करण प्रोफेसर के० पी० त्रिवेदी ने बाम्बे संस्कृत सीरीज में प्रकाशित किया है। इसके ऊपर 'रत्नशाण' नामक कोई अन्य टीका भी इसी संस्करण के साथ प्रकाशित की गई है।

३२—विश्वनाथ कविराज

जीवनी

साहित्य दर्पण के रचयिता विश्वनाथ कविराज अलकार-जगत् मे सबसे अधिक लोकप्रिय आलकारिक हैं। ये उत्कल के बडे प्रतिष्ठित पण्डित कुल मे पैदा हुए थे। विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर थे[1] जो अपने पुत्र के समान ही कवि, विद्वान् तथा सान्धिविग्रहिक थे। विश्वनाथ ने अपने पिता के ग्रन्थ 'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव' का उल्लेख अपने ग्रन्थ मे किया है। नारायण, जिन्होंने अलकारशास्त्र पर ग्रन्थो की रचना की थी—या तो विश्वनाथ के पितामह थे अथवा वृद्ध प्रपितामह थे, क्योकि काव्य-प्रकाश की टीका मे विश्वनाथ ने नारायण का 'अस्मद् पितामह' कहकर निर्देश किया है[2], परन्तु साहित्य-दर्पण मे उन्ही का वे 'अस्मद् वृद्धप्रपितामह' कहकर उल्लेख किया है[3]। काव्यप्रकाश की दीपिका टीका के रचयिता चण्डीदास भी विश्वनाथ के पितामह के अनुज थे। विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश की टीका मे बहुत से संस्कृत शब्दो के उडिया भाषा के पर्यायवाची शब्दों को दिया है[4]। इससे पता चलता है कि ये उडीसा के निवासी थे। विश्वनाथ के पिता तथा विश्वनाथ दोनो ही किसी राजा के सान्धिविग्रहिक (वैदेशिक मन्त्री) थे। सम्भवत यह राजा कलिंग देश का ही अधिपति था।

ग्रन्थ

विश्वनाथ एक सिद्ध कवि थे। ये सस्कृत तथा प्राकृत के ही पण्डित न थे, प्रत्युत अनेक भाषाओ के विद्वान् थे। इसीलिए उन्होने अपने को 'षोडशभाषावारविलासिनी-भुजग' लिखा है[5]। इनके द्वारा निर्मित काव्यग्रन्थ—जिनका निर्देश इन्होने स्वय अपने ग्रथो मे किया है, ये हैं—(१) राघवविलास नामक सस्कृत महाकाव्य, (२) कुवलयाश्वचरित—प्राकृत भाषा मे निबद्ध काव्य, (३) प्रभावतीपरिणय

१ श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनु। —साहित्यदर्पण अन्तिम श्लोक।

२ यदाहु श्रीकलिंगभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेवसभाया धर्मदत्त स्थगयन्त. अस्मत्पितामहश्रीमन्नारायणदास-पादा:।

३ तत्प्राणत्व चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायण-पादैरुक्तम्। साहित्यदर्पण ३।२-३।

४ वैपरीत्य रुचि कुर्विति पाठ, अत्र त्रिकुपद काश्मीरादिभाषाया अश्लीलार्थबोधकम्, उत्कलादिभाषाया धनवाडकादि इत्यादि।

काव्यप्रकाश—वामनाचार्य की भूमिका, पृ० २५।

५ द्रष्टव्य—साहित्यदर्पण के प्रथम अध्याय की पुष्पिका।

(नाटिका), (४) चन्द्रकला नाटिका[1], (५) प्रशस्तिरत्नावली (यह षोडश भाषाओं मे निबद्ध 'करम्भक' है)। इन सब काव्यों का निर्देश विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण मे स्वय किया है। इन्होने (६) नरसिंहविजय नामक काव्य की भी रचना की थी जिसका निर्देश 'काव्यप्रकाशदर्पण' से मिलता है।

विश्वनाथ ने मम्मट तथा रुय्यक का यद्यपि नामत उल्लेख नही किया है तथापि यह निर्विवाद है कि ये इन आचार्यों के ग्रन्थों से पूर्णत परिचित थे। मम्मट के काव्यलक्षण का खण्डन इन्होने अपने ग्रथ के प्रारम्भ मे किया है। दशम अध्याय मे इन्होंने विकल्प तथा विचित्र नामक अलकारों का लक्षण दिया है, जो जयरथ के प्रामाण्य पर रुय्यक की मौलिक कल्पना से प्रसूत थे। विश्वनाथ ने गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव का एक पद्य 'निश्चय' अलकार के उदाहरण मे उद्धृत किया है[2]। राजा लक्ष्मणसेन के सभापण्डितों मे अन्यतम कविवर जयदेव का समय १२ वीं शताब्दी का प्रथमार्ध है। इन्होने प्रसन्नराघव से भी एक पद्य उद्धृत किया है[3]। ये नैषधचरित काव्य से भी पूर्ण परिचित हैं[4]। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि विश्वनाथ का समय १२०० ई० पूर्व कथमपि नही हो सकता।

विश्वनाथ के समय की पूर्व अवधि का निर्देश उनके साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्रति के लेखनकाल से मिलता है जो १४४० संवत् (१३८४ ई०) में लिखी गई थी। इस प्रकार विश्वनाथ का समय साधारणतया १२०० ई० से लेकर १३५० ई० के बीच माना जा सकता है। साहित्यदर्पण की अन्तरग परीक्षा से यह कालनिर्देश और भी निश्चित रूप से किया जा सकता है। साहित्यदर्पण के एक पद्य मे अल्लावदीन नामक एक मुसल्मान राजा का उल्लेख है, जो सन्धि के अवसर पर सर्वस्व हरण कर लेना था और सग्राम करने पर प्राण का हरण करता है—

---

१ काशी संस्कृत ग्रन्थमाला (सं० १७७) में चौखम्भा कार्यालय द्वारा प्रकाशित १९६७।

२ हृदि बिसलताहारो नाय भुजगमनायक. ।
—गीतगोविन्द ३।११

३. कदली कदली करभ करभ करिराजकर करिराजकर ।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुग न चमूरुदृश ॥
—साहित्यदर्पण ४।३

४ धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इत स्तुति का खलु चन्द्रिकाया, यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥
नैषध ३।११६—साहित्यदर्पण १०।५०

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥

—सा० द० ४।१४

इस पद्य में निर्दिष्ट 'अल्लावदीन' दिल्ली का सुलतान 'अलाउद्दीन खिलजी' ही प्रतीत होता है जिसने दक्षिण पर आक्रमण कर वारंगल जीत लिया था और जिसके निष्ठुर व्यवहार का परिचय प्रत्येक भारतवासी को मिल चुका था। यह अलाउद्दीन दिल्ली के सिंहासन पर १२९६ से १३१६ ई० तक राज्य करता रहा। सम्भव है कि यह पद्य अलाउद्दीन के समय में ही लिखा गया हो। अतः विश्वनाथ का समय १३०० ई० से १३५० के बीच में मानना उचित प्रतीत होता है।

साहित्यदर्पण

विश्वनाथ कविराज की सबसे प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय रचना साहित्य दर्पण है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें श्रव्य काव्य के विपुल वर्णन के साथ ही साथ दृश्य काव्य का भी सुन्दर विवरण उपस्थित किया गया है। इस प्रकार काव्य के दोनों भेदों – श्रव्य तथा दृश्य—का वर्णन कर विश्वनाथ ने इसे पूर्ण ग्रन्थ बना दिया है। इस ग्रन्थ में दश परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य के स्वरूप तथा भेद का वर्णन है। द्वितीय में वाक्य तथा पद के लक्षण देने के अनन्तर ग्रन्थकार ने शब्द की तीनों शक्तियों का वर्णन विस्तार के साथ किया है। तृतीय परिच्छेद में रस, भाव तथा नायक नायिका भेद एवं तत्सम्बद्ध अन्य विषयों का बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत विवरण है। चतुर्थ परिच्छेद में ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य के प्रकारों का वर्णन कर ग्रन्थकार ने पंचम परिच्छेद में व्यंजना वृत्ति की स्थापना के लिए अकाट्य युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं तथा व्यंजना वृत्ति के न माननेवाले विद्वानों की युक्तियों का पर्याप्त खण्डन किया है। षष्ठ परिच्छेद में नाटक के लक्षण तथा भेदों का बड़ा ही पूर्ण निरूपण है। सप्तम परिच्छेद में दोषों का तथा अष्टम में गुणों का विवेचन किया गया है। नवम में विश्वनाथ ने काव्य की चार रीतियों – वैदर्भी, गौडी, लाटी और पांचाली—का संक्षिप्त वर्णन किया है। दशम परिच्छेद में शब्द तथा अर्थ, दोनों के अलंकारों का विस्तार से वर्णन कर यह ग्रन्थ समाप्त किया गया है। इस ग्रन्थ के लिखने के अनन्तर विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश की टीका 'काव्यप्रकाशदर्पण' के नाम से लिखी।

टीका

साहित्यदर्पण के ऊपर चार टीकाएँ उपलब्ध होती हैं, जिनमें मथुरानाथ शुक्ल कृत 'टिप्पण' तथा गोपीनाथकृत 'प्रभा' अभीतक अप्रकाशित हैं। प्रकाशित टीकाओं

मे प्राचीनतर टीका का नाम 'लोचन' है जिसे विश्वनाथ कविराज के सुयोग्य पुत्र अनन्तदास ने लिखा है। यह टीका मोतीलाल बनारसीदास (लाहौर) ने प्रकाशित की है। इससे अधिक प्रसिद्ध टीका रामचरण तर्कवागीश कृत विवृति नाम्नी है जो अत्यन्त लोकप्रिय है। ये टीकाकार पश्चिमी बंगाल के निवासी थे। इस टीका की रचना का काल १७०१ ई० है। साहित्य दर्पण को समझने के लिए यह टीका अत्यन्त उपादेय है।

वैशिष्ट्य

विश्वनाथ कविराज आलंकारिक होने की अपेक्षा कवि ही अधिक हैं। इनकी प्रतिभा का विलास काव्यक्षेत्र मे जितना दिखलाई पडता है, उतना अलंकार के क्षेत्र मे नहीं। अनेक महाकाव्यो का प्रणयन इसका स्पष्ट प्रमाण है। इनके पद्यों मे कोमल पदावली का विन्यास सचमुच अत्यन्त सुन्दर हुआ है। आलंकारिक की दृष्टि से हम विश्वनाथ को मौलिक ग्रन्थकार नही मान सकते। इनका साहित्यदर्पण, मम्मट तथा रुय्यक के ग्रन्थो की सामग्री को लेकर लिखा गया एक संग्रह-ग्रन्थ है। यह शास्त्रीय पद्धति जो पण्डितराज जगन्नाथ के लेख मे दीख पडती है एवं वह आलोचक दृष्टि जो मम्मट के ग्रन्थ मे उपलब्ध होती है विश्वनाथ के ग्रन्थ मे देखने को भी नहीं मिलती। परन्तु इस ग्रन्थ मे अनेक गुण हैं जो इसकी लोकप्रियता के कारण हैं। इस ग्रन्थ की शैली बडी ही रोचक तथा सुबोध है। मम्मट के काव्यप्रकाश की शैली समासमयी होने के कारण इतनी दुर्बोध है कि साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी उसमें कठिनता से प्रवेश पाता है। पण्डितराज जगन्नाथ की शैली इतनी शास्त्रीय तथा जटिल है कि उससे पाठक भयभीत हो उठता है। इन दोनो की तुलना मे साहित्य-दर्पण सुबोध तथा रोचक भाषा मे लिखा गया है। इसके उदाहरण ललित तथा आकर्षक है। इसकी व्याख्यायें संक्षिप्त होनेपर भी विषय को विशद रूप से समझाती हैं। एक ही स्थान पर नाट्य तथा काव्य दोनों का विवेचन इस ग्रन्थ को छोडकर अन्यत्र कम उपलब्ध होता है। यही कारण है कि साहित्यदर्पण अलंकार-शास्त्र मे प्रवेश करनेवाले छात्रों का सबसे सरल मार्ग दर्शक ग्रन्थ माना जाता है।

३३—केशव मिश्र

इनके ग्रन्थ का नाम अलंकारशेखर है[1]। इसके आरम्भ तथा अन्त में इनका कहना है कि धर्मचन्द्र के पुत्र राजा माणिक्यचन्द्र के आग्रह पर इन्होंने इस ग्रन्थ को

१. काव्यमाला बम्बई (नं० ५०), सन् १८९५ तथा काशी संस्कृत सीरीज नं० १ मे प्रकाशित।

रचना की। राजा धर्मचन्द्र रामचन्द्र के पुत्र थे जो दिल्ली के पास राज्य करते थे और जिन्होंने काबिल (काबुल अर्थात् मुसलमान) के राजा को परास्त किया था। कनिंघम के अनुसार कांगड़ा के राजा माणिक्यचन्द्र ने धर्मचन्द्र के अनन्तर १५६३ ई० में राज्य प्राप्त किया और दस वर्ष तक राज्य किया। इस राजा की वंशावली केशव मिश्र के आश्रयदाता राजा माणिक्यचन्द्र से मिलने के कारण ये दोनों एक ही अभिन्न व्यक्ति थे। इसलिए केशव मिश्र का समय १६वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

'अलंकारशेखर' में तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। ग्रंथकार का कहना है कि उन्होंने अपनी कारिकाओं (सूत्रों) को किसी भगवान शौद्धोदनि नामक आलंकारिक के ग्रन्थ के आधार पर ही निर्मित किया है। ये शौद्धोदनि सम्भवत कोई बौद्ध ग्रंथकार थे, परन्तु इनका नाम अलंकार साहित्य में नितान्त अज्ञात है। केशव मिश्र ने काव्यादर्श, काव्यमीमांसा, ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश आदि ग्रंथों से बहुत सी सामग्री अपने ग्रन्थ में ली है। इन्होंने श्रीपाद नामक किसी आलंकारिक का निर्देश किया है। ये श्रीपाद साहित्यशास्त्र में अब तक अज्ञातनामा हैं। सम्भव है कि केशव मिश्र के आधारभूत लेखक शौद्धोदनि ही श्रीपाद हों। इन्होंने किसी कविकल्पलताकार का भी निर्देश किया है जो श्रीपाद के मतानुसारी बतलाये गये हैं। इस 'कविकल्पलता' के लेखक न तो देवेश्वर हैं न अमरचन्द्र।

इस ग्रंथ—अलंकारशेखर—में आठ रत्न या अध्याय और २२ मरीचि हैं जिनके विषय इस प्रकार हैं—काव्य लक्षण, रीति, शब्दशक्ति, पद के आठ दोष, वाक्य के १८ दोष, अर्थ के आठ दोष, शब्द के ५ गुण, अर्थ के ४ गुण, दोष का गुणभाव, शब्दालंकार, अर्थालंकार, रूपक के भेद आदि विषयों के वर्णन के अनन्तर रस निरूपण तथा नायिका भेद का निरूपण किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के विषयों का संक्षेप रूप से वर्णन प्रस्तुत करता है।

३४—शारदातनय

समय

शारदातनय के व्यक्तिगत नाम का हमें परिचय नहीं मिलता। ग्रंथकार अपने को शारदादेवी का पुत्र बतलाता है और इसीलिए वह 'शारदातनय' के नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवत ये काश्मीर के निवासी थे। इनका समय १३वीं शताब्दी का मध्यकाल सिद्ध किया जा सकता है। अपने ग्रंथ में इन्होंने भोज के मत का विशेष रूप से उल्लेख किया है तथा शृङ्गारप्रकाश से और काव्यप्रकाश से अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है जिससे स्पष्ट है कि इनका समय १२वीं शताब्दी के अनन्तर होगा। अर्वाचीन ग्रंथकारों में सिंह भूपाल ने रसार्णव सुधाकर में इनके मत का निर्देश किया है।

सिंहभूपाल का समय है १३२० ई० के आसपास। अतः भोज तथा सिंहभूपाल के मध्यवर्ती काल में आविर्भूत होने के कारण इनका समय १२५० ई० अर्थात् १३वें शतक का मध्यभाग सिद्ध होता है।

ग्रन्थ

इनके ग्रन्थ का नाम है—भावप्रकाशन[1]। नाट्यविषयक ग्रंथों में इस ग्रन्थ का स्थान नितान्त महत्त्वपूर्ण है। अनेक अज्ञात रसाचार्यों के—जैसे वासुकि, नारद, व्यास आदि के—मतों का निर्देश ग्रंथ में किया गया है। प्राचीन नाट्याचार्य के इतिहास तथा मत जानने के लिए भी यह ग्रंथ उपयोगी सिद्ध होता है। प्रतिपाद्य विषय चार हैं—(१) भाव, (२) रस, (३) शब्दार्थ सम्बन्ध तथा (४) रूपक। ग्रन्थ में सम्पूर्ण १० अधिकार या अध्याय हैं जिनमें (१) भाव, (२) रस का स्वरूप, (३) रस के भेद, (४) नायक नायिका, (५) नायिकाभेद (६) शब्दार्थ सम्बन्ध, (७) नाट्य इतिहास तथा शरीर, (८) दशरूपक, (९) नृत्य-भेद तथा (१०) नाट्य-प्रयोग का विवरण क्रमशः प्रस्तुत किया गया है। नाम के अनुसार 'भावप्रकाशन' भाव तथा रस के नाना प्रकार की समस्याओं को हल करने का एक विराट् महत्त्व-शाली ग्रंथ है। नाट्य सम्बन्धी उपकरणों तथा उपादेय प्रभेदों का विवरण भी यहाँ विस्तार से किया गया है। नाट्य के सिद्धान्त के वर्णन के साथ ही साथ नाट्य के व्यावहारिक रूप का भी सुन्दर विवेचन है। इस प्रकार यह ग्रंथ नाट्य तथा रस के विशिष्ट ज्ञान के लिए एक प्रामाणिक कोश का काम करता है। इसीसे इसकी दूसरी उपयोगिता सिद्ध होती है।

३५—शिंगभूपाल

ये नाट्य तथा संगीत दोनों विषयों के आचार्य हैं। इनका समय जानने से पहले भारतीय संगीत का सामान्य ज्ञान रखना आवश्यक है। भारत में संगीतशास्त्र की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन काल में हुई थी। वह काल वैदिक काल से भी प्राचीन होना चाहिए, क्योंकि वेद के समय में तो संगीत की अच्छी उन्नति दिखाई पड़ती है। सामवेद से हम संगीत शास्त्र की विशिष्ट उन्नति का यथोचित पता पा सकते हैं। परन्तु खेद से कहना पड़ता है कि संगीतविषयक अधिकांश ग्रन्थ कराल काल के ग्रास बन गये हैं। यदि समग्र ग्रन्थ इस समय उपलब्ध रहते, तो इस शास्त्र का क्रमबद्ध विकासशील इतिहास

१ गा० ओ० सी० संख्या ४५, १९३० में प्रकाशित। सम्पादक ने विस्तृत भूमिका लिखकर इसकी उपयोगिता और भी बढ़ा दी है।

सहज में ही लिखा जा सकता था। 'संगीतमकरंद' के द्वितीय परिशिष्ट पर एक सरसरी निगाह डालने से यह शीघ्र पता लग सकता है कि भारतीय संगीतशास्त्र का अध्ययन तथा अध्यापन कितने जोरों के साथ प्राचीन काल में हुआ करता था। यह शास्त्र किसी भी शास्त्र से तनिक भी पीछे न था। संगीत धर्म के साथ सम्बद्ध था, प्राचीन अनेक ऋषि—नारद, हनुमान्, तुम्बरु, कोहल, मातंग, वेणा—इसके आचार्य थे, जिन्होंने संगीत पर ग्रन्थों की रचना की थी। परन्तु संगीत की अनेक पुस्तकें अब तक तालपत्रों पर हस्तलिखित प्रतियों के रूप में ही पुस्तकालयों की शोभा बढ़ा रही हैं। केवल एक दर्जन से कम ही पुस्तकों को प्रकाशित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

यद्यपि 'भारतीय नाटचशास्त्र' में संगीत के अनेक रहस्य बतलाये गये हैं तथापि 'संगीतरत्नाकर' ही संगीतशास्त्र का सबसे बड़ा उपलब्ध ग्रंथ है। इस अमूल्य ग्रन्थ में संगीत की जैसी सुगम तथा सर्वांगीण व्याख्या की गई है, वैसी दूसरे किसी ग्रन्थ में नहीं पाई जाती। प्राचीनता के लिए भी 'नाटचशास्त्र' तथा नारदरचित संगीतमकरंद' को छोड़कर 'संगीतरत्नाकर' सबसे पुराना ग्रन्थ है। ऐसे सुन्दर ग्रन्थ के लिए इसके रचयिता 'शार्ङ्गदेव'[1] समग्र संगीतप्रेमियों के आदर के पात्र हैं। इस ग्रन्थ के ऊपर अनेक प्राचीन टीकाएँ हैं। जिनमें 'चतुर कल्लिनाथ' (लगभग १४००-१५००) रचित टीका 'आनन्दाश्रम सीरीज में प्रकाशित हुई है तथा दूसरी टीका जो प्राचीनता तथा सरल व्याख्या की कसौटी पर पूर्वोक्त से कहीं अच्छी है कलकत्ते से प्रकाशित हुई थी। इस टीका का नाम है—'संगीत सुधाकर'। इसकी विशेषता यह है कि इसमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों (जिनका अब नाम भी बाकी नहीं है) से उद्धरण लिये गये मिलते हैं जिनका ऐतिहासिक महत्त्व नितान्त आदरणीय है। इस टीका के रचयिता 'शिंगभूपाल' हैं।

'शिंगभूपाल' के समय के विषय में अनेक मत दीखते हैं। डाक्टर रामकृष्ण भाण्डारकर ने लिखा है—'शिंग' अपने को 'आन्ध्रमण्डल' का अधिपति लिखता है, इसके विषय में ठीक ठीक कहना तो अत्यन्त कठिन है, तथापि अधिक सम्भावना इसी बात की है कि ये तथा देवगिरि के यादव राजा 'सिंघण' दोनों एक ही व्यक्ति थे। 'सिंघण' के आश्रित शार्ङ्गदेव ने 'संगीतरत्नाकर' बनाया था[2]। सम्भव है कि शार्ङ्ग-

---

१ गायकवाड ओरियंटल सीरीज नं० १६।

२ देवगिरि के प्रसिद्ध राजा सिंघ या सिंघण (१२१८-४९) की सभा में शार्ङ्गदेव रहते थे। यह राजा संस्कृत भाषा का बड़ा प्रेमी था। इसके धर्माध्यक्ष 'वादीन्द्र' ने 'महाविद्याविडंबन' नामक नैयायिक ग्रन्थ की रचना की।

देव अथवा अन्य किसी पण्डित ने टीका लिखकर अपने आश्रयदाता नरेश के नाम से उसे विख्यात किया हो। अतएव इनका समय १३ वी शताब्दी का मध्यभाग मानना समुचित है।

श्रीयुत पी० आर० भाडारकर ने[1] कल्लिनाथ की टीका का उल्लेख पाने से 'शिंगभूपाल' को १६ वीं सदी का माना था, परन्तु कलकत्ता की एक हस्तलिखित प्रति मे कल्लिनाथ का उद्धरण बिल्कुल ही नही है। कलकत्ते की हस्तलिखित प्रति से शिंगभूपाल के जीवन तथा समय की अनेक बातें ज्ञात हुई हैं। कलकत्ता की प्रति की पुष्पिका यो है—

(१) इति श्रीमदान्ध्रमण्डलाधीश्वर प्रतिगुणभैरव श्रीअन्नपोत नरेन्द्रनन्दन भुजबल भीम श्रीशिंगभूपाल विरचितायां सगीतरत्नाकर टीकायां सुधाकराख्यायां रागविवेकाध्यायो द्वितीय ।

(रागविवेकाध्याय का अन्त)

(२) भैरव श्रीअमरेन्द्रनन्दन—(प्रकीर्णाध्याय का अन्त)।

एक शिंगपाल कृत 'रसार्णवसुधाकर' नामक ग्रन्थ की सूचना प्रो० शेषगिरि शास्त्री ने अपनी सस्कृत पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट (१८९६-९७) मे दी थी। उस पर उन्हाने बहुत कुछ कहा भी था। सौभाग्य से वह पुस्तक ट्रिवेंड्रम संस्कृत सीरीज (४० अ०) मे प्रकाशित हुई है। उस ग्रन्थ की आलोचना करने से स्पष्ट मालूम पडता है कि 'रसार्णवसुधाकर' के रचयिता तथा पूर्वोक्त टीका के लेखक दोनो एक ही व्यक्ति हैं। सुधाकर की पुष्पिका मे भी वे ही बातें दी गई हैं जो पूर्वोक्त उद्धरणो मे हैं—इति श्रीमदान्ध्रमण्डलाधीश्वर प्रतिगुणभैरव श्रीअन्नपोतनरेन्द्र भुजबलभीम-श्रीशिंगभूपाल विरचिते रसार्णव सुधाकरनाम्नि नाट्यालकारे रजकोल्लासो नाम प्रथमो विलास ।

ये दोनो पुष्पिकाय एक ही ग्रन्थकार की हैं। रसार्णव सुधाकर के आरम्भ में शिंगभूपाल' के पूर्वपुरुषो का इतिहास सक्षेप मे वर्णित है। उससे ज्ञात पडता है कि 'रेचल' वश मे इनका जन्म हुआ था। शिंगभूपाल अपने ६ पुत्रो के साथ 'राजाचल' नामक राजधानी मे रहता था और विध्याचल से लेकर 'श्रीशैल' नामक पर्वत के मध्य स्थित देश पर राज्य करता था। शेषगिरि शास्त्री ने 'बायोग्रैफिकल स्केचेज आफ द राजाज आफ वेकटगिरि' नामक पुस्तक के आधार पर शिंगभूपाल को सिंगम नायडु से अभिन्न माना है। शास्त्रीजी का यह कथन सर्वथा उचित है, क्योंकि 'रसार्णवसुधाकर' के आरम्भ मे शिंग ने स्वय अपने को शूद्र बतलाया है तथा दक्षिण देश में आज भी

---

१ डाक्टर भडारकर की सस्कृत पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट (१८८२ ८३)।

'नायडू' की गणना उसी वर्ण मे होती है। इस जातिगत ऐक्य से दोनों व्यक्ति अभिन्न ठहरते हैं।

सिंगम नायडू का समय १३३० ई० के आसपास था जिससे हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि संगीत सुधाकर की रचना चौदहवीं सदी के मध्य काल में हुई थी।

पूर्वोक्त बातो पर ध्यान देने से यह स्पष्ट है कि सिंगभूपाल का सम्बन्ध दक्षिण देश से था उत्तरीय भारत से नहीं। अतएव मैथिलों का यह प्रवाद कि सिंग मिथिला के राजा थे, केवल कल्पनामात्र है—श्रीश्यामनारायण सिंहने अपने 'हिस्ट्री आफ तिरहुत' मे इस प्रवाद का उल्लेख किया है। रसार्णव-सुधाकर की हस्तलिखित प्रतियो के दक्षिण मे मिलने तथा पुस्तक के दक्षिण मे सातिशय प्रचार से सिंगभूपाल वास्तव मे दक्षिण देश के ही सिद्ध होते हैं।

रसार्णवसुधाकर[1]—सिंगभूपाल की यह कमनीय कृति नाट्यशास्त्र के उपादेय विषयो की विवेचना मे निर्मित की गई है। आरम्भ मे ग्रन्थकार ने अपने वंश का पूरा परिचय दिया है जिससे ज्ञात होता है कि ये रेचल वंश मे उत्पन्न दाचयनायक के प्रपौत्र, सिंगप्रभु के पौत्र, अनन्त (अपरनाम अन्नपोत) के पुत्र थे। विन्ध्याचल से लेकर श्रीशैल के मध्यवर्ती प्रदेश के ये अधिपति थे। यह ग्रन्थ तीन विलासो मे विभक्त है—(१) 'रञ्जकोल्लास' नामक प्रथम विलास मे नायक तथा नायिका के स्वरूप तथा गुण का वर्णन विस्तार से किया गया है। अनन्तर चारों वृत्तियों के रूप तथा प्रभेदों का भी विस्तृत विवेचन है। (२) द्वितीय विलास (रसिकोल्लास) मे रस का बड़ा ही रोचक तथा विशद वर्णन किया गया है जिसमे रति के वर्णन प्रसंग मे भोजराज के मत का खण्डन किया गया है (पृ० १४२)। यह विवेचन जितना स्वच्छ तथा सुबोध है उतना ही उदाहरणो से परिपुष्ट तथा युक्तियो से युक्त है। (३) तृतीय विलास (भावोल्लास) मे रूपक के वस्तु का विस्तृत विन्यास है। इस प्रकार इस ग्रन्थ मे रूपक के तीनो अंगो—नेता, रस तथा वस्तु—का क्रमशः तीनो विलासो मे सांगोपांग विवेचन है। दशरूपक की अपेक्षा यह ग्रन्थ अधिक विस्तृत तथा विशद है। दक्षिण भारत मे दशरूपक की अपेक्षा इसीलिए इसका प्रचुरतर प्रचार है।

३६—भानुदत्त

संस्कृत साहित्य के इतिहास मे भानुदत्त नायिका-नायक भेद के ऊपर सबसे बड़ी पुस्तक लिखने के कारण नितान्त प्रसिद्ध हैं। इस पुस्तक का नाम रसमंजरी है। रसमंजरी, रसतरंगिणी, अलंकारतिलक, गीत गौरीश, कुमारभार्गवीय, रसपारिजात तथा चित्रचन्द्रिका—इनमे से दोनो आदिम ग्रन्थ विख्यात हैं। प्रथम का संक्षेप विवरण

१ अनन्तशयन ग्रन्थमाला (सं० ५०) में प्रकाशित, १९१६।

भानुदत्त ने रसतरंगिणी में प्रस्तुत किया है जिसमें रस और भावों का ही विशेष रूप से वर्णन है। रसमंजरी के अन्तिम श्लोक में इन्होंने अपने को 'विदेहभू' लिखा है जिससे जान पड़ता है कि ये मैथिल थे। इन्होंने अपने पिता का नाम गणेश्वर लिखा है[1]। सूची ग्रन्थों में भानुदत्त स्पष्ट ही मैथिल बतलाये गये हैं। गणेश्वर के मैथिल होने से बहुत सम्भव है कि ये प्रसिद्ध गणेश्वर मन्त्री हों जिनके पुत्र चण्डेश्वर ने 'विवाद-रत्नाकर' लिखा था। चण्डेश्वर ने १३१५ ई० में सोने से अपना तुलादान करवाया था। अतः भानुदत्त का भी यही समय है। इन्होंने 'शृंगार-तिलक' तथा 'दशरूपक' का निर्देश अपने ग्रन्थों में किया है तथा गोपाल आचार्य ने १४२८ ई० में रसमंजरी के ऊपर 'विकास' नामक टीका लिखी थी। इससे स्पष्ट है कि भानुदत्त १३वीं शताब्दी के अन्त तथा १४वीं शताब्दी के आरम्भ में हुए थे।

भानुदत्त ने गीत गौरीश या गीतगौरीपति नामक बड़ा ही सुन्दर गीति-काव्य लिखा था जो दस सर्गों में समाप्त है। आलङ्कारिक भानुदत्त तथा कवि भानुदत्त इन दोनों के पिता का नाम गणेश्वर या गणपति है। रसमंजरी के कुछ पद्य 'गीत-गौरीश' में भी दिये गये मिलते हैं जिससे दोनों ग्रन्थकारों की एकता स्वतः सिद्ध होती है। यह गीतकाव्य जयदेव के गीत गोविन्द के आदर्श पर लिखा गया था। मैथिल काव्य में वङ्गदेशीय कवि की मनोरम कविता से साम्य होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। अतः भानुदत्त गीतगोविन्दकार (१२ शतक के) पश्चाद्वर्ती हैं और इनका जो समय ऊपर निर्दिष्ट किया गया है उससे इसमें किसी प्रकार का विरोध भी उपस्थित नहीं होता।

ग्रन्थ

भानुदत्त के सात ग्रन्थ बतलाये जाते हैं।

(१) भानुदत्त के दोनों ग्रन्थों में रसमंजरी सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसमें नायिका के विभेदों का वर्णन सांगोपांग किया गया है। ग्रन्थ का दो तिहाई भाग इसी विवेचन में खर्च किया गया है। शेष भाग में नायक भेद, नायक के मित्र, आठ प्रकार के सात्विक भाव और शृंगार के दो भेद तथा विप्रलम्भ की दस अवस्थाओं का विवेचन किया गया है। रस तरंगिणी में उल्लिखित होने से यह उसके पूर्व की रचना है।

रसमंजरी के लोकप्रियता का परिचय इसके ऊपर लिखी गई अनेक टीकाओं से मिलता है। इस पर अब तक ११ टीकाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। (१) अनन्त पण्डितकृत व्यंग्यार्थकौमुदी तथा (२) नागेश भट्टकृत प्रकाश तो बनारस संस्कृत

---

[1] तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालङ्कारचूडामणि ।
देशो यस्य विदेहभूः सुरसरित् कल्लोलकिर्मीरिता ॥
रसमंजरी का अन्तिम पद्य

सीरीज में (नं० ८३) प्रकाशित हो चुकी है। नागेश भट्ट तो प्रसिद्ध वैयाकरण नागोजी भट्ट ही हैं। अनन्त पण्डित का मूलस्थान गोदावरी के किनारे पुण्यस्तम्भ नामक नगर था। इन्होंने यह टीका काशी मे सवत् १६९२ (१६३६ ई०) मे लिखी थी। इन्होंने गोवर्धनसप्तशती के ऊपर भी टीका लिखी है, जो काव्यमाला मे मूल ग्रन्थ के साथ प्रकाशित है।

(२) भानुदत्त का दूसरा ग्रंथ रस तरंगिणी है, जिसमे रस का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसमे आठ तरंग हैं, जिनमे भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक-भाव, व्यभिचारी भाव, शृङ्गाररस, इतर रस तथा स्थायी भाव और रस से उदात्त दृष्टियो का क्रमशः वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके ऊपर भी नव टीकायें लिखी हुई मिलती हैं, जिनमे से गगाराम जडीकृत नौका' नामक टीका ही अब तक प्रकाशित हुई है। इस टीका की रचना सन् १७३२ ई० मे की गयी थी। भानुदत्त ने इन दोना ग्रथो का निर्माण कर रस सिद्धान्त का व्यापक विवरण प्रस्तुत किया है और इसीलिये य अलकार शास्त्र के इतिहास मे स्मरणीय हैं।

'मायारस' नामक नवीन रस की स्थापना भानुदत्त की विशिष्टता है। इसके खण्डन म उनके निमित्त भानुदत्त का प्रभाव परवर्ती साहित्य ग्रंथो पर पर्याप्त है। भानुदत्त ने 'जृम्भा' को सात्त्विक भाव तथा 'छल' को व्यभिचारी भाव माना है। इन तीनो वस्तुओ के विवेचन के अवसर पर इनका मत बहुश निर्दिष्ट किया गया है। गगानन्द कविराज ने 'कर्णभूषण' मे, चिरञ्जीव ने 'काव्यविलास' मे, विश्वेश्वर पाण्डेय ने 'रसचन्द्रिका' मे और सबसे अधिक कृष्णकवि ने 'मन्दारमकरन्द चम्पू' मे भानुदत्त के लक्षणों को ग्रहण किया है तथा किन्हीं लोगो ने उनका खण्डन किया है। हिन्दी के साहित्यशास्त्र पर भी भानुदत्त के इन दोनो ग्रन्थो का व्यापक प्रभाव रस-तत्त्व की मीमासा के विषय मे पड़ा है।

३७—रूप गोस्वामी

बगाल मे चैतन्य महाप्रभु के द्वारा जिस वैष्णव भक्ति की धारा प्रवाहित हुई उससे प्रभावित होकर अनेक व्यक्तियोंने वैष्णव कल्पनाओं को रस विवेचन मे प्रयुक्त किया। गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय मे धार्मिक दृष्टि से रस की साधना की जाती है। रस के विषय मे उनकी अनेक नवीन कल्पनाये हैं। ऐसे ग्रथकारो मे सबसे श्रेष्ठ थे रूप गोस्वामी। ये मुकुन्द के पौत्र और कुमार के पुत्र थे। ये चैतन्य महाप्रभु के साक्षात् शिष्य थे। अतः इनका समय १५वीं शताब्दी का अन्त तथा १६वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इनके ग्रथो के लेखन काल से भी इस समय की पुष्टि होती है। इनका 'विदग्ध माधव' १५३३ ई० मे लिखा गया था तथा 'उत्कलिकावल्लरी' १५५० ई० मे लिखी गई थी।

१ चौखम्बा सस्कृत ग्रन्थमाला (ग्रन्थ सख्या ९१) मे प्रकाशित, वाराणसी, १९६४।

अलंकार विषय में इनके तीन ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं—(१) नाटक-चन्द्रिका, (२) भक्तिरसामृतसिन्धु, (३) उज्ज्वलनीलमणि।

'नाटक चन्द्रिका' में नाटक के स्वरूप का पर्याप्त विवेचन है। इसके आरम्भ में उन्होंने लिखा है कि इसकी रचना के लिए इन्होंने भरत शास्त्र और रस-सुधाकर (सिंगभूपाल का रसार्णवसुधाकर) का अध्ययन किया है। और भरत के सिद्धान्तों से प्रतिकूल होने के कारण इन्होंने साहित्यदर्पण के निरूपण को बिल्कुल छोड़ दिया है। इस ग्रन्थ में निरूपित विषयों का क्रम इस प्रकार है—नाटक का सामान्य लक्षण, नायक, रूपक के अंग, सन्धि आदि के प्रकार, अर्थोपक्षेपक और विष्कम्भक आदि इसके भेद, नाटक के अंकों तथा दृश्यों का विभाजन, भाषाविधान, वृत्तिविचार और रसानुसार उनका प्रयोग। यह ग्रंथ छोटा नहीं है। इसके उदाहरण अधिकतर वैष्णव ग्रन्थों से लिये गये हैं, जो संख्या में अत्यधिक हैं।

भक्तिरसामृतसिन्धु— भक्ति रस के स्वरूप का विवेचनात्मक यह ग्रन्थ[१] चैतन्य सम्प्रदाय में धार्मिक तथा साहित्यिक उभय दृष्टियों से अनुपम है। इस ग्रंथ में चार विभाग हैं—(१) पूर्व, (२) दक्षिण, (३) पश्चिम और (४) उत्तर। प्रत्येक विभाग में अनेक लहरियाँ हैं। पूर्व विभाग में प्रथमतः भक्ति का सामान्य लक्षण निर्दिष्ट है (प्रथम लहरी)। अनन्तर भक्ति के तीनों भेदों का—साधनभक्ति, भावभक्ति तथा प्रेमाभक्ति का विशिष्ट विवरण दिया गया है (२-४ लहरी)। दक्षिण विभाग में क्रमशः विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभाव का भिन्न भिन्न लहरियों के वर्णन के अनन्तर भक्तिरस के सामान्य रूप के विवरण के साथ यह विभाग समाप्त होता है। पश्चिम विभाग में भक्ति रस के विशिष्ट रूप का विन्यास है, जिसमें क्रमशः शान्तभक्ति, प्रीतिभक्ति, प्रेयोभक्ति, वत्सल-भक्ति तथा मधुरभक्ति निर्दिष्ट हैं। रस का विभिन्न लहरियों में बड़ा ही सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रूपगोस्वामी के अनुसार भक्ति रस ही प्रकृत रस है तथा अन्य रस उसी की विभिन्न विकृतियाँ तथा प्रभेद हैं। इनका वर्णन उत्तर विभाग का विषय है जिसमें हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक रसों का वर्णन है। अनन्तर रसों की परस्पर मैत्री तथा विरोध की विवेचना कर रसाभास के विशिष्ट रूप के निर्धारण के साथ यह ग्रंथ समाप्त होता है। स्पष्ट है कि यह ग्रंथ भक्तिरस का महनीय विश्वकोश है। ग्रंथ का रचनाकाल है १४६३ शक संवत् = १५४१ ईस्वी।

---

१ जीवगोस्वामी की टीका (दुर्गमसंगमनी) से युक्त इसका एक सुन्दर संस्करण पंडित दामोदरलाल गोस्वामी की सम्पादकता में अच्युतग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है। काशी, १९८८ वि० सं०।

उज्ज्वलनीलमणि—यह ग्रन्थ पूर्व ग्रथ का पूरक है। 'उज्ज्वल' का अर्थ है शृङ्गार, अत मधुरशृङ्गार रस की विस्तृत विवेचना के लिए इस ग्रथ का निर्माण हुआ है। इसमें क्रमश-नायक, नायक के सहायक हरिप्रिया, राधा, नायिका, यूथेश्वरी-भेद, दूती के प्रकार, सखी के वर्णन के अनन्तर कृष्ण क सखा का वर्णन है। पश्चात मधुर रस के उद्दीपन, अनुभाव, सात्विक, व्यभिचारी तथा स्थायी का विस्तृत वर्णन कर शृगार सयोग तथा विप्रलम्भ—की नाना दशाओ का रहस्य समझाया गया है। इस प्रकार यह ग्रथराज रसराज भक्ति-रस का विवेचनात्मक विशाल ग्रन्थ है, जो भक्ति की दृष्टि से भी उतना ही माननीय है जितना साहित्यिक दृष्टि से श्लाघनीय है।

रूप गोस्वामी के अन्तिम दोनो ग्रन्थो मे भक्ति की रसरूपता का बडा ही प्राञ्जल, प्रामाणिक तथा प्रशस्त विवेचन किया गया है। ग्रथकार की ये दोनो अमर कृतियाँ है, इसमे तनिक भी सन्देह नही।

'उज्ज्वलनीलमणि, की दो टीकायें प्रकाशित[1] हुई है और दोनो ही बडी प्रसिद्ध हैं। (१) पहली टीका का नाम है **लोचन-रोचनी**, जिसकी रचना रूप गोस्वामी के भाई वल्लभ के पुत्र जीव गोस्वामी ने की थी। जीव गोस्वामी बहुत ही बडे विद्वान थे। दर्शन तथा साहित्य का, भक्ति तथा साधना का जितना सामञ्जस्य जीव गोस्वामी के जीवन मे था उतना अन्यत्र मिलना दुष्कर है। इनका जन्म शक १४४५ (१५२३ ई०) मे तथा मृत्यु शक १५४० (१६१८ ई०) मे हुई थी। इससे स्पष्ट है कि इनका कार्यकाल १६ वी शताब्दी का उत्तरार्ध था। (२) दूसरी टीका का नाम आनन्द-चन्द्रिका या 'उज्ज्वलनीलमणिकिरण' है। इसके रचयिता विश्वनाथ चक्रवर्ती गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के अत्यन्त पूजनीय ग्रन्थकार हैं। इनका स्थितिकाल १७ वीं शताब्दी का अन्त तथा १८ वी का आदि काल है। इस आनन्दचन्द्रिका की रचना १६१८ शक (१६९६) मे हुई थी। इन्होने भागवत के ऊपर "साराथ-दर्शिनी" नामक टीका को रचना १६२६ शक (१७०४ ई०) मे की थी। इस प्रकार विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भक्ति तथा साहित्य दोनो प्रकार के शास्त्रो पर अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थो को लिखा है।

३८—कवि कर्णपूर

कवि कर्णपूर का वास्तविक नाम परमानन्ददास सेन था। ये शिवानन्द सेन के पुत्र तथा श्रीनाथ के शिष्य थे। ये बगाल के सुप्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थकार थे। ये जीव गोस्वामी के समकालीन ग्रन्थकर्ता थे। इनके पिता शिवानन्द चैतन्यदेव के साक्षात् शिष्यो मे से थे। कवि कर्णपूर का जन्म बगाल के नदिया जिले मे १५२४ ई० मे

१, काव्यमाला ९५, बम्बई १९१३।

हुआ था। चैतन्य के जीवनचरित को नाटक के रूप में प्रदर्शित करने के लिए इन्होंने १५७२ ई० में 'चैतन्यचन्द्रोदय' नामक सुप्रसिद्ध नाटक लिखा।

अलंकार शास्त्र पर इनका सुप्रसिद्ध ग्रंथ है *अलंकारकौस्तुभ*। यह ग्रंथ दश किरणों या अध्यायों में समाप्त हुआ है। इसमें काव्य लक्षण, शब्दार्थ, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, रसभावभेद, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार, रीति तथा दोष का क्रमशः वर्णन किया गया हैं। इस प्रकार रूप गोस्वामी के ग्रंथ से इसका विस्तार, विषय की दृष्टि से अधिक है। यद्यपि इसके अधिकांश उदाहरण कृष्णचन्द्र की स्तुति में ही निबद्ध किये गये हैं, तथापि इसमें उतनी वैष्णवता का पुट नहीं है जितनी रूप गोस्वामी के ग्रंथ में मिलती है। बंगाल में यह ग्रंथ अत्यन्त लोकप्रिय है। इसके ऊपर तीन टीकाओं का पता चलता है, जिनमें वृन्दावनचन्द्र तर्कालंकार चक्रवर्ती की 'दीधिति-प्रकाशिका' टीका तथा लोकनाथ चक्रवर्ती की टीका अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। केवल विश्वनाथ चक्रवर्ती की सारबोधिनी टीका मूल ग्रंथ के साथ प्रकाशित हुई है[1]।

कविचन्द्र कवि कर्णपूर तथा कौशल्या के पुत्र बतलाये जाते हैं। ये कवि कर्णपूर ऊपर निर्दिष्ट आलंकारिक ही हैं, यह कहना प्रमाणसिद्ध नहीं है। अलंकारविषयक इनका ग्रंथ काव्यचन्द्रिका है, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। इसमें १६ प्रकाश हैं जिनमें साहित्यशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन है। इसमें ग्रंथकार ने सारलहरी तथा धातुचन्द्रिका नामक अपने अन्य ग्रंथों का भी निर्देश किया है। इनका समय १६ वीं शताब्दी का अन्त और १७ वीं का प्रारम्भकाल है।

३९—अप्पय दीक्षित

अप्पय दीक्षित दक्षिण भारत के मान्य ग्रन्थकारों में अग्रणी हैं। इनका अपना विशिष्ट विषय दर्शनशास्त्र है जिसके विभिन्न अंगों पर इन्होंने अनेक विद्वत्तापूर्ण, प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की है। अद्वैत वेदान्त में इनका कल्पतरुपरिमल (अमलानन्द कृत कल्पतरु-व्याख्या की टीका) तथा सिद्धान्तलेश-संग्रह प्रख्यात ग्रन्थ हैं। सिद्धान्तलेश अद्वैतवेदान्त के आचार्यों के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का न केवल सारभूत संग्रह है, प्रत्युत ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपादेय है। इन्होंने शैवाचार्य श्रीकण्ठ के ब्रह्मसूत्रभाष्य पर 'शिवार्कमणिदीपिका' नामक उच्च कोटि की टीका लिखी है। धर्म-मीमांसा में भी 'विधिरसायन', 'उपक्रमपराक्रम', 'वादनक्षत्रावली' तथा 'चित्रकूट' इनके मान्य ग्रन्थ हैं। इस प्रकार ये दर्शन के एक अलौकिक विद्वान् ही न थे, प्रत्युत एक उच्चकोटि के साधक भी थे।

---

[1] विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका के साथ इसके दो संस्करण मुर्शिदाबाद तथा राजशाही (बंगाल) से प्रकाशित हुए हैं।

अलङ्कारशास्त्र मे इनके तीन ग्रन्थ हैं—(१) कुवलयानन्द, (२) चित्रमीमासा और (३) वृत्तिवार्तिक। इनमे वृत्तिवार्तिक सबसे पहला ग्रंथ है, तदनन्तर चित्रमीमासा तथा सबके पीछे कुवलयानन्द की रचना की गई, क्योंकि कुवलयानन्द मे चित्रमीमासा का उल्लेख पाया जाता है।

(१) वृत्तिवार्तिक[1]—यह शब्द वृत्तियो की विवेचना मे लिखा गया एक छोटा ग्रथ है। इसमे केवल दो ही परिच्छेद हैं जिसमे अभिधा और लक्षणा का ही वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह ग्रथ अधूरा ही दीख पडता है।

(२) कुवलयानन्द अलकारो के निरूपण के लिए बहुत ही सुन्दर और उपादेय ग्रथ है। यह पूरा ग्रथ जयदेव के 'चन्द्रालोक' पर आश्रित है। अत मे चौबीस नये अलकारों की कल्पना तथा उनका निरूपण ग्रन्थकार ने स्वय किया है। इस प्रकार यद्यपि यह ग्रथ मौलिक नही है, तथापि अलकारो की रूपरेखा जानने के लिए अतीव उपादेय है। इसकी लोकप्रियता का यही कारण हैं। इसके ऊपर लगभग नौ टीकाये मिलती हैं जिनमे आशाधर की दीपिका तथा वैद्यनाथ तत्सत् की अलङ्कारचन्द्रिका टीका अनेक बार प्रकाशित हुई हैं। काशी के विश्वरूप यति के शिष्य तथा वाधूलवशी देवसिंह सुमति के पुत्र गगाधर वाजपेयी की टीका रसिकरजिनी, जो कुम्भकोणम् से प्रकाशित हुई है, इन दोनो की अपेक्षा अप्पय दीक्षित के मूल ग्रथ की विशुद्धि की जांच के लिए अधिक उपयोगी है, क्योंकि इन टीकाकार के कथनानुसार अप्पय दीक्षित इनके पितामह के भाई के गुरु थे तथा इन्होने स्वय ग्रथ का पाठ ठीक करने मे बहुत ही परिश्रम किया था। ये तजौर के राजा शाहजी (१६८४ से १७११ ई०) के दरबार के सभा-पण्डित थे। अत इनका समय १७वी शताब्दी का अन्त तथा १८वी का आदिकाल है।

(३) चित्रमीमासा—यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और ग्रथकार की यह प्रौढ रचना है। यह ग्रथ अतिशयोक्ति अलकार तक वर्णन कर बीच ही मे समाप्त हो जाता है। इस ग्रथ के अन्त मे एक कारिका मिलती है[2], जिससे पता चलता है कि ग्रथकार ने जान बूझकर इस ग्रंथ को अधूरा छोड दिया है। अप्पयदीक्षित ने अपने कुवलयानन्द मे चित्रमीमासा का जो उल्लेख किया है (पृ० ७८, ८६, १३३) वह श्लेष, प्रस्तुताकुर और अर्थान्तरन्यास अलकारो के विवेचन से सम्बन्ध रखता है,

१ काव्यमाला मे प्रकाशित।

२ अप्यर्धं चित्रमीमासा न मुदे कस्य मांसला।
अनूरुरिव घर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः॥
—कुवलयानन्द।

परन्तु वर्तमान उपलब्ध ग्रन्थ से यह अंश त्रुटित है। इस ग्रंथ में अलंकारों का विशिष्ट विवेचन ही ग्रंथकार को अभीष्ट है। अप्पय दीक्षित उपमा को सबसे अधिक मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण अलंकार मानते हैं और इसके ऊपर अवलम्बित होनेवाले २२ अलंकारों का निर्देश करते हैं। परन्तु केवल एकादश अलंकारों का निरूपण मिलता है। इससे स्पष्ट है कि किसी प्रकार ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक यह ग्रंथ अधूरा ही रह गया है। इसके ऊपर भी कतिपय टीकाएँ मिलती हैं, जिनमें बालकृष्ण पायगुण्ड की टीका प्रसिद्ध है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसके ऊपर 'चित्रमीमांसा-खंडन' नामक एक पूरा ग्रंथ ही लिखा है जिसमें अप्पय दीक्षित के सिद्धान्तों का विशिष्ट खण्डन किया गया है।

अप्पय दीक्षित ने कुवलयानन्द की रचना वेंकट नामक राजा के आदेश से की, इसका उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है[1]। ये वेंकट विजयनगर के राजा वेंकट प्रथम से अभिन्न माने जाते हैं। इनके एक दान पत्र का समय १५२३ शक (१६०१ ई०) है। इससे स्पष्ट है कि अप्पय दीक्षित १६वीं शताब्दी के अन्त तथा १७वीं के आरम्भ में थे। इस समय की पुष्टि इस घटना से भी होती है कि कमलाकर भट्ट ने १७वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में अप्पय दीक्षित का उल्लेख किया है तथा इसी काल के आसपास पण्डितराज जगन्नाथ ने इनका खण्डन किया है।

४० — पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ अलंकारशास्त्र के इतिहास में सबसे प्रसिद्ध अन्तिम प्रौढ़ आलंकारिक हैं। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट तथा माता का लक्ष्मीदेवी था। पण्डितराज अप्पय दीक्षित के समकालीन थे। इनके पिता ने वेदान्त की शिक्षा ज्ञानेन्द्रभिक्षु से, न्याय वैशेषिक की महेन्द्र पण्डित से, पूर्वमीमांसा की खण्डदेव से तथा व्याकरण की शिक्षा शेष वीरेश्वर से ली थी। जगन्नाथ ने इन विषयों का अध्ययन अपने पिता से तथा अपने पिता के एक गुरु वीरेश्वर से किया था। इनके जीवन के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ सुनी जाती हैं। दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ ने इन्हें पण्डितराज की उपाधि से विभूषित किया था। ये कुछ दिनों तक शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाते थे। जगदाभरण काव्य में इन्होंने

---

१ अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः ।
नियोगाद् वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः ॥
—कुवलयानन्द ।

दाराशिकोह की प्रशंसा की है। सुनते हैं कि इन्होंने किसी यवनी से विवाह सम्बन्ध कर लिया था और इसी कारण समाज से बहिष्कृत किये जाने पर इन्होंने एक अलौकिक घटना से अपनी निर्दोषता सिद्ध की। कहा जाता है कि गंगालहरी के पाठ करने से स्वयं गंगा बढ़ती चली गई और स्वयं इन्हें अपनी गोद में लेकर इनकी निर्दोषता को सिद्ध कर दिया।

यह किंवदन्ती भले ही अक्षरशः सत्य न हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि इन्होंने अपना यौवनकाल दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ की छत्रछाया में बिताया[1]। दिल्लीश्वर की प्रशंसा इन्होंने अपने ग्रंथ में की है[2]। अपने जीवन के अन्तिम काल में ये मथुरा में निवास करते थे[3]। ये परम वैष्णव थे। भगवान विष्णु की स्तुति में इनके सरस पद्यों को पढ़कर कोई भी आलोचक इनकी अहैतुकी भक्ति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। काशी इनकी जन्मभूमि न होते हुए भी कर्मभूमि थी।

समय

शाहजहाँ तथा दाराशिकोह के समकालीन होने के कारण पण्डितराज का समय भली-भाँति निश्चित किया जा सकता है। इन्होंने शाहजहाँ की प्रशंसा में अपना एक पद्य रसगंगाधर में दिया है[4]। दाराशिकोह की प्रशंसा में इनका 'जगदाभरण' नामक पूरा काव्य ही है। शाहजहाँ के दरबार के सरदार नवाब आसफ खाँ के आश्रय में भी ये कुछ दिन रहे थे, ऐसा प्रतीत होता है। आसफ खाँ की मृत्यु १६४१ ई० में हुई थी। उसी के दुःख में इन्होंने 'आसफ विलास' नामक ग्रंथ लिखा है। इसलिए इनका समय १७वीं शताब्दी का मध्यभाग सिद्ध होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने बहुत से काव्यग्रंथों की रचना की है जिनमें भामिनी विलास, गंगालहरी, करुणालहरी, अमृतलहरी, लक्ष्मीलहरी, आसफविलास, जगदाभरण,

---

१. दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।

२. दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्येन केनापि नृपेण दत्तं शाकाय वा स्यात् लवणाय वा स्यात्॥

३. मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते।

४. भूमीनाथ शहाबुद्दीन-भवनस्तुल्यो गुणानां गणै-
रेतद्भूमवप्रपञ्चविषये नास्तीति किं ब्रूमहे।
धाता नूतनकारणैर्यदि पुनः सृष्टिं नराः भावये-
न्न स्यादेव तथापि तावकतुलालेशं दधानो नरः॥

—रसगंगाधर पृ० २१०।

प्राणाभरण, सुधालहरी, यमुनावर्णन चम्पू प्रसिद्ध हैं। भट्टोजिदीक्षित की मनोरमा के खण्डन के लिए इन्होंने 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक व्याकरण-ग्रन्थ भी लिखा है।

रसगंगाधर

अलंकार-जगत में इनका सबसे श्रेष्ठ ग्रंथ रसगंगाधर है। यह ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश के समान महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ है। इन्होंने अपने ग्रंथ में जो उदाहरण दिये हैं वे सब इन्हीं की रचना है[1]। पण्डितराज केवल आलंकारिक ही नहीं थे, प्रत्युत एक उत्कृष्ट कवि भी थे। रसगंगाधर के अधूरा होने पर भी यह ग्रंथ नितान्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में केवल दो आनन या अध्याय हैं। प्रथम आनन में काव्य का लक्षण 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द' किया गया है। इसकी पुष्टि करते समय इन्होंने प्राचीन आलंकारिकों के काव्य-लक्षण की पूरी समीक्षा की है। प्रतिभा को ही काव्य का मुख्य हेतु बतलाकर इन्होंने काव्य के चार विभाग या प्रकार निश्चित किये हैं—(१) उत्तमोत्तम, (२) उत्तम, (३) मध्यम, (४) अधम। तदनन्तर रस का सांगोपांग विवेचन ग्रन्थकार ने किया है। द्वितीय आनन के आरम्भ में ध्वनि के प्रभेदों का विवेचन कर अभिधा और लक्षणा की समीक्षा है। तदनन्तर अलंकारों का निरूपण किया गया है। इन्होंने केवल ७० अलंकारों का वर्णन किया है। उत्तरालंकार के वर्णन से यह ग्रन्थ समाप्त होता है।

रसगंगाधर के अधूरे लिखे जाने के कारण यह नहीं समझना चाहिये कि इस ग्रन्थ के लिखते समय लेखक का देहावसान हो गया था, क्योंकि 'चित्रमीमांसा खण्डन' नामक ग्रंथ के उल्लेख से पता चलता है कि पण्डितराज जगन्नाथ ने इस ग्रन्थ की रचना रसगंगाधर के निर्माण के अनन्तर की।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्पय दीक्षित के चित्रमीमांसा नामक अलंकार ग्रन्थ के खण्डन करने के लिए ही 'चित्रमीमांसाखण्डन' का प्रणयन किया था। अप्पय दीक्षित ने अलंकारों के निरूपण के लिए रुय्यक के 'अलंकारसर्वस्व' तथा जयरथ की 'विमर्शिनी' टीका से विपुल सामग्री ग्रहण की थी। अप्पय दीक्षित के खण्डन के अवसर पर पण्डितराज ने इन ग्रंथकारों की भी कटु आलोचना की है। यह आलोचना कटु होते हुए भी यथार्थ है।

---

१ निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
　काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
　किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
　कस्तूरिका-जनन-शक्तिभृता मृगेण॥
　　　　　　　　　　—रसगंगाधर, पृ० ३।

रसगंगाधर पाण्डित्य का निकषग्रावा समझा जाता है। जगन्नाथ ने इस ग्रन्थ में पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य का अद्भुत सम्मिश्रण प्रस्तुत किया है। इनके लिखने की शैली बड़ी ही उदात्त तथा ओजस्विनी है। अपने प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करने में इनकी बुद्धि बड़ी तीव्रता से चलती थी। इनकी आलोचना निर्भीक होती थी और खण्डन के अवसर पर विलक्षण तीव्रता दिखलाती थी। इन्होंने मम्मट और आनन्दवर्धन की भी आलोचना करने में कोई संकोच नहीं किया है। परन्तु विशेष खण्डन इन्होंने अप्पय दीक्षित के मत का किया है। इस आलोचना में इतना कठोर आक्षेप तथा कटुता है कि अनेक आलोचक इसे जातिगत विद्वेष मानते हैं। अप्पय दीक्षित अत्यन्त सुप्रसिद्ध द्रविड पण्डित थे और पण्डितराज तैलंग ब्राह्मण थे। अप्पय दीक्षित की विशेष कीर्ति को दबाने के लिए ही पण्डितराज ने यह अनुचित प्रहार किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में मम्मट, रुय्यक, जयरथ को अभिख्या से उद्धृत किया है। विद्याधर विद्यानाथ तथा विश्वनाथ के निर्देश के अनन्तर इन्होंने अलंकार भाष्यकार का उल्लेख किया है (पृ० २३३, ३६५)। इनके लेखक रुय्यक के टीकाकार जयरथ ही हैं। जयरथ ने स्पष्ट ही लिखा है कि उन्होंने 'अलंकारभाष्य' नामक ग्रन्थ बनाया था। इन्होंने 'अलंकार-रत्नाकर' ग्रन्थ का भी निर्देश किया है (पृ० १६३, १६५), जो शोभाकरमित्ररचित अलंकाररत्नाकर प्रतीत होता है।

टीका

रसगंगाधर की केवल दो टीकाएँ उपलब्ध हैं जिनमें नागेश भट्ट कृत 'गुरुमर्मप्रकाशिका' ही अब तक प्रकाशित हुई है। नागेश भट्ट का अपना विषय व्याकरण है जिसमें इन्होंने अनेक सुन्दर ग्रन्थों की रचना की है। ये काशी के महाराष्ट्र ब्राह्मण थे और इनका उपनाम काले था। ये शिवभट्ट और सतीदेवी के पुत्र थे। भट्टोजिदीक्षित के पौत्र तथा वीरेश्वर दीक्षित के पुत्र हरि दीक्षित के ये शिष्य थे। भट्टोजीदीक्षित स्वयं शेष श्रीकृष्ण के शिष्य थे, जिनके पुत्र शेष वीरेश्वर पण्डितराज जगन्नाथ के गुरुओं में अन्यतम थे। इस प्रकार नागोजी भट्ट पण्डितराज जगन्नाथ से केवल दो पीढ़ी बाद में हुए थे। भानुदत्त की रसमंजरी पर नागेश की टीका की एक हस्तलिखित प्रति १७१२ ई० में लिखी गई थी। इस प्रकार नागेश का समय १८ वीं शताब्दी का आरम्भकाल है।

अलंकार शास्त्र पर लिखे गये इनके ग्रन्थों का नाम इस प्रकार है—

(१) गुरुमर्म प्रकाशिका—यह जगन्नाथ के रसगंगाधर पर टीका है। (२) बृहत् तथा लघु उद्योत—यह गोविन्द ठक्कुर के काव्यप्रदीप की टीका है। (३) उदाहरण दीपिका—यह मम्मट के ग्रन्थ का विवरण है। (४) अलंकारसुधा

और विषम व्याख्यान षट्पदानन्द—अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द की दो टीकायें हैं। (५) प्रकाश—यह भानुदत्त की रसमंजरी की टीका है।

रसगंगाधर की एक दूसरी टीका का भी पता चला है जिसका नाम 'विषमपदी' है, परन्तु यह अबतक अप्रकाशित है और इसके ग्रन्थकार का भी पता नहीं चलता।

४१—विश्वेश्वर पण्डित

ये अल्मोड़ा जिला के अन्तर्गत पाटिया ग्राम के पाण्डेय थे। पर्वतीय ब्राह्मणों में 'पाटिया के पाण्डे' लोगों का कुल आज भी अपनी विद्वत्ता तथा सच्चरित्रता के लिए प्रसिद्ध है। इनका समय १८वीं शताब्दी का आरम्भ निश्चितरूपेण है (१७०० ई०)। ये अपने समय के बड़े ही मूर्धन्य विद्वान् थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था जिनका उल्लेख इन्होंने अपने ग्रन्थों के अन्त में किया है। अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ का खण्डन इन्होंने यत्र तत्र किया है। इन्होंने दण्डी के किसी टीकाकार मल्लिनाथ (पृ० ७३), चण्डीदास (पृ० १२५ १६६), महेश्वर (प० ४१) तथा काव्यडाकिनी का उल्लेख अलंकार कौस्तुभ में किया है। इनके जेठे भाई का नाम उमापति था (पृ० ३८७)। ये साहित्य के अतिरिक्त व्याकरण तथा न्याय के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। वैयाकरण सिद्धान्त सुधानिधि (चौ० स० सी०) इनका भाष्यानुसारी विशाल ग्रन्थराज है। तर्ककुतूहल तथा दीधितिप्रवेश इनके तर्कशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ हैं।

इनके साहित्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ नीचे दिए जाते हैं—

(१) अलंकारकौस्तुभ[1]—विश्वेश्वर पण्डित का सबसे मूर्धन्य ग्रन्थ यही है। अलंकार कौस्तुभ हमारी दृष्टि में पण्डितराज की शैली में निबद्ध साहित्यशास्त्र का अन्तिम प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसकी महती विशेषता है अलंकारों के स्वरूप का प्रामाणिक विवेचन जिसमें स्थान स्थान पर अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज के मतों का खण्डन बड़ी युक्तिमत्ता के साथ किया है। उपमा के स्वरूप तथा प्रभेदों का विवेचन डेढ़ सौ पृष्ठों में किया गया है। विश्वेश्वर का पाण्डित्य बड़ा ही अगाध था। ये साहित्य के अतिरिक्त न्याय तथा व्याकरण के असाधारण पण्डित प्रतीत होते हैं। पूरा ग्रन्थ नव्य न्याय की रीति से रचा गया है। अतः इसकी उत्कृष्टता तथा प्रामाणिकता में किसी प्रकार का वैमत्य नहीं हो सकता। अलंकार-कौस्तुभ का 'नानामतविमानमुकुर' कहते हैं, जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने अलंकार के विषय में विभिन्न मतों की आलोचना के लिए ही ग्रन्थ का निर्माण किया था।

---

१ ग्रन्थकार की व्याख्या के साथ प्रकाशित 'काव्यमाला नं० ६६, सं० १८९८।

(२) अलंकार-मुक्तावलि[1]—अलकार कौस्तुभ का सरल सक्षिप्त सस्करण। इसमे आलोचना की कारिकाओ पर सक्षिप्त व्याख्या है।

(३) रस चन्द्रिका[2]—नायिका भेद तथा रस का सामान्य विवेचनात्मक ग्रन्थ।

(४) अलंकार प्रदीप[3]—इसमे अर्थालिकार का सुगम विवेचन है।

(५) कवीन्द्रकण्ठाभरण[4] —इस ग्रन्थ म चार परिच्छेद है और चित्रकाव्य का बडा ही सुन्दर और प्रामाणिक विवरण यहा उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ 'विदग्ध-मुखमण्डन' की शैली पर लिखा गया है, परन्तु विवेचन मे उससे कहीं अधिक रोचक तथा प्रामाणिक है। प्रहेलिका तथा नाना प्रकार की चित्र जातियो के ज्ञान के लिए यह हमारे शास्त्र का सर्वोत्तम ग्रन्थ है।

४२ —नरसिंह कवि

इस कवि की उपाधि थी—अभिनव कालिदास। कवि ने यह ग्रन्थ अपने आश्रय दाता 'नञ्जराज की प्रशसा मे लिखा है। पुस्तक है तो अलकार शास्त्र की, परन्तु समग्र उदाहरण नञ्जराज के विषय मे ही दिये गये हैं। ये नञ्जराज महीसूर के अधिपति के मन्त्री थे तथा १८वी शताब्दी मे उस देश पर शासन कर रहे थे। ये महा प्रतापी थे और महाराष्ट्रो तथा मुसलमानो के आक्रमण से देश की रक्षा करने में समर्थ थे। महाराजा तो नाममात्र के शासक थे, शासन का समग्र कार्य नञ्जराज के ही हाथो सिद्ध होता था। नरसिंह कवि भी मैसूर के ही निवासी थे तथा नञ्जराज के आश्रित थे। समय १८ शतक।

'नञ्जराजयशोभूषण'[5] ठीक शिवराजभूषण के समान ही ग्रन्थ है। इसमे ७ विलास हैं, जिनमें (१) नायक, (२) काव्य, (३) ध्वनि, (४) रस, (५) दोष, (६) नाटक, (७) अलकार का क्रमश निरूपण किया गया है। इस प्रकार यहा काव्य तथा नाटय का एक साथ ही सरल विवेचन प्रस्तुत किया गया है। षष्ठ विलास मे कवि ने अपने आश्रयदाता की स्तुति म एक पूरा नाटक ही बना रखा है जिसम 'नाटक' के समस्त लक्षणो का समावेश किया गया है। यह ग्रन्थ विद्यानाथ रचित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के अनुकरण पर लिखा गया है जिसकी विशेष छाया— ग्रन्थ की योजना तथा उदाहरणो पर—स्पष्ट रूप से पडी है।

---

१ काशी सस्कृत सीरीज स० ५४, काशी १९८४ स०।

२ काशी सस्कृत सीरीज, स० ५३, काशी १९८३ स०।

३ काव्यमाला, अष्टम गुच्छक म प्रकाशित, पृ० ५१–१०८, १९११।

४ काव्यमाला सीरीज में प्रकाशित।

५ गा० ओ० सी० ग्रन्थसख्या ४७।

उपसंहार

अलंकार शास्त्र का यही क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवरण है। इसके अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है। कि यह हमारा साहित्यशास्त्र ६०० से १८०० ई० तक, अर्थात् १२०० वर्षों के सुदीर्घ काल में फैला हुआ था। इसका आरम्भ काल ६०० ई० से भी प्राचीन है। भरत के नाट्यशास्त्र (२०० ई०) में भी अलंकार शास्त्र का विवरण उपलब्ध होता है, परन्तु उस समय हमारा शास्त्र नाट्यशास्त्र का एक सामान्य अंग मात्र ही था। इस शास्त्र का उद्गम भारत के किस प्रान्त में हुआ? इसका यथार्थ विवरण हम नहीं दे सकते। परन्तु इसकी विकासभूमि से हम पूर्णत परिचित हैं। शारदा देश काश्मीर ही साहित्य शास्त्र के विकास की पवित्र भूमि है। भरत के निवासस्थान का हमें ज्ञान नहीं है, परन्तु भामह उद्भट, रुद्रट, मुकुल भट्ट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, रुय्यक, मम्मट, भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट जैसे महनीय आलोचकों की जन्मभूमि कश्मीर देश ही थी—यह हम निश्चित रूप से कह सकते हैं। बिल्हण शारदा देश (कश्मीर) को कविता विलास तथा केशर-प्ररोह की जननी मानते हैं। इनमें हम अलंकार शास्त्र के नाम को भी जोड़कर यह भली भाँति उद्घोषित कर सकते हैं कि जिस कश्मीर में कवियों ने अपनी कमनीय कलामाला का प्रदर्शन किया, उसी देश में काव्य के मर्मज्ञों ने काव्य की यथार्थ समीक्षा भी की। अत यह भूमि संस्कृत के महाकवियों की ही नहीं, प्रत्युत संस्कृत के महनीय आलोचकों की भी जन्मदात्री है। हमारे आलोचना शास्त्र का जो सारभूत मौलिक अंश है उसका विवेचना और विवरण इसी कश्मीर देश में किया गया। प्राचीन आलंकारिकों में दण्डी ही ऐसे हैं जो कश्मीरी न होकर दक्षिण देश के निवासी थे। पिछले युग में मध्यभारत, गुजरात, दक्षिण (महाराष्ट्र) तथा बंगाल में भी साहित्य शास्त्र के ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। इन प्रान्तों के ग्रन्थकार विशेषतः 'व्याख्याकाल' से सम्बन्ध रखते हैं। फलत उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों पर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखकर सिद्धान्तों का परिबृंहण किया। उन्होंने मौलिक तथ्यों का भी उद्घाटन किया, परन्तु काश्मीरी आलोचकों की देन के सामने उनकी देन परिमाण में न्यून है। परन्तु हमारा शास्त्र कभी भी स्थावर नहीं रहा—एकदम जड़ तथा गतिशून्य। यह क्रमशः विकासशील शास्त्र है जिसका परिचय प्रत्येक शताब्दी में आलोचकों का परम्परा प्राप्त होता है।

भारतीय अलंकार-शास्त्र के इतिहास को मोटे तौर से हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१ प्रारम्भिक काल (अज्ञात काल से भामह तक)।

२ रचनात्मक काल (भामह से आनन्दवर्धन तक)
६५० ई० से ८५० ई० तक।

(क) भामह, उद्भट और रुद्रट (अलंकार सम्प्रदाय)।
(ख) दण्डी और वामन (रीति सम्प्रदाय)।
(ग) लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक आदि (रस-सम्प्रदाय)।
(घ) आनन्दवर्धन (ध्वनि-सम्प्रदाय)।

३ निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धन से मम्मट तक,
८५० ई० से १०५० ई०)।

(क) अभिनवगुप्त।
(ख) कुन्तक।
(ग) महिमभट्ट।
(घ) रुद्रटभट्ट।
(ङ) धनञ्जय।
(च) भोजराज।

४ व्याख्या-काल (मम्मट से जगन्नाथ तक,
१०५० ई० से १७५० ई०)।

(क) मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव, अप्पयदीक्षित आदि (ध्वनि मत)।
(ख) शारदातनय, शिंगभूपाल, भानुदत्त, रूपगोस्वामी आदि (रसमत)।
(ग) राजशेखर, क्षेमेन्द्र अरिसिंह, और अमरचन्द्र, देवेश्वर आदि।(कविशिक्षा)
(घ) जगन्नाथ पण्डितराज, विश्वेश्वर पाण्डेय।

जैसा कि पहले कहा गया है, साहित्य-शास्त्र के आरम्भ का पता नहीं चलता कि कौन-सा ग्रन्थ सबसे पहिले लिखा गया था और उसका समय क्या था? भरत के नाट्य शास्त्र में चार अलंकार, दश गुण और दश दोषों का वर्णन कर ही अलंकार-शास्त्र की इतिश्री मानी गई है। भामह के काव्यालंकार से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके पहिले अनेक ग्रन्थ साहित्य-शास्त्र पर निर्मित हो चुके थे, परन्तु न तो इनके ग्रन्थों का ही पता है और न ग्रन्थकारों का। भरत और भामह के बीच का युग हमारे शास्त्र के इतिहास में अन्धकार युग है। इस युग के केवल एक आलोचक का पता चलता है और वे हैं 'मेधावी'। भामह का काव्यालंकार इस प्रथम युग का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और इसी पुस्तक के आधार पर भट्टि ने अपने भट्टिकाव्य में अलंकारों का विधान प्रस्तुत किया है। इन्होंने ३८ स्वतन्त्र अलंकारों का सन्निवेश अपने

ग्रन्थ में किया है। इस युग में नाट्यरस की विस्तृत व्याख्या भरत ने की थी। परन्तु काव्य में रस की महत्ता की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं गया था।

साहित्यशास्त्र का रचनात्मक युग भामह से आरम्भ होकर आनन्दवर्धन तक चला जाता है। यह दो सौ वर्षों का काल (६५० से ८५० ई०) हमारे शास्त्र के इतिहास में इसीलिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है कि इसी समय काव्य के मौलिक तत्त्वों की उद्भावना हमारे आलोचकों ने की। एक ओर भामह, उद्भट तथा रुद्रट काव्य के उन बाह्य आभूषणों की रूपरेखा का निर्माण कर रहे थे जो अलंकार के नाम से अभिहित होते हैं और जिनकी ओर काव्य के पाठकों का ध्यान सर्वप्रथम आकृष्ट होता है। इसी सम्प्रदाय के नाम पर इस शास्त्र का नाम अलंकार शास्त्र पड़ा। दूसरी ओर दण्डी और वामन कविता की रीति तथा तत्सम्बद्ध दश गुणों की परीक्षा में संलग्न थे। इनकी दृष्टि में काव्य का सौन्दर्य गुणों के द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। अलंकार तो केवल उसके अतिशय करनेवाले धर्म हैं। इन आचार्यों के उद्योग के फलस्वरूप रीति-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा इसी युग में हुई। इन ग्रन्थकारों की रचना के साथ ही साथ भरत के नाट्य शास्त्र की गहरी छानबीन इसी युग में आरम्भ हुई। भट्ट लोल्लट तथा शंकुक ने अपने दृष्टिकोण से भरत के ग्रन्थ पर टीकाएँ लिखी तथा उनके रस सिद्धान्त को समझाने का बड़ा उद्योग किया, परन्तु यह रसवाद अभी तक नाट्य के सम्बन्ध में ही था। काव्य में रसवाद का महत्त्वपूर्ण विवेचन आनन्दवर्धन से आरम्भ होता है।

भारतीय साहित्य शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ आलोचक आनन्दवर्धन इसी युग की विभूति है। इन्होंने रस सिद्धान्त की व्यवस्था का क्रम की तथा उसकी पूर्ण व्याख्या के लिए ध्वनि के सिद्धान्त की उद्भावना की। इतने से ही वे संतुष्ट न हुए प्रत्युत उन्होंने अलंकार और रीति के सिद्धान्तों को भी अपनी काव्यपद्धति में समुचित स्थान दिया। इसका फल यह हुआ कि आनन्दवर्धन ने काव्य का सर्वाङ्गीण वर्णन सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ में उपस्थित किया। अलंकार शास्त्र के इतिहास में यह काल सुवर्ण युग माना जाता है क्योंकि साहित्य शास्त्र के भिन्न भिन्न मौलिक सम्प्रदाय इसी युग में उत्पन्न हुए और पले पुसे।

तीसरा काल निर्णयात्मक काल कहा जा सकता है। यह आनन्दवर्धन से आरम्भ होकर मम्मट तक (अर्थात ८५० ई० से १०५० ई०) जाता है। आनन्दवर्धन के द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के सिद्धान्त को सुप्रतिष्ठित होने में दो सौ वर्ष का समय लगा। एक तरफ तो अभिनवगुप्त इसकी शास्त्रीय व्याख्या करने में लगे थे और दूसरी ओर अनेक आलंकारिक इसके प्रबल विरोध करने में संलग्न थे। भट्टनायक, कुन्तक तथा महिमभट्ट की साहित्यिक कृतियों का यही युग है। अपने दृष्टिकोण से इन्होंने ध्वनि के खण्डन करने का बड़ा ही उग्र प्रयत्न किया परन्तु मम्मट ने इन

विरोधी मतों की व्यर्थता दिखलाकर ध्वनि के मत को ही सर्वत पुष्ट किया और उसे इतने दृढ़ आधारों पर सुव्यवस्थित कर दिया कि बाद के आलंकारिकों को उसे खण्डन करने का साहस ही नहीं हुआ।

इस शास्त्र का अन्तिम काल व्याख्या काल कहलाता है, जो मम्मट से आरम्भ होकर पण्डितराज जगन्नाथ तक (१०५० ई० से १७५० ई०) अर्थात् ७०० वर्षों तक फैला रहा। इस युग में कुछ आचार्यों ने (हेमचन्द्र, विश्वनाथ और जयदव आदि) पूरी काव्य पद्धति की समीक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की। कुछ लोगों ने काव्य के विविध अंगों—विशेषतः अलंकार तथा रस—पर पृथक् ग्रंथों का निर्माण किया। रुय्यक और अप्पयदीक्षित ने अलंकारों का विशेष वर्णन किया है। शारदातनय तथा शिंगभूपाल ने अपने नाट्य विषयक ग्रंथों में रस का बड़ा ही सुन्दर विवेचन उपस्थित किया है। भानुदत्त ने भी इस कार्य में विशेष सहयोग दिया है। रूपगोस्वामी ने गौडीय मत के अनुसार मधुर रस की व्याख्या कर रस साधना का मार्ग प्रशस्त बनाया। कुछ आलोचकों ने काव्य के व्यावहारिक रूप को बतलाने के लिए कवि शिक्षा सम्बन्धी ग्रंथों का निर्माण किया। राजशेखर की काव्य-मीमांसा यद्यपि इसके पूर्व युग से सबद्ध है, तथापि इसमें कवि शिक्षा का ही विषय विशेष रूप में वर्णित है। क्षेमेन्द्र ने इसी युग में औचित्य के सिद्धांत का व्यवस्थापन किया। अरिसिंह और अमरचन्द्र तथा देवेश्वर ने 'कवि-कल्पलता' के द्वारा कविशिक्षा के विषय को व्यवस्थित तथा लोकप्रिय बनाया। प्राचीन युग में मान्य अलकार ग्रन्थों प सैकड़ों टीकाएँ तथा व्याख्याएँ इस काल में लिखी गईं जिनमें मौलिकता की अपेक्षा विद्वत्ता ही अधिक है।

इस युग के अन्त में दो बहुत बड़े प्रौढ़ आलंकारिक उत्पन्न हुए जिनके नाम पण्डितराज जगन्नाथ और वीरेश्वर पाण्डेय हैं। वीरेश्वर पाण्डेय ने 'अलंकार कौस्तुभ' लिखकर अपने प्रकृष्ट पाण्डित्य का परिचय दिया। इनकी तुलना में पण्डितराज जगन्नाथ का कार्य विशेष मौलिक तथा उपादेय है। खण्डित होने पर इनका ग्रन्थ 'रसगंगाधर' युक्तिमत्ता और विवेचनशैली की दृष्टि से अलंकारशास्त्र में अद्वितीय ग्रंथ है। अलंकार-शास्त्र की गोधूलि-वेला में लिखे जानेपर भी यह प्रौढ़ता, गम्भीरता तथा विद्वत्ता में उसके मध्याह्न-काल में लिखे गये ग्रंथों से टक्कर लेता है।

भारतीय साहित्य शास्त्र में ध्वनि का सिद्धान्त ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अतः इसको दृष्टि में रख कर हम साहित्यशास्त्र के इतिहास को निम्नांकित तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—(१) पूर्व ध्वनिकाल, (२) ध्वनिकाल और (३) पश्चात्-ध्वनिकाल। आनन्दवर्धन ध्वनिसम्प्रदाय के उद्भावक हैं। अतः आरम्भ से लेकर

आनन्दवर्धन तक का काल पूर्वध्वनिकाल कहलाता है। इस काल में रस-मत, अलंकार-मत तथा रीति-मत का विवेचन प्रस्तुत किया गया था। आनन्दवर्धन से मम्मट तक का काल ध्वनिकाल कहलायेगा, जिसमें ध्वनि विरोधी आचार्यों के मतों का खण्डन कर ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिस्थापन प्रबल प्रमाणों के आधार पर किया गया था। ध्वनिपश्चात् काल मम्मट से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक है, जिसमें ध्वनिमत को अक्षुण्ण मानकर काव्य के विविध अंगों पर ग्रन्थों का प्रणयन किया गया तथा प्राचीन ग्रन्थों को सुबोध बनाने के लिए लोकप्रिय टीकाएँ तथा व्याख्याएँ लिखी गईं। अलंकार-शास्त्र के विस्तृत इतिहास का यही सही परिचय है।

साहित्य-शास्त्र के सम्प्रदाय

अलंकारशास्त्र के अनुशीलन से जान पड़ता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। आलंकारिकों के सामने प्रधान विषय था काव्य की आत्मा का विवेचन। वह *कौन वस्तु है जिसकी सत्ता रहने पर काव्य में काव्यत्व विद्यमान है?* इस प्रश्न के उत्तर देने में नाना सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। कुछ लोग अलंकार को ही काव्य का प्राणभूत मानते हैं, कुछ गुण या रीति को, कुछ लोग ध्वनि को। इस प्रकार काव्य की आत्मा की समीक्षा में भेद होने के कारण भिन्न भिन्न शताब्दियों में नये-नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई। अलंकारसर्वस्व के टीकाकार 'समुद्रबन्ध' ने इन सम्प्रदायों के उदय की जो बात लिखी है वह बहुत ही युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से आ सकती है--(१) धर्म से, (२) व्यापार से और (३) व्यंग्य से। धर्ममूलक वैशिष्ट्य दो प्रकार का है--नित्य और अनित्य। अनित्य धर्म से अभिप्राय अलंकार से है और नित्य धर्म का तात्पर्य गुण से है। इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्ट्य के प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए--(१) अलंकार-सम्प्रदाय, (२) गुण या रीति सम्प्रदाय। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है--वक्रोक्ति तथा भोजकत्व। वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार मानने वाले आचार्य कुन्तक हैं। अतः उनका मत वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। भोजकत्व व्यापार की कल्पना भट्ट नायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर भरत के रस-मत के भीतर ही अन्तर्भूत करना चाहिए, क्योंकि भट्ट नायक ने विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव से रस की निष्पत्ति समझाने के लिए अपने इस नवीन व्यापार की कल्पना की है। व्यंग्यमुख से वैशिष्ट्य माननेवाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं, जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है। समुद्रबन्ध के शब्दों में उनका मत सुनिये--

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापार-मुखेन व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्।

द्वितीयेऽपि भणिति-वैचित्र्येण भोगकृत्वत्वेन वेति द्वैविध्यम् । इति पञ्चसु उद्भटादिभिरङ्गीकृत, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन ।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के विरोधी तीन मतो का उल्लेख किया है—अभाववादी, भक्तिवादी तथा अनिर्वचनीयतावादी । अभाव वादियो मे भी तीन छोटे छोटे सम्प्रदाय हैं । कुछ तो गुण अलकार आदि को काव्य का एकमात्र उपकरण मानकर ध्वनि की सत्ता का बिल्कुल निरस्कृत करते हैं, परन्तु कुछ लोग अलकार के भीतर ही ध्वनि का भी समावेश करते है । भक्तिवादी लक्षणा के द्वारा ध्वनि की कार्यसिद्धि मानते हैं । अनिर्वचनीयतावादी ध्वनि के स्वरूप को शब्द से अगोचर बताकर ध्वनि को अनिर्वचनीय बनाते हैं । आनन्दवर्धन ने तीनो मतो का पर्याप्त खण्डन कर ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की है । इन मतो का पृथक् वर्णन न देकर हम अलकार-शास्त्र के प्रसिद्ध सम्प्रदायो का सक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करते हैं ।

अलकारशास्त्र के सम्प्रदाय मुख्यत चार ही हैं, वक्रोक्ति तथा औचित्य सिद्धान्त-मात्र हैं ।

(१) रस सम्प्रदाय—भरतमुनि

(२) अलकार-सम्प्रदाय—भामह, उद्भट तथा रुद्रट

(३) गुण सम्प्रदाय—दण्डी तथा वामन

(४) ध्वनि सम्प्रदाय—आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त
वक्रोक्ति-सिद्धान्त—कुन्तक तथा औचित्य सिद्धान्त—क्षेमेन्द्र

(१) रस-सम्प्रदाय

राजशेखर के कथनानुसार नन्दिकेश्वर ने ब्रह्माजी के उपदेश से सर्वप्रथम रस का निरूपण किया । परन्तु नन्दिकेश्वर के रसविषयक मत का पता नही चलता । उपलब्ध रस सिद्धान्त भरतमुनि के साथ सम्बद्ध है । भरत रस सम्प्रदाय के प्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं । नाट्यशास्त्र के षष्ठ तथा सप्तम अध्यायो मे रस और भाव का जो *निरूपण प्रस्तुत किया गया है वह साहित्यससार मे एक अपूर्व वस्तु है ।* भरत के समय मे नाट्य का ही बोलबाला था । इसलिए भरत ने नाट्यरस का ही विस्तृत, व्यापक तथा मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है । रस-सम्प्रदाय का मूलभूत सूत्र है—'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति' । *अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी* भाव के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है । देखने मे यह सूत्र जितना छोटा है विचार करने मे यह उतना ही सार-गर्भित है । भरत ने इसका जो भाष्य लिखा है वह बडा ही सुगम है । भरत के टीकाकारों ने इस सूत्र की भिन्न भिन्न व्याख्याएँ की हैं, जिनमे चार मत प्रधान हैं । इन टीकाकारो के नाम हैं—भट्टलोल्लट, शकुक, भट्टनायक तथा

अभिनवगुप्त। भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादी हैं। वे रस को विभावादि का कार्य मानते हैं। शंकुक विभावादिकों के द्वारा रस की अनुमिति मानते हैं। उनकी सम्मति मे विभावादिको से तथा रस से अनुमापक-अनुमाप्य सम्बन्ध है। भट्टनायक भुक्तिवादी हैं। उनकी सम्मति मे विभावादि का रस से भोजक भोज्य सम्बन्ध है, जिसे सिद्ध करने के लिए इन्होने अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापार भी स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त व्यक्तिवादी हैं। उन्ही का मत अधिक मनोवैज्ञानिक है और इसलिए उनका मत समस्त आलकारिकों के आदर तथा श्रद्धा का पात्र है। समग्र स्थायी-भाव वासना रूप से सहृदयों के हृदय मे विद्यमान रहते हैं। विभावादिकों के द्वारा ये ही सुप्त स्थायी भाव अभिव्यक्त होकर आनन्दमय रस का रूप प्राप्त कर लेते हैं।

रस की सख्या के विषय मे आलकारिकों मे मतभेद दीख पडता है। भरत ने आठ रस माने हैं—(१) शृगार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स और (८) अद्भुत। शान्त रस के विषय में बडा विवाद है। भरत तथा धनञ्जय ने नाटक मे शान्तरस का स्थिति अस्वीकार की (शममपि केचित् प्राहु पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य-दशरूपक ४। ३५)। नाटक अभिनय के द्वारा ही प्रदर्शित किया जाता है और शान्तरस सब कार्यों का विरामरूप है। ऐसी दशा मे शान्त का प्रयोग नाटक मे हो नही सकता। काव्यादिकों मे शान्त की सत्ता अवश्य विद्यमान रहती है। आनन्दवर्धन के अनुसार महाभारत का मुख्य रस शान्त ही है। रुद्रट ने 'प्रेयान्' का भी रस माना है। विश्वनाथ 'वात्सल्य' को रस मानने के पक्षपाती हैं। गौडीय वैष्णवों की सम्मति मे 'मधुर रस' सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रथम रस है। साहित्य मे रस-मत की बडी महत्ता है। लौकिक संस्कृत का प्रथम श्लोक—जो क्रौन्चवध से मर्माहत होकर महर्षि वाल्मीकि का स्फुरित हुआ—रसमय ही था। इस रस को सब सम्प्रदायों ने अपनाया है परन्तु अपने-अपने मतानुसार इसे ऊँचा नीचा स्थान दिया है।

(२) अलकार सम्प्रदाय

अलकार मत के प्रधान प्रवर्तक आचार्य भामह हैं तथा इसके पोषक हैं 'भामह' के टीकाकार रुद्रट तथा उद्भट। दण्डी ने भी अलकार की प्रधानता किसी न किसी रूप मे स्वीकृत की। इस सम्प्रदाय के अनुसार अलकार ही काव्य का जीवातु है। जिस प्रकार अग्नि को उष्णता रहित मानना उपहास्यास्पद है, उसी प्रकार काव्य को अलकारहीन मानना अस्वाभाविक है। अलकारों का विकास धीरे-धीरे ही होता आया है। भरत के नाट्यशास्त्र मे तो चार ही अलकारों का नामनिर्देश मिलता है—अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक। मूल अलकार ये ही हैं जिनमे एक तो शब्दालकार और

तीन हैं अर्थालंकार। इन्हीं चार अलंकारों का विकास होकर कुवलयानन्द में १२५ अलंकार माने गये हैं। अलंकारों के इस विकास के लिए अलग अनुशीलन की आवश्यकता है। अलंकारों के स्वरूप में भी अन्तर पड़ता गया। भामह की जो वक्रोक्ति है वह वामन में नये परिवर्तित रूप में दीख पड़ती है। अलंकारों के विभाग के लिए कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये गये हैं। रुद्रट ने पहले-पहल यह संकेत किया और औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष को अलंकारों का मूल माना। इस विषय में एकावलीकार विद्याधर का निरूपण बड़ा ही युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है। उन्होंने औपम्य, विरोध तर्क आदि को अलंकार का मूल विभेदक मानकर इस विषय की बड़ी सुन्दर समीक्षा की है।

अलंकार-मत को मानने वाले आचार्यों को रस का तत्व अज्ञात न था, परन्तु उन्होंने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर अलंकार का ही एक प्रकार माना है। रसवत, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित—इन चारों अलंकारों के भीतर रस और भाव का समग्र विषय भामह के द्वारा अन्तर्निविष्ट किया गया है। दण्डी भी रसवत अलंकार से परिचित हैं। उन्होंने आठ रस और आठ स्थायी भावों का निर्देश किया है। इस प्रकार अलंकार-मत के ये आचार्य रसतत्त्व को भली-भाँति जानते हैं। पर उसे अलंकार का ही एक प्रकार मानते हैं। वे प्रतीयमान अर्थ से भी परिचित हैं जिसे उन्होंने समासोक्ति आक्षेप आदि अलंकारों के भीतर माना है। अलंकार के विशिष्ट अनुशीलन तथा व्याख्या करने से वक्रोक्ति तथा ध्वनि की कल्पना प्रादुर्भूत हुई। इस प्रकार साहित्य शास्त्र के इतिहास में अलंकार मत की बड़ी विशेषता है।

(३) रीति सम्प्रदाय

रीति मत के प्रधान प्रतिपादक आचार्य वामन हैं। उनके मत में रीति ही काव्य की आत्मा है। रीति क्या है ? पदों की विशिष्ट-रचना है। रचना में यह विशिष्टता गुणों के कारण उत्पन्न होती है। रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है। इसीलिए रीति मत 'गुण सम्प्रदाय' के नाम से पुकारा जाता है। वैदर्भी और गौडी रीतियों के विभेद को स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने का श्रेय आचार्य दण्डी को है। गुण और अलंकार के भेद को वामन ने पहली बार स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। वामन ने गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत मानकर उनकी संख्या द्विगुणित कर दी है। दश गुणों का नाम निर्देश तो भरत के नाट्यशास्त्र में ही किया गया है। उनके नाम हैं

१ अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

—चन्द्रालोक १।८।

है—श्लेष, प्रसाद समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति। दण्डी ने भी इनका निर्देश किया है जिन्हें वे वैदर्भ मार्ग का प्राण बतलाते हैं। वामन ने वैदर्भी रीति के लिए इन दश गुणों की आवश्यकता स्वीकार की है। गौडी के लिए ओज और कान्ति की, पान्चाली के लिए माधुर्य तथा प्रसाद की सत्ता आवश्यक बतायी है।

रीति-सम्प्रदाय ने अलंकार और गुण का भेद स्पष्ट कर साहित्य का बडा उपकार किया है। वामन का कथन है कि काव्य-शोभा के करने वाले धर्म गुण हैं और उसके अतिशय करने वाले धर्म अलंकार हैं। (काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवोऽलङ्काराः)। अलंकार-सम्प्रदाय की अपेक्षा इस सम्प्रदाय की आलोचक दृष्टि अन्तर्मुखी तथा पैनी दीख पडती है। भामह आदि ने तो रस को अलंकार मान कर उसे काव्य का बहिरङ्ग साधन ही स्वीकार किया है, परन्तु वामन ने कान्ति-गुण के भीतर रस का अन्तर्निवेश कर काव्य में रस की महत्ता पर विशेष ध्यान दिया है। उन्होंने वक्रोक्ति के भीतर ध्वनि का अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार रीति सम्प्रदाय का विवेचन कहीं अधिक हृदयगम तथा व्यापक है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त

वक्रोक्ति को काव्य का जीवित सिद्ध करने का श्रेय आचार्य कुन्तक को ही है। उन्होंने इसीलिए अपने ग्रंथ का नाम ही 'वक्रोक्ति जीवित' रखा है। 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ है—वक्र उक्ति, अर्थात् सर्वसाधारण लोगों के कथन से भिन्न, अलौकिक चमत्कार से युक्त कथन। कुन्तक के शब्दों में वक्रोक्ति 'वैदग्ध्य भङ्गी भणिति' है। साधारण जन अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए साधारण ढंग से ही शब्दों का प्रयोग किया करते हैं, परन्तु उससे पृथक् चमत्कारी कथन का प्रकार 'वक्रोक्ति' के नाम से अभिहित है[1]। वक्रोक्ति की इस कल्पना के लिए कुन्तक भामह के ऋणी हैं। भामह अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति के नाम से पुकारते हैं और उसे अलंकार का जीवनाधायक मानते हैं। उनका कथन स्पष्ट है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

---

१ वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।
वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।
वैदग्ध्यं कविकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः॥
—वक्रोक्तिजीवित १।११

भामह की सम्मति में वक्र अर्थवाले शब्दों का प्रयोग काव्य में अलंकार उत्पन्न करता है—"वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते" (५।६६)—हेतु को अलंकार न मानने का कारण वक्रोक्ति शून्यता ही है (२।८६)। भामह की इस कल्पना को आलंकारिकों ने स्वीकृत किया। रोचक ने भामह (५।३६) को उद्धृत कर स्पष्ट लिखा है—शब्द और अर्थ की वक्रता लोकोत्तर रूप से उनकी अवस्थिति है (शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्—पृ० २०८)। दण्डी ने भी वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति रूप से वाङ्मय को दो प्रकार का माना है तथा वक्रोक्ति में श्लेष के द्वारा सौन्दर्य की उत्पत्ति की बात लिखी है[1]। कुन्तक ने इसी कल्पना को अपना कर वक्रोक्ति को काव्य का जीवित बनाया है। निःसन्देह ये बड़े भारी मौलिक विचारों के आचार्य हैं।

कुन्तक ध्वनिमत से खूब परिचित हैं। ध्वन्यालोक के पद्यों का भी उन्होंने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है, परन्तु उनकी वक्रोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि उसके भीतर ध्वनि का समस्त प्रपञ्च सिमट कर विराजने लगता है। मुख्य रूप से वक्रोक्ति छ प्रकार की है—

(१) वर्णवक्रता, (२) पदपूर्वार्धवक्रता (३) प्रत्ययवक्रता, (४) वाक्यवक्रता (५) प्रकरणवक्रता, (६) प्रबन्धवक्रता। उपचारवक्रता के भीतर ध्वनि के प्रचुर भेदों का समावेश किया गया है। कुन्तक की विश्लेषण तथा विवेचन-शक्ति बड़ी मार्मिक है। उनका यह ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के मौलिक विचारों का भाण्डार है। दुःख है कि उनके पीछे किसी आचार्य ने इस भावना को और अग्रसर नहीं किया। वे लोग तो रुद्रट के द्वारा प्रदर्शित प्रकार को अपनाकर वक्रोक्ति को एक सामान्य शब्दालंकार-मात्र ही मानते थे। इस प्रकार 'वक्रोक्ति' की महनीय भावना का बीजरूप में सूचित करने का श्रेय आचार्य भामह को है और उस बीज को उदात्तरूप में अंकुरित तथा पल्लवित करने का सम्मान कुन्तक को है।

(४) ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनिमत रस मत का ही विस्तृत रूप है। रस सिद्धान्त का उपक्रम मुख्यतः नाटकों के सम्बन्ध में ही पहले पहल किया गया। यह 'रस' कभी वाच्य नहीं होता, प्रत्युत व्यंग्य ही हुआ करता है। इन विचारधारा को अग्रसर कर आनन्दवर्धन ने व्यंग्य को ही काव्य में प्रधान माना है। 'ध्वनि' शब्द के लिए आलंकारिक वैयाकरणों

१ श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥
— काव्यादर्श २।३६३।

न्था ऋणी है। वैयाकरण स्फोटरूप मुख्य अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाले शब्द के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग करते हैं। आलंकारिकों ने इस साम्य पर इस शब्द को ग्रहण कर इसका अर्थ विस्तृत तथा व्यापक बना दिया है। इस मत के आद्य आचार्य आनन्दवर्धन ने युक्तियों के सहारे व्यंग्य की सत्ता वाच्य से पृथक् सिद्ध का है और मम्मट ने तो इसकी बड़ी ही शास्त्रीय व्यवस्था कर दी है। आनन्द के पहले ध्वनि के विषय में तीन मत थे—अभाववादी, भक्तिवादी, अनिर्वचनीयतावादी—इनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है—

अभाववादी आचार्यों के मत में ध्वनि की सत्ता मान्य नहीं, परन्तु इस अमान्यता के लिए अनेक प्रकार की युक्तियाँ देने वाले आचार्यों के त्रिविध मत हैं जिससे अभाव वादी आचार्यों के तीन अवान्तर पक्ष हैं—

(क) नितान्त अभाववादी—प्रथम पक्ष का कथन है कि चारुतासम्पन्न शब्द और अर्थ के साहित्य पर ही काव्य की सत्ता निर्भर है। यह चारुता दो प्रकार से होती है—(१) स्वरूपमात्र से रहने वाली तथा (२) संघटना में रहने वाली। शब्द की स्वरूपनिष्ठ चारुता शब्दालंकार के द्वारा और संघटनाश्रित चारुता शब्द-गुणों के द्वारा होती है। इसी प्रकार अर्थ की स्वरूपनिष्ठ चारुता अर्थालंकारों द्वारा तथा संघटनाश्रित चारुता अर्थ गुणों द्वारा सम्पन्न होती है। चारुता की उत्पादिका वृत्ति तथा रीति भी गुणालंकार से भिन्न नहीं होती। वृत्तियाँ (परुषा, उपनागरिका तथा कोमला) अनुप्रास की ही प्रकार है तथा रीतियाँ (गौडी, वैदर्भी तथा पाञ्चाली) माधुर्यादि गुणों की समुदाय रूप है। काव्य के चारुत्व के प्रयोजक ये ही तत्त्व हैं। ध्वनि इनसे भिन्न है। फलत ध्वनि की कल्पना ही असिद्ध है।

(ख) प्रस्थानवादी—काव्य सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने वाले शब्द और अर्थ के युगल रूप से ही निर्मित होता है। काव्य की एक निश्चित परम्परा है। सरल सहृदयों के द्वारा निर्दिष्ट गुणालंकार समन्वित काव्य ही 'काव्य' शब्द का अधिकारी होता है। ध्वनि के विषय में इस प्रकार का कोई भी मतसम्मत सिद्धान्त नहीं है। कतिपय सहृदयों का मनोरंजन भले ही वह करता रहे, परन्तु समग्र विद्वज्जनों के हृदय का यह आकृष्ट नहीं करता। फलत काव्य प्रस्थान की दृष्टि से ध्वनि की सत्ता असिद्ध है।

(ग) अन्तर्भाववादी—इस मत का सिद्धान्त है कि ध्वनि नामक किसी अपूर्व पदार्थ की सम्भावना ही नहीं हो सकती। ध्वनि को नवीन आलोचक काव्य में चारुता उत्पन्न करने वाला एक साधन मानते हैं। ऐसी दशा में काव्य में शोभाधायक जितने साधन माने जाते हैं, उन्हीं में किसी के भीतर इसका अन्तर्भाव हो सकता है। ध्वनि कोई विलक्षण वस्तु नहीं ठहरती, बल्कि किसी विशिष्ट शोभाधायक साधन का यह एक

नवीन नामकरण-मात्र है। शब्द और अर्थ की विचित्रता का क्या कहीं कोई अन्त है? निर्मल बुद्धि के द्वारा समीक्षा करते जाइये, तो नये नये तत्त्वों का उन्मेष होता रहेगा। काव्य के जितने परिचित तथा परिज्ञात तत्त्व हैं, उनका उद्गम क्या किसी एक युग मे सम्पन्न हुआ है? नहीं, कभी नहीं। ये तो नवीन अनुशीलन के परिणत फल हैं। विचित्रताओ की जब इयत्ता ही नहीं, तब ध्वनि की नवीनता ही क्यो मानी जाय? यह इन्ही सम्भाव्यमान चारुता का एक नवीन उपकरण है। फलत ध्वनि का अन्तर्भाव अलकार आदि परिचित तत्त्वो में भली-भाँति किया जा सकता है। इस अन्तर्भाव की दृष्टि से भी ध्वनि की सत्ता असिद्ध है।

इन तीनो अभाववादी मतो मे सूक्ष्म अन्तर है। प्रथम पक्ष के अनुसार 'ध्वनि' नामक कोई काव्यतत्त्व होता ही नहीं। द्वितीय पक्ष के अनुसार ध्वनि काव्य का सर्वालोचक मम्मत तत्त्व नहीं है। कतिपय अलोचकसम्मत होने से इसका मान्यता स्वीकृत नहीं। तृतीय पक्ष में ध्वनि काव्य मे मान्य है, परन्तु एक स्वतन्त्र काव्यतत्त्व के रूप मे नहीं। गुण, अलकार आदि सर्वसम्मत काव्यतत्त्वो के भीतर ही इसका अन्तर्भाव माना जा सकता है। इन तीनो पक्षो का हम क्रमश नितान्ताभाववादी, प्रस्थानवादी तथा अन्तर्भाववादी का नाम समुचित रीति से दे सकते हैं।

भक्तिवादी—'भक्ति' का अर्थ है लक्षणा। इस अर्थ के भीतर अनेक कारण होते हैं।[१] भक्ति का मोटा अर्थ है भजन तोडना। मुख्य अर्थ को तोडकर जहाँ नवीन अर्थ की कल्पना की जाती है, वहाँ होती है भक्ति। जैसे 'कर्मणि कुशल' मे कुश लाने वाले अर्थ को तोडकर 'निपुण' अर्थ का प्रतिपादन। अनेक आचार्य ध्वनि की सत्ता मानते तो अवश्य हैं, परन्तु उसे वे लक्षणा के भीतर ही निविष्ट करते हैं।

अनिर्वचनीयतावादी—ध्वनि के तत्त्व को वाणी के क्षेत्र से बहिर्भूत मानता है। ध्वनि स्वत अनुभूति का विषय है। ध्वनि की शब्दजन्य मीमासा कथमपि नहीं हो सकती। आनन्दवर्धनसे पूर्व ध्वनि के विषय मे ये ही प्रधान मत थे। आनन्द ने इन सब का विधिवत् खण्डन कर ध्वनि के नवीन तत्त्व का समाधान किया है तथा उनके नाना भेदोपभेद का विवरण अपने 'ध्वन्यालोक' मे दिया है।

अलकार के इतिहास मे 'ध्वनि' की कल्पना बडी ही सूक्ष्म-बुद्धि की परिचायिका है। ध्वनि के चमत्कार को पाश्चात्य आलकारिक भी मानते हैं। महाकवि ड्राइडन की उक्ति--More is meant than meets the ear—ध्वनि की ही प्रकारान्तर से सूचना है। इस अंग्रेजी वाक्य का अक्षरार्थ है कि जितना श्रवण-गोचर होता हैं उससे अधिक अर्थ मे कवि का तात्पर्य होता है। कान से जितने शब्द सुनाई पडते हैं, उतने

१. द्रष्टव्य 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' कारिका का लोचन।

अनुमान के द्वारा उन्होंने प्रमाणित किये हैं। उनके 'व्यक्ति-विवेक' का इसी से गौरव है।

भीतरी वृत्त मे काव्य के बाह्य उपकरण तथा स्वरूप का विवेचन है। वृत्त की परिधि 'वक्रोक्ति' है जो बृहद् वृत्त को स्पर्श कर रही है। वक्रोक्ति कवि के कथन का एक विशिष्ट प्रकार है। इस वृत्त के भीतर एक त्रिकोण है जिसका ऊपरी बिन्दु है—रीति, और निचले बिन्दु हैं गुण और अलकार। रीति को काव्य की आत्मा मानने का श्रेय वामन को है। गुण की व्यवस्थात्मक विवेचना दण्डी ने सर्वप्रथम की तथा अलकार का काव्य मे समधिक महत्त्व प्रतिपादित किया भामह ने। गुण और अलंकृति का सुचारु विवेचन परस्पर सम्बद्ध युग के साहित्यिक प्रयास का फल है। दोनों का प्रतिपादन प्राय. समसामयिक ही हुआ है। रीति, गुण, और अलकार—ये तीनों तत्त्व काव्य के बहिरग साधन हैं और इनका वक्रोक्ति पर आश्रित होना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार अलकारशास्त्र के पूर्वोक्त समस्त सम्प्रदायों का पारस्परिक सम्बन्ध व्यवस्थित रूप से दिखलाया गया है[1]।

---

१. द्रष्टव्य

(१) कुप्पुस्वामी शास्त्री : हाईवेज एण्ड बाइवेज आफ लिटररी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत पृ० २७-३०।

(२) बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्य शास्त्र भाग २, पृ० १९।

छन्दोविचिति का इतिहास

छन्द शास्त्र संस्कृत शास्त्रों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस शास्त्र का प्राचीन अभिधान छन्दोविचिति है। इस नाम का अर्थ है वह ग्रन्थ जिसमें छन्दों का विशेष रूप से चयन (चिति, संग्रह) किया गया हो। इस शब्द का निर्देश पाणिनि के गणपाठ (४।३।७३) में उपलब्ध होता है तथा प्रयोग कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है[1] (१।३)। इस शास्त्र के छन्दोऽनुशासन, छन्दोविवृति, छन्दोमान आदि नाम भी मिलते हैं[2]। आचार्य पिङ्गल के द्वारा निर्मित ग्रन्थ इस शास्त्र का इतना मान्य तथा प्रामाणिक ग्रंथ है कि उसी नाम के आधार पर पूरा शास्त्र ही 'पिंगल' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

छन्दःशास्त्र का ज्ञान वेद तथा लोक दोनों के लिए आवश्यक है। छन्द का ज्ञान प्रत्येक वैदिक मन्त्र के लिए नितान्त उपयोगी माना जाता है, उच्चारण के लिए भी तथा अर्थज्ञान के लिए भी। आर्षेय ब्राह्मण (११०) तथा तदनुसारी सर्वानुक्रमणी में स्पष्ट प्रतिपादित है कि जो व्यक्ति मन्त्र के छन्द, ऋषि, देवता तथा ब्राह्मण बिना जाने हुए उससे यज्ञ कराता है अथवा पढ़ाता है, वही पापी होता है। उसका सकल अनुष्ठान गड्ढे में गिर जाता, अर्थात् व्यर्थ हो जाता है[3]। वेद के अर्थज्ञान के लिए भी छन्द शास्त्र की उपयोगिता गवेषणीय है। छन्द वेदपुरुष का पादस्थानीय है। जिस प्रकार पैरों के द्वारा ही पुरुष की गति तथा स्थिति होती है, उसी प्रकार वेद छन्दों के आधार पर ही खड़ा होता है, क्योंकि समस्त वेद छन्दोमय विग्रह है। फलत आधारभूत छन्दों का वेद के लिए अंगभूत होना नितान्त उपयुक्त है। "छन्दः पादौ तु वेदस्य" (पाणिनीय शिक्षा)।

---

१. शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तिश्छन्दोविचितिर्ज्योतिषमिति चाङ्गानि।

२ इन सब नामों के स्थल तथा अर्थ के लिए द्रष्टव्य युधिष्ठिर मीमांसक रचित वैदिक छन्दोमीमांसा (पृ० ३५-४२), १९५९ ई०, प्रकाशक हंसराज कपूर, अमृतसर।

३, यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति, गर्तं वा प्रपद्यते, प्र वा मीयते, पापीयान् भवति। यातयामान्यस्य च्छन्दांसि भवन्ति।

—दुर्ग की निरुक्त टीका तथा सर्वानुक्रमणी का आरम्भ।

छन्द शास्त्र की प्राचीनता

वैदिक संहिता में प्रधान छन्दों के नाम, देवता तथा तन्निष्पादक वर्ण-संख्या का उल्लेख स्पष्ट किया गया है। वैदिक छन्दों में सात छन्द मुख्य हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् तथा जगती। ये 'सप्त छन्दांसि' के नाम से निर्दिष्ट किये जाते हैं। इनके विषय में अथर्ववेद का यह कथन बड़े महत्त्व का है—

सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्योन्यस्मिन्नध्यर्पितानि।
(८। १९)

इस कथन में छन्दों की अक्षर संख्या का निर्देश है जो क्रम से चार-चार बढ़ती जाती है। इसी प्रकार ऋग्वेद के (१०।१३०। ४ तथा ५) मन्त्रों में गायत्री आदि छन्दों के देवता का उल्लेख किया गया है। ये निर्देश बड़े ही महत्त्व के हैं और इस तथ्य के प्रमापक हैं कि संहिता के सर्वप्राचीन युग में छन्दों के नियमन का परिचय अवश्य था। छन्दों का शास्त्रीय विवेचन वेदांग काल में सम्पन्न मानना नितान्त उचित है, क्योंकि यह वेद का एक माननीय अंग ही ठहरा।

छन्द शास्त्र की परम्परा

इस शास्त्र के उदय का इतिहास यथार्थतः बतलाना विषम समस्या है, परन्तु इस शास्त्र के ग्रन्थों में प्राचीन अनेक आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं, जिनके आधार पर इस प्राचीन युग का यत्किञ्चित् परिचय प्राप्त किया जा सकता है। आचार्य यादवप्रकाश (रामानुजाचार्य के गुरु, समय एकादश शती) ने पिंगलसूत्र के अपने भाष्य की समाप्ति पर इस परम्परा का द्योतक यह महत्त्वपूर्ण श्लोक[1] दिया है—

छन्दोज्ञानमिदं भवाद् भगवतो लेभे सुराणां गुरु-
स्तस्माद् दुश्च्यवनस्ततोऽसुरगुरुर्माण्डव्यनामा ततः।
माण्डव्यादपि सैतवस्तत ऋषिर्यास्कस्ततः पिंगल-
स्तस्येदं यशसा गुरोर्भुवि धृतं प्राप्यास्मदाद्यैः क्रमात्॥

परम्परा का रूप यह है = आद्य प्रवर्तक शिव—बृहस्पति—दुश्च्यवन (इन्द्र)—शुक्राचार्य—माण्डव्य—सैतव—यास्क—पिङ्गल। एक दूसरी परम्परा का उल्लेख करने वाला यह पद्य[2] प्रकार की रचना न होकर किसी हस्तलेख में भाष्य के अन्त में उद्धृत है—

छन्दःशास्त्रमिदं पुरा त्रिनयनाल्लेभे गुहोऽनादित-
स्तस्मात् प्राप सनत्कुमारकमुनिस्तस्मात् सुराणां गुरुः।
तस्माद् देवपतिस्ततः फणिपतिस्तस्माच्च सत्पिंगल-
स्तच्छिष्यैर्बहुभिर्महात्मभिरथो मह्यां प्रतिष्ठापितम्॥

१, २ इन दोनों पद्यों के विषय में द्रष्टव्य युधिष्ठिर मीमांसक—वैदिक छन्दोमीमांसा, पृ० ४७-४९। वहीं से ये यहाँ उद्धृत किये गये हैं।

इस परम्परा के भी प्रवर्तक अनादि शंकर ही हैं, जिनसे यह शास्त्र क्रमशः प्रचलित हुआ। शंकर→गुह→सनत्कुमार→सुरगुरु बृहस्पति→इन्द्र→शेषनाग (पतञ्जलि)→पिङ्गल।

इन दोनों परम्पराओं में प्रथम यादवप्रकाश के द्वारा निर्दिष्ट होने से अधिक प्रामाणिक, अतएव माननीय है। दूसरी परम्परा में भी छन्द शास्त्र के कतिपय मान्य आचार्यों का उल्लेख है जिनका परिचय हमें अन्य ग्रन्थों के आधार पर भी होता है। प्रथम परम्परा का ऐतिहासिक महत्त्व नितान्त माननीय तथा मननीय है। इस परम्परा के सहारे पिंगलसूत्र में निर्दिष्ट आचार्यों का पौर्वापर्य क्रम भली-भांति स्थिर किया जा सकता है।

वैदिक तथा लौकिक छन्द

छन्द के दो भेद हैं—वैदिक=वेदमन्त्रों में प्रयुक्त छन्द तथा लौकिक=रामायण, महाभारत तथा संस्कृत काव्यों में प्रयुक्त छन्द। इन दोनों का पार्थक्य विचारणीय है। लौकिक छन्दों का उदय तथा विकास वैदिक छन्दों से ही निष्पन्न हुआ, परन्तु दोनों की पद्धति में सूक्ष्म अन्तर है। वैदिक छन्द स्वरसंगीत पर आश्रित है, अर्थात् स्वरों के उच्चावच प्रकार पर आधारित हैं। उनमें अक्षर गणना ही प्रधान है, उन अक्षरों के रूप—ह्रस्व तथा दीर्घ—से उनका कोई भी महत्त्व नहीं है। लौकिक छन्द वर्णसंगीत पर आश्रित हैं, अर्थात् वर्णों के उच्चारण-प्रकार का समधिक महत्त्व है। इन वर्णों के गुरुलाघव के कारण ही छन्दों में सुश्रव्यता उत्पन्न होती है और इसी सुश्रव्यता को मुख्य तत्त्व मानकर लौकिक छन्दों की रचना हुई है। लौकिक छन्दों के अवतार की प्रख्यात वार्ता इस प्रसंग में ध्यातव्य है। क्रौञ्चवध की घटना ने महर्षि वाल्मीकि के हृदयपटल पर इतना प्रभाव उद्बुद्ध कर दिया कि हठात् उनके मुख से उनका शोक इस प्रसिद्ध श्लोक के रूप में बिखर पड़ा—

मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

शोकः श्लोकत्वमागतः—यह है वाल्मीकि का हृदयोद्गार।

निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।

यह है कालिदास की अनुभूति। भवभूति ने उत्तररामचरित के द्वितीय अंक में इस प्रसंग में ब्रह्मा के मुख से कहलाया है—अहो नूतनश्छन्दसामवतारः। प्रश्न तो यह है कि अनुष्टुप् का प्रयोग 'छन्दसां नूतनः अवतारः' किस प्रकार है- जब वैदिक मन्त्रों में अनुष्टुप् का बहुल प्रयोग उपलब्ध होता है। उत्तर है कि अष्टाक्षरों में गुरु

लघु के मञ्जुल सामञ्जस्य के कारण ही छन्द का यह नूतनत्व है। गुरु-लघु का प्रयोग इतना सुव्यवस्थित, सुसयत तथा सुसगत है कि उसके सुनने से विचित्र माधुरी की उत्पत्ति होती है। ऊपर उद्धृत 'मा निषाद' पद्य के विश्लेषण से स्पष्ट है कि इसके चारों चरणों मे पञ्चम वर्ण लघु तथा षष्ठ वर्ण गुरु है परन्तु द्वितीय-चतुर्थ चरणों में ही सप्तम वर्ण लघु है, अन्यत्र नहीं। श्रुतबोध मे श्लोक का यही सामान्य लक्षण है[1]। पिंगल छन्दसूत्र मे यह 'पथ्या' अनुष्टुप् है, जिसका लक्षण है—पथ्या युजो ज् (५।१४)। 'मा निषाद' मे इस लघु गुरु की व्यवस्था के कारण ही सुश्रव्यता है और वैदिक अनुष्टुप् से इसका यही नूतनत्व है—यही पार्थक्य है। वैदिक चतुष्पाद अनुष्टुप् से तुलना करने पर यह पार्थक्य अधिक स्पष्ट होता है —

सुविवृत सुनिरजमिन्द्र त्वादातमिद् यश ।
गवामप व्रज वृधि कृणुष्व राधो अद्रिव ।
—ऋ० १।१०।७

यहाँ वैदिक अनुष्टुप् होने के लिए आठ अक्षरों की सत्ता प्रति पाद म होनी चाहिए। यहाँ विचार करने पर आगे चरणों मे कुछ न कुछ पार्थक्य है, विभिन्नता है। वाल्मीकि का तथा तदनुसारी संस्कृत काव्यों का अनुष्टुप् इसीसे विकसित हुआ। और इसी विकसित सुव्यवस्था मे तथा तज्जन्य सुश्रव्यता म नूतनछन्दसामवतार' आश्चर्योक्ति की चरितार्थता है।

लौकिक छन्दों का विकास कब सम्पन्न हुआ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर देना जरा कठिन है। लौकिक छन्दों का सर्वप्रथम विवरण आचार्य पिंगल न प्रस्तुत किया—यह कथन यथार्थ नही है, क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थ मे लौकिक छन्दों के विवरण देने के प्रसंग मे प्राचीन आचार्यों का मत दिया है। आचार्य सैतव का मत अनुष्टुप् के प्रसंग मे (५।१८), उल्लिखित है। उनके अनुसार अनुष्टुप् के प्रतिचरण मे सप्तम वर्ण लघु नियमत रखना चाहिए। 'वसन्ततिलका' वृत्त को आचार्य काश्यप 'सिंहोन्नता' (७।९) तथा आचार्य सैतव[2] 'उद्धर्षिणी' की सज्ञा देते हैं (७।१०)। दण्डक के विवरण प्रसंग मे आचार्य रात तथा आचार्य माण्डव्य के मत का उल्लेख पिंगल में है (७।३५)। प्राचीन आचार्यों के इस समुल्लेख से स्पष्टत प्रतीत होता

१ पञ्चम लघु सर्वत्र सप्तम द्विचतुर्थयो ।
षष्ठ गुरु विजानीयात् एतत् पद्यस्य लक्षणम् ॥
—श्रुतबोध, श्लोक ११।

२ जानाश्रयी छन्दोविचिति (४।७०) के अनुसार आचार्य सैतव इसे 'इन्दुमुखी' नाम से पुकारते हैं।

है कि लौकिक छन्दो का आविर्भाव पिंगल से अति प्राचीन युग की व्यवस्थित घटना है। आचार्य यादवप्रकाश की प्रथम छन्द परम्परा का विश्लेषण बतलाता है कि माण्डव्य पिंगल के चार पीढी पूर्व होने वाले आचार्य हैं जिससे लौकिक छन्दो के विवरण का युग पर्याप्तरूपेण प्राचीन सिद्ध हो जाता है। इस प्रसग मे पाणिनि की व्याकरण अष्टाध्यायी तथा पिंगल की छन्द अष्टाध्यायी के स्वरूप का सामान्य विश्लेषण रोचक सिद्ध होता है। पाणिनीय अष्टाध्यायी की रचना से पूर्व भी लौकिक सस्कृत के व्याकरण ग्रन्थ थे जो इसकी प्रौढ़ता तथा प्रतिपादनविशदता के कारण अस्तगत हो गये। उसी प्रकार पिंगलीय अष्टाध्यायी के निर्माण से पूर्व लौकिक छन्दो के व्याख्यानकर्ता ग्रन्थ थे जो इसकी सुव्यवस्था तथा प्रतिपादनकौशल के कारण अस्तगत हो गये। 'षड्गुरुशिष्य' के अनुसार पाणिनि अग्रज थे तथा पिंगल उनके अनुज। यदि यह परम्परा मान्य हो, तो इस भ्रातृद्वयी का यह कार्य अनेक रूप मे समानान्तर था और अपने-अपने शास्त्र के व्याख्यान मे पूर्णतया सफल था। इस प्रसग मे एक अन्य तथ्य ध्यातव्य है। महर्षि पाणिनि ने 'जाम्बवती विजय' अथवा 'पातालविजय' नामक १८ सर्गो तक विस्तृत महाकाव्य का प्रणयन किया था[2] जिसके कतिपय पद्य ही सूक्ति सग्रहो तथा अन्य ग्रन्थो मे उपलब्ध होते हैं। इनमे स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित जैसे वृहदाकार वृत्तो मे पद्यों का निर्माण है। पाणिनि 'उपजाति' वृत्त के सिद्धहस्त कवि थे—इस तथ्य का पता क्षेमेन्द्र अपने 'सुवृत्ततिलक' मे देते हैं[3]। पाणिनि के उपलब्ध पद्यों मे उपजाति वाले पद्य समुचित, परम रमणीय तथा मनोहर हैं। ऐसे छन्दो का निर्माण एक दो दिनो की घटना नही है, प्रत्युत वर्षों के प्रयास से उनमे स्निग्धता तथा चिक्कणता आयी है। लौकिक छन्दो की इस प्रयोगमयी दिशा से भी विचार करने पर इनका आविर्भाव पाणिनि से प्राचीन काल की घटना सिद्ध होता है। आचार्य पिंगल का ग्रन्थ समुपलब्ध लौकिक छन्दोग्रन्थो मे सर्वप्राचीन है—यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

आचार्य पिंगल

आचार्य के देशकाल का यथार्थ परिचय नही मिलता। केवल उनकी

---

१ सर्वानुक्रमटीकायां षड्गुरुशिष्य—सूत्र्यते हि भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन।

२ द्रष्टव्य लेखक का 'सस्कृत साहित्य का इतिहास' (अष्टम स०, १९६८) पृ० १६१-१६८, तथा 'संस्कृत सुकवि समीक्षा (चौखम्बा, वाराणसी, १९६३) पृष्ठ ३४-४०।

३ स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः॥
—क्षेमेन्द्र

पिंगल के टीकाकार

पिंगल के लोकप्रिय वृत्तिकार का नाम भट्ट हलायुध है और उनकी वृत्ति का नाम है—मृतसञ्जीवनी। हलायुध ने 'कविरहस्य' नामक ग्रन्थ की रचना की थी जिसमें पाणिनीय सम्प्रदाय के समानरूप वाले धातुओं के अर्थ तथा प्रयोग का विशद उपन्यास है। इसमें उन्होंने आश्रयदाता कृष्णराज को 'राष्ट्रकूट कुलोद्भव' बतलाया है[1]। राष्ट्रकूट वंश में कृष्णराज नाम से प्रख्यात तीन राजा हुए—(१) कृष्णराज शुभतुङ्ग, (२) कृष्णराज अकालवर्ष, (३) तृतीय नरेश का भी यही नाम था कृष्णराज अकालवर्ष (राज्यकाल ८६७-८८८ शाके, ९४५-९६६ ई०)। इनके अनन्तर खुडिगदेव राजा बना। इस राजा खुडिगदेव का उल्लेख पिंगल सूत्रवृत्ति में दो स्थानों पर मिलता है[2]। शिलालेखों से पता चलता है कि खुडिगदेव कृष्णराज तृतीय का वैमात्रेय भ्राता था जो उसके बाद ८८८ शक से ८९३ शक तक राजगद्दी पर बैठा। भट्ट हलायुध इन दोनों राजाओं का समकालीन था। तत्पश्चात् वह मुञ्जराज के आश्रय में चला गया और इसलिए वाक्पतिराज मुञ्ज की प्रशंसा में इनके स्वनिर्मित अनेक पद्य प्रमाणभूत हैं[3] (४।१९, ४।२०, ५।३४, ५।३९, ७।५, ८।१२)। यह मुञ्ज धारानरेश राजा भोज का पितृव्य विद्वानों का आश्रयदाता तथा सरस्वती-सेवक महीपति था (समय है १० वीं शती का अन्तिम चरण) पिंगल-छन्दोवृत्ति के निर्माण का यही युग है। यह अत्यन्त लोकप्रिय, सर्वप्राचीन उपलब्ध व्याख्या है जिससे *पिंगल सूत्रों का अभिप्राय विशद रीति से स्फुट होता है।*

यादवप्रकाश

विषाद का विषय है कि पिंगलसूत्र का सर्वाधिक प्रौढ़, नितान्त प्रामाणिक तथा पाण्डित्यमण्डित भाष्य अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसके हस्तलेख उपलब्ध होते हैं। इस भाष्य का पूरा नाम है—पिङ्गलनागछन्दोविचिति-भाष्य और इसके प्रणेता हैं यादव प्रकाश जो अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता के अनुसार पुष्पिका में 'भगवान्' के आदरसूचक विशेषण से मण्डित किये गये हैं। 'यादवप्रकाश' विशिष्टाद्वैत-

---

१. तोलयत्यतुलं शक्त्या यो भारं भुवनेश्वरः ।
　कस्तं तुलयति स्थाम्ना राष्ट्रकूटकुलोद्भवम् ॥

२. पिंगलसूत्र ७।१३ तथा ७।२० की वृत्ति के हस्तलेख में। द्रष्टव्य पिंगलसूत्र (निर्णयसागर, बम्बई)।

३. ब्रह्मक्षत्रकुलीनः समस्तसामन्त-चक्रनुतचरणः ।
　सकलसुकृतैकपुञ्जः श्रीमान् मुञ्जश्चिरं जयति ॥
　　　　　　　　　　　　४।१९ का उदाहरण।

वेदान्त के इतिहास मे रामानुजाचार्य के गुरु के नाते पर्याप्त प्रख्यात हैं। १०१७–११३७ ई० सम्प्रदायानुसार रामानुज का जीवनकाल माना जाता है। अपने जीवन के आरम्भिक काल मे रामानुज ने इनसे वेदान्त की शिक्षा प्राप्त की थी। फलतः यादवप्रकाश का समय दशमशती के अन्तिम चरण से लेकर एकादशीशती का पूर्वार्ध मानना उचित प्रतीत होता है (लगभग ९७५ ई०–१०४० ई०)।

वैजयन्ती कोष के रचयिता होने से यादवप्रकाश की ख्याति विद्वत्समाज मे पर्याप्त है। इस कोष का वैशिष्ट्य है वैदिक शब्दो का सकलन। वेद के शब्दों[1] को लौकिक शब्दो के साथ सकलित कर यादवप्रकाश ने अपनी वेदनिष्ठा तथा वैदिक पाण्डित्य का स्पष्ट सकेत किया है। कोष प्रकाशित है[2] तथा पण्डितमण्डली मे प्रख्यात है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'यतिधर्मसमुच्चय' (सन्यासियो के कार्य-कलाप का परिचायक ग्रन्थ) अभी तक हस्तलेखो मे प्राप्य है।

इन दोनो ग्रन्थो की पृष्ठभूमि मे हम पिंगलसूत्रभाष्य के महत्त्व का मूल्याकन भली-भाँति कर सकते हैं। वैदिक पाण्डित्य से मण्डित भाष्यकार की कृति मे भाष्य का वैदिक भाग बडा ही पूर्ण, प्रामाणिक तथा उपादेय है। ये मन्त्रो तथा ब्राह्मणो के गम्भीर अनुसधाता थे। फलत छन्दोविषयक सूत्रग्रन्थ—जैसे ऋक् प्रतिशाख्य, सर्वानुक्रमणी, निदान सूत्र आदि—के प्रति इन्होने ध्यान नही दिया। पिंगल का वैदिक भाग प्रामाणिक होने पर भी सक्षिप्त है। यादवप्रकाश के भाष्य मे वैदिक छन्दविषयक अधिक सामग्री तथा प्रचुर उदाहरणो का चयन है जिसके कारण इनसे अवान्तरकालीन षड्गुरुशिष्य की 'सर्वानुक्रमणी' पर टीका व्यर्थ सी प्रतीत होती है। वैदिक छन्दो की सूक्ष्म बातो का विवेचन इतना सागोपाग है कि वे प्रातिशाख्यो मे भी उपलब्ध नही होती। इस भाष्य का उपयोग अवान्तरकालीन नानाशास्त्रपारगत भास्करराय ने अपने छन्दोविषयक ग्रन्थो मे किया है। लौकिक छन्दो के वर्णनप्रसग मे ये पिंगल के पूरक सिद्ध हुते है। नवीन छन्दो की उद्भावना कर उनका लक्षण पिंगल की शैली मे, सूत्रो मे, दिया है। इन नवीन छन्दो मे से कुछ तो 'जानाश्रयी छन्दोविचिति' से मिलते हैं और कुछ हेमचन्द्र के 'छन्दोऽनुशासन' से। ये वे छन्द हैं जो पिछले युग के कवियो द्वारा अपनी काव्यरचना मे समादृत तथा व्यवहृत है। फलतः

१ कतिपय शब्दो का निर्देश यह है—अनुवाक, खिल, उपखिल, आसन्दी, अद्विनिर्ल्वयनी, उद्दाम (वरुण), जागृवि, मनोजवा (अग्नि के सप्त जिह्वाओ मे अन्यतम), कुल्माष, ज्योक् (अव्यय)। कोष मे उपलब्ध ये वैदिक शब्द इनकी रुचि के परिचायक हैं।

२ डा० ऑपर्ट द्वारा मद्रास से प्रकाशित, १८९४।

यादवप्रकाश की दृष्टि व्यवहार तथा प्रयोग के समादर की ओर कम नहीं हैं, यद्यपि ये विशुद्ध शास्त्र के पारगामी पण्डित हैं। लौकिक वृत्तों के उदाहरण के लिए इन्होंने स्वरचित पद्यों को प्रयुक्त किया है।

भास्करराय

पिंगलसूत्र के तृतीय टीकाकार नानाशास्त्रपाण्डित्य मण्डित विद्वान् भास्करराय हैं। भास्करराय अपने युग के अलौकिक शेमुषीसम्पन्न प्रतिभाशाली पण्डित थे। आगम तो उनका अपना क्षेत्र था, परन्तु उससे भिन्न क्षत्रों में भी-विशेषत छन्द शास्त्र मे उनकी प्रतिभा का परिणत फल समालोचकों की दृष्टि को आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त है। केवल सत्रह साल के वय मे उन्होने छन्द कौस्तुभ लिखा, बीसवें वर्ष में वृत्तरत्नाकर के ऊपर मृतजीवनी व्याख्या लिखी, अन्य शास्त्रो मे वादकुतूहल' आदि आठ ग्रन्थोका प्रणयन किया, पचासवें वर्ष मे उन्होने वृत्तचन्द्रोदय नामक प्रौढ छन्दोग्रंथ की रचना की[1]। इसके सात वर्ष बाद १७९३ विक्रम स० मे (= १७३७ ई०) उन्होंने पिंगलसूत्र पर 'भाष्यराज' नामक व्याख्या का प्रणयन काशी म किया[2]। भास्करराय महाराष्ट्र ब्राह्मण थ। काशी मे ही अधिकतर रहते थे। समय है १७ शती का अन्तिम चरण तथा १८वी शती का पूर्वार्ध (लगभग १६८० ई०–१७४५ ई०)।

भास्करराय ने छन्द शास्त्र के विषय मे चार ग्रथो का प्रणयन किया जिनका रचनाक्रम उन्ही के कथनानुसार इस प्रकार सिद्ध होता है—(१) छन्द कौस्तुभ (रचनाकाल १६९७ ई०), (२) वृत्तरत्नाकर की मृतजीवनी व्याख्या (१७०० ई०), (३) वृत्तचन्द्रोदय (१७३० ई०) तथा (४) पिंगलसूत्रभाष्यराज (१७३७ ई०)। इनमे वृत्तचन्द्रोदय छन्द शास्त्र का बडा ही विशद विवेचक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थरत्न की रचना म हा भास्करराय को सन्तुष्टि नही हुई और उन्हे सत्तावन साल के प्रौढ वय मे पिंगलसूत्रो के ऊपर प्रौढ भाष्य लिखना पडा। यह यादवप्रकाश के भाष्य स अनेक

---

१ इस वृत्त क परिचय उन्ही के पद्यो स चलता है—
साधँ सप्तदशे गत वयसि मे सत् कौस्तुभो निर्मित
त्रिशत्के मृतजीवनी विरचिता प्राचीनरत्नाकरे।
पश्चाद् वादकुतूहलादिकनयस्त्वन्यान्तरेऽष्टौ कृता
पञ्चाशत्सु समासु स्वस्य विरचिता श्रीवृत्तचन्द्रोदय ॥

२. गुणनिधिमुनिभूमिते विक्रमवर्षे (१७९३ वि० स०)
वेदान्तछन्द सूत्रभाष्यराजोऽयमधिकाशि सम्पूर्ण ॥
वृत्तचन्द्रोदय की रचना १८५२ स० स (= १७३० ई०) में हुई—इससे दोग सात वर्ष पहिले।

अंशो मे भिन्न है। यादव प्रकाशभाष्य के समान वैदिक छन्दो के विवेचन में उतनी प्रौढि, विवेचननैपुण्य तथा गाम्भीर्य नहीं है। लौकिक वृत्तो के विवेचन मे उन्हे प्राकृत तथा अपभ्रंश के छन्दो के प्रभाव से उत्पन्न त्रुटियों तथा व्युत्क्रमो की अवहेलना करनी पडी है। फलत इन्हे कवि-प्रयोग तथा लोक-व्यवहार का समादर कर इस शास्त्र-विवेचन म एक नवीन दृष्टि का सचार करना पडा। यादवप्रकाशी भाष्य से वे परिचित थे। परन्तु सम्भवत उदाहरणो की अस्निग्धता तथा अचमत्कार के कारण उनका भाष्य उतना प्रख्यात तथा लोकप्रिय न हो सका, जितना अपने अन्तरग वैशिष्ट्य के कारण उसे होना चाहिए था। पिंगल की इस व्याख्यात्रयी मे हलायुध की वृत्ति ही सर्वात्मना लोकप्रिय है। हस्तलेखो म ही प्राप्य अन्तिम दोनो भाष्यो का प्रकाशन तथा अनुशीलन दोनो ही सामान्य जिज्ञासुजनो के लिए अभी दुर्लभ हैं[1]।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के दो अध्यायो मे छन्दोंका निरूपण किया है। काशी सस्करण वाले नाट्यशास्त्र क १५ तथा १६ अध्यायो मे छन्दशास्त्र का पर्याप्त सुन्दर वर्णन है। नाट्य के प्रसग म छन्दो का निरूपण अनिवार्य ही है, क्योंकि नाटक म वृत्तात्मक पद्यो का अस्तित्व है। भरत की दृष्टि व्यावहारिक है। फलत नाट्यव्यवहार को लक्ष्य म रखकर ही उनका यह छन्दोविवरण समन्जस होता है। १५वें अध्याय मे वृत्तो का सामान्य विवेचन है तथा १६वें अध्याय मे वृत्तो का लक्षण तथा उदाहरण दिया गया है। भरत अष्ट गणो से परिचित हैं (१५।८४ ८८) तथा उनके नाम भी वे ही पिंगल-सम्मत मगण भगण आदि हैं। परन्तु छन्दो के लक्षण देते समय भरत लघु गुरु पद्धति का ही आश्रयण करते हैं। प्रतीत होता है कि इस पद्धति के ये ही प्रतिष्ठापक अथवा परिवर्धक है। उदाहरण सब स्वविरचित है और उनम उन छदो के भी नाम मुद्रालकार द्वारा निर्दिष्ट है जिनके वे उदाहरण दिये गये हैं। यह प्रकार भी भरत की ही मौलिक सूझ प्रतीत होता है। पिंगल का नाम यहाँ निर्दिष्ट नहीं है। १६वें अध्याय के अन्त में यह शास्त्र 'छन्दोविचिति' नाम से निर्दिष्ट है। मेरी दृष्टि मे इस अभिधान की प्राचीनता का यह स्पष्ट पोषक प्रमाण है। निर्णयसागर से प्रकाशित नाट्यशास्त्र म वृत्तो के लक्षण मे गणीय पद्धति प्रयुक्त है। ऐसी परि-

---

१ विशेष द्रष्टव्य श्री शिवप्रसाद भट्टाचार्य का एतद्विषयक सुचिन्तित निबन्ध। जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता भाग ४, १९-२, सख्या तृतीय-चतुर्थ। पृष्ठ १७३–१९०। (प्रकाशित १९६८)। इन लेख म टिप्पणियो के पद्य उद्धृत किये गये है। यह निबन्ध हस्तलेखो पर आश्रित है और प्रमेयबहुल है।

स्थिति मे यह कहना नितान्त दुर्गम है कि भरत ने मूलत छन्दोलक्षण विन्यास मे किस पद्धति को अपनाया था[1] ।

वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता'[2] नानाविध विद्याओ के लिए तथ्यत विश्वकोश ही है। मुख्य विषय तो है ज्योतिष्शास्त्र, परन्तु अनेक उपयोगी विषयो का संकलन उसकी उपादेयता का प्रधान चिह्न है। इसी ग्रंथ के एकसौ तृतीय अध्याय मे (१०३) वराहमिहिर ने इस ग्रह गोचराध्याय मे गोचरो का वर्णन नाना छन्दो मे किया है और मुद्रालंकार के द्वारा वृत्त का भी निर्देश कर दिया है। वराहमिहिर (षष्ठशती) ने किस ग्रंथके आधार पर यह छन्दोनिर्देश किया है, यह कहना कठिन है। भट्टोत्पल ने इस अध्याय की वृत्ति मे मूलकारिका मे संकेतित वृत्त का लक्षण बडे विस्तार से प्राचीन लक्षणो को उद्धृत कर दिया है। उद्धरणो के स्रोत का पता नही चलता, परन्तु है यह कोई सुव्यवस्थित छन्दोग्रन्थ। वराहमिहिर का कथन[3] है कि प्रस्तार-जनित छन्दो के विस्तार को जानकर भी इतना ही काय होता है। अतएव उन्होने इस अध्याय मे 'श्रुतिसुखदवृत्त संग्रह' कर दिया, श्रुति कटुवृत्तो के ज्ञान से लाभ ही क्या होता ? इस कथन से छन्दोविचिति के विस्तार का संकेत मिलता है। मात्रावृत्त तथा वर्णवृत्त मिलाकर लगभग ६० छन्दो के लक्षण भट्ट उत्पल की व्याख्या म संगृहीत हैं। उत्पल का समय नवम शती है और वराहमिहिर का षष्ठ शती। मेरी दृष्टि मे वराहमिहिर का यह निर्देश नाट्यशास्त्र तथा 'जयदेव छन्द' के रचयिता जयदेव के मध्यवर्ती काल से सम्बन्ध रखता है और चतुर्थ पंचम शती मे जायमान छन्दोविकास का द्योतक है।

आचार्य पिंगल की ही परंपरा मे जानाश्रयी छन्दोविचिति[4] नामक छन्दोग्रंथ का प्रणयन हुआ। यह ग्रंथ सूत्रात्मक है और छ अध्यायो में विभक्त है। सूत्रोंके ऊपर

---

१ द्रष्टव्य नाट्यशास्त्र काशी चौखम्भा सं० अ० १६ जिसकी पाद टिप्पणी में निर्णय-सागर का पाठ भी दे दिया गया है।

२ इसका नवीन संस्करण सरस्वती भवन ग्रंथमाला मे संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है, वाराणसी, १९६८ ई०।

३. विपुलामपि बुद्ध्वा छन्दोविचितिं भवति कार्यमेतावत्।
श्रुतिसुखद वृत्तसंग्रहमिममाह वराहमिहिरोऽत्र ॥

४ वृत्ति सहित इसका प्रकाशन दो स्थानों से हुआ है– (क) अनन्तशयनसे १९४९ में अनन्तशयन ग्रन्थमाला सं० १९६३, (ख) रामकृष्ण कवि द्वारा सम्पादित तिरुपति से प्रकाशित १९५०, श्री वेंकटेश्वर प्राच्यग्रन्थमाला सं० २०।

एक सुबोध वृत्ति भी है जिसमे प्राचीन काव्य ग्रन्थो से श्लोक उदाहरण के लिए उद्धृत किये गए हैं। सूत्रकार तथा वृत्तिकार के व्यक्तित्व के विषय मे सन्देह है। दोनो को भिन्न मानना ही प्रामाणिक प्रतीत होता है[1]। पिछले युग के लेखको ने कभी सूत्रो को और कभी उसकी वृत्ति को भी 'जानाश्रय छन्दोविचिति' के नाम से उद्धृत किया है। सम्भवत यह दोनो का सम्मिलित अभिधान था। सूत्रो के प्रणेता कोई जनाश्रय उपाधिधारी राजा था जिसका व्यक्तिगत नाम माधव वर्मा प्रथम बतलाया जाता है। यह विष्णुकुण्डि वश का राजा था जिसने कृष्णा और गोदावरी जिलो पर षष्ठशती के अन्तिम चरण मे शासन किया। शासनकाल ५८०–६२० ई० माना जाता है। प्रथम वृत्तिकार इनके आश्रय में रहनेवाले गणस्वामी नाम के पण्डित थे। उपलब्ध वृत्ति इसी वृत्ति की व्याख्या करने को बतलाती है[2]। ग्रन्थ के आरम्भ मे जानाश्रय की यह स्तुति उनकी धार्मिकता तथा प्रभुता की विशद प्रशस्ति है—

स भूपनिरुदाग्रधीर्जयति सम्पदेकाश्रयो
जनाश्रय इति श्रिया वहति नाम सार्थं विभु ।
मखैरुरुभिरद्भुतैर्मघवतो जयश्रीरपि
जिता विजितशत्रुणा जगति येन रुद्धा चरत् ॥

जनाश्रय की ही छन्द शास्त्रीय आचार्यों मे गणना होने से उन्हे ही इसका कर्ता मानना उचित[3] है। वृत्ति मे उद्धृत श्लोको से भी ग्रन्थ के पूर्वोक्त निर्माणकाल की पुष्टि होती है। वृत्तिकार ने कालिदास, भारवि, कुमारदास, अश्वघोष के पद्यो को उद्धृत किया है। जानकीहरण के दो पद्य (१।३० तथा १।३७) यहाँ उद्धृत हैं। इन उद्धरणो से इस ग्रन्थ का समय ६०० ईस्वी के आसपास मानना उचित प्रतीत होता है।

---

१ 'माहेति समानम्' सूत्र २३ की दो व्याख्यायें दी गई हैं। ४।३ तथा ५।४३ सूत्र की वृत्ति में भी द्वैविध्य है। यह दोनो की भिन्नता होने पर ही सम्भव है।

२ द्रष्टव्य वृत्ति का आरम्भ पृ० १।

३ जयकीर्ति (११३८ ई०) ने अपने छन्दोऽनुशासन मे इनका उल्लेख किया है—

माण्डव्यपिङ्गल-जनाश्रय-सैतवाख्य
श्रीपादपूज्य-जयदेव-बुधादिकानाम् ।
छन्दासि वीक्ष्य विविधानपि सत्प्रयोगान्
छन्दोऽनुशासनमिद जयकीर्तिनोक्तम् ॥

अधिकार अष्टम, अन्तिम श्लोक।

ग्रन्थ के ६ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में छन्द शास्त्र की पारिभाषिकी संज्ञायें हैं। द्वितीय में विषम वृत्तों का, तृतीय में अर्ध समवृत्तों का, चतुर्थ में समवृत्तों का तथा पञ्चम में वैतालीय-मात्रासमक आर्या नामक त्रिविध जातिछन्दों का विवरण दिया गया है। षष्ठ अध्याय प्रस्तार-विषयक है। वृत्तिकार का कथन है कि ग्रन्थकार ने पिंगल आदि की छन्दोविचितियों में यथासम्भव न्यूनातिरेक का परीक्षण तथा परिहार कर इस नवीन ग्रंथ का प्रणयन किया। फलत पिंगल की परम्परा तो निश्चित है, परन्तु उससे भेद भी है। प्रधान भेद यह है कि जहाँ पिंगल ने तीन वर्णों के आठ गण (मगणादि) ही माने हैं, वहाँ जनाश्रय ने १८ गण स्वीकार किया है। वैदिक छन्दों का यहाँ तनिक भी निर्देश नहीं है।

जयदेव

जनाश्रय के समकालीन अथवा किञ्चित् पश्चाद्वर्ती जयदेव एक प्रौढ छन्द शास्त्री हुए जिनका ग्रन्थ उन्हीं के नाम पर 'जयदेवछन्द' के नाम से विख्यात है। ये प्राचीन आचार्य हैं, क्योंकि १००० ईस्वी तथा इसके पश्चात् होने वाले ग्रंथकारों ने उनके मत का उल्लेख किया है। पिंगल के टीकाकार भट्ट हलायुध (१० शती का अन्तिम चरण) ने इनके मत का खण्डन दो स्थानों पर किया है (१।१०[1], ५।८) और वहाँ इनका उल्लेख, सम्भवत उपहास के निमित्त, 'श्वेतपट' (श्वेताम्बरी जैन) नाम से किया है। अभिनवगुप्त ने इसी शती में इनके मत का उल्लेख अभिनवभारती में किया है[2]। वृत्तरत्नाकर का टीकाकार सुल्हण (जिसकी टीका का निर्माणकाल सं० १२४६ =११९० ई० है) श्वेतपट के नाम से जयदेव के मत का खण्डन करता है। जैन ग्रन्थकारों ने विशेष रूप से जयदेव के मत को उद्धृत किया है और इन्हें पिंगल के समकक्ष मान्यता तथा आदर देने के वे पक्षपाती प्रतीत होते हैं। अत इनकी ख्याति प्राचीन युग में विशाल थी—इसका परिचय इन उल्लेखों तथा संकेतों से स्थिर किया जा सकता है। यह जैनमतावलम्बी प्रतीत होते हैं। भट्ट हलायुध तथा सुल्हण के द्वारा 'श्वेतपट' शब्द से निर्देश इनके जैनी होने का निश्चित प्रमाण है। जैन ग्रन्थकार—जैसे जयकीर्ति, नमि साधु, तथा हेमचन्द्र—द्वारा उद्धृत करना तथा आदर देना भी इस संकेत को पुष्ट करता है। यही कारण है कि वृत्तरत्नाकर के समान सुव्यवस्थित ग्रन्थ होने पर भी इनका ग्रन्थ सर्वसाधारण वैदिक धर्मावलम्बियों में [illegible]प्रिय तथा समादृत

---

1 यान्त स्वत्र इति प्राकृत पैंगल श्वेतपटादिभि. ।
तदुपमर्शपरा[illegible] [illegible]नीतिप्रारित. ॥
मिला[illegible] जयदेवछन्द सूत्र ११८

2 अभिनवभारती १४।८३–८४ (बड़ौदा सं०)

न हो सका, यद्यपि इन्होंने वैदिक छन्दो का भी विवरण विधिवत् दिया है। हर्षट का समय ९५० ई० के आसपास है और इसलिए जयदेव का समय इतः पूर्व होना चाहिए सम्भवतः नवम शती का अन्तिम चरण (८७५ ई०)।

'जयदेवछन्द[१]' का आदर्श है पिंगल छन्द सूत्र और उसी प्रकार आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्याय वैदिक छन्दों का विवरण सूत्रों में देते हैं, परन्तु अन्तिम पाँच अध्यायों में लौकिक छन्दो का वर्णन है, परन्तु सूत्रशैली में नहीं, प्रत्युत वृत्तशैली में जो लक्षण तथा लक्ष्य का एक साथ समन्वय प्रस्तुत करती है। यही वृत्तशैली पिछले युग के छन्दग्रंथों के लिए अनुकरणीय आदर्श बन गई जैसे इन्द्रवज्रा का लक्षण इन्द्रवज्रा छन्द में ही प्रस्तुत किया गया है जिससे छन्दों के पृथक् उदाहरण देने की आवश्यकता कथमपि ग्रन्थकार के सामने प्रस्तुत नहीं होती। इस ग्रन्थ के टीकाकार मुकुलभट्ट के पुत्र हर्षट हैं जो वृत्ति की पुष्पिका से स्पष्ट है। टीका के हस्तलेख का समय ११२४ ईस्वी है। इससे इन्हें प्राचीन होना चाहिए। हर्षट काश्मीरी थे और बहुत सम्भव है कि वे 'अभिधावृत्तिमातृका' के प्रख्यात रचयिता मुकुलभट्ट के ही पुत्र हों। मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में मुकुलभट्ट के मत का खंडन किया है। फलतः हर्षट का समय दशम शती के पूर्वार्ध में मानना न्याय्य प्रतीत होता है (९५० ई०)।

जयकीर्ति—छन्दोऽनुशासन

जयकीर्ति कन्नड देश के जैन थे। आठ अधिकार (अध्याय) में विभक्त इस ग्रंथ के सप्तम अधिकार में लेखक ने कन्नड भाषा के छन्दों का भी विवरण दिया है जिससे उनके कन्नड भाषाभाषी होने का अनुमान असंगत न होगा। ग्रंथ के मंगलाचरण में उन्होंने 'वर्धमान' (जैन तीर्थंकर) की वन्दना की है जिससे इनका जैनत्व प्रकट होता है। छन्दोऽनुशासन' के हस्तलेख का समय (जिसके आधार पर यह ग्रन्थ मुद्रित है) ११९२ वि० सं० (= ११३५ ई०) है। इनका समय १००० ई० के आसपास माना जा सकता है।

'छन्दोऽनुशासन'[२] में केवल लौकिक छन्दों का ही विवरण है। इसमें वैदिक छन्दों का अभाव है। यह इस तथ्य का द्योतक है कि उस युग में वैदिक छन्दों के परिचय से सामान्य पण्डितजन पराङ्मुख हो गये थे और इसलिए अब उनके विवरण देने की

---

१ संस्करण एच० डी० वेलणकर द्वारा 'जयदामन्' के अन्तर्गत, पृ० १—४०। 'जयदामन्' का प्रकाशन बम्बई की 'हरितोषमाला' में हुआ है। बम्बई, १९४९।

२ जयदामन् में प्रकाशित, पृष्ठ ४१–७०।

आवश्यकता न रही। इस घटना को 'जयदेव छन्द' के वैदिक विवरण से तुलनात्मक दृष्टि से विचारने पर दोनों पौर्वापर्य का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। प्राचीन ग्रंथों मे वैदिक छदों का विवरण देना नितान्त आवश्यक माना जाता था। समग्र ग्रंथ आर्या तथा अनुष्टुप् छन्दो मे निबद्ध है। छन्दो के लक्षण देने वाले पद्य उन्ही छ दो मे विरचित हैं। यह ग्रंथ सस्कृत छन्दो से अतिरिक्त कन्नड छदो के ज्ञान के लिए भी उपयोगी है। ग्रंथ के अन्तिम पद्य मे माण्डव्य, पिंगल, जनाश्रय, सैतव, श्रीपादपूज्य तथा जयदेव के नाम छ द शास्त्र के ग्रंथकर्ता रूप से उल्लिखित किये गये हैं। इनके अतिरिक्त यति मानने वाले और न मानने वाले प्राचीन आचार्यों की दो परम्पराओ का समुल्लेख विशेषत महत्त्वशाली है –

(१ पिंगल, (२) वसिष्ठ, (३) कौण्डिन्य, (४) कपिल तथा (५) कम्बल-मुनि—यति की मान्यतावादी परम्परा, (६) भरत (७) कोहल, (८) माण्डव्य, (९) अश्वतर, (१०) सैतव—यति की अमान्यतावादी परम्परा।

वाञ्छन्ति यति पिङ्गल-वसिष्ठ कौण्डिन्य कपिल-कम्बलमुनय ।
नेच्छन्ति भरत-कोहल-माण्डव्याश्वतर-सैतवाद्या केचित् ॥

छन्दोनुशासन, १ अधिकार, १३ पद्य।

इन आचार्यों मे से अनेक नवीन हैं जिनके छन्दोविषयक ग्रंथो की छानबीन की आवश्यक है।

कर्ता[1] (अज्ञात) = रत्नमञ्जूषा

अज्ञातकर्तृक रत्नमञ्जूषा नाम्नी लघुकाय पुस्तक छन्द शास्त्र के इतिहास मे अनेक नवीनताओं के कारण अपना महत्त्व रखती है। मूलग्रंथ सूत्रो मे है जिसके ऊपर किसी अज्ञातनामा विद्वान् का भाष्य है। विषयप्रतिपादन मे भी पिंगल का सादृश्य तथा प्रभाव प्रतीत होता है। पिंगल से सादृश्य होने पर भी कई बातो मे मौलिक भेद है। जैन होने के नाते सूत्रकार वैदिक छन्दों का विवरण प्रस्तुत नही करता। मूल ग्रंथकार के जैन होने के स्पष्ट चिह्न मिलते, परन्तु भाष्यकार तो निश्चित रूप से जैन हैं। भाष्य के मगल श्लोक मे वीर (महावीर) की स्तुति होने से भाष्यकार का जैनत्व स्पष्ट सिद्ध है उदाहरणों मे बहुस्थलो पर (जो भाष्यकार की ही रचना प्रतीत होते हैं) 'जिन' की स्तुति तथा जैनमत के तथ्य उपलब्ध होते हैं।

---

१ समाप्य मञ्जूषा का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ने डा० वेलणकर के सम्पादकत्व मे किया है। मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला—सस्कृत ग्रन्थाक ५, १९४९ ई०।

कुल ८५ उदाहरणो मे से ४० उदाहरण मुद्रा द्वारा अपने छन्द का परिचय देते हैं। करीब २५ उदाहरण सामुद्रिक का उल्लेख करते हैं और सबमे मुद्रा द्वारा ही छन्द प्रतीत कराया गया है।

रत्नमजूषा भी पिंगल के समान ही अष्टध्यायी है जिसमे वैदिक छन्दों को छोड़कर विषय का प्रतिपादन सामान्यत सदृश है। परन्तु दोनो मे विभेद चिह्न विषयक है। पिंगल ने वर्णवृत्त मे छन्दोबोध के लिए त्रिक का प्रयोग किया है जो सख्या मे ८ है और व्यजन ही है (भ, ज, स आदि)। यह ग्रन्थकार त्रिक को स्वीकार करता है, परन्तु चिह्न बदल देता है। चिह्नों के दो वर्ग हैं—व्यञ्जनात्मक तथा स्वरात्मक। यथा पिंगल का 'म' यहाँ 'क्' अथवा 'आ' है उसी प्रकार पिंगल का सर्वलघु 'न' यहाँ 'ह्' या 'इ' है, आदि।

मात्रावृत्तो मे पिंगल के अनुसार ही चतुर्मात्रा वर्ग का उल्लेख किया गया है। सस्कृत मे मात्रावृत्तो की सख्या बहुत थोड़ी है और इनमे चतुर्मात्रा वर्ग ही लिए गए हैं। चतुर्मात्रा वर्ग लघु और दीर्घ वर्णो के विभिन्न प्रयोगो के आधार पर पाँच प्रकार का है। ग्रथकार ८४ वर्णवृत्तो का लक्षण निर्देश करता है। इसको गायत्री स उत्कृति तक २१ वर्गों मे बाँटा गया है। ८४ मे से करीब २१ छन्दो से पिंगल और केदार दोनो ही अपरिचित हैं। ग्रथकार का विभाजन हेमचन्द्र द्वारा पुरस्कृत जैन परम्परा को ही मान्य है। यह भी ग्रन्थकार को जैनमतावलम्बी सिद्ध करने का नया प्रमाण है। सूत्रो की सख्या प्रति-अध्याय क्रमश इस प्रकार है—२६, १८, २८, ३०, ३७, ३८, ३४, १९। सम्पूर्ण योग है २३० (दो सौ तीस केवल)। ग्रंथ रचना का समय हेमचन्द्र से पूर्ववर्ती लगभग ११ शती मे मानना उचित प्रतीत होता है।

केदारभट्ट—वृत्तरत्नाकर[1]

मध्ययुगीन छन्द शास्त्रियो मे केदारभट्ट सचमुच सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। छन्दो के वर्णन मे न तो उन्होने विस्तार किया है और न सक्षेप ही रखा है। उनका विवरण मध्यम कोटि का है। सस्कृत कवियो द्वारा बहुश प्रयुक्त छदो का विवेचन उनके ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है। वृत्तरत्नाकर मे छ अध्याय हैं और ग्रथ का प्रमाण है १३६ (एक सौ छत्तीस) श्लोक। प्रथम अध्याय मे सज्ञाविधान—शास्त्रीय सज्ञाओ का निर्देश है। द्वितीय अध्याय मे आर्या, गीति, वैतालीय, वक्त्र और मात्रासमक के प्रकरणो के अन्तर्गत क्रमश इन वर्गो के मात्रिक छदो का निरूपण है। तृतीय अध्याय मे सम वर्णवृत्तो का विवरण है उक्ता मे लेकर उत्कृति जाति तथा दण्डक का भी ▶

---

१. केवल मूलग्रथ के समीक्षात्मक सस्करण के लिए द्रष्टव्य जयदामन्, पृ० ७१-९३।

चतुर्थ अध्याय में अर्धसम वृत्तों तथा पञ्चम अध्याय में विषम वृत्तों का निरूपण है। अन्तिम षष्ठ अध्याय में प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट आदि प्रत्ययों का प्रतिपादन है।

छदों का लक्षण गणों के द्वारा दिया गया है। यहाँ लक्षण-उदाहरण का एकीकरण ग्रथ को संक्षिप्त बना देने में मुख्य हेतु है। समस्त ग्रथ पद्यबद्ध है—पिंगल के समान सूत्रबद्ध नहीं है। लघुकाय तथा सुव्यवस्थित होने के कारण यह ग्रथ बहुत ही लोकप्रिय रहा है। यहाँ तक कि मल्लिनाथ जैसे प्रौढ टीकाकार ने भी अपनी व्याख्या में छदों के निर्देशार्थ वृत्तरत्नाकर से ही लक्षण उद्धृत किया है। तथ्य तो यह है कि श्रुतबोध तथा वृत्तरत्नाकर ही आज संस्कृत-पाठकों को छदोबोध कराने वाले मान्य ग्रथ हैं। इनमें से श्रुतबोध तो लघुगुरु के निर्देश से लक्षण बतलाता है और वृत्तरत्नाकर गणों के द्वारा। 'वसन्ततिलका' का लक्षण श्रुतबोध में तो लघुगुरु पद्धति द्वारा वसन्ततिलका वृत्त में ही दिया गया है। वृत्तरत्नाकर इस कार्य के लिये गण-पद्धति का उपयोग करता है। यथा—

त । भ । ज । ज । ग ग.
उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः

वसंततिलका १४ वर्णों का वृत्त है जिसमें क्रमशः तभजज चार गण होते हैं तथा अन्त में दो गुरु होते हैं जिस पाद में यह लक्षण बतलाया गया है वह वसन्ततिलका ही है। इसी को केदारभट्ट ने 'लक्ष्यलक्षणसंयुत छद' कहा है (१।३)।

केदारभट्ट का देशकाल

उनके न देश का पता है और न काल का। ग्रथ के अन्तिम पद्य में इतना ही पता चलता है कि कश्यप वंश में इनके पिता उत्पन्न हुए थे। नाम था पव्वेक। वे शैव सिद्धान्त के वेत्ता थे। फलतः ये दक्षिण भारत के निवासी प्रतीत होते हैं। वृत्तरत्नाकर की सबसे प्राचीन हस्तलिखित प्रति का (जो जैसलमेर के पुस्तकालय में सुरक्षित है) लेखनकाल सं० ११९२ (= ११३५ ई०) है। वृत्तरत्नाकर के सर्वप्राचीन टीकाकार त्रिविक्रम का समय ११ शती का उत्तरार्ध है। फलतः केदारभट्ट का समय १० शती का पूर्वार्ध मानना उचित प्रतीत होता है। केदारभट्ट हेमचंद्र से निःसन्देह पूर्ववर्ती ग्रन्थकार हैं। इसका प्रमाण है सोमचन्द्र की वृत्तरत्नाकर व्याख्या। इस व्याख्या में एक स्थान पर उल्लेख किया है कि हेमचन्द्र ने वृत्तरत्नाकर की 'श्रुतिसुखदृढिमदि जगति' तथा 'निजशिर उपगतवति सति भवति यजा' इन दोनों पंक्तियों पर विचार किया है। यह निर्देश बड़े महत्त्व का है। इसका फलितार्थ है कि वृत्तरत्नाकर हेमचन्द्र से (१०८८ ई० तथा ११७२ ई० के मध्य में विद्यमान) प्राचीन है। अतः वृत्तरत्नाकर का रचनाकाल १००० ई० से भी पूर्वतर होना चाहिए[1]।

[1] द्रष्टव्य पी० के० गोडे—स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, खंड १ (प्रकाशक भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९५३) पृ० १६८-१७०।

टीका-सम्पत्ति

वृत्तरत्नाकर के ऊपर अनेक टीकाओं का प्रणयन होता रहा है जिनमे से अधिकांश हस्तलिखित रूप मे ही प्राप्त होती हैं। श्री वेलणकर के कथनानुसार सर्वप्राचीन टीकाकार (१) त्रिविक्रम है। ये राघवाचार्य के पुत्र थे जो गोदावरी तीरस्थ एलापुर के निवासी, माध्यन्दिन शाखा के अध्येता गौड ब्राह्मण थे। ये त्रिविक्रम अपने को कातन्त्र व्याकरण का पारगत पण्डित और विशेषत दुर्गाचार्य की एतद् वृत्ति का विद्वान् बतलाते हैं। सारस्वत व्याकरण पर उन्होने एक बृहत् वृत्ति की रचना की थी—वे स्वय बतलाते हैं। वृत्तरत्नाकर की इस वृति का निर्माणकाल सम्भवत ११ वी शती का उत्तरार्ध है।

वृत्तरत्नाकर के दूसरे टीकाकार (२) सुल्हण हैं जिनकी टीका का नाम सुकवि हृदयानन्दिनी है। ये भी दक्षिण भारतीय प्रतीत होते है। ये कृष्ण आत्रेय गोत्र के चैलादित्य के पौत्र तथा भास्कर के पुत्र थे। तृतीय अध्याय मे या अन्यत्र इन्होने स्वय रचित उदाहरण दिये हैं। इन उदाहरणो मे परमारवशी किसी विन्ध्यवर्मा राजा की सस्तुति की गई है। वृत्ति की रचना का काल १२४६ विक्रमी (=११८९ ई.) है इस वृत्ति मे 'जयदेवछन्द' के निर्माता जयदेव का श्वेतपट जयदेव नाम से उल्लेख किया गया है जिससे जयदेव का जैनमतावलम्बी होना स्वत सिद्ध है।

वृत्तरत्नाकर के तृतीय टीकाकार (३) सोमचन्द्र गणि हैं जिन्होने अपनी टीका की रचना स० १३२९ (=१२७ ई०) मे की। ये श्वेताम्बर जैन थे—देवसूरि कच्छ के मगलसूरि के शिष्य। ये हेमचन्द्र के छन्दोऽनुशासन से तथा इसकी वृत्ति छन्दश्चूडामणि से उदाहरणो को उद्धृत करते हैं औरकभी-कभी सुल्हण से भी इन्हे उद्धृत करते हैं। समय त्रयोदश शती का उत्तरार्ध।

१६ वी शती से वृत्तरत्नाकर की लोकप्रियता और भी अधिक बढी। इस शती में व्याख्याओ की बाढ-सी आ गयी। इस शती के प्रधान टीकाकार (४) रामचन्द्र विबुध हैं। ये बौद्ध भिक्षुक थे जो भारत से लका गये थे। इस टीकावाले मूल को हम सिंघली बौद्ध वाचना का प्रतिनिधि मान सकते हैं। रामचन्द्र भारती मूलतः बगाली ब्राह्मण थे जो लका गये। वहाँ वे पराक्रमबाहु षष्ठ (१४१० ई०-१४६२ ई०) के द्वारा बौद्धधर्म मे दीक्षित किये गए। उनकी उपाधि 'बुद्धागम-चक्रवर्ती' थी। डा० बेंडल के कथनानुसार ये महायान के विशेषज्ञ थे—उस महायान के जो थेरवादी लका मे अज्ञात ही था। इन्होने १४५५ ई० मे वृत्तरत्नाकर की टीका लिखी।

(५) समयसुन्दरगणि दूसरे जैन ग्रन्थकार हैं जिन्होने वृत्तरत्नाकर के ऊपर अपनी 'सुगमा वृत्ति' का प्रणयन १६९४ वि० (=१६३७ ई०) मे किया। इस वृत्ति के उदाहरण वे हेमचन्द्र के 'छन्दोऽनुशासन' से देते हैं। सोमचन्द्र तथा समयसुन्दर के

द्वारा निर्दिष्ट वृत्तरत्नाकर को हम जैन सम्प्रदायानुमोदित मूल मान सकते हैं। (६) नारायण भट्ट की टीका प्रकाशित है तथा मूल को समझाने के लिए उपयोगी मानी जाती है। ये काशी के निवासी थे तथा रामेश्वर भट्ट के पुत्र थे। वर्तमान विश्वनाथ जी के मन्दिर की स्थापना नारायण भट्ट के द्वारा बतलाई जाती है। इन्होंने धर्मशास्त्र के विषय में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें 'प्रयोगरत्न' तथा 'त्रिस्थली-सेतु' प्रख्यात माने जाते हैं। टीका का रचनाकाल १६०२ श० सं० = १६८० ई० है। पंचम परिच्छेद में गाथा के अन्तर्गत अनेक प्राकृत छन्दों का लक्षण तथा उदाहरण संगृहीत है। इसके लिए वे मुख्यतया प्राकृत पिंगल के ऋणी हैं। (७) भास्कर की सेतुनाम्नी टीका भी इसी युग से सम्बन्ध रखती है। रचनाकाल १७३२ विक्रमी है (= १६७५ ई०)—नारायणीय टीका से प्राय: पाँच वर्ष पहिले। भास्कर नासिक जिले में त्र्यम्बकेश्वर के निवासी थे। इनके पिता का नाम आपाजी अग्निहोत्री था। इन्होंने सुल्हण के पाठों का खण्डन तथा 'सुधा' नाम्नी किसी अन्य वृत्तरत्नाकरीय व्याख्या का उल्लेख किया है। वाणीभूषण तथा वृत्त-मौक्तिक का भी निर्देश है। ये चारों व्याख्यायें सोलहवीं शती में रची गईं।

अन्य व्याख्याओं के रचनाकाल का परिचय नहीं मिलता। (८) जनार्दन की (या जनार्दन विबुध) भावार्थदीपिका की रचना १६ वीं शती के थोड़े ही पश्चात् प्रतीत होती है। उसका एक हस्तलेख १७११ शाके (= १७८९ ई०) का प्राप्त हुआ है। इन्होंने 'वृत्तप्रदीप' नामक स्वतन्त्र छन्द ग्रन्थ का प्रणयन किया था। नये वृत्तों का इन्होंने उदाहरण स्वयं नहीं बनाया, प्रत्युत सुल्हण तथा हेमचन्द्र से ही उदाहरण उद्धृत किया है। इन्होंने जयदेव को उद्धृत किया है, इसके पश्चात् (९) सदाशिव, (१०) श्रीकण्ठ, (११) विश्वनाथ (प्रभा टीका हरिसिंह के सखा द्वारा विरचित), (१२) कृष्णसार उपनाम वेदेन्द्रभारती (वृत्तप्रकाशिका टीका) तथा (१३) करुणाकर दास (कविचिन्तामणि नाम्नी व्याख्या) ने भी वृत्त-रत्नाकर पर अपनी टीकायें रची, परन्तु इनके आविर्भावकाल पता नहीं चलता। अन्तिम दो टीकाओं में प्राचीन छन्दशास्त्रों जनाश्रय का तथा उनकी रचना 'जानाश्रयी छन्दोविचिति' से उल्लेख तथा उद्धरण मिलते हैं। सम्भवतः यह टीकाओं की प्राचीनता का द्योतक हो[1]। (१४) दिवाकर रचित 'वृत्तरत्नाकरादर्श' नाम्नी टीका का

१ इन टीकाओं में से केवल दो संख्या ८ तथा ६ निर्णयसागर से प्रकाशित हैं। अन्य केवल हस्तलेख रूप में हैं। इनके लिए विशेष द्रष्टव्य डा० वेलणकर-जयदामन की भूमिका पृष्ठ ४२, ४३ तथा ४९-५३। टीका संख्या १२ तथा १३ के हस्तलेखों के लिए 'जानाश्रयी छन्दोविचिति' की प्रस्तावना पृष्ठ १२ (प्रकाशक अनन्तशयन ग्रन्थमाला, १९४९ ई०)।

रचनाकाल, १६८४ ई० है। यह अभी इण्डिया आफिस मे हस्तलेख रूप मे हैं इसमें छन्दोगोविन्द, छन्दोविचिति, छन्दोमञ्जरी, छन्दोमातङ्ग, छन्दोमार्तण्ड, छन्दोमाला, लक्ष्मीधर निर्मित पिंगल टीका तथा वृत्तकौमुदी नामक छन्दोग्रन्थों के नाम निर्दिष्ट है[1]।

क्षेमेन्द्र—सुवृत्ततिलक

'सुवृत्ततिलक'[2] एक प्रौढ महाकवि की छन्द.शास्त्र के विषय मे दीर्घकालीन अनुभूति का परिचायक ग्रथ है। है तो स्वल्पकाय, परन्तु विषय विवरण मे महत्त्वशाली है। ग्रथ के तीन विन्यास (अध्याय) हैं जिनके प्रथम विन्यास मे लक्षण श्लोको म है तथा उदाहरण स्वरचित पद्यो मे हैं। दूसरे विन्यास मे अन्य कवियो से अवतरण हैं जिनमे छन्द शास्त्र के नियमों का पूर्णतया पालन नहीं हो सका है। तीसरे विन्यास मे रस तथा वर्ण्यविषयो के साथ छन्दो का उपयुक्त सम्बन्ध स्थापित किया गया है। छन्द का अपना वैशिष्ट्य है, निजी औचित्य है। वह सर्वत्र जम नही सकता। विशेष स्थलों पर ही उसका वैभव खुलता है। यह विन्यास सस्कृत के छन्दो ग्रथो मे नितान्त अपूर्व है। इस विवरण के पीछे कवि का दीर्घकालीन कविकर्म उत्तरदायी है। क्षेमेन्द्र का यह स्पष्ट मत है कि काव्य मे रस तथा वर्णन के अनुसार ही वृत्तो का विनियोग रखना अपेक्षित है[3]। इस सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिए क्षेमेन्द्र ने अनेक अनुभूत बातें कही है। जैसे पावस तथा प्रवास के वर्णन के लिए मन्दाक्रान्ता ही योग्यतम वृत्त है[4]। शास्त्रीय तथ्य की रचना प्रसन्न अनुष्टुभ् के द्वारा करनी चाहिए। तभी उससे सर्वोपकारी होने का उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। क्षेमेन्द्र ने विशिष्ट कवियो के विशिष्ट छन्दो का भी उल्लेख किया है जो सर्वाङ्गतया नूतन तथा चमत्कारी सूझ है। कालिदास का सर्वश्रेष्ठ तथा प्रिय वृत्त है मन्दाक्रान्ता। भवभूति की शिखरिणी, राजशेखर का शार्दूलविक्रीडित, भारवि का वशस्थ, पाणिनि की उपजाति इसी प्रकार के सर्वविशिष्टचमत्कार छन्द हैं। क्षेमेन्द्र की यह आलोचना बडी मार्मिक और यथार्थ है। पाणिनि के कुछ ही पद्य सूक्तिसग्रहो मे उपलब्ध हैं और उनमे उपजाति ही निश्चितरूपेण चमत्कारकारिणी है। सत्य यह है कि क्षेमेन्द्र प्रथमत हैं महाकवि और तदनन्तर

---

१ गोडे, स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, भाग १, पृ० ४६४।

२ काव्यमाला, द्वितीय गुच्छक मे प्रकाशित।

३ काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोग विभागवित् ॥ ३.६

४. प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते।
शास्त्रं कुर्यात् प्रयत्नेन प्रसन्नार्थमनुष्टुभा।
येन सर्वोपकाराय याति सुस्पष्टसेतुताम् ॥ ३ ६।

हैं छन्द शास्त्री। फलत वे अपनी काव्यानुभूतियों से लाभ उठाये बिना रह नहीं सकते। सुवृत्ततिलक का इसीलिए महत्त्व है। क्षेमेन्द्र काश्मीर के महाकवि थे। समय है ११वीं शती का मध्यकाल (लगभग १०२५ ई०—१०७५ ई० तक[1])।

कालिदास—श्रुतबोध

कालिदास के नाम पर प्रख्यात श्रुतबोध लौकिक छन्दों की जानकारी के लिए सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। संस्कृत काव्यों में प्रयुक्त प्रचलित छन्दों का वर्णन इसका वैशिष्ट्य है। गणों के नाम तथा रूप का उल्लेख है (पद्य ३), परन्तु गणपद्धति का उपयोग लक्षण-विन्यास के लिए नहीं किया गया है। पद्धति लघुगुरु वाली ही है तथा लक्षण तथा लक्ष्य दोनों का वर्णन एक ही पद्य में किया गया है। इससे इसकी बालोपयोगिता स्पष्ट है। पूरे ग्रंथ में ४४ श्लोक है। प्रथम मंगलपद्य को छोड़कर सबका सम्बन्ध विषय-प्रतिपादन से है। मात्राछन्दों में आर्या, गीति तथा उपगीति—इन तीन का ही लक्षण है तथा वर्णवृत्तों में ३७ वृत्तों का वर्णन है जिससे दोनों को मिलाकर छन्दों की संख्या ४० है। लोकव्यवहार की दृष्टि की प्रधानता होने से यहाँ न तो वैदिक छन्दों का वर्णन है, न दण्डक और न षट् प्रत्ययों का ही। सुगमता से छन्दों का ज्ञान कराने में श्रुतबोध सचमुच एक सफल प्रयास है। कालिदास के नाम से इसकी प्रसिद्धि इसकी लोकप्रियता की सूचिका है।

हेमचन्द्र[2]—छन्दोऽनुशासन

हेमचन्द्र का छन्दोऽनुशासन छन्दोविचिति के इतिहास में अनेक दृष्टियों से महत्त्व रखता है। यह सूत्रबद्ध अष्टाध्यायी है पिंगल की छन्दोविचिति के समान ही। संस्कृत वृत्तों के परिज्ञान के लिए यह ग्रंथ उतना आवश्यक तथा उपादेय भले ही न माना जाय, परन्तु प्राकृत तथा अपभ्रंश छन्दों की जानकारी के लिए तो यह विश्वकोश सा उपयोगी है। आलोचकों की दृष्टि में हेमचन्द्र संग्राहक के रूप में विशेष महत्त्व रखते हैं, परन्तु इस ग्रन्थ में उनका वैशिष्ट्य विवेचक रूप में दृष्टिगत होता है। प्राचीन छन्द-शास्त्रियों से उन्होंने सामग्री का संकलन अवश्य किया है, परन्तु उनका मौलिक विवेचन पदे पदे ध्यान आकृष्ट करता है। इस ग्रंथ पर उनकी स्वोपज्ञवृत्ति भी है जो 'छन्दश्चूडामणि' के नाम से प्रख्यात है।

---

१ विशेष द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास (अष्टम सं० १९६८, वाराणसी) पृष्ठ २७४–२८१।

२ इसका बहुत ही सुन्दर समीक्षात्मक संस्करण श्री वेलणकर ने सम्पादित किया है—सिंघी जैन ग्रन्थमाला ग्रन्थांक ४९ (भारतीय विद्या भवन, बम्बई, वि० सं० २०१३)।

ग्रंथ मे आठ अध्याय हैं। मूलग्रंथ सूत्रो में रचा गया है। प्रथम अध्याय में सज्ञाओ का वर्णन है (१७ सूत्र)। द्वितीय मे समवृत्तो का (४०१ सूत्र), तृतीय मे अर्धसम-विषम-वैतालीय-मात्रासमक आदि का (७३ सूत्र), चतुर्थ मे आर्या गलितक-खञ्जक-शीर्षक का (९१ सूत्र), पचम- षष्ठ तथा सप्तम मे अपभ्रंश छन्दो का (४२+३२+७३ =१४७ सूत्र) तथा अष्टम मे प्रस्तार आदि षट् प्रत्ययो का विवरण है (१७ सूत्र) इस सामान्य निर्देश से ही ग्रन्थ के शास्त्रीय महत्त्व की पर्याप्त अभिव्यक्ति होती है। हेमचन्द्र की विमल प्रतिभा ने प्राकृत तथा अपभ्रंश के अन्तर्निविष्ट सौन्दर्य का पूर्णत आकलन कर उन्हे लोकभाषा के स्तर से उठाकर शास्त्रीय स्तर पर खडा कर दिया। अपभ्रश के कविजन अपने काव्यो की रचना इन छन्दो मे किया करते थे, परन्तु उसपर अभी शास्त्र की मुहर नही लगने से वे छन्द ग्रामीण तथा अपरिष्कृत माने जाते थे। हेमचन्द्र ने इस त्रुटि को अपने इस विवरण से सद्य दूर कर दिया। यहाँ कुल मिलाकर सात आठ सौ छन्दो पर विचार हुआ है। प्राचीन छन्दो के नये भेदो का वर्णन यहाँ किया गया है। विशेष बात यह है कि हेमचन्द्र ने स्वरचित वृत्तो को ही उदाहरणो के रूप मे प्रस्तुत किया है—संस्कृत के प्रसग मे तथा प्राकृत तथा अपभ्रश छन्दो के उदाहरण के अवसर पर भी। समग्र ग्रथ सस्कृत के सूत्रों मे निबद्ध है। केवल उदाहरण तत्तत् भाषा मे हैं। इससे हेमचन्द्र की काव्यविरचन-चातुरी का भी पूर्ण परिचय सहृदयो को प्राप्त होता है।

मात्रिक छन्दो के नवीन प्रकारो के समुल्लेख से यह ग्रथ मात्रिक छन्दो के विवरण तथा विश्लेषण से बडा ही महत्त्वपूर्ण, मौलिक तथा उपादेय है। इस ग्रथ के द्वारा हेमचन्द्र ने काव्यविरचन के निमित्त एक विशेष त्रुटि का अपनयन किया है। हेम-सिद्धानुशासन, काव्यानुशासन तथा छन्दोऽनुशासन—ये तीनो ही हेमचन्द्र की प्रतिभा से सभूत अनुशासनत्रयी हैं जिसने क्रमश शब्द, अलंकार तथा छन्द का नियमन शास्त्रीय पद्धति से कर सस्कृत साहित्य मे अपने रचयिता के लिए प्रभूत ख्याति अर्जित की है।

वृत्तरत्नाकर के पश्चाद्वर्ती छन्द शास्त्रियो के ऊपर प्राकृत छन्द शास्त्र का थोड़ा प्रभाव लक्षित होता है। इस युग के ग्रंथो मे कतिपय महत्त्वशाली रचनाओ का सामान्य सकेतमात्र यहाँ करना उचित प्रतीत होता है। प्राकृत छन्द शास्त्र से प्रभावित ग्रथो मे दामोदर मिश्र का वाणीभूषण[1] अन्यतम है। ये दामोदर मिश्र दीर्घघोष-कुलोत्पन्न मैथिल ब्राह्मण थे जो मिथिला के राजा प्रसिद्ध कीर्तिसिंह के दरबार से सम्बद्ध थे। ये ही राजा कीर्तिसिंह विद्यापति के अवहट्ट भाषा मे निबद्ध 'कीर्तिलता' के

१. काव्यमाला मे प्रकाशित स० ५३, १८९५ ई०।

नायक है। फलतः दामोदर मिश्र मैथिलकोकिल विद्यापति के समकालीन थे (समय १५ शती)। वाणीभूषण प्राकृत-पैंगल के समान ही दो परिच्छेदों में है—प्रथम में मात्रावृत्तों तथा द्वितीय में वर्णवृत्तों का सोदाहरण विवेचन है। प्राकृत पैंगल का विपुल प्रभाव इस ग्रंथ के ऊपर है।

गङ्गादास—छन्दोमञ्जरी

गंगादास की छन्दोमञ्जरी अपनी कोमल दृष्टान्तावली तथा सुबोध लक्षणावली के कारण नितान्त लोकप्रिय है। उड़िया लेखक का यह ग्रंथ अपनी लोकप्रियता में दूसरे उड़िया लेखक विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण के समान ही अपने क्षेत्र में ख्यातिप्राप्त है। गंगादास कोमल कविता के रचयिता उड़िया वैष्णव थे। छन्दोमञ्जरी के प्रणेता गङ्गादास के जीवनवृत्त की घटनायें अज्ञात ही है। इस ग्रन्थ के मंगलश्लोक से इतना ही प्रतीत होता है कि इनके पिता का नाम वैद्य गोपालदास तथा माता का सन्तोपीदेवी था। ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से इनकी अन्य रचनायें (१) अच्युतचरित महाकाव्य षोडश सर्गात्मक, (२) कंसारिशतक (श्रीकृष्ण की स्तुति) तथा (३) दिनेशशतक (सूर्य की स्तुति) सिद्ध होती है। गंगादास परम वैष्णव थे—गोपाल के भक्त। इन्होंने अपने पिता की रचना 'परिजातहरण' नाटक का एक पद्य उद्धृत किया है। अपने 'अच्युतचरित' से भी तथा अपने गोपालशतक से भी उद्धरण दिये हैं। यह 'गोपालशतक' क्या इनका नया कोई ग्रंथ है अथवा 'कंसारिशतक' का ही नामान्तर है? इसका समाधान देना कठिन है। इनके गुरु का नाम पुरुषोत्तम भट्ट था जिनके ग्रंथ 'छन्दोगोविन्द' से इन्होंने एक पद्य उद्धृत किया है। यह[1] पद्य श्वेतमाण्डव्य आचार्य के यतिविषयक मत के समुल्लेख करने से अपना महत्त्व रखता है।

गंगादास के देशकाल का यथार्थतः परिचय अप्राप्त था। प्रसिद्धि है कि वे उत्कल के रहने वाले थे। छन्दोमञ्जरी में उन्होंने वृत्तरत्नाकर (समय १००० ई०) का संकेत किया है। १६८४ ई० में निर्मित वृत्तरत्नाकरादर्श नामक व्याख्या में छन्दोमञ्जरी का निर्देश है। इण्डिया आफिस लाइब्रेरी (लन्दन) में १६७१ ई० से इस ग्रंथ की प्रतिलिपि विद्यमान है। उज्ज्वलनीलमणि में रूपगोस्वामी (जन्मकाल १४९० ई०, मृत्युकाल १५६२ ई०) ने छन्दोमञ्जरी को उद्धृत किया है। सम्भवतः नीलमणि की रचना १५५० ई० के आसपास मानना अनुचित न होगा। इससे उल्लिखित होने से छन्दोमञ्जरी १७ वीं शती से प्राचीन ग्रंथ है। इस ग्रंथ में जयदेव भी उद्धृत हैं। यदि

---

१ अयं च श्लोकः छन्दोगोविन्दे मम गुरोः
श्वेतमाण्डव्यमुख्यास्तु नेच्छन्ति मुनयो यतिम्।
इत्याह भट्टः स्वग्रन्थे गुरुर्मे पुरुषोत्तम ॥ ७० ॥

ये चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव से अभिन्न हों, यह ग्रन्थ १३०० ई० के अनन्तर निर्मित हुआ। फलत छन्दोमञ्जरी का समय १३०० ई० तथा १५०० ई० के बीच में कभी मानना चाहिए। ग्रन्थ में छः स्तबक हैं जिसके अन्तिम स्तबक में गद्यकाव्य तथा उसके भेदों का भी वर्णन उनकी व्यापक दृष्टि का परिचायक है।

छन्दोमञ्जरी की अपेक्षा विषय की दृष्टि से अधिक व्यापक तथा प्रौढ पाण्डित्य-मय ग्रन्थ है वृत्तमौक्तिक[1] जिसकी रचना विद्वान् लेखक कविशेखर भट्ट चन्द्रशेखर ने कार्तिकी-पूर्णिमा १६७६ वि० सं० (= १६२० ईस्वी) में की। ग्रन्थकार की प्रशस्ति से यह भी पता चलता है कि चन्द्रशेखर भट्ट के अकाल मे स्वर्गवासी हो जाने पर इसकी पूर्ति उनके पूज्य पिता लक्ष्मीनाथ भट्ट ने की। चन्द्रशेखर भट्ट का जन्म विद्वान् ब्राह्मण कुल मे हुआ था। ये महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के अनुज रामचन्द्र के वशज थे। इनके पिता लक्ष्मीनाथ भट्ट थे जिन्होंने प्राकृतपैंगल के ऊपर 'पिंगलप्रदीप' नामक प्रख्यात व्याख्या १६५७ वि० स० (=१६०० ई०) मे लिखी। फलत छन्द-शास्त्र का विपुल ज्ञान इन्हें पूज्य पिता से पैतृक सम्पत्ति के रूप मे प्राप्त हुआ था। विषय की दृष्टि से वृत्तमौक्तिक छन्द.शास्त्र का बड़ा ही प्रौढ पाण्डित्यपूर्ण तथा व्यापक ग्रन्थ है। इसमे अनेक उल्लेखनीय वैशिष्ट्य हैं। वृत्तमौक्तिक के निर्माण से पूर्व वि० स० १६७३ में ग्रन्थकार ने प्राकृतपिंगल की उद्योत नाम्नी टीका लिखी थी जो केवल प्रथम परिच्छेद पर ही है। वृत्तमौक्तिक के दो खण्ड हैं—प्रथम मे मात्रावृत्त का विवरण तथा द्वितीय मे वर्णिकवृत्त का विवरण है। मात्रावृत्तों मे हिन्दी के छन्दों का विवेचन नवीन है। जैसे सवैया प्रकरण मे इसके नाना प्रकारो के लक्षण तथा उदाहरण उपन्यस्त हैं। द्वितीय खण्ड के नवम तथा दशम प्रकरण मे विरुदावली तथा खण्डावली का लक्षण दिया है जो सर्वथा अपूर्व है। २१ विरुदावलियों के उदाहरण ग्रन्थकार ने श्रीरूपगोस्वामी के 'गोविन्दविरुदावली' ग्रन्थ से उद्धृत किया है। इस प्रकार संस्कृत के नवीन छन्दों के निरूपण के साथ-साथ हिन्दी छन्दों का निरूपण इसकी उपादेयता का स्पष्ट प्रमाण है।

तैलंगवशीय कवि-कलानिधि देवर्षि कृष्णभट्ट रचित वृत्तमुक्तावली[3] का रचना-काल वृत्तमौक्तिक से लगभग सवा सौ वर्ष पीछे है। १७८८ स० से १७९९ स० के मध्य में कभी इसकी रचना की गयी। इसमे केवल तीन गुम्फ हैं—(१) वैदिक छन्द, (२) मात्रिक छन्द, तथा (३) वर्णिक छन्द। ग्रन्थ तो है छोटा ही, परन्तु मध्ययुग

१. द्रष्टव्य—गोडे हिस्ट्री, प्रथम भाग पृ० ४६०-४६९।

२ राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला में प्रकाशित। ग्रंथ सख्या ७९। महोपाध्याय विनयसागर द्वारा सम्पादित १९६५। उपादेय भूमिका के साथ विभूषित।

३. राजस्थान-पुरातन ग्रन्थमाला (ग्रन्थांक ६९) मे प्रकाशित जोधपुर, १९६३।

में उपेक्षित वैदिक छन्दो का वर्णन होने से उपयोगी है। मात्रावृत्तो के वर्णन में प्राकृतपिंगल के द्वारा प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। काशी में प्रख्यात कवि-चक्रवर्ती म० म० देवी प्रसाद कवि के पिता दु खभजन कवि की रचना वाग्वल्लभ[1] अपने विषय में अनुपम ग्रन्थ है। दु खभजन कवि महान तान्त्रिक थे तथा साथ ही साथ प्रतिभाशाली कवि थे। देवीप्रसाद जी ने 'वरवर्णिनी' नामक टीका लिखकर इसे सुबोध तथा लोकप्रिय बनाया। टीका का रचनाकाल वि० स० १९८५ तथा मूलग्रन्थ का निर्माणकाल १९६० वि० के आसपास। यह बड़ा विशाल ग्रन्थ है। प्रस्तार का आधार लेकर नवीन छन्द भी निर्मित किये गये है। विवृत छन्दों की सख्या १५३९ है।

इस प्रकार छन्द शास्त्र के मान्य ग्रन्थों के अनुशीलन से इसकी महत्ता तथा वैपुल्य का सकेत समालोचक को भलीभाँति मिल जाता है। लघुकाय पुस्तकों की तो बात ही न्यारी है जो सैकडो की सख्या में हस्तलेखो में पडे हैं।

छन्दःशास्त्र का समीक्षण

छन्द शास्त्र के इस इतिहास पर दृष्टि डालने से अनेक नवीन तथ्यो का आविष्करण होता है। यादवप्रकाश के द्वारा निर्दिष्ट छन्दपरम्परा पर्याप्तरूपेण प्रामाणिक प्रतीत होती है, परन्तु इससे अतिरिक्त गरुडाम्नाय नाम से एक विभिन्न आम्नाय का उल्लेख भास्करराय ने अपने भाष्यराज में किया है विशेषत आर्या के प्रसग में, यहाँ यह आम्नाय उद्धृत है, जिसका तात्पर्य 'गरुडपुराण' से है। आम्नाय के प्रति निष्ठा धारण करना प्रत्येक छन्द शास्त्री का मुख्य कर्तव्य है। हलायुध ने आम्नाय को अनिवार्य नियम माना है (छन्द सूत्र ६।३, ४, ७, ९ आदि)।

छन्द शास्त्र के प्राचीन आचार्यों के मत अनेक छन्द शास्त्र के ग्रन्थो में उपलब्ध होते हैं, जिससे उन मतो की प्रामाणिकता तथा लोकप्रियता सिद्ध होती है। कुछ आचार्यों के सकेतस्थलों का निर्देश यहाँ सक्षेप में किया जा रहा है--

(१) पाञ्चाल (बाभ्रव्य)	—उपनिदानसूत्र में
(२) यास्क	—उपनिदान, पिंगल, यादवप्रकाश
(३) ताण्डी	—उपनिदान, पिंगल
(४) निदान (सूत्रकार पतञ्जलि)	--उपनिदान
(५) पिंगल	—उपनिदान, जयकीर्ति, यादवप्रकाश
(६) उक्थशास्त्रकार	—उपनिदान

---

१ चौखम्भा कार्यालय से 'काशी सस्कृत सीरीज' में प्रकाशित, ग्रन्थ सख्या १०० वाराणसी,'१९३३ ई०।

(७) क्रौष्टुकि	—पिंगल, यास्क (निरुक्त ८।२)
(८) सैतव	—पिंगल, जयकीर्ति, यादवप्रकाश
(९) काश्यप	—पिंगल
(१०) रात	—पिंगल, जयकीर्ति, यादवप्रकाश
(११) माण्डव्य[1]	— ,, ,, ,,

पिंगल ही इस शास्त्र के जनक हैं। अपने से प्राचीन आचार्यों के विवरणों को अपने अनुभव से पुष्ट कर उन्होंने इस विख्यात ग्रंथ को लिखकर इस शास्त्र के लिए आधार ग्रंथ का प्रणयन किया। ऊपर लिखित आचार्यों के स्वतन्त्र ग्रंथ थे अथवा उनके विशिष्ट मत ही? इसका अब पता लगाना कठिन है। इन आचार्यों के रचित पद्य कहीं कहीं टीकाकारों ने उद्धृत कर रखा है और इतिहास की दृष्टि से वह उल्लेख ही हमारे लिए मूल्यवान् निधि है। नारायण भट्ट ने नामतः सैतव रचित एक पद्य उद्धृत किया है[2], जिसे हलायुध ने भी पिंगल के ५।१८ की टीका में उल्लिखित किया है। इसी शैली पर पिंगल ७।८ में उद्धर्षिणी वाला पद्य भी सैतव का ही है। पिंगल के ४।२३ में माण्डव्य का पद्य सुरक्षित है[3]। इन आचार्यों ने पद्यों का स्वनामाङ्कित करने की पद्धति निकाली थी जो पिछले युग के लेखकों ने भी अपनाया।

छन्द शास्त्र के पिछले ग्रंथकारों ने पिंगल को ही अपना आराध्य माना है और उनके क्षुण्ण मार्ग से हटकर चलने का सर्वथा वर्जन किया है। जयदेव, जयकीर्ति तथा केदारभट्ट—ये सब आचार्य पिंगल के ही अनुयायी हैं। अग्निपुराण भी इस श्रेणी से

---

१ माण्डव्य का निर्देश बृहत्संहिता के १०३ अध्याय के तृतीय पद्य में छन्द शास्त्री के रूप में उपलब्ध होता है—

> माण्डव्यगिर श्रुत्वा न मदीया रोचतेऽथवा नैवम्।
> साध्वी तथा न पुंसां प्रिया यथा स्याज्जघनचपला॥

परन्तु इस पद्य की व्याख्या में भट्टोत्पल द्वारा उद्धृत पद्य नितान्त शृंगारी है। उनका विषय शृंगार है, छन्द शास्त्र नहीं। तो वराहमिहिर ने अपने पद्य में छन्द शास्त्री माण्डव्य का उल्लेख किया है अथवा किसी अन्य का?

२ सैतवेन पयार्णवं तीर्णो दशरथात्मज।
रक्षःक्षयकरी पुनः प्रतिज्ञा स्वेन बाहुना॥

३ स्निग्धच्छायाम्लानपत्रलतिनी ... विविदवननघ्राणा।
सुरविपुला सौभाग्य लभते स्त्रीत्याह माण्डव्य ॥

बहिर्मुख नहीं है। उसमें आठ अध्यायों द्वारा (३२८ अ० से आरम्भ कर ३३५ अध्याय तक) परिभाषा, दैव्य आदि संज्ञा, पादाधिकार, उत्कृति आदि छन्द, आर्या आदि मात्रावृत्त, विषमवृत्त, अर्धसमवृत्त, समवृत्त, प्रस्तार आदि क्रम से विवेचित किये गये हैं। इस पुराण ने स्वयं प्रतिज्ञा की है कि पिंगलमत के अनुसार ही छन्दोंका लक्षण कहा जावेगा ('छंदो वक्ष्ये मूलजन्दै पिङ्गलोक्तं यथाक्रमम्' ३२८।१) और इस प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह इन अध्यायों में किया गया है। गरुड़पुराण के छ अध्यायों में छन्द शास्त्र का विवरण उपलब्ध होता है (पूर्वखण्ड के २०७ अ०–२१२ अ०) जिनमें परिभाषा, मात्रावृत्त, समवृत्त, अर्धसमवृत्त, विषमवृत्त तथा प्रस्तार का वर्णन क्रमशः किया गया है। यहाँ कतिपय नवीन छंदों का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है। पिंगल से विशेष भिन्नता नहीं है। भास्करराय इसे ही गरुडाम्नाय के नाम से अभिहित करते हैं। वराहमिहिर की बृहत् संहिता (१०३वां अध्याय) में उपलब्ध तथा ईशानदेव (१०म-११ शती) की पद्धति के पूर्वार्ध पटल (अ० १९–२७ तक) में प्राप्त छंदोवर्णन पिंगलानुयायी है जिससे पिंगल के सार्वभौम प्रभाव की इयत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है।

पिंगल के एकाधिपत्य की सत्ता होने पर भी तदितर सम्प्रदाय की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। भरत नाट्यशास्त्र का छंदोवर्णन अनेक बातों में पिंगल से भिन्न है। भरत निरुक्त को जानते थे, परन्तु उन्होंने उसका प्रयोग नहीं किया। जानाश्रयी छंदोविचिति पिंगल की आलोचना करती है और अपने मत का संकेत वृत्ति के आरम्भ में ही वह करती है। यहाँ छन्दों के नाम भी पिंगल से भिन्न हैं। अवान्तरकालीन ग्रंथकारों में हेमचन्द्र ने इस ग्रंथ का अंशतः अनुगमन किया। जैन मतावलम्बी होने पर भी जयदेव पिंगल के मत के मानने से विरत नहीं हुए। उनका ग्रंथ ही पिंगल के समान अष्टाध्यायी नहीं है, प्रत्युत उसमें वैदिक छंदों का भी विवरण है जो जैन ग्रंथकार की रचना में अवश्य ही कौतूहलोत्पादक है। छंदःशास्त्र के विकास में छंदों की बढ़ोत्तरी संख्या ध्यान देने योग्य है। समवृत्तों की संख्या पिंगल में केवल ७० है, जयदेव में ८०, केदारभट्ट में १०९, तथा हेमचन्द्रमें लगभग ३००। इस प्रकार छन्दःशास्त्रियों ने अपने युग में निबद्ध काव्य-नाटकों में प्रयुक्त छंदों का विवरण अपने शास्त्रीय ग्रंथों में निबद्धकर उसे पूर्ण तथा सामयिक बनाने का भरपूर प्रयास किया।

छंदःशास्त्र के इतिहास में प्रो० अर्नेस्ट वाल्डश्मिट के द्वारा स्थापित बर्लिन एकेडेमी द्वारा प्रकाशित छन्दोविचिति ग्रंथ बड़े महत्त्व का है (१९५८ ई०)। ग्रंथ की अन्तरंग परीक्षा से लेखक का नाम मितधर सिद्ध है जो आम्नाय को सर्वथा अज्ञात है (२।५।२)। मध्य एशिया के तुरफान नामक स्थान से इस शताब्दी के

आरम्भ मे डा० लूडर्स ने जिन ग्रन्थो के हस्तलेखो का वृहत् संग्रह किया, उनमे से यह अन्यतम है। इसके पत्र छिन्न-भिन्न तथा अस्त-व्यस्त उपलब्ध हुए हैं। इन्ही पत्रो को सुव्यवस्थित कर ग्रन्थ का प्रकाशन सम्पादक के बहुल परिश्रम तथा दीर्घ अध्यवसाय का सूचक है। ग्रन्थ अभी अपूर्ण ही है, परन्तु प्राप्त अंशो का मूल्य कम नही है। सम्पादक का यह कथन कि वराहमिहिर, सुबन्धु तथा दण्डी के द्वारा संकेतित 'छन्दोविचिति' यही प्रकाश्यमान ग्रन्थ है, निरा साहसमात्र है। परन्तु ग्रन्थ है प्राचीन। चतुर्थ शती के उत्तरार्ध मे (३५० ई०–४०० ई० लगभग) इसकी निर्मिति मानना प्रमाणविहीन नही माना जा सकता। इस ग्रन्थ के दृष्टान्त नाट्यशास्त्र मे दिये गए छन्दो के उदाहरणो से मिलते हैं यह एक ध्यातव्य वैशिष्ट्य है।

जानाश्रयी का मात्रावृत्तो का विवरण पूर्वपिंगल से विशद तथा पूर्ण है। षष्ठ शती के इस ग्रन्थ मे सूत्र तथा वृत्ति दोनो की सत्ता है, परन्तु वृत्ति उतनी विशद नही है जितना प्राचीन ग्रन्थ के रहस्यो के आविष्करण के लिए आवश्यक है। वृत्तरत्नाकर वस्तुतः छन्दःशास्त्र की जानकारी के लिए एक आदर्श ग्रन्थ है। प्राचीन युग मे वैदिक साहित्य का अध्ययन लोकप्रिय था। इसलिये वैदिक छन्दो का विवरण देना अनिवार्य था और इसीलिए पिंगल ने वैदिक छन्दो के विवरण से अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ किया। परन्तु मध्ययुग मे आते-आते वैदिक छन्दो का अभ्यास सामान्य पाण्डित्य के लिए आवश्यक न रहा और इसीलिए केदारभट्ट ने अपने 'वृत्तरत्नाकर' मे उस अंश की उपेक्षा की। लौकिक छन्दो का ही विवरण, परन्तु शोभन विवरण, प्रस्तुत किया। छन्द का लक्षण उसी छन्द मे देकर लक्ष्य लक्षण का सुन्दर समन्वय किया गया है जो पिछले युग के लिये एक अनुकरणीय आदर्श बन गया। भास्करराय (१८वी शती का पूर्वार्ध) ने इस शास्त्र की शास्त्रीय मर्यादा का रक्षण अपने अनेक ग्रन्थो मे—मौलिक तथा व्याख्या ग्रन्थ मे—बडी सुन्दरता से किया।

अभिनववृत्तरत्नाकर की रचना भास्कर के द्वारा बतलाई जाती है, परन्तु यह वृत्तरत्नाकर की व्याख्या है अथवा शास्त्र का अभिनव समीक्षात्मक परीक्षण है? यह यथार्थतः नही कहा जा सकता। पिछले युग के छन्द शास्त्री स्वीकृति सिद्धान्त का ही विवरण देने मे अपने को कृतकृत्य मानते थे। उन्होने छन्द शास्त्र के मौलिक तथ्यो की छान बीन नही की। टीकाकारो के नये उदाहरणो द्वारा मूलग्रन्थ के लक्षणों को सरल सुबोध बनाया—विशेषकर अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति मे ये उदाहरण विरचित हैं। हलायुध ने पिंगलसूत्रो की अपनी वृत्ति मे आश्रयदाता मुञ्जराज के विषय मे अनेक पद्यो को दृष्टान्तरूपेण उपस्थित किया (द्रष्टव्य—४।१९, ४।२०, ५।३४ ३६, ३७ सूत्रो की वृत्ति)। लोकप्रिय छन्द शास्त्रीय ग्रन्थो का प्रणयन भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों मे होता रहा। ऐसे ग्रन्थो मे गंगादास की छन्दोमञ्जरी पूर्वीय भारत में बहुत प्रसिद्ध है। ग्रन्थकार उत्कलदेशीय था और इनकी यह छन्दोमञ्जरी

अन्य उत्कलदेशीय ग्रंथकार विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण के समान ही लोकप्रिय रही है। महाकवि कालिदास के नाम से प्रख्यात **श्रुतबोध** साहित्यिक पुट के साथ संवलित होने से नितान्त मनोरम है। श्रुतबोध कालिदास की रचना इस कारण भी नहीं हो सकता कि यहां बड़े छन्दों में यति पर आग्रह है (जैसे वसन्ततिलका में आठ तथा छ वर्णों पर यति है) जो कवि के अभ्यास से विरुद्ध है। **छन्दोरत्नाकर** (वृत्तरत्नाकर के समान, परन्तु प्रधान मात्रावृत्तों का संग्राहक), **छन्द कौस्तुभ**, **छन्दोयाणिक्य** तथा **वृत्तरत्नावली** ऐसे ही ग्रंथ हैं जिनका प्रचलन बंगाल के विभिन्न भागों में विशेष रूप से था। **छन्दोरत्नावली** ऐसा ही महाराष्ट्रीय विद्वान् 'मनोहर' कुल में उत्पन्न रघुनाथ पण्डित के द्वारा निर्मित ग्रंथ है। रघुनाथ के पितामह का नाम कृष्ण पण्डित था और पिता का भीक भट्ट। वैद्यविलास की रचना उनकी प्रसिद्ध है। 'कविकौस्तुभ' नामक अलंकार ग्रन्थ का तथा उसमें निर्दिष्ट छन्दोरत्नावली का प्रणयन उन्हीं ने किया था। समय १७ शती का अन्तिम चरण (१६७५-१७०० ई०[१])

प्राकृत छन्दःशास्त्र

संस्कृत छन्द शास्त्र के समान प्राकृत के मर्मज्ञ विद्वानों ने प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त छंदों के विवरण के लिए अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया है। ऐसे ग्रंथ लेखन का आरंभ कब से हुआ ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं दिया जा सकता। अनेक ग्रंथों के लिखने का समय ही अनुमान के आधार पर स्थिर किया गया है। इस शास्त्र को अन्धकार से प्रकाश में लाने का श्रेय बम्बई विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष ख्यातनामा विद्वान् श्री एच० डी० वेलणकर को है जिन्होंने इस विषय के अनेक ग्रंथों का सम्पादन बड़ी विद्वत्ता तथा परिश्रम से किया है। साथ ही साथ अपभ्रंश भाषा में प्रयुक्त छन्दों की उन्होंने गहरी छानबीन की है। इस विषय के वे निश्चितरूपेण पथ प्रदर्शक हैं। उन्हीं के लेखों से यहां सामग्री ली गई है। इन ग्रंथों में सर्वप्राचीन ग्रंथ है—

(१) नन्दिताढ्य का गाथा लक्षण[२]। इस ग्रंथ में वर्णित छन्द बड़े प्राचीन हैं और वे केवल जैन आगमों में ही उपलब्ध होते हैं। उस युग में प्राकृत भाषा विद्वानों के आदर की पात्र थी, परन्तु अपभ्रंश हेय माना जाता था। लेखक ने इसका निर्देश

१ विशेष द्रष्टव्य—गोडे स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, भाग ३, पृ० ३६-८२ (पूना, १९५६)।

२ डा० वेलणकर द्वारा सम्पादित भण्डारकर शोध संस्थान पत्रिका भाग १२ (१९३०-३१) में।

जिस गाथा मे किया है उसका अर्थ यह है कि—जैसे वेश्याजनो के हृदय म स्नेह नहीं होता और कामुकजनो मे सत्य नही होता, वैसे ही नन्दिनाड्य की प्राकृत मे 'जिह, किह' 'तिह' जैसे शब्द नहीं मिलेंगे। ये तीनो शब्द नि सन्देह अपभ्रश के ही शब्द हैं[1]। फलत लेखक की दृष्टि मे अपभ्रश भाषा ही निरादृत थी उस युग मे। सम्पादक की सम्मति है कि इस घटना से इसे ईस्वी की आरम्भिक शताब्दियों मे विरचित होने की सम्भावना है। इस ग्रथ मे कुल मिलाकर १४ छन्दो का विवरण है, परन्तु नाम से जैसा द्योतित होता है गाथा का विशेष प्रकार यहाँ व्याख्यात और उदाहृत है। प्रथमत गाथा का सामान्य लक्षण दिया गया है और तदनन्तर उसके नाना प्रभेद जैसे पथ्या, विपुला, सर्वचपला, मुखचपला, जघनचपला, गीति, उद्गीति, उपगीति का विवरण दिया गया है। इस ग्रथ मे संस्कृत छन्दपरम्परा का केवल एक ही वर्णिक छन्द संकेतित है—सिलोय (=श्लोक) जो प्राकृत-अपभ्रश भाषा के कवियों द्वारा भी प्रयुक्त होता है।

(२) प्राकृत छन्दो का द्वितीय प्राचीन ग्रथ *वृत्तजाति-समुच्चय* को मानना सम्भवत ठीक होगा। इसका कर्ता 'विरहाङ्क' नाम से अंकित कोई 'कइसिट्ठ' (कविश्रेष्ठ) है। इसमे शिष्ट प्राकृत भाषा के द्वारा संस्कृत छन्दो का न्यून, परन्तु प्राकृत का विशेष विस्तृत निरूपण है, अपभ्रश भाषा के भी अनेक छन्दो का वर्णन है। यह ग्रथ छ नियमो (अर्थात् परिच्छेदो) मे विभक्त है। प्रथम तथा द्वितीय नियम मे प्राकृत छन्दो का नाम निर्देश तथा वर्णन है। तृतीय नियम म द्विपदी छन्द के ५२ प्रकारो का, चतुर्थ नियम मे गाथा छन्द के २६ प्रकारो का, पञ्चम नियम म संस्कृत के ५२ वर्णवृत्तो का सोदाहरण प्रतिपादन संस्कृत भाषा मे किया है। षष्ठ नियम मे प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, लघुक्रिया, सख्या और अध्वान नामक ६ प्रत्ययो का लक्षण बतलाया गया है। किसी चक्रपाल के पुत्र गोपाल ने इस पर टीका लिखी है। टीकाकार ने पिंगल, सैतव, कात्यायन, भरत, कम्बल तथा अश्वतर को नमस्कार किया है जो प्राचीन काल के छन्दशास्त्र के रचयिता निश्चयत थे। ग्रथकार राजस्थान का निवासी ज्ञात होता है, क्योंकि उसने अपभ्रश छन्दों का वर्णन करते समय उपशाखाभूत 'आभीरी' और 'मारवी' अथवा 'मारवाणी' का नामनिर्देश किया है। इसके विद्वान् सम्पादक डा० एच० डी० वेलणकर की सम्मति मे[2] इसका समय षष्ठ तथा अष्टम शती के बीच मे कभी होना चाहिए। इसका हस्तलेख ११९२ संवत्

१ जह वेसाजण नेहो, जह सच्च नत्थि कामुयजणस्स।
तह नंदियड्ढभणिये जिह किह तिह पाइए नत्थि॥ पद्य ३१

२ प्रकाशन राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला ग्रन्थाक सख्या ६१, १९६२ ई०।

(= ११३२ ई०) है। अतएव ग्रथकार को इससे दो तीन सौ वर्ष प्राचीन होना चाहिए। इस ग्रन्थ मे दो बातें विचारणीय हैं—प्रथम तो वह 'यति' सम्बन्धी उल्लेख कही नही करता। इसका तात्पर्य है कि वह उन छन्द शास्त्रियो की कोटि में आता है जो छन्दो मे 'यति' को आवश्यक अग नही मानते। दूसरे संस्कृत के वर्णिक छन्दों के लक्षण मे वह कही नगण, मगण आदि वर्णिक गणो का जिक्र नही करता।

(३) महाकवि स्वयम्भू रचित 'स्वयम्भू छन्द'[1] इससे अवान्तरकालीन रचना है। अपभ्रंश 'पउमचरिउ' के प्रख्यात लेखक स्वयम्भू महाकवि का समय नवम-दशम शती का काल माना जाता है। कवि ने अपने इस छन्दःशास्त्र मे संस्कृत और प्राकृत के सुप्रसिद्ध तथा बहुचर्चित छन्दो का प्रतिपादन किया ही है, परन्तु अपभ्रंश के छन्दों का विस्तार से वर्णन कर उस युग के विकमनशील छन्दो के अनुशीलन की प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत कर दी है। इस ग्रन्थ के कितने ही छन्दो के लक्षण तथा उदाहरण हेमचन्द्र के 'छन्दोनुशासन' में उपलब्ध होते हैं जिससे इसकी प्रामाणिकता तथा लोकप्रियता सिद्ध होती है। यदि छन्दःशास्त्री स्वयम्भू 'पउमचरिउ' के प्रणेता महाकवि स्वयम्भू से भिन्न भी हो (जैसा अनेक विद्वान मानते हैं), तो भी इनका समय अनुमानत १०वी शती से पाछे का नही हो सकता। स्वयम्भू ने इसमे ५८ कवियो के उदाहरण दिये हैं, जिनमे १० अपभ्रंश कवि हैं। इन अपभ्रंश कवियो मे से गोविन्द तथा चतुर्मुज विशेष प्रसिद्ध हैं। ग्रथ मे आठ अध्याय हैं। तीन अध्यायो में संस्कृत वृत्त वर्णित है तथा अवशिष्ट पाँच अध्यायो में अपभ्रंश छन्दों का विवरण है। इस ग्रथ के अनेक वैशिष्ट्य हैं। एक तो यह है कि अनेक प्राकृत कवियों द्वारा प्राकृतभाषानिबद्ध संस्कृत वर्णिक छन्दो के उदाहरण दिये गये हैं। यह नयी बात है।

(४) राजशेखर का छन्दःशेखर संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश तीनों भाषा के छन्दों का विवरण प्रस्तुत करता है। आरम्भ के चार अध्यायों में संस्कृत वे प्राकृत भाषा के छन्दों का प्रतिपादन है और अन्तिम पचम अध्याय में अपभ्रंश छन्दों का विवेचन है। कर्ता के ग्रथ में अपना परिचय एक पद्य में दिया है[2], जिसके अनुसार

१ डा० वेल्णकर द्वारा सम्पादित राजस्थान पुरातन ग्रथमाला में प्रकाशित (ग्रथांक ३७, १९६२)।

२ यस्यासीत् प्रपितामहो यश इति श्रीलाहटस्तत्पर-
तातश्ठक्कुर दुद्दुक स, जननी श्रीनागदेवी स्वयम्।
स श्रीमानिह राजशेखरकवि श्रीभोजदेवप्रिय
छन्दःशेखरमाहंतोऽप्यरचयत्, प्रीत्यै स भूयात् सताम्॥

—बाम्बे रायल ए० सो० जर्नल १९४६, पृ० १४।

यह यश का प्रपौत्र, लाहट का पौत्र तथा दुद्दक का पुत्र था। उसकी माता का नाम नागदेवी था। उसने अपने ग्रन्थ को भोजदेव का प्रिय बतलाया है। यह भोजदेव सम्भवत: धाराधीश भोजराज (१००५ ई०–१०५४ ई०) प्रतीत होता है, जिसका लेखक समसामयिक जान पड़ता है। अत: उसका समय एकादश शती का पूर्वार्ध प्रतीत होता है। ग्रन्थकार 'आहृत' अर्थात् जैन था[1]। 'छन्द शेखर' के ऊपर 'स्वयम्भू-छन्दस्' का प्रचुर प्रचुर प्रभाव दिखाई पड़ता है, क्योंकि दोनों में वर्णन का क्रम, दृष्टान्त आदि समान ही हैं। काल की दृष्टि से यह ग्रन्थ हेमचन्द्र के 'छन्दोनुशासन' से प्राचीन है[2]।

(५) हेमचन्द्र का छन्दोनुशासन अपने क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण रचना है। व्याकरण के सदृश इस ग्रन्थ में भी संस्कृत वृत्तों का प्रथमार्ध में और प्राकृत-अपभ्रंश छन्दों का विवरण उत्तरार्ध में दिया गया है। हेमचन्द्र ने अपने युग तक के प्रचलित समस्त प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध प्राकृत और अपभ्रंश छन्दों का विस्तार से विवेचन किया है तथा स्वयरचित उदाहरणों से उन्हें उदाहृत किया है। यहाँ शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है। फलत: सम्भावनीय छन्द प्रभेदों को ग्रन्थ में रखने का अनुपम प्रयास है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है। साढ़े तीन से अधिक अध्यायों में संस्कृत के वर्णिक वृत्तों का विवरण है। चतुर्थ अध्याय के उत्तरार्ध में प्राकृत छन्दों का विवेचन है। इन छन्दों में मुख्यत: चार वर्गों में विभक्त किया गया है—आर्या, गलितक, खञ्जक तथा शीर्षक। पञ्चम, षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में अपभ्रंश के छन्दों का सामान्यरूप तथा उनके नाना प्रभेद उदाहरणों के साथ दिये गये हैं। अन्तिम अध्याय में छन्द सम्बन्धी एक आवश्यक विषय का प्रतिपादन है। हेमचन्द्र अपभ्रंश भाषा के विशेषज्ञ थे—यह तो तथ्य है। जिस प्रकार उनके व्याकरण में अपभ्रंश भाषा का विशद निरूपण है तथा देशी नाममाला में देशी शब्दों का विशद अर्थ-प्रतिपादन है, उसी प्रकार यह छन्दोग्रन्थ भी अपभ्रंश के छन्दों का विशद विवेचन प्रस्तुत करता है।

---

१. यह जैन राजशेखर तिलकराज सूरि के शिष्य उस राजशेखर से भिन्न है, जिसने 'वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध' का निर्माण किया था (प्र० गायकवाड ओ० सी० बड़ौदा, १९१७) 'प्रबन्धकोश' (१३४९ ई०) के रचयिता राजशेखर से भी वह भिन्न हैं, जिन्होंने इस कोश में २४ महापुरुषों के चरित का वर्णन किया है। छन्द-शास्त्री राजशेखर इन दोनों से भिन्न और प्राचीन प्रतीत होता है।

२. ग्रन्थ का प्रकाशन डा० वेलणकर ने बा० ब्रा० रा० ए० सो० के जर्नल १९४६ में किया है।

३. प्रकाशक देवकरणमूल जी, बम्बई, १९१२।

(६) छन्दोवर्णन परक कविदर्पण[1] ग्रन्थ किसी युग मे इतना लोकप्रिय था कि जिनप्रभ ने नन्दिषेण रचित 'अजित शान्ति स्तव' की अपनी टीका मे मूलग्रन्थ के छन्दो का विवरण देते समय हेमचन्द्र के 'छन्दोनुशासन' के स्थान पर 'कविदर्पण' का ही उपयोग किया है। कविदर्पण स्वयम्भूछन्द की अपेक्षा बहुत पीछे की रचना है। जिनप्रभ की पूर्वोक्त टीका (रचनाकाल १३६५ संवत्–१३०८ ई०) मे उद्धृत होने से यह ग्रन्थ निःसन्देह तेरहवी शती के मध्यकाल से पूर्वकाल की कृति है। फलत इसका समय १२ वी मे मानना अन्यायसगत प्रतीत नही होता। कविदर्पण के छहो उद्देश्यो म छन्द शास्त्र के नियम, भेद उपभेद का वर्णन दिया गया है--विशेषत प्राकृत तथा अपभ्रंश के नाना छन्दो का। इसका ऐतिहासिक मूल्य भी ध्यानस्थ है। इसमे ग्रन्थकार ने भीमदेव, सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल आदि अणहिलपुर के प्रख्यात राजाओ के स्तुतिपरक पद्यो को दृष्टान्त के रूप मे प्रस्तुत किया है। यह किसी अज्ञात-नामा लेखक की रचना है, क्योकि कविदर्पण के लेखक का पता नही चलता। यह प्राकृत भाषा म निबद्ध है तथा इसकी संस्कृत वृत्ति भी उपलब्ध है। डा० वेलणकर ने मूल लेखक तथा वृत्तिकार को भिन्न भिन्न व्यक्ति माना है। मूल लेखक के समय का परि… हेमचन्द्र के द्वारा उल्लिखित होने से लगता है कि वह हेमचन्द्र से पश्चाद्वर्ती था—… के शनीका ग्रन्थकार। टीकाकार ने हेमचन्द्र के 'छन्दोनुशासन' से अनेक लक्षण तथा …विन्द उद्धृत किये हैं तथा एक अप्राप्य छन्दोग्रन्थ 'छन्द कन्दली' से भी कुछ पद्य उद्… संस्कृत गये हैं अपभ्रंश छदो के वर्गीकरण के लिए यहाँ एक नयी पद्धति अपनायी … ग्रंथ

(७) प्राकृतपैंगल की लोकप्रियता इत पूर्व वर्णित समस्त छन्दोग्रन्थो … निब … अधिक है। तथ्य तो यह है कि यह महनीय ग्रन्थ अपनी प्रामाणिकता तथा … सर्वश्रेष्ठ है। इसमे दो प्रकरण है—मात्रावृत्त प्रकरण तथा वर्णवृत्त प्रकरण। … भाग … ग्रन्थ है लक्षण तथा उदाहरणो दोनो की दृष्टि से। इस ग्रन्थ का छन्द शास्त्रीय दृष्टि से … शास्त्रीय होने की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक है। इसलिए शास्त्रीय दृष्टि से समस्त … मान छन्दो का यहाँ सग्रह नही है, प्रत्युत व्यवहारोपयोगी छदो की ही यहाँ विवेचना है। इस ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्त्व इसलिए भी है कि पुरानी हिन्दी के साहित्य मे व्यवहृत छन्दो के स्वरूप ज्ञान के लिए इसका अध्ययन नितान्त आवश्यक है। इसकी विपुल टीकासम्पत्ति इसके महत्त्व तथा उपादेयता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इन टीकाकारों का कालक्रमानुसार विवरण इस प्रकार है—

(क) रविकर—पिंगलसारविकासिनी

उपलब्ध टीकाओ में प्राचीनतम होने का इसे गौरव प्राप्त है। यह उस समय की

---

१. सम्पादक डा० वेलणकर (प्रकाशक राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला ग्रन्थ संख्या ६२, १९६२)।

रचना है जब अवहट्ट रचनायें अच्छी तरह समझी जाती थीं, क्योंकि उन अंशों की तो न सस्कृत छाया ही है न व्याख्या ही। यह दशा १४ शती में प्रतीत होती है। यह जीवित काव्यशैली थी जो मजे में समझी जाती थी व्याख्या टिप्पण रूप में ही है।

(ख) लक्ष्मीनाथ भट्ट—पिंगलार्थप्रदीप

यह दूसरा प्रसिद्ध तथा उपयोगी टीकाकार है। रचनाकाल १६५७ स० (= १६०० ईस्वी)। टीकाकार ने अपने वश का परिचय दिया है परन्तु स्थान का सकेत कहीं नहीं है। वह ब्रह्मभट्ट राजस्थान के किसी राजा का आश्रित प्रतीत होता है। वह अपने को रामचन्द्र भट्ट का प्रपौत्र, नारायणभट्ट का पौत्र तथा रामभट्ट का पुत्र बतलाता है। निर्णयसागर से प्रकाशित।

(ग) यादवेन्द्र—पिंगलतत्त्वप्रदीपिका

यह बिब्लोथिका इडिका, कलकत्ते से प्रकाशित हुआ है इसका हस्तलेख १६९६ शाके का है (=१६१८ ई०) और इसलिए टीका का निर्माण १७ शती से प्राचीन है। यादवेन्द्र दशावधान भट्टाचार्य के नाम से प्रख्यात थे। फलत. वे बगाली ब्राह्मण थे।

घ) कृष्ण—कृष्णीय विवरण

इस विवरण के रचयिता कोई कृष्ण नामक विद्वान् है जिसके देश काल का पता नही। यह भी बिब्लोथिका इडिका वाले सस्करण मे पूर्व टीका के साथ प्रकाशित है।

वशोधर— पिंगलप्रकाश टीका

पीधर काशी के निवासी थे। इनके पिता पितामह बडे विद्वान् थे। पिता का कृष्णदेव तथा पितामह का जगदीश। टीकाकार का उल्लेख है कि उसने ता से प्राकृत पैंगलम् का अध्ययन किया था[1]। टीका-समाप्ति का काल है स०, जो सम्भवत विक्रमी प्रतीत होता है (= १६४२ ईस्वी) बिब्लोथिका न प्रकाशित।

(च) विश्वनाथ पञ्चानन—पिंगल टीका

पुष्पिका मे टीकाकार ने विद्यानिवास भट्टाचार्य अपने पिता का नाम लिखा है। इस निर्देश से उसके व्यक्तित्व का पूरा परिचय मिलता है। न्यायसूत्रो की व्याख्या

१ प्राकृत पैंगलम् का प्रकाशन तीन स्थानो से हुआ है—(१) निर्णयसागर प्रेस से पूर्वनिर्दिष्ट द्वितीय टीका के साथ, (२) डा० चन्द्रमोहन घोष के सम्पादकत्व मे बिब्लोथिका इडिका, कलकत्ते से प्रकाशित (१९०२), (३) डा० भोलाशकर व्यास द्वारा सम्पादित प्राकृत ग्रन्थ परिषद् द्वारा काशी से प्रकाशित दो भागो मे, १९६२।

तथा प्रसिद्ध 'न्याय मुक्तावली' के रचयिता से वह भिन्न नहीं है। उसका समय है सप्तदशी का मध्यकाल।

'प्राकृतपैंगलम्' के रचयिता का नाम तथा उसके देशकाल सब ही अज्ञात हैं। ग्रंथ की अन्तरंगपरीक्षा से उसके सम्भाव्य काल का संकेत लगाया जा सकता है। संग्राहक ने छन्दों के उदाहरण के लिए अनेक कवियों के पद्यों को उद्घृत किया है, जिनमें से कुछ तो विश्रुत हैं, परन्तु अनेक अश्रुत अथवा अल्पश्रुत हैं। इन्हीं उद्धरणों के साक्ष्य पर समय का निर्देश किया जा सकता है। गाथासप्तशती, सेतुबन्ध (महाकाव्य), कर्पूरमञ्जरी (सट्टक) प्राकृत साहित्य की विश्रुत रचनायें हैं जिनसे एकाधिक पद्यों का यहाँ उद्धरण है। राज डाहलकर्ण (समय १०४०–८० ई०) के प्रशंसात्मक पद्यों के अतिरिक्त काशी के गहड़वाल राजा जयचन्द्र (१०७०–१०९४ ई०) के महामन्त्री विद्याधर की रचनायें यहाँ उपलब्ध होती हैं। हम्मीर की प्रशंसा आठ पद्यों में मिलती है। यह तो सर्वप्रख्यात घटना है कि प्रसिद्ध किला रणथम्भोर का मालिक राजा हम्मीर अपनी प्रतिज्ञा के पालन के लिए अलाउद्दीन खिलजी से लड़ता हुआ १३०१ ई० में वीरगति को प्राप्त हुआ। उसकी प्रशंसा में जज्जल कवि के द्वारा निर्मित पद्य ग्रंथ के निर्माणकाल का स्पष्ट द्योतक हैं। इस ग्रन्थ के सम्पादक की सम्मति में[1] यही जज्जल कवि प्राकृतपैंगल के प्रथम सकलन का रचयिता है और यह कार्य हम्मीर के जीवन-काल के अन्तिम बीस-पच्चीस सालों के भीतर ही सम्पन्न हुआ था। इसलिए प्राकृत-पैंगल के संकलन का काल तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण अथवा १४ वीं शती का प्रथम चरण मानना सर्वथा उपयुक्त प्रतीत है। संकलयिता राजपूताने का निवासी भाट या ब्रह्मभट्ट प्रतीत होता है। अतएव यह रचना 'मागध परम्परा' का प्रतिनिधि ग्रंथ प्रतीत होती है और इसीलिए यह अपने विषय का सर्वाधिक लोकप्रिय तथा उपयोगी ग्रन्थ माना जाता है।

(८) रत्नशेखर का छन्द कोश[2] इससे अवान्तरकालीन रचना माना गया है। यह ७४ पद्यों का एक छोटा सा ग्रंथ है, जिसमें अपभ्रंश के कवियों द्वारा बहुश प्रयुक्त

१ द्रष्टव्य—डा० भोलाशंकर व्यास—प्राकृतपैंगल द्वितीय भाग, पृ० १४–१६ (वाराणसी, १९६२)। डा० व्यास वाले सं० में प्रथम, द्वितीय या पञ्चम टीकायें प्रकाशित हैं। इसका द्वितीय भाग में भाषाशास्त्रीय और छन्द शास्त्रीय अनुशीलन बहुत ही गम्भीर तथा प्रामाणिक है। इस अनुशीलन से इस विवरण को लिखने में पर्याप्त सहायता ली गयी है।

२ डा० वेलणकर द्वारा बाम्बे यूनिवर्सिटी जर्नल (नवम्बर १९३३) में प्रकाशित।

छन्दों का ही विशिष्ट वर्णन है। इससे ग्रन्थकार के व्यावहारिक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। इसकी रचना का काल अपभ्रंश की लोकप्रियता का युग है और इस अनुमान की पुष्टि ग्रन्थकार के इस कथन से भी होती है, जिसमे उसने प्राकृत तथा अपभ्रंश को हेय मानने वाले पण्डितों की खासी हँसी उडायी।[१] इसके ऊपर चन्द्रकीर्तिसूरि की टीका १७वीं शती में निर्मित उपलब्ध होती है। रत्नशेखर नागपुरीय तपागच्छ के हेमतिलकसूरि के शिष्य थे, जिनका जन्म पटटावली के अनुसार *वि० सं० १३७२ मे हुआ था (= १३१५ ई०)। इसीलिए इनका समय १४ शती* का मध्यकाल माना उचित प्रतीत होता है।

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य—प्राकृतपैंगल (द्वितीय भाग, पृ० ३८६–३८९)।

मानते[1] हैं परन्तु प्राचीन परम्परा के अनुशीलन से यह बात प्रमाणित नहीं होती। निरुक्त के आरम्भ मे 'निघण्टु' 'समाम्नाय' कहा गया है और इस शब्द की जो व्याख्या दुर्गाचार्य ने की है उससे तो इसका प्राचीनत्व ही सिद्ध होता है।[2] महाभारत (मोक्षधर्म पर्व अ० ३४२, श्लोक ८६-८७) के अनुसार प्रजापति कश्यप इस 'निघण्टु' के रचयिता हैं—

> वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
> निघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्॥
> कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
> तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः॥

वर्तमान निघण्टु मे 'वृषाकपि' शब्द सगृहीत किया गया है। अत पूर्वोक्त कथन के अनुसार यही प्रतीत होता है कि महाभारत काल मे प्रजापति कश्यप इसके निर्माता माने जाते थे। 'निघण्टु' में पाँच अध्याय वर्तमान हैं। आदिम तीन अध्यायों को 'नैघण्टुक काण्ड' कहते हैं। चतुर्थ अध्याय 'नैगम काण्ड' और पञ्चम अध्याय 'दैवत काण्ड' कहलाता है। प्रथम तीन अध्याय मे तो पृथ्वी आदि के बोधक अनेक पदों का एकत्र सग्रह है। द्वितीय काण्ड को 'ऐकपदिक' भी कहते हैं। 'नैगम' का तात्पर्य यह है कि इनके प्रकृति प्रत्यय का यथार्थ अवगमन नही होता—'अनवगतसस्कारांश्च निगमान्'। दैवतकाण्ड मे देवताओ का निर्देश है।

निघण्टु के व्याख्याकार

आजकल निघण्टु की एक ही व्याख्या उपलब्ध होती है और इसके कर्ता का नाम है—देवराजयज्वा। इनके पितामह का भी नाम था—देवराज यज्वा और पिता का नाम था—यज्ञेश्वर। ये रगेशपुरी के पास ही किसी ग्राम के निवासी थे। नाम से प्रतीत होता है कि ये सुदूर दक्षिण के निवासी थे। इनके समय के विषय में दो मत प्रचलित हैं। कुछ लोग इन्हें सायण से भी अर्वाचीन मानते हैं, परन्तु इन्हें सायण से प्राचीन मानना ही न्यायसगत है। आचार्य सायण ने ऋग्वेद (१।६२।३) के भाष्य मे 'निघण्टु भाष्य' के वचनों का निर्देश किया है जो देवराज के भाष्य में थोड़े पाठान्तर से उपलब्ध होते हैं। सिवाय इस भाष्य के 'निघण्टु भाष्य' कोई विद्यमान ही नहीं है। देवराज ने अपने भाष्य के उपोद्घात में क्षीरस्वामी तथा अनन्ताचार्य की 'निघण्टु व्याख्याओं' का उल्लेख किया है—'इद च" क्षीरस्वामि

---

१. वैदिक साहित्य का इतिहास।

२ दुर्गवृत्ति पृ० ३।

अनन्ताचार्यादि-कृता निघण्टु-व्याख्या निरीक्ष्य क्रियते'। अनन्ताचार्य का निर्देश तो यहाँ प्रथम बार ही हमें मिलता है। क्षीरस्वामी के मत का निर्देश यहाँ बहुलता से किया गया है। क्षीरस्वामी 'अमरकोश' के प्रसिद्ध टीकाकार हैं, देवराज के उद्धरण जिनकी अमरकोष टीका (अमरकोशोद्‌घाटन) मे ज्यो के त्यों उपलब्ध होते हैं। अतः 'निघण्टु-व्याख्या' से देवराज का अभिप्राय इसी अमर-व्याख्या से ही प्रतीत होता है। इस भाष्य का नाम है—निघण्टु निर्वचन। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार देवराज ने 'नैघण्टुक' काण्ड का ही निर्वचन अधिक विस्तार के साथ किया है (**विरचयति देवराजो नैघण्टुकक्ष्वनिर्वचनम्—६**)। अन्य काण्डो की व्याख्या बहुत ही अल्पाकार है। इस भाष्य का उपोदघात वैदिक भाष्यकारो के इतिवृत्त जानने के लिए नितान्त उपयोगी है। व्याख्या बड़ी ही प्रामाणिक और उपादेय है। इसमे आचार्य स्कन्दस्वामी के ऋग्भाष्य तथा स्कन्द महेश्वर की निरुक्तभाष्य टीका से विशेष सहायता ली गई है। प्राचीन प्रमाणों का भी उद्धरण बडा ही सुन्दर है। सायण पूर्व होने से देवराज की व्याख्या तथा निरुक्ति का विशेष महत्त्व है। भोजराज तथा क्षीरस्वामी के उद्धरण देने के कारण देवराज यज्वा का समय १२ शती के अनन्तर तथा सायण से पूर्ववर्ती होने से १४ शती से पूर्व होना चाहिए १२ शती तथा १३ शती का मध्यभाग (लगभग ११७५ ई०–१२२५ ई०)।

निरुक्त काल

निरुक्तयुग—निघण्टुकाल के अनन्तर निरुक्तों का समय आरम्भ होता है। दुर्गाचार्य के अनुसार निरुक्त सख्या में १४ थे—निरुक्तं चतुर्दश प्रभेदम् (दुर्गवृत्ति १।१३)। यास्क के उपलब्ध निरुक्त मे बारह निरुक्तकारो के नाम तथा मत निर्दिष्ट किये गये हैं। इनके नाम अक्षरक्रम से इस प्रकार है—(१) आग्रायण, (२) औपमन्यव, (३) औदुम्बरायण, (४) और्णवाभ, (५) कात्थक्य, (६) क्रौष्टुकि, (७) गार्ग्य, (८) गालव, (९) तैटीकि, (१०) वार्ष्यायणि, (११) शाकपूणि, (१२) स्थौलाष्ठीवि। तेरहवें निरुक्तकार स्वय यास्क हैं। इनके अतिरिक्त १४वाँ निरुक्तकार कौन था ? इसका ठीक-ठीक परिचय नही मिलता। ऊपर निर्दिष्ट निरुक्तकारो के विशिष्ट मत की जानकारी निरुक्त के अनुशीलन से भली भाँति लग सकती है।[1] इन ग्रन्थकारों मे शाकपूणि' का मत अधिकता से उद्धृत किया गया है। निरुक्त के अतिरिक्त बृहद्देवता मे भी इनका मत निर्दिष्ट किया गया है। बृहद्देवता तथा पुराणो मे शाकपूणि को 'रथीतर शाकपूणि' नाम से स्मरण किया गया है तथा यास्क से इन्हे विरुद्धमत मानने वाला कहा गया है।

१ वैदिक वाङ्मय का इतिहास (१।२) पृ० १६६-१८०।

यास्क का निरुक्त

'निरुक्त' वेद के षडङ्गों में अन्यतम है। आजकल यही यास्क रचित निरुक्त इस वेदाङ्ग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। निरुक्त में बारह अध्याय हैं। अन्त में दो अध्याय परिशिष्ट रूप में दिये गये हैं। इस प्रकार समग्र ग्रन्थ चौदह अध्यायों में विभक्त है। परिशिष्ट वाले अध्याय भी अर्वाचीन नहीं माने जा सकते, क्योंकि सायण तथा उव्वट इन अध्यायों से भली-भाँति परिचय रखते हैं। उव्वट ने यजुर्वेदभाष्य (१८।७७) में निरुक्त १३।१२ में उपलब्ध वाक्य को निर्दिष्ट किया है। अतः इस अंश का भोज-राज से प्राचीन होना स्वतः सिद्ध है।

निघण्टु तथा निरुक्त का परस्पर सम्बन्ध बोधक विवरण

निघण्टु — निरुक्त

१ अध्याय (भूमिका)

(१) नैघण्टुक काण्ड[1] (गौ—अपारे) — १ अध्याय, २ ,, ३ ,, } (१३४१ पद) — २ अध्याय, ३ अध्याय

(२) नैगम काण्ड ४ अध्याय (जहा-ऋचीसम्)
- (क) १ खण्ड-६२ पद ४ अध्याय
- (ख) २ खण्ड-८४ ,, ५ अध्याय
- (ग) ३ खण्ड-१३२,, ६ अध्याय

पूर्व षट्क

(३) दैवत काण्ड ५ अध्याय (अग्नि-देवपत्नी)
- पृथ्वी स्थान
  - (क) १ खण्ड- ३ पद ७ अध्याय (देवताविषयक विशिष्ट भूमिका के साथ)
  - (ख) २ ,, १३ ,, ८ ,,
  - (ग) ३ ,, ३६ ,, ९ ,,
- अन्तरिक्ष स्थान
  - (घ) ४ ,, ३२ ,, १० ,,
  - (ङ) ५ ,, ३६ ,, ११ ,,
- आकाश
  - (च) ६ ,, ३१ ,, १२ ,,

उत्तरषट्क

---

१ इस काण्ड में सब मिलाकर १३४१ पद हैं जिनमें से केवल साढ़े तीन सौ पदों की निरुक्ति यास्क ने यत्र-तत्र की है। स्कन्दस्वामी ने इनसे भिन्न दो सौ पदों की व्याख्या की है—ऐसा देवराज का कथन है (पृ० ३)।

यास्क की प्राचीनता मे किसी प्रकार का सन्देह नही होता। ये पाणिनि से भी प्राचीन है। संस्कृत भाषा का जो विकास इनके निरुक्त में मिलता है वह पाणिनीय अष्टाध्यायी में व्याख्यात रूप से प्राचीनतर है। महाभारत के शान्तिपर्व मे (अ०३४२) यास्क के निरुक्तकार होने का स्पष्ट निर्देश है—

> यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।
> शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम्॥ ७२॥
>
> स्तुत्वा मा शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः।
> यत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान्॥ ७३॥

इस उल्लेख के आधार पर भी हम यास्क को विक्रम से सात-आठ सौ वर्ष पूर्व मानने के लिए बाध्य होते है। यास्क के इस ग्रंथ की महत्ता बहुत ही अधिक है। ग्रंथ के आरम्भ मे यास्क ने निरुक्त के सिद्धान्त का वैज्ञानिक प्रदर्शन किया है। इनके समय मे वेदार्थ के अनुशीलन के लिए अनेक पक्ष थे, जिनका नाम इस प्रकार दिया गया है—(१) अधिदैवत, (२) अध्यात्म, (३) आख्यान-समय, (४) ऐतिहासिका, (५) नैदाना (६) नैरुक्ता, (७) परिव्राजका, (८) पूर्व याज्ञिका, (९) याज्ञिका। इस मत निर्देश से वेदार्थानुशीलन के इतिहास पर विशेष प्रकाश पडता है। यास्क का प्रभाव अवान्तरकालीन वेदभाष्यकारो पर बहुत ही अधिक पडा है। सायण ने इसी पद्धति का अनुसरण कर वेदभाष्यो की रचना मे कृतकार्यता प्राप्त की। यास्क की प्रक्रिया आधुनिक भाषावेत्ताओं को भी प्रधानत मान्य है। निरुक्त का एकमात्र प्रतिनिधि होने के कारण इसका महत्त्व सर्वातिशायी है।

निरुक्त स्वय भाष्यरूप है फिर भी वह स्थान स्थान पर इतना दुरूह है कि विद्वान् टीकाकारों को भी उसके अर्थ समझने के लिए माथापच्ची करनी पडती है। तिस पर उसका पाठ यथार्थरूप से परम्परया प्राप्त भी नही होता। भाषा की दुरूहता के साथ-साथ उसके पाठ भी स्थान-स्थान पर इतने भ्रष्ट हैं कि दुर्ग जैसे विद्वान् टीकाकार को भी कठिनता का अनुभव करना पडा है। निरुक्त की व्याख्या करने की ओर विक्रम से बहुत पूर्व विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ था। इसका पता हमें पतञ्जलि के महाभाष्य से ही चलता है। अष्टाध्यायी ४।३।६६ के भाष्य मे वे लिखते हैं—"सदृशग्रन्थेषु चैषा प्रवृत्ततरा गतिर्भवति। निरुक्तं व्याख्यायते। व्याकरणं व्याख्यायत इत्युच्यते। न कश्चिदाह पाटलिपुत्रं व्याख्यायत इति।" परन्तु पतञ्जलि का संकेत किस व्याख्यान की ओर है? इसका पता नही चलता।

सबसे विस्तृत तथा सम्पूर्ण टीका जो आजकल निरुक्त के ऊपर उपलब्ध हुई है वह है दुर्गाचार्यवृत्ति। परन्तु यह इस विषय का आदिम ग्रंथ नहीं है, इससे तो

निश्चित ही है। दुर्गवृत्ति मे चार स्थलों[1] पर किसी वार्तिककार के श्लोक उद्धृत किये गये हैं, प्रसग से यह स्पष्ट मालूम पडता है कि यह वार्तिक इसी निरुक्त पर ही था। निरुक्त स्वय भाष्यरूप है। अतएव उसके ऊपर वार्तिक की रचना अयुक्त नही। निरुक्त वार्तिक की सत्ता एक अन्य ग्रथ से भी प्रमाणित होती है। मण्डन मिश्र रचित 'स्फोटसिद्धि' नामक ग्रथ की 'गोपालिका टीका' मे निरुक्त वार्तिक से छ श्लोक उद्धृत किये गये हैं और ये सब श्लोक निरुक्त १ २० के व्याख्यारूप है। अत इन दोनो प्रमाणो को एकत्र करने से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि निरुक्त वार्तिक ग्रथ अवश्य था और अत्यन्त प्राचीन भी था। परन्तु अभी तक इस ग्रथ का पता नही चलता। यदि इसका उद्धार हो जाय तो वेदार्थानुशीलन के इतिहास मे एक अत्यन्त प्रामाणिक वस्तु प्राप्त हो जाय। बर्बर स्वामी की टीका की भी यही दशा है। स्कन्द स्वामी ने इन्हे पूर्व के टीकाकारो मे उल्लिखित किया है[2] तथा इन्हें दुर्गाचार्य से भी प्राचीनतर माना है। जब तक इस ग्रथ की उपलब्धि नहीं होती तब तक हम निश्चित रूप से नही कह सकते कि बर्बर स्वामी पूर्व निर्दिष्ट वार्तिककार से भिन्न हैं या अभिन्न।

दुर्गाचार्य

निरुक्त के प्राचीन उपलब्ध टीकाकार दुर्गाचार्य ही हैं, परन्तु ये आद्य टीकाकार नही हैं। इन्होंने अपनी वृत्ति मे प्राचीन टीकाकारो की व्याख्या की ओर अनेक स्थानो पर उल्लेख किया है। वेदो के ये कितने बडे मर्मज्ञ थे, इसका परिचय तो दुर्गवृत्ति के साधारण पाठक को भी लग सकता है। इस वृत्ति मे निरुक्त की तथ उसम उल्लिखित मन्त्रो की बडे विस्तार के साथ व्याख्या प्रस्तुत की गई है। निरुक्त का प्रत्येक शब्द उद्धृत किया गया है। इस वृत्ति के आधार पर समग्र निरुक्त का शाब्दिक रूप खडा किया जा सकता है। विद्वत्ता तो इनकी इतनी अधिक है, साथ ही साथ इनकी नम्रता भी श्लाघनीय है। निरुक्त के दुरूह अशो की व्याख्या करने के अवसर पर इन्होने स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है कि ऐसे कठिन मन्त्रो के व्याख्यान मे विद्वान् की भी मति कुद हो जाती है। हम तो इसके विषय म इतना ही जानते हैं—

ईदृशेषु शब्दार्थन्यायसकटेषु मन्त्रार्थघटनेषु दुरवबोधेषु मतिमतां मतयो न प्रतिहन्यन्ते। वय त्वेतावदवाववुद्ध्यामहे इति।' ७।३१

कहीं-कहीं इन्होंने स्वय नवीन पाठ की योजना की है। इससे स्पष्ट है कि इन्होंने निरुक्त के अर्थ मे बडी छानबीन से काम लिया है। यदि हमे यह आज उपलब्ध

१ निरुक्त वृत्ति १।१, ६।३१, ८।४१, ११।१३।

२ तस्य पूर्वटीकाकारैर्बर्बरस्वामिभगवद्दुर्गप्रभृतिभिर्विस्तरेण व्याख्यातस्य।

नही होती तो निरुक्त का समझना एक दुरूह ही व्यापार होता। परन्तु दुःख की बात है कि दुर्गाचार्य के विषय मे हमारा ऐतिहासिक ज्ञान बहुत ही स्वल्प है। ४.१८ निरुक्त मे इन्होंने अपने को कापिष्ठल शाखाध्यायी वसिष्ठगोत्री लिखा है। प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर वृत्ति की पुष्पिका इस प्रकार है—

इति जम्बूमार्गाश्रमवासिन आचार्यभगवद्दुर्गस्य कृतौ ऋज्वर्थायां निरुक्तवृत्तौ ... ऽध्याय. समाप्त ।

ये जम्बूमार्ग आश्रम के निवासी थे। परन्तु यह स्थान है कहाँ ? डॉ० लक्ष्मणस्वरूप इसे काश्मीर रियासत का जम्बू मानते हैं परन्तु पं० भगवद्दत्त का अनुमान अधिक सयुक्तिक मालूम पडता है कि वे गुजरात प्रान्त के निवासी थे। वे मैत्रायणी संहिता से अधिक उद्धरण देते हैं। यह संहिता गुजरात प्रान्त मे किसी समय प्राचीनकाल मे बहुत ही प्रसिद्ध थी। इस अनुमान का यही आधार है। दुर्गवृत्ति की सब से प्राचीन हस्तलिखित प्रति १४४४ सम्वत् की है। अत दुर्गाचार्य इससे प्राचीन अवश्य होगें। श्रीभगवद्दत्त ने सप्रमाण दिखलाया है कि ऋग्वेद के भाष्यकार उद्गीथ दुर्गाचार्य से परिचित हैं। अत दुर्गाचार्य का समय विक्रम के सप्तम शतक से प्राचीन है।

निरुक्त के अन्य टीकाकारो मे स्कन्ध महेश्वर की टीका लाहौर से प्रकाशित हुई है। यह टीका विद्वत्तापूर्ण तथा प्रामाणिक है। ये स्कन्ध स्वामी ऋग्वेद के भाष्यकार ही हैं। वररुचिकृत 'निरुक्त समुच्चय' नामक ग्रंथ का परिचय श्री भगवद्दत्त ने अपनी पुस्तक मे दिया है। यह निरुक्त की व्याख्या नही, परन्तु निरुक्त के सिद्धान्तानुसार लगभग सौ मन्त्रो की व्याख्या है। निरुक्त की इन टीकाओ के अनुशीलन करने से हम अनेक ज्ञातव्य विषयो पर पहुच सकते हैं। निरुक्त तथा उसकी वृत्तियो मे दिये गये सकेतो को ग्रहण कर मध्यकालीन भाष्यकार वेद का भाष्य करने मे कृतकार्य हुए। इस बात पर ध्यान देन से इस युग के व्याख्या ग्रन्थो की महत्ता भली-भाँति ध्यान मे आ जाती है।

भास्कर राय—वैदिक कोष

भास्कर राय अपने समय के बडे प्रसिद्ध तान्त्रिक थे। दक्षिण से काशी मे अध्ययन करन के निमित्त आये। 'ललिता सहस्र नाम भाष्य' से पता चलता है कि ये विश्वामित्र गोत्रीय गम्भीर राय के पुत्र थे। इनकी माता का नाम कोणाम्बा तथा गुरु का नाम नरसिंह था। इन्होने *'ललिता सहस्त्र नाम' के ऊपर अपने प्रख्यात तथा नितान्त* प्रौढ भाष्य की रचना १७६३ ई० मे की थी। नागेश भट्ट की सप्तशती टीका का खण्डन इन्होंने अपनी 'गुप्तवती' नामक टीका मे किया है। वैदिक कोष का रचना काल १७७५ ई० है। अत भास्कर राय का समय १८ शती का उत्तरार्ध माना जा सकता है। इन्होंने वैदिक कोष की रचना कोषों के ढग पर की है। वैदिक शब्द तो वे ही

हैं जो निघण्टु में हैं। उन्हीं शब्दों का अर्थ अनुष्टुप छन्दों में यहाँ दिया गया है जो अमरकोष के ढंग पर रचित होने से छात्रोपयोगी है। नवीनता न होने पर भी उपादेयता बहुत अधिक है।

मान्य कोषकार

संस्कृत भाषा में कोश विद्या बड़े महत्त्व की मानी जाती थी। इस भाषा के कितने कोषकार हुए ? इसकी संख्या बताना वास्तव में एक विषम पहेली है। उपलब्ध हस्तलेखों में तथा ग्रन्थों में तत प्राचीन कोषकारों का नाम उल्लिखित मिलता है जिससे उनके अस्तित्व का संकेत स्पष्ट मिल जाता है।

(१) पुरुषोत्तम देव ने अपने 'हारावली' कोष के अन्त में एक पद्य दिया है जिसमें तीन प्राचीन कोषकारों के नाम मिलते हैं—

शब्दार्णव उत्पलिनी ससारावर्त इत्यपि।
कोषा वाचस्पति-व्याडि विक्रमादित्य निर्मिता ॥

इसमें क्रमश निर्देश मानकर वाचस्पति, व्याडि तथा विक्रमादित्य प्राचीन कोषकार हैं जिनके कोष क्रमश है शब्दार्णव उत्पलिनी तथा ससारावर्त।

(२) केशव ने अपने 'कल्पद्रुकोश' में (१।२) उस युग के प्रख्यात कोषकारों का नाम निर्दिष्ट किया है—

कात्य - वाचस्पति व्याडि भागुर्यमरमङ्गला।
साहसाङ्क महेशाद्या विजयन्ते जिनान्तिमा ॥

इस श्लोक में कात्य, वाचस्पति, व्याडि, भागुरि, अमर, मगल (अथवा अमरमगल), साहसाङ्क, महेश, तथा हेमचन्द्र—प्रख्यात कोषकारों का नाम उल्लिखित है। गतश्लोक के वाचस्पति तथा व्याडि के नाम यहाँ भी उल्लिखित हैं।

(३) संस्कृत में १८ कोश नितान्त प्रसिद्ध हैं। नीचे के दोनों श्लोक अमरकोष के एक हस्तलेख में इस प्रकार दिये गये हैं। इनमें से कुछ तो अमर से पूर्ववर्ती हैं (व्याडि, वररुचि, रुद्र, कात्यायन आदि) तथा अन्य अमर से पश्चाद्वर्ती (विश्वप्रकाश, मेदिनी हेमचन्द्र आदि)।

विश्वो विश्वप्रकाशश्च धरणिर्मेदिनी तथा
रत्नकोशो रन्तिदेव शाश्वतश्च हलायुध ॥
व्याडिर्वररुचिश्चैव रुद्रकात्यायनावुभौ
रभसो वैजयन्ती च तथा शब्दार्णवाजयौ
वाचस्पतिर्हेमचन्द्र कोषा अष्टादशैव तु ॥

इस सूची को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विश्व तथा विश्वप्रकाश दो स्वतन्त्र कोष थे। वररुचि तथा कात्यायन एक ही कोषकार न होकर स्वतन्त्र भिन्न

कोषकार थे। साधारणतः वररुचि कात्यायन का ही अपर नाम माना जाता है, परन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं दीखती।

इन तीनों सूचियों को मिलाने से कोष तथा कोषकारों के वर्णानुक्रम से नाम इस प्रकार हैं—

अजय	रुद्र
अमर	वररुचि
कात्य	१५ वाचस्पति (शब्दार्णव)
कात्यायन	विक्रमादित्य (ससारावर्त)
धरणि	विश्व
भागुरि	विश्वप्रकाश
मगल	वैजयन्ती
महेश	२० व्याड़ि (उत्पलिनी)
मेदिनी	शाश्वत
१० रत्नकोश	साहसाङ्क
रन्तिदेव	हलायुध
रभस	२४ हेमचन्द्र

इन कोषकारों में से अनेक ग्रन्थों से रायमुकुट ने अपनी अमरटीका 'पदचन्द्रिका' में उद्धरण दिया है जो इनके मत जानने के लिए नितान्त महत्त्व रखते हैं। उसमें विक्रमादित्य के ससारावर्त तथा वाचस्पति के शब्दार्णव से प्रचुर उद्धरण दिये गये हैं जिससे १५ शती में इन ग्रन्थों के अस्तित्व का पता चलता है।

काल-विभाग

संस्कृत भाषा में कोषों का प्रणयन विक्रम के आरम्भ से लेकर आज तक होता रहा है और इस प्रकार इसका इतिहास दो हजार वर्षों का इतिहास है। संस्कृत कोषों में **अमरकोष** की मान्यता, प्रसिद्धि तथा लोकप्रियता सबसे अधिक है। अतः अमर को केन्द्र बिन्दु मानकर हम कोष-विद्या के इतिहास को तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) अमर-पूर्व काल, (२) अमरकाल तथा (३) अमर पश्चात् काल। अमर से पूर्वकाल के कोषों का परिचय हमें अमर के टीकाकारों के उल्लेखों से तथा उद्धरणों से ही मिलता है। केवल एक कोष के अतिरिक्त अन्य की उपलब्धि भी समस्त रूप से नहीं हुई है।

अमरपूर्व-कोषकार

इन अमर पूर्ववर्ती कोषकारों का एक सामान्य परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(१) व्याडि—व्याडि का कोष अमरकोष के समान ही संकलित था अर्थात् उसमें समानार्थ शब्दों की ही प्रधानता थी तथा एक परिच्छेद में नानार्थ शब्दों का चयन था। 'अभिधान चिन्तामणि' की टीका में हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ में लम्बे-लम्बे उद्धरण दिये हैं जिनमें प्रतीत होता है कि इसमें शब्दार्थ के साथ साथ विशेष शास्त्रीय विषयों का भी संकलन था। व्याडि ने बौद्ध धर्म सम्बन्धी विशिष्ट तथ्यों का भी वर्णन यहाँ किया है जिससे स्पष्ट है कि बौद्ध न होने पर भी इन्हें बौद्ध धर्म से गाढ़ परिचय था। इन्होंने व्युत्पत्ति के द्वारा अर्थानुसन्धान की प्रक्रिया दिखलाई है—जैसे निघण्टु की व्याख्या (अथात् निघण्ट्यत्यस्मात् निघण्टु परिकीर्तित)। गुह्यक के विषय में नयी सूचना भी है-"निधिं रक्षन्ति ये यक्षास्ते स्युर्गुह्यकसंज्ञकाः." (पदचन्द्रिका पृ० २२) 'उत्पलिनी' के नाम से पदचन्द्रिका में बहुत मत उद्धृत हैं। व्याडि के इस कोष का नाम 'उत्पलिनी' था पुरुषोत्तम की हारावली के अनुसार (अन्तिम श्लोक ३)।

(२) कात्य—ये वररुचि से भिन्न व्यक्ति हैं। वररुचि के 'लिंग-विशेष-विधि' नामक लिंगानुशासन ग्रन्थ का हर्षवर्धन आदि ग्रन्थकारों ने निर्देश किया है, परन्तु क्षीरस्वामी तथा हेमचन्द्र आदि कोषकार कोष के प्रसंग में कात्य का ही उल्लेख करते हैं। फलतः कात्य का ग्रन्थ पूरा कोष था ठीक अमरकोष के ही समान, परन्तु कहीं-कहीं इसमें अर्थ का वर्णनात्मक परिचय भी उपलब्ध था। जैसे तितउ शब्द का अर्थ है चालन (चलनी), जिसमें सत्तू आदि चाला जाता है। अमर का निर्देश केवल अर्थपरक है—चालनी तितउ पुमान् (अमरकोष २.९.२६), परन्तु कात्य का वर्णन-परक है—क्षुद्रच्छिद्रप्रमोपेतं चालनं तितउ पुमान्। इस कोष का नाम था नाममाला।

(३) भागुरि—इनके कोष का नाम था त्रिकाण्ड जो तीन काण्ड वाले अमरकोष से विभिन्न तथा स्वतन्त्र कोष था। भागुरि ने शब्दों के लिंगों के निर्देश की ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने केवल समानार्थ शब्दों का ही संकलन किया। भागुरि के मत का निर्देश तथा उनके ग्रन्थ का उद्धरण अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। 'वर्षाभू' शब्द के स्वरूप के विषय में मतभेद है। सायण ने अपने 'माधवीया धातुवृत्ति'[1] (पृ० ४२) में लिखा है कि भागुरि 'वर्षाभू' शब्द को ह्रस्व उकारान्त ही मानते थे और इस प्रसंग में उनका यह प्राचीन पद्य भी उद्धृत किया है—

---

१. माधवीया धातुवृत्ति. सम्पादक स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी, १९६४ ई०।

तथा भागुरिरपि ह्रस्वान्त मन्यते। यथाह च —

> भार्या भेकस्य वर्षाभ्वी. भृ गी स्याद् मद्गुरस्य तु।
> शिली गण्डपदस्यापि कच्छपस्य डुलि. स्मृता॥

यह श्लोक उनके कोष से ही सम्बन्ध रखता है। सायण का आविर्भावकाल १४ शती का मध्यभाग माना जाता है। फलत भागुरि इससे प्राचीन हैं, 'नानार्थार्णव सक्षेप' मे केशवस्वामी (१२०० ई०) ने भागुरि के मत का निर्देश किया है। जिससे इनका काल १३ शती से अर्वाचीन कथमपि नही हो सकता।

(४) रत्नकोष—इसके रचयिता का पता नही है। सर्वानन्द के अनुसार इसके परिच्छेदों का वर्गीकरण लिंग के आधार पर था। इसमे समानार्थ शब्दो का चयन था।

(५) माला या अमरमाला—इसके उद्धरण प्राचीन कोषो मे दोनो नामो से आते हैं, परन्तु दोनों नामो से एक ही ग्रथ का तात्पर्य है, यह निश्चित है। सर्वानन्द ने अपनी अमरटीका में तीस से ऊपर उद्धरण अमरमाला से दिये हैं। इसके रचयिता का नाम सम्भवत अमरदत्त था जो अमरसिंह स प्राचीन कोषकार माने जाते हैं। हलायुध ने नाममाला को अपने कोष के लिए प्रधान आधार तथा उपजीव्य ग्रन्थ माना है और नाममाला की गलतियो को भी अपने ग्रथ मे रखने से वे पराङ्मुख नहीं हैं।

(६) वाचस्पति—इनके कोषग्रन्थ का नाम शब्दार्णव था जो समानार्थ शब्दो का एक विशाल कोष था तथा अनुष्टुप् छन्द मे विरचित था। इसकी एक विशेषता यह थी कि एक शब्द के विभिन्न रूपो का तथा वर्तनी का यह उल्लेख करता है। हेमचन्द्र ने शब्दो का प्रपच अपने कोषो में इसी ग्रन्थ की सहायता से किया है—प्रपञ्चस्तु वाचस्पति-प्रभृतेरिह लक्ष्यताम्। शब्दार्णव मे एक नाम के अनेक रूपो को देने की विशिष्टता थी—इसका पता 'पदचन्द्रिका' मे उसके उद्धरणो से चलता है। यथा 'विरिञ्चि' के स्थान पर विरिञ्च, द्रुहिण तथा द्रुघण, नारायण तथा नरायण, श्रीवत्सलाञ्छन (विष्णु) के स्थान पर श्रीवत्स भी, रूप बनते हैं। शिव के धनुष के लिए 'अजगव' शब्द ही प्रसिद्ध है। कोपालित तथा नाममाला आदि आकार मानकर 'आजगव' को भी शुद्ध मानते हैं। परन्तु शब्दार्णव का इस विषय मे 'तृतीय पन्था'. है, क्योंकि वह 'आजकव तथा 'अजकाव' भी 'अजगव' का विशिष्ट रूप मानता है। चन्द्रमा का वाचक सस्कृत शब्द 'चन्द्र' ही प्रसिद्ध है, परन्तु शब्दार्णव के मत मे 'चन्द' भी पक्का सस्कृत है !!!

"हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र· शशी चन्दो हिमद्युति."

(पदचन्द्रिका प्रथम भाग, पृष्ठ १०७)

इसी प्रकार 'चन्द्रिका' का अपर शब्द चन्द्रिमा है (वही पृ० १०९)। अगस्त्य तथा अगस्ति दोनों रूप बनते हैं। भट्टि ने 'अगस्ति' शब्द को प्रयुक्त भी किया है — अगस्तिनाऽध्यासित-विन्ध्यशृंगम्। सूर्य के अर्थ में मार्तण्ड तथा मार्ताण्ड दोनों इस कोश को स्वीकृत है।

(७) धन्वन्तरि—इन्होंने वैद्यक निघण्टु की रचना की है[1] जो इस प्रकार के कोषों में प्राचीनतम माना जाता है। क्षीरस्वामी के अनुसार अमर ने अपने वनौषधि वर्ग की सामग्री इसी कोष से ली है जिसके पाठ को ठीक न समझने के कारण उन्होंने गलती भी की है। क्षीरस्वामी के कथनानुसार धन्वन्तरि ने 'बालतत्र' शब्द को खदिर का पर्यायवाची बतलाया है, परन्तु अमरसिंह ने 'बालपत्र' को बालपुत्र समझने की गलती की और इसीलिए उन्होंने खदिर का पर्यायवाची 'बालतनय' माना है जो क्षीरस्वामी की दृष्टि से एकदम अशुद्ध है[2]।

(८) महाक्षपणक—रचित कोश दो नामों से हस्तलेखों में निर्दिष्ट किया गया है। एक है अनेकार्थमञ्जरी और दूसरा है अनेकार्थध्वनिमञ्जरी। एक ही ग्रंथ के ये दो नाम हैं। इनके समय का अभी तक निश्चय नहीं हो सका है। विद्वानों की सम्मति में महाक्षपणक और क्षपणक दोनों एक ही अभिन्न व्यक्ति हैं। ग्रंथ की रचना के काल का अनुमान लगाया जा सकता है। काश्मीरी टीकाकार वल्लभदेव ने रघुवंश के एक श्लोक की व्याख्या में 'अनेकार्थमञ्जरी' का एक अवतरण उद्धृत किया है जो इस ग्रन्थ के हस्तलेख में उपलब्ध है। महाक्षपणक भी काश्मीरी थे। फलतः काश्मीरी वल्लभदेव के द्वारा प्रख्यात काश्मीरी कोषकार के ग्रंथ का निर्देश सुसंगत है। वल्लभदेव के पौत्र कैयट (चन्द्रादित्य के पुत्र) ने आनन्दवर्धन के देवीशतक की व्याख्या ९७७-९७८ ई० में लिखी काश्मीर नरेश भीमगुप्त (९७१-९८२ ई०) के राज्यकाल में। फलतः वल्लभदेव का समय दशम शती के पूर्वार्ध में, ९२५ ई० के आसपास, मानना उचित प्रतीत होता है। महाक्षपणक के समय की यह पश्चिम अवधि है। इसकी दूसरी अवधि मानी जायगी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (४०१ ई०) का राज्यकाल क्योंकि महाक्षपणक धन्वन्तरि, अमरसिंह आदि के साथ उनकी सभा के नवरत्नों में से अन्यतम माने जाते थे। फलतः इनका समय ३५० ईस्वी मानना अनुचित नहीं प्रतीत होता[3]।

---

१ राजनिघण्टु के साथ आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज में प्रकाशित, पूना, १८९६।

२ बालपत्रो यवास खदिरश्चेति द्रव्यपर्यायेषु धन्वन्तरिपाठमदृष्ट्वा बालपुत्रभ्रान्त्या ग्रन्थकृद् बालतनयमाह—बालतनयो खदिरो दन्तधावन (अमर २।४।४९)

३ द्रष्टव्य पी० के० गोडे—स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, भाग १, पृष्ठ १०९-१११ (बम्बई १९५३)

अमरसिंह

इन्हीं प्राचीन कोषों के आधार पर अमरसिंह ने 'नामलिंगानुशासन' नामक अपूर्व तथा सर्वत पूर्ण कोष की रचना की है। इस कोष का नामकरण ही इसकी उत्तमता का द्योतक है। प्राचीन कोषों मे दो प्रकार की शैली थी। कतिपय कोष केवल नामों का ही निर्देश करते थे (नाममात्र तन्त्र), परन्तु कतिपय कोष लिंगों के ही विवेचन को अपना मुख्य विषय मानते थे (लिंगमात्र तन्त्र)। अमरसिंह ने इन दोनो पद्धतियो का समन्वय कर अपने कोष को सर्वांग पूर्ण बनाया। लिंग निर्देश के लिए इन्होंने कई शब्दों का प्रयोग भी स्पष्टता के लिए किया है। पु, नपुंसक, स्त्री तथा अस्त्री आदि शब्द संस्कृत नामों के लिंगो के बताने मे बडी सुन्दरता से प्रयुक्त किये गये हैं। अमरकोष तीन काण्डो मे विभक्त है और इसलिए यह 'त्रिकाण्ड' के नाम से भी विख्यात है। प्रत्येक काण्ड मे अनेक 'वर्ग' हैं। प्रथम काण्ड म स्वर, व्योम, दिश, काल, धी, शब्दादि, नाट्य, पाताल तथा नरक — ये नव वर्ग हैं। द्वितीय काण्ड म पृथ्वी, पुर, शैल, वनौषधि, सिंहादि, नृ, ब्राह्मण, क्षत्र, विश् तथा शूद्र—ये दश वर्ग हैं। तृतीय काण्ड मे विशेष्यनिघ्न, संकीर्ण, नानार्थ, अव्यय तथा लिंगादि-संग्रह ये पाँच वर्ग हैं। अमरकोष मे सब मिलाकर १५३३ अनुष्टुप् हैं। ग्रन्थ का छठाँ भाग (२२५ अनुष्टुप्) नानार्थ के वर्णन मे है, अन्य भाग समानार्थ शब्दो का अर्थ बतलाता है। समानार्थ खण्ड मे एक विषय के वाचक नामो का एकत्र संकलन है। नानार्थ भाग मे अन्तिम वर्ण के अनुसार पदो का संकलन है। अव्ययो का वर्णन एक स्वतन्त्र वर्ग मे है तथा ग्रन्थ के अन्त मे लिंगो के साधक नियमो का एक मात्र वर्णन किया गया है।

क्षीरस्वामी तथा सर्वानन्द दोनो मान्य टीकाकारो के अनुसार अमरसिंह बौद्ध थे। लोक प्रसिद्धि है कि ये विक्रमादित्य के नवरत्नों मे से अन्यतम थे, परन्तु विक्रमादित्य के काल का हो, हमे यथार्थ परिचय नही है। इतना तो निश्चित है कि अमरकोश का चीनी भाषा मे अनुवाद षष्ठशती मे हुआ था और इसलिए यह ग्रन्थ इस शती मे पूर्व-कालिक है। अमरकोश का सर्वप्राचीन उद्धरण जिनेन्द्र बुद्धि के 'न्यास' मे मिलता है जहाँ 'तन्त्र प्रधाने सिद्धान्ते' यह वाक्य (अमरकोश ३।३।१८६) उद्धृत मिलता है। न्यास की रचना अष्टमशती में हुई थी। कोश के विषय मे अमरसिंह की यह रचना इतनी चुस्त इतनी सुन्दर तथा इतनी उपयोगी है कि भारतवर्ष मे तथा उसके बाहर भी इनकी लोकप्रियता आश्चर्य की बात नही है। इनकी विशाल टीका सम्पत्ति भी इनकी लोकप्रियता का पर्याप्त द्योतक है। इसके ऊपर ४० के आसपास टीकायें लिखी मिलती हैं जिनमे से कतिपय विशेष प्राचीन तथा स्वयं अतिशय प्रामाणिक मानी जाती

हैं। इन टीकाकारों में अनेक ने अमरकोश के प्रत्येक नाम की पुष्ट व्युत्पत्ति दी है तथा अन्य कोशों से उद्धरण देकर अमर के अर्थ की प्रामाणिकता प्रदर्शित की है।

अमरसिंह बौद्ध थे—यह केवल अनुभूति पर ही आश्रित तथ्य नहीं है, प्रत्युत अमरकोश के मंगल श्लोक में टीकाकारों के अनुसार भगवान् बुद्ध की स्पष्ट स्तुति है। क्षीरस्वामी ने इस श्लोक[1] की बड़ी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत कर 'अक्षय' शब्द से 'अक्षोभ्य' बुद्ध का तात्पर्य विवृत किया है। द्वितीय पद्य के आरम्भ में वे स्पष्टतः लिखते हैं—"इत्थं ग्रन्थारम्भेऽभीष्टिनिर्विघ्नसिद्धिहेतुं जिनमनुस्मृत्य श्रोतृप्रोत्साहनार्थं" जिससे उनके भाव समझने में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं हो सकती। सर्वानन्द ने भी अपनी टीका में क्षीरस्वामी के ही कथन की पुष्टि की है[2]। रायमुकुट ने पदचन्द्रिका में भी यही बात लिखी है। इतना ही नहीं, अमर ने स्वर्ग वर्ग में देवों तथा दैत्यों के नामकीर्तन के अनन्तर आदिदेव के रूप में बुद्ध का ही सर्वप्रथम नामोल्लेख किया है (श्लोक १३–१५) ब्रह्मा तथा विष्णु से पहिले। फलतः उनके बौद्ध होने की घटना संशय से सर्वथा बहिर्भूत है।

अमर का काल

अमर के न तो देश का ही पता है, न आविर्भावकाल का। समय के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। षष्ठ शतक में उज्जयिनी के निवासी गुणरात ने अमरकोश का अनुवाद चीनी भाषा में किया। अतः इनका समय षष्ठ शती से प्राचीन होना चाहिए[3]। परन्तु कितना प्राचीन? वह प्रकार अमरसिंह चन्द्रगोमी से निश्चित रूप से पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं, अमरकोश में प्रगतजानु के लिए प्रज्ञु, ऊर्ध्वजानु के लिए ऊर्ध्वज्ञु तथा सहतजानु के लिए 'संज्ञु' शब्द निर्दिष्ट किये गये हैं। इन तीनों शब्दों की सिद्धि पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों – प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः (५।४।१२९) तथा 'ऊर्ध्वाद् विभाषा (५।४।३०)—से ही हो सकती है। चान्द्र व्याकरण के मत में इन तीनों का रूप क्रमशः होगा प्रज्ञ, ऊर्ध्वज्ञ, तथा संज्ञ (४।४।१२९-१३० चान्द्र व्याकरण)। यदि अमरसिंह इन रूपों से परिचित होते, तो उन्होंने निश्चयेन

१ यस्य ज्ञानदयासिन्धोरगाधस्यानघा गुणाः।
सेव्यतामक्षयो धीराः स श्रिये चामृताय च॥
—अमरकोश १।१

२. अत्र चानुक्तोऽपि शाक्यलक्षणोऽर्थो ज्ञानदयादिभिः स्पष्टं प्रतीयते। अमरकोश १।१ की टीका में।

३ ग्रन्थकर्तारिचरणकामरसिंहप्रभृत्यादि। अमरकोश का तिब्बती अनुवाद डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण के सम्पादकत्व में एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता से प्रकाशित है, १९११।

इनका उल्लेख इस श्लोक में[1] किया होता। निर्देश न होने से अमरसिंह चन्द्रगोमी से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

प्राचीन सम्प्रदाय विक्रमादित्य के नवरत्नों में अमरसिंह को अन्यतम बतलाता है, परन्तु विक्रमादित्य की समस्या एक पहेली है जिसके बिना समाधान के अमर का समय निश्चित नहीं हो सकता। अमर पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों का स्पष्ट संकेत करते हैं[2], उनसे सरल होने पर भी चान्द्र व्याकरण के सूत्रों का नहीं। सम्भवतः वे चान्द्र-व्याकरण की रचना (५०० ईस्वी) से पूर्ववर्ती ग्रंथकार हैं। अमर का सांख्यदर्शन से परिचय बड़ा ही अन्तरग है। इसका प्रमाण 'गन्धर्व' शब्द का सांख्याभिमत अर्थ है—

अन्तराभवसत्त्वेऽश्वे गन्धर्वो दिव्यगायने। गन्धर्व शब्द का एक विशिष्ट अर्थ है—अन्तराभवसत्त्व (अन्तरा मरणजन्मनोर्मध्ये भवं सत्त्वं यातना-शरीरम्=मरण तथा जन्म के बीच में होने वाला यातना भोगने के निमित्त निर्मित शरीर।) यह मत प्राचीन सांख्याचार्यों का था परन्तु एतद्विपरीत विन्ध्यवासी[3] आचार्य का विशिष्ट मत था जिनका उल्लेख कुमारिल (श्लोकवार्तिक पृ० ३९३ तथा ७०४), भोजराज (भाव-वृत्ति ४।२२), मेधातिथि (मनुभाष्य १।५५) आदि आचार्यों ने किया है—

> अन्तराभवदेहस्तु नेष्यते विन्ध्यवासिना।
> तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किञ्चिदवगम्यते॥
>
> (श्लोकवार्तिक)

विन्ध्यवासी इस मत को नहीं मानते। इनके मत के खण्डन में वसुबन्धु ने 'परमार्थसप्तति' की रचना की थी। फलतः विन्ध्यवासी का समय २५०ई०—३२० ई० के लगभग ठहरता है। विन्ध्यवासी से अमरसिंह परिचित नहीं है। अतएव इनका

---

१ स्फुरणा स्यात् स्फुरणम् प्रज्ञुः प्रगतजानुकः।
ऊर्ध्वज्ञुरूर्ध्वजानुः स्यात् संज्ञुः संहतजानुकः॥
(अमर २।६।४७)

२ शालाऽर्यादिर्यथा राजन्नन्वमर्यादराजकात्।
(अमर ३।५।४७)

अमर का यह निर्देश पाणिनि के सूत्र 'सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा' २।४।२३ पर साक्षात् आधारित है, चान्द्र व्याकरण के इस सरल सूत्र 'ईश्वरार्यादराज. सभा' पर नहीं।

३ विन्ध्यवासी के विषय में द्रष्टव्य—मेरा ग्रंथ 'भारतीय दर्शन' पृ० ३८३ (सप्तम मुद्रण, १९६६, शारदा मन्दिर काशी)।

समय इससे कुछ पूर्व तृतीय शती के आरम्भ में मानना अनुचित नहीं प्रतीत होता (२२५ ई० लगभग)।

इनके विषय में यह विचित्र अनुश्रुति है—

अमरसिंहस्तु पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत्।

पता नहीं इसका वास्तविक स्वारस्य क्या है? अमरकोश वस्तुतः समानार्थक कोश है, परन्तु नानार्थक शब्दों का विन्यास होने से यह दोनों का काम करता है और यही इसका वैशिष्ट्य है।

अमरसिंह के प्राचीन टीकाकार आज अज्ञात हैं, केवल क्षीरस्वामी के प्रामाण्य पर हम जानते हैं कि उपाध्याय (=अच्युतोपाध्याय), गौड (?) तथा श्रीभोज (संभवत भोजराज) ने अमर पर टीकायें लिखी थीं, परन्तु ये उपलब्ध नहीं होती। अतः उपलब्ध टीकाओं में सर्वप्राचीन टीका है क्षीरस्वामी का अमरकोशोद्घाटन[1]।

अमरकोश के टीकाकार

क्षीरस्वामी

क्षीरस्वामी की अमरकोश की व्याख्या का नाम—अमरकोशोद्घाटन है। यह अमर की सर्वप्राचीन उपलब्ध व्याख्या प्रतीत होती है। क्षीरस्वामी ने अपनी क्षीरतरङ्गिणी के भ्वादि तथा अदादिगण के अन्त में अपने पिता का नाम स्वयं ईश्वरस्वामी बतलाया है। ये काश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं, क्योंकि अमरव्याख्या के आरम्भ में शंकर की प्रशस्त स्तुति है। इनके ग्रन्थ क्षीरतङ्गिणी के अन्त में कश्मीर के राजा जयसिंह के समय में उसकी प्रतिलिपि किये जाने का उल्लेख है। यजु धातु की व्याख्या में 'यजु काठकम्' लिखकर इन्होंने कठशाखा के प्रति अपना अनुराग प्रदर्शित किया है। इस याजुष शाखा का मुख्य क्षेत्र काश्मीर में होने से क्षीरस्वामी का काश्मीरी मानना नितान्त समुचित है।

इन्होंने अपने समय का निर्देश स्पष्टतः नहीं किया है, परन्तु अनुमानतः उसकी सिद्धि की जा सकती है। इधर के प्रचरणों में इन्होंने 'श्रीभोज' नाम से भोजराज के द्वारा निर्मित व्याकरण में प्रदत्त व्युत्पत्ति का बहुश उल्लेख किया है। ग्रन्थ के आरम्भिक चतुर्थ पद्य की व्याख्या में इन्होंने भोज की व्याख्या का उद्धृत किया है जिससे भोज के अमरकोश पर टीका लिखने का अनुमान करना स्वाभाविक है परन्तु

---

1 सम्पादक डा० हरदत्तशर्मा द्वारा पूना ओरियण्टल सीरीज नं० ४३ प्रकाशक ओरियण्टल बुक एजेन्सी पूना १९४१।

यह टीका आज भी उपलब्ध नहीं है। वर्धमान ने स्वरचित 'गणरत्नमहोदधि' में (र० का० ११९७ विक्रमी = ११४० ईस्वी) में क्षीरस्वामी का दो बार उल्लेख किया है। इस प्रकार भोजराज (मृत्यु लगभग १०६५ ई०) तथा वर्धमान (११४०ई०) के मध्यकाल में होने से इनका समय ११ शती का अन्तिम तथा १२ शती का आदिम चरण माना जाना उचित है (*अर्थात् लगभग १०८० ई० से लेकर ११३० ई०*)।

ग्रन्थ

अमर-व्याख्या तथा क्षीरतरंगिणी के उपक्रम में इन्होंने षड्वृत्तियों के निर्माण का संकेत किया है[१]। इनमें दो ग्रन्थ नितान्त प्रख्यात तथा लोकप्रिय हैं—(१) अमर-व्याख्या (अमरकोशोद्घाटन नाम्नी), (२) क्षीरतरङ्गिणी (पाणिनीय धातुओं की विशद व्याख्या, (३) निपाताव्ययोपसर्गवृत्ति (अप्रकाशित), (४) गणवृत्ति (सम्भवतः गणपाठ की व्याख्या), (५) अमृततरङ्गिणी या कर्मयोग मृततरङ्गिणी (सम्भवतः व्याकरणविषयक ग्रन्थ क्षीरतरङ्गिणी में संकेतित)। षष्ठी वृत्ति का पता नहीं।

अमरकोशोद्घाटन

क्षीरस्वामी का प्रौढ़ प्रमेयबहुल ग्रन्थ है जिसमें अमरकोश के प्रत्येक शब्द का विवेचन मार्मिकता से किया गया है। व्याकरण-सम्मत व्युत्पत्ति दी गयी है, परन्तु रामाश्रमी की भाँति प्रत्येक पद के निमित्त व्युत्पत्ति देने का कोई आग्रह नहीं है। व्युत्पत्ति के अतिरिक्त शब्दों के स्वरूप का भी विवेचन है तथा उसकी पुष्टि में प्राचीन कोशकारों का उल्लेख तथा उनके वचनों का उद्धरण दिया गया है। क्षीरस्वामी तन्त्रशास्त्र के विशेष पण्डित सिद्ध होते हैं। इन्होंने 'संहितासु' कहकर वैष्णव संहिताओं से आवश्यक वचन उद्धृत किये हैं। विष्णु भगवान् की गदा की संज्ञा 'कौमोदकी' है, क्योंकि वे स्वयं 'कुमोदक' नाम से अभिहित किये जाते हैं ('विष्णु. कुमोदकः शौरिः' इति दुर्गवचनात्)। स्वामी का कथन है कि इनका संहिताओं में निर्दिष्ट नाम 'कौमोदकी' है, क्योंकि वह गदा कुमोदक से उत्पन्न मानी गयी है। सूर्यविषयक सौरतन्त्र से भी वे परिचय रखते हैं, तभी तो उन्होंने सूर्य के १६ परिचारकों के नामों के लिए सौरतन्त्र से उद्धरण दिया है[२]। आयुर्वेद के तो वे प्रकाण्ड पण्डित तथा विशेषज्ञ हैं ही। इसका पूरा पता वनौषधि वर्ग की टीका में किसी भी आलोचक को

---

१ न्याय्ये वर्त्मनि वर्तनाय भवता षड्वृत्तयः कल्पिताः।

—अमरटीका, अष्टम श्लोक।

२. द्रष्टव्य—अमरटीका व्योमवर्ग में 'माठर' शब्द की वृत्ति श्लोक ३२।

मिलने मे विलम्ब नहीं हो सकता। इस प्रसग मे उन्होंने अमरसिंह की जो त्रुटियाँ शब्दों के चयन मे निकाली हैं, वे उनकी गम्भीर आलोचना का परिचय देती हैं।

अमर की त्रुटियाँ

(१) 'खदिर' शब्द के पर्याय के लिए अमर ने 'बालतनय' दिया है। धन्वन्तरि ने अपने निघण्टु मे (१।१२५) इसके लिए 'बालपत्र' पर्याय दिया है[1], परन्तु अमरसिंह ने 'बालपत्र' को 'बालपुत्र' समझकर इसके लिए 'बालतनय' देने की गलती की है—

द्वयर्थेषु धन्वन्तरिपाठमदृष्ट्वा बालपुत्रभ्रान्त्या ग्रन्थकृद् बालतनयमाह[2]।

(२) इसी प्रकार की त्रुटि 'दन्ती' के लिए 'उपचित्रा' पर्याय देते समय की गयी है[3]।

(३) पुष्करमूल के लिए अमर ने तीन शब्दो का प्रयोग किया है जिसमे 'पद्मपत्र' अन्यतम शब्द है। क्षीरस्वामी की दृष्टि मे यह भ्रान्ति है। असली शब्द है 'पद्मवर्ण', परन्तु लिपि की भ्रान्ति से अमर ने 'पद्मपत्र' पढ लिया जिससे यह त्रुटि हो गयी[4]।

(४) असनपर्णी या अपराजिता लता के लिए अमरकोश मे वातक तथा शीतल ये दो पर्याय दिये गये हैं (स्याद् वातकः शीतलोऽपराजिता शणपर्ण्यपि २।४।१५०) परन्तु तथ्य यह है कि यहाँ एक ही सज्ञा है 'शीतलवातक'। फलत एक सज्ञा को दो पर्यायो मे तोडने तथा उनका व्यत्यय कर देने के दोष से अमरसिंह को बचाया नही जा सकता[5]।

क्षीरस्वामी के इन उद्धरणो स धन्वन्तरि (निघण्टु-रचयिता) अमर से प्राचीन है। अमर से पश्चाद्वर्ती वैद्यों से भी स्वामी का परिचय पर्याप्त है। ऐसे वैद्यों मे वाहट या वाग्भट, चन्द्र, इन्दु तथा चन्द्रनन्दन मुख्य हैं। व्याकरण तथा कोश तो स्वामी के

---

१ कण्टकीबालपत्रश्च जिह्मशल्य क्षितिक्षम।

धन्वन्तरि निघण्टु १।१२५।

२ क्षीरस्वामी की टीका पृ० ९३।

३ द्वयर्थे उपचित्रा दन्ती पृश्निपर्णी चेति (अ० द्व २।६०)
दन्त्या द्वन्तीभ्रान्त्या ग्रन्थकृदुपचित्रामाह (पृ० १०३)

४ पुष्करमूले त्रीणि नामानि। पद्मपत्रमिति ग्रन्थकृद् भ्रान्त। पद्मवर्णेति लिपि-भ्रान्त्या पद्मपर्णेति बुद्धवान् पृ० ११७।

५ 'शीतलवातक' इत्येका सज्ञा। यद् धन्वन्तरि शणपर्णी शीतलवातक इत्याह। द्वयर्थेऽपराजिता शीतलवातको गिरिकर्णिका च। अमरटीका पृ० ११४।

अपने विशिष्ट क्षेत्र हैं। इन शास्त्रों के लेखकों का संकेत करना स्वाभाविक ही है। काशिका के अतिरिक्त चान्द्रव्याकरण के रचयिता चन्द्रगोमी का भी अनेक बार संकेत यहाँ मिलता है।

ऊपर कहा गया है कि क्षीरस्वामी की टीका उपलब्ध टीकाओं मे प्राचीनतम है। इससे भी प्राचीन टीकायें उस युग मे थी—इस तथ्य के द्योतक क्षीरस्वामी के ही वाक्य हैं। नाम्ना चार टीकाकारो का उल्लेख स्वामी ने किया है—उपाध्याय[1], गौड[2], श्रीभोज[3] तथा नारायण[4]। सम्भव है कि क्षीरस्वामी की लोकप्रियता के कारण ये प्राचीन टीकायें लुप्त हो गयी। उपाध्याय का तात्पर्य अच्युतोपाध्याय से है जिन्होंने अमरकोश के ऊपर व्याख्याप्रदीप नामक व्याख्या लिखी थी। गौड के विषय में हम कुछ भी नही जानते। 'श्रीभोज' राजा का भोज का ही आदर सूचक अभिधान है, परन्तु इनकी किसी अमरटीका का परिचय अब तक नहीं मिला।

टीका-सर्वस्व

सर्वानन्द की अमरटीका टीकासर्वस्व नाम्ना प्रसिद्ध है[5]। इसकी रचना का उल्लेख ग्रन्थ के भीतर ही कालवर्ग की व्याख्या मे किया गया है समय है [११५९ ईस्वी[6]]। सर्वानन्द की उपाधि 'वन्द्यघटीय' है जो डा० हरप्रसाद शास्त्री मतव्यानुसार आजकल 'वन्द्योपाध्याय' उपाधि की ही प्रतिनिधि है। फलत सर्वानन्द बगाली ब्राह्मण थे। ये बगाल के निवासी थे—आर्तिहर के पुत्र। यह टीका क्षीरस्वामी के समान ही प्रामाणिक तथा पाण्डित्यपूर्ण है। बगाली कोषकारों मे सम्भवत ये ही प्रथमतः कोषकार हैं जिनकी व्याख्या का प्रभाव वहां के कोषकारो के ऊपर विशेष पडा है।

---

१. इनके मत का उल्लेख पृ० ३, ६३, १४४, २००, २०१ तथा २३४ पर किया गया है।

२. मत का उल्लेख पृ० ३, ५, ६२, ७६ आदि पर है। (१२ बार)

३ इनके मत का उल्लेख पृ० ३ पर है।

४ इनका मत पृ० ५२ पर निर्दिष्ट है।

द्रष्टव्य—क्षीरस्वामी की टीका का संस्करण, प्र० ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९४१। इसी स० के पृष्ठ ऊपर निर्दिष्ट हैं।

५ स० टी० गणपति शास्त्री के सम्पादकत्व मे कई भागों में अनन्तशयन ग्रन्थमाला मे १९१४–१७।

६. इदानीं चैकाशीतिवर्षाधिक-सहस्रैकपर्यन्तेन शकाब्दकालेन (१०८१ शक) षष्टिवर्षाधिक द्विचत्वारिंशच्छतानि कलिसंख्याया भूतानि (४२६०)।

— अमर १।४।२१ टीका

अपनी व्याख्या की पुष्टि इन्होंने प्राचीन कोष तथा आधार ग्रन्थों से तत्तत् वाक्य उद्धृत कर की है। एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

(१) ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त वाडव शब्द की व्युत्पत्ति क्षीरस्वामी ने लिखी है 'वाडव इवातृप्त.'। इस व्युत्पत्ति को कल्पनाजन्य मानकर सर्वानन्द ने व्युत्पत्ति दी है वडवाया भव = वाडव.। वडवा=ब्राह्मणी 'वडवा कुम्भदास्यश्च स्त्रीविशेषो द्विजाङ्गना' (इति रभस)। यह व्युत्पत्ति अधिक औचित्यपूर्ण है।

(२) 'कुतप' शब्द की व्युत्पत्ति देते समय सर्वानन्द स्मृति का वचन उद्धृत करते हैं जिसमे दिन के १५ भागो के विशिष्ट नाम हैं। उन भागो मे अष्टम भाग का नाम 'कुतप' है जो श्राद्ध के लिए उचित काल माना जाता है। इस स्मृति-वचन के साहाय्य से इस शब्द का ठीक अर्थ समझ मे आता है, क्षीरस्वामी द्वारा इस प्रसग मे उद्धृत स्मृतिवचन से नही (द्रष्टव्य द्वितीय काण्ड, ब्रह्मवर्ग का ३१ श्लो०)। अमर का वचन है—

अशोऽष्टमोऽह्न कुतपोऽस्त्रियाम् ॥

(३) लोहार का वाचक शब्द है—व्योकार। इस विचित्र शब्द की उत्पत्ति अनिश्चित है। इस शब्द की व्याख्या के प्रसग मे सर्वानन्द ने लोहकार तथा कर्मकार (बँगला कामार) के अर्थ मे सुन्दर पार्थक्य दिखलाया है। खान से निकले कच्चे लोहे को शुद्ध करने वाला होता है लोहाकार—और इस सस्कृत लोहे से चाकू, आयुध आदि बनाने वाला होता है कर्मकार। व्योकार के प्रयोग के लिए सर्वानन्द हर्षचरित से एक विशिष्ट स्थल उद्धृत करते हैं। क्षीरस्वामी ने श्रीभोज का मत दिया है कि 'व्यो' आयस् का पर्याय है। सर्वानन्द कहते हैं—व्यो इति लोहबीजस्य प्रसिद्धि। तो 'वि + अयोकार' शब्द ही घिसकर 'व्योकार' बन गया है क्या ?

सर्वानन्द ने इन प्राचीन कोशकारो का निर्देश इस टीकासर्वस्व मे किया—

अजय, पुरुषोत्तमदेव, भागुरि, रभस, रुद्र, वररुचि, शाश्वत, वोपालित, व्याडि, हड्डचन्द्र तथा हलायुध।

इनमे से अनेक कोषकारो के मूल ग्रन्थ उपलब्ध नही होते, केवल उद्धरणो के द्वारा ही उनके मतो का परिचय हमे मिलता है। इनमे से कतिपय कोषकार बगाल के ही निवासी हैं। रायमुकुट ने 'पदचन्द्रिका' मे इनमे से प्राय सब कोषकारो को उद्धृत किया है। सर्वानन्द तथा रायमुकुट—इन दोनो टीकाओं की तुलनात्मक परीक्षा करने पर रायमुकुट का विवेचन अधिक तुलनात्मक तथा परीक्षणात्मक है। विभिन्न ग्रन्थकारों के मतों का उपन्यास कर उन्होने अपनी सम्मति सर्वत्र देने की व्यवस्था की है। सर्वानन्द ने अमर की दस टीकाओं का सार संकलन किया है, तो रायमुकुट ने

सोलह टीका का सार ग्रहण किया है। रायमुकुट ने सर्वानन्द से लगभग तीन सौ वर्षों के बाद अपनी टीका का प्रणयन किया। अमर की लोकप्रियता के कारण टीकाओं की संख्या निरन्तर बढती ही चली गयी।

कामधेनु

सुभूतिचन्द्र की अमरकोश टीका कामधेनु के नाम से विख्यात है। सुभूतिचन्द्र (या सुभूति) बौद्ध थे और इस टीका की लोकप्रियता का अनुमान इस घटना से लगाया जा सकता है कि तिब्बती भाषा मे इसका अनुवाद विद्यमान है तथा तिब्बत के नागोर बौद्धमठ मे इस टीका का संस्कृत हस्तलेख (परन्तु अधूरा) उपलब्ध होता है (लेखन काल ३१३ नेपाली सं०=११९१ ई०)। मद्रास की पत्रिका मे इस व्याख्या का दूसरा अपूर्ण हस्तलेख वर्णित है जिसमे सुभूति ने सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृङ्गार प्रकाश का निर्देश इस टीका मे किया है। फलत ये १०६२ ई० से अनन्तर हुए जो भोजराज का मरणकाल माना जाता है। शरणदेव ने अपनी 'दुर्घटवृत्ति' मे (रचना काल ११७२ ई०) इनका एक वचन उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय १०६२ ई०–११७२ ई० के बीच मे होना चाहिए—सम्भवत १२ शती के प्रथम चरण में। नागोर बौद्धमठ का हस्तलेख इनका पोषक माना जा सकता है। सुभूति की कामधेनु टीका का प्रभाव अवान्तरकालीन अमर टीकाकारो पर विशेष रूप से पडा है। सर्वानन्द ने, (जो स्वय बौद्ध थे और जिनका बौद्ध विद्वान् के ऊपर आग्रह सुसगत प्रतीत होता है) अपनी अमर टीका मे (र०का० ११५९ ई०) न तो सुभूति का, और न उनकी अमर टीका का ही, उल्लेख किया है। इससे अनुमान होता है कि सुभूति की टीका की ख्याति उस समय तक विशेष नही हुई थी। सर्वानन्द ने लिखा है कि उन्होने अमर की दस टीकाओ का अध्ययन कर अपनी टीका का प्रणयन किया था। सुभूति का अनुल्लेख उस समय उनकी ख्याति के अभाव का ही द्योतक है।

पदचन्द्रिका मे सुभूति के विशिष्ट मतो का बहुश उल्लेख मिलता है। अमर के एक अर्वाचीन टीकाकार लिङ्गाभट्ट ने अपनी टीका मे सर्वानन्द के साथ ही साथ सुभूति का उल्लेख कम से कम ४३ बार किया है जिसमे अवान्तरकालीन टीकाकारो पर सुभूति के प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। सुभूति की कामधेनु टीका की उपलब्धि कोशविद्या के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण घटना सिद्ध होगी[2]। पदचन्द्रिका मे

---

१ सत्तापूर्वं विधेरनित्यत्व त् वृद्ध्यभाव इति सुभूति ।
(दुर्घटवृत्ति, पृ० ८२ अनन्तशयन ग्रन्थमाला सं०)

२ पी० के० गोड —स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री। —भाग १

सुभूति के उल्लिखित तथ्यों के अनुशीलन से उनके विचारों का परिचय मिल सकता है। यथा चिह्नवाचक 'लक्ष्मण' शब्द के विषय में सुभूति रभस से विरुद्ध हैं। रभस इस शब्द के मकार को मध्य स्थिति मानते हैं (=लक्ष्मणम्) परन्तु सुभूति को मकारहीन शब्द अभीष्ट है (=लक्षणम्) खेलने के अर्थ में 'कुर्दन' को सुभूति ह्रस्व मानते हैं। क्षीरस्वामी दीर्घ मानने के पक्षपाती है (कूर्दन)। 'पुलिन' शब्द के अर्थ के विषय में अमर का वचन है—तोयोत्थित तत् पुलिनम्। इस पर सुभूति का कथन है कि जो द्वीप क्षणभर के लिए तोय से मुक्त होता है वह होता है 'पुलिन'। यह मत स्वामी के मत से विरुद्ध है। ऐसे अनेक वैशिष्ट्यों का परिचय पदचन्द्रिका के अध्ययन से पता चलता है।

पदचन्द्रिका

अमरकोश की पदचन्द्रिका[1] नामक टीका अपने विविध गुणों के कारण विशेष महत्त्व रखती है। इसके आरम्भ के पद्यों में इसके रचयिता ने अपना परिचय दिया है। उनका नाम था—बृहस्पति। पिता का नाम गोविन्द तथा माता का नाम सुगाधि देवी। बंगाल के प्रख्यात राढ़ा नगर के निवासी। गौड के राजा ने इन्हें 'पण्डित-सार्वभौम' की पदवी दी। रायमुकुटमणि अथवा रायमुकुट नाम से ये प्रख्यात थे। इनके पुत्र विश्वास, राम आदिक दिग्विजयी विद्वान् तथा कवीन्द्र थे। फलत इनका समाज में विशेष महत्त्व तथा महती प्रसिद्धि थी।

काल वर्ग की टीका में इन्होंने अपने समय का स्पष्ट संकेत दिया है[2]—१३५३ शकाब्द, ४५३२ कलि वर्ष जो ईस्वी सन् १४३१ ठहरता है। यही पदचन्द्रिका का रचना काल है। टीका बड़ी प्रौढ़ है, जिसमें प्राचीन उद्धृत ग्रन्थों की संख्या डा० आउफ्रेक्ट के गणनानुसार २७० है। रायमुकुट ने इसकी रचना अमरकोश की १६ टीकाओं के अनुशीलन करने के उपरान्त उनके सार का लेकर की—इसका उल्लेख वे स्वयं करते हैं[3]। क्या ही अच्छा होता कि इन १६ टीकाओं के नाम कहीं निर्दिष्ट किये

---

१. पदचन्द्रिका का प्रथम भाग गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, कलकत्ता से डा० कालीकिंकर दत्त के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है, १९६६। हस्तलेखों पर आधृत यह संस्करण विशुद्ध तथा प्रामाणिक है।

२. इदानीं शकाब्दा, १३५३ द्वात्रिंशदधिक-पञ्चशतोत्तर-चतुःसहस्राणि कलिसन्ध्याया भूतानि ४५३२।

—वही, पृ० १५१।

३ इयं षोडशटीकार्थसारमादाय निर्मिता।
अतोऽभिलिखितोऽप्यर्थोऽन्यां न हेय सहसा बुधैः॥

आरम्भ का ९म श्लोक।

गए रहते। कोशविद्या के इतिहास के लिए यह कितना महत्वपूर्ण उल्लेख होता !!! ग्रन्थ के भीतर अमर के अनेक टीकाओं के उल्लेख तथा उद्धरण विद्यमान हैं। तथा तदितर कोशो के प्रयोगार्थ काव्य ग्रंथो का निर्देश रायमुकुट के बहुल पाण्डित्य का सूचक है।

(क) प्राचीन विस्मृत तथा अनुपलब्ध कोशो के विषय मे यहाँ प्रभूत सामग्री विद्यमान है जिसके अध्ययन से शब्दविषयक बहुमूल्य तथ्य ज्ञात होते हैं। भाषा विज्ञान की दृष्टि से 'चन्द्रमा' शब्द का मूलभूत अश 'मास्' है जो स्वत चन्द्रवाची है। √चदि आह्लादे से निष्पन्न 'चन्द्र' आह्लादक अर्थ का वाचक प्रथमत 'मस्' के विशेषणरूप मे प्रयुक्त होता था जो पीछे स्वय पृथक् होकर सज्ञा-शब्द बन गया। इस तथ्य का पता व्याडि की 'उत्पलिनी' से चलता है—'मा शब्दोऽपीह चन्द्रे सम्मतो वृहद्दश-नाम्' क्षीरस्वामी इसका समर्थन करते हैं (पदचन्द्रिका पृ० १०६)। इस प्रकार मेदिनी, शब्दार्णव, सुभूति, सर्वधर, सर्वानन्द, वोपालित व्याडि, कौमुदी, नामनिधान, नाममाला, अमरमाला आदि प्राचीन कोशो का अनेक उद्धरण इस टीका की महनीयता का एक निदर्शन है। प्राचीन काव्यो मे भारवि, माघ, कुमारसम्भव के अतिरिक्त पाणिनि के जाम्ववती काव्य से भी इस खण्ड मे दो उद्धरण मिलते हैं।

(ख) अनेक नूतन शब्दो का तथा नवीन प्रयोगो का निर्देश रायमुकुट के बहुज्ञान तथा विशाल अध्ययन का सूचक है। चन्द्रवाचक सोम शब्द अकारान्त तो प्रसिद्ध ही है, परन्तु उणादि (४।१५०) के अनुसार वह नकारान्त (सोमन्) भी होता है। इस अप्रसिद्ध रूप का उल्लेख रायमुकुट करते हैं (पदचन्द्रिका पृ० १०७)। प्रतीत होता है कि उस युग मे भोज का 'शृंगारप्रकाश' प्रख्यात था, इसके भी उद्धरण मिलते है। 'दुर्दिन' शब्द के अर्थविषय मे अमर केवल 'मेघ से आच्छन्न दिन' के लिए शब्द का प्रयोग मानते हैं 'मेघच्छन्नेऽह्नि' (दिग्वर्ग, श्लोक ७९), परन्तु मेघाच्छन्ना रात्रि का भी यह वाचक है। इसलिए रायमुकुट कुमारसम्भव का एक सुन्दर उद्धरण देते हैं—'अनभिज्ञास्तमिस्राणां दुर्दिनेऽप्यभिसारिका।' (६।४३)

(ग) शब्दो के अर्थों का तुलनात्मक विवेचन बडे महत्त्व का है। ध्यातव्य है कि बँगला भाषा मे 'रौद्र' शब्द घाम के अर्थ मे प्रयुक्त होने वाला ठेठ बँगला शब्द है, परन्तु इसकी सस्कृतमयी आकृति से लुब्ध होकर बगीय लेखक संस्कृत मे भी इसका प्रयोग करते हैं। फलत. पृ० १३२ पर उद्धृत कोक्कट नामक कोशकार इसी पहिचान से बँगाली निश्चित रूप से हैं। रायमुकुट ने रोचि, दीप्ति, आतप—आदि शब्दों (पृ० १३२-१३३) के अर्थ की छानबीन के निमित्त प्राचीन कोशों तथा काव्यों का गम्भीर अनुशीलन कर अपना मत दिया है। शब्दो की वर्तनी (स्पेलिङ्ग) के विषय मे भी इनकी सूझ बड़ी है।

अमरकोश (१ २१) मे पाठ आता है 'ब्रह्मसूर्विश्वकेतु स्यात्'। इससे प्रथम कामदेव का नाम है और पीछे अनिरुद्ध का। दोनों के मध्य मे आने वाले ये नाम किसके हैं ? इसकी मीमांसा टीकाकार की बहुज्ञता की सूचिका है। विश्वकेतु के स्थान पर रिश्यकेतु पाठ मिलता है इन दोनो मे कौन पाठ ठीक है ? क्षीरस्वामी तो 'विश्वकेतु' को अपपाठ कहकर शब्द की आलोचना मे छुट्टी ले लेते हैं परन्तु रायमुकुट इसकी भी व्याख्या करते हैं तथा ऋष्यकेतु (रिशकेतु अथवा रिष्यकेतु) पद की यौगिकता दिखलाने के लिए साम्बपुराण का वचन उद्धृत करते हैं जिससे अनिरुद्ध की ध्वजा मे मृग की स्थिति सिद्ध होती है। फलत 'रिष्यकेतु' अनिरुद्ध का ही वाचक सिद्ध होता है। इसी प्रकार स्वर्गवाची 'त्रिविष्टप' शब्द की वर्तनी के विषय मे भी मतभेद है। उचित शब्द कौन-सा है—त्रिविष्टप अथवा त्रिपिष्टप। रायमुकुट प्राचीन कोशों के साहाय्य से दोनो शब्दों को ही ठीक मानकर अपना निर्णय देते हैं। सर्ववाचक शब्द अलर्घ है अथवा अनर्घ ? (अमर २१६ श्लोक) इसकी मीमांसा तथा व्युत्पत्ति पदचन्द्रिका की विशिष्टता रखती है (पृ० २४९)।

इस प्रकार शब्दो की व्युत्पत्ति, वर्तनी तथा प्रयोग के विषय मे पदचन्द्रिका अलौकिक महत्त्व रखती है।

रामाश्रमी

(५) भानुजि दीक्षित—भट्टोजि दीक्षित के पुत्र भानुजि दीक्षित ने अमरकोश की एक लोकप्रिय व्याख्या लिखी जिसका नाम था है व्याख्या-सुधा, परन्तु अब रचयिता के नाम से वह रामाश्रमी कहलाती है। इसका अर्थ है कि भानुजि दीक्षित ने पीछे सन्यास ले लिया था और उस समय उनका नाम हुआ—रामाश्रम। इसकी एक अपूर्व हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई है १६४९ ईस्वी की, जा लेखक की समसामयिक प्रति है[1]। इसकी पुष्पिका से पता चलता है कि भानुजि ने बघेलवंशोद्भव महीधरविषयाधिपति महाराजकुमार कीर्तिसिंह की आज्ञा से इस टीका का निर्माण किया था। डा० गोडे की स्थापना है कि कीर्तिसिंह का मूल नाम फतेहसिंह था जो अपने पिता अमरसिंह (१६२४–१६६० ई०) के शासनकाल मे रीवा से अलग हटकर महीधर (मईहर) के शासक बन गये थे। इनका समय १७ सदी का मध्य काल है (लगभग १६२०–१६७० ई०)। रामाश्रम के शिष्य कृष्णराज ने १६९८ विक्रमी (= १६४१ ई०) मे वाराणसी-दर्पण-प्रकाशिका नामक ग्रन्थ लिखा जिसमे वे लिखते हैं—

---

१ द्रष्टव्य डा० गोडे—स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, भाग ३ (पूना, १९५६; पृ० ३५–३४)।

भट्टोजि दीक्षितं नत्वा रामाश्रम-गुरुं पुनः।
वत्सराजः करोत्येतां काशीदर्पणकाशिकाम् ॥

इससे स्पष्टतः प्रतीत होता है कि १६४१ ई०से पहिले ही भानुजि सन्यासी बन गये थे। गृहस्थाश्रम मे रहते ही समय उन्होंने व्याख्यासुधा लिखी थी। इस सर्वप्राचीन हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका से यह तथ्य विदित होता है। भट्टोजि दीक्षित का समय १५६० ई०–१६२० ई० नियत किया गया है। फलतः भानुजि दीक्षित का काल १६०० ई०–१६५० ई० मानना सर्वथा उचित होगा। यह टीका बहुत ही विस्तृत तथा प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति देती है। इसके पाण्डित्यपूर्ण होने मे सन्देह नही।

(६) भरत मल्लिक—बगाल के गौराग मल्लिक के पुत्र भरत मल्लिक या भरतसेन ने भी अमरकोश के ऊपर टीका लिखी है जो बहुत ही विस्तृत तथा निर्देशो से मण्डित टीका है। शब्दो के विभिन्न रूपों को भी यहाँ दिखलाया गया है। शब्दो की व्युत्पत्ति वोपदेव के व्याकरणानुसार दी गई है। वोपदेव के ग्रंथ कविकल्पद्रुम (रचनाकाल १६३९ ईस्वी) की टीका मे दुर्गादास ने भरत की अमरटीका अनेक बार उद्धृत किया है। फलतः इनका समय १७ वी शती से पहिले चाहिए।

अमरकोश के अन्य टीकाओ मे इन टीकाओं की प्रसिद्धि है —(७) नारायण शर्मा 'अमरकोश पंजिका' या पदार्थ कौमुदी (रचनाकाल १६१९ ई०), (८) रमानाथ विद्यावाचस्पति की 'त्रिकाण्ड विवेक' टीका (रचनाकाल १६२३ ई०), (९) प्रज्ञालंकार की 'सारसुन्दरी' (रचना का० १६६६ ई०), (१०) अच्युतोपाध्याय की 'व्याख्याप्रदीप', (११) रघुनाथ चक्रवर्ती का 'त्रिकाण्डचिन्तामणि' (कलकत्ते से प्रकाशित), (१२) महेश्वर का 'अमरविवेक' (बम्बई से प्रकाशित)।

अमरपश्चात् काल

अमरसिंह के अनन्तर कोशकारो के शब्दचयन मे बडी प्रौढता तथा व्यापकता है। कतिपय कोशकारों ने केवल नानार्थ कोष की ही रचना स्वतन्त्र रूप से पृथक की है जिससे ऐसे कोषो मे बडी व्यापकता दृष्टिगोचर होती है। वैद्यकशास्त्र के विषय मे अनेक निघण्टुओ का निर्माण भी विषय की लोकप्रियता का द्योतक है। संस्कृत के समान ही पालि, प्राकृत तथा देशी शब्दो की भी रचना इस युग मे हुई। फलतः यह काल कोशो के इतिहास मे नितान्त महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। मान्य कोशकारो का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

(१) शाश्वत—अनेकार्थ-समुच्चय[1]

इस कोश में केवल अनेकार्थ शब्दों का ही विस्तृत चयन है। इस चयन में किसी व्यवस्था के दर्शन नहीं होते। कहीं पर पूरे पद्य में, कहीं आधे पद्य में और कहीं चौथाई पद्य में शब्दों का अर्थ दिया गया है। इस विषय में अमरकोश की अपेक्षा विशेष प्रौढता तथा पूर्णता दृष्टिगोचर होती है जो शाश्वत को अमर का परवर्ती लेखक सिद्ध कर रही है। इसके समय का निर्णय अनुमानतः ही करना पड़ता है।

शाश्वत के अन्तिम पद्य में लिखा गया है[2] कि कवि महाबल तथा बुद्धिमान् वराह के साथ सम्यक् परामर्श करके यह कोश प्रयत्न से तैयार किया गया। ये दोनों जन अज्ञात हैं। शाश्वत निश्चयरूपेण अमर के पश्चाद्वर्ती हैं। क्षीरस्वामी का प्रामाण्य निःसन्दिग्ध है। अमर में आतिथ्य शब्द का अर्थ अतिथ्यर्थ है 'अतिथये इदम्' विग्रह के द्वारा। क्षीरस्वामी का कथन है कि नाट्य तथा माला दोनों के अनुसार इस शब्द का अर्थ 'अतिथि' है। अतएव शाश्वत ने दोनों अर्थों में इस शब्द का प्रयोग लिखा है—

शाश्वतोऽप्येवमेवमाह—आतिथ्य स्यादतिथ्यर्थम् आतिथ्यमतिथिं विदुः। इससे स्पष्ट है कि क्षीरस्वामी के मत में ये अमर के पश्चाद्वर्ती थे। ऐसी स्थिति में वराह से वराहमिहिर (ज्योतिषी, बृहत्-संहिता के रचयिता, षष्ठ शती) का तात्पर्य लगाना सर्वथा असंगत नहीं प्रतीत होता। शाश्वत का भी समय षष्ठ शती में मानना उचित प्रतीत होता है। इन्हीं के नाम पर इनका यह नानार्थक कोश 'शाश्वत कोश' के नाम से प्रख्यात है।

शाश्वत ने अपने विषय में लिखा है कि मैं ने तीन व्याकरणों को देखा तथा पाँच लिङ्गशास्त्रों का (लिङ्गानुशासनों का) अध्ययन किया[3]। इस व्याकरणत्रयी में चान्द्र अवश्यमेव अन्यतम था—यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। 'तन्त्री' शब्द चान्द्र व्याकरण के उणादिसूत्र (१।९०) के अनुसार ङीबन्त है 'नदी' शब्द के समान, परन्तु पाणिनीय उणादिसूत्र (३।८८६) के अनुसार वह 'लक्ष्मी' शब्द के समान ई प्रत्यय के योग से निष्पन्न है[4]। फलतः चान्द्र के अनुसार प्रथमा एकवचन होगा 'तन्त्री' और

---

१ ओक द्वारा सम्पादित, पूना १९१८। नारायण कुलकर्णी द्वारा सम्पादित, पूना, १९३०।

२ महाबलेन कविना वराहेण च धीमता।
सह सम्यक् परामृश्य निर्मितोऽयं प्रयत्नतः॥

३ दृष्टशिष्टप्रयोगोऽहं दृष्टव्याकरणत्रयः।
अधीती गुरुसम्पातात् लिङ्गशास्त्रेषु पञ्चसु॥
—शाश्वतकोष, प्रारम्भ का ६ श्लोक।

४ अविन्तृस्तृतन्त्रिभ्य ई (तृतीय पाद, ४८६ सूत्र)।

पाणिनि के अनुसार 'तन्त्रीः'। शाश्वत तन्त्री का प्रयोग करते हैं–**वीणादीना गुणस्तत्री तन्त्री दहसिरा मता** (श्लोक ४४६)। इसी प्रकार के चान्द्रसम्मत 'विश्राम' का प्रयोग करते हैं, पाणिनि-सम्मत 'विश्रम' का नहीं (श्लोक ५४) फलत शाश्वत को चन्द्रगोमी से (५०० ई० लगभग) अर्वाक्कालीन मानना ही युक्तियुक्त है। अत पूर्वोक्त कालनिर्णय की इस प्रमाण से सद्य पुष्टि होती है।

'दृष्ट शिष्ट प्रयोग' होने का अभिमान करने वाले शाश्वत कालिदास से विशेषत परिचित हैं—यह तथ्य स्वभावसिद्ध है। कालिदास ने 'ललामन्' शब्द का प्रयोग रघुवश मे किया है (कन्या ललाम कमनीयमजस्य लिप्सो)। शाश्वत ने तदनुसार श्लोक ८० मे ललाम के साथ 'ललामन्' को निर्दिष्ट किया है। इसी प्रकार 'भित्ति' का प्रयोग प्रदेश अर्थ मे दोनो मे मिलता है (रघु० ५।४३ तथा शाश्वतकोष ६५३ श्लो०)। जो पण्डित कालिदास को पचम शती मे मानते हैं, उनकी दृष्टि मे भी शाश्वत कालिदास तत्कालीन कोषकार हैं।

(२) धनञ्जय—नाममाला

धनञ्जय कवि रचित 'नाममाला' व्यवहार मे आने वाले लोकप्रचलित सस्कृत शब्दो का एक उपयोगी कोश है। इसमे केवल दो सौ श्लोक हैं और इन्ही के द्वारा समानार्थक शब्दो का सग्रह उपस्थित किया गया है। इसमे नवीन शब्दो के निर्माण के निमित्त सुन्दर उपाय बतलाये गये हैं। जैसे पृथ्वी वाचक शब्दो मे धर शब्द जोडने से पर्वत के नाम, मनुष्यवाची शब्दो के आगे पति' शब्द जोडने से राजा के नाम, वृक्षवाची शब्दो मे 'चर शब्द जोडने से बन्दर के नाम, निर्घात, अशनि, वज्र, उल्का शब्दो से तथा बिजुलीवाची शब्दो से 'पति' जोडने से मेघवाचक शब्द बन जाते है (*जैसे निर्घातपति, वज्रपति, उल्कापति, विद्युत्पति आदि का अर्थ मेघ है*)। शब्दों के चयन मे लोकव्यवहार को विशेष महत्व दिया गया है। यह इस कोश की विशेषता ध्यानगम्य है। अनेकार्थनाममाला मूलकोश का ही पूरक अग है। इसके अतिरिक्त अनेकार्थ निघण्टु १४३ श्लोको का एक लघुग्रथ है जिसकी पुष्पिका धनञ्जय को इसका रचयिता बतलाती है। फलत धनञ्जय रचित ये दो कोष हैं। प्रथम कोश की व्याख्या अमरकीर्ति ने लिखी, जो व्याख्या विस्तृत तथा विशद होने से भाष्य के नाम से अभिहित की गयी है। प्राचीन आचार्यो के मतानुसार इन्होने व्युत्पत्ति लिखी है तथा अपने मत की पुष्टि मे महापुराण, पद्मनन्दिशास्त्र, यशस्तिलक चम्पू आदि ग्रन्थो तथा यश कीर्ति, अमरसिंह, आशाधर, क्षीरस्वामी, श्रीभोज, हलायुध आदि ग्रन्थकारो को नामनिर्देशपूर्वक प्रमाणकोटि मे उपस्थित किया है[1]।

---

[1] भाष्य के साथ नाममाला का विशद स० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ने प्रकाशित किया है, मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला स० ६, १९५० ई०।

लेखक तथा भाष्यकार के समय का अनुमान भली भांति लगाया जा सकता है। महाकवि धनञ्जय की सर्वश्रेष्ठ रचना द्विसन्धान काव्य है जिसमें श्लिष्ट पदों के द्वारा रामायण और महाभारत दोनों के कथानक का विशद वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ के निर्माण के कारण ये 'द्विसन्धान कवि' की आख्या से प्रख्यात थे। नाममाला के अन्त मे अपने ग्रन्थ का उन्होने सगौरव उल्लेख किया है। जैन साहित्य के रत्नत्रय मे प्रथम रत्न है अकलङ्क का प्रमाण शास्त्र, द्वितीय रत्न है पूज्यपाद का लक्षण अर्थात् व्याकरण शास्त्र तथा तृतीय रत्न है द्विसन्धान कवि का काव्य—

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसन्धानकवे काव्य रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥

(नाममाला, श्लोक २०१)

इस द्विसन्धानकाव्य का उल्लेख अनेक ग्रन्थकारो ने बड़े सत्कार से अपने ग्रन्थो में किया है—(१) भोजराज के समकालीन आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने दार्शनिक ग्रन्थ प्रमेय कमल मार्तण्ड (पृ० ४०२) मे इस काव्य का उल्लेख किया है। प्रभाचन्द्र का समय ११ शती का मध्यभाग है। (२) वादिराज सूरि ने (सन् १०२५ अपने 'पार्श्वनाथ चरित' मे धनञ्जय के नाम का उल्लेख किया है[1]। (३) जल्हण ने अपनी सूक्तिमुक्तावली (४।९७) मे राजशेखर के नाम से द्विसन्धान काव्य की प्रशस्ति उद्धृत की है[2]। ये राजशेखर बालरामायण आदि प्रख्यात ग्रन्थो के रचयिता हैं। समय दशम शती का आरम्भ काल (८९५ ई०–९२० ई०)। (४) जिनसेन के गुरु वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम की धवला टीका (पृ० ३ ७) मे 'अनेकार्थ नाममाला' (धनञ्जय-रचित ग्रन्थ) से एक श्लोक उद्धृत किया है। धवला टीका ८७३ विक्रमी स० (= ८१६ ईस्वी) मे समाप्त हुई। फलत धनञ्जय का समय इससे पश्चाद् नहीं हो सकता। (५) धनञ्जय ने अकलङ्कदेव (समय सप्तम शती) का उल्लेख पूर्वोद्धृत 'प्रमाणमकलङ्कस्य' पद्य मे किया है। फलत ये सप्तम शती से पूर्ववर्ती नहीं हो सकते।

---

१ इस काव्य की यह प्रशस्ति वादिराज सूरि द्वारा 'पार्श्वनाथ चरित' के आरम्भ मे दी गयी है—
अनेकभेदसन्धाना खनन्तो हृदये मुहु ।
बाणा धनञ्जयोन्मुक्ता कर्णस्येव प्रिया कथम् ॥

२ यह प्रशस्ति इस प्रकार है—
द्विसन्धाने निपुणता स ता चक्रे धनञ्जय ।
यदा जात फल तस्य सता चक्रे धनञ्जय ॥

—सूक्तिमुक्तावली ४।९७

निष्कर्ष यह है कि धनञ्जय का समय अकलङ्क (सप्तम शती) तथा वीरसेन स्वामी (८१६ ई०) के बीच में होना चाहिए। धनञ्जय का समय अष्टम शती का उत्तरार्ध मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है (लगभग ७४० ई० ७९० ई०)।

ग्रंथ के भाष्यकार अमरकीर्ति के समय का अनुमान लगाया जा सकता है। भाष्य की पुष्पिका से प्रतीत होता है कि अमरकीर्ति 'त्रैविद्य' उपाधि से विभूषित थे तथा सेन्द्रवंश (सेनवंश) में उत्पन्न हुए थे। शब्दों के पारगामी पाण्डित्य के कारण वे अपने को 'शब्दवेत्ता' कहते हैं। ये दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' के प्रणेता वर्धमान के समकालीन तथा विद्यानन्द के पुत्र विशालकीर्ति के सधर्मा शास्त्रकोविद विद्वान थे[1]। दशभक्त्यादिमहाशास्त्र का समाप्तिकाल १४०४ शक (=१४८२ ई०) है। इससे उल्लिखित होने से इनका समय १५ शती का मध्यभाग (१४५० ई०) मानना उचित प्रतीत होता है[2]।

(३) पुरुषोत्तम देव—त्रिकाण्डकोष, तथा हारावली

पुरुषोत्तम देव ने राजा लक्ष्मणसेन (११७० ई०–१२०० ई०) के आदेश पर पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'भाषावृत्ति' नामक वृत्ति लिखी, ऐसा कथन इसके टीकाकार सृष्टिधराचार्य का है, परन्तु इन कोशों का निर्माण लक्ष्मणसेन के युवराज काल में ही हो गया होगा, क्योंकि सर्वानन्द (११५९ ई०) ने लक्ष्मणसेन के राज्यारोहण से दस वर्ष पूर्व ही इनके तीनों कोशों का बहुश उल्लेख अपनी अमरव्याख्या में किया है। फलत इनका समय १२ शती का उत्तरार्ध मानना उचित है। इनके आधारग्रन्थ हैं—वाचस्पति का शब्दार्णव, व्याडि की उत्पलिनी तथा विक्रमादित्य का 'संसारावर्त'। अमरसिंह के समान ये भी बौद्ध थे। अपने कोश में इन्होंने बुद्ध के नामों की ही एक विस्तृत सूची नहीं दी है, प्रत्युत उनके साथ उनके पुत्र राहुल का तथा प्रतिद्वन्द्वी देवदत्त के नाम का भी निर्देश किया है।

पुरुषोत्तमदेव, अमरसिंह के समान ही, बौद्ध थे। इसका स्पष्ट प्रमाण त्रिकाण्डशेष के मङ्गलश्लोक तथा बुद्ध की नामावली में मिलता है। मङ्गलश्लोक में (नमो

---

१ अमरकीर्ति की प्रशस्ति इस ग्रंथ में इस प्रकार है—

जीयाद् अमरकीर्त्याख्यभट्टारकशिरोमणि ।
विशालकीर्ति योगीन्द्रसधर्मा शास्त्रकोविद ॥
अमरकीर्तिमुनिर्विमलाशय कुसुमचापमहाचलवज्रभृत् ।
जिनमतागमतारितमाश्च यो जयति निर्मलधर्मगुणाश्रय ॥

२ विशेष के लिए द्रष्टव्य—नाममाला की भूमिका (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५४) पृ० ११–१३।

मुनीन्द्राय सुरासुरस्तुताय) में मुनीन्द्र को नमस्कार का विधान है। 'मुनीन्द्र' शब्द बुद्ध का ही वाचक है (मुनीन्द्रः श्रीघन शास्ता—अमरकोश)। देवताओं के उल्लेख में सर्वप्रथम बुद्ध के ३७ नामों का निर्देश है। तदनन्तर बुद्ध के पुत्र राहुल का, अनुज देवदत्त का, मायादेवी का तथा प्रत्येक बुद्ध का क्रमशः उल्लेख है (प्रथम काण्ड १ वर्ग ८-१४ श्लोक) फलतः उनके बौद्ध होने में किसी प्रकार का संशय नहीं है। इनकी कोशविषयक तीन रचनायें उपलब्ध हैं—

(१) त्रिकाण्डशेष—अमरकोश (त्रिकाण्ड) का पूरक ग्रन्थ। इसमें लोक-व्यवहार में प्रयुक्त, परन्तु अमरकोश में अनुपलब्ध, शब्दों का सुन्दर संग्रह है। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अमरवत् है। क्रम अमर के समान ही है, परन्तु अनुष्टुप् से अतिरिक्त छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। श्लोकों की संख्या एक सहस्र तिरपन है। अमरकोश के समान ही इसमें तीन काण्ड तथा २५ वर्ग हैं। अमर के पूरक होने के हेतु यह कोश खूब प्रसिद्ध रहा और टीकाग्रन्थों में बहुश उद्धृत है। इसकी टीका लंका के महानायक यतिवर श्री शीलस्कन्ध[1] ने लिखी है जो बहुत ही उपादेय है। व्याकरण से सम्बद्ध प्रभूत तथ्य यहाँ दिये गये हैं तथा अन्य कोशों के प्रमाण-वचनों से यह परिपुष्ट है।

(२) हारावली[2] में ग्रन्थकार अप्रचलित शब्दों को तथा असामान्य शब्दों को देने की प्रतिज्ञा करता है। २७० पद्यात्मक यह लघुकाय ग्रन्थ है—दो भागों में विभक्त। समानार्थक भाग के तीन अंश हैं। पहिले में पूरे श्लोक में समानार्थक शब्द हैं, दूसरे में अर्धश्लोक में तथा तीसरे में एक चरण में ही। नानार्थक खण्ड में भी यही पद्धति है।

(३) वर्णदेशना—वर्तनी (स्पेलिङ्ग, हिज्जे) की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। ग्रन्थकार का कथन है कि गौड़ लिपि (बँगला लिपि) में अनेक वर्णों की लिखावट में स्वल्प भेद रहता है। इसलिए शब्दों के रूपों में भ्रान्ति होने की सम्भावना होती है। इसी के निराकरण के लिए ग्रन्थ का उपयोग है। पूरा ग्रन्थ गद्य में है और अभी तक अप्रकाशित है। एकाक्षर कोश तथा द्विरूप कोश भी इनके नाम से प्रख्यात लघुकोश हैं।

(४) हलायुध—अभिधान-रत्नमाला[3]

हलायुध ने इस ग्रन्थ की रचना में अमर को ही अपना आदर्श माना है तथा

---

१ वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से १९१५ में टीका के साथ प्रकाशित।

२ अभिधान संग्रह (प्रथम खण्ड), बम्बई, १८८९ (प्रकाशित)।

३ डा० ऑफ्रेक्ट द्वारा सम्पादित, लन्दन, १८६१। 'हलायुधकोश' के नाम से लखनऊ से प्रकाशित १९५७।

अमरदत्त, वररुचि, भागुरि तथा वोपालित से नवीन सामग्री का संकलन किया। अभिधान रत्नमाला मे पाँच काण्ड हैं जिनमे प्रथम चार – स्वर, भूमि, पाताल तथा सामान्य— समानार्थ शब्दो का वर्णन करते हैं। अन्तिम काण्ड (अनेकार्थ काण्ड) मे नानार्थ तथा अव्ययों का वर्णन है। रूपभेद के द्वारा लिंग का निर्देश किया गया है। नाना वृत्तो के लगभग नव सौ पद्यो मे समाप्त यह कोश अमरकोश के आधे से कुछ अधिक है। हलायुध का समय दशम शती का उत्तरार्ध है। इन्होंने अपना काव्यग्रंथ कविरहस्य मान्यखेट के राजा कृष्णराज तृतीय (९५० ई०) के समय मे तथा पिंगल की मृतसजीवनी वृत्ति धारा के राजा मुंज (१० श० का उत्तरार्ध) के प्रतिष्ठार्थ बनाई थी। इन राजाओ के समकालीन होने से इनका समय दशमशती का उत्तरार्ध है।

(५ यादवप्रकाश वैजयन्ती[1]

वैजयन्ती कोश कोशो के इतिहास मे एक अपूर्व महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके दो खण्ड हैं। समानार्थ खण्ड के पाँच भाग हैं—स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूमि, पाताल तथा सामान्य। नानार्थखण्ड के तीन भाग हैं जिनमे ग्रंथकार ने शब्दों का चयन अक्षरक्रम से किया है। यह उतना व्यवस्थित नहीं है, परन्तु कोश के लिए वर्णक्रम से शब्द सग्रह एक नई वस्तु है। अमरकोश की अपेक्षा वैजयन्ती के ये दोनो खण्ड अधिक पुष्ट तथा पूर्ण हैं। इसमे वैदिक शब्दो का भी सकलन है जो इसे अत्यन्त मूल्यवान् कोश बना रहा है। यादवप्रकाश रामानुजाचार्य (१०५५ ई०–११३७ ई०) के विद्यागुरु थे तथा काञ्ची के आसपास इनका जन्मस्थान था। ये अद्वैत वेदान्ती थे और प्रसिद्धि है कि रामानुज को जब उपनिषदो की इनकी अद्वैत व्याख्या से सन्तोष न हुआ, तब इनसे अलग हो गये तथा विशिष्टाद्वैत की ओर वे झुक गये। फलत इस ग्रन्थ का रचनाकाल ११ शती का उत्तरार्ध मानना चाहिए।

(६) महेश्वर— विश्वप्रकाश[2]

विश्वप्रकाश नानार्थ कोश है जिसमे शब्दो का चयन अन्तिम वर्ण के आधार पर किया गया है जैसे 'कद्विक' मे अर्क, पिक, आदि शब्दो की गणना है जिनमे ककार अन्त मे दूसरा अक्षर पडता है। पूरे ग्रंथ की व्यवस्था इसी प्रकार की है। रूप-भेद से ही लिंग का निर्देश किया गया है। अन्त मे अव्ययो का भी संकलन है। ग्रन्थ के आरम्भ मे महेश्वर ने अपना पूरा परिचय दिया है जिससे प्रतीत होता है कि वे वैद्यकुल मे उत्पन्न हुए थे तथा इनके पूर्वज हरिश्चन्द्र ने चरकसहिता के ऊपर टीका

१ डा० ओपर्ट द्वारा सम्पादित, मद्रास, १८९३।,

२ चौखम्भा सीरीज, काशी से प्रकाशित।

लिखी थी। ग्रंथ की रचना ११११ ईस्वी में हुई थी[1] और अपने ही समय में इनकी पर्याप्त प्रसिद्धि हो चली थी : सर्वानन्द (११५९ ई०) ने बंगाल के तथा हेमचन्द्र (१०८८-११७० ई०) ने गुजरात में इनके मत का उल्लेख अपने ग्रंथों में किया है। मल्लिनाथ ने इसका विशेष उपयोग अपने व्याख्याओं में किया है। महेश्वर ने स्वयं अपने ग्रंथ का एक परिशिष्ट लिखा है जिसका नाम 'शब्द भेद प्रकाश' है जिसके चार निर्देशों (भागों) में शब्द के भेदों पर विचार किया गया है।

(७) अजय या अजयपाल

दोनों नाम एक ही कोषकार के हैं। अजय बौद्धमतावलम्बी थे। अपने कोष के आरम्भ में इन्होंने शास्ता बुद्ध की स्तुति की है (जयन्ति शास्तु पदपङ्कजाङ्कुरा)। 'अजयपाल' ही इनका पूरा नाम था (श्लोक २), परन्तु संसार में ये प्राय 'अजय' नाम से ही निर्दिष्ट हैं। इनके मत का उल्लेख तथा उद्धरण बहुश उपलब्ध होता है। सर्वानन्द ने अपनी अमरटीका 'टीका सर्वस्व' में (११५९ ई०) तथा वर्धमान ने अपने व्याकरण-ग्रन्थ 'गणरत्न महोदधि' (रचना का० ११४० ई०) में इनका बहुश उल्लेख किया है। फलत ये १२ शती से प्राचीन कोषकार हैं। इनके देश का परिचय शब्दों की वर्तनी से लगाया जा सकता है। इन्होंने ब तथा व में अन्तर नहीं माना है। वप्र, वराटक, वल्लभ, विटप निश्चयेन अन्तस्थ वकारादि शब्द हैं, परन्तु इन्होंने इन शब्दों को ओष्ठ्य बकारादि माना है तथा उसी स्वरूप में निर्दिष्ट किया है। इसके ठीक विपरीत बर्बर, बिम्ब, बुध तथा बाधा आदि ओष्ठ्य बकारादि शब्द यहाँ अन्तस्थ वकारादि स्वीकृत हैं। यह वैशिष्ट्य बंगीय लेखकों का ही प्रसिद्ध है। फलत ये बंगदेशीय सिद्ध होते हैं।

नानार्थसंग्रह—अजय का यह कोषग्रन्थ लघुकाय होने पर भी बड़े महत्त्व का है[2]। इसमें लगभग १८०० शब्द हैं (१५३० शब्द)। वर्णक्रमानुसार शब्दों का चयन इसकी महती विशिष्टता है। वर्णक्रमानुसारी कोषों में यही सर्वप्राचीन प्रतीत होता है। अमरकोश के टीकाकारों में सर्वानन्द, रायमुकुट आदि ने अजय का प्रमाण पूर्णतर माना है। केशवस्वामी ने अपने 'नानार्थार्णव संक्षेप' के लिए इस कोश को प्रधान-उपजीव्य बनाया है जिसका प्रामाण्य उन्हें अधिकतर मान्य है। इसके उल्लेख प्रचुर-मात्रा में है।

---

१ रामानल व्योमकर्ण मितशाकेऽभिलक्षिते।
कोषं विश्वप्रकाशाख्यं निरमात् श्रीमहेश्वर ॥ (अन्तिम श्लोक)।

२ डा० चिन्तामणि द्वारा मद्रास युनिवर्सिटी सं० सी० (सं० १०) में प्रकाशित, मद्रास, १९३७।

(८) मेदिनि कोश अथवा मेदिनी कोष

इस कोश के निर्माता का नाम 'मेदिनिकर' है। इसका उल्लेख ग्रंथ के आरम्भ (१३ श्लोक) में ही किया गया है। यह कोश 'विश्वप्रकाश' के आधार पर मुख्यतः बनाया गया है। दोनों ही नानार्थकोष है परन्तु दोनो के शब्द चयन में पार्थक्य है। विश्वप्रकाश अन्तिम वर्ण को ही लक्ष्य में रखकर शब्द चयन करता है, परन्तु मेदिनि-कोश में आदि वर्ण के ऊपर भी दृष्टि है। अर्थात् अकारादि वर्णक्रम का यथासम्भव ध्यान रखा गया है तथा साथ ही साथ अन्तिम वर्ण पर भी विश्वप्रकाश के समान ही लक्ष्य रखा गया है। मेदिनिकोश शब्दों की संख्या में तथा चयन की व्यवस्था में विश्वप्रकाश की अपेक्षा कहीं अधिक विशद तथा सुव्यवस्थित है।

मेदिनीकर के देश-काल का यथार्थ पता नहीं चलता। इनके पिता का नाम प्राणकर था, जिन्होंने पाँचसौ गाथाओं का एक संग्रह प्रस्तुत किया था। मेदनी 'विश्वप्रकाश' का 'बहुदोष' बतलाकर अपना महत्त्व प्रदर्शित करता है। फलतः इसकी रचना १११९ ई० के अनन्तर हुई जब विश्वप्रकाश का निर्माण हुआ था। यह है पूर्व अवधि। अपर अवधि के विषय में नाना मत हैं। मल्लिनाथ (१४३० ई० के आस पास) ने माघकाव्य की टीका में (२।६५) मेदिनि के वचन को उद्धृत किया है[1]। पदमनाभ भट्ट (जिन्होंने अपने ग्रंथ 'पृषादरादिवृत्ति' को १३७५ ई० में बनाया) मेदिनीकोष' का उल्लेख अपने 'भूरिप्रयोग' ग्रंथ में करते हैं[2]। फलतः इसका रचनाकाल चतुर्दश शती के अन्तिम चरण से पूर्व माना जाता था। परन्तु कितना पूर्व ? इस प्रश्न का उत्तर सामान्यतः दिया जा सकता है। डा० गाडे ने मैथिल कवि ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्य के 'वर्णरत्नाकर' में मेदिनी का एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख खोज निकाला है। ज्योतिरीश्वर ने संस्कृत तथा मैथिली दोनों भाषाओं में ग्रंथ लिखे हैं। संस्कृत में इनका धूर्तसमागम' प्रहसन तथा 'पञ्चसायक' नामक कामशास्त्रीय ग्रंथ प्रख्यात है। ये कर्नाटवंशीय मैथिल नरेश हरसिंहदेव (समय १३०० ई०—१३२५ ई०) के आश्रित विद्वान् थे। मैथिली में लिखित इनका 'वर्णरत्नाकर' उस भाषा का प्राचीनतम ग्रंथ स्वीकार किया जाता है। इस ग्रन्थ का निर्माण-काल चतुर्दश शती का प्रथम चरण है। इस ग्रन्थ के भाट के शिक्षण प्रसंग में १८ कोशों के नाम दिये गए हैं—धरणि, विश्व, व्याडि, अमरनाम, लिंग

---

१. बनारस संस्कृत सीरीज, काशी से प्रकाशित।

२ इन पत्यौ नृपार्कयोरिति मेदिनी।

३ विश्वप्रकाशामरकोषटीका त्रिकाण्डशेषोज्ज्वलदत्तवृत्ती।
हारावली मेदिनि कोषमन्यच्चालोक्य लक्ष्य लिखित मयैतत् ॥

अजय, पलुर, शाश्वत, रुद्रट, उत्पलिनी मेदिनीकर, आदि आदि। इन नामों में मेदिनीकर का नाम अन्यतम है। फलतः १४ शती के प्रथम चरण में मेदिनीकोश इतना लोकप्रिय तथा प्रख्यात था कि वह मिथिला के विद्वान् द्वारा उल्लिखित होने की योग्यता रखता था। इस प्रकार विश्वप्रकाश का उल्लेख करने से तथा 'वर्ण-रत्नाकर' में उल्लिखित होने से मेदिनीकोश का निर्माण काल १२०० ई०—१२७५ ई० के बीच में मानना उचित प्रतीत होता है[1]।

(९) मङ्ख—अनेकार्थ कोष[2]

विश्वप्रकाश के समान ही अन्तिम व्यंजनों के क्रम पर निबद्ध यह कोष १००७ पद्यों में बिना किसी परिच्छेद के समाप्त हुआ है। इसके ऊपर एक टीका भी है जो या तो मङ्ख की रचना है या उनके किसी शिष्य की। काश्मीर के राजा जयसिंह (११२८—११४९ ई०) के राज्यकाल में उत्पन्न तथा श्रीकण्ठचरित महाकाव्य के रचयिता मङ्ख या मङ्खक इस कोषकार से भिन्न नहीं हैं। यह कोष काश्मीर के कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों का चयन प्रस्तुत करता है और इस दृष्टि में महत्वपूर्ण है, परन्तु काश्मीर के बाहर इसका प्रचार नहीं हो सका।

(१०) हेमचन्द्र—अभिधान चिन्तामणि आदि

प्रसिद्ध जैन विद्वान हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) ने चार कोषों की रचना कर इस शास्त्र को आगे बढ़ाया जिनके नाम हैं—अभिधान चिन्तामणि—समानार्थ शब्दों का कोष, अनेकार्थ संग्रह—नानार्थ शब्दों का कोष, निघण्टु कोष—वैद्यक कोष तथा देशीनाममाला—प्राकृत शब्दों का कोष।

अभिधानचिन्तामणि[3] में ६ काण्ड हैं—देवाधिदेव, देव, मर्त्य, भूमि, नरक और सामान्य। इनमें प्रथम काण्ड जैन देवी देवताओं के नामों का संग्रह है। दूसरे में ब्राह्मण तथा बौद्ध देवता और तत्सम्बद्ध परिकरों का नाम है। अन्य काण्डों में तत्तत् विषय सम्बन्धी शब्दों का अर्थ-चिन्तन है। यह कोश नाना वृत्तों में निबद्ध १५४२ पद्यों में समाप्त हुआ है। इसके ऊपर हेमचन्द्र ने स्वयं एक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी

---

1. इस विषय में द्रष्टव्य डा० गोडे का लेख, स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री भाग १ पृष्ठ २८१-८९ बम्बई
2. जकरिया द्वारा सम्पादित।
3. ग्रन्थकार की टीका के साथ मु० यशोविजय जैनग्रन्थमाला में, भावनगर, वीर सवत् २४४१।

जिसमे प्राचीन कोशकारो के मत का उपन्यास है जैसे भागुरि, हलायुध, शाश्वत, यादव आदि। ग्रन्थकार का ही 'शेष सग्रह' नामक एक परिशिष्ट भी प्रकाशित है।

अनेकार्थ सग्रह[1] मे लगभग १८२९ श्लोक है जो छ काण्डो मे विभक्त हैं। शब्दों का सग्रह दो प्रकार से हैं अन्तिम अक्षरो के द्वारा तथा आदि अक्षरो के द्वारा। अत शब्दो की जानकारी बडी आसानी से हो सकती है। हेमचन्द्र ने लिगों के ज्ञान के लिए 'लिंगानुशासन' अलग लिखा है और इसलिए यहाँ उसका निर्देश नही है। इसकी एक टीका भी है अनेकार्थ कैरवाकर-कौमुदी जिसके वास्तव रचयिता ग्रन्थकार के शिष्य महेन्द्र सूरि हैं परन्तु जो हेमचन्द्र के नाम से प्रख्यात है।

कोषकारो के गुणदोष की विवेचना के अवसर पर हेमचद्र का काम नितान्त श्लाघनीय प्रतीत होता है। वे बडे जागरूक कोषकार हैं। व्यवहार मे आने वाले संस्कृत शब्दो का यथावत् सग्रहीत करने की उनकी निष्ठा श्लाघनीय है। इस विषय का द्योतक एक तथ्य यह है। जहाँ वे अश्वो का विभाजन वर्ण के अनुसार करते हैं वहाँ उस काल मे व्यवहृत होने वाले समस्त शब्दो का चयन अपने कोष 'अभिधान चिन्तामणि' मे प्रस्तुत करते हैं। इनमे से अनेक नाम विदेशी हैं—इसे हेमचद्र ने स्वीकारा है। खोङ्गाह सेराह खुगाह, सुरुहक, वोरखान— आदि शब्द इसी प्रकार देशी शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति हेमचद्र ने वर्णों की आनुपूर्वी के निश्चयार्थ दी है[2]। ऐतिहासिक तथ्य है कि फारस तथा अरब से घोडों का व्यवसाय जलमार्ग से होता था। मालाबार मे 'कायल' नामक बन्दरगाह घोडो के आयात करने के लिए १२९० ई० के आस पास विशेषरूपेण प्रख्यात था। महाराष्ट्र के राजा सोमदेव ने अपने ग्रन्थ मानसोल्लास (या अभिलषितार्थ चिन्तामणि) मे, जिसकी रचना ११३० ई० मे हुई, अश्वो के नाम तद्रूप ही दिये हैं। सोमदेव तथा हेमचद्र प्राय समकालीन ग्रन्थकार हैं। हेमचन्द्र का प्रभाव अवान्तरकालीन कोषकारो के ऊपर निश्चितरूपेण पड़ा है। केशव ने अपने कल्पद्रुकोष मे (रचना काल १६६० ई०) हेमचद्र के द्वारा प्रदत्त नामों को अक्षरश उल्लिखित किया है[3]—वे ही नाम और वही व्याख्या।

(११) केशवस्वामी—नानार्थार्णव-सक्षेप[4]

यह नानार्थ शब्दो का सबसे बडा कोश है जिसमे ५८०० के लगभग श्लोक हैं।

---

१ चौखम्बा सस्कृत सीरीज काशी से मूलमात्र प्रकाशित।

२ खोङ्गाहादय शब्दा देशीप्राया। व्युत्पत्तिस्त्वेष वर्णानुपूर्वी निश्चयार्थम्।

३ द्रष्टव्य—कल्पद्रु कोश श्लोक २०२–२०७, पृ० १११ (बडा सस्करण, १९२८)।

४ अनन्तशयन ग्रन्थमाला मे मुद्रित, १९१३।

यह अक्षरों की गणना के आधार पर छ काण्डों में विभक्त है तथा प्रत्येक काण्ड लिंग के अनुसार ५ भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग में शब्दों का संग्रह अक्षरक्रम से हुआ है। ये सब विशिष्टतायें वैजयन्ती कोश में भी पायी जाती हैं। वैदिक शब्दों का संकलन भी दोनों में समान रूप से किया गया है। इसकी एक बड़ी विशिष्टता यह है कि लगभग तीस आचार्यों कवियों तथा वैदिक ग्रन्थकारों के मत मूल ग्रंथ के भीतर ही श्लोकों में निबद्ध हैं। चोलवंशी नरेश कुलोत्तुंग के पुत्र राजराज चोल के आश्रय में रहकर इस ग्रंथ का प्रणयन किया गया और इसलिए यह राजराजीय के नाम से भी प्रख्यात है। चोल नरेशों के इतिहास में कुलोत्तुंग के पुत्र राजराज का उल्लेख दो बार मिलता है [प्रथम १२ शती में और द्वितीय १३ शती में] इन दोनों में कौन इनका आश्रयदाता था यथावत निर्णीत नहीं है। अरुणाचलनाथ ने जिनका निर्देश मल्लिनाथ ने मेघदूत की संजीवनी में नाथस्तु कहकर अनेकत्र उल्लिखित किया है) अपनी कुमारसम्भव टीका (१।१६) में तथा मल्लिनाथ ने रघुवंश टीका (१।४) में इनके मत का उल्लेख किया है। फलत केशवस्वामी का समय १२०० ई० के आस पास मानना उचित है। इस ग्रंथ में ६ काण्ड तथा प्रतिकाण्ड में ५ अध्याय हैं। काण्डों का विभाजन एकाक्षर से लेकर षडक्षर तक है। अध्यायों का विभाजन लिंगके अनुसार है—स्त्रीलिंग, पुल्लिंग नपुंसक, वाच्यलिंग तथा संकीर्णलिंग। प्रति अध्याय में शब्दों का चयन अक्षर क्रम से किया गया है जो आजकल के कोशों के अनुसार। अक्षर क्रम से चयन का यह वैशिष्ट्य इस कोश को अन्य कोशों से पृथक करता है[1]।

(१२) केशव—कल्पद्रु कोश[2]

कल्पद्रु कोश आज तक के ज्ञात सनानार्थ कोशों में सबसे बड़ा तथा विशिष्ट है। इसमें लगभग चार हजार श्लोक हैं। इसके तीन स्कन्ध है—भूमि, भुव तथा स्वर्ग और प्रत्येक स्कन्ध में अनेक प्रकाण्ड (या खण्ड) है। इसमें समानार्थ शब्दों का सबसे अधिक संख्या में संकलन है जैसे पृथ्वी के लिए ६४ शब्द तथा अग्नि के लिए ११८ शब्द आदि। शब्दों के संग्रह में अनेक नवीनतायें हैं। ग्रंथकार ने स्वयं इस ग्रंथ का रचना का काल दिया ४७६१ कलि संवत जो १६६० ई० में पड़ता है। अत इनका समय १७ शती का उत्तरार्ध है।

कल्पद्रु कोश के शब्दचयन का वैशिष्ट्य तथा विस्तार है। अनेक शास्त्रीय शब्दों का संग्रह इसे विश्वकोश का रूप दे रहा है। हस्ति प्रकरण (श्लोक १४२ १८८ श्लो०)

---

१ सं० अनन्तशयन ग्रंथमाला, सं० २३, तीन भागों में प्रकाशित, १९१३।

२ म० म० रामावतार शर्मा की प्रामाणिक तथा महत्वपूर्ण प्रस्तावना के साथ बड़ोदा से दो भागों में प्रकाशित १९२८, १९३२।

में हाथियों के नामों का ही संग्रह नहीं है, प्रत्युत उनके उत्पत्तिस्थान का भी विशिष्ट निर्देश है। भिन्न-भिन्न अवस्थावाले हाथियों के भिन्न-भिन्न अभिधान हैं (१४९–१५० श्लोक)। हाथी के जातियों की पहिचान बड़ी विशदता से यहाँ दी गई है। अमर के अनुसार दिग्गजों के नाम इस प्रकार हैं—ऐरावत, पुण्डरीक, वामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त, सार्वभौम तथा सुप्रतीक (अमर १।३।५)। कल्पद्रु कोश में इन दिग्गजों के वंशज हाथियों का वर्णन स्पष्टरूपेण किया गया है जिससे उनकी पहिचान भलीभाँति हो सकती है (कल्पद्रु कोष श्लो० १८२-१८८)। फलतः कल्पद्रु कोष केवल शब्दार्थ देनेवाला कोश नहीं है, प्रत्युत उन विषयों का विस्तृत विवरण देनेवाला विश्वकोश की समता रखता है।

(१३) शाहजी महाराज—'शब्दरत्न समन्वय कोश'

इस उपयोगी कोश के रचयिता तंजोर के महाराष्ट्र नरेश शाहजी हैं। ये छत्रपति महाराज शिवाजी के अनुज वेंकाजी (एकोजी) के ज्येष्ठ पुत्र थे। तंजोर के इतिहास में शाहजी महाराज (१६८४ ई०—१७१२ ई०) का समय विद्याविलास, सुखसमृद्धि, तथा सुव्यवस्थित शासन के लिए विख्यात है। ये स्वयं सरस्वती के सेवक थे तथा पंडितों के आश्रयदाता थे। इनकी सभा में [illegible] पंडित रहते थे और ये उन्हें संस्कृत के नाना विषयों में ग्रन्थ लिखने के लिए सदा प्रेरित करते थे। इनके पिता एकोजी ने तो केवल तंजोर राज्य की स्थापना की थी। [illegible] इन्होंने [illegible] सुव्यवस्था से तंजोर में मराठा शासन की प्रतिष्ठा की। इनके बनाए हुए चार ग्रन्थ मिलते हैं जिनके नाम हैं—[illegible], चन्द्रशेखर विलास (नाटक), [illegible] (संगीत ग्रन्थ, जो श्रीनिवास के द्वारा शाहजी के [illegible] में लिखित 'शाहराजाष्टपदी' से भिन्न नहीं है) तथा शब्द रत्न समन्वय (कोश)[1]।

यह कोश नानार्थ कोश है जिसमें शब्दचयन की एक नवीन [illegible] दृष्टिगोचर होती है। सामान्य दृष्टि से अन्तिम वर्णों के अनुसार शब्दों का संग्रह है परन्तु [illegible] वर्ण के भीतर अक्षरक्रम से शब्दों का विन्यास किया गया है। उदाहरणार्थ 'क' [illegible] वर्ग में उन शब्दों का संग्रह है जिनमें 'क' अंतिम वर्ण है जैसे कनक, [illegible], [illegible] कुहक, कुलिक, [illegible] आदि। इस वर्ग के भीतर भी अकारादि क्रम से [illegible] रखे गये हैं। यह विलक्षणता संस्कृत के बहुत कम कोशों में [illegible]। [illegible] प्रकार की [illegible], इससे [illegible] होता [illegible] है। इसमें लगभग ढाई तीन हजार श्लोक हैं। [illegible] विस्तृत तथा प्रामाणिक हैं। [illegible]

1 [illegible] ओरियन्टल सीरीज, संख्या [illegible]।

-गया है। इस कोश की रचना स्वय शाहजी ने की। इसका एक प्रमाण यह भी है कि इसका दूसरा नाम राजकोश भी है। ऐसे सुन्दर कोश की रचना करने के लिए महाराष्ट्र नरेश सदा से प्रसिद्ध रहे हैं। शाहजी के पूज्य पितृव्य शिवाजी महाराज ने भी व्यवहार मे आने वाले फारसी शब्दो का संस्कृत अनुवाद अपने एक बड़े विद्वान् सभा पण्डित के द्वारा कराया था जिसका नाम 'राजव्यवहार' कोश है। शाहजी ने भी इसी परम्परा का अनुसरण कर इस विशद कोश की रचना की।

(१४) शब्द रत्नाकर

इस नाम से प्रख्यात अनेक कोषो की सत्ता संस्कृत मे उपलब्ध है—(क) महीप कृत महीप कोष नामक शब्द रत्नाकर पूर्णत उपलब्ध नही होता। उपलब्ध होता है केवल उसका नानार्थ तिलक या अनेकार्थ तिलक नामक अंश, जिसमे नानार्थक शब्दो का ही समुच्चय है। अनेकार्थ तिलक चार काडो मे विभक्त है जिनमें क्रमश एकाक्षर, द्व्यक्षर, त्र्यक्षर तथा चतुरक्षर (पञ्चाक्षर भी) शब्दो का चयन वर्णक्रम से किया गया है। यह वर्णक्रमानुसारी चयन, जैसा प्राचीन कोषो मे देखा जाता है, आधुनिक शैली से सर्वत पूर्ण वर्णक्रमानुसारी नही है, परन्तु अक्षरक्रम का अनुगमन अवश्य करता है। श्लोको की संख्या क्रमश ४५, ३८२, २९० तथा २१३ है (=पूरी संख्या ९१० श्लोक)। फलत छोटा होने पर भी उपयोगी है। ग्रंथ के अन्त मे लेखक ने अपने पिता का नाम सोम तथा माता का सौभाग्यदेवी बतलाया है। हेमचन्द्र के अनेकार्थ संग्रह से इस कोष के श्लोक बहुधा मिलते हैं। फलत यह १२वी शती से पश्चाद्वर्ती है। डा० स्टाइन ने 'कश्मीर जम्मू की पुस्तक सूची' मे इसके एक हस्तलेख का समय १४३० वि० स० (=१३७४ ई०) बतलाया है। यदि यह ठीक हो, तो इस कोश का समय १४ शती का उत्तरार्ध मानना उचित प्रतीत होता है।

(ख) वाचनाचार्य श्री साधु सुन्दरगणि रचित कोश भी 'शब्द रत्नाकर' नाम से प्रख्यात है[२]। इसमे ६ काण्ड हैं—(१) अर्हत काण्ड (१७ श्लोक), (२) देवकाण्ड (१३४ श्लोक), (३) मानवकाण्ड (३५५ श्लोक), (४) तिर्यक् काण्ड (३७२ श्लोक), (५) नारक काण्ड (४७ श्लोक), (६) सामान्य काण्ड (१२९ श्लोक)। अमरकोश की भाँति यह समानार्थक शब्दो का ही कोष है। इस ग्रन्थ की पुष्पिका मे तथा अपने इतर ग्रन्थ धातु-रत्नाकर के आरम्भ तथा अन्त मे अपने विषय मे ग्रन्थकार ने जो

१ श्री मधुकर पाटकर द्वारा सम्पादित, डेक्कन कालेज पूना से प्रकाशित, १९४७ ई०।

२ यशोविजय जैन ग्रन्थमाला (सं० ३६) मे प्रकाशित, काशी, वीर संवत् २४३९; हरगोविन्ददास तथा बेचर दास द्वारा संशोधित।

सूचना दी है उसके अनुसार वे साधुकीर्ति नामक पाटक के अन्तेवासी थे तथा विमलतिलक के ये लघु गुरुभाई थे। इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) उक्ति रत्नाकर, (२) धातु-रत्नाकर (व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ, जिसके ऊपर इन्होने स्वोपज्ञवृत्ति का निर्माण किया था), (३) शब्द रत्नाकर—इसका महनीय वैशिष्ट्य शब्दो के विभिन्न रूपो का निरूपण है। जैसे संग्राम के अर्थ मे युत्, सयत्, सयत, राटी तथा राटि, समिति तथा समित तथा समित् शब्दो के रूपो पर ध्यान देने से इस वैशिष्ट्य का परिचय मिल जाता है। यह वैशिष्ट्य इतना जागरूक है कि शब्दो के रूप-परिवर्तन पर आश्चर्य हुए बिना नही रहता।

(ग) वामनभट्ट बाण द्वारा निर्मित एक तीसरा ही शब्द-रत्नाकर है—त्रिकाण्डात्मक, अमर की शैली मे विरचित।

(१५) नानार्थरत्नमाला

यह बडा कोश था जिसका केवल प्रथम परिच्छेद ही एकाक्षरकाण्ड के नाम से प्रकाशित हुआ है[१]। दो, तीन, चार अक्षर वाले शब्दो का भी कोश इन्होने तैयार किया, सकीर्ण शब्दो का तथा अव्ययो का भी[२]। मेरे विचार से नानार्थरत्नमाला के ही ६ काण्ड थे जिनमे अन्तिम पाँच काण्ड अभी अप्रकाशित ही हैं[३]। इस कोश के रचयिता का नाम है—इरग दण्डाधिनाथ (दण्डिनाथ, दण्डेश) भास्कर। ये विजयनगर के महाराज हरिहर द्वितीय के सेनानायक थे। इसलिए ये दण्डाधिनाथ आदि नामो से प्रख्यात थे। भास्कर इनका व्यक्तिगत नाम प्रतीत होता है। समय १४ शती का उत्तरार्ध। इसमे ८१ श्लोक है। एकाक्षर शब्दो का चयन तथा अर्थ दोनो ही बडी प्रामाणिकता से उपन्यस्त है।

(१६) हर्षकीर्ति—शारदीयाख्य नाममाला[४]

शारदीयाख्य नाममाला अथवा शारदीयाभिधानमाला समानार्थक शब्दो का कोश है तथा तीन काण्डो मे विभक्त है जिनमे से प्रत्येक काण्ड कई वर्गों मे विभक्त किया

---

१ कुल्कर्णि द्वारा सम्पादित शाश्वत कोश के परिशिष्ट रूप में, ओरियण्टल बुक एजन्सी, पूना, १९३० ।

२ काण्डैश्चतुर्भिरेक द्वि त्रि-चतुर्वर्णवर्णितैं ।
सकीर्णाऽव्ययकाण्डाभ्यामिह षड्भिरनुक्रमात् ॥ श्लोक ४

३ ग्रथ के अन्तिम श्लोक से भी यही तथ्य द्योतित होता है।
इति जगदुपकारिण्याम् इरुगदण्डाधिनाथ-रचितायाम् ।
एकाक्षरपदकाण्ड सम्पूर्णो नानार्थरत्नमालायाम् ॥

४ प्रकाशक—डेक्कन कालेज पूना, १९५१, सम्पादक मधुकर मगेश पाटकर।

गया है। प्रथम काण्ड के तीन वर्गों के नाम हैं—(१) देववर्ग, (२) व्योमवर्ग तथा (३) धरा-वर्ग। द्वितीय काण्ड चार वर्गों में विभक्त हैं—(१) अङ्ग वर्ग, (२) संयोगादि वर्ग, (३) संगीत वर्ग तथा (४) पण्डित वर्ग। तृतीय काण्ड के पाँच वर्ग है—(१) ब्रह्म, (२) राज, (३) वैश्य, (४) शूद्र तथा (५) संकीर्ण वर्ग। पूरा ग्रन्थ ४६५ अनुष्टुप् श्लोकों में निर्मित है। इस कोश के प्रणेता हर्षकीर्ति प्रौढ विद्वान् थे तथा कोश के अतिरिक्त व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष आदि विषयों में भी ग्रन्थ का निर्माण किया था। अधिक ग्रन्थ टीका रूप में निर्मित हैं। ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) बृहच्छान्ति स्तोत्र (रचना काल १६५५ वि०=१५ ८ ई०) (२) कल्याणमन्दिर स्तोत्र टीका (हस्तलेख का समय १६३५ वि०=१५७८ ई०), (३) सिन्दूरप्रकरण टीका, (४) सारस्वत दीपिका, (५) सेटनिट् कारिका विवरण (रचना काल १६६९ वि० = १६१२ ई०) (६) धातुपाठतरङ्गिणी, (७) धातुपाठविवरण, (८) योगचिन्तामणि, (९) वैद्यक सारोद्धार, (१०) ज्योतिसार, (११) ज्योतिसारोद्धार, (१२) श्रुतबोध टीका, (१३) शारदीयाख्यनाममाला।

हर्षकीर्ति का विशेष परिचय नहीं मिलता। हम इतना ही जानते हैं कि वे जैन थे और नागपुरीय तपागच्छ शाखा के अध्यक्ष भट्टारक थे। उनके गुरु का नाम चन्द्रकीर्ति था जिन्हें दिल्ली के मुगल बादशाह जहाँगीर (१७ शती) से विशेष प्रतिष्ठा तथा सम्मान प्राप्त था। धातुपाठतरंगिणी की प्रशस्ति से पता चलता है कि इनकी शाखा के अनेक आचार्यों को मुसलिम बादशाह से विशेष सम्मान प्राप्त था। इस ग्रन्थकार के नाम से एक अन्य कोश की रचना उपलब्ध होती है। कोश का नाम है—शब्दानेकार्थ। इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में इस पुस्तक के रचनाकाल का उल्लेख इस श्लोक में किया गया है—

बाण तर्क-रस ग्लौ तु (१६६५) वर्षे तपसि मासि च।
राकायां हर्षकीर्त्याह्वसूरिश्चक्रे सतां मते॥

फलत इसका रचनाकाल १६६५ वि० = १६०९ ई० है। अत इनका समय १७ शती का आरम्भिक चरण मानना उपयुक्त होगा (१५७८ ई०–१६२५ ई०)।

अन्य कोशों का प्रकाशन हुआ है जिनमें कतिपय मुख्य कोशों का निर्देश यहाँ किया जा रहा है। राघवकृत नानार्थमञ्जरी के समय का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, परन्तु इसके सम्पादक[1] की सम्मति में यह १४ शती का ग्रन्थ है। विश्वनाथ

१ कृष्णमूर्ति शर्मा द्वारा सम्पादित और डेक्कन कालेज पूना द्वारा प्रकाशित, १९५४।

का कल्पतरु[1] एक विशालकाय कोश है लगभग पांच सहस्र श्लोकों मे निबद्ध । इसमें समानार्थक तथा नानार्थक दोनो प्रकार के शब्दो का चयन है। अमरकोश की शैली मे निबद्ध इस कोश के प्रणेता विश्वनाथ मेवाड़ के राजा जगतसिंह के आश्रित लेखक थे जिन्होने १६२८ ई० तथा १६४४ ई०के बीच में 'जगत् प्रकाश' काव्य की रचना की । नाममालिका[2] नामक लघु कोश ६२६ श्लोको मे निबद्ध है तथा धारा के अधीश्वर भोजराज की रचना बतलाया जाता है जिससे इसका समय ११वी शती है। एकाक्षर-नाममाला-द्व्यक्षर नाममाला[3] कोश सौभरि नामक लेखक की रचना माना जाता है। ग्रन्थकार १६ शती के उत्तरार्ध (१५८२ ई०) मे अर्वाक्कालीन सम्भवत नहीं है। नाम के अनुसार प्रथम भाग में एकाक्षर वाले शब्दो तथा दूसरे भाग में दो अक्षर वाले शब्दों का संग्रह किया गया है। इस श्रेणी के अन्य कोशो से इसका वैलक्षण्य यह है कि इसमें 'क' का ही नही, प्रत्युत का, की, कु, कू आदि एकाक्षर शब्दो का भी अर्थ दिया गया है।

विशिष्ट विषयो को लेकर भी कोशो का निर्माण सस्कृत मे हुआ है। महाराणा कुम्भकर्ण ने सगीतराज[4] नामक विशालकाय सगीत ग्रन्थ की रचना की । उसी का एक भाग नृत्यरत्नकोश[5] है जिसमें नृत्यविषयक प्रमेयो का निर्देश किया गया है। किसी अज्ञात लेखक द्वारा प्रणीत वस्तुरत्नकोष[6] एक विलक्षण कोश है उन सामान्य विषयो का, जिनकी जानकारी प्रत्येक सुशिक्षित भारतीय व्यक्ति को प्राचीन काल में रखनी आवश्यक थी। यह ग्रन्थ दो भागो में विभक्त है। प्रथम भाग सूत्रों मे निबद्ध है और दूसरा भाग सूत्रों तथा तत्सम्बन्धी विवरणो से युक्त है। इसके समय का यथार्थत परिचय नहीं है, परन्तु यह ग्रन्थ सम्भवत १००० ई० तथा १४०० ई० के बीच में ही लिखा गया था।

मधुकर मंगेश पाटकर तथा कृष्णमूर्ति शर्मा द्वारा स०, प्रकाशक वही १९५७ ।
एकनाथ दत्तात्रेय कुलकर्णी तथा वासुदेव दामोदर गोखले द्वारा स०, प्रकाशक पूर्ववत्, १९५५ ।

३ ए० द० कुलकर्णी द्वारा स०, तथा पूर्ववत् प्रकाशित, पूना, १९५५ ।

४ इस ग्रन्थ का एक विशिष्ट भाग हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के द्वारा प्रकाशित किया गया है।

५ स० रसिकलाल पारीख तथा प्रियबाला शाह, राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला मे प्रकाशित, ग्रन्थसख्या २५, जोधपुर १९५७ ।

६ स० प्रियबाला शाह, प्रकाशक पूर्ववत्, १९५९ ई० ।

यह मुख्य कोशकारों का सामान्य परिचय है। इनके अतिरिक्त अनेक कोश अभी तक हस्तलिखित रूप में हैं तथा अनेक कोशों का परिचय केवल उद्धरणों में ही मिलता है। सर्वानन्द तथा उनसे प्राचीन कोश में उद्धृत ये कोशकार १२वीं शती से प्राचीन हैं—अजयपाल ('नानार्थ संग्रह' के कर्ता), तारपाल, दुर्ग, धनंजय ('नाममाला' के कर्ता), धरणीदास ('अनेकार्थसार' के कर्ता, धरणी कोश या केवल 'धरणी' नाम से भी ख्यात, रन्तिदेव, रभस, (रभसपाल), विश्वरूप, वोपालित, शुभाग (या शुभाङ्क)। अवान्तर कोशकारों की भी सूची थोड़ी नहीं है। पिछले युग में विशिष्ट विषयों को लेकर कोशों की रचना हुई जैसे अक्षरकोश, अव्यय कोश, वर्णभेद सूचक कोश (जैसे महेश्वर का 'शब्दभेद प्रकाश' तथा हलायुध की 'वर्णदेशना' आदि), उणादि कोश आदि।

वैद्यक निघण्टु-विषय की महत्ता की दृष्टि से वैद्यक तथा ओषधि विषयक कोशों का अपना एक स्वतन्त्र स्थान है। ऐसे कोशों को 'निघण्टु' कहते हैं जिनमें मुख्य ये हैं—(क) धन्वन्तरि निघण्टु—जो नौ खण्डों में विभक्त है तथा क्षीरस्वामी के सम्मति में अमरकोश से भी प्राचीनतर है। अवान्तर निघण्टुओं की रचना इसी के आधार पर हुई है। (ख) माधवकर का 'पर्यायरत्नमाला' या केवल 'रत्नमाला' (समय नवम शती), (ग) पर्याय मुक्तावली (अथवा केवल मुक्तावली[1]) वैद्यक निघण्टु ग्रन्थोंमे पर्याप्त प्रधान है। माधवकर की पर्यायरत्नमाला (अथवा रत्नमाला के ऊपर यह आधारित है। ये दोनों ग्रन्थ बंगाल में, विशेषत वीरभूम, मानभूम, बाँकुड़ा तथा बर्द्धमान के वैद्यों में विशेष करके प्रचलित हैं। मुक्तावली के रचयिता का नाम हरिचरण सेन था। इस ग्रन्थ के हस्तलेखों की बँगला लिपि में उपलब्धि तथा ग्रन्थकार को सेन उपाधि से भूषित होने के कारण तथा ग्रंथ के बंगीय प्रान्त में प्रचलित होने के हेतु ग्रन्थकार का बँगाली मानना उचित प्रतीत होता है। माधवकर भी बंगाली ही थे। उनकी रचना पर्यायावलि क्रमविहीन थी[2]। फलत उसे क्रमबद्ध करने के लिए ग्रन्थकार का सफल प्रयास है। पर्यायमुक्तावली २३ वर्गों में विभक्त है। साथ ही साथ हस्तलेखों में उन ओषधियों के नाम बँगला में दिये गये हैं जिससे उनके पहिचानने में सुविधा होता है। (घ) हेमचन्द्र का 'निघण्टु शेष' (जो ६ काण्डों में

---

१ डा० ताराद चौधरी द्वारा सम्पादित स०।

२. निगूढार्थां बह्वीममररचिता माधवकर-
प्रणीता पर्यायावलिमपि विहीन-क्रमवतीम्।

पर खिन्न दृष्ट्वा श्रुमननधिया मूढभिषजा
निबध्नाति स्मेमा हरिचरणसेनो विमलधी ॥
—अन्तिम पद्य।

विभक्त ३९६ श्लोकों का एक परिशिष्ट ग्रंथ है और जिसमे वृक्ष, गुल्म, लता, शाक, तृण तथा धान्य नामक काण्डो मे शब्दो का विभाजन किया गया है), (च) मदनपाल विरचित मदनपाल निघण्टु—इस लोकप्रिय निघण्टु के रचयिता दिल्ली के उत्तर मे काष्ठा नामक नगरी मे राज्य करते थे। ये पडितो के आश्रयदाता होने के अतिरिक्त स्वय भी वैद्यक शास्त्र के विद्वान् थे और इसीलिए ये अभिनव भोज और पडित-पारिजात की उपाधि से विभूषित थे। 'मदन विनोद' इस निघण्टु का दूसरा नाम है जिसकी रचना १३७४ ई० मे की गयी थी। इसमे दो हजार दो सौ श्लोक हैं जो चौदह वर्गों मे विभक्त हैं। विषय की व्यापकता के कारण यह कोश वैद्यक मे नितान्त प्रसिद्ध है। औषधियो के नाम तथा गुणो क वर्णन मे मराठी भाषा मे भी अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं जिससे अनुमान किया जाता है कि इसका रचयिता कोई महाराष्ट्री वैद्य था। (छ) वैद्यवर केशव का बनाया हुआ सिद्धमन्त्र नामक एक छोटा ग्रथ है जिसके ऊपर ग्रथकर्ता के पुत्र प्रख्यात गोपदेव (१२७०-१३०९ ई०) ने टीका लिखी है। (ज) कैयदेव निघण्टु[1]—इसका असली नाम पथ्यापथ्य विबोधक है। कैयदेव ने इसमे अपना परिचय भी दिया है। ग्रथ तो बहुत प्राचीन नहीं है। यहाँ वस्तुओ के गुणदोष का वर्णन बडे विस्तार के साथ किया गया है। मधु के भेद के साथ-साथ उन मक्खियो का भी परिचय दिया गया है जिनके कारण मधु क रूप रग तथा स्वाद मे भिन्नता आती है। (ज) परन्तु निघण्टुओ मे सबसे बडा निघण्टु है—राजनिघण्टु[2] जिसके रचयिता काश्मीर-निवासी नरहरि नामक वैद्य हैं। ग्रन्थ के आरम्भ मे उपजीव्य ग्रन्थो के नामो मे मदन-पारिजात का भी उल्लेख है जिससे नरहरि का काल १३७४ ई० के पीछे सिद्ध होता है। इस निघण्टु का दूसरा नाम अभिधान-चूडामणि भी है। विषय की दृष्टि से यह कोश भी बहुत ही पूर्ण तथा प्रामाणिक माना जाता है।

(ज) शिवकोश—नानार्थ औषध कोशो मे यह सर्वश्रेष्ठ निश्चितरूपेण है। इसके रचयिता शिवदत्त मिश्र हैं जो कर्पूर वश के होने के कारण 'कर्पूरीय' विशेषण से मण्डित हैं। यह वश ही आयुर्वेद के मर्मज्ञ विद्वानो को उत्पन्न करने के कारण नितान्त प्रख्याति-सम्पन्न है। इनके पिता चतुर्भुज या चतुर्भुज मिश्र रसकल्पद्रुम नामक वैद्यक ग्रंथ के निर्माता तथा गोविन्द के रसहृदय के टीकाकर्ता हैं। शिवदत्त के पुत्र कृष्णदत्त ने निमन्त्र के 'द्रव्यगुण शतश्लोकी' की टीका लिखी। शिवदत्त मिश्र ने 'शिवकोश' की रचना कर

---

१ लाहौर से प्रकाशित।

२ धन्वन्तरि निघण्टु के साथ प्रकाशित, आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज, १९१६ ई०।

उसकी विस्तृत टीका का निर्माण किया[1]। इन्होंने इस टीका में 'इति रामाश्रमा' कह कर भट्टोजि दीक्षित के पुत्र भानुजि दीक्षित (उपनाम रामाश्रम) की अमरकोश व्याख्या की ओर संकेत किया है। रामाश्रम का कार्यकाल १६०० ई०—१६५० ई० है। शिवकोश की रचना १५९९ शक स० (= १६७७ ई०) मे हुई जिसका निर्देश ग्रंथकार ने स्वयं किया है[2]। फलत इनका आविर्भावकाल १६५० ई०—१७०० ई० तक मानना उचित होगा। डा० गोडे के कथनानुसार शिवदत्त की यह प्रशस्ति 'कवीन्द्र चन्द्रोदय' मे सम्मिलित है जिसे इन्होंने कवीन्द्राचार्य सरस्वती की प्रशसा मे निबद्ध किया था। फलत ये काशी के ही निवासी थे अथवा उस समय काशी मे निवास कर रहे थे। वैद्यक निघण्टुओ के तथा इतर कोशो के ये एक विशेषज्ञ प्रतीत होते हैं। इनका ज्ञान व्यापक था। तभी तो कोशो के अतिरिक्त ये कालिदास, भवभूति, भारवि तथा व णभट्ट के ग्रंथो का सकेत करने तथा उद्धरण देने मे सिद्धहस्त हैं।

यह नानार्थक औषधिकोश है अर्थात् ऐसे औषधिवाचक शब्दो का सकलन है जिसके अनेक अर्थ उपलब्ध होते है। शब्दो का चयन अन्तिम वर्ण को लक्ष्य मे रखकर किया गया है जैसा विश्व तथा मेदिनी कोशो मे किया गया है। यह निघण्टु अत्यन्त विस्तृत विशद तथा प्रामाणिक है। व्याख्या के कारण शब्दो का अर्थ अन्य कोशो के उद्धरणों से परिपुष्ट किया गया है। लगभग एक सौ सत्तर ग्रन्थो का निर्देश तथा उद्धरण इसे बहुमूल्य तथा महत्त्वशाली बना रहा है। व्याख्या का अनुशीलन स्वयं महत्त्वपूर्ण विषय है। प्रपौण्डरीक शब्द का अर्थ 'स्थल कमल होता है। इसे टीकाकार 'गुलाब' बतलाते हैं—यह एक नयी खोज है। इसके पर्यायवाची शब्दो को वे रभस तथा केयदेव से उद्धृत करते हैं (३८२ श्लोक की व्याख्या पृ० १३८) तथा उदाहरण के लिए कालिदास का यह पद्य उद्धृत किया गया है—

आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्या ।
स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥
(कुमारसम्भव)

जो लोग गुलाब को मुसलमानो की देन मानते हैं, उन्हे इस व्याख्या तथा उदाहरण की दृष्टि से अपना मत बदलना पड़ेगा। व्याख्या मे देशी भाषा के शब्दो की

---

१ डा० हर्डे ने इस सटीक कोश का बडा ही वैज्ञानिक संस्करण प्रस्तुत किया है। इसकी भूमिका उपादेय तथ्यों की विवेचना से मण्डित होने से विशद तथा प्रामाणिक है। प्र० डेक्कन कालेज, पूना १९५२।

२ नवग्रहतिथिप्राप्ते हायने हव्यभुग्भुज ।
चक्रे चातुर्भुजि कोश शिवदत्त शिवाभिधम्। (पृ० ४२)

भरमार है जो लेखक के काशीगामी होने मे अधिकतर हिन्दी के ही हैं। ओषधियों की पहचान के लिए इन देशी शब्दों का प्रयोग एक बडे अभाव की पूर्ति करता है। ओषधियों के विशिष्ट नाम के परीक्षण से उनके उत्पत्तिस्थल का पता भली-भाँति लग सकता है[1]। वैद्यक निघण्टुओ में प्रसाद नाम्नी व्याख्या से सवलित इस 'शिवकोश' को हम सर्वश्रेष्ठ मान सकते हैं।

क्रियाकोष

कोशो मे सज्ञा शब्दो को ही प्रचुरता है, परन्तु कतिपय कोश क्रिया के अर्थ का निरूपण करते हैं। ऐसे क्रियाकोशो मे से दो प्रख्यात हैं—(१) भट्टमल्ल का आख्यात-चन्द्रिका[2] तथा (२) हलायुध का कविरहस्य। ये दोनो ग्रंथ प्रकाशित भी हैं। पहिला चौखम्भा प्रकाशन काशी से तथा दूसरा बम्बई से। भट्टमल्ल के देश काल का यथार्थ परिचय नही मिलता। 'आख्यात चन्द्रिका' को प्रमाण रूप म मल्लिनाथ ने अपने व्याख्याग्रंथो मे अनेकत्र उद्धृत किया है। इनसे भी प्राचीनतर उल्लेख है अमर के टीकाकार सर्वानन्द का। सर्वानन्द ने अपनी अमरटीका ११५९ ई० मे लिखी थी जिससे स्पष्ट है कि भट्टमल्ल १२वीं शती से कथमपि अर्वाचीन नही हो सकते। आख्यात-चन्द्रिका मे तीन काण्ड हैं और प्रति काड अनेक वर्ग है। कविरहस्य की शैली इससे भिन्न है इसमे भिन्न-भिन्न गणो मे पठित समानाकार धातुओं का एकत्र सग्रह श्लोकरूप मे किया गया है। जैसे विभिन्न अर्थों मे विद् धातु विभिन्न गणो मे पठित है। वर्तमान कालिक रूप मे उनका एकत्र श्लोकात्मक सग्रह इन अर्थों को तथा रूपो मे याद करने के लिए बडा ही उपयोगी सिद्ध होता है। 'धूनोति चम्पकवनानि धुनोत्यशोकम्' वाला श्लोक इसी ग्रंथ का है। हलायुध का काल प्राय निश्चित है।

इस विषय के इतर ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं जिनका उल्लेख 'आख्यातचन्द्रिका' की भूमिका मे किया गया है—

(१) विद्यानन्द	—क्रियाकल्प
(२) वीर पाण्ड्य	— क्रियापर्यायदीपिका
(३) रामचन्द्र	—क्रियाकोश
(४) कविसारङ्ग	—प्रयुक्ताख्यानमञ्जरी
(५) गुणरत्नसूरि	—क्रियारत्नसमुच्चय
(६) दशबल अथवा वरदराज	—धातुरूपभेद

१. द्रष्टव्य—इस ग्रंथ की डा० हर्ष रचित भूमिका पृ० १७-२२।

२. चौखम्भा, काशी से प्रकाशित, द्वितीय स० स० १९९२ विक्रमी।

महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा—वाङ्मयार्णव

संस्कृत के विशाल अभिनवकोश का नाम है—वाङ्मयार्णव तथा इसके रचयिता हैं स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर पाण्डेय रामावतार शर्मा। शर्मा जी (१८७७ ई०-१९२९ ई०) ने इस कोश का प्रारम्भ १९११ ई० में किया और जीवनपर्यन्त इसका विरचन, विश्लेषण तथा परिष्करण करते रहे। कोशविद्या के वे पारगामी पण्डित थे। निःसन्देह यह वाङ्मयार्णव संस्कृत के प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध, अज्ञात तथा अल्प ज्ञात, प्रयुक्त तथा अप्रयुक्त शब्दरत्नों का रत्नाकर है जिसके भीतर धीरतापूर्वक गोता लगानेवाले व्यक्ति को निःसन्देह अनमोल शब्द-रत्न हाथ लग सकते हैं जिनका दर्शन भी अन्यत्र दुर्लभ है। कोश का प्रकाशन वाराणसी के प्रख्यात प्रकाशन-संस्थान ज्ञानमण्डल के द्वारा हुआ है (संवत २०२३ विक्रमी)।

ग्रन्थकार की जीवन लीला समाप्ति के ३८ वर्षों के सुदीर्घ व्यवधान के अनन्तर अभी १९६७ ई० में अप्रकाशित यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य के इतिहास में उन्हें अमरत्व प्रदान करेगा—यह कोई भी विज्ञ आलोचक बिना किसी संकोच के कह सकता है। यह कोष अमरकोश की श्लोकमयी शैली में निबद्ध पौने सात हजार अनुष्टुपों में समाप्त हुआ है (ठीक संख्या ६७९६ छ हजार सात सौ छानवे)। ग्रन्थ के आरम्भ में १६ पद्यों का उपक्रम है तथा अन्त में छ श्लोकों का परिसमापन है। मैं इस कोश को अमरसिंह के 'नाम लिङ्गानुशासन' की परम्परा का सर्वश्रेष्ठ सार्वभौम ग्रन्थ मानता हूं। अमर सिंह ने अपने विश्रुत कोश के नाम तथा लिंगों का अनुशासन किया है। संस्कृत के कोष दो प्रकार के होते हैं—(१) समानार्थक तथा (२) नानार्थक। प्रथम प्रकार के अन्तर्गत उन शब्दों का संकलन है जो एक ही अर्थ की द्योतना करते हैं, द्वितीय प्रकार के भीतर अनेक अर्थों के संकेतक शब्दों का चयन किया जाता है। पंडित रामावतार शर्मा ने इस कोष में द्वितीय रीति का आलम्बन किया है। वैज्ञानिक वर्णक्रम से शब्द चयन की सिद्धि के कारण इस कोष के ऊपर पाश्चात्य कोषपद्धति की पूरी छाप है। १९०० ई० में केशव स्वामी ने नानार्थार्णव संक्षेप' नामक प्रख्यात कोष के संकलन में वर्ण का ही आश्रय लिया था परन्तु वह केवल शब्द के आरम्भ ही तक सीमित था शब्दों के भीतर वर्णक्रम का आदर नहीं किया गया है। परन्तु इस 'वाङ्मयार्णव' में शब्दों का चयन नितान्त वैज्ञानिक रीति से समग्रतया वर्णक्रम पद्धति पर किया गया है। और यह महती विशेषता इसका वैलक्षण्य सद्य घोषित कर रही है। शब्द प्रथमान्त में अपने विशिष्ट लिंग में प्रयुक्त हैं तथा अर्थ की द्योतना के लिए सप्तमी का प्रयोग है जैसे संस्कृत के अन्य कोशों में किया जाता है। लिंग की विशिष्ट सूचना के लिए पुंसा, स्त्री, अस्त्री, नपु, तथा क्लीब शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से यहाँ किया गया है। शर्माजी की प्रतिभा के समान

उनकी मेधाशक्ति भी अलौकिक थी। फलत अनेक कोष उनकी जिह्वा पर नाचा करते थे। यही कारण है कि इस कोष मे अर्थों की समग्रता, सम्पूर्णता तथा विस्तृति पर कोषकार का विशेष आग्रह लक्षित होता है। द्वितीय वैशिष्ट्य है—वैदिक शब्दो का लौकिक शब्दो के साथ समुचित सन्निवेश। निघण्टु तथा निरुक्त वैदिक शब्दो के ही कोश है। अमर तथा विश्व लौकिक शब्दो के चयनकर्ता हैं। अवश्यमेव यादवप्रकाश (१२ शती) की 'वैजयन्ती' इसका अपवाद है क्योकि उसमे वैदिक शब्दो का भी चयन है। परन्तु इसमे भी वैदिक शब्द अपेक्षाकृत न्यून हैं। इस न्यूनता की पूर्ति उभयविध शब्दो के सकलन से इस अभिनव कोश ने कर दी है। ग्रन्थकार इस 'कोश' न कहकर 'विश्वविद्या' (इन्साइक्लोपीडिया, विश्वकोष) कहते हैं। उनकी कामना थी कि प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति के साथ मे उसके प्रयोगस्थलो का पर्याप्त निर्देश किया जाय तथा आवश्यक होनेपर ऐतिहासिक तथा भौगोलिक सामग्री भी प्रस्तुत की जाय। पण्डित रामावतारजी की मेधाशक्ति विलक्षण थी। एक बार पठित अथवा श्रुत श्लोक उनके हृत्पटल पर सर्वदा के लिए अकित हो जाते थे —इतनी दृढता से कि वे भूले भी नही भुलाये जा सकते थे। कविप्रयोगो के वे स्वय कोश थे। श्रीमद्भागवत को छोड कर 'कशिपु (= सेज) शब्द का प्रयोग लौकिक सस्कृत मे कही भी उपलब्ध नही होता —उनका यह कथन आज भी यथार्थ है। 'कशिपु' शब्द वैदिक है और शतपथ ब्राह्मण मे प्रयुक्त भी है, परन्तु भागवत का यह पद्याश

सत्या क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः
बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् ?

इसका लौकिक सस्कृत मे एकमात्र दृष्टान्त माना जा सकता है। सस्कृत साहित्य के लिए यह अपूरणीय क्षति है कि वे इस कोश को अभीष्ट रूप मे प्रस्तुत तथा समाप्त नही कर सके। सुनते हैं कि उनकी कुछ भाष्य शास्त्रीय टिप्पणियाँ अवश्य उपलब्ध हुई हैं जो कारणवश इस सस्करण मे नही दी जा सकी। कोश की इस विशिष्टता का वर्णन स्वयमेव ग्रन्थकार ने उपक्रम के सप्तम अष्टम तथा नवम पद्यो मे इस प्रकार किया है—

वर्णानुक्रमविन्यस्तैर्लोकवेदोभयोद्धृतैः ।
पद्यबद्धैः सपर्यायैर्नानार्थैर्घटितो महान् ॥ ७ ॥
विशेषश्चायुर्वेदप्रभृतीनां पदैर्युतः ।
सोऽयुक्तोदाहृतिभिष्टिप्पणैः समलङ्कृतः ॥ ८ ॥
सचित्रैः प्रचुरार्वाच्यवैज्ञानिकपदोच्चयैः ।
परिशिष्टैश्च बहुभिः कोश एष परिष्कृतः ॥ ९ ॥

यदि इन समस्त गुणो से सम्पन्न होकर यह कोश परिनिष्ठित होता तो निःसन्देह यह सस्कृत भाषा का सर्वश्रेष्ठ विश्वकोश होता। परन्तु काल के दुर्विलास से ऐसा

हो न सका। तथापि केवल एक ही मानव की प्रतिभा तथा परिश्रम का प्रदर्शक यह ग्रन्थरत्न अपने वैलक्षण्य तथा सम्पूर्ति के लिए सदा स्मरणीय तथा उल्लेखनीय रहेगा।

शर्माजी ने मान्य कोष ग्रन्थों में वैजयन्ती, मङ्ख, अनेकार्थकैरवाकर कौमुदी, नानार्थार्णव-सक्षेप, अभिधान चिन्तामणि, राजनिघण्टु, कल्पद्रुकोश तथा शर्मण्य सग्रहो का नाम्ना उल्लेख किया है (उपक्रम श्लोक १२–१६)। ये सब प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं और अपने विषय में प्रमाणभूत हैं। 'वैजयन्ती' श्री रामानुजाचार्य के विद्यागुरु यादव-प्रकाश की रचना है (समय १२ शती)। मङ्ख का 'अनेकार्थ कोष' काश्मीरी कवियों के प्रयोगों का महान् आकर है (१२ श०)। अनेकार्थ कैरवाकर कौमुदी' हेमचन्द्र के 'अनेकार्थ सग्रह' की महेन्द्रसूरि रचित टीका है जो वास्तव में ग्रन्थकार के नाम से न होकर उनके गुरु हेमचन्द्र के ही नाम्ना प्रख्यात है। 'अभिधान चिन्तामणि' (समानार्थ शब्दों का बृहत् कोश) हेमचन्द्र का ही गरिमामय ग्रन्थ है। 'राजनिघण्टु' आयुर्वेदशास्त्र का प्रमुख निघण्टु है। 'नानार्थार्णव सक्षेप' केशव स्वामी की तथा 'कल्पद्रुकोष' केशव की लब्धवर्ण कृतियाँ हैं। 'शर्मण्यसग्रह' जर्मन विद्वान् राथ तथा बोथलिंक के प्रख्यात कोषों का सकेतक है। रत्नाकर, मल्ल, सोमदेव तथा भारवि के कृतियों के निरीक्षण का भी वे आवश्यक मानते हैं। (श्लोक १६)। इनमें हरविजय के कर्ता रत्नाकर, तथा सरित्सागर के रचयिता सोमदेव तथा किरातार्जुनीय के लेखक भारवि तो अपनी रचनाओं से प्रख्यात ही हैं। परन्तु 'मल्ल' नाम से किसका सकेत है? भूमिका के लेखक 'वात्स्यायन नागमल्ल' की ओर सकेत मानते हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में यह सकेत-कल्पना यथार्थ नहीं है। शर्मा जी का सकेत इस नाम की ओर प्रतीत नहीं होता। इस लेखक के ग्रन्थ 'कामसूत्र' में विरल प्रयोग वाले शब्दों की सत्ता होने पर भी यह अनुमान ठीक नहीं है। इस ग्रन्थ का 'मूलकारिका' ऐसा विलक्षण शब्द है जिसके यथार्थ के विषयमें सब कोष मौन हैं। परन्तु टीका जयमगला के अनुसार इस दुरूह शब्द का अर्थ है 'वशीकरण करनेवाली स्त्री' (वशीकरणेन मूलेन या कर्म करोति सा, कामसूत्र पृ० २०१, काशी सस्करण)। शर्माजी के दृष्टि-पथ से यह विलक्षण शब्द ओझल नहीं हो सकता था, यदि 'कामसूत्र' का विश्लेषण किया गया रहता रहता। मेरी दृष्टि में मल्ल से अभिप्राय भट्टमल्ल से है जिनका प्रख्यात ग्रन्थ आख्यातचन्द्रिका कोषकारों के लिए एक सग्रहणीय रत्न है।

पण्डित रामावतार जी ने शब्द विशेष के ऊपर होने वाले वैमत्य को भी अपने कोश में भली भाँति दिखलाया है। प्राचीन कोषकारों ने किसी शब्द को लेकर जो मीमांसा की है उसमें वे भली भाँति परिचय रखते हैं और तत्तत् स्थान पर निर्देश भी करते हैं। 'लाजा' शब्द को ही लीजिए। हिन्दी में इसका अर्थ है आग में भूना गया धान अर्थात् धान का लावा। इस शब्द के विषय में कोषकारों के विभिन्न मत हैं।

'लाजा पुंभूम्नि चाक्षता' (अमर) से प्रतीत है कि अमर की दृष्टि मे यह पुल्लिग है तथा बहुवचन मे प्रयुक्त होता है । सर्वानन्द की अमर टीका मे उदधृत विक्रमादित्य के ससारावर्त कोष के अनुसार यह शब्द स्त्रीलिंग भी है तथा एकवचनान्त भी—

लाजा. पु सि बहुत्वे वा स्त्रियां लाजापि चाक्षतम् ।

(अमर २।९।४६ की टीका)

अन्य कोष मे यह क्लीब लिंग भी भिन्नार्थ मे है इन समस्त विमतियो का परिष्कार देखिये इस कोश मे —

लाज क्लीबमुशीरेऽथ स्त्रियां पु भूम्नि चाक्षते ।
भृष्टधान्येऽपि च स्त्रीत्वे किं वा पु भूम्नि कस्यचित् ॥

यह श्लोक 'लाज' शब्द के तीनो लिंगो मे प्रयोग तथा विभिन्न अर्थो को स्पष्ट द्योतित करता है । 'धाना' शब्द की विलक्षणता अमर के इस वचन से सद्य प्रतीत नही होती कि यह बहुवचन मे ही प्रयुक्त होता है–'धाना भृष्टयवे स्त्रियः' (२।९।४७) परन्तु शर्मा जी ने अनेक अर्थो के साथ इस वैलक्षण्य को स्पष्ट कर दिया है– भूम्नि भृष्टयवेष्वेव स्थूले तच्चूर्णकेऽपि च (पृ० २०७, श्लो० २८८५)। कोष के साथ प्रकाशित अनुक्रमणी से प्रतीत होता है कि इसमे बीस हजार शब्द उपन्यस्त है । यदि चार शब्दो के द्वारा अर्थ की द्योतना मान लें, तो पूरे कोश मे पाँच सहस्र मौलिक शब्द है जो वर्णानुक्रम की वैज्ञानिक पद्धति से यहाँ विन्यस्त हैं । यह नानार्थक कोश है अर्थात् अनेकार्थ वाले शब्दो का ही यहाँ सकलन है । फलत एकार्थक शब्दो को बुद्धिपूर्वक नही रखा गया है । शब्दविशेष के नाना अर्थों का ही यहाँ विवरण नही है, प्रत्युत उसके लिङ्ग-वचन का वैलक्षण्य भी उदघटित किया गया है । यह उद्घाटन प्राचीन कोषो के आधार पर हैं, परन्तु इनमे शर्माजीके विशाल अध्ययन तथा विशद अनुशीलन का भी परिणत फल पदे पदे उपलब्ध होता है । पण्डित रामावतार जी को भाषाशास्त्रीय टिप्पणो के सकलन का अवसर नही मिला नहीं तो यह कोष वास्तव मे अद्वितीय ही होता । उनके आन्तेवासी होने की दृष्टि से लेखक पण्डित जी के भाषा-शास्त्रीय वैदुष्य तथा अलौकिक प्रतिभा से पूर्णत परिचय रखता है । फलत केवल दो शब्दो के विषय मे उनके गम्भीरार्थक टिप्पणो का आदर्श प्रस्तुत कर रहा है जिन्हे वे अवश्य लिखे रहते ।

धेनु—यह शब्द सद्य प्रसूता गौ के लिए प्रयुक्त होता है, परन्तु इसके अन्य विलक्षण प्रयोग सस्कृत भाषा मे उपलब्ध होते हैं । किसी भी पशु के स्त्री व्यक्ति के प्रदर्शनार्थ भी उस शब्द के साथ इसका प्रयोग किया जाता है । इसका मूल अर्थ है पयस्विनी गौ, तदनन्तर गोमात्र मे इसका प्रयोग विस्तृत हो गया । इसके अनन्तर

स्त्रीमात्र का वाचक बन गया। यथा अश्वधेनु =अश्वा (घोडी), गजधेनु —हस्तिनी (हथिनी) आदि। खड्ग धेनु गोधेनु तथा वडवा धेनु आदि शब्दों मे धेनु शब्द स्त्रीत्व का ही बोधक है। आंग्ल भाषा मे भी इसी प्रकार elephant, rhinocercs आदि शब्दों के साथ प्रयुक्त cow शब्द स्त्रीलिंग का बोधक होता है। कभी-कभी यह शब्द अकेले ही घोडी तथा हथिनी का बोधक होता है। मनुस्मृति का प्रयोग है—यथा धेनु किशोरेण। यहाँ किशोर (घोडे का बच्चा, अश्वशिशु) के सयोग से धेनु शब्द अश्वधेनु का वाचक है स्वय अकेले ही। 'धेनुका स्त्री करेणुका तु' इस केशव वचन से धेनुका अर्थ करेणू (हस्तिनी) भी है। सामान्य स्त्रीवाची होने से धेनु का प्रयोग किसी पदार्थ के लघु रूप को द्योतित करने के लिए भी संस्कृत मे उपलब्ध है। 'चाकू' के लिए प्रयुक्त पर्यायो मे अमर द्वारा निर्दिष्ट असिधेनुका विशेष ध्यातव्य है। (स्यात् शस्त्री चासिपुत्री च छुरिका चासिधेनुका—अमर २।८।९२)। यहाँ 'धेनु' का ही अल्पार्थद्योतक 'धेनुका' शब्द है। धेनुरेव धेनुका। स्वार्थे कप्रत्यय। फलत 'असिधेनुका' का यथार्थ है—छोटी तलवार=छुरी। यहाँ धेनु या धेनुका शब्द अल्पार्थद्योतन मे प्रयुक्त है। दान के अवसर पर गाय का दान न देकर घृत, तिल आदि का गोसदृश आकार बनाकर देने का विधान पुराणो तथा धर्मशास्त्रो मे मिलता है। घृतधेनु, तिलधेनु, जलधेनु आदि शब्द ऐसे ही अवसर पर प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार वामा, वामि वामी—ये तीनो स्त्रीत्व द्योतक शब्द हैं। फलत 'अयोष्ट्रवामी-शतवाहितार्थम्' (रघुवश ५।३२) मे कालिदास द्वारा प्रयुक्त उष्ट्रवामी का अर्थ है उष्ट्रस्त्री अर्थात् ऊँटिनी साँढिनी। प्राचीन काल मे शीघ्र गति के लिए सन्देश साँढिनी सवारो के द्वारा भेजे जाते थे। अधिक बलशाली होने से माल ढोने के लिए ऊँटिनी का ही उपयोग किया जाता था। 'वामी' का अर्थ यदि कोशो द्वारा निर्दिष्ट 'घोडी' अर्थ ही केवल माना जाय, तो उष्ट्र के साथ उसका मेल नही बैठता। फलत यह शब्द भी धेनु के समान ही स्त्रीमात्र का द्योतक सिद्ध होता है।

पारसीक तैल—इस वाट्सपार्णव मे (पृष्ठ ४४९) यह शिलाज शब्द के अर्थ-रूप मे दिया गया है। 'पारसीक तैल' तथा 'तुरुष्क तैल' आजकल के किरासन के तेल के लिए संस्कृत भाषा मे प्रयुक्त मिलते हैं। 'मञ्जुश्री-मूलकल्प' (द्वितीय शती) मे बुद्ध-मूर्ति के सामने सहस्र बत्ती वाले दीप जलाने के लिए तुरुष्क तैल के उपयोग की बात कही गयी है। विक्रमाङ्कदेवचरित मे बिल्हण ने इस शब्द का प्रयोग किया है। तुरुष्क शब्द से अपने देश के लिए प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन काल से लेकर अब तक इसकी प्रसिद्धि-परम्परा अक्षुण्ण है। फलत संस्कृत मे यह शब्द अपनी उदयभूमि के नाम से प्रख्यात हैं। आज का अंग्रेजी Kerosene या Kerosine ग्रीक के Korox शब्द से उत्पन्न है जिसका अर्थ है मोम (Wax)। पृथ्वी के भीतर जो मटीली चट्टानें मिलती हैं, उन्ही के टूटने से यह उत्पन्न होता है। पेट्रोलियम को

साफ कर इसे तैयार करते हैं। फलत. संस्कृत भाषा में शिला से उत्पन्न पदार्थ का बोधक 'शिलाज' शब्द इसके यथार्थ रूप का पूर्ण परिचायक है—

शिलाजं त्वयसि क्लीब शिलाजतुनि च स्मृतम्।
स्यात् शिलाकुसुमे पारसीक-तैले तथा मतम्॥
(वाङ्मयार्णव, पृ० ४४८-'४९)।

नवीन कोश

अंग्रेज़ी भाषा के सम्पर्क में आने पर बंगाल के पण्डितो ने विषयो के निर्देशों से सम्पन्न विशिष्ट कोषो का सकलन सस्कृत मे किया। १९ वी शती मे सस्कृत कोष का प्रणयन इसी अर्वाचीन पद्धति पर किया जाय। इस पद्धति का सर्वप्रथम प्रयोग शब्दकल्पद्रुम नामक प्रख्यात-कोष मे किया गया है जिसे राजा राधाकान्तदेव ने अनेक पण्डितो की सहायता से अनेक खण्डों मे १८२२ ई० तथा १८५८ ई० के बीच प्रकाशित किया। इसमे शब्दो का सग्रह वर्णक्रम से है तथा पुराण, धर्मशास्त्र आदि प्रमाण ग्रंथों मे इतनी आवश्यक सामग्री सकलित है कि इसे सस्कृत का विश्वकोष कहना चाहिए। परन्तु इसमे वैदिक शब्दो का अधिकांश मे अभाव है। इसी के ढग पर दो कोष और बनाये गये–शब्दार्थ चिन्तामणि (४ भाग, १८६४-१८८५) सुखानन्दनाथ द्वारा। तथा वाचस्पत्य (२० भाग, कलकत्ता, १८७३-१८८४) तारानाथ तर्कवाचस्पति द्वारा। वाचस्पत्य मे वैदिक शब्दों का समावेश है, परन्तु उनकी व्युत्पत्ति अधिकतर कल्पना-प्रसूत है। इसी समय में राथ तथा बोथलिंक नामक जर्मन विद्वानो द्वारा महान् सस्कृत कोष (सस्कृत वर्टेरबुख, सेन्ट पीटर्सबर्ग, रूस, १८५२-१८७५) का प्रणयन हुआ जिसमे वैदिक शब्दों का भी पूर्ण समावेश है तथा जिसकी रचना भाषा वैज्ञानिक रीति पर की गई है। यह कोष भी पुराना पड गया। सैकड़ो वैदिक ग्रंथो का प्रकाशन इधर अस्सी वर्षो मे हो गया है इसलिए इस कार्य की पूर्ति के लिए पूना से एक बृहत्तम सस्कृत कोष आधुनिक प्रणाली के अनुसार प्रस्तुत हो रहा है। इसका कुछ अंश प्रकाशित हो गया है।

जर्मन विद्वानों ने अनेक पण्डितो के साहाय्य से शब्दो के प्रयोग स्थलो का ही निर्देश नही किया है, प्रत्युत शब्दो के अर्थविकास अंकित करने का भी श्लाघ्य प्रयास किया है। उस समय तक प्रकाशित तथा अप्रकाशित समस्त सस्कृत ग्रंथों का विधिवत् अनुशीलन कर इस विशाल कोश की रचना की गयी है। है तो यह अनेक विद्वानों का सामूहिक प्रयास, तथापि डा० राथ ने वैदिक शब्दों का तथा डा०बोथलिंक ने वैदिकेतर शब्दो का विवरण शुद्ध भाषाशास्त्रीय पद्धतिपर देने का महनीय कार्य किया। डा० बोथलिंक ने इसका एक संक्षिप्त सस्करण जर्मन मे प्रकाशित किया जिसमे अनेक

नवीन शब्दों का संग्रह है। डा० मोनियर विलियम्स ने अपना संस्कृत-अंग्रेजी कोष भी बड़े परिश्रम तथा अनुशीलन के बाद प्रस्तुत किया। यह कोष आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी (इंगलैण्ड) के द्वारा प्रकाशित है। शब्दों के चयन में तथा अर्थनिर्देश में बड़ा परिश्रम किया गया है। प्रयोगस्थलों का निर्देश न होना खटकता है। यह कोष भी पूर्वोक्त जर्मन संस्कृत कोष के आधार पर विरचित है अथवा उसके द्वारा बहुश प्रभावित है—इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। भारतवर्ष में पण्डितवर्य वामन शिवराम आप्टे द्वारा निर्मित संस्कृत कोष बहुत ही उपादेय है छात्रों तथा पण्डितों दोनों के लिए। हाल में ही उसका नवीन संस्करण तीन खण्डों में पूना से प्रकाशित हुआ है। शब्दों के प्रयोगस्थलों का उद्धरण तथा उनके नानार्थों का विवरण देना इसका श्लाघनीय वैशिष्ट्य है। इसके खण्ड-त्रयात्मक नवीन संस्करण में नवीन छन्दों का संकलन है।

जर्मन संस्कृत कोष के प्रकाशन के बाद इधर अस्सी पच्चासी वर्षों में प्राचीन वैदिक तथा वैदिकेतर सैकड़ों ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है और प्रतिवर्ष हो रहा है फलत 'संस्कृत का बृहत्तम कोष' के प्रकाशन की योजना डेक्कन कालेज पूना के रिसर्च विभाग के डाइरेक्टर डा० कत्रे ने प्रस्तुत की है और अनेक विज्ञ सहयोगियों के साथ वे इस कार्य में संलग्न हैं। भाषा वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग अर्थ देने में किया जा रहा है तथा यावत् उपलब्ध शब्दों का विधिवत चयन किया जा रहा है। यह कोश अब प्रकाशित होने लगा है।

पाली कोश

बौद्ध ग्रन्थों के विषय में भी बहुत से विशिष्ट कोश हैं। इस विषय में वे वैदिक निघण्टुओं से अधिक समानता रखते हैं। वे श्लोकबद्ध नहीं लिखे गये हैं और उनका साक्षात सम्बन्ध इन्हीं विशेष ग्रन्थों के साथ ही है। ऐसे कोशों में सबसे प्रसिद्ध कोश है महाव्युत्पत्ति जो २८४ प्रकरणों में विभक्त तथा लगभग ९००० शब्दों वाला एक विराट ग्रंथ है। यह बुद्ध तथा बौद्ध धर्म के पारिभाषिक शब्दों का ही अर्थ नहीं देता, प्रत्युत पशुओं, वनस्पतियों तथा रोगों आदि का भी उल्लेख करता है। पर्याय वाची शब्दों के अतिरिक्त धातु रूपों का भी उल्लेख करता है। इन दृष्टियों से यह एक विलक्षण कोश है।[1] मोग्गलान की अभिधान प्पदीपिका पाली कोशों में अत्यन्त लोकप्रिय है। यह बारह शती में लिखा गया था। यह अमरकोश के द्वारा विशेष

१ डा० मीनाफ के द्वारा सम्पादित, सेन्ट पीटर्सबर्ग की 'बुद्ध ग्रंथमाला' में प्रकाशित, संख्या १३१, १९११ ई०।

प्रभावित तथा उसी शैली में निबद्ध व्यावहारिक कोश है। कहीं कहीं तो अमर के संस्कृत श्लोक पाली में अनूदित कर दिये गये हैं।[1]

प्राकृत कोश

प्राकृत कोशों में सबसे प्राचीन कोश है—धनपाल रचित कोश जिसका नाम है—

(१) पाइयलच्छिनाममाला—यह कोश ग्रंथकार ने ९७२ ई० में अपनी छोटी बहिन सुन्दरी के उपयोग के लिए लिखा था। इसमें केवल २७९ गाथायें हैं। परिच्छेदों में यह विभक्त नहीं है परन्तु इसके चार विभाग किए जा सकते हैं। यह ग्रंथ अपने समय में बहुत ही प्रसिद्ध था और इसका हेमचन्द्र ने अपने देशीनाममाला में बहुत उपयोग किया है।

(२) देशीनाममाला—हेमचन्द्र का यह प्राकृतकोश अपने ढंग का एक बहुत ही सुन्दर तथा रोचक ग्रन्थ है। प्राकृत में शब्द तीन प्रकार के होते हैं—तत्सम (संस्कृत के समान शब्द) तद्भव (संस्कृत से उत्पन्न शब्द), तथा देशी शब्द (प्रान्तीय शब्द) जो पूर्व दोनों प्रकार से भिन्न होते हैं। परन्तु इस कोश में ऐसे शब्द भी आते हैं जो देशीय न होकर तद्भव की कोटि में रक्खे जा सकते हैं। इसमें आठ अध्याय या वर्ग हैं—जिनमें शब्दों का संग्रह आदि अक्षर के आधार पर किया गया है। पर्यायवाची शब्द के अनन्तर नानार्थ शब्द रक्खे गये हैं जो उसी अक्षर से आरम्भ होते हैं। ग्रन्थकार ने स्वयं इसके ऊपर टीका[2] लिखी है। ग्रन्थ का नाम 'देशी नाम माला' होने से यह आशा करना स्वाभाविक प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने केवल संस्कृतजन्य न होने वाले देशी शब्दों का ही यहाँ संग्रह किया है, परन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। उन्होंने तद्भव शब्दों का भी यहाँ चयन किया है। इसलिए यह ग्रन्थ प्राकृत शब्दों की भी जानकारी के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होता है। इस कोष के अनुशीलन से उस युग (१२ शती) के लोक प्रचलित रीति-रिवाजों का भी भली भाँति ज्ञान होता है। ऐसे कुछ विशिष्ट शब्द इस प्रकार हैं—

अणदवड (१।७२)—पति से प्रथम यौवनहरण होने पर स्त्री का रुधिर से छिटा वस्त्र। बान्धवों को आनन्दित करने के कारण यह 'आनन्दपट' कहलाता है। कई जातियों में ऐसे वस्त्र में मिठाई रखकर बिरादरी में बाँटने का रिवाज है।

खिक्खिरी (२।७३)—सूचना देने की छड़ी जिसे नीच जाति वाले धारण करते हैं जिससे लोग उन्हें स्पर्श नहीं करें। फाहियान ने ऐसा ही वर्णन किया है और

१ गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद से प्रकाशित।

२ बाम्बे संस्कृत सीरीज पूना तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता से प्रकाशित।

राजपूताने की कई जातियाँ आज भी अपने सिर पर कौआ या मुर्गे का पंख इसी उद्देश्य से लगाती हैं।

णवलया (४।२१)—एक रस्म जिसमे स्त्री से उसके पति का नाम पूछते हैं और न कहने पर वह पलाशलता से पीटी जाती है (नांव-लया, लने की क्रिया)।

णीरंगी (४।४१)—सिर ढँकने का वस्त्र, घूंघट। इसका संस्कृतीकरण 'नीरङ्गिका' के रूप मे प्रयुक्त भी है। 'आभाणकशतक' मे 'नीरंगिका' शब्द प्रयुक्त घूंघट के अर्थ मे--'अन्धे श्वसुर के लिए नारंगिका कैसी ?'

दुद्धोलणी (५।४६)--जो गाय एक बार दुही जाकर फिर भी दुही जा सके।'

पोअलअ (६।८१)--आश्विन मास का कोई उत्सव जिसमे पति स्त्री के हाथ लेकर अपूप (पूआ) खाता है।

बहुहाडिणी (७।५०)--एक स्त्री के रहते हुए जो दूसरी स्त्री लाई जाय।

धम्मअ (५।६३)--दुर्गा के सामने पुरुष को मार कर उसके अंग के लोहू से जगल मे धर्मार्थ बलि करने वाले चोर। यह उस समय के ठग प्रतीत होते हैं।

लय (७ १६)—नये विवाहित स्त्री पुरुषों के जोड़े का आपस मे नाम लेने का उत्सव।

हिंचिअ (अथवा हिंविअ ८।६८)—एक टाँग उठाकर एक ही से चलने का बच्चो का खेल। इन विलक्षण शब्दो से उस काल के अनेक रीति रस्म का पता भली-भाँति चलता है। इस विषय मे हेमचन्द्र की शब्द सग्राहिका शक्ति विशेष अनुसंधान-योग्य है।[1]

इधर जैन विद्वानो ने प्राकृत शब्दो का सचयन दो बड़े ग्रन्थो मे किया है—(१) अभिधान राजेन्द्र कोश तथा (२) प्राकृत शब्द-महार्णव। अभिधान राजेन्द्र शब्द कोश न होकर जैन धर्म का विश्वकोश है जिसमे जैनधर्म, दर्शन तथा साहित्य के विषयो के ऊपर प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण के साथ बड़ा ही सांगोपांग विवेचन है। यह सात खण्डो मे दस हजार पृष्ठो मे प्रकाशित हुआ है।[2] प्राकृत

---

१ ऐसे शब्दो के लिए द्रष्टव्य नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ३ सं० १९७९ पृष्ठ ८८–९२।

२. रतलाम, मालवा से कई जिल्दों में प्रकाशित (१९१३-१९२५)।

शब्द महार्णव[1] भी कई खण्डो मे विभक्त है तथा लगभग डेढ़ हजार पृष्ठ हैं। यह अकरादि क्रम से निबद्ध है। यह नवीन शैली का कोश है जिसमे प्रयोग के स्थलों का भी निर्देश बडी सुन्दरता से किया गया है। ये दोनो कोश अपने रचयिताओ के अश्रान्त परिश्रम, दीर्घ अध्ययन तथा गाढ विद्वत्ता के द्योतक हैं।

मुगल काल मे सस्कृत का फारसी मे अनुवाद अथवा फारसी का सस्कृत मे अनुवाद करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस विषय मे अनेक कोष तैयार किये गये जिनमे दो-तीन प्रसिद्ध है। विहारी कृष्णदास मिश्र ने अकबर के आदेश से 'पारसीक प्रकाश' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। राजा टोडरमल ने फारसी को राजभाषा बना दी थी जिसमे कागजाद लिखे जाते थे। सस्कृत के पण्डितजनो को फारसी मे व्यावहारिक दक्षता प्राप्त करने के महनीय उद्देश्य से प्रेरित होकर ग्रन्थकार ने इसकी रचना की। इसके दो भाग हैं—कोश तथा व्याकरण। कोशप्रकरण मे २६९ अनुष्टुप् है जिनमे क्रमश स्वर्ग, दिक्, काल, नाट्य, पाताल, वारि ब्रह्म, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा विशेषनिघ्न नामक एकादश प्रकरण हैं। ग्रन्थ के आरम्भ म दिल्ली के बादशाह अकबर की प्रशस्त स्तुति है। ग्रन्थकार बडी नम्रता से कहता है कि पारसीक शास्त्र का बिना अध्ययन किये ही उसने इसकी रचना की है, परन्तु बात एसी नही है। विहारीकृष्णदास मिश्र पारसी व्याकरण तथा कोश दोनो के प्रौढ पण्डित हैं। फारसी शब्दो के ही सस्कृत पर्याय दिये गये हैं। यथा—

माहस्तु मासमात्रे स्याद् ऋतुमात्रे फसल् भवेत्।
शीतकाले जमिस्तानो बहार सुरभौ भवेत्॥ १६॥

यह कोश[2] आज भी उपयोगी तथा उपादेय है। रचनाकाल १६ वी शती का मध्यकाल—अकबर का शासनकाल। वेदाग राय का पारसी-प्रकाश १५४३ ई० की रचना है जिसमे फारसी तथा अरबी के शब्दो का सस्कृत अर्थ दिया है। व्रजभूषण का पारसी विनोद इसी युग की रचना है। महाराज छत्रपति शिवाजी की दृष्टि इस ओर आकृष्ट हुई थी और इसके लिए उन्होने राजव्यवहार कोष का सकलन अपने दरबार के पण्डित द्वारा कराया था। मराठी मे शासन सम्बन्धी बहुत से शब्द फारसी भाषा से लिये गये हैं। इन शब्दो की पूरी जानकारी के लिए शिवाजी ने यह कोष बनवाया जिसमे उनके अर्थ मराठी तथा संस्कृत मे दिये गये हैं। महाकवि क्षेमेन्द्र का

---

१. कलकत्ता से कई खण्डो मे तथा काशी से भी प्रकाशित।

२ सं० सरस्वती भवन ग्रन्थमाला सख्या ९५, प्र० सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६५।

लोकप्रकाश मे भी बहुत से फारसी शब्द आए हैं। यह ग्रन्थ कोष तथा अर्थशास्त्र के बीच का है जिसमें केवल शब्दों के अर्थ ही नहीं हैं प्रत्युत दैनिक जीवन के उपयोगी वस्तुओं का भी यहां वर्णन है। शाहजहां का भी उल्लेख होने से मालूम पडता है कि कुछ अश इनमें सत्तरहवी शती तक भी जोडे गये हैं।

कोष विद्या के इस सक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय से किसी भी आलोचक को प्रत्यक्ष हुए बिना न रहेगा कि सस्कृत तथा प्राकृत के पण्डितो ने अपने शब्द-भण्डार को विशुद्ध बनाए रखने तथा सुप्रचलित करने के लिए जो प्रयास किए हैं वे सर्वदा स्तुत्य है। कोष का इतना प्राचीन परिचय चीनी भाषा को छोडकर और अन्य भाषा में नही है।

उपसंहार

संस्कृत कोशों के प्रति पण्डितजनों की भी एक भ्रान्त धारणा है कि उसमें केवल समानार्थक तथा नानार्थक शब्दों का संग्रहमात्र रहता है। परन्तु उनमें अर्थ का सूक्ष्म रूप अंकित नहीं किया जाता जैसे अंग्रेजी के शब्दों में होता है। प्रसन्नता के सूचक Pleased Delighted, Happy, Glad आदि शब्द अंग्रेजी में अवश्य हैं। परन्तु इन शब्दों में एक दूसरे से पार्थक्य है गाढ़ता लघुता आदि भावों को दृष्टि में रखकर। यह धारणा सामान्यतः ठीक है परन्तु वस्तुस्थिति इसमें विपरीत है। अमरकोषस्थ कामदेव के वाचक उन्नीस शब्दों में मन्मथ, मदन, मार, कन्दर्प, पञ्चशर आदि शब्द भिन्न भिन्न तात्पर्य के सूचक हैं। 'मन्मथ' से तात्पर्य है—मन को मन्थन करने वाला तीव्र वेदना उत्पन्न करने वाला[1]। मदन' का अर्थ है—हर्ष उत्पन्न करने वाला, (मदयतीति मदनः)। फलतः 'मन्मथ' के द्वारा व्यज्यमान तीव्र वेदना के स्थान पर 'मदन' में हर्ष के उत्पादन की अभिव्यञ्जना है। 'मार' का स्वारस्य मार डालने वाला है (म्रियन्तेऽनेनेति मारः) 'कन्दर्प' का अभिप्राय कुत्सित दर्प वाला अथवा कुत्सित रूप से दर्प करने वाला है[2]। 'पञ्चशर' से सामान्यतः पाँच बाणधारी का अर्थ हम समझते हैं, परन्तु बाण से यहाँ तात्पर्य लौह निर्मित शस्त्र विशेष से न होकर उन्मादन, शोचन, सम्मोहन, शोषण तथा मारण नामक मानसिक विकृतियों से है[3]। फलतः यह शब्द काम के द्वारा कामी पुरुष के मानस में उत्पन्न किये गये भावविकारों की ओर लक्ष्य करने में अपनी सार्थकता रखता है। अतएव ये उन्नीसों शब्द विभिन्न

---

१ मनन मन चेतना। अनुदात्तोपदेशवनतीति (अष्टा० ६।४।३८)
अनुनासिकलोपे तुक्। मतो मनसो मथ (मथ्नातीति)
मन्मथ—क्षीरस्वामी (अमर १।१।२५ की टीका)।

२ कमव्यय कुत्सायाम। क कुत्सितो दर्पोऽस्येति। कदर्पयति वा।

३ उन्मादन शोचन च तथा सम्मोहनं विदुः।
शोषणं मारणं चैव पञ्चबाणा मनोभुवः॥
मदनोन्मादनश्चैव मोहनः शोषणस्तथा।
सदीपनः समाख्याता पञ्चबाणा इमे स्मृताः॥
क्षीरस्वामी (पूर्ववत्)

अभिप्राय से वाचवाचक हैं। इसलिए उनका प्रयोग सर्वत्र समभावेन कभी नहीं किया जा सकता। कालिदासीय प्रख्यात पद्य—

द्वय गत सम्प्रति शोचनीयता
समागमप्रार्थनया कपालिनः ॥

(कुमारसम्भव)

मे शिववाचक वाच्य के ऐक्य होनेपर दोष का प्रसग ही नही उठता। धनुष् धारण करने वाले शिव जिस प्रकार 'पिनाकी' शब्द के वाच्य हैं, उसी प्रकार नर-कपाल के धारण करने से वे ही 'कपाली' पद के भी तो वाच्य हैं। परन्तु दोनो शब्दो के द्वारा अभिव्यज्यमान तात्पर्य भिन्न-भिन्न हैं। ऊपर श्लोक मे 'कपाली' शब्द का ही औचित्य है, पिनाकी' का नहीं।[1]

अब रंगवाची शब्दों के सूक्ष्म तारतम्य पर दृष्टिपात कीजिये। अंग्रेजी शब्दों के तात्पर्य से अंग्रेजी भाषाविद् पूर्णत अभिज्ञ है कि Crimson, Red, Violet, Purple आदि शब्द लोहित रग के हल्केपन तथा गाढापन के सूचक होने से विभिन्नार्थक हैं, एकार्थक नही। यह अंग्रेजी भाषा की शाब्दिक महिमा मानी जाती है। संस्कृत शब्दो मे भी ऐसा ही तात्पर्य अन्तर्निहित है, परन्तु साधारणतया संस्कृतविद् उधर ध्यान नहीं देते। परन्तु कोशकारो ने, विशेषकर प्राचीन कोशकारो ने, इस तारतम्य का परीक्षण किया है और उसकी अभिव्यक्ति भी की है। एक दो दृष्टान्त नमूने के तौरपर यहाँ दिये जाते है।

अमरसिंह से पूर्ववर्ती मान्य कोशकार भागुरि की दृष्टि भी लालिमा के बोधक शोण लोहित तथा रक्त शब्दो की विभिन्नता की ओर आकृष्ट हुई थी और उन्होने इस विभेद का निदर्शन इस पद्य मे किया है—

बन्धुजीव जवा-सन्ध्याच्छवी वर्णौ मनीषिभि ।
शोण लोहित-रक्ताना प्रयोग परिकीर्तित ॥

बन्धुजीव का फूल शोण होता है, जवा का फूल (ओड्हुल) लोहित तथा सन्ध्या रक्तवर्ण की होती है। इस प्रसग को देकर पदचन्द्रिका कहती है—**भागुरिस्तु लोहित रक्तयोरल्प भेदमाह। इतीह भेदो नादत** (प्रथम खण्ड पृ० १८६ की प्रथम टिप्पणी)। पार्थक्य तो सूक्ष्म है ही। इसके निरीक्षण मे विभिन्नता हो सकती है। जिस सन्ध्या का वर्ण यहाँ रक्त कहा गया है, वही इस प्रख्यात पद्य में 'ताम्र' कहा गया है—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।

---

१ विशेष द्रष्टव्य—काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास, बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्य-शास्त्र, द्वितीय भाग, पृष्ठ ७६-७७।

तात्पर्य है कि रंगों के विभेद के निरूपण की ओर संस्कृत के कोषकारों का ध्यान बहुत पहले से आकृष्ट है। अमरसिंह ने तथा उनके टीकाकारों ने इसे अधिक स्पष्टता से निरूपित किया है। यह उनका वैशिष्ट्य है।

अमरकोष की ओर ध्यान दें। लाल रंग का वाचक साधारण शब्द है लोहित। परन्तु 'शोण' का अर्थ होता है--गुलाबी लाल ('शोणः कोकनदच्छविः' कमल के समान लाल--अमर १।४।१५), कपिश, धूम्र तथा धूमल--इन तीनों शब्दों का तात्पर्य है--बैंगनी रंग ('कपिशो धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते'--अमर १।४।१६), 'अरुण' वह लाल है जिसमें लालिमा अभी प्रकट नहीं हुई है (अव्यक्तरागस्त्वरुण) 'पाटल' है सफेदी से मिली हुई लाली--हल्का लाल (अंग्रेजी का 'पिंक', 'श्वेतरक्तस्तु पाटल' अमर १।४।१५) लालिमा की भिन्नता के सूचक संस्कृत शब्दोंका अर्थ हलायुध (कोषकर्ता) ने अपने 'अभिधानरत्नमाला' के इस पद्य में दिया है--

> श्येनी कुमुदपत्राभा, शुकाभा हरिणी मता।
> जपाकुसुम सकाशा रोहिणी परिकीर्तिता॥

इसी प्रकार पीत आभा से युक्त श्वेत वर्ण के लिए 'हरिण', पाण्डुर तथा पाण्डु[1] शब्दों का प्रयोग किया जाता है। 'धूसर' भी पाण्डुता में हल्कापन रहता है (हरिण पाण्डुर पाण्डु. ईषत् पाण्डुस्तु धूसर --अमर १।४।१३)। 'कृष्ण' (काला रंग) शब्द अपनी व्युत्पत्ति से भी अपने उस वैज्ञानिक वैशिष्ट्य का प्रतिपादक है जो सब रंगों को खींचकर अपने में अभिभूत कर देता है और अपने ही स्वरूप में सर्वथा प्रतिष्ठित रहता है[2] (वर्णान् कर्षतीति कृष्ण --क्षीरस्वामी)। श्याम रंग 'कृष्ण' से हल्का होता है और उससे भी हल्का होता है 'श्यामल'। कृष्ण गाढ़े कालेपन का सूचक है। श्याम और श्यामल दोनों ही हल्के कालेपन की सूचना देते हैं। अवश्य ही 'मेचक' शब्द अत्यन्त तीव्र गाढ़े काले का अर्थ रखता है--मोर के कंठ के समान[3] कालिमा का अथवा शब्दार्णव[1] के अनुसार अलसी (तीसी) के फूल के समान कृष्ण-

---

१ अमर में पाण्डुर तथा पाण्डु समानार्थक है। परन्तु इन दोनों में भी पार्थक्य है 'पाण्डुरस्तु पीतरक्तभागी प्रत्यूषचन्द्रवत्। पाण्डुस्तु पीतभागार्ध केतकी-धूलिसन्निभ। पाण्डुर पाण्डुरे केचित्, केचित् पाण्डो प्रवेशित'--पदचन्द्रिका, प्रथम खण्ड पृ० १८४। पाण्डुर तथा पाण्डर दोनों सिद्ध होते हैं।

२ तुलना कीजिये 'सूरदास की कारि कमरिया चढ़त न दूजो रंग।'

३ 'मेच॰ शिखिकण्ठाभ' इति दुर्ग। क्षीरस्वामी ने इस वचन को अपनी अमर-टीका में उद्धृत किया है।

नीलावर्ण। इसी प्रकार भूरे रग के द्योतनार्थ अमरकोश मे छ शब्द दिये गये हैं—कडार, कपिल, पिङ्ग, पिशङ्ग, कद्रु तथा पिङ्गल। सामान्यत: ये शब्द समानार्थक हैं, परन्तु इसमे परस्पर भेद है। शब्दार्णव कोष मे यह भेद दिखलाया गया है जिसे रायमुकुट ने पदचन्द्रिका (प्रथम भाग, पृ० १८७ पर) मे उद्धृत किया है[2]। इन श्लोको के अनुशीलन से किसी भी आलोचक के हृदय मे सन्देह नही रह सकता कि सस्कृत के कोपकारो ने रंगो मे विभिन्नता तथा विशिष्टता का पूरा परिचय दिया है और इसके लिए दृष्टान्तो का उपयोग वैशद्य का द्योतक है। कडार होता है तृण की आग के समान, कपिल होता है कपिला गाय के सदृश, पिशङ्ग होता है कमल की धूलि के समान और पिंग होता है दीपक की शिखा के सदृश। इन दृष्टान्तों के उपयोग के कारण इन रगो के स्वरूप समझने मे किसी प्रकार की त्रुटि नही हो सकती।

इन कतिपय शब्दो के वैशिष्टच के अनुशीलन से स्पष्ट है कि सस्कृत भाषा के शब्दो मे विभिन्न तथा विचित्र रंगो की अभिव्यक्ति करने की पूर्ण क्षमता है। सस्कृत के कोपकारो की दृष्टि इस आवश्यक विभेद समझने की भली-भाँति लगी थी। फलत अंग्रेजी शब्दो की तुलना मे सस्कृत शब्दो मे किसी प्रकार की कमी की सम्भावना नही है।



१ 'मेचक कृष्णनील स्यादतसीपुष्पसन्निभ:' इति शब्दार्णवे भेद। द्रष्टव्य पदचन्द्रिका १ खण्ड पृ० १८५।

२ सितपीत हरिद्वर्ण कडारस्तृणवह्निवत्।
अथ तूद्रिक्तपीताङ्ग कपिलो गोविभूषण.॥
हरिताङ्गे तु हीनेऽसौ पिशङ्ग पद्मधूलिवत्।
पिशङ्गस्त्वसितावेशात् पिंगो दीपशिखादिवत्।
पिङ्गलस्तु परच्छाय पिंगे शुक्लागखण्डवत्॥
—शब्दार्णवे तु भेद।

चतुर्थ परिच्छेद

व्याकरणशास्त्र

का

इतिहास

(१) पाणिनि-पूर्व वैयाकरण
(२) उत्कर्ष काल
(३) व्याख्या-काल
(४) प्रक्रिया-काल
(५) खिल ग्रन्थ
(६) पाणिनि से इतर वैयाकरण सम्प्रदाय
(७) पालि-प्राकृत व्याकरण

व्याकरण प्रशस्तिः

—०—

आसन्न ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तम तप ।
प्रथम छन्दसामङ्ग प्राहुर्व्याकरण बुधा ।। ११ ।।

अर्थप्रवृत्तितत्त्वाना शब्द एव निबन्धनम् ।
तत्त्वावबोध शब्दाना नास्ति व्याकरणादृते ।। १२ ।।

तद् द्वारमपवर्गस्य वाड्मलाना चिकित्सितम् ।
पवित्र सर्वविद्यानामधिविद्य प्रकशते ।। १३ ।।

यथार्थजातय सर्वा शब्दाकृतिनिबन्धना ।
तथैव लोके विद्यानामेषा विद्या परायणम् ।। १४ ।।

इदमाद्य पदस्थान सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
इय सा मोक्षमार्गाणाम् अजिह्मा राजपद्धति ।। १५ ।।

—वाक्यपदीय—आगमकाण्ड

व्याकरण शास्त्र

व्याकरण शास्त्र वेदपुरुष का मुखस्थानीय है—मुख व्याकरण स्मृतम्। मुख होने के कारण ही वेदाङ्गो मे यह मुख्य है। शब्द तथा अर्थ के विश्लेषण पर आधारित इस विद्या का उदय भूतल पर भारतवर्ष म ही सम्पन्न हुआ। व्याकरण का साक्षात् सबंध वेद के साथ है। क्योंकि वेद मे अनेक पदो की व्युत्पत्तियाँ उपलब्ध होती हैं[1] जो व्याकरण की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये पर्याप्त मानी जा सकती हैं। पतञ्जलि ने व्याकरण शास्त्र के प्रयोजन बतलाने वाली पाँच ऋचाओ को उद्धृत किया है[2] तथा उनका व्याकरण शास्त्रपरक अर्थ भी दिया है। फलत प्राचीन आचार्यो की दृष्टि म व्याकरण वेद का ही अंग है। इस शास्त्र का उदय पदपाठो से प्राचीनतर है। पदपाठ मे प्रकृति का प्रत्यय से, धातु का उपसर्ग से तथा समस्त पदो मे पूर्व का उत्तर पदो से विभाग पूर्णतया प्रदर्शित किया जाता है और यह विभाजन-पद्धति व्याकरण शास्त्र के अनुशीलन पर पूर्णत आवृत है। इतना ही नही, व्याकरण के अन्तगत प्रातिपदिक, आख्यात, लिङ्ग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय आदि प्रख्यात पारिभाषिक पदो का उल्लेख गोपथ ब्राह्मण (पूर्वार्ध १।२४) मे किया गया है। अन्य ब्राह्मणो मे भी ऐसे पारिभाषिक शब्द यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं। फलत व्याकरण शास्त्र की प्राचीनता, वेदनिदिष्टता तथा वेदाङ्गमुख्यता स्पष्टत प्रमाणित होती है।

व्याकरण का प्रयोजन—पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में व्याकरण के प्रयोजनो का विशद वर्णन किया है और अनेक वैदिक मन्त्रो को इस प्रसङ्ग मे उद्धृत किया है। कात्यायन ने भी रक्षोहागमलघ्वसन्देहा. प्रयोजनम् अपने वार्तिक मे इसका निर्देश किया है। इसका अभिप्राय है (क) वेद का रक्षण– लोप, आगम तथा वर्ण मे विकारों का ज्ञाता ही वेद का रक्षण कर सकता है। (ख) ऊह—यज्ञ में मन्त्रो की

---

१ ऐसी व्युत्पत्तियो का दृष्टान्त देखिये—

(क) ये सहांसि सहसा सहन्ते ऋ० ६।६६।९

(ख) धान्यमसि धिनुहि देव न यजु० १।२०

(ग) येन देवा पवित्रेणात्मान पुनते सदा। साम० उ० ५।२ ८।५

(घ) तीर्थैस्तरन्ति अथर्व० १८।४।८

२. चत्वारिशृंगा० (ऋ० ४।५८।३), चत्वारि वाक् (ऋ० १।१६४।४५) चत्वारि वाक् का व्याकरणपरक अर्थ यास्क ने भी प्राचीन काल में किया था (निरुक्त १।१२—नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्चेति वैयाकरण)।

विभक्तियों का कर्मकाण्ड की प्रक्रिया के अनुसार परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है। (ग) आगम—वेद स्वयं व्याकरण के अध्ययन पर आग्रह रखता है। (घ) लघु—शब्दों का लघु उपाय से ज्ञान व्याकरण के द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। (ङ) असन्देह—मन्त्रों के उच्चारण तथा अर्थों के परिज्ञान में सन्देह का निराकरण व्याकरण ही कर सकता है। फलतः लौकिक शब्दों की रूपसिद्धि तथा प्रयोगक्षमता का भी कार्य व्याकरण के ज्ञाता द्वारा ही सम्पन्न होता है। वेद के संरक्षण के साथ तो व्याकरण का प्रधान सम्बन्ध है।

संस्कृत व्याकरण के निर्माता महर्षि पाणिनि हैं और उनका शब्दानुशासन अष्टाध्यायी के नाम से विश्वविश्रुत है। वे इसके आदि व्याख्याता नहीं हैं, प्रत्युत उनसे प्राचीनतर आचार्यों का समुल्लेख प्रातिशाख्यों में, पाणिनि के सूत्रों में तथा अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध होकर व्याकरण की विपुलता का स्पष्ट प्रमाण है। पाणिनि का व्याकरण संक्षिप्त रूप में वर्तमान है। उनसे पूर्व इस शास्त्र का विशेष अभ्युदय तथा विस्तार परिलक्षित होता है। प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध वेद के मन्त्रों छन्दों तथा पदपाठ के साथ साक्षात् है। अष्टाध्यायी में शब्द के स्वरूप का विश्लेषण है। संस्कृत व्याकरण के इतिहास में पाणिनीय सम्प्रदाय अत्यन्त महत्वशाली तथा प्रमुख है। कातन्त्र, जैनेन्द्र शाकटायन, हेम, चान्द्र आदि व्याकरण सम्प्रदायों का भी कालान्तर में उदय हुआ। इन सब का संक्षिप्त परिचय इस परिच्छेद में दिया जायगा।

महर्षि पाणिनि से भी पूर्वकाल में अनेक वैयाकरण हो गये हैं जिनके मत का स्पष्ट उल्लेख अष्टाध्यायी में किया गया है। इस प्रकार हम पाणिनीय व्याकरण के इतिहास को चार युगों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) पूर्व पाणिनीय-काल
(२) उदय-काल (ई० पू० ६०० –ई० पू० ३००)
(३) व्याख्या काल (पञ्चम शतक – १४ शतक)
(४) प्रक्रिया काल (१५ शतक—वर्तमान काल)

इन विभिन्न युगों की विशिष्टता पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। प्रथम युग में हम व्याकरण शास्त्र के विभिन्न आचार्यों के नाम से परिचय रखते हैं। उनकी कृतियों के कतिपय अंश ही इधर-उधर बिखरे मिलते हैं, पूरे ग्रन्थ का पता, अभी तक नहीं चलता। उदय काल इस शास्त्र के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह इस शास्त्र का सर्जनात्मक युग है जिसमें पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि ने अपनी रचनाओं से व्याकरण के मौलिक तथ्यों का वर्णन प्रस्तुत किया। व्याकरण शास्त्र में महर्षि पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि की मुख्यता 'त्रिमुनि व्याकरण' की उक्ति का मुख्य आधार है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में व्याकरण के तथ्यों को सूत्रबद्ध किया।

कात्यायन ने अपने वार्तिकों की रचना की और इसीलिए वे 'वार्तिककार' के नाम से प्रख्यात हैं। पतञ्जलि ने महाभाष्य में अष्टाध्यायी के सूत्रों तथा वार्तिकों के ऊपर भाष्य लिखकर पाणिनीय व्याकरण को प्रौढता के उच्च शिखर पर पहुँचा दिया। व्याख्याकाल से अभिप्राय उस युग से है जिसमें अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य के ऊपर टीकाग्रंथों का प्रणयन किया गया। इस युग के महनीय आचार्य हैं—जयादित्य, वामन, हरदत्त, कैयट आदि। प्रक्रियाकाल में व्याकरण को सुगम बनाने की भावना से प्रेरित होकर अष्टाध्यायी के क्रम को छोडकर प्रयोगसिद्धि की दृष्टि से सूत्रों का नवीन क्रम नियत किया गया तथा इन सूत्रों के ऊपर सरल वृत्तियाँ भी बनायी गयी। इस काल के प्रधान वैयाकरण हैं–रामचन्द्राचार्य, शेष श्रीकृष्ण, भट्टोजिदीक्षित, नागेश आदि। इस प्रकार इन विविध युगों को पार कर पाणिनीय व्याकरण वर्तमान काल में उपनीत हुआ है जिसमें उसकी प्रौढता तथा अन्तरंग अध्ययन के साथ-साथ उसके बहिरंग अनुशीलन की ओर भी विद्वानों की प्रवृत्ति जागरूक है।

प्रथम खण्ड

पाणिनि-पूर्व वैयाकरण

पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी मे दस प्राचीन व्याकरण प्रवक्ता आचार्यों का उल्लेख किया है जिनका यहाँ वर्णानुक्रम से दिया जा रहा है।

(१) आपिशलि— इनका उल्लेख अष्टाध्यायी के एक सूत्र मे उपलब्ध होता है (६।१।९२)। महाभाष्य (४।२।४५) मे भी इनका मत प्रमाण रूप से उद्धृत किया गया है। शाकटायन व्याकरण की अमोघावृत्ति (३।२।६१) मे पाल्यकीर्ति ने एक महत्वपूर्ण उदाहरण दिया है—'अष्टका आपिशलपाणिनीया' जिससे विदित होता है कि अष्टाध्यायी के समान ही आपिशलि व्याकरण मे आठ अध्याय थे। कात्यायन और पतजलि के समय मे इस व्याकरण का विशेष प्रचार दीख पडता है। क्योंकि आपिशल व्याकरण को पढने वाली ब्राह्मणी 'आपिशला' शब्द से निर्दिष्ट की गई है। आपिशल व्याकरण भी सूत्रात्मक था। इसके उपलब्ध सूत्रो से पता चलता है कि वह बहुत ही सुव्यवस्थित तथा लौकिक और वैदिक दोनो प्रकार के शब्दो का व्याख्यान करने वाला था। पाणिनीय व्याकरण के ऊपर आपिशल व्याकरण का बहुतही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह समानता सूत्रो की रचना मे ही नही है प्रत्युत अनेक सज्ञायें, प्रत्यय तथा प्रत्याहार भी परस्पर सदृश हैं। इतना ही नही, आपिशलि के धातुपाठ के जो उद्धरण मिलते हैं वे पाणिनि के तत्तद् पाठो से समानता रखते हैं। आपिशलि शिक्षा और पाठो से समानता रखते हैं। आपिशलि शिक्षा और पाणिनि शिक्षा के भी सूत्र बहुत सदृश है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि ये पूर्वपाणिनीय युग के बहुत ही प्रसिद्ध वैयाकरण थे। इनकी शिक्षा प्रकाशित है।

आपिशलि व्याकरण के कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त यहाँ सक्षेप मे दिए जाते हैं—

(१) लृकार दीर्घ

आपिशलि व्याकरण मे ऋकार के समान लृकार को भी दीर्घ माना गया है जो पाणिनि व्याकरण के सर्वथा प्रतिकूल है।

(२) वर्णों की परिभाषा

आपिशलि ने वर्णों की परिभाषा की थी, उनके व्याकरण मे पवर्गीय 'ब' और 'व' कार का भेद दिखाया गया है।

(३) विकार आदि की परिभाषा

आपिशलि ने आगम, आदेश, विकार और लोप की परिभाषाएँ बतायी थी। पाणिनि के 'स्थानिवदादेश' मे 'आदेश' शब्द से लोप और विकार का भी ग्रहण होता है।

(४) सज्ञा

आपिशल व्याकरण मे पदसज्ञा विधायक 'विभक्त्यन्तं पदम्' सूत्र था। व्याकरणेतर ग्रथो मे वैसे वचन मिलते हैं।

(५) कारक

आपिशल व्याकरण का चतुर्थी विभक्ति विधायक सूत्र है—"मन्यकर्मण्यनादर उपमाने विभाषाऽप्राणिषु"। पाणिनि का भी ऐसा ही सूत्र है जिसमे उपमाने पद नही है। विशेष इतना ही है कि पाणिनीय सूत्र के अनुसार उपमान से अधिक तिरस्कार बताने के लिए वाक्य मे नञ् का प्रयोग करना पडता है—"न त्वा तृणाय मन्ये"। आपिशल व्याकरण के अनुसार सूत्र मे 'उपमाने' पद होने के कारण उसका प्रयोग अनपेक्षित है, जिससे "तृणाय मत्वा रघुनन्दनोऽपि" यह भट्टि प्रयोग उपपन्न होता है।

(६) तद्धित

(१) ४।२।४५ सूत्र के महाभाष्य से ज्ञात होता है कि समूहार्थक तद्धित-प्रकरण मे आपिशल व्याकरण मे 'तदन्तविधि' होती थी। यह मत पाणिनि के द्वारा भी स्वीकृत है, जिसे पतञ्जलि ने उचित बताया है।

(२) आपिशल व्याकरण मे 'सायन्तनम' 'प्राह्णेतनम्' प्रयोगो की सिद्धि के लिए मकारादेश और एत्व पृथक् सूत्र से विहित है, जिसे पाणिनि ने प्रत्यय-विधायक सूत्र मे ही निपातन किया है।

(३) आपिशल व्याकरण मे 'न्यङ्कु' शब्द से तद्धित-प्रत्यय करने पर एजागम का निषेध था—"न्याङ्कव चर्म"। पाणिनि के अनुसार "नैयङ्कवम्" होता है। ये दोनों प्रयोग काल-भेद से साधु है, इस विषय की चर्चा वाक्यपदीय के टीकाकार वृषभदेव ने की है।

(४) आपिशलि और काशकृत्स्नि का सयुक्त मत तद्धित मे मिलता है। "शताच्च ठन्यतावशते" यह पाणिनि-सूत्र है, उन दोनो व्याकरणो मे "अशते" के स्थान पर "अग्रथे" पाठ था। इस पाठ के अनुसार "शत्य शतिको वा गोसघ" इत्यादि अपाणिनीय प्रयोग बनते हैं। ऐसे प्रयोगो को कैयट आदि वैयाकरण टीकाकार

एकमत से असाधु मानते हैं। वस्तुत पूर्वोक्त वृषभदेवीय कथनानुसार उन-उन शब्दों की देश काल-भेद से साधुता माननी चाहिए।

आपिशल और काशकृत्स्न व्याकरण मे वतिप्रत्यय-विधायक "तदर्हम्" सूत्र नही था। भर्तृहरि और कैयट ने एक ही वस्तु को अवस्था भेद से उपमा और उपमेय मानकर उक्त मत की पुष्टि की है। वास्तव मे "तदर्हम्" सूत्र पढने वाले पाणिनि और उक्त सूत्र का भाष्य उक्त मत के प्रतिकूल हैं।

(७) तिङन्त-पद-साधन-प्रक्रिया

आपिशल व्याकरण मे पाणिनि के समान आत्मनेपद, परस्मैपद और उभयपद की व्यवस्था देखी जाती है।

आपिशल व्याकरण मे पाणिनीय 'अस्' धातु 'स्' धातु था। अस्ति, आसीत् आदि प्रयोग अट् और आट् आगम से सिद्ध होते थे। काशिका के उदाहरण (१।३।२२) और उसकी टीका (न्यास तथा पदमञ्जरी) मे स्पष्ट है।

भवति, सेधति आदि प्रयोगो मे एक ही सूत्र से इगुपध और इगन्त धातुओ के गुण विधान की उच्छृङ्खल व्यवस्था आपिशलि ने की थी।

कुछ प्रयोग (तवाति, रवीति, स्तवीति, इत्यादि) आपिशल व्याकरण मे केवल छान्दस माने गये हैं, परन्तु ये प्रयोग पाणिनीय व्याकरण के अनुसार लोक मे भी प्रयोगार्ह हैं।

(२) काश्यप—पाणिनि ने अष्टाध्यायी के दो सूत्रो मे काश्यप का मत उद्धृत किया है। (अष्टा० १।२।२२ तथा ८।४।६७)। यजुर्वेद प्रातिशाख्य मे (४।५) शाकटायन के साथ इनका उल्लेख मिलता है। इनके व्याकरण का कोई भी सूत्र उपलब्ध नही होता। काश्यप के मत का उल्लेख व्याकरण से भिन्न ग्रन्थो मे भी मिलता है। जिससे इनके व्यापक पाण्डित्य का परिचय मिलता है।

(३) गार्ग्य—अड् गार्ग्यगालवयो (अष्टा० ७।३।९९), ओतो गार्ग्यस्य (८।३।२०), नोदात्तस्वरितोदयम् अगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् ८।४।६७) सूत्रो मे गार्ग्य के मत मिलते हैं।

सब नाम आख्यातज नही है—यह गार्ग्य का मत था। ऐसा यास्क ने कहा है (निरुक्त १।२)। गार्ग्य का कोई पदपाठ था, यह निरुक्त ४।३, ४।४ की दुर्ग स्कन्द-टीका से ज्ञात होता है। वाज० प्रति० ४।१७७ के उवटभाष्य मे गार्ग्यकृत पदपाठ की एक शैली कही गयी है—अलोप इति गार्ग्यस्य अर्थात् गार्ग्यकृत पदपाठ मे पुनरुक्त पदो का लोप नही होता था। यह नियम गार्ग्यकृत सामवेदीय पदपाठ मे घटता है।

गार्ग्य सामतन्त्र का प्रवक्ता था—यह अक्षरतन्त्र की भूमिका मे श्री सत्यव्रतसामश्रमी ने लिखा है।

(४) **गालव**—पाणिनि में इनके नाम का उल्लेख चार स्थलों पर मिलता है। अष्टाध्यायी के उल्लेखों से ये पाणिनि से प्राचीन सिद्ध होते हैं। पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति (६।१।७७) में इनके एक मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार लोक में दध्यत्र के स्थान पर 'दधियत्र' और मध्वत्र के स्थान पर 'मधुवत्र' भी ठीक है। निरुक्त ४।३, बृहद्देवता १।२४, ५।३९, ६।४३, तथा ७।३८ में भी गालव के मत मिलते हैं।

(५) **चाक्रवर्मण** - इनका नाम अष्टाध्यायी (६।१।१३०) और उणादि सूत्रों (३।१४४) में मिलता है। इनके व्याकरण का कोई सूत्र अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इनके एक विशिष्ट मत का उल्लेख 'शब्दकौस्तुभ' में किया गया है—यत्तु **कश्चिदाह चाक्रवर्मण व्याकरणे द्वयशब्दस्यापि सर्वनामताभ्युपगमात्** (शब्दकौस्तुभ १।१।२७)। इनके मत में 'द्वय' शब्द सर्वनाम होता है। इसके अनुसार प्रयोग भी मिलता है –द्वयषाम् (शिशुप.लवध १२।१३)।

(६) **भारद्वाज**—इनका उल्लेख अष्टाध्यायी में केवल एक स्थान पर (७।२ ६३) मिलता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा मैत्रायणीय प्रातिशाख्य में इनके व्याकरण-विषयक मत का उल्लेख मिलता है। इन उल्लेखों के अतिरिक्त इनके व्याकरण ग्रन्थ के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

(७) **शाकटायन**—अष्टाध्यायी में इनके मत का उल्लेख तीन बार मिलता है (३।४।१११, ८।३।१८, ८।४।५०)। प्रातिशाख्यों में तथा निरुक्त में भी इनके मत उद्धृत हैं। शाकटायन प्राचीन युग के एक बड़े मान्य वैयाकरण थे। इसीलिये काशिकाकार का कहना है कि सब वैयाकरण शाकटायन से हीन हैं (**अनुशाकटायनं वैयाकरणाः**)। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि ये समस्त शब्दों को धातुओं से उत्पन्न मानते थे। अष्टाध्यायी के अनुसार सब शब्द धातुज नहीं हैं। बहुत से शब्दों की उत्पत्ति नहीं दिखलाई जा सकती। परन्तु शाकटायन ने सब शब्दों को धातुज मानकर प्राचीन काल में अच्छी प्रसिद्धि पाई थी।[1] इनका व्याकरण उपलब्ध नहीं है। अतएव उसके रूप तथा प्रमाण का परिचय नहीं मिलता। शब्दों की व्युत्पत्ति देने में उनकी एक विशेषता है। उन्होंने एक पद की सिद्धि अनेक धातुओं से की थी और कई पदों की सिद्धि एक धातु से। ऐसी व्युत्पत्ति ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है। आजकल को ऐसी प्रसिद्धि है कि प्रचलित उणादि सूत्र शाकटायन कृत हैं (३।३ १ पर उद्योत)। श्वेतवनवासी ने लिखा है—**शाकटायनादिभि. पञ्चपादी विरचिता** (उणादि वृत्ति का आरम्भ)। 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति'

---

१ *तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो निरुक्तसमयश्च*—निरुक्त (१।१२)।
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्—महाभाष्य।

इस प्रख्यात व्याकरण मत से विरुद्ध शाकटायन शब्दों की 'त्रयी प्रवृत्ति' मानते हैं। उनकी दृष्टि में जाति शब्द, गुण शब्द तथा क्रिया शब्द ही होते हैं, यदृच्छा शब्द नहीं। यह परिचय हमें न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धि के एक कथन से चलता है। (३।३।१ सूत्र पर न्यास)।

(८) **शाकल्य**—अष्टाध्यायी में इनका मत चार बार उद्धृत हैं तथा शौनक और कात्यायन ने भी अपने प्रातिशाख्यों में इनके मत का उल्लेख किया है। इनके व्याकरण में लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का प्रवचन किया गया प्रतीत होता है। वैयाकरण शाकल्य ऋग्वेद के पदपाठकार शाकल्य से अभिन्न ही है, क्योंकि पदपाठ में व्यवहृत कई नियम अष्टाध्यायी में शाकल्य नाम से स्मृत हुए हैं। शाकल्यकृत पदपाठ का स्मरण यास्क ने भी किया है (निरुक्त ६।२८)। कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में 'शाकल्य व्याकरण' के नाम उपलब्ध होने से उस युग में इसकी सत्ता अनुमेय है।

(९) **सेनक**—अष्टाध्यायी में केवल एक स्थल पर (५।४।११) इनका नाम मिलता है। इसके अतिरिक्त हम इनके विषय में नहीं जानते हैं।

(१०) **स्फोटायन**—इनका नाम अष्टाध्यायी (६।१।१२३) एक ही स्थल पर उद्धृत करती है। हरदत्त की पदमंजरी (६।१।१२३) से पता चलता है कि ये स्फोट सिद्धान्त के प्रवक्ता आचार्य थे[1]। स्फोट के प्रतिपादन में ही इनका नाम स्फोटायन पड़ा था। यदि हरदत्त की यह व्याख्या ठीक है तो निश्चय ही स्फोटायन स्फोटतत्त्व का प्रथम आविष्कारक था। वैयाकरणों का स्फोटवाद तो प्राण है। यह बहुत ही प्राचीन सिद्धान्त है। न्याय और मीमांसा दोनों इस वाद का खण्डन करते हैं।

इन आचार्यों के अतिरिक्त अन्य व्याकरण प्रवक्ता आचार्य प्राचीन काल में हो गये हैं जिनका नाम्ना उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में नहीं किया गया है। ऐसे आचार्यों में मुख्य आचार्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(क) इन्द्र

इन्द्र व्याकरणशास्त्र के प्रथम प्रवक्ता थे, इसका परिचय हमें तैत्तिरीय संहिता से चलता है। इस संहिता के अनुसार (६।४।७) देवों का प्रार्थना करने पर देवराज इन्द्र ने सर्वप्रथम व्याकरण की रचना की। इससे पूर्व संस्कृत भाषा अव्याकृत थी

---

१ स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायनः। स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः। पदमञ्जरी में 'स्फौटायन' पाठ का भी निर्देश है, परन्तु हेमचन्द्र तथा नानार्थार्णव संक्षेप के कर्ता केशव ने 'स्फोटायने तु कक्षीवान्' कहकर स्फोटायन नाम को ही यथार्थ माना है।

अर्थात् व्याकरण-सम्बन्ध से रहित थी। इन्द्र के उद्योग से प्रकृति तथा प्रत्यय के विभाग की प्रथम कल्पना का उदय हुआ। ऐन्द्र व्याकरण तो इस समय उपलब्ध नहीं है, परन्तु इसका उल्लेख अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। वोपदेव ने 'कविकल्पद्रुम'के आरम्भ में जिन आठ व्याकरण प्रवक्ता आचार्यों के नामों का निर्देश किया है उनमें इन्द्र का उल्लेख सर्वप्रथम है[1]। कथासरित्सागर के अनुसार तो ऐन्द्र व्याकरण प्राचीनकाल में ही नष्ट हो चुका था, परन्तु परिमाण में यह बहुत ही विस्तृत था। महाभारत के टीकाकार देवबोध ने पाणिनि की अपेक्षा महेन्द्र व्याकरण के परिमाण को बहुत ही अधिक तथा विशाल बतलाया है[2]। इन्द्र व्याकरण के केवल दो ही सूत्र मिलते हैं जो वर्तमान कातन्त्र व्याकरण में नहीं मिलते। अतः कातन्त्र व्याकरण को ऐन्द्र व्याकरण का वर्तमान प्रतिनिधि मानना नितान्त युक्तिरहित है। कातन्त्र पाणिनि-तन्त्र की अपेक्षा चतुर्थांश से भी कम है। ऐसी दशा में वह ऐन्द्र व्याकरण का, जो पाणिनि से विशालतर था, प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता।

वैदिक साहित्य की नियत प्रसिद्धि है कि इन्द्र ने बृहस्पति आचार्य से शब्दशास्त्र का अध्ययन किया था (बृहस्पतिरिन्द्राय शब्दपारायणं प्रोवाच—महाभाष्य) यह 'शब्दपारायण' ग्रन्थ विशेष का नाम है—भर्तृहरि ने ऐसा लिखा है। निश्चित ही 'इन्द्र' नामक किसी आचार्य के द्वारा शब्दशास्त्रविषयक ग्रन्थ वैदिक काल में रचा गया होगा। उस शास्त्र के नष्ट हो जाने पर प्रसिद्धि का अवलम्बन कर ऐन्द्र-व्याकरण सम्बन्धी मान्यताओं का अस्तित्व परम्परा में पिछले ग्रन्थों में बना रहा। फलतः वोपदेव ने 'कविकल्पद्रुम' के मंगलाचरण में आदिम वैयाकरणों में इन्द्र की गणना की है तथा 'लंकावतार सूत्र' जैसे प्राचीन महायानी बौद्ध ग्रन्थ में भी इन्द्ररचित शब्दशास्त्र का संकेत मिलता है। 'इन्द्र' नामक वैयाकरण का मत जैन शाकटायन व्याकरण (१।२।३७) में मिलता है—'जराया डस् इन्द्रस्याचि'। भट्टारक हरिश्चन्द्र की चरक व्याख्या में 'अथ वर्णसमूहः इति ऐन्द्र व्याकरणस्य' यह वाक्य उपलब्ध होता है। दुर्गाचार्य भी 'अर्थः पदम् ऐन्द्राणाम्' कहकर इसकी सत्ता की ओर संकेत करते हैं। (निरुक्त वृत्ति पृ० १०, पंक्ति ११)। ये ही दो सूत्र उपलब्ध होते हैं। तमिल व्याकरण की रचना ऐन्द्र व्याकरण के आधार पर हुई है—ऐसा भाषाविदों का मत है। डाक्टर बर्नेल का तमिल के सर्वप्राचीन व्याकरण 'तोलकप्पियम्' में ऐन्द्र

---

1 इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

2. यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥—महाभारत टीका

व्याकरण के चिह्न उपलब्ध होते हैं। कवीन्द्राचार्य की सूची मे 'ऐन्द्र व्याकरण' नामक ग्रन्थ के हस्तलेख का निर्देश है, परन्तु यह किसी नूतन ग्रन्थ का सकेत माना जा सकता है, क्योंकि कथासरित्सागर (तरग ४ श्लोक २४ २५) के अनुमार यह तो प्राचीनकाल मे ही नष्ट हो गया था। अत १७वी शती मे उसके उल्लेख की सम्भावना बहुत ही कम है।

(ख) काशकृत्स्न

इनके ग्रन्थ तथा सूत्रो का उल्लेख अनेक व्याकरणग्रन्थों मे मिलता है। वोपदेव ने अष्ट वैयाकरणो मे इनका भी नाम गिनाया है। काशिका (५।१।५८) मे उदाहरण दिया गया है—त्रिक काशकृत्स्नम्। प्रसग से प्रतीत होता है कि यहाँ इनके वैयाकरण ग्रन्थ के परिमाण का सकेत है जो तीन अध्यायो मे विभक्त प्रतीत होता है। काशिका के एक दूसरे उदाहरण मे इस ग्रन्थ की एक विशिष्टता का भी परिचय चलता है। काशिका (४।३।११५) का उदाहरण है—काशकृत्स्न गुरुलाघवम् जिससे प्रतीत होता है कि सूत्ररचना मे गुरु लाघव का विचार काशकृत्स्न ने सबसे पहिले चलाया था। इनके अनेक सूत्र भी उपलब्ध होते हैं। पाणिनीय धातुपाठ के व्याख्याता क्षीरस्वामी ने काशकृत्स्न के एक विशिष्ट मत का उल्लेख किया है कि श्वस् धातु को निष्ठा मे वे अनिट् मानते हैं। अत काशकृत्स्न के द्वारा 'आश्वस्त' तथा विश्वस्त' रूप सिद्ध होते हैं। धातुवृत्ति के कर्ता सायण ने भी काश्यप नामक किसी वैयाकरण के द्वारा निर्दिष्ट काशकृत्स्न मत का उल्लख किया है (धातुवृत्ति पृ० २६४)। कैयट (प्रदीप ५।१।२१) के अनुसार पाणिनि के 'शत च ठन् यतावशते (५।१।२१) के स्थान पर काशकृत्स्न का सूत्र था—'शताच्च ठन् यतावप्रन्ये'। इसी प्रकार भर्तृहरि ने प्रकीर्ण काण्ड मे लिखा है—'तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे'। इस कारिकाश की व्याख्या मे हेलाराज व्याकरणान्तर के द्वारा आपिशल तथा काशकृत्स्न की ओर सकेत मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आपिशलि तथा काशकृत्स्न दोनों वैयाकरण पाणिनि का 'तदर्हम्' (५।१।११७) सूत्र स्वीकार नही करते थे। उनके सम्प्रदायानुगत व्याकरण मे यह सूत्र नही था। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के आगमकाण्ड की स्वोपज्ञवृत्ति में दो सूत्र उद्धृत किया है—(१) धातु साधन दिशि······। (२) निङ्ग्निमिति······। वृषभदेव ने अपनी विवृति मे इन दोनो सूत्रो को काशकृत्स्न का बतलाया है। फलत काशकृत्स्न का व्याकरणपरक कोई ग्रन्थ अवश्य था जिसकी सूचना महाभाष्य मे मिलती है—यही हमारी पूर्व जानकारी थी।

यह हर्ष का विषय है कि चन्नवीर कवि द्वारा निर्मित काशकृत्स्न धातुपाठ का व्याख्यान कन्नड भाषा मे प्रकाशित हुआ है जिसका सस्कृत अनुवाद भी युधिष्ठिर

मीमांसकों ने बड़े परिश्रम से प्रकाशित किया है[1]। धातुपाठ की सत्ता सूत्रों की सत्ता की निदर्शिका है। इस धातुपाठ के कई वैशिष्ट्य ध्यान देने योग्य हैं—(क) दश गणों के स्थान पर यहाँ केवल नव गण ही हैं। जुहोत्यादि का अन्तर्भाव अदादि गण में किया गया है। (ख) पाणिनीय धातुपाठ में यहाँ लगभग आठ सौ धातु अधिक हैं तथा पाणिनीय धातुपाठ के लगभग ३५० धातु ऐसे हैं जो यहाँ नहीं हैं। फलत काशकृत्स्न धातुपाठ म पाणिनि की अपेक्षा लगभग साढ़े चार सौ धातु अधिक हैं और वे मुख्यरूपेण भ्वादिगण में हैं। अन्य गणों के धातु दोनों म प्राय बराबर ही हैं। (ग) लोक तथा वेद मे प्रख्यात परन्तु पाणिनितन्त्र मे अज्ञात, बहुत से धातु काशकृत्स्न द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं। 'अथर्व' शब्द की साधिका हिंसार्थक थर्व् धातु तथा हिन्दी भाषा में उपलब्ध ढुंढि (ढुण्ड) धातु की उपलब्धि इसी तथ्य की समर्थिका है।

इसी धातुपाठ विवरण में चन्नवीर कवि ने काशकृत्स्न के मूल सूत्रों को निर्दिष्ट किया है। भर्तृहरि ने दो सूत्रों, कैयट ने भी दो सूत्रों को, क्षीरस्वामी ने एक विशिष्ट सूत्र को तथा चन्नवीर कवि ने लगभग १३५ सूत्र तथा सूत्रांशों को उद्धृत किया है। प्रकाशित संस्करण में सब मिलाकर १४२ सूत्र हैं। इस व्याकरण के कुछ अंश श्लोकबद्ध थे—यह प्राप्त उदाहरणों से जाना जाता है।

पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी म निर्दिष्ट न होनेपर भी काशकृत्स्न को पाणिनि से पूर्वकालीन मानना ही उचित प्रतीत होता है। महाभाष्य के पस्पशाह्निक म पतञ्जलि ने तीन व्याकरणों का उल्लेख किया है—**पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् आपिशलं काशकृत्स्नमिति।** बहुत सम्भव है इस नामनिर्देश में प्राचीनता की दृष्टि कार्यशील है। पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं आपिशलि (अष्टाध्यायी में निर्दिष्ट) और आपिशलि से प्राक्-कालीन हैं काशकृत्स्न। फलत काशकृत्स्न का पाणिनि से पूर्वकालीन वैयाकरण मानना यथार्थ प्रतीत होता है[2]।

(ग) पौष्करसादि—इनका मत **'चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेः'** (८।४।४८) सूत्रीय वार्तिक वाक्य में मिलता है। तैत्ति० प्राति० ३।१६, ५।३७, ५।३८, १४।२, १७।८ और मैत्रा० प्राति० ५।३८, ५।४० आदि में पौष्करसादि आचार्य के मत स्मृत हुए हैं।

पौष्करसादि कृष्णयजुर्वेदीय शाखाविशेष के प्रवक्ता हैं (द्र० तै० प्राति० ५।४० माहिषेय भाष्य)। सम्भवत इस शाखा के प्रयोग में पूर्वोक्त नियम अनिवार्य होंगे।

१ युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित 'काशकृत्स्न धातु-व्याख्यानम्' प्रकाशक — भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, २०२२ वि० सं०।

२ विशेष के लिए द्रष्टव्य श्री युधिष्ठिर मीमांसा की संस्कृत भूमिका पृष्ठ १-३०। प्रकाशन वही।

(घ) भागुरि—भागुरि के विशिष्ट मत का परिचय अनेक व्याकरण ग्रन्थों मे मिलता है। उन्हें अव तथा अपि उपसर्गों के आदिम वर्ण का लोप (जैसे अवधान= वधान, अपिधान = पिधान) तथा हलन्त स्त्रीलिंग शब्दों का आकारान्त होना अभीष्ट था (जैसे वाक् = वाचा, दिक् = दिशा)।

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आप चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥
—न्यास ।२।३७ मे उद्धृत।

जगदीश तर्कालंकार ने अपनी 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' मे भागुरि के नाम से अनेक पद्यो को उद्धृत किया है जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि भागुरि का व्याकरण सम्भवत सूत्रबद्ध न होकर छन्दोबद्ध था।

वष्टि भागुरिरल्लोपम् इत्यादि पूर्वोक्त प्रसिद्धकारिका मे इनका मत उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त **'नम्रेति भागुरि'** (भाषावृत्ति ४।१।१० मे उद्धृत) **'हन्तेः कर्मण्युपष्टम्भात् प्राप्तुमर्थे तु गम्यमीम्। चतुर्थी बाधिकामाहुश्चूर्णिभागुरि-वाग्भटाः'**॥ (शब्दशक्ति प्रकाशिका मे उद्धृत) आदि कुछ वाक्यो मे भी इन आचार्य का मत मिलता है। नामधातु से सबद्ध इनके कुछ मत शब्दशक्ति प्रकाशिका मे मिलते हैं तथैव कारकों के बलाबल का निर्णायक 'अपादान सम्प्रदान ......' कारिका भी भागुरि कृत है ऐसा भाष्यव्याख्या प्रपञ्च मे कहा गया है।

भागुरि का यह व्याकरण अप्राप्य है, इसके हस्तलेख भी अज्ञात हैं। भागुरि कृत किसी कोशविशेष के वचन धातुवृत्ति आदि अनेक ग्रन्थो मे उद्धृत मिलते हैं। कृत कोश का नाम त्रिकाण्ड' था (द्र० भाषावृत्ति और उसकी टीका अर्थविवृत्ति ४।४।१४३)। सम्भवत भागुरि के ग्रन्थ म व्याकरणीय पदार्थों पर विचार भी किया गया था। **धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्** । श्लोक भागुरि कृत है, ऐसा राम तर्कवागीश ने कहा है (मुग्धबोध २८२ प्रमोदजननी टीका)।

(ङ) माध्यन्दिनि—काशिका ने ७।१।९४ सूत्र की व्याख्या म एक श्लोकबद्ध वार्तिक उद्धृत किया है जिसमे आचार्य के मत का उल्लेख मिलता है। वह श्लोकवार्तिक इस प्रकार है—

सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूप सान्त तथा नान्तमथाप्यदन्तम्।
माध्यन्दिनिर्वष्टि, गुण त्विगन्ते नपुसके व्याघ्रपदा वरिष्ठ ॥

माध्यन्दिनि आचार्य के मत मे 'उशनस्' शब्द की सम्बुद्धि मे तीन रूप होते हैं—सात हे उशन, नान्त—हे उशनन् तथा अदन्त—हे उशन। यही एकमात्र उल्लेख मिलता है। **'माध्यन्दिनी शिक्षा'** मुद्रित हो चुकी है, परन्तु इनका व्याकरण ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य है।

(च) वैयाघ्रपद्य—इनके दशाध्यायी व्याकरण ग्रन्थ का उल्लेख 'काशिका' में दो बार मिलता है। ५।१।५८ की व्याख्या में **'दशक वैयाघ्रपदीयम्'** उदाहरण मिलता है जिसकी काशिकाकृत व्याख्या है—दश अध्याय वाला व्याकरण ग्रन्थ। फलत पाणिनि की अष्टाध्यायी से इसमें दो अध्याय अधिक थे। ४।२।६५ में इसके अध्येता **'दशका वैयाघ्रपदीयाः'** कहे गये हैं। ७।१।८४ की काशिका में उद्धृत 'श्लोक वार्तिक' बतलाता है कि इगन्त नपुंसक शब्द की सम्बुद्धि में निश्चितरूपेण गुण होता है—यथा हे त्रपो (पदमंजरी का उदाहरण)।

दुःख है कि इतना बड़ा व्याकरण अप्राप्य है और इसके हस्तलेख भी नहीं मिलते।

पाणिनि तथा पूर्वाचार्य[1]

पाणिनि ने अपने सूत्रों में पूर्वाचार्यों का व्यक्तिश उल्लेख किया है और कहीं कहीं सामूहिक रूप से उल्लेख किया है। इस उल्लेख का तात्पर्य क्या है? किस अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर महर्षि ने यह निर्देश किया है? इस प्रश्न के उत्तर में पाणिनि के टीकाकारों में ऐकमत नहीं है। अधिकांश टीकाकारों की सम्मति है कि आचार्य का ग्रहण विभाषा के लिए है अर्थात् जिन शब्दसिद्धि के विषय में किसी आचार्य का नाम दिया गया है, वह विधि वैकल्पिक होती है (आचार्यग्रहण विभाषार्थम्)। परन्तु इतना ही तात्पर्य मानना उचित नहीं प्रतीत होता। यदि विकल्प ही महर्षि का अभीष्ट होता, तो उस अर्थ की सिद्धि वा, विभाषा तथा अन्यतरस्याम् आदि शब्दों के योग से की जा सकती थी। अन्य विप्रपत्ति भी है। विभाषा से कार्य करने वाले सूत्रों के अन्तर्गत आचार्य नाम घटित सूत्रों के सन्निवेश का तात्पर्य ही क्या है? प्रसंगवशात् ही विकल्प की सिद्धि निष्पन्न थी, तब आचार्यों के नामघटित सूत्रों का उपयोग ही क्या? अङ् गार्ग्यगालवयो (७।३।९९) सूत्र में दो आचार्यों के नाम का स्वारस्य क्या है? विकल्प विधि के निष्पादन के लिए तो एक ही आचार्य का नाम पर्याप्त था। तब दो आचार्यों के नाम का निर्देश किंमूलक है? ८।८।६७ में गार्ग्य, काश्यप तथा गालव इन तीनों आचार्यों का नाम निर्दिष्ट है। साम्प्रदायिक व्याख्या का अनुसरण ऐसे स्थलों पर विशेष लाभदायक नहीं हो सकता।

आचार्यघटक सूत्रों की वैज्ञानिक व्याख्या करने में यही प्रतीत होता है कि महर्षि पाणिनि ने उन आचार्यों के विशिष्ट मतों के निर्देश के ही उद्देश्य से उनका नामोल्लेख किया है। उनका वह निजी मत नहीं था। परन्तु उससे पूर्ववर्ती मान्य आचार्यों का अभिमत कुछ दूसरा ही था—इसी तथ्य की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने ऐसा किया है।

---

१ इस विषय में द्रष्टव्य श्री सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी का सुनिश्चित लेख—नागपुर यूनवर्सिटी जर्नल सं० ७, दिसम्बर १९४१, [पृष्ठ ४९-५३]।

कभी कभी वही मत दो आचार्यों का था, वहाँ दोनों के नाम उल्लिखित हैं। कभी कभी तीन आचार्य एक ही तथ्य को मानते थे, वहाँ उन तीनों का उल्लेख है। यह मतभेद प्रकट करने की एक निश्चित शैली थी। जहाँ तीन आचार्य अधिक आचार्यों के साथ पाणिनि का मतभेद था वहाँ 'आचार्याणाम्' पद दिया गया है। व्याकरणतन्त्र के व्याख्याकारों की सम्मति है कि इस शब्द के द्वारा पाणिनि अपने आदरणीय गुरु का निर्देश करते हैं और आदरार्थ बहुवचन में शब्द का प्रयोग करते हैं। कम महत्त्वशाली साधारण वैयाकरणों का निर्देश 'एकेषाम्' पद के द्वारा किया गया है (८।३।१०४)। किसी तथ्य की स्वीकृति समस्त वैयाकरणों के द्वारा अभीष्ट है तब पाणिनि 'सर्वेषाम्' पद का प्रयोग करते हैं। पाणिनि के युग में संस्कृत भाषा की पृथक् अनेक बोलियाँ थीं। इन बोलियों के पारस्परिक विभेद की सूचना देने के लिए 'प्राचाम्' तथा 'उदीचाम्' पदों का व्यवहार किया गया है। 'प्राचाम्' से अभिप्राय पूर्वदेशीय वैयाकरणों से है तो 'उदीचाम्' पद से उत्तरदेशीय वैयाकरणों का संकेत है। प्राग्देश तथा उदीच्यदेश की विभाग सीमा का पता काशिका ने इस पद्य में दिया है। बहुत सम्भव है यह पद्य प्राचीन हो तथा पाणिनिकालीन क्षेत्र विभाग का संकेतक हो। श्लोक यह है—

प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती॥
(१।१।७५ की काशिका)

शरावती नदी ही प्राच्य तथा उदीच्य देशों की विभाजक मानी गयी है[1]। यह नदी सरस्वती तथा यमुना के पास ही बहने वाली मानी जाती है। शालातुरीय पाणिनि स्वयं उदीच्य थे। ब्राह्मणों के काल में उदग्देश ही संस्कृत भाषा की विशुद्धि के निमित्त नितान्त प्रख्यात था। इतर प्रान्तों के लोग टकसाली संस्कृत सीखने के लिए इस देश में ही जाया करते थे। शाङ्खायन ब्राह्मण (८।६) की यह उक्ति इस प्रसंग में ध्यातव्य है—

उदञ्च एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्।
यो वै तत आगच्छति तं शुश्रूषन्त।

पाणिनि के भाषाज्ञान का यह डिंडिमघोष है कि वे भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर प्रदेश के मुख्य नगर तक्षशिला के समीपस्थ शालातुर के निवासी होकर भी प्राच्य लोगों में

१ शरावती के विषय में पदमञ्जरी में हरदत्त का अभिप्राय—शरावती नाम नदी उत्तरपूर्वाभिमुखी। तस्या दक्षिणपूर्वस्यां व्यवस्थितो देशः प्राग्देशः। उत्तरपश्चिमादुदग्देशः। तौ शरावती विभजते। १।१।७५ पर पदमञ्जरी।

प्रचलित संस्कृत शब्दों से पूर्ण परिचय रखते थे और उनके निर्देश करने में उन्होंने कहीं त्रुटि नहीं की।

इन विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत शब्दों का निर्देश संक्षेप में यहाँ दिया जाता है—

आचार्य

(१) ७।३।४६ सूत्र के अनुसार 'खट्वाका' (अज्ञात खटिया) रूप सिद्ध होगा, जब पाणिनि के मतानुसार 'खट्विका' अथवा 'खट्वका' रूप होना चाहिए।

(२) ८।४।५२ सूत्रानुसार दात्तम्' होगा, पाणिनि मत में दात्त्रम् रूप होगा (काटने वाला औजार, हँसुआ)।

आपिशलि

६।१।९२ सूत्र के अनुसार 'उप + ऋकारीयति' के सन्धि होने पर 'उपार्षभीयति' तथा 'उपर्षभीयति' दो रूप होंगे। पाणिनि के अनुसार पहिला रूप ही बनता है।

उपदीचाम्

(१) ३।४।१९ सूत्र के अनुसार 'अपमित्य याचते' बनता है जब पाणिनि के अनुसार याचित्वा अपमयते' होना है। इस वाक्य का अर्थ है याचना करने के बाद वह अदल बदल करता है।

(२) ४।१।१३० 'गोधाया अपत्यम्' इस अर्थ में गौधार पद निष्पन्न होगा। पाणिनि के अनुसार 'गौधेर' होता है।

(३) ४।१।१५७ आम्रगुप्त के अपत्य अर्थ में 'आम्रगुप्तायनि' शब्द बनता है। पाणिनि मत में 'आम्रगुप्ति'।

(४) ६।३।३२ के अनुसार माता और पिता के द्वन्द्व समास होने पर 'मातरपितरौ' होगा पाणिनि मत में 'मातापितरौ' तथा 'पितरौ'।

(५) ७।३।४६ के अनुसार 'क्षत्रियिका', पाणिनि के मत में 'क्षत्रियका' (क्षत्रिय स्त्री)।

(६) ४।१।१५३ के अनुसार 'कारिषेणि' लाक्षणि तथा कौम्भकारि रूप सिद्ध होते हैं। पाणिनि के मत में कारिषेण्य, लाक्षण्य तथा कौम्भकार्य बनता है।

एकेषाम्

८।३।१०४ सूत्रानुसार 'अग्निभिस्त्व' पद बनता है। पाणिनि के अनुसार 'अग्निभिस्त्व' ही (इस शब्द का अर्थ है– यजुर्वेद का गद्यात्मक मन्त्र)।

काश्यप

(१) १।२।२५ के अनुसार √तृप्, √मृप् तथा √कृप् धातुओं से क्त्वा प्रत्यय होने पर दो रूप बनते हैं—तृपित्वा तथा तर्पित्वा आदि। पाणिनिमतानुसार केवल द्वितीय रूप ही उचित है।

(२) ८।४।६७ सूत्र के अनुसार काश्यप के मत मे उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित मे बदल जाता है, परन्तु पाणिनि मत मे यह परिवर्तन तभी होता है जब अनुदात्त के आगे उदात्त अथवा स्वरित नहीं होता। गार्ग्य तथा गालव आचार्य काश्यप का मत मानते हैं।

गार्ग्य

(१) ७।३।९९ सूत्रानुसार रुद् धातु के लुङ् लकार के अरोदत् होगा। पाणिनि मत मे होगा अरोदीत्।

(२) ८।३।२० के अनुसार भोस + अत्र की सन्धि मे 'भो अत्र' होगा। पाणिनि मत मे 'भोयत्र'। शाकल्य गार्ग्य के ही मत मानते हैं (८।३।१९), परन्तु शाकटायन मत मे 'भोयत्र' मे यकार का लघुतर उच्चारण होता है।

(३) ८।४।६७–काश्यप का ही मत अभीष्ट है।

गालव

(१) ६।३।६१ के अनुसार 'ग्रामणीपुत्र' के स्थान पर 'ग्रामणिपुत्र' बनता है। प्रथम शब्द पाणिनि मत मे निष्पन्न।

(२) ७।१।७४ के अनुसार ब्राह्मणकुलेन का विशेषण ग्रामण्या, ग्रामण्ये आदि बनता है। पाणिनि मत मे ग्रामणिना, ग्रामणये आदि सिद्ध होते हैं।

(३) ७।३।९९ अरोदत् गार्ग्य के समान। पाणिनि अरोदीत्।

(४) ८।४।६७ काश्यप तथा गार्ग्य का मत अभीष्ट।

चाक्रवर्मण

६।१।१३० सूत्रानुसार—'अस्तु हीत्यब्रवीत्' वाक्य मे प्लुत का अभाव होता है। पाणिनि मत मे प्लुत होता है—'अस्तु ही ३ इत्यब्रवीत्'।

प्राचाम्

(१) ३।४।१८ के अनुसार 'अल रुदित्वा' (मत रोओ), पाणिनि मत मे 'अलं रोदनेन' या 'मा रोदी'।

(२) ४।१।१७ गार्ग्यायणी, पाणिनि मत मे 'गार्गी'।

(३) ४।१।४३ शोणी, पाणिनि मत मे 'शोणा'।

(४) ४।१।१६० ग्लुचुकायनि, पाणिनि मत मे ग्लौचुकि।

(५) ५।३।८० 'अनुकम्पित उपेन्द्रदत्त' अर्थ को सूचित करने के लिए उपड तथा उपक शब्द बनते हैं। पाणिनि मत मे उपिय, उपिल तथा उपेन्द्रदत्तक—ये चार रूप सिद्ध होते हैं।

(६) ५।३।६४ सूत्रानुसार एकतर तथा एकतम रूप बनते हैं। पाणिनि मत मे केवल कि, यद् तथा तद् प्रातिपदिकों से ही तर तथा तम प्रत्यय का विधान है।

(७) ५।४।१०१ के अनुसार 'द्विखारम्'। पाणिनि मत के 'द्विखारि सिद्ध होता है (खारी' एक विशिष्ट माप है)।

(८) ८।२।८६ के अनुसार 'आयुष्मानेधि दे३वदत्त', देवद ३त्त तथा देवदत्त३—यह तीन स्थानो पर प्लुत होता है। पाणिनि मत मे केवल अन्तिम प्रयोग सिद्ध होता है।

(९) ३।१।९० के अनुसार कुष्यति पाद स्वयमेव' तथा 'रज्यति वकृत्र स्वयमेव' प्रयोग बनते हैं। पाणिनि मत मे कुष्यते तथा रज्यते ही होता है।

भारद्वाज

७।२।६१ के अनुसार या धातु के लिट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन मे 'ययिथ' रूप बनता है। पाणिनि मे ययाथ' सिद्ध होता है।

शाकटायन

(१) ३।४।१११ सूत्रानुसार या धातु के लुङ् लकार प्रथमपुरुष बहुवचन मे 'अयु' बनता है। पाणिनि मे 'अयान्'।

(२) ३।४।११२ अद्विषु । पाणिनि मे 'अद्विषन्' (√द्विष्)।

(३) ८।३।१८ 'भोयत्र मे यकार का उच्चारण लघुतर होता है। पाणिनि के अनुसार 'यकार' का पूर्ण उच्चारण होता है। गार्ग्य तथा शाकल्य मत मे यकार का लोप ही हो जाता है। द्रष्टव्य गार्ग्य तथा शाकल्य।

(४) ८।४।५० के अनुसार 'इन्द्र' बनता है। पाणिनि के अनुसार नकार का द्वित्व भी अभीष्ट है। फलत 'इन्न्द्र' रूप भी हो सकता है।

शाकल्य

(१) १।१।१६ सूत्रानुसार शाकल्य के अनुसार पदपाठ 'वायो इति' होगा। पाणिनि के मत मे 'वायविति'।

(२) ६।१।१२७ के अनुसार 'कुमारि अत्र'। पाणिनि मत मे 'कुमार्यत्र'।

(३) ८।३।१९ के अनुसार 'क आस्ते' तथा 'भो अत्र' रूप बनते हैं। पाणिनि मत मे कयास्ते तथा भोयत्र होगा। शाकटायन तथा गार्ग्य देखो।

(४) ८।४।५१ के अनुसार 'अर्क' बनता है। पाणिनि मे 'अर्क्क' भी बनता है।

सेनक

५।४।११२ के अनुसार 'गिरि के समीप' अर्थ मे 'उपगिरम्' पद सिद्ध होगा, पाणिनि मत म 'उपगिरि'।

स्फोटायन

६।१।१२१ के अनुसार गो+अजिनम् की सन्धि होने पर बनता है— 'गवाजिनम्'। पाणिनि के अनुसार होगा गोअजिनम् तथा गोऽजिनम्।

सर्वेषाम्

(१) ७।३।९९ सूत्र मे पाणिनि ने गार्ग्य तथा गालव के अनुसार रुद् धातु के लङ् लकार मे 'अरोदत्' रूप निष्पन्न बतलाया है। तदन्तर वे कहते हैं ७।३।१०० सूत्र मे कि सब आचार्यों के मत मे √अद् धातु के लङ् लकार मे आदत् रूप बनता है।

(२) 'भोस् + अच्युत' इसकी सन्धि में गार्ग्य, शाकल्य, शाकटायन तथा अपने भी मत का उल्लेख कर पाणिनि ने लिखा (८।३।२२) कि 'भोस् + देवा' की सन्धि करने पर भो देवा' रूप निष्पन्न होता है—इस विषय मे सब आचार्यों का ऐकमत्य है। अत 'सर्वेषाम्' पद का प्रयोग किसी विशेष रूपसिद्धि के लिए समस्त आचार्यों की सहमति प्रकट करता है।

पारिभाषिक संज्ञा तथा पूर्वाचार्य

पाणिनि से पूर्व आचार्यों ने पारिभाषिक संज्ञाओ का प्रयोग अपने ग्रन्थो मे किया था। भाष्य तथा व्याख्याग्रन्थों से उनका परिचय मिलता है। अब संज्ञा के स्वरूप-निर्देश के अनन्तर पूर्वाचार्यों की संज्ञाओ पर विचार किया जायगा।

जिससे किसी का बोध भलीभाँति हो जाय, सामान्यत उसे हम संज्ञा कहते हैं। जैसे लोक मे राम, श्याम, देवदत्त इत्यादि व्यक्तिवाचक संज्ञाओ के प्रयोग से अनुपस्थित भी परिचित व्यक्तियों का परिज्ञान हमें हो ही जाता है। शास्त्र में भी 'सप्तर्षि' जैसी संज्ञाओ के श्रवण से अन्य बहुत ऋषियों के होते हुए भी 'कश्यप अत्रि-वसिष्ठ-विश्वामित्र गौतम-जमदग्नि एव भारद्वाज' इन सात ऋषियों का वैवस्वत श्राद्धदेव मनु के काल मे स्मरण किया जाता है (द्रष्टव्य—श्रीमद्भागवत ८।१३।१-५)। उक्त उदाहरणों मे

यह बात सिद्ध होती है कि *शब्दशक्ति के अनेक अर्थों के अभिधान मे सर्वात्मना* समर्थ होने हुए भी किसी विशेष अर्थ मे उसका नियन्त्रण कर देना ही सज्ञाविधान है। कैयट ने महाभाष्यप्रदीप मे इसी बात को शब्दार्थसम्बन्ध के नित्यत्व की सम्पुष्टि मे स्पष्ट रूप से कहा है[1]—शब्द, अर्थ एव उनके सम्बन्ध की नित्यता मे कोई विरोध उपस्थापित नही किया जा सकता, क्योकि सभी अर्थों को कहने मे समर्थ शब्द की शक्ति का अर्थ विशेष मे नियमन कर देना ही सज्ञाकरण माना जाता है। अर्थ-विशेष मे शब्द-शक्ति के इस विशेष नियमन से लाघव प्रक्रिया का समादर सज्ञा-व्यवहार मे ध्वनित होता है।

सर्वत्र शब्द व्यवहार लाघव को ध्यान मे रखकर किया जाता है, उसमे भी *सज्ञा शब्दो का निर्धारण तथा उनका प्रयोग लाघव की चरम सीमा को अभिव्यञ्जित* करता है। शब्दशास्त्र निष्णात महर्षि पतञ्जलि के—**'सज्ञा च नाम यतो न लघीय.'** (म० भा० १।१।२७) इस वचन पर अपना विवरण प्रस्तुत करते हुए उक्त विषय को महाभाष्य प्रदीप म कैयट ने उद्धृत किया है। विवरण इस प्रकार है—

"शब्दव्यवहारो लघुस्ततोऽपि लघीयो नाम।"
(म० भा० प्र० १ १।२७)।

अर्थात् प्रथम तो शब्द व्यवहार ही लाघव के लिए होता है, परन्तु उसमे भी लाघव सज्ञाशब्दो मे दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि—लघुभूत उपाय से ईप्सित बात को समझाने के लिए सज्ञा शब्दो का उपयोग शास्त्रो मे भी किया गया है। फिर *व्याकरणशास्त्र के तो सर्वतोभावेन लाघवापेक्षी होने के कारण उसमे सज्ञा*-शब्दो के बिना निर्दिष्ट कार्य का विधान असम्भव-सा ही प्रतीत होता है। यद्यपि प्रातिपदिक, सर्वनाम जैसी महती सज्ञाओं के उपन्यास-सन्दर्भ मे शब्दकृत लाघव का नितान्त अभाव होने से उपर्युक्त वचनो मे दोष प्रदर्शित किया जा सकता है, तथापि वहाँ यह समझना चाहिए कि लाघव भी दो प्रकार का होता है—'शब्दकृत एवं अर्थकृत'। अर्थकृत लाघव मे वर्णसक्षेप अपेक्षित न होने के कारण उक्त स्थलो मे उस परम्परा का निर्वाह किया गया है। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि अर्थकृत *लाघव मे वर्ण बाहुल्य का समाश्रयण किसी विशेषार्थ द्योतन के लिए होता है।* इस प्रसग मे यह भी कहना अनावश्यक न होगा कि वेदमन्त्रो के यथार्थ बोध के लिए प्रथम देवतादि सज्ञा शब्दो का ही ज्ञान अनिवार्य होता है, तो उस वेद के मुखस्थानीय

---

१ सर्वार्थाभिधानयोग्य-शब्दस्य शक्तिनियमनमात्र सज्ञाकरणमिति शब्दार्थ-सम्बन्ध—नित्यत्वस्यापि न विरोध" (म० भा० प्र० १।१।२७)।

व्याकरण मे उनकी आवश्यकता क्यो न हो ? महर्षि शौनक ने सज्ञाशब्दो के परिज्ञान की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा है—

"अवश्य वेदितव्यो हि नाम्ना सर्वस्य विस्तर ।
न हि नामान्यविज्ञाय मन्त्राः शक्या हि वेदितुम् ॥"
(बृहद्देवता १।८) ।

अर्थात्—सज्ञाशब्दो के विस्तार का ज्ञान करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि उनके ज्ञान के बिना मन्त्रो (मन्त्रो के तात्पर्यार्थ) को नही जाना जा सकता है। उन सज्ञाशब्दो तथा उनके स्वरूपो का निर्धारण सृष्टि के पूर्व ब्रह्म ने ही कर लिया था, ऐसा—'नामरूप व्याकरवाणि' (छा० उप० ६।३), 'स भूरिति व्याहरत्, स भूमिमसृजत्' (तै० ब्रा० उप० २।२।४।२) इत्यादि वचनो से—समझा जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि बिना नाम और रूप के कोई भी व्यवहार उपपन्न नही हो सकता—इस बात को सिद्ध करने के लिए ही परमेश्वर ने ऐसा किया। सज्ञाशब्दो की नितान्त आवश्यकता सब शास्त्रो मे, विशेषत व्याकरण मे है।

सज्ञाये सामान्यत **कृत्रिम** और **अकृत्रिम** भेद से दो प्रकार की होती हैं। कृत्रिम वह सज्ञाएँ कही जाती हैं, जिनका प्रयोग आचार्य स्वरचित शास्त्रो मे कार्यनिर्वाहार्थ किया करते है। अकृत्रिम उनको कहते हैं जो आदिकाल से अबतक उसी अर्थ मे प्रयुक्त होती हैं और भविष्य मे भी प्रयुक्त होती रहेगी। कर्म, करण एव अधिकरण इत्यादि कुछ सज्ञाएँ उभयविध मानी जाती हैं[1]।

इन सज्ञाओं का प्रयोग आचार्यों ने एक ही विषय के भिन्न भिन्न ग्रन्थो मे अनेक रूप से किया है। अतएव नागेश ने कहा है—**"सज्ञार्थं न शास्त्रैकगम्यम्। संज्ञाया—मित्युच्चार्य विहिता एव संज्ञाशब्दा इति नेत्यर्थ"** (उद्योत ६।३।१०)। अर्थात् सज्ञाधिकार मे ही पढे गए शब्द सज्ञाशब्द हो सकते हैं इतर नही, ऐसा कहना सत्य नही हो सकता, क्योकि सज्ञा का विषय एक शास्त्र से निर्धारित नही किया जा सकता।

---

१ महाभाष्यकार ने "बहुगण-वतुडति सख्या" [अ० १।१।२२] सूत्र के भाष्य मे कहा भी है "उभयगति पुनरिह भवति । अन्यत्रापि, नावश्यमिहैव।" तद्यथा—"कर्तुरीप्सिततम कर्म" [अ० १।४।४९] इति कृत्रिमा कर्म- सज्ञा। कर्मप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति। "कर्मणि द्वितीया" [अ० २।३।२] इति कृत्रिमस्य ग्रहणम्, "कर्तरि कर्म-व्यतिहारे" [अ० १।३।१४] इत्यत्राकृत्रिमस्य" [म० भा० १।१।२२] इत्यादि।

ऊपर जो महर्षि पतञ्जलि एव कैयट की उक्तियो से सज्ञाशब्दो के सक्षिप्ततम रूप की तथा अर्थलाघव के उद्देश्य से प्रयुक्त सज्ञाओ मे उस अनावश्यकता की चर्चा की गयी है, जिसमे उन सज्ञाओ को कार्य निर्वाहार्थ तथा अन्वर्थ माना जाता है। उसमे अन्वर्थता क्या है ? क्या यौगिकार्थ का उनके सज्ञियो मे कुछ सामञ्जस्य हो सकता है ? वह पाणिन्युपज्ञात हैं अथवा पूर्वाचार्य प्रयुक्त ? ऐसी ही कुछ बातो को ध्यान मे रखकर पाणिनीय-तन्त्र मे प्रयुक्त कुछ सज्ञाओ की अन्वर्थता प्रमाण पुरस्सर बताने का प्रयास किया जा रहा है। सज्ञाओ की अन्वर्थता या तो लोकप्रसिद्ध अर्थ से सामञ्जस्य रखती है अथवा किसी शास्त्रीय नियमविशेष को ध्वनित करती है। इस सम्बन्ध मे तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के वैदिकाभरण भाष्य मे कहा भी गया है—

"अन्वर्थत्व महासज्ञा व्यञ्जयत्यर्थान्तराणि च।
पूर्वाचार्यैरतस्तास्तु सूत्रकारेण चाश्रिता ॥
(वैदिकाभरणभाष्य १२) ६

एक अक्षर से अधिक अक्षर वाली महासज्ञाएँ अन्वर्थ होने के कारण जिस अर्थ मे नियमित की जाती हैं उससे अन्य अर्थों को भी प्रकाशित करती हैं। यही कारण है कि पूर्वाचार्यों ने उन सज्ञा शब्दो का अपने शास्त्रो मे उपयोग किया है।

पूर्वाचार्य-कृत पारिभाषिक संज्ञाएँ

(१) वृद्धि सज्ञा

महर्षि पणिनि ने "वृद्धिरादैच्" (अ० १।१।१) सूत्र से द्विमात्रिक आ ऐ एवं औ इन तीन वर्णों के बोध के लिए जिस 'वृद्धि' सज्ञा का निर्धारण किया है, उस 'वृद्धि' सज्ञा का व्यवहार पूर्वाचार्यों ने ही किया था। इसका सकेत महर्षि पतञ्जलि ने इस प्रकार किया है—'**इहापि कृतः पूर्वैरभिसम्बन्ध। कैः ? आचार्यैः**" (**म० भा० १।१।१**)। 'वृद्धि' सज्ञा का सम्बन्ध उक्त तीन वर्णो के साथ पूर्वाचार्यों ने ही निश्चित कर दिया है। इस वचन की सत्यता वाजसनेयि प्रातिशाख्यादि के—"**तद्धिते चैकाक्षरवृद्धावनिहिने**" (**वा० प्रा० ५।२९**) इत्यादि सूत्रवचनो से प्रमाणित होती है।

'वृद्धि' शब्द का अर्थ वर्धन क्रिया होता है। अत इस महासज्ञा की अन्वर्थता— 'ह्रस्व अकार की अपेक्षा द्विमात्रिक आकार के उच्चारण मे तथा 'ए ओ' वर्णों की अपेक्षा ऐ औ' वर्णों के उच्चारण मे मुख का विकास अधिक होने के कारण उनमे वर्धनक्रिया का जो सम्बन्ध परिलक्षित होता है—उससे कही जा सकती है। पाणिनीय शिक्षा मे कहा भी गया है—

"संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम्" (श्लो० २०) तथा "तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च" (श्लो० २१), इति।

(२) गुण सज्ञा

"अदेङ् गुण" (अ० १।१।२) सूत्र से अ ए एवं ओ इन तीन वर्णों के बोध के लिए पाणिनि द्वारा किया गया 'गुण' सज्ञा का व्यवहार शौनकादि आचार्यों के **"गुणागमाद्देतन भाव चेतन"** (ऋ० प्रा० ११ १०) इत्यादि वचनों के आधार पर पाणिनि से पूर्व ही सिद्ध होता है। 'गुण' शब्द अप्रधान अर्थ का वाचक होता है। अत 'वृद्धि' सज्ञा के सज्ञियों से 'अ ए ओ' इन तीन वर्णों में अप्रधानता (स्थ निगत मात्रान्यूनता) मानकर 'गुण' सज्ञा को अन्वथ कहना उचित प्रतीत होता है। यह भी कहा जा सकता है, कि—'अ ए ओ' इन तीन वर्णों की गुण सज्ञा जगत् के मूलभूत सत्त्व रजस् एवं तमस् गुणों की सख्या से साम्य रखती है।

(३) सयोग सज्ञा

अचो से अव्यवहित अनेक हल् वर्णों की जो 'सयोग' सज्ञा पाणिनि ने कही है **"हलोऽनन्तरा. सयोग."** (अ० १।१।७)। उनका निर्दिष्ट अर्थ में व्यवहार पाणिनि से पूर्व शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में किया है, उन्होंने कहा है—

'संयोगस्तु व्यञ्जनसन्निपात" (१।३७)। अर्थात् एकत्र स्थित व्यञ्जन समुदाय की 'सयोग' सज्ञा होती है। यहां 'सयोग' का अर्थ समुदाय विवक्षित है। अत एक हल् वर्ण की 'सयोग' सज्ञा न कहकर जो अनेक हल् वर्णों की 'सयोग' सज्ञा कही गयी है उससे इसकी अन्वर्थता सिद्ध होती है। ऋक्तन्त्र में लाघव के उद्देश्य से सयोग के लिए 'सण्' शब्द का व्यवहार किया गया है (२।३ ७)।

(४ अनुनासिक सज्ञा

अनुस्वार, अच् एवं वर्गीय पञ्चम वर्णों के लिए 'अनुनासिक' सज्ञा का व्यवहार ऋक् प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों के **'अनुनासिकोऽन्त्य.'** (ऋक् प्रातिशाख्य १।१४) तथा **"अष्टावाद्यानवसानेऽप्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान् स्वरान्"** (ऋ० प्रा० १।६३) इत्यादि सूत्रवचनों से पूर्वाचार्य कृत ही कहा जा सकता है। पाणिनीय शिक्षा में (श्लो० ३६) 'य् व ल्' वर्णों को भी अनुनासिक माना गया है। अपने मुख्य स्थान के साथ नासिका का आश्रय लेकर जिन वर्णों की अभिव्यक्ति होती है, उनको 'अनुनासिक' कहते हैं। अत वर्गीय पञ्चम ङ् ञ् आदि वर्णों के उच्चारण में मुख एवं नासिका रूप दो स्थानों का आश्रय लिए जाने से 'अनुनासिक' सज्ञा को अन्वर्थ माना जाता है (द्र०—ऋ० प्रा०, उ० भा० १।१४)।

(५) सवर्ण संज्ञा

समानजातीय (समान स्थान प्रयत्न वाले) अच् वर्णों के लिए 'सवर्ण' संज्ञा का व्यवहार ऋक्प्रातिशाख्य के **"स्थान प्रश्लेषोपदेशे स्वराणां ह्रस्वदेशे ह्रस्वदीर्घौ सवर्णौ"** (**ऋ प्रा० १।५५**) में किया गया है। सवर्ण का अर्थ सदृश होना है। अत सदृश=तुल्य-स्थान प्रयत्न वाले अच् वर्णों की यह 'सवर्ण' संज्ञा अन्वर्थक ही है (द्र० तै० प्रा०, त्रिभाष्यरत्नम्—१।३)।

(६) प्रगृह्य संज्ञा

"ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्" (अ० **१ १।११**) सूत्र मे द्विवचनान्त जिन ईकारान्त ऊकारान्त तथा एकारान्त शब्दो की 'प्रगृह्य' संज्ञा का निर्देश पाणिनि ने किया है, उसका व्यवहार ऋक्प्रातिशाख्य के **"ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्य"** (**ऋ० प्रा० १।६८**) इत्यादि सूत्रों मे देखा जाता है। जहाँ पदो का भली-भाँति ग्रहण होना हो उसको 'प्रगृह्य' कहते हैं। अत 'प्रगृह्य' संज्ञक शब्दो मे सन्धि-विधान न होने से उनके स्वरूपो की जो पूर्ववत् स्थिति बनी रहती है, उससे 'प्रगृह्य' संज्ञा की अन्वर्थता प्रतीत होती है।

(७) संख्या संज्ञा

एक, द्वि, बहु इत्यादि शब्दो के लिए लोक-प्रसिद्ध ही 'संख्या' संज्ञा का व्यवहार महर्षि यास्क ने **"एक इता संख्या, द्वौ द्रुततरा संख्या"** (**निरु० ३.२**) इत्यादि वचनो से किया है। जिससे किन्हीं पदार्थो का संख्यान (परिगणन) किया जाय, उसे संख्या कहते हैं। यही कारण है कि पाणिनि के द्वारा **"बहु-गण-वतुडति संख्या"** (**अ० १।१।२३**) सूत्र मे एक इत्यादि शब्दों की 'संख्या' संज्ञा का निर्देश न किए जाने पर भी उन सभी शब्दो का ग्रहण 'संख्या' संज्ञा के अन्तर्गत होता है—इसी प्रकार उसकी अन्वर्थता भी सिद्ध होती है। इसका संकेत पाणिनि द्वारा **'ष्णान्ता षट्"** (**अ० १।१।२४**) सूत्र से षान्त नान्त 'संख्या' संज्ञक शब्दो की की गयी 'षट्' संज्ञा के विधान मे प्राप्त होता है, क्योंकि षान्त नान्त शब्दो की बिना 'संख्या' संज्ञा हुए उनकी 'षट्' संज्ञा उपपन्न नहीं हो सकती।

'चित्' एवं 'वचन' शब्द का भी पूर्वाचार्य व्यवहार करते थे (द्र०—का० धा० व्या०, सू०१-२ **"धातौ साधने दिशि पुरुषे चिति तदात्मनातम्"**, **'लिंगे किम् चिति विभक्तावेतन्नाम'**)।

(८) सर्वनाम संज्ञा

निरुक्ति मे **'अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना"** (**निरु० ७।२।२**) एवं **"अथाध्यात्मिका उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्व-**

नाम्ना" (निरु० ७।२।५) इत्यादि वचनों से पाणिनीय **"सर्वादीनि सर्वनामानि"** (अ० १।१।२७) सूत्र के सर्वादिगण में पठित 'युष्मद् अस्मद्' शब्दों को सर्वनाम कहा गया है। इस संज्ञा की अन्वर्थता को बताते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि सर्वार्थवाचक ही सर्वादि शब्द 'सर्वनाम' संज्ञक होते हैं, अतः किसी व्यक्ति का 'सर्व' यह नाम होनेपर एवं किसी अन्य का विशेषण होने पर 'सर्व' शब्द सर्वार्थवाचक न होने के कारण 'सर्वनाम' संज्ञक नहीं हो सकता (द्र०-म० भा० १।१।२७)।

(९) अव्यय संज्ञा

निपातादिकों के लिए पाणिनि द्वारा **"स्वरादि निपातमव्ययम्"** (अ० १।१।३७) इत्यादि सूत्रों से की गई 'अव्यय' संज्ञा की गोपथ ब्राह्मण में विस्तृत चर्चा होने के कारण उसको पूर्वाचार्य प्रयुक्त मानना ही होगा। वहाँ इसकी अन्वर्थता को बताते हुए कहा गया है—

"निपातेषु चैनं वैयाकरणा उदात्तं समामनन्ति। तदव्ययीभूतमन्वर्थवाची शब्दो न व्येति कदाचनेति—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु,
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्"
(१।१।१६)।

अर्थात् जिन शब्दों का रूप तीनों लिङ्गों, सभी विभक्तियों एवं सभी वचनों में अविकृत रहे उन शब्दों की 'अव्यय' संज्ञा होती है।

'अव्यय' संज्ञक शब्दों में विकार न होने के कारण 'अव्यय' संज्ञा के अन्वर्थ होने से विशेषणीभूत निपातों की 'अव्यय' संज्ञा नहीं होती है।
(द्र०—म० भा० १।१।३८)।

(१०) सम्प्रसारण संज्ञा

पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट 'य् व् र् ल्' वर्णों के स्थान में क्रम से होने वाले 'इ उ ऋ ऌ' वर्णों की 'सम्प्रसारण' संज्ञा का व्यवहार पाणिनि से पूर्व **"यणां यवराणां रवृत सम्प्रसारणं कानुबन्धे"** (**काशकृत्स्न व्या०, सू० ९९**) सूत्र में आचार्य काशकृत्स्न ने किया है। सम्प्रसारण का अर्थ विस्तार होता है, अतः अर्धमात्रिक यण् वर्णों के स्थान में एकमात्रिक इक् वर्णों का हो जाना ही 'सम्प्रसारण' संज्ञा की अन्वर्थता है। गोपथ ब्राह्मण (१।१।२६) में इसके लिए 'प्रसारण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(११) प्रत्याहार संज्ञा

संक्षेप में बहुत वर्णों का बोध कराने के लिये पाणिनीय सम्प्रदाय में समादृत 'प्रत्याहार' संज्ञा का निर्देश ऋक्तन्त्र के "**अथ वर्णाः संज्ञाप्रत्याहारसमाः**" (१।१) इत्यादि वचनों में उपलब्ध होता है। पूर्व प्रसिद्ध होने के कारण ही '**आदिरन्त्येन सहेता**" (१।१।७१) इस प्रत्याहारसंज्ञा विधायक सूत्र में 'प्रत्याहार' शब्द का उल्लेख न होने पर भी व्याख्याकारों ने उक्त सूत्र में की जाने वाली अण् अच् आदि संज्ञाओं का 'प्रत्याहार' शब्द से व्यवहार करने के लिए निर्देश किया है। जिसमें वर्णों का संक्षेप किया जाय उसे प्रत्याहार कहते हैं। अतः अच् अल् आदि प्रत्याहारों के अन्तर्गत बहुत वर्णों का समावेश होते हुए भी उच्चारण में संक्षेप होने के कारण इस संज्ञा को अन्वर्थ कहना सङ्गत ही प्रतीत होता है।

(१२) प्रातिपदिक संज्ञा

गोपथब्राह्मण के '**कृदन्तमर्थवत् प्रातिपदिकम्**" *(१।१।२६) इस वचन में* कृदन्त अर्थवान् शब्दों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा का निर्देश देखा जाता है। अन्यान्य आचार्यों ने इस संज्ञा के लिए नाम, लिङ्ग, फिट्, ल्य, भृत जैसे शब्दों का भी प्रयोग किया है। प्रत्येक पदों में जिसकी स्थिति हो उसे प्रातिपदिक कहते हैं, इस अर्थ के आधार पर प्रतीत होता है, कि पूर्वाचार्यों ने धातुओं की भी 'प्रातिपदिक' संज्ञा की थी, क्योंकि सभी नाम पद धातुज माने जाते हैं। पाणिनि ने यद्यपि '**अर्थवद-धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्**" (अ० १।२।४५) इस सूत्र से धातुभिन्न की प्रातिपदिक संज्ञा कही है तथापि योगरूढ मानकर 'प्रातिपदिक' संज्ञा को अन्वर्थ कहना ही ठीक है।

(१३) धातु संज्ञा

निरुक्त में 'धातु' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—'**धातुर्दधातेरिति**" (**निरु० १.६** इति। अर्थात् जो अर्थों का धारण करे उसे धातु कहते हैं। अन्य गोपथब्राह्मणादि ग्रन्थों में भी पाणिनि निर्दिष्ट ('**भूवादयो धातवः" अ० १।३।१ सूत्र में**) क्रियावाची शब्द के लिए ही 'धातु' शब्द का व्यवहार होने से उसकी प्राचीनता स्पष्ट है। अनेक अर्थों का जो वाचक हो उसे 'धातु' कहते हैं इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की भ्वादि धातुओं में सङ्गति होने से उसे अन्वर्थ माना जाता है।

(१४) पद संज्ञा

दुर्गाचार्य द्वारा निरुक्तभाष्य में प्रदर्शित "**अर्थः पदम् इत्यैन्द्राणाम्**" **निरु० भा० १।१।८**) इस वचन में वैयाकरण इन्द्र के मत से अर्थवान् शब्दों की 'पद' संज्ञा

बतायी गयी है। इस मत का समादर वाजसनेयि प्रातिशाख्य (३।२) में भी किया गया है। अन्यत्र पूर्वाचार्यों ने नाम-आख्यात इत्यादि शब्दों से पदों के भेद बताये हैं। निरुक्तकार ने वैयाकरणों के मत में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चार पदों को माना है (निरुक्त १।१।८)। भर्तृहरि (वा० प० ३।१।१) एवं दुर्गाचार्य (निरु० भा० १।१।८) ने गति तथा कर्मप्रवचनीय भेदों को लेकर पाँच और छः प्रकार के भी पदों की चर्चा की है।

सिद्ध अर्थ को कहने वाले नाम पद होते हैं, तथा साध्य अर्थ को कहने वाले आख्यात। आख्यात के क्रियाप्रधान होने से उपसर्ग निपात एवं कर्मप्रवचनीय को उसी के अन्तर्गत मानकर कोई आचार्य मुख्यतः दो ही पद मानते रहे हैं। परन्तु उपसर्ग केवल सिद्ध अर्थ की विशिष्टता को द्योतित करते हैं जब कि निपात सिद्ध एवं साध्य इन दोनों अर्थों की विशेषता को बतलाते हैं। कर्मप्रवचनीय भी साक्षात् क्रिया-विशेष को नहीं कहते हैं। अतः इन तीनों को स्वतन्त्र रूप में भी पद माना गया है। पाणिनि ने प्रथम **"सुप्तिङन्तं पदम्"** (अ० १।४।१४) में 'सुबन्त तिङन्त' रूपों को 'पद' संज्ञा कहकर कार्यविशेष के उद्देश्य से कुछ प्रातिपदिकों को भी 'पद' संज्ञा का निर्देश किया है।

जिससे अर्थबोध हो उसे पद कहते हैं। अतः सुबन्तादि पदों के अर्थबोधक होने के कारण 'पद' संज्ञा अन्वर्थ ही है।

(१५) कारक संज्ञा

नाट्यशास्त्र में पूर्वाचार्योक्त व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी कुछ शब्दों के लक्षणों का निर्देश करते हुए कहा गया है—

"तत्राहुः सप्तविध पदकारकसयुत प्रथितसाध्यम्"।
(ना० शा० १४।२३)।

'साधन' 'विभक्ति' एवं 'नाम' शब्दों का भी प्रयोग कारक के लिए पूर्वाचार्य करते रहे हैं। क्रिया-निष्पत्ति की भिन्नता से कारक छः प्रकार का माना जाता है। क्रिया का बाह्य या बौद्ध विभाग जिससे होता है उसे उपादान, कल्याण-कामना से दानादि रूप क्रिया का विभाग जिसके लिए होता है उसे सम्प्रदान, क्रिया की सिद्धि में जो अत्यन्त उपकारक होता है उसे करण, क्रिया के आधार को अधिकरण, क्रिया के प्रेरक को कर्म तथा क्रिया की सिद्धि में जो स्वतन्त्र होता है उसे कर्ता कारक कहते हैं। कर्ता के अतिरिक्त कर्मादि भी अपने-अपने व्यापार में स्वतन्त्र होने के कारण 'कारक' कहलाते हैं। क्रिया की निष्पत्ति कारकों के द्वारा होती है। अतः कर्मादिकों की

'कारक' संज्ञा अन्वर्थ ही है। कर्तादि कारकों का निर्धारण वक्ता की इच्छा पर आधारित होता है।

(१६) परस्मैपद संज्ञा

काशकृत्स्न आचार्य ने "उदात्तानुबन्ध. परस्मैपदम्" (का० धा० व्या०, सू० ८०) सूत्र में उदात्त अनुबन्ध वाली धातुओं से परस्मैपदसंज्ञक प्रत्ययों का तथा 'अनुदात्त-ङानुबन्ध आत्मनेपदम्" (का० धा० व्या०, सू० ८८) सूत्र में अनुदात्त अनुबन्ध-विशिष्ट धातुओं से आत्मनेपद संज्ञक प्रत्ययों का निर्देश किया है जिससे इन संज्ञाओं की प्राचीनता परिज्ञात होती है। परस्मैभाष एवं आत्मनेभाष शब्दों का भी प्रयोग पूर्वाचार्य करते थे; ऐसा कैयट ने लिखा है (द्र०—प्रदीप ६।३।७)। पाणिनि ने प्रथम तिप् आदि अठारह प्रत्ययों की परस्मैपद संज्ञा का निर्देश करके त आदि नव प्रत्ययों की आत्मनेपद संज्ञा विशेष रूप से कही है। सामान्यतः परप्रयोजन तथा आत्मप्रयोजन जिससे प्रतीत हो उसे क्रमशः परस्मैपद तथा आत्मनेपद कहते हैं। क्रिया का फल जब कर्ता को प्राप्त होता है तब स्वरित एवं ञित् धातुओं से आत्मनेपद, जब क्रिया का फल दूसरे को प्राप्त होता है तब परस्मैपद का विधान किया गया है। यहाँ इसी उद्देश्य से की गई यह 'परस्मैपद-आत्मनेपद' संज्ञाएँ आंशिक रूप से अन्वर्थ कही जा सकती हैं।

(१७) संहिता संज्ञा

ऋक्प्रातिशाख्य में "संहिता पदप्रकृति" (२।१) कहकर 'पदान्तान् पदादिभिः सन्दधदेति यत् सा कालाव्यवायेन" (ऋ० प्रा० २२) इस सूत्र-वचन से संहिता के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् पदान्तरूपों का अन्य पदों के साथ जो संयोग होता है उसे 'संहिता' कहते हैं। निरुक्त (१।३) में संहिता के प्रसंग में संहिता को पदों का विकाररूप माना गया है, परन्तु दुर्गाचार्य ने पदों को ही विकाररूप में सिद्ध किया है (द्र०—निरु० भा० १।१६) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में पद-अक्षर-वर्ण एवं अङ्ग के भेद से चार प्रकार की संहिताएँ मानी गयी हैं (तै० प्रा० २४।२)। पाणिनि शास्त्र के व्याख्याकारों ने वर्णों का परम सन्निकर्ष अर्धमात्राकालिक व्यवधान में निश्चित किया है। जहाँ अनेक वर्ण या पद परस्पर सन्धि को प्राप्त होते हैं उसे संहिता कहते हैं—इस अर्थ की सङ्गति सर्वत्र 'श्रीशः' इत्यादि प्रयोगों में होने से 'संहिता' संज्ञा को अन्वर्थ ही कहा जा सकता है।

(१८) समास संज्ञा

पाणिनि से पूर्व बृहद्देवता में शौनक ने 'विग्रहान्निर्वचः कार्यं समासेष्वपि तद्धिते'

(२।१०६) इस वचन से 'समास मे विग्रहपूर्वक निर्वचन करना चाहिए' इसका निर्देश करके छ समासों के नाम गिनाए हैं जैसे—

द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययीभाव कर्मधारय एव च,
पञ्चमस्तु बहुव्रीहि षष्ठस्तत्पुरुष स्मृत"
(बृ० दे० २।१०५) ।

श्लोकार्थ स्पष्ट ही है। इनमे अव्ययीभाव प्राय पूर्वपदार्थ-प्रधान, तत्पुरुष उत्तरपदार्थ-प्रधान द्वन्द्व उभयपदार्थप्रधान, बहुव्रीहि अन्य पदार्थ प्रधान माना जाता है। द्विगु और कर्मधारय तत्पुरुष के ही भेद हैं। यह छ प्रकार का समास अवान्तर भेदो से २८ प्रकार का होता है। समास का अर्थ सक्षेप होता है। अत भिन्नार्थक अनेक पदों के परस्पर मिलकर एकार्थवाचक होने से जो सक्षेप क्रिया प्रतीत होती है, उससे 'समास' सज्ञा को अन्वर्थ कहना ठीक ही होगा।

(१९) प्रत्यय सज्ञा

गोपथ ब्राह्मण में "ओङ्कार पृच्छाम । को धातु ? किं प्रातिपदिकम् ? ... ... क प्रत्यय ?' (१।१।२४) इत्यादि प्रकरण मे 'प्रत्यय' सज्ञा का स्मरण किया गया है, जिससे प्रत्यय सज्ञा को पाणिनि उपज्ञात न कहकर पूर्वाचार्यकृत कह सकते हैं। इद के द्वारा पदात्मक रूप शब्दोपादानों का प्रकृति प्रत्यय रूप मे विभक्त किया जाना भी इस सज्ञा की प्राचीनता को सिद्ध करता है। बिना प्रत्ययो के अर्थ का सम्यक् बोध न होने से प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ दोनो मे प्रत्ययार्थ की प्रधानता लोक मे प्रसिद्ध है। प्रत्यय का अर्थ ज्ञान होता है। अत इसकी अन्वर्थता बताते हुए व्याख्याकारो ने कहा है—जिससे अर्थ का सम्यक् बोध हो जाय, उसे 'प्रत्यय' कहते हैं। प्रत्यय भी सुप्, तिङ् इत्यादि भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। यह किसी अर्थ के वाचक होते हुए भी पृथक् प्रयोगार्ह नही होते।

(२०) कृत् सज्ञा

गोभिल गृह्यसूत्र मे 'कृतं नाम दद्यात्' (२।८।१४) सूत्र से कृत्प्रत्ययान्त नामो के लिए निर्देश किया गया है। व्याकरण महाभाष्य (पस्पशाह्निक) में कृत्प्रत्ययान्त नामो को प्रशसनीय बताया गया है। पाणिनीय शास्त्र मे धातुओं से किए जाने वाले प्रत्ययों मे 'तिङ्' प्रत्ययो को छोडकर सभी 'क्विप्' आदि प्रत्यय कृत्सज्ञक माने गये हैं ('कृदतिङ्' अ० ३।१।९३)। कर्त्ता अर्थ मे 'कृ' धातु से क्विप् प्रत्यय होकर 'कृत्' शब्द निष्पन्न होता है। अत. 'क्विप्' प्रत्यय के साथ छत्रिन्यायन्याय से 'ण्वुल्-तृच्' आदि प्रत्ययों की जो 'कृत्' सज्ञा की गयी है, वह अन्वर्थ ही है।

(२१) अपृक्त संज्ञा

"अपृक्त एकाल् प्रत्ययः" (अ० १।२।४१) सूत्र से पाणिनि ने 'अपृक्त' संज्ञा का निर्देश अल् मात्र प्रत्ययों के लिए किया है, परन्तु "वेरपृक्तस्य" (अ० ६।१।६७) इत्यादि सूत्रों में अपृक्त शब्द से हल्मात्र प्रत्ययों का ग्रहण होता है। हल्मात्र को 'अपृक्त' संज्ञा न कहकर पाणिनि ने जो अल्मात्र की संज्ञा की है, उसे नागेश ने अदृष्टार्थ माना है (द्र०—शब्देन्दुशेखर, अजन्त—पु० प्र०, १।२।४१ "अपृक्तप्रदेशेषु हल्ग्रहणेनैव सिद्धे संज्ञाविधानमदृष्टार्थम्' इति)।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में पद संज्ञक एक अच् वर्ण की 'अपृक्त' संज्ञा देखी जाती है ("एकवर्ण पदमपृक्त" १।५४)। त्रिभाष्य रत्नाकर ने यहाँ 'अपृक्त' को व्यञ्जनरहित कहा है। परस्पर न मिले हुए पदार्थ को 'अपृक्त' कहते हैं। अतः एकवर्ण अल्, अच् या हल् वर्णों की गयी 'अपृक्त' संज्ञा अन्वर्थ ही है।

(२२) तद्धित संज्ञा

प्रातिपदिकों से किए जाने वाले यत् आदि प्रत्ययों को 'तद्धित' संज्ञा का निर्देश बृहद्देवता में शौनक ने इस प्रकार किया है—

"विग्रहान्निर्वचः कार्यं समासेष्वपि तद्धिते,
प्रविभज्यैव निर्ब्रूयाद् दण्डार्हो दण्ड्य इत्यपि"।

(२।१०६)

अनेक पदों का व्युत्पादक होने से जिज्ञासुओं के लिए हितसाधक अथवा अनेक प्रयोगों के हितसाधक प्रातिपदिकों से बहुत अर्थों में किये जाने वाले प्रत्ययों के लिए प्रयुक्त इस 'तद्धित' शब्द को अन्वर्थ ही मानना चाहिए। तद्धित प्रत्ययान्त प्रयोग दाक्षिणात्यों को अधिक प्रिय होने के कारण महाभाष्यकार ने कहा है—

"प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः"

(पस्पशाह्निक)।

(२३) अभ्यास संज्ञा

"पूर्वोऽभ्यासः" (अ० ६।१।४) इस सूत्र से षष्ठाध्याय के द्वित्व प्रकरण में पूर्वस्थित रूप की जो 'अभ्यास' संज्ञा पाणिनि ने की है, उसको काशकृत्स्न आचार्य ने भी "पूर्वोऽभ्यासः" (का० धा० व्या०, सू० ७७) सूत्र से स्पष्ट किया है। लोक में प्रायः किए गए कार्य की आवृत्ति को अभ्यास कहते हैं। प्रतीत होता है—आचार्यों ने भी इसी के आधार पर द्वित्व रूप में प्रथम रूप की 'अभ्यास' संज्ञा करके लोकप्रसिद्ध-अर्थ रूप अन्वर्थता व्यक्त किया है।

(२४) अभ्यस्त संज्ञा

षष्ठाध्याय के द्वित्व प्रकरण मे द्वित्व किए जाने से निष्पन्न दोनों रूपो की 'अभ्यस्त' संज्ञा का निर्देश पाणिनि ने "उभे अभ्यस्तम्" (अ० ७।१।५) सूत्र से किया है। इसका अनुशासन उक्त अर्थ मे ही काशकृत्स्न आचार्य ने "द्वयमभ्यस्तम्" (का० धा० व्या०, सू० ७८) सूत्र से तथा यास्क ने "एरिर इतीतिदरवृष्टोऽभ्यस्त." (निरुक्त ४।४) इत्यादि वचनो से किया है।

लोक मे यद्यपि जिस कार्य की अनेक आवृत्तियाँ की जाती है उस कार्य को एव उस कार्य की आवृत्तियो को करके कुशलता प्राप्त करने वाले व्यक्ति को 'अभ्यस्त' शब्द से सम्बोधित किया जाता है, परन्तु शास्त्र मे द्विरावृत्त वर्णो की की गयी 'अभ्यस्त' संज्ञा अपनी योगरूढि रूप अन्वर्थता को ही व्यक्त करती है। नुमागम के निषेधार्थ 'जक्ष' इत्यादि सात धातुओ की 'अभ्यस्त' संज्ञा विशेष रूप से पाणिनि ने कही है (अ० ६।१।६)।

(२५) आम्रेडित संज्ञा

वाजसनेयि -प्रातिशाख्य मे—"द्विरुक्तमाम्रेडितं पदम्" (१।१४६) सूत्र से द्विरुक्त पद की 'आम्रेडित' संज्ञा की गयी है। पाणिनि ने अष्टम अध्याय के द्वित्व प्रकरण मे द्वितीय शब्दरूप को "तस्य परमाम्रेडितम्" (अ० ८।१।२) सूत्र से 'आम्रेडित' संज्ञा की है।

न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने इस संज्ञा की अन्वर्थता बताते हुए कहा है, "आम्रेड्यते = आधिक्येनोच्यते इत्याम्रेडितम्" (न्या० ८।१।२)। अर्थात जो अधिक रूप मे कहा जाय उसे 'आम्रेडित' कहते हैं। अत दर्शनीयता एव रुचि की अधिकता प्रदर्शित करने के लिए 'अहो दर्शनीया-अहो दर्शनीया, मह्य रोचते-मह्य रोचते' इत्यादि प्रयोगो मे द्वित्व का उपयोग किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लोक मे दोनो रूपो के लिए 'आम्रेडित' शब्द का व्यवहार किया जाता है, व्याकरण शास्त्र मे आचार्य पाणिनि ने 'अभ्यस्त' संज्ञा से भेद बोधित करने के लिए 'पटत्पटेति, कास्कान्' इत्यादि द्विरुक्तरूप रूपो मे द्वितीय 'पटत्' एव 'कान्' इत्यादि रूपो की 'आम्रेडित' संज्ञा की है।

(२६) विभाषा संज्ञा

कैयट ने महाभाष्यप्रदीप मे आचार्य आपिशलि के मत मे 'विभाषा' संज्ञा का उल्लेख किया है—

"अन्यतरस्यामनादरे उपमाने विभाषाऽप्राणिषु इत्यापिशलिरधीते स्म" (म० भा० प्र० २।३।१७)। अन्य पूर्वाचार्यों ने विकल्पार्थ मे अन्यतरस्याम्-वा उभयथा-

एकेषाम् इत्यादि शब्दो का भी प्रयोग किया था। अनित्य रूप से किन्ही पदार्थों के वर्णन को विभाषा कहते हैं। अत "न वेति विभाषा" (अ० १।१।४४) सूत्र से पाणिनि द्वारा निषेध और विकल्प की की गयी 'विभाषा' सज्ञा से पाक्षिक कार्य का बोध होने के कारण 'विभाषा' सज्ञा अन्वर्थ ही कही जा सकती है।

(२७) ह्रस्व सज्ञा

ऋक् प्रातिशाख्य मे एकमात्रिक 'अ इ उ ऋ' इन वर्णो की 'ह्रस्व' संज्ञा द्विमात्रिक 'आ ई ऊ ॠ' इन वर्णो को 'दीर्घ' सज्ञा तथा त्रिमात्रिक अचो की 'प्लुत' सज्ञा का निर्देश उपलब्ध होता है ("ओजा ह्रस्वा सप्तमान्ता. स्वराणाम्, अन्ये दीर्घा:, तिस्र. प्लुत उच्यते स्वर " (ऋ० प्रा० १।१७-१८, ३०)।

जिस अच् के उच्चारण मे ह्रास हो जाय अर्थात् जिससे कम मात्राएँ अन्य अचो मे न हो सकें उसको 'ह्रस्व', जिस अच् के उच्चारण मे ह्रस्व वर्ण की अपेक्षा मात्रा का आयाम (विस्तार या वृद्धि) हो जाय उसे 'दीर्घ' तथा इन दोनो प्रकार के वर्णों की मात्राओ का जिसमे प्लवन (अतिक्रमण हो जाय उसे 'प्लुत' कहते हैं। इस प्रकार इन तीनो सज्ञाओ को अन्वर्थ कहा जा सकता है।

पाणिनि ने उत्तार्थ मे ही ये तीनो सज्ञाएँ की है—

"अकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुत " (अ० १।२।२७)।

(२८) उदात्त सज्ञा

महर्षि शौनक ने ऋग्वेद प्रातिशाख्य मे उदात्त एव स्वरित स्वरो के उच्चारण मे शरीर के अङ्ग किस रूप मे हो जाने चाहिए, इसका निरूपण करते हुए कहा है—

"उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रय स्वरा,
आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्तेऽक्षराश्रया ।"
(ऋ० प्रा० ३।१।१-३)।

अर्थात् वायु के द्वारा जब अङ्ग विस्तृत हो जाते हैं, उस समय उच्चरित वर्ण 'उदात्त' सज्ञक, वायु के द्वारा जब अङ्ग शिथिल पड जाते हैं उस समय उच्चरित वर्ण 'अनुदात्त' संज्ञक तथा वायु के द्वारा अङ्गो मे जब तरलता सी प्रतीत हो उस समय उच्चरित वर्ण स्वरित' सज्ञक होते हैं।

निरुक्त मे उत्कृष्टार्थवाचक पद को उदात्त तथा हीनार्थवाचक पद को अनुदात्त कहा है (" अस्या इति चास्येति चोदात्त प्रथमादेशे अनुदात्तमन्वादेशे। तीव्रार्थतरमुदात्तम्। अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम् " निरु० ४।४।६१-६२ इत्यादि)।

कण्ठताल्वादि स्थानों के ऊर्ध्वभाग से वायु का सम्बन्ध होने पर उच्चरित वर्ण की उदात्त' संज्ञा, अधोभाग से सम्बन्ध होने पर उच्चरित वर्ण की 'अनुदात्त' संज्ञा तथा जिस अच् के उच्चारण में दोनों स्वरधर्मों (उदात्त अनुदात्तत्व) का सन्निवेश हो उस वर्ण की 'स्वरित' संज्ञा पाणिनि ने कही है (उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्त., समाहार स्वरित·' अ० १।२।२९-३१)।

वेदों में इन स्वरों का उच्चारण उक्त प्रकार से किए जाने के कारण उदात्तादि संज्ञाएँ भी अन्वर्थ ही हैं।

(२९) विभक्ति संज्ञा

नाट्य शास्त्र में पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत 'विभक्ति' का लक्षण करते हुए कहा गया है—

'एकस्य बहूना वा धातोर्लिङ्गस्य पदाना वा,
विभजन्त्यर्थं यस्माद विभक्तयस्तेन ता प्रोक्ता ।''
(ना० शा० १४।३०)।

अर्थात् एक या अनेक धातु प्रातिपदिक या पदों के अर्थों का जिससे विभाग होता है उसे 'विभक्ति' कहते हैं। पाणिनीयशास्त्र में भी जिससे प्रातिपदिकार्थ का विभाग किया जाय, उस अर्थ मे प्रयुक्त 'विभक्ति' संज्ञा अन्वर्थ ही है।

पाणिनि ने ' विभक्तिश्च'' (अ० १।४।१०४) सूत्र से 'तिङ्' प्रत्ययों की 'विभक्ति' संज्ञा विभक्तिस्थ तवर्ग, सकार तथा मकार की इत् संज्ञा का निषेध करने के लिए की है। "प्राग्दिशो विभक्ति" (अ० ५।३।१) सूत्र से तसिल् आदि प्रत्ययों की विभक्ति संज्ञा त्यदादि विधि सम्पादन के उद्देश्य से की है।

(३०) आमन्त्रित संज्ञा

वाजसनेयि प्रातिशाख्य के 'न ससम्यामन्त्रितयो'' (वा० प्रा० ३।१३८) सूत्र मे 'आमन्त्रित' संज्ञा का स्मरण किया गया है। इस सूत्र के भाष्य से यही प्रतीत होता है कि पाणिनि ने "सामन्त्रितम्" (अ० २।३।४८) सूत्र से जो सम्बोधन में प्रथमान्त पद की 'आमन्त्रित' संज्ञा कहीं है, वही अर्थ पूर्वाचार्यों को भी अभीष्ट था।

आमन्त्रित का अर्थ आमन्त्रण होता है। अत आमन्त्रण का साधन जिन शब्दों से होता है उनकी की जाने वाली 'आमन्त्रित' संज्ञा अन्वर्थ ही है।

(३१) सार्वधातुक संज्ञा

आचार्य काशकृत्स्न ने "नामिनो गुण. सार्वधातुकार्धधातुकयो" (का० धा० व्या०, सू० २२) सूत्र से 'सार्वधातुक' एवं 'आर्धधातुक' संज्ञक प्रत्ययों के परे रहने पर

नामिसञ्ज्ञक इकारादि वर्णों का गुणविधान किया है। इसके अतिरिक्त "दानादीनां सन् सार्वधातुके" (वही, सू० ६५) इत्यादि सूत्रो मे भी 'सार्वधातुक' सञ्ज्ञा का उल्लेख किया गया है।

पाणिनि ने "तिङ्शित् सार्वधातुकम्" (अ० ३।४।११३) सूत्र से 'तिङ्' एव 'शित्' प्रत्ययो की 'सार्वधातुक' सञ्ज्ञा की है। 'शप्, श, श्नम्' इत्यादि शित् प्रत्यय गण विशेष के अनुसार भ्वादि इत्यादि गणो मे पढी गयी सभी धातुओ से होने के कारण 'सार्वधातुक' कहलाते हैं। 'सार्वधातुक' सञ्ज्ञक 'खश्' प्रत्यय को सभी धातुओ से न होते देखकर तथा 'आर्धधातुक' सञ्ज्ञक 'ण्वुल' 'तृच्' आदि प्रत्ययों को सभी धातुओं से होते देखकर इसप्रकार इन सञ्ज्ञाओ का विभाग व्यवहाराधिक्य के कारण मानना पड़ता हैं।

यह भी कहा जा सकता है कि—पूर्वाचार्य शबादि विकरणयुक्त धातुओं से ही होने वाले प्रत्ययो की सार्वधातुक' सञ्ज्ञा करते थे। अर्थात शबादि विकरण से युक्त होकर जहां धातु समग्र रूप मे रहती हो, उससे किए गए प्रत्ययो की 'सार्वधातुक' संज्ञा तथा जहां शबादि विकरण-रहित धातु हो उससे किए गए प्रत्ययो की 'आर्धधातुक' सञ्ज्ञा होती है। पूर्वाचार्यों का 'सर्व' शब्द से विकरण विशिष्ट का तथा 'अर्ध' शब्द से विकरणरहित का अभिप्राय प्रतीत होता है। इस प्रकार सर्व (विकरण-विशिष्ट) धातुओ मे होने वाले 'तिङ्' तथा शबादि विकरणों की की गयी सार्वधातुक' संज्ञा, अथ च अर्ध (विकरणरहित) धातुओ मे होने वाले 'ण्वुल्' 'तृच' आदि प्रत्ययो की की गयी 'आर्धधातुक' सञ्ज्ञा अन्वर्थ ही है।

जैसे 'भवति' मे 'तिप्' प्रत्यय के 'सार्वधातुक' होने के कारण 'शप्' प्रत्यय विकरण रूप मे सम्पन्न होता है, परन्तु 'बभूव' मे लिट् के स्थान मे हुए 'तिप' प्रत्यय की आर्धधातुक' सञ्ज्ञा होने के कारण 'शप्' विकरण नहीं होता है। इसी प्रकार 'जनमेजय' मे तो 'खश्' प्रत्यय के सार्वधातुक होने से 'शप्' होता है, परन्तु 'कारक' मे ण्वुल् प्रत्यय के 'सार्वधातुक' संज्ञक न होने से 'शप' नहीं होता है।

"पूर्वाचार्यः कैश्चिदति प्रत्ययत्वेन परिकल्पित" (म० भा० प्र० १।३।१) इस कैयट के वचन से किन्ही आचार्यों के मत मे शबादि विकरण पृथक् न होकर तिबादि के साथ प्रत्यय रूप मे ही पढे गये थे जिससे कहा जा सकता है कि 'अति' इत्यादि प्रत्ययों की ही सामूहिक रूप से 'सार्वधातुक' सञ्ज्ञा पूर्वाचार्य करते रहे होंगे।

पूर्वाचार्य द्वारा व्यवहृत पूर्वोक्त सञ्ज्ञाओ की सत्ता का आधार महाभाष्य, उसके व्याख्याकार कैयट और नागेशभट्ट आदि अन्य वैयाकरणो के ग्रन्थ हैं।

द्वितीय खण्ड

उत्कर्ष-काल

उत्कर्ष काल का आरम्भ पाणिनि से तथा अन्त पतञ्जलि से होता है। यही काल संस्कृत व्याकरण के सर्जन का काल है। महर्षि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी का, कात्यायन ने अपने वार्तिकों का तथा पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य का प्रणयन किया। ये तीनों ग्रन्थ तो उपलब्ध हैं तथा टीका टिप्पणियों के द्वारा अपने अर्थ का विशद प्रतिपादन करते हैं, परन्तु इस युग का विशालकाय लक्ष श्लोकात्मक परिमाण वाला 'संग्रह' नामक ग्रन्थ सदा सर्वदा के लिए विस्मृति के गर्त मे चला गया। इसके रचयिता महर्षि व्याडि की स्मृति व्याकरणग्रन्थों में उपलब्ध कतिपय उद्धरणों तथा उल्लेखों से ही जागरूक है। इस काल का विस्तार लगभग एक सहस्र वर्षों का मानना कथमपि अनुचित न होगा—अष्टम शती वि० पू० से लेकर द्वितीय शती वि०पू० तक। संस्कृत भाषा के व्याकरण-निर्माण का यह स्वर्णकाल है। संस्कृत लोकभाषा थी इस युग की आरम्भिक शताब्दियों में और शिष्टभाषा बनी रही इस सहस्राब्दी के अन्तिम काल तक। पाणिनि ने सूत्रों का निर्माण किया जिसमें अपेक्षित कमी की पूर्ति कात्यायन ने अपने वार्तिकों से की। पतञ्जलि ने इन वार्तिकों के ऊपर अपना श्लाघनीय व्याख्या महाभाष्य में लिखी। वार्तिकों के स्वरूप तथा संख्या जानने का आज महाभाष्य को छोड़कर कोई अन्य उपाय ही नहीं है। व्याडि का आविर्भाव काल पाणिनि तथा कात्यायन के मध्य-स्थित कालखण्ड में हुआ था। पाणिनि के कुटुम्ब के साथ निकट स्थित होने से उनका समय पाणिनि से विशेष दूर न था। व्याकरण के दार्शनिक विचारों के ये ही अग्रदूत थे।

पाणिनि

पाणिनि संस्कृत में व्याकरण शास्त्र के सबसे बड़े प्रतिष्ठाता तथा नियामक आचार्य हैं। उनका व्याकरण ग्रन्थ शब्दानुशासन के नाम से विद्वानों में प्रसिद्ध है, परन्तु आठ अध्यायों में विभक्त होने के हेतु वही अष्टाध्यायी के नाम से लोकप्रचलित है। संस्कृत भाषा के विश्लेषण का आरम्भ पाणिनि ने मानना नितान्त अनुचित है, दीर्घकालीन भाषा-विश्लेषण के युग के वे अन्तिम प्रतिनिधि हैं। वे देववाणी के आद्य वैयाकरण नहीं हैं, प्रत्युत उनमें प्राचीन लगभग अस्सी-पच्चासी वैयाकरणों के नाम, मत तथा ध्वनि का संकेत हमें वैदिक वाङ्मय से, विशेषतः प्रातिशाख्यों में, उपलब्ध होता

है। उन्होंने एकादश वैयाकरणों का नाम निर्देश स्वयं किया है जिनके मत का विवरण ऊपर दिया गया है। विभिन्न वेदाङ्गों के निर्माता यास्क तथा शौनक का नाम उन्होंने उल्लिखित किया है जिनसे पाणिनि की उनसे पश्चात्कालीनता स्वतः सिद्ध होती है। उनके आविर्भाव काल के यथार्थतः परिचय देने में अनेक मत हैं परन्तु उनमें कोई भी असन्दिग्ध नहीं प्रतीत होता। कथासरित्सागर (तरंग चतुर्थ) उन्हें व्याडि तथा कात्यायन वररुचि का समकालीन बतलाता है तथा कात्यायन को मगध नरेश राजा नन्द का मन्त्री। इस कथा पर आस्था रखने से उनका समय ई० पू० चतुर्थ शतक सिद्ध होता है। परन्तु भाषा के तारतम्य परीक्षण से सूत्रकार वार्तिककार के समसामयिक कथमपि नहीं माने जा सकते। दोनों के द्वारा व्याख्यात संस्कृत भाषा के रूप में विद्वानों ने भिन्नता सिद्ध की है। पाणिनि की भाषा ब्राह्मण, उपनिषद् तथा सूत्रों की भाषा से साम्य रखती है और कात्यायन की भाषा अनन्तरकालीन देववाणी से मेल खाती है।

मेरी दृष्टि में पाणिनि के कालनिर्णय में नियामक सूत्र मानना चाहिए 'निर्वाणोऽवाते' (अष्टा० ८।२।५०) को। यह सूत्र निर्वाण पद की सिद्धि बतलाता है। इस पद का अर्थ है—शान्त हो जाना और काशिका के उदाहरणों—**निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणो दीपः, निर्वाणो भिक्षुः**—से इसी अर्थ की पुष्टि होती है। इस पद का बौद्ध धर्म का विशिष्ट अर्थ मोक्ष है। प्रख्यात अर्थ का उल्लेख करते। फलतः बुद्ध से कथमपि अर्वाचीन नहीं माने जा सकते। कतिपय विद्वान् कुमारः श्रमणादिभिः (२।१।७०) सूत्र में 'श्रमणा' के उल्लेख से पाणिनि को बुद्ध से पश्चाद्वर्ती मानते हैं। उनका तर्क है कि 'श्रमण' (या संन्यासी) नाम तथा तत्प्रतिपादित त्यागमार्ग की स्थापना बुद्ध ने अपने धर्म में सर्वप्रथम की। कुमारः श्रमणादिभिः सूत्र के श्रमणादि गण में 'श्रमणा' शब्द का भी पाठ किया गया गया है। स्त्रियों को सन्यास देने की प्रथा का आरम्भ बुद्ध ही ने किया। अतः बुद्धदेव के द्वारा बौद्धधर्म की स्थापना के अनन्तर ही पाणिनि का आविर्भाव मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है। इस तर्क का खण्डन भली-भाँति किया गया है। सन्यास की प्रथा का उदय, स्त्रियों का संन्यास लेने का विधान तथा 'श्रमण' शब्द का प्रयोग बुद्ध के आविर्भाव से प्राचीन युग की घटना है। 'श्रमण' शब्द बुद्धोपज्ञ है—यह सिद्धान्त ही मिथ्या है, क्योंकि ब्राह्मण ग्रंथों में इस शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। शतपथ-ब्राह्मण ने सुषुप्ति अवस्था के निरूपण-प्रसंग में सर्वोपाधि की निवृत्ति का प्रतिपादन किया है और इस अवसर पर 'श्रमण' शब्द का प्रयोग भी किया है[1]। शाङ्कर भाष्य में

---

१. अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोकाः देवा अदेवा ...... श्रमणो अश्रमणः, तापसः अतापसः इति। (शतपथब्राह्मण १४ काण्ड, ७ अ०, १ ब्राह्मण, २२ कण्डिका)।

स्पष्ट है कि 'श्रमण' शब्द परिव्राजक अर्थ मे यहाँ अभिप्रेत है। याज्ञवल्क्य ऋषि के आदेश से मैत्रेयी ने सन्यास ग्रहण किया था। इसका भी प्रतिपादन इसी काण्ड मे है। फलत इन समग्र सूत्रों के परीक्षण का परिणत फल यही है कि पाणिनि बुद्धदेव से प्राचीन हैं। उनसे वे कथमपि अर्वाचीन नही हो सकते। वार्तिकों के अनुशीलन से भी वे कात्यायन के समकालीन नही प्रतीत होते हैं (जैसा कथासरित्सागर ने भ्रम फैलाया है) प्रत्युत वे कम से कम तीन सौ वर्ष प्राचीन हैं। फलत विक्रम-पूर्व अष्टम शती मे पाणिनि का आविर्भाव मानना सर्वथा उपयुक्त है।

पाणिनि का देश-काल

त्रिकाण्ड-शेष कोष मे पाणिनि के नामो मे 'शालातुरीय' शब्द पठित है। 'गणरत्न महोदधि'[1] के जैन लेखक वर्धमान ने इस शब्द की व्याख्या मे लिखा है—'शालातुरो नाम ग्राम। सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनि'। इस व्याख्या से पाणिनि के मूल ग्राम का नाम 'शालातुर' था। ५।१।१ काशिका की व्याख्या न्यास मे भी 'शालातुरीय' शब्द प्रयुक्त है। गुप्त शिलालेखो मे वलभी से प्राप्त एक शिलालेख मे (३१० सवत्सर) पाणिनीय शास्त्र के लिए 'शालातुरीयतन्त्र' का नाम प्राप्त होता है। ह्वेन त्साग ने अपने यात्रा-विवरण मे लिखा है कि शालातुर मे उसने पाणिनि की वह प्रतिमा देखी जिसे वहाँ के निवासियो ने उनकी प्रतिष्ठा करने के लिए स्मारक-रूप मे स्थापित किया था। इसका स्थल-निर्देश भी उसने किया है कि यह ग्राम गधार देश मे 'उद्भाण्ड' नामक प्रसिद्ध स्थान से प्राय दो कोस के भीतर लहुर ग्राम के पास है। यह 'उद्भाण्ड' आज ओहिन्द नाम से प्रसिद्ध है और सिन्धु तथा काबुल नदियो के सगम पर स्थित है। उससे पश्चिमोत्तर दिशा मे आज भी उतनी ही दूरी पर 'लहुर' नामक ग्राम है और यही पाणिनि की जन्मभूमि थी। फलत. वे उदीच्य थे। इस प्रान्त का बौद्धकाल मे सबसे विख्यात विश्वविद्यालय (या विद्यापीठ) तक्षशिला था और अपने जन्मस्थान से समीपस्थ इस विद्यापीठ मे सम्भवत पाणिनि की शिक्षा दीक्षा हुई थी—यह मत उचित प्रतीत होता है। सम्भव है वयस्क होने पर पाणिनि ने पाटलिपुत्र (पटना) निवासी वर्ष उपाध्याय का भी शिष्यत्व स्वीकार किया था।

पाणिनि का वैयक्तिक परिचय बहुत ही स्वल्प है। महाभाष्य मे पाणिनि का नाम दाक्षीपुत्र[2] दिया गया जिससे इनकी पूज्या जननी का नाम 'दाक्षी' सिद्ध होता

१ अत शालातुरीयेण 'प्राक्-ठञश्छ.' इति नोक्तम्। (५।१।१ का न्यास)
(काशिका, चतुर्थ भाग पृ० ६)।

२ सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिने.।
(महाभाष्य, १।१।२० सूत्र पर)।

है। ऋक्सर्वानुक्रमणी' में षड्गुरु-शिष्य ने छन्द शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य पिङ्गल को पाणिनि का अनुज बतलाया है। लक्ष-ग्रन्थात्मक 'सग्रह' के रचयिता को पतञ्जलि ने दाक्षायण[1] कहा है, उधर पाणिनि के लिए 'दाक्षीपुत्र' शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार दोनों में कौटुम्बिक सम्बन्ध प्रतीत होता है। मेरी दृष्टि में व्याडि पाणिनि के मातुल तनय प्रतीत होते हैं[2]। राजशेखर अपनी 'काव्यमीमांसा' में एक जनश्रुति का उल्लेख किया है जिसके अनुसार पाणिनि की विद्वत्ता की परीक्षा पाटलिपुत्र में हुई थी और उसके बाद ही उन्हें सार्वभौम प्रसिद्धि प्राप्त हुई। पता नहीं इस जनश्रुति का क्या आधार है ? उस प्राचीन युग में भी पाटलिपुत्र और तक्षशिला के विद्वानों में आदान-प्रदान की घटना होती थी—यह बात सम्भावना के बाहर नहीं है। पाणिनि के विषय में स्थूलरूप से हम ये ही बातें जानते हैं।

ग्रन्थ

पाणिनि ने घोर तपस्या से शिवजी को प्रसन्न किया और उनके अनुग्रह से 'अइउण्' आदि १४ सूत्रों को प्राप्त किया। ये माहेश्वर सूत्र पाणिनि व्याकरण के मूलपीठस्थानीय हैं। पाणिनि के भाषागत वैदुष्य की तुलना किसी से करना घोर अन्याय होगा। वे अपने विषय के अनुपम पारखी, गम्भीर तत्त्ववेत्ता, भाषा के सूक्ष्म पारद्रष्टा तथा विश्लेषण में नितान्त नैपुण्य सम्पन्न आचार्य थे जिनकी प्रतिभा पर भारतीय विद्वान् तथा आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् सर्वतोभावेन मुग्ध हैं। लक्षण ग्रन्थ लक्ष्यानुसारी होता है। महर्षि ने संस्कृत के यावदुपलब्ध लक्ष्य ग्रन्थों के अध्ययन के अनन्तर ही इस सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण का निर्माण किया। उनमें प्रातिभ ज्ञान था, आर्षचक्षु से तथ्यों का यथावत् निरीक्षण था। इस निरीक्षण के लिए एक सूत्र का प्रमाण लीजिए। उदक् च विपाशः (४।२।७४) सूत्र के द्वारा विपाश् (आधुनिक बिआस नदी) के उत्तर ओर वर्तमान कूपों के नाम निर्देश में अञ् प्रत्यय जोड़ा जाना है और दक्षिण तीरस्थ कूपों के लिए अण् प्रत्यय का विधान है। शब्दरूप में कोई भी अन्तर नहीं। 'दत्त' के द्वारा निर्मित दोनों ओर के कूप दात्त' ही कहे जाते, परन्तु

---

१ शोभना खलु दाक्षायणस्य सग्रहस्य कृतिः ॥ (वही)।

२ कुछ विद्वान् व्याडि को पाणिनि का मातुल मानते हैं, परन्तु यह मत सयुक्तिक नहीं है। कारण यह है कि व्याडि ने अष्टाध्यायी पर आश्रित 'सग्रह' ग्रंथ लिखा। अतः वय में उन्हें पाणिनि की अपेक्षा न्यून होना चाहिये और यह वय सम्बन्धी तारतम्य व्याडि के मातुल-पुत्र होने पर भी सगत बैठता है। अतः दोनों में यही सम्बन्ध मानना न्यायत उचित प्रतीत होता है।

संज्ञासम्बन्धी कार्य की पूर्ति के लिए १।१।४५ से परिभाषा प्रकरण का आरम्भ किया गया है। यह प्रासंगिक है, अत १।१।६० मे पुन अर्थ संज्ञा रूप लोप का विधान किया गया है। आदेश और लोप के साथ टिसंज्ञा और उपधासंज्ञा अत्यावश्यक प्रतीत होती हैं, अत उनका निर्देश १।१।६४ ६५ मे किया गया है। पादान्त मे उपसंहार की दृष्टि से सौत्रशब्द व्यापारसम्बन्धी कुछ परिभाषाओ का पाठ है। सर्वान्त मे वृद्धसंज्ञा के स्थापन का उचित कारण अन्वेष्य है।

१।२ पाद—प्रत्ययसम्बन्धी संज्ञाकरण आरम्भ मे है (१।२।१–२६)। चूंकि यह अतिदेश भी है और संज्ञा भी। अत पृथक पाद मे इस विषयका उपन्यास किया गया।

१।२।२७ से ह्रस्वादि संज्ञाओ का विधान है साथ ही १।२।२९-४० मे वैदिक उदात्तादि का विवरण किया गया है। यह विषय शिक्षा प्रातिशाख्य से मूलत सम्बद्ध है। अत पूर्वपाद से पृथक् पाद म यह उपदिष्ट हुआ है। ह्रस्वादि वर्ण सम्बद्ध संज्ञाएँ हैं। अत वर्णविषयक अपृक्त संज्ञा १।२।४१ मे पठित हुई है।

१।२।४२-४३ मे समाससम्बद्ध दो संज्ञाएं पठित हुई हैं। चूंकि समास प्रकरण मे इनका पाठ करने पर दोष होता, अत इन दोनो का पाठ समास-प्रकरण मे न कर यहाँ किया गया है। प्रातिपदिक ज्ञान से पहले जिन संज्ञा परिभाषाओं का ज्ञान करना आवश्यक है, उनका पाठ यहाँ तक किया गया है।

१।२।४५ मे प्रातिपदिक संज्ञा का उल्लेख किया गया है। प्रातिपदिक विचार के साथ साथ १।२।६४ सूत्र से 'एकशेष' का विचार किया गया है। 'प्रातिपदिकानामेकशेष' यह वैयाकरणो मे प्रसिद्ध भी है।

१।३ पाद के आरम्भ मे धातुसंज्ञा का उल्लेख हैं। धातु नाम के अधीन होता है, अत नाम के बाद धातु का उपन्यास करना उचित ही हैं। धातु अनुबन्ध बहुल होते हैं, अत अनुबन्धो (= इत्) की चर्चा १।३।११ तक की गयी है।

१।३।१२ से आत्मनेपद, परस्मैपद की चर्चा की गयी है, क्योकि ये दो धातुसम्बद्ध ही विषय हैं। 'विप्रतिषेध नियम' को मानकर पहले 'आत्मनेपद' और उसके बाद परस्मैपद' का उपस्थापन किया गया है।

१।४ पाद—इसमे परिशिष्टभूत संज्ञाओ की चर्चा पहले की गयी है।

१।४।२३ सूत्र से कारकाधिकार प्रवर्तित होता है। कारक से पहले 'वचन' (१।४।२१ २२) का उपन्यास करना न्याय की दृष्टि से आवश्यक है, क्योकि संख्या के बाद कारक का बोध होता है। कारको का उपन्यास 'अपादान-सम्प्रदान करण-अधिकरण कर्म कर्ता' इस क्रम से किया गया है। इसमें 'विप्रतिषेध नियम' ही हेतु है।

१।४।५६ से 'निपात' और १।४।५९ से 'उपसर्ग' का विचार किया गया है। इन दोनों का कारकज्ञान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः कारक से पहले इनका उपन्यास न कर बाद में किया गया है।

'निपात-उपसर्ग' के बाद उपसर्ग-सदृश 'कर्मप्रवचनीय' का उपन्यास करना उचित ही है। अतः १।४।८३ सूत्र से कर्मप्रवचनीयों का उपन्यास किया गया है। १।४।६०।८२ पर्यन्त गतिसंज्ञक शब्दों की चर्चा की गयी है क्योंकि उपसर्ग ही क्रियायोग से शून्य होने पर (तथा अन्य विशेष गुण से युक्त होने पर) गतिसंज्ञक होते हैं।

१।४।९९ से 'तिङ्' का विचार किया गया है। वाक्यगत पदसामान्य का विचार प्रथमाध्याय का विषय है, अतः अध्यायान्त मे तिङ् का विचार प्रसक्त होता है, क्योंकि वाक्य=एकतिङ्। प्रसंगतः १।४।९९ १०० मे 'परस्मैपद-आत्मनेपद' संज्ञा का उल्लेख है। तिङ् और उपग्रह के साथ सम्बन्ध रहने के कारण १.४.१०१ से 'पुरुष' की चर्चा की गयी है।

अध्यायान्त मे 'संहिता' संज्ञा (१।४।१०९) और 'अवसान संज्ञा' (१।४।११०) का उल्लेख किया गया है। स्वभावतः 'पदसामान्य विचार' के अन्त मे ही इनका उपन्यास करना उचित प्रतीत होता है।

द्वितीयाध्याय का विश्लेषण

'विशेष पदों का संकलन' इस अध्याय का मुख्य विषय है। कुछ सम्बन्धित विषय भी उपन्यस्त हुए हैं। प्रथमाध्याय मे व्यासरूप वाक्य (पदसामान्य) ही मुख्यतः विवेचित हुआ है।

२।१-२ पाद—समासरूप विशिष्ट पद का विवेचन किया गया है समासो मे पूर्वपदार्थ-प्रधान होने के कारण 'अव्ययीभाव' का उपन्यास सबसे पहले किया गया है (२।१।२१ सूत्र पर्यन्त)। उसके बाद उत्तरपदार्थ-प्रधान 'तत्पुरुष' का आरम्भ २।१।२२ से किया गया है। तत्पुरुष प्रायेण द्विपदघटित होता है, अतः प्रायेण बहुपद-घटित 'बहुव्रीहि द्वन्द्व' से इसका उपन्यास पहले से किया गया है। बहुव्रीहि तत्पुरुष का शेष है, अतः तत्पुरुष के बाद 'बहुव्रीहि' का विवेचन है। बहुव्रीहि २।२।२९ पर्यन्त है। उभयपदार्थ प्रधान होने के कारण 'द्वन्द्व' का प्राधान्य है और इसी दृष्टि से (तु० द्वन्द्वं सामासिकस्य च) सर्वान्त मे द्वन्द्व का उपन्यास किया गया है। पर मे उपन्यस्त विधि बलवान् होता है। इस न्यास से भी उभयपदार्थ-प्रधान द्वन्द्व का उपन्यास सर्वान्त मे करना आवश्यक था।

सर्व समास सम्बद्ध 'उपसर्जन' प्रकरण चतुर्विध समासों के बाद २।२।३० सूत्र से आरम्भ हुआ है।

२ ३ पाद—सुबन्त शब्दों का समास होता है। अतः समास के बाद इस पाद में 'सुप् विभक्तियों' का अर्थ दिखाया गया है।

२।४ पाद—आरम्भ में पूर्वारब्ध समास से सम्बन्धित 'लिंगवचनों' का विधान किया गया है (२।४।३१ सूत्र पर्यन्त)। २।४।३ सूत्र से जिन विषयों का उपन्यास किया गया है, हमारी दृष्टि में वे विशिष्ट पद के अन्तर्गत हैं। 'अन्वादेश' विशिष्टपद है (२।४।३४ पर्यन्त), तथैव आर्धधातुक सम्बन्धी 'धात्वादेश' (२।४।३५) भी विशिष्ट धातु ही हैं। २।४।५८ से नाम और विकरण सम्बन्धी 'लुक् प्रकरण' है। मुख्यतः पदसम्बन्धी होने के कारण पदविधिपरक इस अध्याय के अन्त में यह विषय रखा गया है। सर्वान्त सूत्र 'लुट प्रथमस्य डारौरस' (२।४।८५) है। प्रत्ययाधिकार में इसे पढ़ने के दोष होना (अभीष्ट सर्वादेशत्व सिद्ध नहीं होता)। अतः विशिष्ट पद विचार के अन्त में तथा प्रत्ययाधिकार से ठीक पहले इसको रखा गया है।

३–५ अध्याय पर्यन्त प्रत्ययाधिकार है। सामान्य और विशिष्ट पदों का 'प्रकृति-प्रत्यय में विभाग' इन तीन अध्यायों में किया जायगा।

तृतीय अध्याय

३ १ पाद—प्रत्यय सम्बन्धी सामान्य विचार १–८ सूत्र में किया गया है। चूँकि धातु के बाद कृत्प्रत्यय होते हैं, अतः 'प्रत्ययान्त धातु' का उल्लेख यहीं कर दिया गया है (३।१।५–२२)। ३।१।२३ से 'विकरण' का आरम्भ किया गया है। ये विकरण धातु के अव्यवहित पर में होते हैं तथा कृत् से ये अन्तरंग हैं। अतः कृत्-प्रत्ययों से पहले इनका उपन्यास किया गया है (३।१।८६ पर्यन्त)। कुछ सम्बद्ध विषयों की चर्चा ३।१।९० तक की गई है।

३।१।९१ सूत्र में 'कृत्प्रत्ययों' का अधिकार किया गया है। इसके दो ही विभाग हैं, 'कृत्य' और 'कृत्'। अन्तरङ्गक तथा नाम विशेषण निष्पादक कृत्य का आरम्भ पहले किया गया है (३।१।१३२ सूत्र पर्यन्त)। ३।१।१३३ से नाम विशेषण निष्पादक कृत्' अभिहित हुए हैं। ण्वुल्-तृच् आदि कृत्प्रत्यय कालानुसारी विभक्त है यह कृत्प्रत्यय २ पाद पर्यन्त है। प्रथम पाद के प्रत्ययों में 'उपपद' की चर्चा नहीं है। ३।२ पाद के प्रत्ययों में 'उपपद' की अपेक्षा है।

३।३ पाद—आरम्भ में उणादि (१–३ सूत्र) है। ४ सूत्र में भविष्यत्कालिक कृत् प्रत्यय हैं। १–२ पाद में सार्वकालिक और भूतकालिक प्रत्यय कहे गए हैं। ३।३।१८ सूत्र में 'भाव' का अधिकार है—अर्थात् कृत प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द भाववाची होते हैं।

३.४ पाद—यह कृत्प्रत्यय का परिशिष्टभूत है। 'अव्ययरूप' 'कृतप्रत्ययों' का विवरण मुख्यत इसमे है। ३।४।७७ सूत्र से 'लादेश' का प्रसग किया गया है। आदेश के सिद्ध पद विशेष्यवाची होता है। अत विशेष्यपद निष्पादक 'अव्ययकृत' के बाद 'लादेश' का उपस्थापन न्याय्य ही है।

चतुर्थ पञ्चम अध्याय

धातु से नाम की उत्पत्ति कहने के बाद 'नाम से नाम की उत्पत्ति' के लिए चतुर्थ पञ्चमाध्याय प्रणीत हुए हैं। आरम्भ मे 'स्त्रीप्रत्ययों' की चर्चा है (४।१।३–४।१।८१)। पहले 'साधारण स्त्रीप्रत्यय' और उसके बाद ४।१।१४ से 'अनुपसर्जन स्त्रीप्रत्यय' कहे गये हैं।

४ १।८२ सूत्र से 'तद्धित प्रकरण' का आरम्भ किया गया है (यो 'तद्धिता' सूत्र ४।१।७६ है)। चूँकि स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द के बाद स्त्रीप्रत्यय होते हैं, अत स्त्रीप्रत्यय के प्रतिपादन के बाद 'तद्धित प्रकरण' रखा गया है। तद्धित मे भी पहले 'अस्वार्थिक तद्धित' और ५।३।१ सूत्र से 'स्वार्थिक तद्धितों' का उपन्यास किया गया है। चतुर्थ अध्याय मे तीन प्रत्ययो का महाधिकार है—अण्, ठक् तथा यत्। पञ्चम अध्याय के अस्वार्थिक प्रत्ययो मे तीन प्रत्ययो का महाधिकार है—छ, ठक् और ठञ्। ५.२ पाद वस्तुत तद्धित प्रत्ययो का परिशिष्ट है। ३–४ पादो मे स्वार्थिक तद्धित प्रत्यय' हैं। ५।३।२६ सूत्र पर्यन्त 'विभक्तिसंज्ञक स्वार्थिक तद्धित' और ५।३।२७ सूत्र मे 'केवल स्वार्थिक प्रत्यय' विहित हुए हैं।

५।४।६८ सूत्र से 'समासान्त' आरब्ध हुआ है। प्रक्रिया की दृष्टि से समासान्त को तद्धित प्रत्यय मानना पडता है। अत तद्धिताधिकार मे ही (स्वार्थिक तद्धित के अन्त मे) 'समासान्त' को रखा गया है।

षष्ठ अध्याय

यहाँ से अष्टाध्यायी के तृतीय भाग का आरम्भ हो रहा है। पहले प्रकृति (धातु आदि) सम्बन्धी कार्यों (आदेशादि) का उल्लेख है और उसके बाद प्रत्ययसम्बन्धी कार्यों का। प्रकृत्याश्रित कार्य प्रत्ययाश्रित कार्यों से अन्तरग होता है, इस न्याय से ऐसा करना आवश्यक है।

६।१।१ १२ तक धातुसम्बन्धी कार्य कहे गये हैं ('द्वित्व विधि')। १३ सूत्र से 'सम्प्रसारण रूप' आदेश कहा गया है। ४८ सूत्र से 'आत्वविधि'। इन स्थलो मे आदेश के साथ आवश्यक आगम भी उक्त हुए हैं। आगम-आदेश मे सादृश्य भी बहुलतया है, अत. एकत्र पाठ करना सगत ही है। ६।१।७२ सूत्र से वे आदेश विहित हुए हैं, जो सहिता मे होते हैं। सहिताधिकार ६।१।१५७ पर्यन्त है।

२८

६।१।१५८ से ६.२ पाद पर्यन्त स्वरविधि है। यह स्वरविधि अष्टमाध्यायोक्त स्वरविधि के साथ नहीं पढ़ा गया, इसमें पाणिनीय पारिभाषिक प्रक्रिया ही हेतु है।

६.३ पाद में भी प्रकृति-कार्य है, पर ये कार्य उत्तर पदसापेक्ष हैं। ६।४ पाद से 'अङ्गाधिकार' आरब्ध हुआ है, जो सप्तमाध्याय पर्यन्त है। 'प्रत्यय परे रहने प्रकृति की अङ्गसंज्ञा होती है', अत इस विशिष्टता की रक्षा के लिए अङ्गप्रकरणोचित कार्यों का पाठ पृथक रूप से किया गया है। 'अङ्ग कार्य' में भी पहले 'सिद्धकार्य' और उसके बाद ६।४।२२ सूत्र से 'असिद्ध कार्य' यह असिद्ध-प्रकरण अष्टमाध्यायीय असिद्ध-प्रकरण से विलक्षण है।

सप्तमाध्याय

मुख्यत प्रत्यय-कार्यों का उपदेश इस अध्याय में दिया गया है। प्रत्यय कार्यों के साथ सम्बद्ध आगमों का भी उल्लेख किया गया है। इस अध्याय में बाहुल्येन 'विप्रतिषेध' नियम के अनुसार कार्यों का उपस्थापन किया गया है।

अष्टमाध्याय

प्रथम पाद में द्वित्व विधि का अनुशासन है। यह पद द्वित्व है। चूँकि सप्तमाध्याय पर्यन्त पद निर्माण समाप्त हो गया है, अत यहाँ पद-द्वित्व का उपन्यास करना उचित ही है। ८।१।१५ तक 'द्वित्व' है। ८।१।१६-१७ में 'पदस्य' 'पदात्' का अधिकार है। इसमें पदस्वर प्रक्रिया है।

२-३ पाद में 'पूर्वत्रासिद्धम्' (१ सूत्र) रूप असिद्ध काण्ड रचित हुआ है। 'पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्' इस न्याय के अनुसार यहाँ आदेशलोपादिकार्य अनुशिष्ट हुए हैं।

पाणिनि और संस्कृत भाषा

पाणिनि ने संस्कृत भाषा को स्थायित्व प्रदान करने का जो कार्य किया, वह अलौकिक तथा अद्भुत है। लक्ष्यानुपरीक्षण पर लक्षण का निर्माण स्वाभाविक माना जाता है। पाणिनि ने अपने युग तक उपलब्ध साहित्य का विधिवत परीक्षण करने के बाद अपने व्याकरण-ग्रन्थ का प्रणयन किया—इस सिद्धान्त का अपलाप नहीं किया जा सकता। भाषा की दृष्टि से संस्कृत भाषा तथा शब्दों का ह्रास ही सम्पन्न होता जा रहा है, विकास नहीं। पाणिनि संस्कृत-भाषा के शब्दों के नियमन करने वाले आचार्य हैं, परन्तु यह देववाणी पाणिनि के व्याकरण से कहीं अधिक विशद, विस्तृत तथा व्यापक है। महाभारत के टीकाकार देवबोध (१२वीं शती) का यह कथन

यथार्थ प्रतीत होता है कि माहेन्द्र व्याकरण अर्णव है जिसकी तुलना मे पाणिनीय व्याकरण गोष्पदमात्र है—

> यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
> पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥

जब गोष्पदभूत पाणिनीय व्याकरण इतने शब्दो की सिद्धि तथा परीक्षा मे समर्थ है, तब महेन्द्र व्याकरण को कितने शब्दो के विश्लेषण तथा परीक्षण का श्रेय प्राप्त होगा ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर कौन दे सकता है आज !!! फलत देववाणी का शब्दभण्डार पाणिनि-व्याख्यात शब्द भण्डार की अपेक्षा कही बहुत अधिक है—यह तो निश्चित ही है।

पाणिनि के सूत्रो मे उल्लिखित तथा इन सूत्रो की सहायता से व्युत्पन्न शब्द भी पर्याप्तरूपेण ऐसे हैं जिनका प्रयोग अवान्तरकालीन व्यवहार से बिल्कुल लुप्त हो गया है अथवा लुप्तप्राय सा है। पिछले युग के साहित्य मे उनका प्रयोग नितान्त स्वल्प है या नितान्त अभावग्रस्त है। ऐसे कतिपय शब्दो का अर्थ यहाँ काशिका के आधार पर दिया जाता है जिससे पाणिनिकालीन शब्द व्यवस्था की एक फीकी झाँकी भाषा के जिज्ञासुजनो के सामने स्वय प्रस्तुत हो जाती है। प्रत्येक शब्द के ऊपर भाषाशास्त्रीय अध्ययन की अपेक्षा है—

(१) स्थेय—विवाद के पक्षो का निर्णयकर्ता, निर्णायक अथवा जज। इसीके लिए 'प्राड्विवाक' शब्द भी पिछले धर्मशास्त्रो मे प्रयुक्त है, परन्तु वह दो शब्दो के योग से बना शब्द है, और यह है स्वत. एकाकी अर्थप्रकाशक अभिधान (१ ३ २३)।

(२) गन्धन-अपकार प्रयुक्त हिंसात्मक सूचनम् (१।३।३२)।

(३) प्रतियत्न-सतो गुणान्तराधानम् (वही सूत्र)

(४) उपनयनम् = विवाह, स्वीकरणम् (१।३।५६)

(५) वृत्ति = अप्रतिबन्ध (१।३।३८)

(६) सर्ग = उत्साह (१।३।३८)

(७) तायनम् = स्फीतता-विकसित होना (१।३।३८)

(८) आध्यानम् = उत्कण्ठा स्मरणम् = उत्कण्ठापूर्वक स्मरण (१।३।४६)।

(९) प्रत्यवसानम् = अभ्यवहार = भोजन (१।४।७६)

(१०) निवचनम् = वचनाभाव (मौन हो जाना) १।४।७६

(११) एकदेशी = अवयवी २।२।१

(१२) अपवर्ग = क्रियापरिसमाप्ति २।६।६

(१३) आयुक्त =व्यापारित २।३।४०
(१४) अनुपात्यय =क्रमप्राप्तस्यानतिपात (परिपाटी)।
(१५) मूर्ति =काठिन्यम ३।३।७७
(१६) समापत्ति =सन्निकर्ष ३।४।५०
(१७) माथ =पन्था ४ ४।३७ ('दण्डमाथ धावति'=दाण्डमाथिक । सीधे राह पर दौड़ने वाला व्यक्ति (न्यास) ।
(१८) दिष्टम्=प्रमाणानुपातिनी मति ४।४।६०
(१९) अभिजन =पूर्वबान्धव (४।२।९०) तत्सम्बन्धाद् देशोऽपि अभिजन इत्युच्यते यस्मिन् पूर्वबान्धवैरुषितम ।
(२०) उपज्ञातम्=विनोपदेशेन ज्ञातम् ४।३।११५
(२१) तीर्थ =गुरु ४।४।१०७
(२२) उपधान –चयनवचन ४।४।१२५
(२३) अवष्टम्भम = अ सन्नम ५।२।१३
(२४) पार्श्वम्=अनृजुरुपाय (कुटिल उपाय) ५।२ ७५ (पार्श्वक –मायावी)
(२५) निष्कोषणम्=अन्तरवयवाना बहिर्निष्कामनम ५ ४।६२
(२६) प्रवाणी=तन्तुवायशलाका ५।४।६०
(२७) परीप्सा=त्वरा ३।४।५२
(२८) समवाय =समुदाय ६।१।१३८
(२९) प्रतिष्कश =वार्तापुरुष सहाय पुरोयायी वा ६।१।१५२ (किसी के आने की खबर देनेवाला अथवा आगे जानेवाला पुरुष) ।
(३०) मस्कर = वेणुर्दण्डो वा
(३१) मस्करी=परिव्राजक (माकरणशीलो मस्करी कर्मापवादित्वात् परिव्राजक उच्यते) (कर्म का खण्डन करने वाला बौद्धकालीन भिक्षु) ।
(३२) कुशा=यज्ञ मे प्रयुक्त उदुम्बर काष्ठ की बनी शकु (खूँटी) छन्दोगा स्तोत्रीय गणनार्थान औदुम्बरान शकून् 'कुशा' इति व्यवहरन्ति (तत्त्वबोधिनी) ।
(३३) कुशी=हल का बना लोहे का फाल (बुन्देलखण्डी 'कुसिया उसी का वाचक तद्भव शब्द है परन्तु भोजपुरी 'चौभी' शब्द देशी है । 'अयस्कुशा इसी का अपर पर्याय प्रतीत होता है) ।

पाणिनिकालीन लोकभाषा

पाणिनि का अष्टाध्यायी के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे जिस संस्कृत का व्याकरण लिख रहे थे वह लोकभाषा थी—सामान्य जनता की व्यवहार्य

आया। सैकड़ो ऐसे सूत्र हैं जिनका उपयोग व्यवहारगम्य शब्दोंकी सिद्धि के निमित्त ही होता है, किसी शास्त्रीय शब्द के लिए नही। ऐसी दशा में हम इसी निष्कर्ष पर बलात् उपनीत होते हैं कि संस्कृत उस युग में बोली जाने वाली भाषा थी। इस विषय के कतिपय सूत्रस्थ प्रमाण उपस्थित किये जा रहे हैं—

(क) प्लुतविधान की युक्तिमत्ता

प्लुतविधान के निमित्त अनेक सूत्र हैं। (१) दूराह्वान अर्थात् दूर से बुलाने के लिए प्रयुक्त वाक्य के टि को प्लुत संज्ञा होती है—जैसे सक्तून् पिब देवदत्त३। यहाँ दत्त का अन्तिम अकार प्लुत हुआ है। (२) दूराह्वान वाले वाक्य में यदि है और हे का प्रयोग हो, तो इन शब्दों को ही प्लुत होता है यथा हे३ राम तथा राम है३ (हैं हे प्रयोगे हैहयो ८।२।२२), (३) इसी प्रकार देवदत्त को दूर से पुकारना होगा, तो देवदत्त में तीन स्थानों पर क्रमश प्लुत होगा दे३वदत्त, देवद३त्त, देवदत्त३ (सूत्र ८।२।८६), (४) अशूद्रविषयक प्रत्यभिवादन में प्रयुक्त वाक्य के टि को प्लुत संज्ञा होती है। अभिवादन के उत्तर में जो वाक्य प्रयुक्त होता है, उसे 'प्रत्यभिवादन' कहते हैं। यथा—

(१) अभिवादन = अभिवादये देवदत्तोऽहम्।
प्रत्यभिवादन = भो आयुष्मानेधि देवदत्त ३।

(२) अभिवादन = अभिवादये गार्ग्योऽहम्।
प्रत्यभिवादन = भो आयुष्मानेधि गार्ग्य ३।

जिस प्रत्यभिवादन वाक्य के अन्त में नाम तथा गोत्र का प्रयोग किया जाता है, वहीं यह नियम लगता है। पूर्वोक्त वाक्यों में पहिले वाक्य के अन्त में नाम प्रयुक्त है और दूसरे में गोत्र। अत इन दोनों में प्लुत का श्रवण होता है[1]। वार्तिककार भी, क्षत्रिय तथा वैश्य नाम को भी प्लुतविधान करते हैं। सूत्र में इस तथ्य का स्पष्टीकरण न था। इसलिए कात्यायन ने इस वार्तिक के द्वारा स्पष्टीकरण किया है[2]।

इस प्लुतविधान की युक्तिमत्ता तभी सिद्ध हो सकती है, जब भाषा प्रयुक्त हो। लिखित भाषा के लिए ये सब नियम व्यर्थ हैं।

(ख) आक्रोश की गम्यमानता

आक्रोश गम्यमान होने पर आदिनी (खाने वाली) शब्द परभाग में रहने पर

---

१ प्रत्यभिवादेऽशूद्रे ८।२।८३। नाम गोत्र वा यत्र प्रत्यभिवादवाक्यान्ते प्रयुज्यते, तत्रैव प्लुत इष्यते—कौमुदी।

२. भोराजन्य विशां वेति वाच्यम्। पूर्वसूत्र पर वार्तिक।

पुत्र शब्द में द्वित्व नहीं होता[1] यथा पुत्रादिनी त्वमसि पापे (बेटा खाने वाली हो तू पापिनी) यह गाली है और आज भी हमारे गाँवों तथा नगरों में सुनी जा सकती है। भोजपुरी में गाली का शब्द ही है– बेटा-खौकी (बेटा खाने वाली)। वार्तिककार यहाँ हत और जग्ध शब्दों के प्रयोग करने पर पुत्र शब्द में विकल्प से द्वित्व मानते हैं जैसे पुत्त्रहती तथा पुत्रहती, पुत्त्रजग्धी तथा पुत्रजग्धी। दोनों ही गाली हैं। गाली देने में प्रयुक्त भाषा लोकभाषा है, लिखित भाषा नहीं।

(ग) व्यावहारिक वस्तुओं का नामकरण

पाणिनि ने व्यवहार में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुओं के नाम सिद्ध करने के लिए सूत्रों का निर्माण किया है। इन वस्तुओं का सम्बन्ध शास्त्रों से न होकर ठेठ लोक संस्कृति से है। दो चार उदाहरण ही पर्याप्त होगा –

(क) जितना अनाज एक खेत में बोया जाता है, उतने से उसका नामकरण पाणिनि ने किया है। प्रास्थिक, द्रौणिक तथा खारीक आदि शब्द इसी नियम से बनते हैं (तस्य वाप ५।१।४५)।

(ख) किसी नदी को तैरकर पार करने के लिए भिन्न भिन्न साधनों का प्रयोग लोक में आज भी करते हैं और उस समय भी करते थे। गाय का पूँछ पकड़ कर जो व्यक्ति किसी नदी को पार करता है वह कहलाता है 'गोपुच्छिक' (गोपुच्छाट्ठञ् ४।४।६), परन्तु जो घड़े की सहायता से पार जाता है वह होता है 'घटिक' और अपने बाहुओं के सहारे नदी पार जाने वाली स्त्री 'बाहुका' कही जाती है (नौद्व्यचष्ठन् ४।४।७)।

(ग) रंगरेज भिन्न भिन्न रंगों से कपड़े रँगते हैं। वहाँ के रंगों की भिन्नता के कारण उन कपड़ों के भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। मञ्जिष्ठा (मजीठ) से रंगा गया वस्त्र 'माञ्जिष्ठ' कहलाता है, तो लाक्षा रस से रँगा गया 'लाक्षिक' तथा रोचन से से रँगा गया 'रौचनिक' नाम से पुकारा जाता है। तेन रक्तं रागात् ४।२।१ तथा लाक्षारोचनाट्ठक् ४।२।२ सूत्रों से ये शब्द निष्पन्न होते हैं।

(घ) बाजारमे आज भी कुंजड़े तरकारी बेंचते समय मूली तथा शाक को छटाँक पाव तथा आधा पाव को मुट्ठी या गड्डी बनाकर बेंचते हैं। इस गड्डी को 'मूलकपण' तथा 'शाकपण' क्रमशः नामों से पाणिनि अभिहित करते हैं ('नित्यं पण परिमाणे' ३।३।६६ सूत्र से ये पद सिद्ध होते हैं)। इसी प्रकार सैकड़ों लौकिक शब्दों के अभिधानार्थ पाणिनि ने विशिष्ट सूत्रों का निर्माण किया है। यह इसका स्पष्ट प्रमाण

---

१ नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य ८।४।४८। वा हत-जग्धयोः (इसी सूत्र पर वार्तिक)।

है कि उस युग मे संस्कृत बोल चाल की भाषा थी, अन्यथा इन नियमो की उपयुक्ति ठीक नही बैठती।

(घ) मुहावरों का प्रयोग

अष्टाध्यायी मे ऐसे मुहावरें (वाग्योग) उस समय प्रचलित थे जो संस्कृत को लोकभाषा सिद्ध करते हैं। चलती भाषा मे ही ऐसे प्रयोग मिल सकते हैं, लोकव्यवहार से बहिर्भूत भाषा में कभी नही। णमुल् के विविध प्रयोग इसे स्पष्ट सिद्ध करते हैं—

(क) शय्योत्थाय धावति=सेज से सीधे उठकर दौडता है अर्थात् त्वरा के कारण वह अन्य आवश्यक कार्यों की बिना परवाह किये दौड़ता है।) ३।४।५२)

(ख) रन्ध्रापकर्षं पय पिबति=पात्र मे रखकर दूध पीने के स्थान पर जल्दी के मारे वह गाय के स्तनो के छिद्र को खींच कर दूध पीता है। (३।४।५२)।

(ग) यथाकारमहं भोक्ष्ये तथाकारमहम्। किं तवानेन ? (३।४।२८) [असूया (ईर्ष्या) के प्रतिवचन गम्यमान होने पर यह प्रयोग बनता है। कोई असूया से पूछ रहा है उसका उत्तर इस वाक्य मे है। जिस तरह से मैं चाहूँ, उस तरह से भोजन करूँगा। आपका इससे क्या ?]।

(घ) कर्णेहत्य पय पिबति, (ङ) मनोहत्य पय पिबति (दोनों वाक्यों का एक ही अर्थ है—भरपूर दूध या जल पीना। इनमे दूसरा वाक्य आज भी हिन्दी मे प्रचलित है। 'मन मार कर पीना' अर्थात मन की इच्छा को मार कर पूर्ण रूप से पीना जिससे प्यास फिर न रहे। श्रद्धा प्रतिघात का यही स्वारस्य है) ये समग्र प्रयोग संस्कृत को लोकभाषा सिद्ध कर रहे हैं।

संस्कृत के लोकभाषा होने का यह तथ्य पाणिनि के आविर्भावकाल की प्राचीनता का स्पष्ट द्योतक है। महावीर तथा गौतम बुद्ध के समय मे उत्तर भारत मे संस्कृत से इतर भाषाओं का प्रयोग लोक व्यवहार मे होने लगा था। महावीर के उपदेश अर्धमागधी मे तथा बुद्ध के उपदेश मागधी (या पालि) मे दिये गए हैं। ये दोनों उपदेशक जनसाधारण के हृदय को आकृष्ट करने के लिए लोकभाषा मे ही प्रवचन किया करते थे—यह तो सर्वप्रसिद्ध तथ्य है। पाणिनि के समय मे इन लोकभाषाओं का उदय ही नही हुआ था—ऐसी दशा मे पाणिनि का समय महावीर तथा बुद्ध से प्राचीनतर मानना ही नितान्त समुचित है।

पाणिनि-उपज्ञात संज्ञाएँ

पाणिनि ने पूर्वाचार्यो द्वारा निर्दिष्ट प्रभूत संज्ञाओं का प्रयोग अपने ग्रन्थ मे किया है, परन्तु लाघव के निमित्त उन्होने अनेक स्वोपज्ञ संज्ञायें उद्भावित की हैं उन्हीं में से कतिपय प्रख्यात संज्ञाओं का विवरण यहाँ दिया जाता है।

(१) घु संज्ञा

पाणिनि द्वारा "दा धा घ्वदाप्" (अ० १।१।२०) सूत्र में 'दा धा' संज्ञियों के लिए प्रयुक्त 'घु' संज्ञा के विषय में प्राचीन प्रमाण न होने से उसे पाणिन्युपज्ञात ही मान लेना तर्कसंगत प्रतीत होता है। किन्तु इसका व्यवहार लाघव से अर्थबोध कराने के लिए स्वेच्छया किया गया है। स्वेच्छया प्रयुक्त होने पर भी शिष्टोच्चरित होने से 'घु' संज्ञा को अपभ्रंश रूप में नहीं कहा जा सकता। लोक में कभी हस्तादि के संकेत से जैसे अर्थबोध कराया जाता है ठीक उसी प्रकार किन्हीं शब्दों का बोध कराने के लिए ऐसे सांकेतिक संज्ञा शब्दों का प्रणयन आचार्य किया करते हैं[1]।

(२) घ संज्ञा

'तरप् तमपौ घ" (अ० १।१।२२) सूत्र में पाणिनि ने जो प्रातिपदिक एवं तिङन्त शब्दरूपों से होने वाले 'तरप्-तमप्' प्रत्ययों की 'घ' संज्ञा कही है, वह भी स्वेच्छया विहित होने से अन्वर्थ न होकर सांकेतिक ही कही जा सकती है।

(३) वृद्ध संज्ञा

जिस समुदाय में अच् आदि वर्ण वृद्धिसंज्ञक हों उस समुदाय की 'वृद्ध' संज्ञा का निर्देश पाणिनि ने किया है ("वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्" अ० १।१।७३)। परन्तु इस अर्थ में 'वृद्ध' संज्ञा का प्रयोग पूर्वाचार्यकृत प्रतीत नहीं होता। पाणिनि ने पौत्रादि अपत्य की जो 'गोत्र' संज्ञा की है अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् (अ० ४।१।१६२)। उसके लिए पूर्वाचार्यों ने 'वृद्ध' संज्ञा का व्यवहार किया था जैसा कि पाणिनि ने भी "वृद्धो यूना" (अ० १।२।६५) इत्यादि सूत्र में स्मरण किया है। ऋक्तन्त्र में त्रिमात्रिक अच् वर्ण के लिए भी 'वृद्ध' संज्ञा की गयी है ('तिस्रो वृद्धम्" २।५।४)।

वृद्ध शब्द का अर्थ वृद्धि-युक्त होता है। अतः जिस समुदाय में आदि वर्ण वृद्धि-

---

१. हरदत्त ने पदमञ्जरी के आरम्भ में ही यही बात कही है—

"यास्त्वेता स्वेच्छया संज्ञा क्रियन्ते टि घु भादयः,
वद नु तासां साधुत्वं नैव ता साधवो मताः।
अनपभ्रंशरूपत्वाच्छिष्टाप्यासामपशब्दता,
हस्तचेष्टा यथा लोके तथा संकेतिता इमाः।
नासां प्रयोगेऽभ्युदयः प्रत्यवायोऽपि वा भवेत्
लाघवेनार्थबोधार्थं प्रयुज्यन्ते तु केवलम्।"

"अथ शब्दानुशासनम्" इति सूत्र-विवरणे, पृ० १०।

संज्ञक होता है, उस समुदाय की 'वृद्ध' संज्ञा का निर्देश होने से उसको अन्वर्थ कहा जा सकता है।

(४) इत् संज्ञा

पाणिनि ने "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" (अ० १.३.२) इत्यादि सूत्रों से धातु और सूत्रादिकों में पढ़े हुए अनुनासिक अच् आदि वर्णों को 'इत्' संज्ञा कहकर उनका "तस्य लोपः" (अ० १.३.९) इस सूत्र से लोप किया है। चले जाने को 'इत्' कहते हैं। अतः यहाँ इत्संज्ञक वर्णों का लोप हो जाने से 'इत्' संज्ञा को अन्वर्थ ही कहना ठीक होगा।

(५) नदी संज्ञा

ह्रस्व नुट् आदि विधान के लिए स्त्रीत्ववाचक ईकारान्त ऊकारान्त शब्दों की जो 'नदी' संज्ञा पाणिनि ने की है, वह स्त्रीत्ववाचक ईकारान्त संज्ञीरूप नदी शब्द को लेकर की गयी प्रतीत होती है ("यू स्त्र्याख्यौ नदी" अ० १।४।३)। स्त्री-गत दोषों से जैसे कुल दूषित या नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार नदी के वेग से उनके तट ध्वस्त हो जाते हैं। इस अर्थ साम्य को लेकर नदी संज्ञा को अंशतः ही अन्वर्थ माना जा सकता है।

सर्वांश में 'नदी' शब्द के अर्थ का समन्वय न होने से पाणिनि पर आक्षेप करते हुए किसी ने कहा है—

> पाणिनेर्न नदी गंगा यमुना वा नदी स्थली।
> प्रभु स्वातन्त्र्यमापन्नो यदिच्छति करोति तत् ॥

अर्थात् पाणिनि के मत से गङ्गा और यमुना शब्द तो आकारान्त होने से नदी वाचक नहीं होंगे, किन्तु स्थली शब्द ईकारान्त होने से नदी वाचक हो जायगा। इस विषय में और कहा है क्या जा सकता है कि समर्थ आचार्य निरंकुश होने के कारण जैसा चाहते हैं, वैसा अनुशासन करते हैं।

(६) भ संज्ञा

पाणिनि ने "यचि भम्" (अ० १।४।१८) सूत्र से यकारादि तथा अजादि सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्ययों से भिन्न स्वादि प्रत्ययों के परे रहते पूर्व पद की जो 'भ' संज्ञा की है, उसको कार्यनिर्वाहार्थ ही किया गया कहना ठीक होगा।

(७) गोत्र संज्ञा

अन्य रूप से विवक्षित पौत्र-प्रभृति की 'गोत्र' संज्ञा पाणिनि ने की है (अपत्य-

पौत्रप्रभृति गोत्रम्" अ० ४।१।१६२) पूर्वाचार्य इसके लिए 'वृद्ध' सज्ञा का प्रयोग करते थे, महाभाष्य पतञ्जलि ने इसे कण्ठत स्वीकार किया है—

"पूर्वसूत्रे गोत्रस्य वृद्धमिति सज्ञा क्रियते।"

(म० मा० १।२।६८)।

जिससे पूर्वपुरुषो का बोध हो उसे गोत्र कहते है, इस निर्वचन से यहाँ भी 'गार्ग्य-वात्स्य' इत्यादि प्रयोगो मे गोत्र अर्थ मे हुए यञ् प्रत्यय से गर्गादि पूर्वपुरुषो का जो बोध होता है, उससे 'गोत्र' सज्ञा को अन्वर्थ ही मानना ठीक होगा। किञ्च इस सज्ञा के अन्वर्थ होने से लोक प्रसिद्ध प्रवराध्याय मे पढे गये गोत्र-नामो का भी यहाँ ग्रहण होता है।

(८) युवा सज्ञा

मूल पुरुष से चतुर्थ अर्थात पौत्र प्रभृति का जो अपत्य उसकी पित्रादि के जीवित होनेपर तथा ज्येष्ठ भ्राता के जीवित रहते कनिष्ठ आदि की 'युव' सज्ञा का विधान पाणिन्युपज्ञात ही प्रतीत होता है ("जीवति तु वंश्ये युवा", "भ्रातारि च ज्यायसि" अ० ४।१।१६३-६४)।

पित्रादि से जो सम्बन्ध रखता उसको 'युवा' कहते हैं। अत 'गार्ग्यायण' इत्यादि मे हुए फक् प्रत्यय से जो गार्ग्यादि पित्रादिकों के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है, उससे 'युव' सज्ञा भी अन्वर्थ ही है।

विशेष—पित्रादिको के जीवित रहने पर जिन पौत्र-प्रभृति की 'युव' सज्ञा की गई है, उन्ही की पित्रादि के जीवित न रहने पर 'गोत्र' सज्ञा मानी जाती है। अर्थात् जो पहले गार्ग्यायण था वही बाद मे गार्ग्य कहा जाता है। इस सम्बन्ध मे हेतु देते हुए किसी ने ठीक ही कहा है—

"तदा स वृद्धो भवति तदा भवति दु.खित.।
तदा शून्यं जगत्तस्य यदा पित्रा वियुज्यते ॥"

(९) तद्राज सज्ञा

"जनपद शब्दात् क्षत्रियादञ्." (अ० ४।१।१६८) इत्यादि सूत्रो से अपत्यार्थ की तरह राजार्थ मे भी होने वाले अञ् इत्यादि प्रत्ययों की तथा पूगादिवाचक शब्दों से स्वार्थ मे विहित प्रत्ययों की ('ञ्यादयस्तद्राजा." अ० ५।३।११९) जो पाणिनि ने 'तद्राज' संज्ञा की है, उसकी अन्वर्थता बताते हुए वासुदेव दीक्षित ने कहा है कि

राजार्थ के भी वाचक होने के कारण अजादि प्रत्ययों की की गयी 'तद्राज' संज्ञा अन्वर्थ ही है[1]।

नारायण भट्ट ने भी प्रक्रिया सर्वस्व में इसी बात की सम्पुष्टि की है—

'तस्य राजन्यपर्यार्थे तुल्यप्रत्ययशासनात्।
तदर्थवन्तस्तद्राजा अपत्य प्रत्यया अपि।"
(समासखण्ड, पृ० ९०)।

(१०) कृत्य संज्ञा

धातुओं से होने वाले तिङ् भिन्न प्रत्ययों की पहले पाणिनि ने 'कृत्' संज्ञा कहकर ("कृदतिङ्" अ० ४।१।९३ सूत्र से) 'तव्यत् अनीयर' आदि 'भाव कर्म' में होने वाले कुछ प्रत्ययों की 'कृत्य' संज्ञा का निर्देश किया है ("कृत्याः" अ० ३।१।९५)।

'कृ' धातु से क्यप् प्रत्यय होकर निष्पन्न 'कृत्य' शब्द को लेकर की गई यह 'कृत्य' संज्ञा भी अन्वर्थ ही है, क्योंकि क्यप् प्रत्यय 'कृत्य' संज्ञा के अधिकार में पठित है।

'कृत्य'-संज्ञक प्रत्यय कारक और क्रिया दोनों के वाचक होते हैं, किन्तु 'कृत'-संज्ञक प्रत्यय केवल कारक के ही वाचक होते है। इसी अन्तर को प्रदर्शित करने के लिए ही इनका विभाग किया गया प्रतीत होता है।

दाक्षायण व्याडि

महर्षि पाणिनि तथा कात्यायन के मध्य में होने वाले कालखण्ड को किन वैयाकरणों ने अपने प्रयत्नों से प्रद्योतित किया? इस प्रश्न के यथार्थ उत्तर देने में आलोचक मौन हैं। केवल एक ही व्यक्ति का इन गुणों से मण्डित होने का संकेत मिलता है। और वे हैं दाक्षायण व्याडि। इनके महत्त्वपूर्ण लक्ष श्लोकात्मक ग्रंथरत्न। नाम संग्रह था जो कतिपय शताब्दियों तक अपनी प्रभा और प्रभाव को बिखेर कर महाभाष्य की रचना (द्वितीय शती ई० पू०) से पूर्व ही कालगत विग्रह हो गया। दैव की इतनी ही अनुकम्पा रही कि वह अस्तंगत महिमा नहीं हुआ। [illegible]

---

१ प्रत्ययानां तद्राजत्वं तद्वाचकत्वाद् गौणम्। [illegible] इत्यन्वर्थसंज्ञैषा, न तु टि घु भादिवदनन्वर्था [illegible]। [illegible] तद्राजसंज्ञकानां राजवाचकत्वमपि विज्ञायते इति [illegible] विज्ञायते इत्यर्थः." (बालमनोरमा ४।१।१६८)।

व्याकरण ग्रंथो ने कही सामान्य निर्देश से तथा कही विशिष्ट उद्धरणों के द्वारा सग्रह के स्वरूप, विषय तथा महत्त्व को बतला कर उसे जिज्ञासुओं के लिए बचाये रखा।

'सग्रह' के विषय मे सर्वप्रथम सूचना महाभाष्य से प्राप्त होती है। जहाँ दो बार इस ग्रंथ के वर्ण्य-विषय की चर्चा है[1]। भर्तृहरि ने इस समय मे हमारे ज्ञान को और भी आगे बढाया वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका मे इसके दस वचनो को साक्षात् उद्धृत करके। इन वचनो की मीमांसा बतलाती है कि इस 'सग्रह' ने शब्द तथा अर्थ तथा दोनों के सम्बन्ध आदि विषयो का विचार किया है जिससे स्पष्ट है कि 'सग्रह' का प्रधान विषय पाणिनीय व्याकरण के दार्शनिक तथ्यो का विवेचन था। 'संग्रहे तावत् प्राधान्येन परीक्षितम्' इस महाभाष्य की व्याख्या मे भर्तृहरि का कथन है कि इस सग्रह मे १४ सहस्र वस्तुओं की परीक्षा की गई थी[2]। यहाँ 'वस्तुओं' से तात्पर्य व्याकरण सम्बन्धी दार्शनिक विषयो से है। इससे इस ग्रंथ के बृहत् परिमाण का किञ्चित् सकेत मिलता है, परन्तु यह कितना परिमाण वाला था? इस प्रश्नके उत्तर मे पुण्यराज (वाक्यपदीय की टीका मे) का कहना है—

इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्या परचितं लक्ष-ग्रंथ परिमाणं सग्रहाभिधानं निबन्धमासीत्।

जिसकी पुष्टि नागेश ने नवाह्निक भाष्य के प्रदीपोद्योत मे की है[3]। पुण्यराज के महत्त्वपूर्ण कथन से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(क) सग्रह पाणिनीय व्याकरण से ही सम्बद्ध ग्रंथ था किसी दूसरे व्याकरण से नहीं।

(ख) इसमे 'लक्षग्रंथ' थे (लक्षश्लोक नहीं)। लक्षश्लोक का तात्पर्य होता कि समग्र ग्रंथ पद्यात्मक है तथा उसकी श्लोकसंख्या एक लक्ष तक है। प्राचीनकाल मे तथा आज भी किसी ग्रंथ के परिमाण को मापने की एक ही प्रणाली है। उसके अक्षरों को गिन कर ३२ की संख्या से भाग देने पर जो संख्या निष्पन्न होती है वह 'ग्रंथ' कहलाती है। सग्रह मे ऐसे ही एक लाख ग्रंथ विद्यमान थे, एक लाख पद्यात्मक श्लोक नहीं।

---

१ सग्रहे तावत् प्राधान्येन परीक्षितम् नित्यो वा स्यात् वा कार्यो वा स्यादिति। संग्रहे तावत् कार्य प्रतिद्वन्द्वि-भावात् मन्यामहे नित्य पर्याय वाचिनो ग्रहणम्। पस्पशाह्निक।

२ चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)।

३. संग्रहो व्याडिकृतो लक्षश्लोकसंख्यो ग्रंथ इति प्रसिद्धि॥

—प्रदीपोद्योत, पस्पशाह्निक।

परन्तु महाभाष्य (२।३।६६) के इस कथन से इस विषय में एक नवीन जानकारी प्राप्त होती है—

शोभना खलु दाक्षायणस्य सग्रहस्य कृति.।

इस वाक्य में सग्रह के कर्ता 'दाक्षायण' कहे गये हैं और यह उक्ति पाणिनि तथा व्याडि के परस्पर कौटुम्बिक सम्बन्ध को जोडनेवाली यह शोभन शृखला है। पाणिनि को भाष्यकार 'दाक्षीपुत्र' कहते हैं और व्याडि को 'दाक्षायण'। फलत पाणिनि और व्याडि का परस्पर कौटुम्बिक सम्बन्ध था। 'दाक्षायण' पद की गम्यमान व्युत्पत्ति से कुछ लोग व्याडि को पाणिनि का मातुल (मामा) मानते हैं, परन्तु मेरी सम्मति मे वे उनके मातुल पुत्र (मामा के पुत्र) थे और इस विषय की साधक युक्ति[1] परीक्षणीय है। फलत व्याडि पाणिनि के कनिष्ठ समकालिक थे, ज्येष्ठ समकालिक नही।

शौनक ने ऋक् प्रातिशाख्य मे पाँच स्थानो पर व्याडि के मत का निर्देश किया है[2]। ये मत शब्दसिद्धि से सम्बन्ध रखते हैं शब्दविषयक किसी दार्शनिक मत से नही। ऐसी दशा मे ये मत 'सग्रह' की ओर सकेत नही करते। इसमे दो ही परिणाम निकाले जा सकते हैं—(क) प्रातिशाख्य मे निर्दिष्ट व्याडि सग्रहकार से भिन्न व्यक्ति हैं अथवा (ख) व्याडि ने सग्रह के अतिरिक्त सूत्रो की कोई व्याख्या भी लिखी थी। न्यास ने एक स्थान पर (७।३।११) ऐसी ही सूत्र व्याख्या की ओर सकेत किया है। दोनो व्याडियों की एकता के प्रश्न की परीक्षा के लिए पुष्ट प्रमाण खोजने की आवश्यकता है।

शब्द के अर्थ के विषय मे व्याडि का विशिष्ट मत था। सब शब्दो का अर्थ द्रव्य ही है, क्योकि द्रव्य ही तो क्रिया के साथ साक्षात् समन्वय धारण कर चोदना का

---

१ मातुल तथा भागिनेय (मामा, भाजा) के सम्बन्ध की बहुश परीक्षा से हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि मामा की उम्र भाजे की उम्र से प्राय अधिक होती है। ऊपर सप्रमाण दिखलाया गया है कि सग्रह पाणिनीय सम्प्रदाय का ही ग्रन्थ था अर्थात् अष्टाध्यायी की रचना के अनन्तर ही सग्रह का निर्माण हुआ था। फलत व्याडि पाणिनि से वय मे निश्चितरूपेण छोटे थे और यह वय क्रम ऊपर निर्दिष्ट तथ्य के ऊपर ही सामान्यत सुसगत बैठता है। इसलिए व्याडि को पाणिनि से न्यून वाला ममेरा भाई मानना ही लोकत समुचित प्रतीत होता है। व्याकरण से पदसिद्धि इस तर्क मे बाधक नही है।

२ ऋक्प्रातिशाख्य २.२३, २.२८, ६।४३, १३।३१, १३।३७।

विषय होता है। यह मत वाजप्यायन आचार्य के मत से भिन्न जो है जाति को ही पदार्थ मानते थे। व्याडि के इस विशिष्ट मत का उल्लेख बहुत उपलब्ध है। वाक्यपदीय तृतीय काण्ड की व्याख्या (प्रकाश) में हेलाराज ने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

वाजप्यायनाचार्यमतेन सार्वत्रिकी जातिरर्थोऽवस्थोपपद्यते। व्याडिमते तु सर्वशब्दाना द्रव्यमर्थं। तस्यैव साक्षात् क्रिया समन्वयोपपत्ते। वाक्यार्थाङ्गतया चोदनाविषयत्वात्[1]।

हेलाराज (द्रव्य समुद्देश, प्रथम कारिका) की व्याख्या के अनुशीलन से स्पष्ट है कि भर्तृहरि इस कारिका मे व्याडि के मत का उपन्यास कर रहे हैं—

आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीर तत्त्वमित्यपि।
द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम्॥

द्रव्य के ही पर्याय है—आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर तथा तत्त्व। और यह द्रव्य नित्य होता है। भाष्यकार ने 'द्रव्यं नित्यमाकृतिरन्या चान्या च भवति' कह कर इसी मत का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, कात्यायन के ऊपर भी व्याडि का प्रभाव लक्षित होता है। सत्ता शब्दो के द्वारा द्रव्य का प्रतिपादन गम्यमान है, परन्तु आख्यात शब्दो के द्वारा क्या प्रतिपाद्य है? व्याडि का उत्तर है द्रव्य ही। और हेलाराज ने इस पक्ष का प्रतिपादन विस्तार से किया है[2]।

कात्यायन

सूत्रो के ऊपर व्याख्यान ग्रन्थो का सामान्य अभिधान वार्तिक है। वार्तिको के रचयिता एक न होकर अनेक थे। वार्तिको के परिज्ञान के लिए पतञ्जलिकृत महाभाष्य ही एकमात्र प्राचीन ग्रन्थ है। तथ्य यह है कि महाभाष्य सूत्रो का विशद व्याख्यान न होकर वार्तिको का ही विस्तृत व्याख्यान है। भाष्यकार के सामने पाणिनि सूत्रों पर विभिन्न लघु तथा बृहत् वार्तिक विद्यमान थे। पतञ्जलि न इनका सूत्रो के साथ

---

१ जातिसमुद्देश की टीका मे इस मत का परिचय बडे स्पष्ट शब्दो में हेलाराज ने दिया है। द्रष्टव्य—हेलाराज की तृतीय काण्ड की टीका, पृ० ९–१०, पूना संस्करण।

२ द्रष्टव्य हेलाराज—वाक्यपदीय तृतीय काण्ड की टीका, पृ० १८९-१९० (पूना सं०, १९६३)।

तारतम्य, सगति अथवा विसगति मिलाकर अपना मत प्रदर्शित किया है। इस दृष्टि से पतञ्जलि तुलनात्मक वैयाकरण हैं जिन्होंने उस युग के वार्तिककार वैयाकरणो के मतों की तुलना कर अपनी समालोचना व्यक्त की। इनमें कात्यायन का स्थान प्रमुख है। उनसे पहिले किसी वार्तिककार का सकेत नही मिलता। उनसे अवान्तरकालीन वार्तिककारो मे 'सुनाग' का नाम महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय है। सुनाग कात्यायन के पश्चाद्वर्ती हैं तथा उनके वार्तिक कात्यायन-वार्तिको से स्वरूप मे विस्तृत थे, इसका परिचय हमे कैयट के शब्दो से मिलता है[1]। इसमे समालोचकों की यह सम्मति मान्य है कि भाष्य मे 'अत्यल्पमिदमुच्यते' कहकर जहां वार्तिको का विन्यास किया गया है, वे सब वार्तिक सम्भवत सुनाग के ही प्रतीत होते हैं। कात्यायन वार्तिक की आलोचना से पूर्व 'वार्तिक' के स्वरूप तथा वैशिष्ट्य से परिचय नितान्त आवश्यक है।

वार्तिक का लक्षण

नागेशभट्ट ने वार्तिक का लक्षण दिया है —

सूत्रेऽनुक्त-दुरुक्त चिन्ताकरत्व वार्तिकत्वम्।
उक्तानुक्त-दुरुक्त चिन्ताकरत्व हि वार्तिकत्वम्॥

इन दोनो लक्षणो का तात्पर्य एक समान है। सूत्र मे उक्त, अनुक्त (नही कहे गये) अथवा दुरुक्त (अनुचित कहे गये) विषयो की चिन्ता (विश्लेषण) करने वाला वाक्य 'वार्तिक' कहलाता है। 'मुनित्रय' के परस्पर सम्बन्ध का बोधक पदमञ्जरीस्थ यह पद्य इस विषय मे ध्यातव्य है—

यद् विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत् स्फुटम्।
वाक्यकारो ब्रवीत्येव तेनादृष्टं च भाष्यकृत्॥

सूत्रकार के द्वारा विस्मृत अथवा अदृष्ट विषय का स्पष्ट प्रतिपादन वाक्यकार (वार्तिक रचयिता) करते हैं और उनसे अदृष्ट विषय का विवेचन भाष्यकार करते हैं। इस पद्य मे 'दुरुक्त चिन्ता' की बात नहीं कही गई है।

कैयट ने वार्तिक को 'व्याख्यान सूत्र' नाम से अभिहित किया है अर्थात् वार्तिक ऐसे सूत्रात्मक वाक्य है जो पाणिनि के मूलभूत सूत्रो के 'व्याख्यान' हैं। यह नाम सार्थक है और वार्तिक के स्वरूप का यथार्थ द्योतक है। 'व्याख्यान' के भीतर प्राचीन लोग केवल 'चर्चापद' का ही समावेश करते थे, परन्तु पतञ्जलि ने इस शब्द के

१ कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितु सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थ ।
(महाभाष्य प्रदीप २।२।१८)

व्यापक तात्पर्य के भीतर उदाहरण, प्रत्युदाहरण तथा वाक्याध्याहार इन तीनो को समाविष्ट किया है। अन्यत्र महाभाष्यकार वार्तिको को लक्ष्य कर कहते हैं कि वे कभी उन विषयो की चर्चा करते हैं जो सूत्र मे नही कहा जा सका है और कभी कहे गये का प्रत्याख्यान करते हैं—

इह किञ्चिदक्रियमाण चोद्यते, किञ्चिच्च क्रियमाण प्रत्याख्यायते।
(महाभाष्य ३।१।१२)।

ये दोनो वैशिष्ट्य क्रमश अनुक्तचिन्ता तथा उक्त चिन्ता के ही प्रकारान्तर प्रतीत होते हैं। वस्तुत पतञ्जलि चोदना तथा प्रत्याख्यान को वार्तिक का अन्तरग स्वरूप मानते हैं। कैयट ने इन दोनो का मार्मिक विश्लेषण किया है[1]। चोदना (या प्रतिपादन) कम बुद्धि वालो की दृष्टि से की जाती है और प्रत्याख्यान श्रोताओ अथवा पाठको की प्रतिपत्ति की दृष्टि से किया जाता है। व्याकरणशास्त्र दोनो का आश्रयण दोनो प्रकार के व्यक्तियो को लक्ष्य कर करता है। कैयट के अनुसार वार्तिको की अनुक्तचिन्ता का तात्पर्य कमबुद्धि वाले व्यक्ति से हैं तथा उक्त चिन्ता का लक्ष्य विशिष्ट पाठको की ओर है।

भर्तृहरि ने भी 'वार्तिक' के स्वरूप का निर्देश किया है। वे वार्तिक को **'भाष्यसूत्र'** की महनीय सज्ञा से पुकारते हैं। यह नाम बडा ही सार्थक है। 'भाष्य के व्याख्यान के निमित्त गम्भीरार्थक वाक्य'—सचमुच ही वार्तिक के रूप का द्योतक अभिधान है। क्योकि इन्ही वार्तिको के अर्थ के व्याख्यान के निमित्त ही तो भाष्यकार का समग्र प्रयत्न है। भर्तृहरि की दृष्टि मे वार्तिक का स्वरूप है—(क) गुरुलाघव का अनाश्रयण (गुरुलाघव का आश्रयण सूत्रो मे निश्चित रूप से है, परन्तु वार्तिक मे इसका अविचार है), (ख) लक्षणप्रपञ्च[2] का आश्रयण (सूत्र के समान ही)—

भाष्यसूत्रे गुरुलाघवस्यानाश्रितत्वात् लक्षणप्रपञ्चयोस्तु मूलसूत्रेऽप्याश्रयणाद् इहापि लक्षणप्रपचाभ्या प्रवृत्ति। —महाभाष्य दीपिका।

१ अबुध बोधनार्थं तु किञ्चिद् वचनन प्रतिपाद्यते। न्याय व्युत्पादनार्थं च आचार्य = किञ्चित् प्रत्याचष्टे। नहि अनैक पथा समाश्रीयते॥

—कैयट, प्रदीप ७।२।८६।

२ लक्षणप्रपच के उदाहरण के निमित्त देखिए डा० राममुरेश त्रिपाठी का सुचिन्तित लेख 'वार्तिक का स्वरूप' जो अलीगढ विश्वविद्यालय की मुख-पत्रिका 'अभिनव भारती' मे प्रकाशित हुआ है।

इन दोनों वैशिष्ट्यों में प्रथम पाणिनिसूत्र से भाष्यसूत्र का विभेदक है। पाणिनि-सूत्र में गुरुलाघव का पूर्ण विचार है और लाघव की ओर समधिक दृष्टि है, परन्तु वार्तिक में ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता है। सूत्रों की भाँति इनमें कसावट नहीं है, परन्तु सूत्रों के समान लक्षणप्रपञ्च का समाश्रयण विद्यमान है। 'लक्षण' होता है सामान्य नियम और 'प्रपञ्च' होता है उसी का विशेष रूप। सूत्रकार की शैली है कि वे प्रथमतः लक्षण देते हैं, तदनन्तर उसी नियम के विशेष प्रकारों का उल्लेख करते हैं। लक्षणप्रपञ्च का यह पौर्वापर्य नियमतः अष्टाध्यायी में प्रस्तुत है। वार्तिक में यह विद्यमान है, परन्तु इसी क्रम से नहीं। कहीं लक्षण के अनन्तर प्रपञ्च है और कहीं लक्षण से पूर्व ही प्रपञ्च है। वार्तिक इस दृष्टि से पाणिनिसूत्र के बहुत समीप चला आता है अपने स्वरूप के निर्धारण में।

निष्कर्ष यह है कि वार्तिक सूत्रों के व्याख्यान हैं। वृत्तिग्रन्थ भी तो सूत्रों के व्याख्यान हैं। तब दोनों में पार्थक्य कहाँ ? पार्थक्य दोनों के स्वरूप में है। किसी भी व्याख्या का मुख्य तात्पर्य होता है भाव को प्रकट करना, असंगतियों को सुलझाना, आक्षेपों का उत्तर देना तथा त्रुटियों की ओर संकेत करना। वार्तिक में यह सब विद्यमान है परन्तु सूत्र की शैली में ही। वृत्ति ग्रन्थों में भी यह सब वर्तमान है, परन्तु उदाहरण प्रत्युदारण समन्वित शैली में। एक तथ्य और भी ध्यातव्य है। वार्तिकों का उद्देश्य पाणिनि व्याकरण को दार्शनिक विचार कोटि में पहुँचाना था जिससे यह व्याकरण केवल शब्दों की रूपसिद्धि का ही साधन न होकर शब्दार्थ के गम्भीर तत्त्वों का भी निरूपक सिद्ध हो। कात्यायन का प्रथम वार्तिक—**सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे**—ही व्याकरण दर्शन के मौलिक तथ्य का अवतारण करता है कि शब्द, उसका अर्थ तथा उनका परस्पर सम्बन्ध तीनों को सिद्ध (नित्य) मान कर ही यह व्याकरणशास्त्र लिखा गया है। अन्यत्र वार्तिकों के भीतर व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों की ओर पूर्ण संकेत किया गया है। वार्तिकों के भीतर इन दार्शनिक तथ्यों का अन्वेषण तथा समीक्षण आज भी गवेषणा का स्पृहणीय विषय है।

कात्यायन का वैशिष्ट्य

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कात्यायन पाणिनि के विदूषक व्याख्याकार नहीं थे, जिन्होंने उनके सूत्रों की विद्रूप व्याख्या की है। न वे उनके प्रतिस्पर्धी थे (जैसा कथासरित्सागर में चित्रित किया गया है)। वे पाणिनि के निन्दक नहीं थे, प्रत्युत प्रशंसक थे। [illegible] मुख्यतः व्याख्याकार ही। और एक सच्चे व्याख्याकार का काम उन्होंने इन वार्तिकों के द्वारा निष्पन्न किया। यह भी कहना यथार्थ नहीं है कि वार्तिक उन शब्दों का विश्लेषण करता है जो पाणिनि के अनन्तर संस्कृतभाषा में व्यवहृत होने लगे थे (जैसी पाश्चात्य पण्डितों की भ्रान्त धारणा है) और इसलिए पाणिनि को

उनके विषय मे नियम बनाने का अवसर नही था। अतएव कात्यायन को पाणिनि के एक कठोर आलोचक के रूप मे न देख कर पाणिनि का एक न्यायसगत प्रशंसक मानना ही यथार्थ तथ्य है।

कात्यायन से पूर्व ही 'व्याडि' आचार्य ने अपने 'सग्रह' ग्रन्थ का प्रणयन किया था जिसमे पाणिनीय व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का उन्मीलन था। **'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे'** वार्तिकस्थ 'सिद्ध' पद की व्याख्या के अवसर पर पतञ्जलि के कथन मे प्रतीत होता है कि कात्यायन के ऊपर 'व्याडि' का प्रभाव पडा था[1]। 'सिद्ध' शब्द का 'नित्य' अर्थ में प्रयोग कात्यायन ने 'सग्रह' के आधार पर किया था, महाभाष्यकार की यही सम्मति है।

महाभाष्य में कात्यायन के वार्तिक पहिचाने जा सकते हैं। उनके परिज्ञान के कतिपय नियम निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। वार्तिककार सूत्र पर विचार करते समय कभी उसके आदि के शब्द[2] को, कभी अन्त के शब्द[3] को और कभी बीच के शब्द[4] को प्रतीक के रूप मे ग्रहण करते हैं और विशेष अवसरो पर पूरे सूत्र को प्रतीक रूप मे लेते हैं। कभी कभी कात्यायन कई सूत्रों के आदि अक्षर को एक साथ लेकर वार्तिको का निर्माण करते हैं[5]। अन्य भी प्रकार हैं, जिनके द्वारा सूत्रो का उल्लेख या सकेत वार्तिको मे किया गया है। इस 'प्रतीक शैली' की सहायता से वार्तिको की पहचान भली भांति

१ इस तथ्य का प्रमापक वाक्य भर्तृहरि ने अपनी 'महाभाष्य दीपिका' मे दिया है—

सग्रहोऽप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेश। तत्रैकत्वात् व्याडेश्च प्रामाण्यात् इहापि तथैव सिद्धशब्द उपात्त ॥

२ यथा इको गुणवृद्धी (१।१।३) का प्रथम वार्तिक 'इग्ग्रहणम् ' आदि—अक्षर को लेकर प्रस्तुत है।

३ हलोऽनन्तरा सयोग १।१।७ का प्रथम वार्तिक 'सयोग सज्ञाया सहवचन यथान्यत्र' सूत्र के अन्तिम पद को ग्रहण कर विन्यस्त है।

४ ह्रस्वो नपुसके प्रातिपदिकस्य १।२।४७ का प्रथम वार्तिक 'नपुसक ह्रस्वत्वे ' मध्य के पद से आरम्भ होता है।

५ सपुकाना सत्वम् (८।३।१२ का प्रथम वार्तिक) इन तीन सूत्रो के आदि अक्षरो को लेकर विन्यस्त है। ये सूत्र हैं—

(क) 'सम सुटि' ८।३।५ का प्रथम अक्षर स।

(ख) पुम खय्यम् परे ८।३।६ का प्रथम अक्षर पु।

(ग) कानाम्रेडिते ८।३।१२ का प्रथम अक्षर का।

की जा सकती है और महाभाष्य के गम्भीर शब्दार्णव से ये वार्तिकरत्न चुन कर निकाले जा सकते हैं।

कात्यायन की भाषा

कात्यायन पाणिनि के गम्भीर आलोचक थे। जहाँ उनकी दृष्टि में किसी प्रकार का दोष दृष्टिगोचर होता, उसका वे सुधार करने के मे तनिक नहीं सकुचाते। कभी कभी पाणिनि के सूत्रों के प्रति लक्ष्य न कर उनके वृत्तिकारों के वचनों को लक्ष्य में रखकर उन्होंने वार्तिकों का प्रणयन किया है, जिन्होंने कात्यायन से पूर्व उन सूत्रों की वृत्तियाँ लिखी थी जो आज उपलब्ध नहीं हो रही है।

वार्तिकों के स्वरूप परिज्ञान के लिए एक तथ्य पर ध्यान देना नितान्त आवश्यक है। *पाश्चात्य विद्वान् समझते हैं कि पाणिनि और कात्यायन के बीच काल खण्ड में ये शब्द व्यवहृत होने लगे थे, परन्तु तथ्य इससे भिन्न है। ये शब्द पाणिनि के काल* में ही नहीं, प्रत्युत उनसे भी प्राचीन थे, परन्तु सूत्रधार की पकड़ मे बाहर रहे अर्थात् उनके नियमों में न आ सके, क्योंकि उन्होंने समस्त शब्दों को नियमबद्ध बनाने की प्रतिज्ञा थोड़े ही की थी। यही कार्य कात्यायन को करना पड़ा और इसके लिए उन्होंने अपने वार्तिकों का प्रणयन किया। इस तथ्य को दृष्टान्तों से पूर्णत परिपुष्ट किया जा सकता है। कात्यायन ने **'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्'** वार्तिक के द्वारा 'कुलटा' शब्द को पररूप के द्वारा सिद्ध किया है, परन्तु यह पररूप पाणिनि ने सूत्रों में निर्दिष्ट नहीं किया। परन्तु 'कुलटाया वा' (४।१।१२७) सूत्र में 'कुलटा' शब्द का तो प्रयोग स्वयं पाणिनि ने किया है तो कात्यायन द्वारा व्याख्यात होने से यह शब्द पाणिनि को अज्ञात कैसे घोषित किया जाय ? वेद में प्रयुक्त अनेक शब्द पाणिनि द्वारा व्याख्यात न होकर कात्यायन द्वारा निष्पन्न किये गये हैं। तो क्या ये शब्द पाणिनि से अर्वाचीन हैं ? कथमपि नहीं। 'स्वैरी' और 'स्वैरिणी' पदों में पाणिनि ने वृद्धि का विधान नहीं किया, विधान किया है कात्यायन ने 'स्वादीरेरिणो' वार्तिक द्वारा। परन्तु ये दोनों पद छान्दोग्य उपनिषद् में श्रुत हैं—

'न मे स्तेनो जनपदे ··· ··· न स्वैरी स्वैरिणी कुतः'।

इसी के समान 'प्रैष' शब्द की सिद्धि पाणिनि के सूत्रद्वारा न होकर कात्यायन द्वारा की गई है **'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु'**, परन्तु यह पद शतपथ ब्रा० १३।४।२।२३ **"प्रजत प्रजापतिमिति प्रैष '**, में स्पष्टत प्रयुक्त है। फलत यह पाणिनि से निश्चितरूपेण प्राचीन है। दशार्ण नामक देश का तथा दशार्णा नदी का नामोल्लेख महाभारत में किया गया है, परन्तु सूत्रों से व्याख्यात न होकर **'प्रवत्सतर कम्बल वसनार्णदशानामृणे'** वार्तिक से यह सिद्ध होता है। वार्तिक से व्याख्यात होने मात्र से किसी शब्द की पाणिनि

अपेक्षया अर्वाक्कालीनता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। इन दृष्टान्तों की समीक्षा से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अनेक वैदिक तथा प्राचीन लौकिक शब्द अल्प प्रयोगवशात् अथवा अनवधानवशात् पाणिनि के द्वारा छूट गये हैं। इन्हीं की पूर्ति कात्यायन ने की है। शब्दों में अपूर्वता कथमपि नहीं है।

कात्यायन ने ऐसे शब्दों का भी निदमन किया है जो लोकजीवन से सम्बद्ध थे और सम्भवतः लोकभाषा के थे। चिल्लपिल्ला (आँख के 'कीचर' के अर्थ में व्यवहृत शब्द) सम्भवतः देशी प्रतीत होता है, परन्तु 'भेडी के दूध' अर्थ में अविसोढ, अविदूस तथा अविमरीस शब्दों की उन्होंने जो वार्तिक से सिद्धि की है वह भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विचारणीय है। सोढ दूस तथा मरीस—इन तीनों को जो विद्वान् संस्कृतेतर भाषा के शब्द मानते हैं वे गम्भीरतापूर्वक विचारने की कृपा करें।

अवेर्दुग्धे सोढदूसमरीसचः (वार्तिक ४।२।३६)

पितृव्यमातुलमातमहपितामहाः (४।२।३६) पाणिनि के इस निपातन सूत्र पर उक्त वार्तिक पठित है। इसका अर्थ होगा—अवि (=भेडी) शब्द से दूध के अर्थ में सोढ, दूस और मरीसच् प्रत्यय होते हैं। बालमनोरमाकार ने इस वार्तिक का अर्थ इस प्रकार किया है— अवि का दूध" इस अर्थ में अवि शब्द में सोढ दूस और मरीसच् प्रत्यय होते हैं। इनका इस प्रकार का अर्थ उपयुक्त नहीं है। कारण, अवि शब्द पञ्चम्यन्त है और महाभाष्यकार ने भी 'अवि का दूध' इस प्रकार का व्याख्यान नहीं किया है। इसके अतिरिक्त शाकटायन व्याकरण में **'दुग्धेऽवेस्सोढदूसमरीसचम्"** इस प्रकार का सूत्र है।

अवि सोढ

मर्षणार्थक √सह् धातु से निष्ठा में क्त प्रत्यय होने पर सोढ शब्द की निष्पत्ति होती है। यही सोढ शब्द **'सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम्'** (३।१।१७) पाणिनि सूत्र के गणपाठ में दृष्टिगोचर होता है। वाकरनागल महाशय वेनफाइ संस्कृत कोश के अनुसार सोढ प्रत्यय की √सह् धातु से सबद्ध बताते हैं। यह सोढ शब्द दूध के अर्थ में कहीं भी उपलब्ध नहीं है। अत सह धातु से निष्पन्न सोढ शब्द को 'अवि सोढम्' (=भेडी का दूध) में प्रत्यय रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वस्तुत सोढ प्रत्यय ऊधस् शब्द का रूपान्तर है—ऊधस्->ऊढस्->सूढ->सोढ (तु० काफिरी भाषा—ऊड और ऊढ = दूध)। आइस्लैण्डिक भाषा का जू (ग) र् शब्द ऊधस्-अर्थक है क्योंकि ॐ जुड के स्थान में कभी कभी प्रयुक्त होता है।

ऋग्वेद में ऊधस् शब्द मेघ, जल, दुग्धाधार तथा दुग्ध का भी वाचक है (ऋ० ४।१।१६, ३।४८।३, २।१।६)। ऋग्वेद में यह रात्रि (शैत्य), रस और

मार और योनि का भी अभिधायक है (द्र० १०।६१।६, १०।७६।७, १०।३२।८; ८।३१।६)।

पश्तो भाषा मे 'शीदे' शब्द दूध का वाचक है। तुर्किश राज्य मे प्रयुज्यमान जिप्सी (रोमानी) भाषा मे 'तुत, सुत सोउत, छुति' यह चार शब्द दुग्धार्थक हैं। ब्राउन महाशय ने इनका सम्बन्ध तुर्किश 'सुद' के साथ जोडने का प्रयत्न किया था।

इस प्रकार आर्यभाषा की परम्परा मिलने पर भी तमिल भाषा को शोर्ड (शोर्ड=दूध) तथा कनड भाषा का सौर (=फलरस) शब्द मननीय है।

अवि दूस

भगवान् पतञ्जलि ने वार्तिककारोक्ति तीनो प्रत्ययो पर चर्चा नही की। यद्यपि सस्कृत वाङ्मय मे इन सोढ, दूस और मरीसच् प्रत्ययो से विशिष्ट शब्दो का प्रयोग कही भी नही मिलता, तथापि महाभाष्यकार और उनके टीकाकार कैयट तथा नागेश ने इनका अनभिधान नही कहा।

पाणिनीय व्याकरण की परम्परा के टीका-ग्रन्थो मे प्रक्रिया-कौमुदी इस वार्तिक को उद्धृत नही करती। जैनेन्द्र और मुग्ध-बोध व्याकरणो मे भी इन प्रत्ययो का विवरण नही है। अमरकोश भी इन प्रत्ययो से विशिष्ट शब्दो का उल्लेख नहीं करता। सक्षिप्तसार व्याकरण मे सोढ दूस और मरीसच् प्रत्ययान्त शब्द पुल्लिङ्ग मे दिखाये गये है।

आधुनिक गुण दोष विवेचनशील, भाषाविद् बाप, ह्रुगमन् वरो प्रभृति विद्वान् इन प्रत्ययो या प्रत्ययान्त शब्दो के प्रबन्ध मे चुप्पी साधे है। केवल वाकरनागल महाशय ने तीनो प्रत्ययो को पालिस्रोतस्क या प्राकृतस्रोतस्क बनाया है। किन्तु प्रत्यय अथवा प्रत्ययान्त शब्दो के प्रयोग विषय मे मौनावलम्बन ही कर रखा है। उन्होने बेनफी महाशय द्वारा उद्धृत अथर्ववेद का दूषिका शब्द दूस की तुलना के लिए उपस्थित अवश्य किया है किन्तु व्याख्या आदि कुछ नही की।

अब प्रश्न उठता है कि महाभाष्यकार आदि इन प्रत्ययो या प्रत्ययान्त शब्दो के विषय मे चुप क्यो हैं? वस्तुत ये तद्धित प्रत्यय नही है किन्तु षष्ठीसमास होने के कारण स्वतन्त्र शब्द हैं।

स्काटिश् भाषा ने √दुश्, धातु मेषादिकृत अभ्याहनन मे प्रयुक्त होता है। पश्तो भाषा मे दूरंनाई शब्द दोहनी (दुग्धघटी) अर्थ मे मिलता है। सिन्धी भाषा 'दोसो' शब्द खजूर रस के अर्थ मे व्यवहृत होता है। पूर्वीय बाल्टिक रोमानी (जिप्सी) भाषा मे दोग् धातु दोहने के अर्थ मे उपलब्ध है।

दुग्धवाचक ऊधस् शब्द से यद्यपि ऊधस्->धूस्->दूस विकास असम्भव नही है तथापि भारतीय परम्परा मे उपलब्ध न होने के कारण यह मनस्तोष कारक नहीं कहा जा सकता।

अवि-मरीसम्

यह मरीस शब्द यूरोप की अनेक भाषाओं मे रूपान्तर से अनुगत मिलता है। जर्मन गेटे मिल्श शब्द का उदाहरण पर्याप्त होगा।

यद्यपि दुग्धार्थक मरीस शब्द निश्चयत आर्यभाषा-द्योतक है तथापि तमिल भाषा मे मेषीदुग्धार्थक 'मरि-शँक्कु' शब्द विद्यमान है। वहाँ मरि = मेषी और शँक्कु-दुग्ध है[1]। साराश यह है कि सोढ, दूस तथा मरीस—ये तीनो कात्यायन निर्दिष्ट प्रत्यय न होकर स्वतन्त्र शब्द हैं दुग्ध के अर्थ मे और इनका प्रयोग आर्य भाषा भाषी यूरोप तथा अन्य देशो के निवासी आज भी करते हैं। इन शब्दो का प्रत्यय रूप मे वार्तिक मे उल्लेख होना भाषा-विज्ञान की दृष्टि से एक महनीय उपलब्धि है।

कात्यायन का देश काल

कात्यायन के देश विषय मे कोई निश्चय नहीं किया जा सकता। कथासरित्सागर मे पाणिनि तथा कात्यायन का एकत्र निवास तथा परस्पर सघर्ष की जो बातें लिखी हैं, वे सब काल्पनिक हैं। इसी प्रकार उन्हे राजा नन्द के मन्त्री होने का निर्देश भी कल्पना मे अधिक महत्त्व नही रखता। उनके देश के निर्णयार्थ महाभाष्य की **'तद्धित प्रिया हि दाक्षिणात्या.'** उक्ति प्रमाणभूत मानी जानी चाहिए। लोकवेदयु के स्थान पर वार्तिक म 'लौकिक वैदिकेषु' का पाठ पतञ्जलि की दृष्टि म इस निष्कर्ष का प्रमापक है। फलत कात्यायन दक्षिण देश के निवासी थे—पतञ्जलि के प्रामाण्य पर इतना ही कहा जा सकता है।

पतञ्जलि से कात्यायन कितनी शताब्दियाँ पूर्व थे? कात्यायन तथा पतञ्जलि के बीच अनेक वैयाकरणो ने कात्यायन वार्तिको की विविध वृत्तियाँ लिखी जिनका उल्लेख महाभाष्य मे अनेक स्थानो पर है। दाक्षिणात्य कात्यायन के वार्तिको का उत्तर भारत मे प्रचलित होने, वैयाकरण सम्बन्धी नाना तथ्यो के उद्घाटन तथा अनेक वृत्तियो के वार्तिक पर निर्माण के लिए कई शताब्दियों का समय अपेक्षित है। पतञ्जलि का समय पुष्यमित्र के साथ समसामयिता के कारण ई० पू० द्वितीय शती

१ विस्तृत ज्ञान के लिए द्रष्टव्य—"तद्धितान्ता केचन शब्दा" पुस्तक। लेखक डा० भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी (वागीश शास्त्री)। प्रकाशक—मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी (१९६७)।

निश्चित किया जाता है। उस समय से कम से कम तीन-चार शताब्दी पूर्व कात्यायन का समय मानना कथमपि अनुचित न होगा। फलत कात्यायन मोटे तौर पर ई० पू० पञ्चम शती में उद्भूत हुए थे—इस परिणाम पर पहुँचना अशक्य नहीं माना जा सकता।

पतञ्जलि

पाणिनीय व्याकरण के उदय काल का सबसे अन्तिम ग्रन्थ पतञ्जलि रचित 'महाभाष्य' है। यह ग्रन्थ व्याकरण-विषयक प्रौढ पाण्डित्य, गम्भीर अर्थ विवेचन, सर्वाङ्गीण अनुशीलन तथा व्यापक दृष्टि के कारण अनुपम है। अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय के मूल विवेचक ग्रन्थ भाष्य की ही सामान्य सज्ञा से अभिहित किये जाते हैं, परन्तु अपनी पूर्वोक्त विशिष्टता के हेतु ही यह ग्रन्थ महाभाष्य के अभिधान से मण्डित किया गया है। इसके रचयिता महर्षि पतञ्जलि है।

पतञ्जलि का यह ग्रन्थ भाषा की दृष्टि से सरल, सुबोध तथा उदाहरण प्रचुर होने से नितान्त रोचक है। पतञ्जलि के महाभाष्य में 'आह्निक' हैं। 'आह्निक' शब्द का अर्थ है एक दिन में अधीत अश। यह ग्रन्थ की शैली कथनोपकथन से युक्त सवादमयी है। इसी शैली से गुरु शिष्य को विद्याभ्यास कराता है तथा पाठो को पढाकर विषय को हृदयगम बनाता है। प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार अपने पाठको को सामने प्रत्यक्ष करके पढा रहा है। विषय की पूर्ति के लिए नाना विद्याओं का, विषयो तथा व्यावहारिक शास्त्र का विवरण भी प्रसगत उपन्यस्त किया गया है और वह भी इतनी सुन्दरता से कि इसे समझने में परिश्रम करना नहीं पडता। महाभाष्य एक ग्रन्थ न होकर स्वय एक ग्रन्थालय है। उस युग का सास्कृतिक इतिहास पाठको के सामने अनायास उपस्थित हो जाता है। उस युग का आचार-विचार, धर्म कर्म, भोजन छाजन, कृषि वाणिज्य साहित्य दर्शन सब कुछ पाठको के हृत्पटल पर अङ्कित हो उठता है[१]। और इस विवरण की सहायता से मूल वैयाकरण तथ्य अत्यन्त आकर्षक तथा रोचक हो जाते हैं। सवाद शैली महाभाष्य का निजी वैशिष्ट्य है।

देश-काल

पतञ्जलि के महाभाष्य की अन्तरग परीक्षा से उनके देश-काल का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। श्री युधिष्ठिर मीमासक महाभाष्यकार पतञ्जलि को काश्मीर-देशज

१ उस युग के सास्कृतिक इतिहास के लिए द्रष्टव्य—डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री रचित 'पतञ्जलिकालीन भारत' (प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६२) नामक प्रौढ तथा प्राञ्जल ग्रन्थ।

मानते हैं[१] परन्तु यह नितान्त असत्य है। उनकी उक्ति है कि "महाभाष्य ३।२।११४ में **'अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्याम । तत्र सक्तून् पास्याम.'** इत्यादि उदाहरणों में *अमकृत् कश्मीर गमन का उल्लेख मिलता है। प्रतीत होता है कि कश्मीर जाने की बडी उत्कण्ठा हो रही है*"। यह कथन निर्युक्तिक है। कश्मीर जाने का इच्छुक व्यक्ति वहाँ से बाहर का निवासी प्रतीत होता है। आर्यावर्त से विद्याध्ययन के *लिए छात्र सर्वदा कश्मीर जाया करते थे। शारदापीठ होने से काश्मीर की विद्या* तथा विद्वानों की महती ख्याति समग्र देश में थी। उसकी ओर उक्त कथन में सकेत लक्षित होता है। काशी मण्डल का छात्र सक्तुपान तथा ओदन का नितान्त प्रेमी होता है। *इसीलिए इस कथन में वहाँ की यात्रा के लिए प्रलोभन उपस्थित किया गया है।*

पतञ्जलि का परिज्ञात भौगोलिक क्षेत्र भारतवर्ष का पूर्व भाग है—काशी मण्डल से सम्बद्ध देश। वे मथुरा, साकेत, कौशाम्बी तथा पाटलिपुत्र से भली भाँति अभिज्ञ है। *महाभाष्य में वर्णित आचार विचार (विशेषत भोजन तथा कृषि)* इसी प्रदेश से सम्बन्ध रखता है। पतञ्जलि ने अपने युग के मनुष्यों का प्रतिनिधि 'देवदत्त' को खडा किया है। इसके भोजन छाजन की छानबीन उसे काशिमण्डलीय सिद्ध कर रही है। *देवदत्त दही भात का शौकीन है सत्तू के पीने का वह अभ्यासी है।* कोई उसे याद दिलाता है कि देवदत्त तुम्हे मालूम है कि हम काश्मीर गये थे। तथा भात खाये थे। धान के नाना प्रकारों से महाभाष्य परिचय रखता है। मगध के सुगन्धित शालि का, व्रीहि का, नीवार का सकेत महाभाष्य में बहुश है। सक्तु पीने की प्रथा का भूरिश उल्लेख है। सक्तु अधिकतर जौ का बनता था। दधि के साथ मिलाया सक्तु 'दधिमन्थ' तथा पानी के साथ 'उदमन्थ' कहलाता था। गुड की चाशनी में पकाया गया भूंजा धान 'गुडधाना' के नाम से प्रख्यात था। तिलकूट 'पलल' की सज्ञा धारण करता था। ब्राह्मण भोजन में दही परोसने का प्रचलन था तथा दधिभोजन अर्थसिद्धि का आरम्भ माना जाता था (**दधिभोजनमर्थसिद्धेरादि., ६।४।१६१ महाभाष्य**)। यह सब भोजन व्यवस्था आज भी इस काशीमण्डल में प्रचलित है। इतना ही नहीं, 'कृषि' के प्रचार का समस्त महाभाष्यसम्मत वर्णन आज भी यहाँ प्रत्यक्ष किया जा सकता है[२]। पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित वाक्‌योग (मुहावरा) काशी की भोजपुरी में अक्षरश उपलब्ध है[३]।

१ युधिष्ठिर मीमासक—सस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ३१५।

२ द्रष्टव्य—पतञ्जलिकालीन भारत पृष्ठ २५१–२७१।

३ द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय—सस्कृत साहित्य का इतिहास (दशम स०, १९७८) पृष्ठ १६।

महाभाष्यकार ने कृ धातु के अर्थ-प्रसग मे लिखा है कि कृधातु निर्मलीकरण (साफ-सुथरा करना) अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है जैसे पादौ कुरु (पैर साफ करो) तथा 'पृष्ठ कुरु' (पीठ को मीसो)। इन प्रयोगो का आज भी बनारसी बोली मे प्रयोग होता है (खडी बोली मे नही) 'गोडो कइली, मूडो कइली, तबू काम ना भइल' (पैर साफ किया, सिर दबाया सेवा की, परन्तु काम नही हुआ)। बनारसी का यह वाक्य महाभाष्य की स्पष्ट व्याख्या है तथा सस्कृत के लोकवाणी होने का समर्थक है।[1] इन प्रमाणो मे सिद्ध है कि 'एड् प्राचा देशे' से सिद्ध प्राग्देशीय गोनर्दीय आचार्य से वे भले ही भिन्न हो, परन्तु वे काशीमण्डल के निवासी थे, काश्मीर के नही—इस तथ्य के मानने मे सन्देह नही है।

महाभाष्य के अन्तरग अनुशीलन से उसके रचनाकाल का विवरण मिलता है। पतञ्जलि ने पुष्यमित्र को स्वय यज्ञ कराने का उल्लेख किया है और इस क्रिया को **'प्रवृत्तस्याविराम'** कह कर वर्तमानकालिक बतलाया है।[2] पुष्यमित्र काण्व वश के सस्थापक ब्राह्मण राजा थे जिन्होने बौद्ध मतानुयायी मौर्यो का नाश कर अपने वश की स्थापना की थी और अपनी दिग्विजय के उपलक्ष्य मे दो बार अश्वमेध यज्ञ किया था। पतञ्जलि इसी यज्ञ का निर्देश करते हैं। यह घटना ई० पू० द्वितीय शती के उत्तरार्ध मे घटित हुई थी। लड् लकार की व्याख्या मे उनका कहना है कि लोकविज्ञात परोक्ष के लिए, जो प्रयोक्ता के दर्शन का विषय हो सकता है, लड् का प्रयोग होता है।[3] यथा **अरुणद् यवन साकेतम्। अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्।** फलत यवन के द्वारा साकेत (प्राचीन अयोध्या) तथा मध्यमिका (चित्तौर के समीप 'नगरी) के अवरोध की घटना पतञ्जलि के जीवन-काल मे ही सम्पन्न हुई थी। यह यवन आक्रमक 'मिनाण्डर' के ग्रीक नाम से प्रख्यात था जो बौद्ध हो जाने पर 'मिलिन्द' कहलाता। पजाब तथा अफगानिस्तान पर वह १४२ ई० पू० के आस पास शासन करता था। इन उदाहरणो के आधार पर महाभाष्य की रचना का काल ई० पू० द्वितीय शती का मध्य अथवा १५० ई० पू० के आसपास स्वीकार किया गया है। शुङ्गकालीन वैदिक धर्म के अभ्युदय के साथ महाभाष्य जैसे वेदज्ञानोपयोगी व्याकरण ग्रन्थ की रचना की सगति

---

१ करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्ट निर्मलीकरणे चापि विद्यते। पृष्ठ कुरु पादौ कुरु उन्मृदानेति गम्यते (१।३।१ पर भाष्य)।

२ प्रवृत्तस्याविरामे शासितव्या भवन्ती इहाधीमहे, इह वसाम , इह पुष्यमित्र याजयाम ॥ (३।२।१२३ पर महाभाष्य)।

३ परोक्षे च लोक-विज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये लड् वक्तव्य । अरुणद् यवन साकेतम्। अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्। (वही, ३।२।१११ सूत्र)।

भी ठीक बैठती है। फलत इस ब्राह्मण युग मे पतञ्जलि की स्थिति मानना नितान्त औचित्यपूर्ण है।

महाभाष्य अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या न होकर उसके वार्तिकों का बृहत् व्याख्यान है। पतञ्जलि से पूर्व काल मे अनेक वैयाकरणो ने अष्टाध्यायी के ऊपर वार्तिको का निर्माण किया जिनमे कात्यायन तथा सुनाग के वार्तिक मुख्य थे। इन सब के मतो का यथार्थ परीक्षण कर खण्डन मण्डन के द्वारा पतञ्जलि ने अपनी विशिष्ट 'इष्टियो' की उद्भावना की है। महाभाष्य व्याकरण का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमे व्याख्यानमुखेन व्याकरण दर्शन के सिद्धान्तो का विस्तरश निरूपण किया गया है। पतञ्जलि के कथन के आधार पर ही भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' का प्रासाद प्रतिष्ठित किया तथा नागेशभट्ट ने अपनी 'मञ्जूषा' के निमित्त सिद्धान्तरत्नो का सकलन किया। कथन की शैली इतनी सुबोध तथा प्रसादमयी है कि तथ्यो को हृदयगम करने मे विशेष प्रयास की अपेक्षा नही होती। यह व्याकरण के सिद्धान्तो का ही आकर ग्रन्थ नही है, प्रत्युत निखिल शास्त्रो के तथ्यो का प्रतिपादक महनीय ग्रन्थ है—यह इसके अध्ययन से स्पष्ट है। इसीलिये भर्तृहरि का यह यथार्थ कथन ध्यानयोग्य है—

> कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
> सर्वेषा न्याय बीजाना महाभाष्ये निबन्धने[1] ॥
> (वाक्यपदीय २।४८६)

पतञ्जलि की सवाद शैली

पतञ्जलि की शैली का एक निदर्शन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है जिसमे एक शब्द के साधुत्व के विषय मे वैयाकरण तथा सूत का रोचक वार्तालाप इन शब्दो मे अकित किया गया है (२।४।५६ सूत्र पर महाभाष्य मे)—

वैयाकरण—इस रथ का प्रवेता कौन है ?

---

१ प्रतीत होता है कि इसी पद्य के आधार पर महाभाष्य को 'निबन्धन' की सज्ञा प्राप्त हुई जिसका उल्लेख महाकवि माघ ने अपने इस प्रख्यान पद्य मे किया है—

> अनुत्सूत्र-पदन्यासा सद्वृत्ति सन्निबन्धना।
> शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥
> (शिशुपालवध २।११२)

सूत—आयुष्मन्, मैं इस रथ का प्राजिता[1] हूँ (हाँकने वाला)।
वैयाकरण—'प्राजिता' तो अपशब्द है।

सूत—देवाना प्रिय (महाशय) आप प्राप्तिज्ञ हैं, इष्टिज्ञ नहीं। यह प्रयोग इष्ट है। यही रूप अभिलषित है।

वैयाकरण—अहो, यह दुष्ट सूत (दुरुत) हमें बाधा पहुँचा रहा है।

सूत—आपका 'दुरुत' प्रयोग ठीक नहीं है। 'सूत' शब्द √ सू (प्रसव, उत्पन्न करना) धातु से निष्पन्न हुआ है, वेञ् धातु (बिनना) से नहीं। यदि आपको निन्दा अभीष्ट हो, तो 'दु सूत' शब्द का प्रयोग करें।

इस रोचक सवाद से उस युग की भाषा, आचार तथा प्रयोग की बातें ध्यान मे आती हैं। **'प्राप्तिज्ञो देवानां प्रिय', न तु इष्टिज्ञ.'**—सूत का वैयाकरण के लिए प्रयुक्त यह वाक्य बड़े महत्त्व का है। इससे प्रतीत होता है कि पतञ्जलि के काल में 'देवाना प्रिय' शब्द आदर तथा सम्मान के लिए प्रयुक्त किया जाता था। सूत के हृदय मे वैयाकरण के लिए महती श्रद्धा की भावना विद्यमान है। फलत मूर्ख की कल्पना अभी तक इस शब्द के साथ सयुक्त नही हुई थी। दूसरी महत्त्व की बात है प्राप्ति तथा इष्टि का अन्तर। 'प्राप्ति' वे स्थल हैं जहाँ तक वह सूत्र जा सकता है, उस सूत्र की पकड मे आ सकते हैं। 'इष्टि'[2] (स्वीकृति) लोक व्यवहार मे आनेवाले प्रयोगों की स्वीकृति है। प्राप्ति की अपेक्षा भाष्यकार की सम्मति मे इष्टि का महत्त्व है। लोक-व्यवहार की मुहर वाला शब्द ही व्यवहार्य है तथा उचित है। भाष्यकार की यह सम्मति वैयाकरणो के लिए सर्वमान्य है। शास्त्र तथा लोक के इस तारतम्य को दिखला कर महाकवि श्रीहर्ष ने लोक को व्याकरणशास्त्र से समधिक महत्त्वशाली माना है। तभी तो चन्द्रमा के लिए 'शशी' का प्रयोग उचित होने पर भी

---

१ इस शब्द का प्रयोग माघ ने किया है—

रहोभाजामक्षघ्नू स्यन्दनाना।
हाहाकार प्राजितु प्रत्यनन्दत्॥

(शि० व० १८।७)

२ जो नियम सूत्रो मे दिये गये हैं, उनके अपवाद या उनसे अधिक नियम इष्टि (मजूरी, स्वीकृति, मानना, चाहिये) कहे जाते हैं। इन्हें जाननेवाला —'इष्टिज्ञ'।

तदनुरूप 'मृगी' (मृग' अस्ति अस्य) का प्रयोग लोकबाह्य होने से अस्पृहणीय है[1]।

पतञ्जलि की भाषा

पतञ्जलि की भाषा लोकव्यवहार के उपयोग में आनेवाली है। उन्होंने अनेक शब्दों को गढकर तैयार किया है जिनका प्रयोग बड़ा ही अन्वर्थक तथा प्रतिपाद्य भाव को अभिव्यक्त करने वाला है। ऐसे अर्थगर्भित शब्द महाभाष्य में प्रयुक्त हैं जिनके लिए सम्पूर्ण वाक्य की आवश्यकता होती। कतिपय शब्दों का निर्देशमात्र यहाँ किया जा रहा है—

शब्दगडुमात्रम् (शब्दों का बकवास मात्र)।

काकपेया नदी (क्षीण, छिछले जलवाली नदी)।

वर्त्मनिट् (चलते चलते खेत चरनेवाला बैल या पशु)।

अण्डक्षीण (दो व्यक्तियों के बीच की गुप्त मन्त्रणा)।

अपस्किरण[2] (बैल की सींग से भूमि कुरेदना, कुत्ते या पक्षियों द्वारा भूमि कुरेदने की क्रिया)।

उष्णक (शीघ्र करने योग्य काम को शीघ्रता से करने वाला)।

शीतक (शीघ्र करने योग्य काम को ढिलाई से करने वाला)।

आशितगु (चरागाह, जिसकी घास गायों द्वारा चर ली गयी हो)।

पुष्पक (आँख मे फुल्ली वाला व्यक्ति)।

पार्श्वक (सीधे ढंग से करने योग्य काम को कपट उपायों से करनेवाला व्यक्ति)।

समाश (= सहभोज)।

चाचा (= तृणमय पुमान्। पशुओं को डराने के लिए खेत में घास से बनायी गई आकृति)।

केशक (बालों का शौकीन व्यक्ति)।

जान शूलिक (मृदु उपाय-साध्य कार्य को जोर-जबरदस्ती से करनेवाला व्यक्ति)।

महाभाष्य में अनेक स्थलों पर जीवन की अनुभूति पर आधृत अनेक मनोरम तथा रोचक सूक्तियों और मुहावरों का प्रयोग किया गया है जिसमें कथन में विशेष

---

१ भग्नं तु प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगाध्वनि लोक एष।
शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽयमेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः॥

—नैषध २२।८४।

२ इनका प्रयोग भवभूति ने उत्तररामचरित में किया है—
छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वचः।

-बल मिलता है। कभी-कभी ये सूक्तियाँ सोदाहरण मिलती हैं और कभी तथ्य के अकटनरूप मे ही। इनका उपयोग भाष्यकार ने अपने किसी कथन को तथा तर्क को पुष्ट करने के लिए किया है। दो चार उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(१) द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति।
(२) समानगुण एव स्पर्धा भवति। न ह्याढ्याभिरूपो स्पर्धते।
(३) पर्याप्तो ह्येकः पुलाकः स्थाल्या निदर्शनाय।
(४) बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्।
(५) नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते; न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते॥
(६) आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे (पूछा आम, बतावे इमिली)।

पतञ्जलि का जीवन-चरित

पतञ्जलि शेषनाग के अतार थे—यही सार्वत्रिकी प्रसिद्धि है। इसके अतिरिक्त उनके जीवन-चरित के विषय में हमारा ज्ञान नगण्य है। इधर द्रविड देश के सुकवि रामभद्र दीक्षित (समय १६ शती) ने 'पतञ्जलि-चरित' नामक काव्य मे भाष्कार के जीवन के विषय मे नवीन तथ्यो की उद्भावना की है। उनका कहना है कि आचार्य गौडपाद (श्री शङ्कराचार्य के दादा गुरु) भाष्यकार पतञ्जलि के शिष्य थे। इसकी पुष्टि मे उन्होने एक विचित्र घटना का उल्लेख किया है। कह नही सकते यह कहाँ तक परम्परा से पोषित है। उधर उससे प्राचीन विद्यारण्य स्वामी ने अपने 'शङ्करदिग्विजय' मे श्रीशङ्कराचार्य के गुरु गोविन्दपादाचार्य को पतञ्जलि का रूपान्तर माना है।[1] इस उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पतञ्जलि का सम्बन्ध अद्वैत वेदान्त के सम्प्रदाय से आचार्यो ने जोडा है। कारण यही सम्भावित होता है कि शब्द ब्रह्म के प्रतिपादक पतञ्जलि शब्दाद्वैतवादी थे। वे शब्द की एक तथा अभिन्न सत्ता स्वीकार करते थे। शब्द से ही सृष्टि होती है और शब्द मे ही सृष्टि का विलय होता है। इसी शब्दाद्वैत-वाद के प्रतिष्ठापक होने से पतञ्जलि को अद्वैतवादी सम्प्रदाय से सम्बद्ध किया गया है। भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीय' मे तथा नागेशभट्ट ने अपनी 'मञ्जूषा' मे महाभाष्य

---

१ दृष्ट्वा पुरा निज सहस्रमुखीमभैषु-
रन्ते वसन्त इति तामपहाय शान्त ।
एकाननेन भुवि यस्त्ववतीर्य शिष्यान्।
अन्वग्रहीननु स एव पतञ्जलिस्त्वम् ॥
—शंकरदिग्विजय ५।९५ (हरिद्वार संस्करण, १९६७)

के ही तथ्यों के आधार पर अपना सुचिन्तित सिद्धान्त प्रासाद खड़ा किया है। इस प्रसंग में यह तथ्य भी ध्यातव्य है।

कात्यायन तथा पतञ्जलि

पतञ्जलि के साथ कात्यायन के सम्बन्ध को यथार्थतः समझने से दोनों के माहात्म्य का पूर्ण परिचय किसी भी आलोचक को प्राप्त हो सकता है।

(क) कात्यायन का वार्तिक पाणिनीय व्याकरण के दार्शनिक स्वरूप को पूर्णतः अभिव्यक्त करता है। उनसे पूर्व व्याडि ने अपने 'संग्रह' ग्रन्थ में इस स्वरूप को भली-भाँति प्रकट किया था और यह स्वाभाविक है कि उनके पश्चाद्वर्ती कात्यायन के ऊपर उनके ग्रन्थ का प्रभाव पड़े। परन्तु लक्षश्लोकात्मक 'संग्रह' के कालकवलित हो जाने से कात्यायन के वार्तिकों के साथ उसकी तुलना नहीं की जा सकती और न कात्यायन की अधमर्णता की मात्रा का ही पता लगाया जा सकता। कात्यायन का प्रथम वार्तिक है 'सिद्धे शब्दार्थ—सम्बन्धे।' और पतञ्जलि ने 'सिद्ध' शब्द के 'नित्य' अर्थ की पुष्टि में संग्रह का प्रामाण्य उपस्थित किया हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि पतञ्जलि कात्यायन के ऊपर संग्रह का प्रभाव मानते थे—विशेषतः उन स्थलों पर जहाँ शब्दार्थ से सम्बद्ध दार्शनिक तथ्यों का विवरण उपन्यस्त है। यह सामान्य धारणा है जिसकी पुष्टि के लिए महाभाष्य का अनुशीलन अपेक्षित है।

(ख) पतञ्जलि का महाभाष्य कात्यायन के वार्तिकों का ही विस्तृत तथा विशद व्याख्यान है। पतञ्जलि कात्यायन के पूर्ण समर्थक हैं। वे स्वयं आक्षेप तथा सन्देह को उपस्थित कर वार्तिक के समाधान को गौरवमण्डित बनाते हैं। वे स्वयं दूषण देते हैं और तब उसका निरास करते हैं। वार्तिक के सिद्धान्तों की व्याख्या में—समर्थन में अनेक प्रकार की युक्तियाँ देते हैं जिससे भाष्यकार के बुद्धि कौशल का ही पता नहीं चलता, प्रत्युत कात्यायन के प्रति उनकी पूर्ण आस्था का भी परिचय मिलता है। यथा **'शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन'**—इस वार्तिक के भाष्य के अनुशीलन से उनकी कात्यायन के सिद्धान्तों के प्रति भूयसी आस्था अभिव्यक्त होती है। इसमें अनेक समाधानों को देकर तथा सम्भाव्य आक्षेपों का निराकरण कर पतञ्जलि ने कात्यायन के मत को पूर्णतः पुष्ट किया है। नये-नये प्रश्नों के उत्तर में वे मूल वार्तिक के ही सन्नम्न शब्दों का नवीन विग्रह कर समुचित समाधान करते हैं। **'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे'** के व्याख्यान के अवसर पर पदार्थ की समस्या उठ खड़ी

1 संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावात् मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति इहापि तदेव। —पस्पशाह्निक।

होती है कि पदार्थ आकृति है अथवा द्रव्य । इन दोनों पक्षों के समर्थन में वे **शब्दार्थ सम्बन्ध**' के दो प्रकार के विग्रह प्रस्तुत करते हैं और कात्यायन के मान्य सिद्धान्त को प्रकट करने में समर्थ होते हैं । प्रत्याहाराह्निक में वर्ण की सार्थकता तथा अनर्थकता को सिद्ध करने के लिए अनेक वार्तिक हैं । इनकी व्याख्या पतञ्जलि ने उदाहरणों के द्वारा जिस मार्मिक ढंग से की है वह दर्शनीय है । उदाहरणों के वैशद्य के कारण यह प्रसंग खिल उठता है ।

(ग) कात्यायन के वार्तिकों के ऊपर पतञ्जलि का महाभाष्य की सर्वप्रथम उपलब्ध व्याख्यान है, प्रत्युत पतञ्जलि से पूर्व ही अन्य व्याख्याकारों ने इनके ऊपर व्याख्यायें लिखी थीं । इन व्याख्याकारों के नाम से तो हम परिचित नहीं हैं परन्तु इनकी सत्ता के लिए महाभाष्य ही प्रमाण उपस्थित करता है । भाष्यकार ने अपनी व्याख्या लिखने के बाद इन प्राचीन व्याख्याकारों के मत का उल्लेख 'अपरस्त्वाह' कहकर किया है[१] । इसका ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि पतञ्जलि तथा कात्यायन के बीच में समय का पर्याप्त व्यवधान है, परन्तु कितने समय का ? इसका यथार्थ उत्तर दुष्कर है ।

(घ) कात्यायन की अपेक्षा पतञ्जलि वेद के विशेष मर्मज्ञ प्रतीत होते हैं । वेद का उनका अध्ययन गम्भीर तथा मौलिक था—यह निष्कर्ष उनके भाष्य के अनुशीलनकर्त्ता को पदे पदे उपलब्ध होता है । पस्पशाह्निक में व्याकरण अध्ययन के प्रयोजनों के उल्लेख के अवसर पर इसका प्रमाण उपन्यस्त है । व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन की सिद्धि के निमित्त पतञ्जलि ने चार वैदिक मन्त्रों को उद्धृत किया है तथा उनका व्याकरणपरक अर्थ भी किया है—(१) **चत्वारि शृङ्गा**[२] **(ऋ० ४।५८।३), (२) चत्वारि वाक् परिमिता**[३] **(ऋ० १।१६४।४५), (३) उत त्व. पश्यन्** ...... **(ऋ० १०।७१।४ ; (४) सक्तुमिव तितउना पुनन्तो (ऋ० १०।७१।२)** । इनसे अतिरिक्त अन्य मन्त्र तथा अनुग्रान वाक्य भी इस प्रसंग में दिये गये हैं । पतञ्जलि ने वेद, वैदिक शाखा, वैदिक चरण तथा वेदाध्ययन प्रणाली पर इतनी प्रचुर

१ यथा पस्पशाह्निक में 'तत्तुल्य वेदशब्देन' वार्तिक का एक नवीन व्याख्यान 'अपरस्त्वाह' शब्दों के अनन्तर प्रस्तुत किया गया है ।

२ यह मन्त्र ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्यत्र भी मिलता है—वाज० सं० १७।९१, तैत्ति० आर० १०।१०।२, नि० १३।७ ।

३ यह मन्त्र अन्यत्र भी उपलब्ध है—अथर्व ९।१०।२७, तै० ब्रा० २।८।८।५, शत० ब्रा० ४ १।३।१७, नि० १३।९ ।

सामग्री अपने भाष्य मे भर दी है कि उसके साधार पर इन विषयो का सुव्यवस्थित स्वरूप हमारे मानसपटल के सामने सद्य खडा हो जाता है। वेद का इतना गम्भीर तथा विस्तृत परिचय होना सचमुच आश्चर्य की घटना है। कठ तथा कलाप शाखा से महाभाष्य का गहरा परिचय दृष्टिगोचर होता है। काठको की प्रतिष्ठा पाणिनि के काल मे भी थी जिन्हे उनकी सहिता मे प्रयुक्त होने वाले 'देवायन्त' तथा 'सुम्नायन्त' पदो के लिए एक विशिष्ट नियम[1] बनाने की आवश्यकता पडी। पतञ्जलि के युग में तो कठ और कलापो की सहितायें गाँव गाँव मे पढाई जाती थी[2]। ये दोनो वैशम्पायन के प्रत्यक्ष शिष्य थे—उस वैशम्पायन के, जिन्होने यजुर्वेद के प्रवचन को आरम्भ किया था। जिस प्रकार पतञ्जलि ने पाणिनि की कृति को महत् तथा सुविहित (सुव्यवस्थित) कहा है, उसी प्रकार कठो की सहिता को भी[3]। कठो, कलापो तथा कौथुमों की सहिता के गान तथा उनके प्रति मगल-कामना के उल्लेख भी भाष्य में मिलते हैं[4]। इस प्रकार पतञ्जलि के महाभाष्य के अध्ययन से वेद के विषय मे अनेक नवीन तथ्यो का आविष्करण हो सकता है। उनके समान वेद के ज्ञाता वैयाकरण की उपलब्धि उस प्राचीन युग मे भी विरल थी। इसीलिए उन्होने वेदज्ञान के लिए व्याकरण की भूयसी उपयोगिता मानी है।

---

१ देवसुम्नयोर्यजुषि काठके ७।४।३८ सूत्र के द्वारा वे दोनो पद सिद्ध होते हैं। इस सूत्र का 'यजुषि' पद इस बात का प्रमाण है कि कठशाखा यजुर्वेद के अतिरिक्त भी है। हरदत्त के अनुसार कठशाखा ऋग्वेद मे उपलब्ध है। वहाँ 'देवान् जिगाति सुम्नयु.' ऐसा 'आत्' विरहित ही प्रयोग होगा। पदमजरी के शब्द ध्यातव्य हैं—'बह्वृचानामप्यस्ति कठशाखा। ततो भवति प्रत्युदाहरणम्। अनन्ता वै वेदा' (पूर्वसूत्र की पदमञ्जरी)। 'अनन्ता वै वेदा' हरदत्त का आश्चर्यसूचक उद्गार है' जो बतलाता है कि कठशाखा का प्रख्यात सम्बन्ध तो यजुर्वेद से ही है, परन्तु ऋग्वेद मे भी उस शाखा का सम्भावित अस्तित्व है। विशेष द्रष्टव्य—डा० रामशकर भट्टाचार्य का ग्रन्थ 'पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन' पृ० १६८–२०२ (वाराणसी, १९६६ ई०)।

२ ग्रामे ग्रामे काठक कालापक च प्रोच्यते (४।३।१०१)।

३ यथेह भवति पाणिनीय महत् सुविहितमिति, एवमिहापि कठ महत् सुविहितम् (४।२।६६)।

४ नन्दन्तु कठकालापा, वर्धन्तां कठकौथुका (२।४।३)।

यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्

पाणिनि व्याकरण 'त्रिमुनि' के नाम से अभिहित किया जाता है, क्योंकि इसके स्रष्टा तीन महामुनि थे—पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि, जो क्रम से एक दूसरे से उत्तरोत्तर थे कालक्रम से। व्याकरण सम्प्रदाय का परिनिष्ठित मत है—यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् अर्थात् उत्तरोत्तर मुनि का प्रामाण्य है। इस सिद्धान्त के अनुसार पाणिनि से बढ़ कर कात्यायन का तथा उनसे भी बढ़कर प्रामाण्य है पतञ्जलि का। कुछ लोग इसे भट्टोजि दीक्षित का ही अविचारित रमणीय मन्तव्य मानते हैं, परन्तु पदमञ्जरीकार हरदत्त भी जो दीक्षित से सर्वथा प्राचीन वैयाकरण हैं इसी मन्तव्य के समर्थक थे। पदमंजरी का प्रामाण्य इस विषय में स्पष्ट है। इस तथ्य के पोषक कतिपय उदाहरण यहाँ उपन्यस्त हैं—

(१) **न धातुलोप आर्धधातुके** (१।१।४) सूत्र का तात्पर्य है कि धात्वंशलोप निमित्तक आर्धधातुक परे रहने पर इक् को गुण तथा वृद्धि नहीं होती। बेभिदिता, मरीमृजक, लोलुव आदि इसके उदाहरण हैं। परन्तु पतञ्जलि ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। उनका कथन है कि सर्वत्र अकार के लोप करने पर उसके स्थानिवद्भाव होने से गुण वृद्धि नहीं होगी, तब सूत्र का प्रयोग ही क्या? आजकल समस्त वैयाकरण इस प्रत्याख्यान को ही आदर देते हैं सूत्र को नहीं। सूत्र केवल शुद्ध अदृष्टार्थक ही माना जाता है।

(२) **न बहुव्रीहौ** (१।१।२८) सूत्र का अर्थ है कि बहुव्रीहि चिकीर्षित होने पर सर्वादि को सर्वनामता नहीं होती। इसके उदाहरण हैं **त्वत्कपितृकः (त्वं पिता यस्येति विग्रहे)**। इस सूत्र पर पतञ्जलि की दृष्टि है—**'अकच्-स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्त संशयौ'** और इस दृष्टि के अनुसार उन्होंने अकच् घटित पद को ही मान्य बतलाया है—जिससे पूर्वोदाहृत पद होंगे **त्वकत्-पितृक.** तथा **मकत्पितृकः।** इन रूपों को सिद्ध कर महाभाष्यकार ने सूत्र का प्रत्याख्यान किया। और आज यही मत सर्वत्र मान्य है, सूत्रकार का मत नहीं

(३) **'नामन्त्रिते समानाधिकरणे'** (८।१।७३) अष्टाध्यायी का सूत्र है जिसके अनन्तर दूसरा सूत्र है **'सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने'**। यहाँ पर दूसरे सूत्र में 'बहुवचन' इस पद की पूर्ति कर **'सामान्यवचनम्'** का प्रत्याख्यान किया गया है। और 'विशेष वचन' पद का सम्बन्ध पूर्व सूत्र में स्थापित किया भाष्यकार ने। इससे सूत्र का अर्थ हुआ 'बहुवचनान्त विशेष्य समानाधिकरण आमन्त्रित विशेषण परे रहने पर अविद्यमानवत् होता है विकल्प से' और यही सूत्र का अर्थ सर्वत्र मान्य होता है। **'ब्राह्मणा वैयाकरणा'** इस लक्ष्य में उत्तर वैयाकरणपद का

विकल्प से निषेध सिद्ध होता है। और 'ब्राह्मण वैयाकरण' इस लक्ष्य में तो विधान नित्य ही होता है। इस सूत्र में 'बहुवचन' पद के प्रवेश के अभाव में एकवचनान्तादिकों का अविद्यमानवद्भाव होने पर अनिष्ट की प्रसक्ति हो सकेगा। अतएव भाष्यकार की व्यवस्था इस सूत्र में सब वैयाकरणों के द्वारा स्वीकृत की जाती है।

(४) 'उपसर्गादनोत्पर' (८।४।२८) सूत्र का अर्थ है- उपसर्गस्थ निमित्त से परे नस के नकार को णत्व होता है, ओकार परभाग में नहीं होने पर। प्रणस इसका उदाहरण है। अब विचारणीय है— प्रणो नय इस लक्ष्य में आकारपरत्व होने से णत्व सिद्ध नहीं होगा तथा प्र न पूषा' इस लक्ष्य में ओकारपरत्व न होने से णत्व होगा—इस प्रकार अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति को देखकर भगवान् भाष्यकार ने सूत्र में अनोत्पर इस पद को हटाकर उसके स्थान पर बहुलम् पद की योजना की है। इससे इष्ट प्रयोग की सिद्धि होती है। आज भाष्यकार की ही व्यवस्था शब्दवेत्ताओं के द्वारा समादृत होता है।

(५) 'पदव्यवायेऽपि (८।४।३८) पाणिनि का सूत्र है। उसका अर्थ है—पूर्वपदस्थ निमित्त से परे प्रातिपदिकान्त विभक्ति स्थित नुम् के नकार को णत्व नहीं होता यदि पद से व्यवधान होवे। इसका उदाहरण चतुरङ्गयान है। इस सूत्र के ऊपर कात्यायन का अतद्धिते इति वक्तव्यम् यह वार्तिक है जिसका अर्थ है कि सूत्र वाला नियम तद्धित से भिन्न स्थलों में ही होना चाहिए। इसलिए आर्द्र गोमयेण पद में णत्व का निषेध नहीं होता। परन्तु इस वार्तिक का भाष्यकार ने प्रत्याख्यान किया। उन्होंने पदव्यवाये इस सूत्रस्थ पद में पदे व्यवाय यही सप्तमी-समास स्वीकृत किया और इस समास स्वीकार करने पर सर्वत्र इष्ट सिद्धि होता है। इसलिए भाष्यकार का यह प्रकार ही सर्वसम्मति से स्वीकृत किया जाता है।

इस प्रकार अनेक स्थलों में सूत्रकार तथा वार्तिककार की अपेक्षा भाष्यकार का मत प्रामाण्य माना जाता है। इसका अभिप्राय वैयाकरण सम्प्रदाय में यह नहीं है कि सूत्रकार तथा वार्तिककार का मत अप्रमाण है प्रत्युत उत्तर मुनि के तात्पर्य में ही उनका भी तात्पर्य है। कैयट की इस विषय में स्पष्ट उक्ति है—

> पाणिनीये व्याख्यानभूतत्वेऽपि इत्यादि कथनेन।
> अवान्तरतात्पर्याद् अस्य इतरभाष्यवैलक्षण्येन महत्त्वम्॥
> (प्रदीप १।१।१)

मेरी दृष्टि में भाष्यकार की इष्टियाँ उन्हें 'लब्धैकचक्षुष्क' वैयाकरण सिद्ध कर रही हैं। भाष्यकार ने धातुओं के अर्थ प्रसंग के दो शब्दों का व्यवहार किया है-जिनमें

तथा इष्यते। 'विद्यते' का अर्थ है कि धातु का वह अर्थ पाणिनि द्वारा आम्नात है—निर्दिष्ट है। 'इष्यते' का तात्पर्य है कि लोकव्यवहार मे उसका भिन्न ही अर्थ विद्यमान है। इसी प्रकार लोक व्यवहार मे प्रचलित शब्द की सिद्धि, जो सूत्र तथा वार्तिक द्वारा कथमपि नही हो सकती, 'इष्टि' के द्वारा ही सम्पन्न होती है। पतञ्जलि व्यवहार को शास्त्र की अपेक्षा अधिक महत्त्व देने वाले वैयाकरण है। फलत व्यावहारिक प्रयोगो को शास्त्र की मर्यादा मे बांधने के लिए ही पतञ्जलि ने अपनी इष्टियो का निर्माण किया। इससे उनको अलौकिक शेमुषी तथा भाषा और व्याकरण के परस्पर सन्तुलन की दृष्टि लक्ष्य मे आती है। नि सन्देह पतञ्जलि सस्कृत-भाषा के प्रखर प्रतिभाशाली महनीय वैयाकरण हैं।



तृतीय खण्ड

व्याख्या-युग

पाणिनीय सम्प्रदाय का व्याख्या युग पञ्चम शती से लेकर १४ शती तक व्याप्त है। इससे पूर्व युग मे जिन दो मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, उन्हीं के ऊपर व्याख्या-ग्रन्थो का निर्माण कर उन्हे सुलभ तथा बोधगम्य बनाया गया। वार्तिकों को अन्तर्निविष्ट करने के कारण महाभाष्य ही अष्टाध्यायी के अनन्तर व्याख्या की आवश्यकता रखता था। फलत इन्हीं दोनो के ऊपर व्याख्याग्रन्थो का निर्माण इस युग का निजी वैशिष्ट्य है। अष्टाध्यायी की अपेक्षा पातञ्जल-महाभाष्य गम्भीर तथा दुरूह होने के कारण सर्वप्रथम व्याख्यान की अपेक्षा रखता था और इसीलिए इस युग म उसके ऊपर व्याख्या ग्रन्थो की रचना हुई। अष्टाध्यायी के व्याख्या ग्रन्थ का क्रम उसके अनन्तर प्रतीत होता है। इन्ही दोनों ग्रन्थो की *टीका-प्रटीका* की रचना के कारण इस लम्बे काल को 'व्याख्या-युग' का अभिधान हम प्रदान करते हैं।

'व्याख्या-युग' का नामकरण 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस नियम के अनुसार प्राचीनतम सम्पूर्णवृत्ति काशिकावृत्ति' के निर्माण के कारण ही है, अन्यथा वृत्तियो की रचना सप्तम शती से पूर्वकाल की घटना है। काशिका ने अपने उपजीव्य ग्रन्थो मे ही किसी 'वृत्ति' का निर्देश किया है[1]। इस 'वृत्ति' के विषय मे पदमञ्जरी मे हरदत्त न कोई नाम निर्देश नहीं किया परन्तु उनसे पूर्ववर्ती जितेन्द्रबुद्धि ने इस श्लोक के अपन 'न्यास' मे **चुल्लिभट्टि** तथा **निर्लूर** की वृत्तियों का नाम्ना सकेत किया है। फलत ये वृत्तियाँ काशिका से प्राचीनतर हैं, परन्तु इनमे से किसका आश्रयण काशिका म विशेषरूप से है ? इस विषय मे कुछ नहीं कहा जा सकता।

इतना ही क्यों ? सूत्रवृत्ति की सत्ता पतञ्जलि महाभाष्य से भी प्राक्कालीन है। उस युग म कुणि नामक आचार्य की वृत्ति नितान्त प्रख्यात थी। 'एङ् प्राचा देश' (१।१।७५) सूत्र मे 'प्राचा' से क्या तात्पर्य माना जाय ? इस विषय म मत द्वैविध्य है। सामान्यरूपेण यह शब्द प्राचीनिवासियो का ही वाचक माना गया था ('काशिका' को भी यही स्वीकार्य है) परन्तु कुणि की सम्मति मे यह शब्द प्राक्देशीय आचार्यों

१ वृत्तौ भाष्ये तथा धातुनाम पारायणादिषु।
विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य क्रियते सारसग्रह ॥

—काशिका का प्रथम श्लोक।

का सकेतक है तथा इस सूत्र मे व्यवस्थित विभाषा भी है। कुणि के इस मत को पतञ्जलि ने भी माना है। इस तथ्य का परिचय हमे इस सूत्र के प्रदीप मे कैयट के शब्दो से वैशद्येन उपलब्ध होता है[1]। फलत कुणि की पतञ्जलि से प्राक्कालीनता निःसदिग्ध है।

इतने से सतोष नही करना चाहिए, प्रत्युत सूत्रकार पाणिनि ही प्रथम वृत्तिकार भी प्रतीत होते हैं। वह वृत्ति तो आज उपलब्ध नही, परन्तु मान्य वैयाकरणो के उल्लेख इस तथ्य के मानने मे प्रमाण माने जा सकते हैं। स्वय महाभाष्यकार के वचन इस विषय मे प्राचीनतम निर्देश माने जा सकते हैं। आ कडारादेका सज्ञा (१।४।१) सूत्र के पाठ के विषय मे सन्देह उठाया गया है महाभाष्य मे। और उत्तर है कि इस सूत्र के दो रूप है—आ कडारादेका सज्ञा तथा प्राक् कडारात्पर कार्यम्। और यह आचार्य के प्रामाण्य पर ही स्वीकार्य माना गया है—**'उभयथा ह्याचार्येण शिष्या. सूत्र प्रतिपादिताः केचिदा कडारादेका संज्ञेति प्राक्कडारात् परं कार्यमिति'**। महाभाष्य के ये वचन नितान्त स्पष्ट हैं।

काशिका ने अनेक सूत्रों की दो प्रकार की व्याख्यायें दी हैं और इसके लिए आचार्य को ही प्रमाण माना है। ५।१।५० सूत्र (**तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वशादिभ्य**) पर दो प्रकार के अर्थ तथा दो प्रकार की शब्दसिद्धि दिखला कर काशिका कहती है—

सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्या प्रतिपादिता.। तदुभयथापि ग्राह्यम् (काशी स०, चतुर्थ भाग, पृ० ५५)। ५।१।६४ सूत्र (तदस्य ब्रह्मचर्यम्) मे इसी प्रकार व्याख्या के दो प्रकार है। एक के अनुसार प्रत्यय का अर्थ ब्रह्मचारी है और दूसरे के अनुसार ब्रह्मचर्य प्रत्ययार्थ है। ये दोनो अर्थ प्रमाण हैं दोनो प्रकार के सूत्र प्रणयन से—

पूर्वत्र ब्रह्मचारी प्रत्ययार्थ । उत्तरत्र ब्रह्मचर्यमेव ।
उभयमपि प्रमाणम् । उभयथा सूत्र-प्रणयनात्[2] (काशिका)॥

---

१ कुणिना प्राग्ग्रहणमाचार्य निर्देशार्थं व्यवस्थित विभाषार्थं च व्याख्यानम्''' '''भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रयत् (१।१।७५ पर भाष्यप्रदीप)। पदमजरी मे भी यही मत स्वीकृत है।

२ इस वाक्य का अर्थ दोनो टीकाकारो के अनुसार एक समान ही है। उभयस्मिन्नपि ह्यर्थे सूत्रमेतद् आचार्येण प्रणीतम्। द्वयमपि प्रमाणम् (न्यास)। उभयोरप्यर्थयो सूत्रकारेणैव सूत्रस्य व्याख्यातत्वात् (पदमजरी)।

अष्टाध्यायी का १।१।४५ सूत्र (**इग् यण सम्प्रसारणम्**) सम्प्रसारण संज्ञा का विधान करता है। इस सूत्र के तात्पर्य के विषय में दो मत हैं (जिनका उल्लेख काशिका करती है)। एक के अनुसार वाक्यार्थ की संज्ञा सम्प्रसारण है और दूसरे के अनुसार यण् के स्थान में होने वाले इक् (वर्ण) की ही वह संज्ञा है। काशिकाकार ने इस द्वैविध्य के लिए प्रमाण नहीं दिया, परन्तु भर्तृहरि पाणिनि को ही इसका उत्पादक मानते हैं—

उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः। केचिद् वाक्यस्य, केचित् वर्णस्य[1]।

साराश है कि भर्तृहरि के मत मे आचार्य पाणिनि ने ही अपने शिष्यो को यह दो प्रकार का व्याख्यान दिया था। किन्ही को वाक्य का ही सम्प्रसारण बतलाया था और किन्ही को वर्ण को ही।

निष्कर्ष यह है कि काशिका, भर्तृहरि तथा पतञ्जलि जैसे प्राचीन आचार्यों के पूर्वोक्त उद्धरणो से हमे पता चलता है कि पाणिनि ने स्वयं ही अपने सूत्रों का प्रवचन कर शिष्यो को तात्पर्य समझाया था। फलत सूत्रकार को ही प्रथम वृत्तिकार मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है। इस विषय में सम्प्रदाय की अक्षुण्णता अवलोकनीय है।

महाभाष्य की 'विपुल' टीका सम्पत्ति मे तीन व्याख्यायें मुख्य तथा लोकप्रिय हैं—(१) भर्तृहरि रचित '**महाभाष्य दीपिका**; (२) कय्यट कृत '**महाभाष्य प्रदीप**' तथा तदुपरि (३) नागेश निर्मित **प्रदीपोद्योत**। अष्टाध्यायी की व्याख्यायें (वृत्तियॉ) मे मुख्य ये हैं—(१) जयादित्य तथा वामन रचित **काशिका वृत्ति**, जिसके गम्भीर अर्थ की व्याख्या जिनेन्द्र बुद्धि ने 'काशिका विवरण पञ्जिका' (प्रख्यात अभिधान 'न्यास' मे) मे तथा हरदत्त ने पदमञ्जरी मे की, (२) अज्ञातनामा आचार्य की 'भागवृत्ति' (३) पुरुषोत्तम देव की 'भाषा वृत्ति', (४) शरणदेव की 'दुर्घट वृत्ति' तथा (५) भट्टोजि दीक्षित कृत 'शब्द कौस्तुभ'। इस प्रकार व्याकरण के व्याख्या युग के सर्व-प्राचीन आचार्य भर्तृहरि हैं।

भर्तृहरि

पाणिनीय सम्प्रदाय मे भर्तृहरि के समान अशेष तत्त्व निष्णात वैयाकरण मिलना दुर्लभ ही नही, नितान्त असम्भव है। पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' मे व्याकरण

१ यह वचन उद्धृत है संस्कृत_व्याकरणशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) पृ० ४०४ पर।

के दार्शनिक पक्ष का जो रहस्य उद्घाटित किया है, उन्ही से प्रेरणा तथा स्फूर्ति ग्रहण कर भर्तृहरि ने अपना अलौकिक पाण्डित्य-मण्डित ग्रन्थ लिखा जो वाक्य तथा पद के रहस्यो का यथाविधि उद्घाटन करने के हेतु 'वाक्यपदीय' के नाम से प्रख्यात है। पतञ्जलि की वैयाकरण वैदग्धी के समीप तक जाने की योग्यता भर्तृहरि मे निःसन्देह है। इनके देश काल का यथार्थ परिचय उपलब्ध नही। पुण्यराज के प्रामाण्य पर इनके गुरु का नाम **वसुरात** था। चीनी यात्री इत्सिंग के निराधार तथा भ्रान्त उल्लेखो ने विद्वानो मे यह भ्रम उत्पन्न कर दिया है कि भर्तृहरि बौद्ध थे। ये वैदिक धर्मानुयायी थे। इसका परिचय वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है। जो व्यक्ति धर्म की व्यवस्थिति के लिए तर्क से अधिक महत्त्व आगम—वेद को देता है[१] और जो तर्क की मर्यादा को वेद तथा शास्त्र के अविरोधी होने पर ही मान्यता देता है[२], वह क्या बुद्धमतानुयायी कथमपि माना जा सकता है? गणरत्न महोदधि के कर्ता जैन वर्धमान सूरि भर्तृहरि को वेदज्ञो को अलंकारभूत मानता है (**वेदविदामलङ्कारभूत**)[३] काश्मीरी दार्शनिक उत्पलाचार्य ने भी इनके किसी मत को बौद्धमत के साथ साम्य दिखलाया है। फलत ग्रन्थ की अन्तरग तथा बहिरग परीक्षा से ये निश्चित रूप से प्रौढ वैदिकमतानुयायी सिद्ध होते हैं—इसमे तनिक भी सन्देह नही किया जा सकता।

भर्तृहरि निर्मित महाभाष्य व्याख्या को महाभाष्य की उपलब्ध टीकाओ मे सर्व-प्राचीन मान सकते हैं, परन्तु प्रथम टीका नही, क्योकि इसमे प्राचीन भाष्य व्याख्यायो[४] का बहुश उल्लेख है, नाम्ना नही केवल 'अन्ये' 'अपरे' शब्दो के द्वारा ही। विभिन्न व्याकरण ग्रन्थो म इसके उद्धरण सिद्ध करते है कि भर्तृहरि ने समग्र महाभाष्य पर टीका लिखी थी[५], परन्तु आज उपलब्ध है केवल त्रिपादी की व्याख्या ही। वर्धमान भर्तृहरि को महाभाष्य त्रिपादी का ही व्याख्याता मानता है—भर्तृहरिर्वाक्यपदीय-

---

१ न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।

(वाक्यपदीय १।४६)

२ वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्।

(वही १.१३६)

३ गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ १२३।

४ भाष्यकारस्याभिप्रायमेन व्याख्यातार समर्थयन्ते।

(दीपिका का वचन)

५ द्रष्टव्य संस्कृत साहित्य का इतिहास प्रथम भाग (पृष्ठ ३५४–३५५) अजमेर स० २०२०।

प्रकीर्णयो कर्त्ता महाभाष्य-त्रिपाद्या व्याख्याता च। प्रतीत होता है कि विक्रम को १२ शती मे, जब वर्धमान ने अपने 'गणरत्नमहोदधि' का निर्माण किया, महाभाष्य-दीपिका की त्रिपादी' ही अवशिष्ट रह गई थी। जो कुछ भी कारण हो, इतना तो निश्चित है कि भर्तृहरि की यह टीका पतञ्जलि के गूढ रहस्यो की उद्घाटिनी है।

वाक्यपदीय

'वाक्यपदीय' मे तीन काण्ड है। इनमे से वाक्यपदीय कितने अंश का नाम है? इस विषय मे प्राचीन वैयाकरणो मे तथा टीकाकारो मे भी ऐकमत्य नही है। इस वैमत्य के कारण का यथार्थ पता नहीं चलता। 'गणरत्न महोदधि' जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणेता वर्धमान भर्तृहरि को वाक्यपदीय तथा प्रकीर्ण का कर्त्ता मानता है (भर्तृहरिर्वाक्यपदीय-प्रकीर्णयो कर्त्ता) अर्थात् तृतीय काण्ड के प्रकीर्ण काण्ड होने के कारण उसकी दृष्टि मे प्रथम तथा द्वितीय काण्ड का ही अभिधान 'वाक्यपदीय' सुसगत है। प्रकीर्ण काण्ड का टीकाकार हेलाराज प्रथम काण्ड का उल्लेख वाक्यपदीय नाम्ना करता है[१]। इससे यही सूचित होता है कि वह वाक्यपदीय को प्रकीर्ण काण्ड मे पृथक् तथा स्वतन्त्र ग्रन्थ मानता है। इस मत की सत्ता रहने पर भी हम यही उचित प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण त्रिकाण्डी का ही नाम 'वाक्यपदीय' है, केवल प्रथम-द्वितीय काण्ड का नही।

इस मत की स्थापना का बीज हेलाराज की वृत्ति से भली-भाँति उपलब्ध होता है। ध्यान देने की बात है कि वैयाकरणो के अनुसार व्यवहार मे उपयोगी होने से वाक्य ही प्रवृत्ति निवृत्ति का कारण होता है। भाषा की वाक्य ही मुख्य इकाई है जिसके विश्लेषण करने पर हम पदो की सत्ता पर पहुँच जाते हैं। किसी भी व्यक्ति को घडे के लाने मे प्रवृत्त कराने तथा उस कार्य से निवृत्त कराने वाला वाक्य 'घटमानय' तथा 'घट माऽऽनय' ही भाषाशास्त्रीय दृष्टि से मुख्यता रखता है। इन वाक्यो के अपोद्धार से ही तद्घटक पदों की सत्ता हमे उपलब्ध होती है। इस प्रकार वाक्य की ही मुख्यता होती है और तदवयवभूत होने से पद की गौणता होती है। इस तथ्य की ओर भर्तृहरि ने स्वय सकेत किया है तृतीय काण्ड के आरम्भिक पद्य मे—

> द्विधा कैश्चित् पद भिन्न चतुर्धा पञ्चधापि वा।
> अपोधृत्यैव वाक्येभ्य प्रकृतिप्रत्ययादिवत् ॥

फलत तृतीय काण्ड का ही समुचित अभिधान है—**पद काण्ड**। विषयो के वैभिन्न्य के कारण ही उसे प्रकीर्ण काण्ड के लोकप्रिय नाम से अभिहित करते हैं, परन्तु यथार्थत वह पदकाण्ड ही है। द्वितीय काण्ड का विषयानुसारी नाम है—**वाक्य-काण्ड**

और इन काण्डों की भूमिका के रूप में आता है प्रथम काण्ड जिसमे व्याकरण समस्त मूल तथ्य शब्दब्रह्म का विमर्श प्रौढि के साथ, परन्तु बडे वैशद्य से, सक्षेप में किया गया है। वेद के स्वरूप का प्रतिपादन भी इसमे है। फलत आगम काण्ड तथा ब्रह्म-काण्ड के नाम से अभिधीयमान यह काण्ड पूरे ग्रन्थ के लिए भूमिका प्रस्तावना का काम करता है। इस प्रकार इन तीनो काण्डो मे परस्पर सुसगति है तथा पौवापर्य का समुचित व्यवस्थापन है। इसलिए उचित यही प्रतीत होता है कि तीन काण्डो को मिलाकर 'वाक्य पदीय' नाम चरितार्थ होता है। फलत तृतीय काण्ड मूल-ग्रन्थ का अविभाज्य अग है। उसे पृथक् काण्ड के रूप मे मानना कथमपि न्याय्य तथा समुचित नही प्रतीत होता। वाक्य तथा पद-- यही व्याकरण सम्मत पौवापर्य है और इसीलिए इन दोनो के प्रतिपादक ग्रन्थ का समुचित अभिधान 'वाक्यपदीय' सर्वथा सुसगत है।

तृतीय काण्ड को वाक्यपदीय का अङ्ग मानने मे हमने ऊपर जो अपना मत व्यक्त किया है उसकी सम्पुष्टि पुण्यराज के व्याख्यान से भी होती है। जैसे कि—

"वर्त्मनामत्र केषाञ्चिद् वस्तुमात्रमुदाहृतम्।
काण्डे तृतीये न्यक्षेण भविष्यति विचारणा ॥"
(वा० प० २।४८५)

इस कारिका पर टीका करते हुए कहा है—

"अत्रास्मिन् वाक्यकाण्डे काण्डद्वये वा केषाञ्चिदेव न्यायवर्त्मना वस्तुमात्रं बीजमात्रं प्रदर्शितमेव। शिष्टे तु तृतीयेऽस्य ग्रन्थस्य पदकाण्डद्वयनिष्यन्दभूते न्यक्षेण आदरविशेषेण स्वसिद्धान्तपरसिद्धान्तवर्तिना विचारणा युक्तायुक्तविचारपूर्वकनिर्णीतिर्भविष्यति। ततो नायमेतावान् व्याकरणागमसङ्ग्रह इति' (पृ०५७६)।

इस व्याख्यान से तृतीय काण्ड को वाक्यपदीय ग्रन्थ का ही विशिष्ट भाग माना जा सकता है, क्योंकि व्याकरण का विवक्षित विषय दो काण्डो मे पूर्णरूपेण वर्णित नही हुआ है। प्रकीर्ण विषयात्मक इस तृतीय काण्ड का पूर्ववर्ती दो काण्डो मे अन्तर्भाव नही होता, ऐसा कहने का एकमात्र तात्पर्य है कि तीनो काण्डो को ही **वाक्यपदीय** यह नाम देना चाहिए। इस विषय मे हम विशिष्ट विद्वानो के ही निर्णय को प्रमाण मान सकते हैं।

भर्तृहरि का देश

- अब हम वाक्यपदीयकार आचार्य श्री **भर्तृहरि** के देश और काल पर विचार उपस्थापित करते हैं। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि को अनेक व्याकरण ग्रन्थे मे तथा तदितर शास्त्रीय ग्रन्थो मे भी अनेक बार भर्तृहरि, हरि, और हरिवृषभ इन तीन नामो से उद्धृत किया गया है। प्रबल प्रमाण के अभाव मे केवल यही निश्चयेन नहीं

कहा जा सकता कि वैयाकरणाग्रणी महात्मा भर्तृहरि भारतवर्ष के किस स्थान मे किस समय उत्पन्न हुए थे, बल्कि उनके जीवन चरित के विषय मे भी कुछ न कहना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। क्योकि आचार्य भर्तृहरि ने न तो मूलकारिकाओ मे, न प्रथम काण्ड की सम्पूर्ण स्वोपज्ञ वृत्ति मे और न द्वितीय काण्ड की विच्छिन्न रूप मे उपलब्ध स्वोपज्ञ वृत्ति मे ही कही कोई निर्देश या सकेत किया है। अधिक क्या, भर्तृहरि ने अपने गुरु के भी नाम का साक्षात् उल्लेख नही किया है। इस सम्बन्ध मे निम्नाकित कारिका-वचन से यही सिद्ध होता है कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की मूल कारिकाओ को अपने गुरु से ही सुनकर सगृहीत किया था। कारिका यह है—

"न्यायप्रस्थानमार्गास्तानभ्यस्य स्व च दर्शनम्,
प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसङ्ग्रह"।
(वा० प० २।४८४)

"पर्वतादागम लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभि,
स नीतो बहुशाखत्व चन्द्राचार्यादिभि पुन।"
(वा० प० २।४८३)।

इस कारिका के व्याख्यानावसान मे—

"अथ कदाचिद् येगतो विचार्य तत्रभगवता वसुरातगुरुणा ममायमागमः सञ्ज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीत इति स्वरचितस्याऽस्य ग्रन्थस्य गुरुपूर्वक्रममभिधातुमाह—न्यायप्रस्थानेति" (सस्कृत वि० वि० सस्करण वाले ग्रन्थ के ५·४ पृष्ठ पर पुण्यराज की वृत्ति)। इस पुण्यराज के वक्तव्य से यह ज्ञात होता है कि भर्तृहरि के गुरु का **वसुरात** यह नाम था। इन्ही महात्मा **वसुरात** ने वाक्यपदीय के मूलभूत व्याकरणशास्त्रीय पदार्थों का सग्रह किया था, इस विषय मे किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता।

यद्यपि भर्तृहरि ने अपने जन्मस्थानादि का निर्देश नही किया है, तथापि किन्हीं सम्भावित विशुद्ध प्रमाणो के आधार पर हमे यह यह प्रतीत होता है कि भर्तृहरि के पूर्व पुरुषो का निवास स्थान **काश्मीर** देश था। कारण यह है कि वाक्यपदीय यह शब्द **"शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः"** (अष्टाध्यायी ४।३।८८) सूत्र के द्वन्द्व समास से 'छ' प्रत्यय के उदाहरण रूप मे सर्वप्रथम **काशिका** मे उपन्यस्त हुआ है। काशिका शब्द की व्युत्पत्ति पदमञ्जरीकार हरदत्त ने 'काशिषु भवा' यह की। ऐसी प्रसिद्धि है कि **काशिका** ग्रन्थ के रचयिता **वामन** तथा **जयादित्य** काश्मीर देश के ही रहने वाले थे। स्वभावत किसी ग्रन्थकार के द्वारा समीपवर्ती ही किसी अन्य ग्रन्थकार का परिचय दिया जाता है। अत **काश्मीर**-निवासी **वामन** एव **जयादित्य** के द्वारा जो वाक्यपदीय ग्रन्थ का नाम्ना प्रथम परिचय

काशिका मे प्रस्तुत किया गया है, इससे यह सम्भावना की ही जा सकती है कि **भर्तृहरि** के साथ **वामन** और **जयादित्य** का अत्यन्त घनिष्ठ तथा निकट देशज सम्बन्ध था।

द्वितीय प्रमाण यह भी दिया जा सकता है कि काश्मीर वास्तव्य कुछ शैवमतानुयायी आचार्यों ने **भर्तृहरि** की कारिकाओ को कही पर खण्डन करने के उद्देश्य से तथा कही पर अपने मत का समर्थन करने के उद्देश्य से उद्धृत किया। इन शैवाचार्यों ने भर्तृहरि की केवल कारिकाओ पर ही नही किन्तु प्रथम काण्ड की **स्वोपज्ञ** वृत्ति पर भी आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। स्वोपज्ञवृत्तिस्थ कारिकाओ एव किन्ही विशिष्ट लक्षणो पर भी इन तन्त्रशास्त्र मर्मज्ञ विद्वानो ने आलोचना की है। जैसे—

(क) आचार्य **सोमानन्द** (८८० ई०) ने अपने **'शिवदृष्टि'** नामक ग्रन्थ के द्वितीय आह्निक मे जहाँ पर वैयाकरण सम्मत शब्दाद्वैतवाद का खण्डन किया है, उस प्रसग मे **'अनादिनिधन ब्रह्म'** (वा० प० १।१) तथा **'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके"** (वा० प० १।१२३) इन दो कारिकाओ को उद्धृत किया है। किन्तु भर्तृहरि-विरचित समझ कर—

"आविभागात्तु पश्यन्ती सर्वत सहृतक्रमा,
स्वरूपज्योतिरेवाऽन्त सूक्ष्मा वागनपायिनी।"

इस कारिका का भी उल्लेख किया है।

वस्तुत यह कारिका भर्तृहरि विरचित नही है क्योकि १।१४२ कारिका की स्वोपज्ञवृत्ति मे भर्तृहरि ने किसी अन्य ग्रन्थ से उद्धरण रूप मे इस कारिका का निर्देश किया है।

(ख) आचार्य **सोमानन्द** के साक्षात् शिष्य श्री **उत्पलाचार्य** (६२५–६५० ई) **'शिवदृष्टि'** ग्रन्थ की व्याख्या मे आचार्य भर्तृहरि की कारिका तथा स्वोपज्ञवृत्ति का भी उल्लेख करते हैं। साथ ही "अनादिनिधन ब्रह्म" (वा० प० १।१) कारिका की स्वोपज्ञवृत्ति मे उपन्यस्त विवर्त के लक्षण को भी उद्धृत करते है। विवर्त का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

"एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपावग्राहिता विवर्त।"

विद्वानो को यह विदित होना चाहिए कि भर्तृहरि विरचित वाक्यपदीय ग्रन्थ के व्याख्याता हेलाराज और पुण्यराज का अभिजन काश्मीर देश ही था। इनमे दशम शताब्दी (६५० ई०) के मध्य मे होने वाले व्याख्याकार हेलाराज शैवाचार्य श्री अभिनवगुप्त के गुरु थे। इन्होने वाक्यपदीय के तीनो काण्डो पर व्याख्या की है जिसमे प्रमेय पदार्थों के विवक्षित रहस्य को सरल ढग से बताया गया है। इस समय

तृतीय काण्ड की प्रसिद्ध 'प्रकाश' नामक व्याख्या मुद्रित रूप में उपलब्ध होती है। 'पूर्ववर्ती ब्रह्मकाण्ड और वाक्यकाण्ड पर इन्होने व्याख्या की थी' ऐसा इनके ही द्वारा किये गए स्पष्ट निर्देश से ज्ञात होता है। परन्तु काल के प्रभाव से इस समय उसका नाम भी सुनाई नहीं पड़ता है तो फिर उसकी प्राप्ति की चर्चा ही कैसे की जा सकती है। इसी प्रकार पुण्यराज का भी अभिजन काश्मीर देश ही माना जाता है।

उपरि प्रदर्शित प्रमाणानुसार काश्मीरक जयादित्य (छठी शताब्दी) के द्वारा काशिका में वाक्यपदीय ग्रन्थ का प्रथम नामोल्लेख किए जाने से, सोमानन्द (९वी शताब्दी) प्रभृति प्राचीन काश्मीरक शैवाचार्यों के द्वारा वाक्यपदीय ग्रन्थ की कारिकाओ उद्धृत किए जाने से एवं काश्मीरक हेलाराज तथा पुण्यराज के द्वारा इस ग्रन्थ की व्याख्या किए जाने से यह अनुमान किया जा सकता है, कि वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि का अभिजन काश्मीर देश ही था। इस विषय में प्रस्तावित मत की सम्पुष्टि के लिए अन्य भी प्रमाण अपेक्षित हैं।

भर्तृहरि का काल

आचार्य भर्तृहरि का समय भी अनुमान के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। वाक्यपदीय की अन्तरग परीक्षा से यह ज्ञात होता है कि **चन्द्राचार्य** प्रभृति विद्वानों ने महाभाष्य मे वर्णित विषय के रहस्य को समझकर व्याकरणशास्त्र को अनेक शाखाओं मे विभक्त किया। कहा भी गया है—

"पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभि,
स नीतो बहु-शाखत्व चन्द्राचार्यादिभि पुन.।"
(वा० प० २।४८९)।

इस कारिका मे भर्तृहरि के द्वारा निर्दिष्ट चन्द्राचार्य का देश और काल प्रमाणाभाव से निश्चित नहीं किया जा सकता है। कल्हण ने राजतरगिणी में व्याकरण-प्रणेता चन्द्राचार्य का इस प्रकार स्पष्ट स्मरण किया है—

"चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देश तस्मात्तदागमम्।
प्रवर्तित महाभाष्य स्व च व्याकरण कृतम्।"
(राजतरगिणी १।१७६)।

उपर्युक्त वाक्यपदीय तथा राजतरगिणी इन दोनों ग्रन्थों में नामत निर्दिष्ट चन्द्राचार्य एक ही व्यक्ति हो सकते हैं। कविवर **कल्हण** के वचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि चन्द्राचार्य ने अपना एक स्वतन्त्र व्याकरण ग्रन्थ भी बनाया था।

व्याकरणशास्त्र के वाङ्मय में पाणिनीय व्याकरण से भिन्न क्रम का अनुसरण करने वाला चन्द्रगोमि-प्रणीत चान्द्र-व्याकरण उपलब्ध होता है। बौद्ध-सम्प्रदाय में 'गोमिन्' शब्द का प्रयोग अतिशय पूज्य भाव को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। अतः यही उचित प्रतीत होता है कि वाक्यपदीय तथा राजतरंगिणी में चन्द्रगोमी के लिए ही चन्द्राचार्य का निर्देश किया गया है चन्द्राचार्य का जन्म समय किसी स्वतन्त्र प्रमाण से सिद्ध न होने के कारण आचार्य भर्तृहरि के भी जन्म समय में निःसन्देह रूप से कोई निर्णय नहीं किया जा सकता।

(क) मैंने पहले यह कहा है कि काशिका में ही सर्वप्रथम वाक्यपदीय ग्रन्थ का नामतः निर्देश उपलब्ध होता है। इससे इतना तो निश्चित ही है कि काशिका की रचना के पूर्व वाक्यपदीय ग्रन्थ की रचना हुई थी। किञ्च काशिका में **"प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च"** (अष्टा० १।३।१३ सूत्र की व्याख्या में **'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः.'** (किरातार्जुनीय ३।१४) इस किरातार्जुनीय काव्य के श्लोकांश को उद्धृत किया गया है। अतः काशिका की रचना 'भारवि' (४५० ई०) के पश्चात् ही की गई मालूम होती है। इस काशिका ग्रन्थ का निर्माण काल अनुमानतः यदि ४७५ ई० माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि इस समय से पूर्व ही भगवान् भर्तृहरि हुए थे।

(ख) शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार श्री **हरिस्वामी "वाग्वा अनुष्टुब् वाचो वा इदं सर्व प्रभवति"** (श० प० ब्रा० १।३।२।६) इस अंश का व्याख्यान करते हुए अपने अभीष्टार्थ की सम्पुष्टि में पहले मनुवचन को तदनन्तर तैत्तिरीयोपनिषद् **'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः (सम्भूतः)"** इस वाक्य को प्रमाणरूप में उद्धृत करने के बाद कहते हैं—

"अन्ये तु शब्दब्रह्मैवेद विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया इत्यत आहुः।"

इस प्रकार प्रदर्शित उद्धरण क्रम से ज्ञात होता है कि—**"विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः"** (वा० प० १।१) कारिका के रचयिता आचार्य भर्तृहरि हरिस्वामी के समय से अधिक पूर्वकालिक नहीं हो सकते। अतः अनुमानतः हम यह कह सकते हैं कि भर्तृहरि शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार श्री हरिस्वामी के निकट पूर्ववर्ती आचार्य थे।

(ग) प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक आचार्य **दिङ्नाग** भोट भाषा में लिखे गए संस्कृत भाषा में अनुपलब्ध) अपने **त्रैकाल्यपरीक्षा** नामक ग्रन्थ में वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक की स्वोपज्ञवृत्ति को भोटभाषा में परिणत करके इस प्रकार लिखते हैं—

'अथ विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः,
सङ्कीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते।

तदेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया,
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूप विवर्तते।"

(डेक्कन कालेज म०, सवृत्ति वाक्यपदीयम्', पृ० १३–१४, श्री सुब्रह्मण्य अय्यर द्वारा सम्पादित, पूना १६६६)।

अत आचार्य दिङ्नाग से आचार्य भर्तृहरि अवश्य ही पूर्वभावी सिद्ध होते हैं। प्राचीन इतिहासवेत्ता आचार्य दिङ्नाग का समय ५०० ई० मानते हैं।

उक्त तीन प्रमाणो से यह निष्कर्ष निकलता है कि वाक्यपदीय ग्रन्थ के रचयिता आचार्य भर्तृहरि ४०० ई० से लेकर ४५० ई० पर्यन्त समयावधि मे उत्पन्न हुए थे। अत सामान्य रूप से यही समय आचार्य भर्तृहरि का निश्चित करना सगत प्रतीत होता है।[1]

कारिकाओ की संख्या

कारिकात्मक वाक्यपदीय ग्रन्थ म ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड एव पदकाण्ड यह तीन भाग हैं। इस ग्रन्थ के निर्माण मे भर्तृहरि की ही नहीं, अपितु उनके गुरु आचार्य श्री वसु रात की भी कुशलता परिलक्षित होती है। आचार्य भर्तृहरि की निर्माण कुशलता का द्योतक यह ग्रन्थ किसी सम्प्रदाय से बहिर्भूत स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। किन्तु आचार्य वसुरात के द्वारा प्रयोज्य यह व्याकरणागम प्राचीन व्याकरण की परम्परा का अनुयायी है। इसकी कारिकाओं का स्वरूप तथा उनकी सख्या इत्यादि का निर्णय अनेक हस्तलेखो के अनुसन्धानात्मक अनुशीलन पर आधारित है। ऐसा देखा जाता है कि अभ्यकर–लिमये द्वारा सम्पादित वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड म १५६ कारिकाएँ हैं, परन्तु श्री सुब्रह्मण्य अय्यर द्वारा सम्पादित वृत्ति-पद्धतियुक्त वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड मे १४७ ही कारिकाएँ उपलब्ध हैं। इसमे उन्होने बलपूर्वक कहा है कि १०-वीं कारिका से लेकर ११५वीं कारिका तक जो ८ कारिकाएँ अन्यत्र देखी जाती हैं वे ग्रन्थकार के द्वारा अपने मत की सम्पुष्टि के लिए किसी अज्ञात ग्रन्थ से प्रमाणरूप मे उद्धृत की गई है। सम्पादक महोदय के इस मत का समर्थन स्वोपज्ञवृत्ति के उपोद्घात से भी होता है। इस प्रकार कोई भी विवेचक हस्तलेखादि की सहायता स तीनो वृत्तियो का सम्यक् परिशीलन करके मूल कारिकाओ की सख्या तथा उनके स्वरूप का निर्णय करने मे समर्थ हो सकता है। और ऐसा निर्णय भर्तृहरि की कारिकाओ क वास्तविक तात्पर्यार्थ को समझने मे विशेष उपयोगी होगा। परन्तु इस कार्य-सम्पादन क लिए अधिक से अधिक प्रयास अपेक्षित है।

---

1 भर्तृहरि के समय के सम्बन्ध मे अभ्यकर-लिमये द्वारा पूना से १६६५ ई० मे सपादित वाक्यपदीय ग्रन्थ की भूमिका पृ० १२–१३ देखनी चाहिये।

अब हम पुणयपतन (पूना) मे प्रकाशित वाक्यपदीय मे उल्लिखित कारिकाओं[1] की संख्या प्रस्तुत करते है जो इस प्रकार है—

(क) प्रथम (ब्रह्म) काण्ड मे १५६ कारिका।

(ख) द्वितीय (वाक्य) काण्ड मे ४८७।

(ग) तृतीय (पद) काण्ड अथवा प्रकीर्णक काण्ड मे—

(१) जाति समुद्देश मे	१०६ कारिका
(२) द्रव्य समुद्देश मे	१८
(३) सम्बन्ध समुद्देश मे	८८
(४) भूयोद्रव्य समुद्देश मे	३
(५) गुण समुद्देश मे	६
(६) दिक् समुद्देश मे	२८
(७) साधन समुद्देश मे	१६७
(८) क्रिया समुद्देश मे	६४
(९) काल समुद्देश मे	११४
(१०) पुरुष समुद्देश मे	६
(११) संख्या समुद्देश मे	३२
(१२) उपग्रह समुद्देश मे	२७
(१३) लिङ्ग समुद्देश मे	३१
(१४) वृत्ति समुद्देश मे	६२७
	१३२३

ऊपर के प्रदर्शित क्रम से तीनो काण्डो की समग्र कारिका-संख्या १९६६ होती है। पूना से प्रकाशित संस्करण मे पद्य द्वारा तृतीय काण्ड के समुद्देशों का नाम इस प्रकार बताया गया है—

---

१ सम्प्रति श्री अभ्यङ्कर-आचार्य लिमये महाभागाभ्या सम्पादित वाक्य पदीयानुसारिणी वर्तते। पूना विश्वविद्यालयात् १९६५ ई० वर्षे प्रकाशितमेतत् संस्करण नानोपयोगिसामग्रीसवलित प्रामाणिक पाण्डित्यमण्डित चेति नास्त्यत्र सन्देह। एतदर्थं सम्पादकमहाभागयोरुपकारतति प्रदर्शयन्ति वाक्यपदीयरहस्य-जिज्ञासव सर्वे विद्वास।

"जातिर्द्रव्य च सम्बन्धो भूयोद्रव्य गुणस्तथा,
दिक् साधन क्रिया काल पुरुषो दशम स्मृत ।
सख्या चोपग्रहो लिङ्ग वृत्ति पुनरिति स्मृता"।

टीका–सम्पत्ति

प्रथम काण्ड की टीका

दार्शनिक विषय का वर्णन करने वाली काण्डत्रयात्मक इस वाक्यपदीय ग्रंथ के मुख्य भाग की कारिकाएँ, जिनमे प्रमेय पदार्थों का तथा पारिभाषिक शब्दो का बाहुल्येन प्रयोग हुआ है, क्या बिना ही व्याख्यान के अपना गम्भीर रहस्य किसी विद्वान् को भी बताने मे समर्थ होगी ? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर नकारात्मक स्वर में ही देना होगा। यही कारण है कि कारिकाओ की इस दुर्ज्ञेयता को सरलतापूर्वक समझाने के लिए स्वयं आचार्य भर्तृहरि ने ही आदि के दो काण्डो पर स्वोपज्ञ वृत्ति बनाई है। इसमे प्रथम काण्ड (ब्रह्म या आगम काण्ड) की स्वोपज्ञवृत्ति का प्रकाशन श्री चारुदेव शास्त्री ने अपने महान प्रयत्न से किया है। यह वृत्ति वाक्यपदीय के रहस्य को जानने की इच्छा करने वाले विद्वानो के लिए परमोपकारिणी है। इस स्वोपज्ञवृत्ति निर्माण वुधार पर काश्मीरक हेलाराज ने प्रथम काण्ड की व्याख्या की थी। तृतीय है। किन्तु 'प्रकाश' नामक व्याख्यान मे वह स्वय कहते हैं—

परम्परा 'काण्डद्वये यथावृत्ति सिद्धान्तार्थ-सतत्त्वत,
का निण प्रबन्धो विहतोऽस्माभिरागमार्थानुसारिभि ।
देखा ज तच्छेषभूते काण्डेऽस्मिन् सप्रपञ्चे स्वरूपत,
१५६ श्लोकार्थद्योतनपर प्रकाशोऽय विधीयते"।

वाक्य [1]प्रथमश्लोकोक्त 'यथावृत्ति' पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसमे वृत्तिशब्द वलपू वृत्ति का ही द्योतक है। आदि के दो काण्डो पर भर्तृहरि ने स्वोपज्ञवृत्ति बनाई कारि सको आधार मानकर ही हेलाराज ने अपनी वृत्ति की रचना की। तृतीय काण्ड पज्ञवृत्ति का परिचय हेलाराज ने कहीं पर भी नही दिया है, इससे मेरा ऐसा वास है कि तृतीय काण्ड पर भर्तृहरि ने स्वोपज्ञवृत्ति की रचना नहीं की थी। यदि होता तो उसका उल्लेख निश्चय ही उक्त पद्य मे किया जाता। ब्रह्मकाण्ड पर राज के द्वारा प्रणीत वृत्ति का नाम शब्द प्रभा था, ऐसा हेलाराज के वचन से सिद्ध होता है। जैसे—

(क) 'क्रमाख्या कालशक्तिर्ब्रह्मणो जन्मवत्सु पदार्थेषु जन्मादिक्रिया-रकमेव पौर्वापर्येणावभासोपगमविधायिनी, नापरो द्रव्यभूत काल ।

1. डेक्कन कालज, पूना, वाक्यपदीय तृतीय काण्ड, हेलाराज वृत्ति सहित, १९६३, पृ० ४४–४५।

अध्याहितकला यस्य कालशक्तिमुपाश्रिता',
जन्मादयो विकारा षड् भावभेदस्य योनयः।
(वा० प० १।३)।

इत्यत्र शब्दप्रभाया निर्णीतोऽयमर्थः।
(ख) ज्ञानं त्वस्मद्विशिष्टानां तासु सर्वेन्द्रियं विदुः,
अभ्यासान्मणिरूप्यादि विशेष्येष्विव तद्विदाम्।
(वा० प० ३।१।४६)।

इस कारिका की व्याख्या करते हुए हेलाराज ने स्वरचित शब्दप्रभा का नामोल्लेख किया है। उन्होंने कहा है—

"तदेवागमप्रामाण्यमाश्रित्य सर्वज्ञसिद्धिरत्र सूचिता पूर्वार्धेन। विस्तरेणागमप्रामाण्यं वाक्यपदीयेऽस्माभिः प्रथमकाण्डे शब्दप्रभायां निर्णीतमिति तत एवावधार्यम्।"

दुर्भाग्यवश यह शब्दप्रभा भी आज उपलब्ध नहीं है। यदि कहीं पर इसका हस्तलेख मिल जाय, तो वाक्यपदीय के गूढार्थ समझने में विद्वानों को सरलता हो जाय। और यह विषय उनके लिए अत्यन्त हर्षकारक हो।

ब्रह्मकाण्ड पर आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रणीत सम्प्रति उपलब्ध स्वोपज्ञवृत्ति के कर्तृत्व विषय में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता[1]। इस वृत्ति में कारिकार्थ का यद्यपि भली भाँति विवेचन किया गया है, तथापि शास्त्रीय शब्दों का अधिक प्रयोग होने से स्पष्टार्थ की प्रतीति नहीं होती। अतः विद्वानों को वृत्तिकार का अभिप्राय भी शीघ्र समझ में नहीं आता है। इसकी पूर्ति करने के लिए ही श्री वृषभदेव[2] ने 'पद्धति' नामक व्याख्या की रचना की है जिसमें न केवल कारिकाओं के ही, अपि तु स्वोपज्ञ-वृत्ति के भी तात्पर्यार्थ को विशद रूप में वर्णित किया गया है। इससे जिज्ञासुओं को अत्यन्त सन्तोष प्राप्त होता है। वस्तुतः स्वोपज्ञवृत्ति का तात्पर्यार्थ इस 'पद्धति' व्याख्या के

---

१. श्रीमद्भिः सुब्रह्मण्य अय्यर महाभागैर्विषयोऽयं दृढतरप्रमाणोपन्यासेन पुनः समर्थितः। तन्मतावगतये द्रष्टव्यो ब्रह्मकाण्डस्याङ्गलभाषानुवादे भूमिकाभागः, पृ० १८–२९। प्रकाशक : डेक्कन कालेज पूना, १९६५।

२ वृत्तिपद्धति-सहित वाक्यपदीयम्—प्रथमकाण्डम्, सं० सुब्रह्मण्य अय्यर महोदयः। प्रकाशक : डेक्कन कालेज, पूना, १९६६।

अनुशीलन से ही स्पष्ट जाना जा सकता है। यद्यपि विशुद्ध हस्तलेखो के अभाव मे किन्ही स्थलों पर इस व्याख्या मे भी अर्थ का स्पष्टीकरण नही होता है, जिससे विद्वानो को क्लेश होना स्वाभाविक ही है। फिर भी अर्थज्ञान की अभिव्यञ्जिका होने से यह व्याख्या नि सन्देह परउपकारिणी ही मानी जा सकती है।

द्वितीय काण्ड की टीका

इस वाक्यकाण्ड पर आचार्य भर्तृहरि द्वारा रचित स्वोपज्ञवृत्ति पूर्णरूपेण उपलब्ध नही होती है। श्री चारुदेव शास्त्री ने इन वृत्ति का जितना अश प्रकाशित किया है, उतने को ही हम परम गौरव का विषय मानते हैं। केरल देश मे मूलत मलयालम लिपि मे लिखित तदनु देवनागराक्षरो मे परिणत की गयी जो प्रतिलिपि मद्रास के हस्तलेख-पुस्तकालय मे सुरक्षित है वह तो अत्यन्त अशुद्ध तथा बीच बीच मे त्रुटित होने से प्रकाशन के सर्वथा अनुपयुक्त है। अत इससे विद्वानो का कोई उपकार नही हो सकता। सम्प्रति इस काण्ड पर केवल पुण्यराज कृत एक ही टीका प्राप्त होती है जो कि स्वोपज्ञवृत्ति के साराश को अभिव्यक्त करने मे समर्थ होने के कारण स्वोपज्ञवृत्ति के ही आधार पर रचित कही जा सकती है। द्वितीय काण्ड पर की गई टीका निश्चित ही प्रथमकाण्डीय टीका की सत्ता को सिद्ध करती है। इससे यह सम्भावना की जा सकती है कि पुण्यराज ने प्रथमकाण्ड पर भी अपनी कोई टीका अवश्य ही बनाई थी। सामान्यत हमारा विश्वास है कि पुण्यराज बारहवी शताब्दी मे विद्यमान थे।

तृतीय काण्ड की टीका

(क) इस प्रकीर्णात्मक तृतीयकाण्ड पर हेलाराज कृत 'प्रकाश' नामक सम्पूर्ण व्याख्या कारिकाओं के तात्पर्य को प्रकाशित करती है। यह व्याख्या कुछ ही स्थलो पर त्रुटित हुई है।

तन्त्रालोक से ऐसा ज्ञात होता है कि हेलाराज परम माहेश्वर श्री अभिनवगुप्त के गुरु थे। आचार्य अभिनवगुप्त का जन्म समय इन्ही के द्वारा कुछ ग्रन्थो के अन्त मे ग्रन्थ निर्माण काल का निर्देश किए जाने से स्पष्ट जाना जा सकता है। उन्होने क्रमस्तोत्र की रचना लौकिक वर्ष ६६ (९९० ई०) मे, भैरवस्तव की लौकिक वर्ष ६८ मे, अर्थात् क्रमस्तोत्र की रचना से दो वर्ष बाद (=९९२ ई०) तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृतिविमर्शिनी नामक टीका की रचना लौकिक वर्ष ९० (=१०१४ ई०) मे की थी। अत इनका जन्म समय साधारणत ९५० ई० से लेकर १०२० ई० तक माना जा सकता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के गुरु श्री हेलाराज भी ईसवीय दशम शताब्दी के प्रारम्भ मे हुए। ऐसा निश्चय होता है। हम यह कह सकते हैं कि आचार्य हेलाराज का जन्म ९२५ ई० से लेकर १००० पर्यन्त समय मे हुआ था और इसी समय के अन्तर्गत इन्होंने वाक्यपदीय की व्याख्या का भी प्रणयन किया था।

(ख) हेलाराज ने अपने इतर तीन ग्रन्थों का उल्लेख प्रकाश में किया है—क्रियाविवेक (वा० प० तृतीय काण्ड पृष्ठ ६०), अद्वयसिद्धि (वही पृष्ठ ११७), तथा वार्तिकोन्मेष (वही)।

(ग) सम्भवत ये वही हेलाराज हैं जिन्होंने काश्मीर के राजाओं के विषय में द्वादश-सहस्र श्लोकात्मक ग्रन्थ का निर्माण किया था। कल्हण का यही कथन है (राजतरंगिणी १ १७ १८)।

(घ) 'प्रकाश' के अन्त में हेलाराज ने अपना परिचय दिया है। प्रत्येक समुद्देश की टीका के अन्त में व अपने को 'भूतिराजतनय' लिखते हैं। इनके पिता का नाम भूतिराज था। अभिनवगुप्त के गुरु इन्दुराज भी भूतिराज के पुत्र थे। अत सम्भव है हेलाराज तथा इन्दुराज भाई हों।

(ङ) पण्डित साम्बशिव शास्त्री ने लिखा है कि पुण्यराज तथा हेलाराज दोनों ही भर्तृहरि के साक्षात् शिष्य थे। प्रमाणों के अभाव में यह कथन नितान्त निराधार है। हेलाराज के 'प्रकाश' का अनुशीलन बतलाता है कि उनसे पहिले भी वाक्यपदीय के टीकाकार हो गए थे जिन्हें उन्होंने पूर्वे, केचित, अन्ये आदि शब्दों से संकेत किया है। इतना नहीं, हेलाराज के समय में पाठभेद भी उत्पन्न हो गए थे। जाति-समुद्देश के श्लोक २४, ५० तथा ५७ की टीका में उन्होंने इस पाठभेद का विवरण दिया है। क्या भर्तृहरि के साक्षात् शिष्य होने पर अन्यकर्तृक पाठभेद की कथमपि सम्भावना प्रतीत होती है? नहीं कभी नहीं। भर्तृहरि तथा हेलाराज के बीच में अनेक शताब्दियों का अन्तर प्रतीत होता है।

(च) प्रकाश का अन्तिम श्लोक बतलाता है कि ये काश्मीर के राजा मुक्तापीड के मन्त्री लक्ष्मण के वंश में उत्पन्न हुए थे, तथा इनके पिता का नाम भूतिराज था[1]।

---

१ मुक्तापीड इति प्रसिद्धिमगमत् काश्मीरदेशे नृप
　श्रीमान् ख्यातयशा बभूव नृपतेस्तस्य प्रभावानुग।
　मन्त्री लक्ष्मण इत्युदारचरितस्तस्यान्ववाये भवो
　हेलाराज इम प्रकाशमकरोत् श्री भूतिराजात्मज॥

वाक्यपदीय के संस्करण—

वाक्यपदीय काण्ड १ स्वोपज्ञवृत्ति के साथ स० चारुदेव शास्त्री (प्र० रामलाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर, १९३४)।

वाक्यपदीय काण्ड १ स्वोपज्ञवृत्ति तथा वृषभदेव की पद्धति। स० सुब्रह्मण्यम एय्यर डेक्कन कालेज, पूना, १९६६।

वाक्यपदीय काण्ड १ स्वोपज्ञवृत्ति का अंग्रेजी अनुवाद। सम्पादक तथा प्रकाशक पूर्ववत्, १९६७।

वाक्यपदीय (सम्पूर्ण मूलमात्र) सम्पादक प्रो० काशीनाथ शास्त्री अभ्यङ्कर तथा आचार्य विष्णु प्रभाकर लिमये। प्र० पूना विश्वविद्यालय, पूना, १९६५ ई०।

लक्ष्मण तथा हेलाराज के बीच कितनी पीढ़ियाँ बीती थी —इसका स्पष्ट निर्देश न होने के इनके समय का पता नही चलता। इतना ही ज्ञात होता है कि ये काश्मीरी थे। पुण्यराज तथा हेलाराज की व्याख्या के पर्यालोचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मध्ययुग मे काश्मीर व्याकरण शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का प्रधान केन्द्र था—भाष्य तथा वाक्यपदीय का अनुशीलन विशेष रूप से वहाँ सम्पन्न किया गया था; इस तथ्य के विषय मे दो मत नही हो सकते। इन दोनो वैयाकरणों ने भर्तृहरि की स्वोपज्ञ टीका का विशद अध्ययन किया था और उसी को आधार मानकर अपनी व्याख्यायें निबद्ध की थीं।

'प्रकाश' के अध्ययन से हेलाराज की अलौकिक वैदुषी, निखिलशास्त्रपारंगामिता तथा प्रकृष्ट व्युत्पत्ति का परिचय पदे-पदे उपलब्ध होता है। भर्तृहरि की कारिकायें सूत्रों के समान गम्भीरार्थ से मण्डित हैं। उस अर्थ का प्रकाशन कर 'प्रकाश' अपना नाम सार्थक कर रहा है। भर्तृहरि ने संक्षेप मे अपनी कारिकाओं में विपुल तथ्यो पर अपना पाण्डित्य भर दिया है। उसका प्रकाशन हेलाराज की प्रतिभा का वैशिष्ट्य है। जातिसमुद्देश के ४६ श्लोक की ईश्वर तथा शास्त्र के परस्पर सम्बन्ध तथा नित्यत्व आदि विषयो की प्रकाशिका व्याख्या उदाहरण के तौर पर द्रष्टव्य है।

प्रथम काण्ड (ब्रह्मकाण्ड)

वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड मे 'शब्द' को ही ब्रह्म बताया गया है। अतः प्रथम काण्ड की प्रसिद्धि ब्रह्मकाण्ड के रूप मे है। 'आगमसमुच्चय' के रूप मे भी इसका *स्मरण किया जाता है—"आगमसमुच्चयो नाम ब्रह्मकाण्डम्[1]"। वस्तुतः यह काण्ड* उत्तरवर्ती काण्डद्वय की भूमिका के रूप मे निबद्ध है।

ब्रह्म शब्दतत्त्वात्मक है तथा जगत् की प्रकृति शब्द है। यद्यपि शब्द ब्रह्म एक है तथापि शक्तियो की भिन्नता के कारण उसमे नानात्व व्यवहार होता है। शब्द रूप ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय 'वेद' हैं। वेद की महिमा बहुत अधिक है। वह एक है किंतु शाखाभेद के कारण वह भी अनेक मार्गों वाला है। उससे स्मृतियो की रचना की गयी है। विभिन्न दर्शनो के मूल मे वेद सन्निहित है। समस्त विद्याभेदो के मूल में भी वेद विद्यमान है। वेद का प्रधान अङ्ग व्याकरण है—

> आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
> प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ॥ १, ११।

1 स्वोपज्ञटीका की पुष्पिका।

पदार्थों के निबन्धन शब्द ही हैं। शब्द के आधार पर पदार्थों का बोध होता है। और शब्दों का बोध व्याकरण के बिना नहीं होता। अतः व्याकरण परब्रह्म-प्राप्ति का साधन है। शब्द और अर्थों का सम्बन्ध नित्य है। शब्द अनादि हैं। व्याकरण शब्द-साधुत्व-ज्ञान में उपाय है। धर्म निर्णय में तर्क की अपेक्षा आगम प्रबल होता है। आर्ष ज्ञान आगमपूर्वक होता है।

शब्द दो प्रकार के होते हैं—१. उपादान और २. निमित्त। प्रयोक्ता की बुद्धि में स्थित शब्द श्रोता की बुद्धि में स्थित प्रत्यायक शब्द का निमित्त होता है। नादध्वनि स्फोट का व्यञ्जक होती है। ध्वनि क्रमशः उत्पन्न होती है। उस क्रम रूप से वह एक होता हुआ भी स्फोट भेदवान्-सा प्रतीत होने लगता है। वह स्फोट स्वयं क्रमरहित है। उसमें पूर्वत्व और अपरत्व कुछ नहीं है। नाद-ध्वनि के क्रम से उत्पन्न होने का कारण स्थान, करण, अभिघात आदि हैं जो क्रमपूर्वक होते हैं। इसलिए उन स्थान-करण आदि के क्रम से जायमान नाद भी क्रमवान् हो जाता है।

पद-ध्वनि से व्यज्यमान स्फोट पद के रूप में और वाक्य ध्वनि से व्यज्यमान स्फोट वाक्यध्वनि के रूप में मान लिया जाता है। ऐसा होने पर भी वस्तुतः स्फोट में न तो पदत्व है और न वाक्यत्व ही। पदध्वनि की अवयव भूत वर्णध्वनियाँ भी अनाद पदस्फोट के भागभूत की भाँति दिखायी पड़ती हैं। इस प्रकार यह निश्चय होता है कि स्फोट के एक होने पर भी वृत्ति के भेद से औपाधिक भेद हो जाता है।

ध्वनियाँ भी प्राकृत तथा वैकृत दो होती हैं। शब्द की अभिव्यक्ति में प्रथम नीर-क्षीरन्यायेन ध्वनि और स्फोट की उपलब्धि पृथक् रूपेण न हो सके उस ध्वनि को प्राकृत ध्वनि कहते हैं। उस स्फोट को उस ध्वनि की प्रकृति-स्वभाव जैसा मान लेने से उसे प्राकृत-ध्वनि कहा जाता है। प्राकृत-ध्वनि के अनन्तर होने वाली ध्वनि स्थितिभेद की हेतु होने के कारण विलक्षण ही उपलब्ध होती है। अतः उस ध्वनि से स्फोट में विकार जैसा होने लगता है। इसलिए उसे वैकृत ध्वनि कहा जाता है। प्राकृत और वैकृत ध्वनि के विषय में सङ्ग्रहकार व्याडि का श्लोक इस प्रकार है—

शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥

विश्ववर्तिनी शक्ति शब्दाश्रित ही है। समस्त अर्थ शब्द के आश्रित हैं। लोक में समस्त इतिकर्तव्यता शब्दाधीन है। समस्त ज्ञान शब्द में अनुविद्ध है। संसारियों का चैतन्य वाग्रूपता ही है। जाग्रदवस्था के समान स्वप्न में भी वाणी ही व्यवहार का साधन है। शब्द का संस्कारक होने से धर्मजनन द्वारा व्याकरण ब्रह्मप्राप्ति का साधन है। धर्म की उत्पत्ति में साधु शब्दों का ही सामर्थ्य है। धर्म साधन के विषय में शुष्क

तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। व्याकरण शब्द के साधुत्व और असाधुत्व का नियामक है। अत धर्मावबोधमें प्रमाण है। व्याकरणस्मृति वैखरी आदि तीन वाणियों का ज्ञापक है।

अपभ्रंश शब्दो का बोध साधु शब्द स्मरणपूर्वक होता है। अत अपभ्रंश शब्द साक्षात् रूपेण वाचक नहीं हैं। उन-उन अर्थों मे परम्परया अपभ्रंशो की लोकप्रसिद्धि के कारण स्त्री शूद्र आदि को अपभ्रंश से ही अर्थ बोध हो जाता है। यह साराश वाक्यपदीय के प्रथमकाण्ड (ब्रह्मकाण्ड) का है।

द्वितीय काण्ड (वाक्य काण्ड)

अब द्वितीय काण्ड के सम्बन्ध मे लिखा जाता है। वाक्य स्वरूप के विस्तारपूर्वक प्रतिपादन के लिए द्वितीय काण्ड का प्रारम्भ किया गया है। अत विद्वान् इस काण्ड को 'वाक्यकाण्ड' कहते हैं। आचार्यों के मतभेद को लेकर वाक्य स्वरूप आठ प्रकार का माना जाता है। वे आठ पक्षभेद इस प्रकार हैं--(१) आख्यात शब्द वाक्य है, (२) पदसमूह वाक्य है, (३) सघातवर्तिनी जाति वाक्य है, (४ अनवयव एक शब्द वाक्य है, (५) क्रम वाक्य है, (६) बुद्धि की अनुसहृति वाक्य है, (७) आद्य पद ही वाक्य है, और (८) सभी साकाङ्क्ष पद वाक्य है। ४८५ श्लोको के इस द्वितीय काण्ड मे वाक्य स्वरूप पर विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

तृतीय काण्ड (पदकाण्ड)

तृतीय काण्ड को विद्वानो ने प्रकीर्णकाण्ड के नाम से अभिहित किया है क्योकि इसके अन्तर्गत १४ समुद्देशो का वर्णन है। वे इस प्रकार हैं--

(१) जातिसमुद्देश, (२) द्रव्यसमुद्देश, (३) सम्बन्धसमुद्देश, (४) भूयो-द्रव्यसमुद्देश, (५) गुणसमुद्देश, (६) दिक्समुद्देश, (७) साधनसमुद्देश; (८) क्रियासमुद्देश, (९) कालसमुद्देश, (१०) पुरुषसमुद्देश, (११) सख्या-समुद्देश, (१२) उपग्रहसमुद्देश, (१३) लिङ्गसमुद्देश, और (१४) वृत्तिसमुद्देश। व्याकरण सम्बन्धी सिद्धान्तो का वाक्यपदीय महार्णव है। थोडे मे वर्णन असम्भव है।

महाभाष्य का पाठोद्धार

महाभाष्य के प्रथम पाठोद्धार की घटना भर्तृहरि से पूर्व की घटना है, क्योकि इन्होने अपने वाक्यपदीय (२।४८७-४८९) मे चन्द्राचार्य के द्वारा महाभाष्य के उद्धार का उल्लेख किया है[१] और यह घटना राजतरङ्गिणी के द्वारा प्रमाणित तथा

---

१ पर्वतादागम लब्ध्वा भाष्य बीजानुसारिभि ।
स नीतो बहुशाखत्व चन्द्राचार्यादिभि पुन ॥
(वा० प० २।४८९)।

पुष्ट की गई है[1]। महाभाष्य के पुनः विलुप्त हो जाने पर द्वितीय बार उद्धार की घटना अष्टम शती में काश्मीर के राजा जयापीड के द्वारा सम्पन्न की गई, भर्तृहरि से लगभग तीन सौ वर्ष बाद[2]। राजा जयापीड ने क्षीर नामक शब्द-विद्योपाध्याय के द्वारा यह कार्य सिद्ध किया। क्षीर के व्यक्तित्व के विषय मे विद्वानों को सन्देह है। विन्टरनित्स इस क्षीर को कोषकार अमर के टीकाकार क्षीरस्वामी से भिन्न नहीं मानते, परन्तु काल की दृष्टि से यह तादात्म्य समर्थित नहीं होता। अपनी अमर टीका में भोजराज को उद्धृत करने वाले क्षीरस्वामी ११ शती ई० से कथमपि पूर्ववर्ती नही हो सकते। उधर जयापीड के समसामयिक क्षीर उपाध्याय नवमशती से पश्चाद्वर्ती नही हो सकते। फलत महाभाष्य के द्वितीय उद्धारक क्षीर उपाध्याय क्षीरस्वामी से नितान्त भिन्न हैं। इस युग के महाभाष्य के अध्ययन की दुर्दशा का संकेत नैषधकाव्य के रचयिता श्रीहर्ष ने इस प्रकार किया है—

फणिभाषितभाष्य-फक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ॥

महाभाष्य के विषम पंक्तियों का रहस्य जब नही खुलता था, तब पण्डितगण उनके चारो ओर गोलाकार कुण्डली लगा दिया करते थे। ऐसी कुण्डलनी शताब्दियों तक बनी रही और उनका उद्धार तभी हुआ जब आचार्य कैयट ने महाभाष्य पर प्रदीप का निर्माण कर इनकी दुर्बोधता को चुनौती देकर ध्वस्त कर दिया। काशी की विद्वन्मण्डली की यही मान्यता है।

कैयट

इतना तो निश्चित है कि भर्तृहरि के बाद कैयट के समान महाभाष्य का मर्मवेत्ता दूसरा वैयाकरण नही हुआ। कैयट (कय्यट) काश्मीर के निवासी थे और काव्यप्रकाश के रचयिता मम्मट के अग्रज होने की किम्वदन्ती कालवैभिन्य के हेतु स्वतः असगत है। प्रदीप की पुष्पिका से पता चलता है कि इनके पिता का नाम उपाध्याय जैयट था। कैयट ने अपने समय का सकेत नहीं किया है, परन्तु पदमञ्जरी तथा प्रदीप की तुलना करने से कैयट हरदत्त से पूर्वकालीन सिद्ध होते हैं। पदमञ्जरी

---

१ चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्।
प्रवर्तित महाभाष्यं स्व च व्याकरण कृतम् ॥
(रा० त० १।१७६)।

२ देशान्तरादागमय्याथ व्याचक्षाणान् क्षमापतिः।
प्रावर्तयत विच्छिन्नं महाभाष्यं स्वमण्डले ॥
क्षीराभिधानाच्छब्द विद्योपाध्यायात् सम्भृतश्रुत।
बुधै सह ययौ वृद्धि स जयापीडपण्डित. ॥
(रा० त० ४।४८८, ४८९)

मे प्रदीप के मत का उद्धरण तथा खण्डन अनेकत्र है। इस विषय मे संशय का स्थान नहीं रह जाता, जब पदमञ्जरी 'भाष्य व्याचक्षाणा' कह कर भाष्य की व्याख्या की ओर स्पष्ट संकेत करती है[1]। इस पौर्वापर्य से इनके समय का भी पता चलता है। सर्वानन्द ने अपने अमर-व्याख्यान 'टीका सर्वस्व' की रचना १२१५ स० (= ११५८ ई०) मे की थी। इसमे उल्लिखित है मैत्रेयरक्षित का धातुप्रदीप। मैत्रेय ने धातुप्रदीप में धर्मकीर्ति और उनके रूपावतार का निर्देश किया है। धर्मकीर्ति पदमञ्जरीकार हरदत्त का उल्लेख करते हैं और हरदत्त कय्यट का स्पष्ट निर्देश करते हैं। प्रति ग्रन्थकार पच्चीस वर्ष का काल व्यवधान मानने पर कैय्यट का समय ईस्वी ११ शती का पूर्वार्ध सिद्ध होता है[2]—(१००० ई०—१०५० ई० लगभग)।

महाभाष्य प्रदीप नितान्त प्रौढ ग्रन्थ है और बिना इसकी सहायता के महाभाष्य का मर्म समझना नितान्त कठिन है। काश्मीर महाभाष्य के अध्ययन-अध्यापन का गढ था। फलत काश्मीरी वैयाकरणों की पूरी वैदुषी इस प्रदीप के माध्यम से हमारे सामने प्रतिफलित होती है। इसकी गम्भीरता का अनुमान इसकी व्याख्या-सम्पत्ति से भली-भाँति किया जा सकता है। कैयट से पूर्ववर्ती आचार्यों ने महाभाष्य की व्याख्या लिखी थी, उन सबका सार सकलन कर इन्होंने अपना यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा।

प्रदीप के ऊपर भी अनेक व्याख्यायें प्राप्त है, परन्तु वे अधिकतर अप्रकाशित ही हैं। नागेशभट्ट की टीका, जिसका नाम 'उद्योत' या विवरण है, नितान्त प्रख्यात है। नागेशभट्ट (या नागोजी भट्ट) काशीवासी प्रधान वैयाकरण थे समय था १८वी शती का पूर्वार्ध। उद्योत सचमुच ही प्रदीप के गूढ रहस्यो को उद्योतित करने मे समर्थ है। इस उद्योत के ऊपर भी नागेश के ही प्रमुख शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने छाया नाम्नी अपनी व्याख्या लिखी—जो नवाह्निक तक ही उपलब्ध होती है[3]। नागेश से पूर्ववर्ती वैयाकरण अन्नंभट्ट ने (१६०० ई०—१६५० ई०) 'प्रदीपोद्योतन' नामक व्याख्या प्रदीप पर निबद्ध की है जिसके प्रथम अध्याय का प्रथम पाद मुद्रित

---

१ अन्ये तु हे त्रपिति प्राप्ते हे त्रपो इति भवतीति भाष्य व्याचक्षाणा नित्यमेव गुणमिच्छन्ति। पदमञ्जरी ७।१।७२। यह मत महाभाष्य प्रदीप मे विद्यमान हैं। द्रष्टव्य इसी सूत्र का भाष्य प्रदीप। प्रदीप का कथन है—हे त्रपु हे त्रपो इति। हे त्रपु इति प्राप्ते हे त्रपो इति भवतीत्यर्थ. (७।१।७२)।

२, द्रष्टव्य संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग पृष्ठ ३६५–३३०।

३ प० शिवदत्त शर्मा के द्वारा सम्पादित तथा निर्णयसागर द्वारा मुद्रित नवाह्निक भाष्य मे यह टीका प्रदीप तथा उद्योत के साथ प्रकाशित है।

होकर प्रकाशित हैं। अन्नमट्ट तैलगदेश के प्रौढ़ वैयाकरण थे। नागेश की टीका के साथ इस व्याख्या के तुलनात्मक अध्ययन से दोनों ग्रन्थकारों के दृष्टिकोण का पार्थक्य भली भाँति समझा जा सकता है।

अष्टाध्यायी की वृत्तियाँ

अष्टाध्यायी के ऊपर प्राचीन काल में अनेक वृत्तियों की सत्ता का पता वैयाकरण ग्रन्थों में मिलता है, परन्तु काशिका वृत्ति ही ऐसी सर्वमान्य व्याख्या है जिसके सहारे हम पाणिनि का मर्म भलीभाँति समझने में कृतकार्य होते हैं। प्राचीन तथा आज लुप्तप्राय वृत्तियों के अर्थ का परिचय हमें इसी वृत्ति से होता है। यहाँ अनेक प्राचीन उदाहरण दिये गये हैं जिनका ऐतिहासिक महत्त्व नितान्त उल्लेखनीय है। इसके रचयिता दो महनीय वैयाकरण हैं—जयादित्य तथा वामन। इन्होंने प्राचीन सूत्र-वृत्तियों के आधार पर इसका निर्माण किया। जयादित्य ने प्रथम पाँच अध्यायों की तथा वामन ने अन्तिम तीन अध्यायों की व्याख्या लिखकर इसे अपने सम्मिलित प्रयास का परिणत फल बनाया। 'न्यास' तथा 'पदमञ्जरी' के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि जयादित्य तथा वामन ने पृथक् रूप से समग्र ग्रन्थ पर भी पूर्णवृत्तियाँ लिखी थीं जिनमें कहीं परस्पर विरोध भी था। सम्भवत ये पूर्ण वृत्तियाँ उनके युग में उपलब्ध भी थी, परन्तु कालान्तर में दुर्लभ हो चली। आज उपलब्ध काशिका वृत्ति इस वैयाकरण-युगल का सम्मिलित प्रयास है।

काल का निर्णय बहिरंग तथा अन्तरंग प्रमाणोंके आधार पर किया जा सकता है—

(१) भाषावृत्ति के अनुसार भागवृत्ति काशिका का खण्डन करती है। फलतः इसे भागवृत्ति से प्राचीनतर होना चाहिए। सीरदेव की 'परिभाषा वृत्ति' के अनुसार भागवृत्ति ने भारवि तथा माघ के द्वारा प्रयुक्त 'पुरातन' शब्द को असाधु माना है। फलतः काशिका वृत्ति माघ से प्राचीनतर है। भागवृत्ति का समय ७१० ई० तथा ७०५ ई० के मध्य में कहीं पड़ता है (६४४ ई०—६४८ ई०)। भागवृत्ति से प्राचीनतर होनेवाली काशिकावृत्ति सप्तमी शती के मध्य काल से अर्वाचीन नहीं हो सकती। यह हुआ बहिरंग प्रमाण।

(२) 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (१।३।२३) सूत्र की व्याख्या में काशिका 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' पद्यांश को दृष्टान्त रूप में उपस्थित करती है। न्यास के अनुसार यह किरातार्जुनीय महाकाव्य ३।१४ का एकदेश है। फलतः भारवि के अनन्तर ही जयादित्य का समय है। दक्षिण देश के राजा दुर्विनीत ने (राज्यकाल ५३९ वि०—५६९ वि० अर्थात् ४८२ ई०-५१२ ई०) ने किरात के १५वें सर्ग की व्याख्या लिखी है। फलतः भारवि का समय पञ्चम शती ई० का मध्यकाल (४५० ई०) है।

अत काशिका का रचना-काल ४५० ई०–६०० ई० के बीच मे कही पडता है— पञ्चम शती का अन्त तथा षष्ठ शती का आरम्भ मानना उपयुक्त होगा (५०० ई०–५२५ ई०)।

वामन ने काशिकावृत्ति के अन्त मे इसकी विशिष्टता का प्रतिपादन स्वय किया है जिसका निर्देश न्यासकार ने अपने ग्रथ के आरम्भ मे ही किया है—

> इष्टयुपसङ्ख्यानवती शुद्धगणा विवृतगूढसूत्रार्था।
> व्युत्पन्न रूपसिद्धिर्वृत्तिरियं काशिका नाम[1]॥

इष्टियो के उपसख्यान, शुद्ध गुणो का विवरण, सूत्र के गूढ अर्थो की विवृत्ति तथा व्युत्पन्न रूपो की सिद्धि—इन चारो तथ्यो से समन्वित होना इस काशिकावृत्ति का वैशिष्ट्य है। वास्तव मे ये विशिष्टतायें यहाँ पूर्णतया प्रदर्शित की गयी हैं।

काशिकावृत्ति ही पाणिनीय सूत्रो के यथाविधि अर्थ जानने के लिए उपलब्ध प्राचीनतम वृत्ति है। उपलब्ध वृत्तियों मे यह प्राचीनतम है, परन्तु प्रथम वृत्ति नही है। इसके पूर्व भी अनेक वृत्तियो का निर्माण हो चुका था जिनके अस्तित्व का तथा विशिष्ट मत का निर्देश प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों मे प्राप्त है। पदमञ्जरी मे वृत्त्यन्तरों का वैशिष्ट्य गणपाठ का अभाव बतलाया गया है, परन्तु काशिका मे गणपाठ का आवश्यक सूत्रो मे निर्देश निश्चित रूपेण है। काशिकावृत्ति के अध्ययन से हम सूत्रो का विधिवत अर्थ जानने मे समर्थ होते हैं, इतना ही नही, काशिका प्राचीन वृत्तियो के व्याख्यानो का भी निर्देश करती है जिसकी सहायता से हम सूत्रो के अर्थ के विषय में प्राचीन मत का सकेत स्पष्ट पा सकते हैं। प्राचीन वृत्तियों मे विशिष्ट तथा विलक्षण उदाहरण भी दिये गये थे, इनका मर्म पता हमे काशिका भली भाँति देती है। यथा 'अव्यय विभक्तिसमीप' इत्यादि सूत्र (२।१।६) के व्याख्यान के अवसर पर सादृश्य अर्थ मे निष्पन्न अव्ययीभाव समास का उदाहरण 'सदृश किख्या सकिखि' प्राचीन वृत्ति के आधार पर ही है। 'किखी' शब्द का अर्थ है छोटा परिमाणवाला शृगाल और इसी अर्थ में बगला मे यह शब्द 'खेके सियार' के रूप मे आज भी उपलब्ध है। इस शब्द के यथाविधि अर्थ का परिचय पदमञ्जरी से ही चलता है[2]। आजकल अप्रचलित

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य—इस कारिका की पदमञ्जरी। न्यास के अनुसार यह ग्रन्थ के अन्त की कारिका है, परन्तु पदमञ्जरी की दृष्टि मे यह काशिका के प्रारम्भ की द्वितीय कारिका है और वही इसकी व्याख्या भी लिखी है।

२. अपचितपरिमाण शृगाल किखी। अप्रसिद्धोदाहरणम् चिरन्तनप्रयोगात्।
(२।१।६ की पदमजरी) ३२

तथा अज्ञात होने से इसके स्थान पर 'सदृश 'सदृश ससखि' पाठ प्रचलित हो गया है।

क्षेपे (२।१।४७) सूत्र का अर्थ है कि निन्दा गम्यमान होने पर सप्तम्यन्त का 'क्त' प्रत्ययान्त के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है। इसका उदाहरण है--अवतप्ते नकुलस्थितं तवैतत्। इसका अर्थ है—यह तुम्हारी चपलता है। एक कार्य मे न टिक कर अस्त व्यस्त चित्त होने वाले व्यक्ति के लिए इस वाक्य का प्रयोग होता है। यह प्राचीनो का प्रयोग है[1]। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' सूत्र के अनुसार यहाँ विभक्ति का लुक् नहीं होता। फलत यह अलुक् तत्पुरुष है।

भाग वृत्ति

भागवृत्ति काशिका के पश्चात् निर्मित वृत्तियो मे अपना महनीय स्थान रखती है। यह तो सर्वविदित तथ्य है कि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में लौकिक तथा वैदिक सूत्रों में किसी प्रकार का पार्थक्य नहीं किया। लौकिक प्रयोगों का वैशिष्ट्य दिखाते समय उन्होंने वैदिक प्रयोगो की सिद्धि के लिए सूत्रों का निर्माण किया। *प्राचीन वृत्तियाँ तथा काशिका इस नियम का अक्षरश पालन करती हैं,* परन्तु भागवृत्ति लौकिक तथा वैदिक सूत्रो का विभाजन कर उनकी व्याख्या प्रस्तुत करती है[2]। फलत भागश वृत्ति होने के कारण उसका भागवृत्ति' नामकरण सवथा सार्थक है। भागवृत्ति की रचना के पश्चाद्वर्ती वैयाकरणों ने भागवृत्ति के इस वैलक्षण्य से काशिकावृत्ति को पृथक् करने के लिए उसके लिए 'एकवृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। 'एकवृत्ति' का तात्पर्य यह हुआ एक तन्त्र से या एक क्रम से उभयविध सूत्रो का व्याख्यान प्रस्तुत करने वाली वृत्ति। 'एकवृत्ति' नाम का प्रयोग पुरुषोत्तमदेव ने अपनी भाषावृत्ति में किया है (सूत्र १।१।१६) और उनके टीकाकार सृष्टिधर की

---

१ इस प्रयोग का यथाविधि अर्थ हरदत्त ने पदमञ्जरी मे दिया है—चिरन्तन-प्रयोग। तस्यार्थमाह—चापल्यमेतत् तव। यथा अवतप्ते प्रदेशे नकुला न चिर स्थातारो भवन्ति एवं कार्याणि आरभ्य यस्तत्रापलेन न चिर तिष्ठति, स एवमुच्यते इत्यर्थः। द्रष्टव्य—२।१।४७ की पदमञ्जरी। पदमञ्जरी की यह व्याख्या न्यास के ही अनुसार है। द्रष्टव्य—इस सूत्र का न्यास।

२ अतएव भाषावृत्तौ भाषाभागे भागवृत्तिकृद् भाषावृत्तिकारश्च वसुरानज विधानलक्षण न लभितवान् इति गोयीचन्द्र। अदधैतन्न वक्तव्य छान्दसत्वात्। अतएव भागवृत्तौ भाषाभागे न। —संक्षिप्तसार टीका।

व्याख्या से 'काशिका' के लिए 'एकवृत्ति' नामकरण का पूर्वोक्त वैशिष्ट्य भली-भांति गम्य होता है[1]।

भागवृत्ति उपलब्ध नहीं होती। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने बड़े परिश्रम से व्याकरण ग्रंथों में उद्धृत उसके अंशों को एकत्र कर 'भागवृत्ति-सङ्कलन' नाम से इसका सम्पादन-प्रकाशन किया है[2]। उन्होंने काशिका तथा भागवृत्ति के वैशिष्ट्य का निर्देश करते लिखा है कि भागवृत्ति जहाँ महाभाष्य को पूर्णतया प्रमाण मानकर चलती है, वहाँ काशिका सम्भवतः प्राचीन वृत्तियों के आधार पर, महाभाष्य का स्थान-स्थान पर खण्डन करती है। भट्टोजीदीक्षित तथा उसके सम्प्रदाय वाले वैयाकरण इसीलिए काशिका के मत में उतनी आस्था नहीं रखते और उसे खण्डन करने से पराङ्मुख नहीं होते। भागवृत्ति के प्रति उनकी दृष्टि आस्थाबहुल है। भट्टोजि ने अपने शब्दकौस्तुभ तथा सिद्धान्त कौमुदी दोनों ग्रन्थों में भागवृत्ति से अनेक उद्धरण दिये हैं।

भागवृत्ति के देश-काल—भागवृत्ति के कर्ता का परिचय यथार्थतः नहीं मिलता। 'कातन्त्र परिशिष्ट' के रचयिता श्रीपतिदत्त (समय लगभग १२ वीं शती) भागवृत्ति को 'विमलमति' नामक किसी लेखक की रचना बतलाते हैं[3], उधर उनके अवान्तरकालीन सृष्टिधर (१५ शती) अपनी 'भाषावृत्त्यर्थ विवृति' में भागवृत्ति के रचयिता का नाम भर्तृहरि मानते हैं जिन्होंने श्रीधरसेन नरेन्द्र के आदेश से इसका निर्माण किया[4]। इस प्रकार का मतद्वैविध्य उपलब्ध होता है। भट्टिकाव्य के निर्माता महाकवि भट्टि भी भर्तृहरि के नाम से विख्यात हैं जिन्होंने वलभी के श्रीधरसेन नरेन्द्र के आदेश से अपने प्रसिद्ध शास्त्र काव्य का प्रणयन किया था। ऐसी दशा में क्या भट्टि काव्य के वैयाकरण रचयिता भर्तृहरि या भट्टि ही भागवृत्ति के भी प्रणेता हैं? नहीं, भागवृत्ति भट्टि काव्य के रचयिता भर्तृहरि या भट्टि कवि की रचना कथमपि नहीं, हो सकती, क्योंकि भागवृत्ति में भट्टि काव्य के अनेक प्रयोगों के साधुत्व-असाधुत्व की मीमांसा की गई है। 'संभविष्याव एकस्यामभिजानासि मातरि' (भट्टि ६।१३८),

---

१. अनार्षं इत्येकवृत्तावप्युक्तम्। भाषा वृत्ति १।१।१६ एकवृत्तौ साधारणवृत्तौ वैदिके लौकिके च विवरणे इत्यर्थः। एकवृत्ताविति काशिकाया वृत्तौ इत्यर्थः।

—सृष्टिधरस्य व्याख्याने।

२ प्रकाशक भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, सं० २०२१।

३ तथा च भागवृत्तिकृता विमलमतिनाप्यत्र निपातितः।

(सन्धिसूत्र १४२)।

४ भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता।

(८।१।६७ सूत्र की विवृति)।

'उपायस्त महास्त्राणि' (भट्टि १५।२१), 'शस्त्राण्युपायसत जित्वराणि' (भट्टि १।१६)—भट्टि के इन विशिष्ट प्रयोगों पर भागवृत्ति ने अपना विचार प्रकट किया है।

भागवृत्ति के समय का निरूपण उसमे निर्दिष्ट ग्रन्थों के काल से किया जा सकता है। भारवि के अनेक प्रयोगों को सिद्ध करने का यहाँ प्रयास है। यथा 'आजघ्ने विषम विलोचनस्य वक्ष (किरात १७।६३) मे 'आजघ्ने' की सिद्धि के विषय मे भागवृत्ति बहुत युक्तियां प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार माघ के 'पुरातनी नदी' (१२।६०) प्रयोग को भागवृत्ति प्रामादिक मानती है। फलत भागवृत्ति भारवि, भट्टि तथा माघ (सप्तम शती का उत्तरार्ध ६५० ई०-७०० ई०) से अवान्तरकालीन है। जो विद्वान् भागवृत्ति की रचना ७०० वि स० अर्थात् ६४४ ईस्वी मे मानते हैं[1], उनका मत माघ के उद्धरण भागवृत्ति मे मिलने के कारण स्वत ध्वस्त हो जाता है। भागवृत्ति को उद्धृत करने वाले ग्रन्थकारो मे कैयट ही प्राचीनतम है और कैयट का समय ११ शती का पूर्वार्ध है। फलत भागवृत्ति का समय माघ तथा कैयट के मध्य युग में कभी होना चाहिए। इस वृत्ति को नवम शती के पूर्वार्ध मे मानना कथमपि अनुपयुक्त नही कहा जा सकता।

भागवृत्ति का वैशिष्ट्य

प्राचीनकाल मे भागवृत्ति काशिकावृत्ति के सदृश ही आदरणीय तथा प्रामाणिक मानी जाती थी। काशिका के साथ भागवृत्ति का अनेक अश मे विरोध था। काशिका भाष्यैकशरणा न थी, प्राचीन वृत्तियों के विशिष्ट विवरणो से गर्भित होने वाली काशिका अनेक व्याख्यानों मे भाष्य से विरोध प्रकट करती है। भागवृत्ति वस्तुत भाष्यैकशरणा है। भाष्य का पूर्णत आधार लेकर वह प्रवृत्त होती है। भागवृत्ति की प्रामाणिकता काशिका से किसी प्रकार न्यून नही है। पुरुषोत्तमदेव की 'भाषावृत्ति' इस विषय मे प्रमाण उपस्थित करती है अपने अन्तिम श्लोक मे—

> काशिका भागवृत्त्योश्चेत् सिद्धान्त बोद्धुमस्ति धी.।
> तदा विचिन्त्यता भ्रातर्भाषावृत्तिरिय मम॥

भागवृत्ति शब्दो के साधुत्व के विषय मे बडी जागरूक है तथा नये नय प्रयोगो की ओर भी उसका ध्यान है[2]। (१) 'युवतीनां समूह' इस अर्थ में युवति शब्द से

१. युधिष्ठिर मीमासा—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास प्रथम भाग पृष्ठ ४३४ (द्वि० स०)।

२. यमुपास्ते पुण्यभाग फलाकुशल्यौवनम्।
सरस निरयप्रस्तन्वि ! सफलं तस्य यौवनम्॥
यहाँ पूर्वार्ध का अन्तिम 'यौवन' शब्द युवतियों के समूह का वाचक है।

'यौवत' शब्द की सिद्धि 'भिक्षादिभ्योऽण्' (४।२।३८) से जयादित्य को अभीष्ट है, परन्तु भागवृत्ति यहाँ पुंवद्भाव कर 'यौवन' शब्द को प्रामाणिक मानती है। शब्द-शक्ति प्रकाशिका भागवृत्तीय अर्थ से सवलित 'यौवन' शब्द वाले प्राचीन पद्य को उद्धृत करती है। (२) 'अक्ष्णा काण' मे काशिका की सम्मति मे समास नही होता, परन्तु भागवृत्ति 'अक्षिकाण.' पद को साधु मानती है।। (३ । 'न पद् स्वस्रादिभ्य' (४।१।१०) सूत्र मे भागवृत्ति 'नप्तृ' शब्द का पाठ मानती है। फलत उसके मत मे 'नप्ता कुमारी' वनेगा, भागुरि के मत में 'नप्त्री कुमारी' होना चाहिये। (४) 'न शस दद वादि गुणानाम्' (६।४।१२६) के अनुसार वकारादि धातु होने से वम धातु का लिट् लकार मे ववमतु तथा ववमु. रूप बनते हैं, परन्तु भागवृत्ति यहाँ वेमतु तथा वेमु: रूप मानती है। पुराणेतिहास ग्रन्थो मे यह पद प्रयुक्त भी है—'वेमुश्च केचिद् रुधिर' (सप्तशती २।५७) तथा 'वेमुश्च रुधिर वीरा' (भीष्मपर्व, महाभारत ५७।१५)। (५) क्वसु तथा कानच् प्रत्यय वेद मे ही प्रयुक्त होते हैं—भाष्य के व्याख्यानो का यह मत भागवृत्ति को भी अभिप्रेत है। इसीलिए वह भाषा भाग मे इन प्रत्ययो का विधान वर्णित नही करती। यह संक्षिप्तसार टीका का मत है[1]। (६) भागवृत्ति महाकवियो के अपाणिनीय प्रयोगो को प्रमाद कहने से तनिक भी सकोच नही करती। भारवि तथा माघ द्वारा प्रयुक्त 'पुरातन' शब्द का वह प्रमाद मानती है। किरात मे 'पुरातनमुनेर्मुनिताम्' (६।१९) तथा शिशुपाल वध मे 'पुरातनीर्नदीः (१२।५०) 'पुरातन' शब्द का प्रयोग है, परन्तु भागवृत्ति इस पर कहती है—गतानुगतिकतया कवय. प्रयुञ्जते। न तेषा लक्षणे चक्षु.[2]।

(७) आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्ष· (किरात १७।६३) पद्य मे 'आजघ्ने' पाणिनि सूत्र से अनिष्पन्न प्रयोग है इस स्थल पर, परन्तु इसकी सिद्धि के निमित्त भागवृत्तिकी युक्तियाँ देखने योग्य हैं[3]। फलत भागवृत्ति प्राचीन प्रयोगो की समर्थिका भी है।

भाषावृत्ति

पुरुषोत्तम देव बगाल के निवासी बौद्ध मतानुयायी महावैयाकरण तथा कोषकार थे। राजा लक्ष्मणसेनके आदेशपर इन्होंने अष्टाध्यायीके वैदिक सूत्रों को छोड़कर इतर

---

१ क्वसु कानचौ छन्दस्येव विहिताविति भाष्य-व्याख्यातृभिर्व्यवस्थितम्। अतएव भाषाभागे भागवृत्तिकृद् भाषावृत्तिकारश्च क्वसु-कानज्-विधान-लक्षण न लक्षितवान्। —संक्षिप्तसार टीका।

२. भागवृत्तिसकलन् पृ० ४, षष्ठ उद्धरण।

३. वही पृ० ८, उद्धरण २८।

सूत्रों के ऊपर वृत्ति की रचना की जो एतदर्थ 'भाषा वृत्ति' के नाम से प्रख्यात है। अमर के टीकाकार सर्वानन्द (११६० ई०) के द्वारा इनके ग्रन्थों का बहुधा निर्देश किया गया है। फलत. इनका समय ११५० ई० से पूर्व ही होना चाहिए। इन्होंने व्याकरण तथा कोश सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण किया था जिनमे से अधिकांश प्रकाशित हैं— (१) भाषा वृत्ति—अष्टाध्यायी की व्याख्या, (१) दुर्घटवृत्ति—दुर्घट शब्दों की साधिका वृत्ति (केवल निर्दिष्ट), (३) त्रिकाण्ड शेष तथा (४) हारावली—कोष ग्रन्थ, (५) महाभाष्य लघुवृत्ति (अप्रकाशित)। शरणदेव ने भी इनका 'देव' नाम से अपने ग्रन्थ 'दुर्घटवृत्ति' मे बहुश. उल्लेख किया है। सर्वानन्द ने पुरुषोत्तमदेव के द्वारा 'दुर्घटवृत्ति मे व्याख्यात 'गुर्विणी' पद को असाधु माना है।

दुर्घटवृत्ति

शरणदेव की एकमात्र रचना 'दुर्घटवृत्ति'[1] है। इसमे सामान्य रीति से अव्याख्येय तथा अपाणिनीय पदो की अपाणिनि सम्मत व्याख्या की गई है। इन पदो के साधक सूत्रो की ही व्याख्या उन्होंने इस नाम से की है। रचना काल १०९५ शाके=११७३ ईस्वी। मगल श्लोक मे 'सर्वज्ञ' को नमस्कार इन्हें बौद्ध मतानुयायी सिद्ध कर रहा है। फलत पुरुषोत्तमदेव के समान ही ये भी बौद्ध वैयाकरण थे। १२वी शती मे बगाल के बौद्ध पण्डितो ने पाणिनीय व्याकरण की उल्लेखनीय सेवा की जिसके लिए पण्डित समाज उनका सर्वदा कृतज्ञ रहेगा। ये गौड के अन्तिम स्वाधीन शासक लक्ष्मणसेन (काल ११७५ ई०–१२०५ ई०) की सभा के लब्धप्रतिष्ठ सदस्य थे। जयदेव ने 'शरण श्लाघ्यो दुरूहद्रुते' पद्यांश मे दुरूह पदो को पिघलाने में 'श्लाघ्य' कहकर इन्ही की प्रशसा की है। फलत इनका आविर्भाव काल १२वी शती का उत्तरार्ध है।

शब्दकौस्तुभ

भट्टोजि दीक्षित ने इस ग्रन्थ का निर्माण अष्टाध्यायी की वृत्ति के रूप में किया था। वे कौमुदी के उत्तर कृदन्त के अन्त में स्वय लिखते हैं कि सिद्धान्त कौमुदी लौकिक शब्दों का सक्षिप्त परिचय है। विस्तार तो 'शब्दकौस्तुभ' में पूर्व ही दिखलाया जा चुका है[2]। वास्तव मे यह कौस्तुभ अष्टाध्यायी की बडी विशद व्याख्या है, परन्तु दुःख है कि अधूरी ही मिलती है। आरम्भ में ढाई अध्याय तथा चतुर्थ अध्याय ही उपलब्ध होते हैं। शब्दकौस्तुभ काशिका के समान लघ्वक्षरा वृत्ति न होकर प्रौढ विस्तृत निबन्ध ग्रन्थ है। आरम्भ में यह महाभाष्य के मन्तव्यों की व्याख्या करता है और इसलिए

---

१. अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित।

२ इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शित शब्दकौस्तुभे ॥

वह आह्निकों में विभक्ति भी है। भट्टोजिदीक्षित ने स्वयं पतञ्जलि के ऋण को ग्रन्थान्तर में स्वीकार किया है—शब्दकौस्तुभ के आरम्भ में वे स्पष्ट कहते हैं—

फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृत। इसका फलितार्थ है कि महाभाष्य में जिन विस्तृत विषयों का विवेचन किया गया है उनका बहुमूल्य सार भाग यहाँ सकलित है। तथ्य तो यह है कि शब्दकौस्तुभ वैयाकरण प्रमेयों का विस्तार से विवेचन करने वाला मौलिक निबन्ध है जिसमें प्राचीन आचार्यों के मतों का तुलनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। स्वरूप इसका व्याख्या का ही है। फलत यह अष्टाध्यायी के वृत्ति-साहित्य के भीतर निर्देश पा रहा है[1]।

काशिका की व्याख्यायें

न्यास

काशिकावृत्ति के गूढ अर्थ को सुबोध बनाने के लिए दो आचार्यों ने उस पर अपनी पाण्डित्यपूर्ण वृत्तियाँ लिखी जिनमें पहिले हैं जिनेन्द्रबुद्धि तथा दूसरे हैं हरदत्त। इनमें जिनेन्द्र बुद्धि की व्याख्या का नाम 'काशिका विवरण पञ्जिका' है, परन्तु इसका प्रख्यात अभिधान 'न्यास' है। हरदत्त की व्याख्या का नाम पदमञ्जरी है। न्यास की प्रति अध्याय-पुष्पिका में जिनेन्द्रबुद्धि के लिए प्रयुक्त 'बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य' पद से उनके बौद्ध होने तथा उदात्तचरित आचार्य होने की स्पष्ट सूचना मिलती है। हरदत्त ने अपनी पदमञ्जरी में 'न्यास' का नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया है। फलत न्यास की पूर्वकालिकता विशदतया अनुमेय है। कैयट के साथ इन दोनों आचार्यों के मतों का तारतम्य विचारने से दोनों की ऐतिहासिक स्थिति का परिचय भली-भाँति मिल सकता है। कैयट ने अपने महाभाष्यप्रदीप में न्यासकार के मत का अक्षरश अनुवाद कर खण्डन किया है। उधर हरदत्त ने अपनी पदमञ्जरी में प्रदीप की विशिष्ट सामग्री का पूर्णतया उपयोग किया है। फलत न्यासकार कैयट से प्राचीन है और पदमञ्जरीकार कैयट से अर्वाचीन हैं। कय्यट का समय विक्रम की ११ शती का अन्तिम काल है। ईस्वी गणना से इनका समय १०२५ ईस्वी के आसपास पड़ता है। फलत न्यासकार ईस्वी १० म शती से नि सन्देह प्राचीन हैं। हेतुबिन्दु के टीकाकार अर्चट के 'यदाह्याचार्यम्याप्येनदभिमतमिति केचिद व्याख्यायते' (पृष्ट २१८, बडौदा स०)। इस वाक्य की व्याख्या करते समय दुर्वेक मिश्र ने 'कैश्चिद्' पद के द्वारा ईश्वरसेनजिनेन्द्रप्रभृतिभि' शब्दो से जिनेन्द्रबुद्धि की ओर सकेत किया है। अर्थात् जिनेन्द्रबुद्धि अर्चट से प्राचीन हैं[2]।

---

1 शब्द कौस्तुभ चौखम्भा सस्कृत सीरीज में यावदुपलब्ध प्रकाशित है।

2 द्रष्टव्य, सस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ४६४-४६५।

अर्थात् का समय ईसा की सप्तम शती का अन्त है। फलतः न्यासकार को सप्तम शती के मध्यकाल में होना अनुमान सिद्ध है (६५० ईस्वी लगभग)। न्यास में अनेक प्राचीन वृत्तिकारों जैसे चूल्लि, भट्टि, नल्लूर आदि के नाम निर्दिष्ट हैं। बाणभट्ट ने भी 'कृतगुरुपदन्यासाः लोक इव व्याकरणेऽपि' लिखकर अपने से पूर्व न्यास ग्रन्थ की ओर संकेत किया है। फलतः 'अनुत्सूत्रपदन्यासा' (२।११४) के द्वारा माघ कवि का निर्देश इन्हीं में से किसी प्राचीन न्यास की ओर प्रतीत होता है। न्यास काशिका का बड़ा ही प्रौढ़, प्रमेयबहुल तथा पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यान है। इसमें ग्रन्थकार ने बड़े विस्तार के साथ मूल के तथ्यों का विवरण प्रस्तुत किया है। अवान्तर ग्रन्थकारों पर इसका प्रभाव विशेष महत्त्वपूर्ण है।

पदमञ्जरी

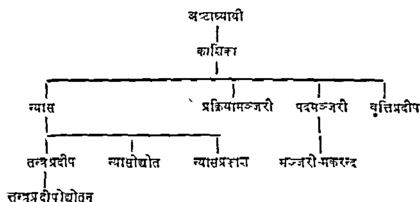
इसकी अपेक्षा 'पदमञ्जरी' का स्थान कुछ घट कर है। पदमञ्जरी के रचयिता हरदत्त मिश्र के पिता का नाम पद्मकुमार, माता का श्री, अग्रज का अग्निकुमार तथा गुरु का अपराजित था—इसका परिचय ग्रन्थ के उपोद्घात से चलता है। वे द्रविड देश के निवासी थे (विधुनो दस्यु दिशु दक्षिण) गौतम धर्मसूत्र की टीका (१।१९) में यह कथन इनके द्रविड भाषी होने का प्रमाण है—किञ्जल्क त्वग्दोष, तेमल् इति द्रविडभाषायां प्रसिद्ध'। कावेरी नदी के तीरवर्ती किसी ग्राम के ये निवासी थे। ये वैयाकरण ही न थे, प्रत्युत श्रौत के महापण्डित थे। आश्वलायन गृह्य, गौतम धर्मसूत्र आपस्तम्बगृह्य, आपस्तम्ब धर्मसूत्र आदि ग्रन्थों की व्याख्या इनके श्रौत-विषयक महनीय टीका-ग्रन्थ हैं। इन्होंने कैयट के महाभाष्यप्रदीप की विशिष्ट सामग्री खण्डन-मण्डन के निमित्त अपनी पदमञ्जरी में सन्निविष्ट की है। फलतः इनका आविर्भावकाल कैयट से पश्चाद्वर्ती है—११५४ विक्रमी के आसपास (११०० ई०.लगभग)।

इन ग्रन्थों के ऊपर कालान्तर में व्याख्या ग्रन्थ रचे गये। दोनों में न्यास की लोकप्रियता पदमञ्जरी की अपेक्षा अधिक प्रतीत होती है, क्योंकि जहाँ 'पदमञ्जरी' का एक टीका ग्रंथ उपलब्ध है (रङ्गनाथ यज्वा का मञ्जरी-मकरन्द), वहाँ न्यास की अनेक टीका प्रटीकायें मिलती हैं। इनमें मैत्रेयरक्षित रचित 'तन्त्रप्रदीप' बड़ा ही विशाल है। मैत्रेय का समय सन् १०७५-११२५ ई० (अर्थात् वि० ११३२-११७२) माना गया है। मल्लिनाथ ने 'न्यासोद्योत' नाम्नी व्याख्या लिखी थी जिसे किरातार्जुनीय की

---

१. काशिका न्यास तथा पदमञ्जरी के साथ ६ खण्डों में प्रकाशित है (तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९६६)।

टीका में उन्होंने स्वयं उद्धृत किया है तथा जिसे सायण ने भी अपनी धातुवृत्ति में उद्धृत किया है।[1] काशिका की टीका सम्पत्ति का यह चित्र दर्शनीय है।



---

१. द्रष्टव्य—माधवीया धातुवृत्ति (काशी सं० १९६४), पृष्ठ ४३ तथा ११४।

चतुर्थ खण्ड

प्रक्रिया-युग

अष्टाध्यायी की रचना का मूल उद्देश्य शब्दों की सिद्धि नहीं था। उद्देश्य था व्याकरण का शास्त्रीय परिचय और यह लिखी गई थी उन शिष्टों के लिए जिनकी मातृभाषा ही संस्कृत थी। ये शिष्ट व्याकरण का अष्टाध्यायी से परिचय प्राप्त कर भली-भांति अपनी मातृभाषा की विशुद्धि का परिचय पा सकते थे। फलतः कालान्तर में संस्कृत का वह महनीय स्तर कुछ निम्नगामी हुआ, वह लोक भाषा तथा शिष्ट भाषा न होकर पण्डित-भाषा बन गई। तब उसके शब्दों के प्रयोग करने के समय रूपसिद्धि का ज्ञान नितान्त आवश्यक हो गया। अष्टाध्यायी के निर्माण-क्रम का किंचित् परिचय पूर्व दिया गया है। अब रूप सिद्धि की आवश्यकता सामने आई। संस्कृत रूपों के व्यावहारिक ज्ञान के निमित्त ही तो कातन्त्र व्याकरण का निर्माण संपन्न हुआ। शर्ववर्मा ने अपने आश्रयदाता के संस्कृत भाषागत अज्ञान को दूर करने के लिए तो इस नवीन वैयाकरण सम्प्रदाय की नींव डाली जिसका प्रमुख लक्ष्य था संस्कृत का व्यावहारिक ज्ञान। इस पद्धति ने अल्प प्रयास से साध्य तथा व्यवहार के अनुकूल होने से पाणिनीय शास्त्र के आचार्यों की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट किया और उन विद्वानों ने अष्टाध्यायी के सूत्रों को नवीन क्रम में ढालने का तथा यथाशक्य उन्हें अल्पायासगम्य करने का नवीन मार्ग निकाला। यह नवीन युग—प्रक्रिया युग—इस सुबोधशैली के प्रचार का डिंडिम घोष करता है।

ऐसे ग्रंथों में सर्व प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ धर्मकीर्ति का रूपावतार है। ग्रंथ के मंगल श्लोक में 'सर्वज्ञ' को प्रणाम करने से प्रतीत होता है कि ग्रंथकर्ता बौद्ध था, परन्तु इसे बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति से अभिन्न मानना नितान्त अयुक्त है। रूपावतार हरदत्त का नामतः निर्देश करता है[1] तथा स्वयं मैत्रेय रक्षित द्वारा तन्त्रप्रदीप में निर्दिष्ट किया गया है[2]। फलतः इस द्वादश विक्रमी शती के मध्य भाग में मानना उचित होगा। रूपावतार दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्ध में सुबन्त का वर्णन है और वह 'अवतारों' (अर्थात् प्रकरणों) में विभक्त है। उत्तरार्ध तिङन्त तथा कृदन्त का

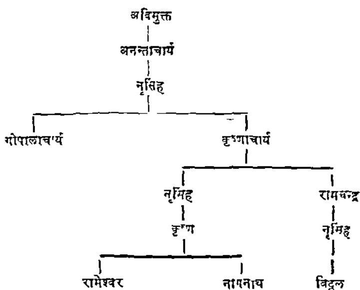
---

1. 'दीर्घान्त एवायं हरदत्ताभिमत'। रूपावतार, भाग २, पृष्ठ १५७।
2. रूपावतारे तु णिलोपे प्रत्ययोत्पत्ते प्रागेव कृते सति एकाच्त्वात् यट्, उदाहृत चोचूर्यते इति (मिलाइए रूपावतार भाग २ पृष्ठ २०६)।

परिचायक है। इसे ही प्रक्रिया पद्धति का उपलब्ध आदिम ग्रंथ मानना उपयुक्त है। यह ग्रन्थ दक्षिण भारत मे विशेष प्रसिद्ध हुआ। प्राकृत भाषा के एतत्सदृश व्याकरण ग्रन्थ का नामकरण इसी के सादृश्य पर 'प्राकृत रूपावतार' रखा इसके रचयिता सिंहराज ने (रचना काल १५ शती)। पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय मे इसने एक आदर्श प्रस्तुत कर दिया जिसका आधार मानकर कालान्तर मे ग्रन्थो का प्रणयन होने लगा।

प्रक्रिया-कौमुदी के प्रणेता

प्रक्रिया कौमुदी ही प्रक्रिया-युग की महत्त्वपूर्ण रचना है जिसके प्रणेता का नाम था— रामचन्द्राचार्य। कौमुदी पर प्रसाद नाम्नी वृत्ति के रचयिता विट्ठल आचार्य रामचन्द्र के पौत्र थे। उन्होने इस वृत्ति के आरम्भ मे तथा अन्त मे अपने वंश का विस्तृत वर्णन किया है। उसके आधार पर हम इस वंश के आचार्यों के विषय मे विशिष्ट विवरण दे सकते हैं। रामचन्द्र का वंश आन्ध्र देश से सम्बद्ध था। यह 'शेष' नामक वंश कौण्डिन्य गोत्री ऋग्वेदी था। इस वंश का वृक्ष इस प्रकार है—



इन वंश के प्रधान पुरुषो का परिचय इस प्रकार है—

(१) अनन्ताचार्य—अविमुक्त के पुत्र, शिष्य का नाम रामस्वामी; कौण्डिन्य गोत्री ऋग्वेदी ब्राह्मण, ये वैष्णव थे तथा पाञ्चरात्र आगम की व्याख्या करने मे नितान्त निपुण थे।

(२) नृसिंह—आगम, नियम, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा तथा गणित के प्रौढ़ विद्वान्, सौदर्शन भाष्य का विवरण प्रस्तुत किया।

(३) कृष्णाचार्य—अष्टादश विद्याओं के पारगामी विद्वान्, राम नामक किसी राजा के दरबार मे सूत्रवृत्ति की व्याख्या की। अनन्त के पौत्र तथा नृसिंह के कनिष्ठ पुत्र थे।

(४) रामचन्द्र—कृष्णाचार्य के कनिष्ठ पुत्र, ये सार्वभौम विद्वान् थे - चतुर्दश विद्याओं का अध्यापन करते थे जिसमें पतञ्जलि का महाभाष्य भी सम्मिलित था; इन्होंने तीन ग्रंथों का प्रणयन किया था— (क) प्रक्रिया कौमुदी, (ख) कालनिर्णय-दीपिका तथा (ग, वैष्णव सिद्धान्त दीपिका, इन्होंने अपने ज्येष्ठ पितृव्य गोपालाचार्य तथा पिता कृष्णाचार्य से शास्त्रों का अध्ययन किया था। ये दोनो इनके गुरु थे।

(५) नृसिंह—रामचन्द्र के पुत्र, इनके गुरु पितृव्यपुत्र कृष्ण थे। पिता के 'काल-निर्णयदीपिका' के ऊपर 'विवरण' नामक व्याख्यान लिखा जिसमे गुरु कृष्ण की अनुकम्पा से विद्या से अभ्यास तथा विवरण के लिखने का वर्णन है।

(६) विट्ठल—नृसिंह के पुत्र, प्रक्रिया कौमुदी की वृत्ति 'प्रसाद'[1] नाम्नी लिखी तथा अपने पितामह के वैष्णव मत विषयक ग्रन्थ वैष्णव सिद्धान्त दीपिका' के ऊपर 'न्यायस्नेह प्रपूरणी' नामक व्याख्या रची[2]। इन्होंने अपने गुरुओं का नाम-निर्देश तथा संक्षिप्त परिचय टीका के अन्त मे दिया है—(क) यतिवर राघव जिन्होंने वादीन्द्रों को परास्त कर अद्वैतमत की स्थापना की तथा भाष्यादिकों का सत्कार किया। ख) विट्ठलाचार्य गुरु के पुत्र अनन्त, (ग) गोपाल गुरु के पुत्र आचार्य बुध-रामचन्द्र, (घ ङ) कृष्ण गुरु के पुत्र रामेश्वराचार्य तथा नागनाथ, (च) वेदान्त निष्णात यतिवर जगन्नाथाश्रम।

प्रक्रिया-कौमुदी का रचनाकाल

ग्रंथकार के रचनाकाल का निर्देश स्वयं नहीं किया, परन्तु बाह्य साधनों से निर्माण-काल की अवगति होती है। विट्ठल के 'प्रक्रिया-कौमुदी प्रकाश' का सर्वप्राचीन हस्तलेख १५३६ वि० सं० (१४८० ई०) का है। विट्ठल को इस तिथि से प्राचीन होना चाहिये (लगभग १४२५ ई०) तथा उनके पितामह रामचन्द्र का उनसे लगभग

---

१ प्रक्रिया कौमुदी प्रसाद टीका के साथ म० पण्डित कमलाशङ्कर प्राणशङ्कर त्रिवेदी, बाम्बे संस्कृत सीरीज सं० ८२, दो भागों में प्रकाशित १९२५ (प्रथम भाग) तथा १९३१ (द्वितीय भाग) बम्बई।

२ द्रष्टव्य—प्रसाद का द्वितीय खण्ड, पृ० ४ (वही प्रकाशन)।

पच्चास वर्ष पूर्व होना चाहिये (१३७५ ई०)। प्रक्रिया कौमुदी के उत्तरार्द्ध के सर्वप्राचीन कीटदष्ट हस्तलेखका काल १४९३ संवत् (अर्थात् १४३७ ई०) है। फलतः रामचन्द्र का समय चतुर्दश शती का उत्तरार्ध मानना उचित प्रतीत होता है (१३५० ई०–१४०० ई० लगभग)। रामचन्द्राचार्य का 'काल निर्णय दीपिका' ग्रंथ माधवाचार्य के 'काल-निर्णय' का संक्षिप्तसार प्रस्तुत करता है। ये माधवाचार्य वेदभाष्य के कर्ता सायण के अग्रज हैं—बुक्कराय प्रथम (१३५० ई०–१३७९ ई०) के प्रधानामात्य। इस तथ्य से भी पूर्व निर्दिष्ट समय-सीमा की पुष्टि होती है।

प्रक्रिया-कौमुदी

प्रक्रिया-कौमुदी के दो भाग हैं—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में सुबन्त शब्दों के ज्ञान के लिए क्रम से संज्ञा, सन्धि, स्वादि, स्त्री प्रत्यय, विभक्त्यर्थ, समास तथा तद्धित का वर्णन है। उत्तरार्द्ध में तिङन्तों का विवरण है जिसमें भ्वादि दशगणीय धातु, ण्यन्तादि धातु तथा कृत् प्रत्ययों का क्रमशः विवेचन किया गया है। रूप की सिद्धि के लिए आवश्यक तथा उपादेय सूत्रों का यहाँ प्रति-प्रकरण में संकलन है तथा लघुवृत्ति के साथ उचित दृष्टान्त दिये गये हैं। वैदिक शब्द के साधक सूत्रों का यहाँ सर्वथा सद्भाव है। रामचन्द्र वैष्णव मतानुयायी थे। फलतः उदाहरणों में सर्वत्र वैष्णवता का पुट है। रूपावतार तथा काशिका में 'इकोयणचि' सूत्र के उदाहरण 'दध्यत्र' तथा 'मध्वत्र' दिये गए हैं। वहाँ इस ग्रन्थ में 'सुद्ध्युपास्यः' तथा 'मध्वरिः' दृष्टान्त दिये गए हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी वैष्णव-मतानुयायी उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। रूपावतार में अजन्त पुल्लिंग 'वृक्ष' के स्थान पर प्रक्रिया कौमुदी 'राम' शब्द का प्रस्तुत करती है। 'सिद्धान्त कौमुदी' में इन उदाहरणों को ही मुख्यतया स्थान दिया गया है। रामचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में महाभाष्य तथा काशिका के कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं। वहाँ सूत्र १।१।१० तथा १।३।२ की व्याख्या के अवसर पर रूपावतार के भी श्लोक दिये गये हैं। प्रक्रिया-शैली का प्राचीन प्रौढ़ ग्रन्थ होने से प्रक्रिया-कौमुदी का माहात्म्य स्पष्ट है। भट्टोजि दीक्षित ने यहीं से स्फूर्ति तथा प्रेरणा लेकर अपनी 'सिद्धान्त कौमुदी' का निर्माण किया। यह तथ्य दोनों ग्रन्थों की तुलना से नितान्त स्पष्ट हो जाता है।

टीकायें

प्रक्रिया-कौमुदी की टीका-सम्पत्ति पर्याप्त रूपेण समृद्ध है।

---

१. प्रक्रिया-कौमुदी का सम्करण प्रसाद टीका के साथ के० पी० त्रिवेदी ने किया है। बाम्बे संस्कृत सीरीज नं० ८५, बम्बई, १९२५-१९३१।

(क) प्रक्रिया-प्रसाद—इसके रचयिता ग्रन्थकार के पौत्र विट्ठलाचार्य हैं। समय १४५० ई० के आस-पास। संक्षेप करने के कारण आवश्यक होने पर भी परित्यक्त सहस्र से अधिक सूत्रों की यहां व्याख्या देकर मूल ग्रन्थ को पुष्ट तथा पूर्ण बनाने का श्लाघनीय प्रयास है। इसलिए यह टीका पर्याप्तरूपेण विपुल है। प्रतीत होता है कि इनसे पूर्व भी किसी ने व्याख्या लिखी थी जिसमें प्रक्षेपों द्वारा मलिनीकृत मूल के उद्धारार्थ इस 'प्रसाद' टीका का उद्देश्य है[1]।

(ख) प्रक्रिया-प्रकाश—शेष वंश के प्रख्यात विद्वान् शेषकृष्ण ने इस विस्तृत टीका का प्रणयन किया है। ये अकबर के समकालीन थे। अकबर के प्रसिद्ध मन्त्री बीरबर (बीरबल) के आदेश से उन्हीं के 'कल्याण' नामक पुत्र को व्याकरण सिखाने के लिए इन्होंने यह व्याख्या लिखी। इसका परिचय टीका के आरम्भिक पद्यों से चलता है। शेष नृसिंह के आत्मज शेषकृष्ण १६ वीं शती के वैयाकरणों में मुख्य थे। भट्टोजिदीक्षित इन्हीं से व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन किया था। शेष-श्री कृष्ण ने इसके आरम्भ में अपने आश्रयदाता राजा बीरबल (बादशाह अकबर के सभा-सचिव) का पूरा वंशवृक्ष तथा ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है। बीरबल का यह विवरण समसामयिक व्यक्ति के द्वारा निर्दिष्ट होने से प्रामाणिक है। ब्रह्मावर्त के 'पत्रपुञ्ज' (पटौंजा) नामक ग्राम में ब्राह्मण वंश में उनका जन्म हुआ था। बीरबल के पितामह का नाम महाराजा रूपधर, तथा पिता का महाराज गङ्गादास। यह ब्राह्मणवंश राजा की पदवी धारण करता था। राजा बीरबल अकबर बादशाह के मन्त्री तथा उपदेष्टा के रूप में विख्यात हैं। वह रूप यथार्थ है जो यहां उनकी विरुदावलि से सुस्पष्ट है[1]। फलतः बीरबल को ब्रह्मभट्ट वंश में उत्पन्न मानने की जो प्रथा आजकल प्रचलित है वह नितान्त दूषित तथा अप्रामाणिक है। बीरबल के पुत्र कल्याणमल्ल अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि तथा स्वभावतः व्याकरण के प्रेमी थे। इन्हें ही पाणिनि की शिक्षा देने के लिए राजा बीरबल के द्वारा आदिष्ट होकर शेष श्रीकृष्ण ने प्रक्रिया कौमुदी की यह पाण्डित्य-मण्डित व्याख्या लिखी 'प्रक्रिया-प्रकाश' नाम्नी।

---

१ कामो वामदृशां निधिर्नयजुषां कालानलो विद्विषां
स्वः शाखी विदुषां गुरुर्गुणवतां पार्थो धनुर्धारिणाम्।
लीलावासगृहं कलाकुलभुवां कर्णः सुवर्णार्थिनां
श्रीमान् बीरवरः क्षितीश्वरवरो वर्वर्ति सर्वोपरि॥

—आरम्भ का २१ श्लोक।

नामसाम्य कितना भ्रामक होता है। प्रक्रिया कौमुदी के व्याख्याकार शेष कृष्ण के पिता का नाम नृसिंह था। उधर प्रक्रिया-कौमुदी के कर्ता के भ्रातुष्पुत्र का भी नाम कृष्ण ही था। इस नामसमता से डा० रामकृष्ण भण्डारकर को भ्रम हो जाना स्वाभाविक ही है कि दोनो एक ही थे, परन्तु वस्तुत दोनो भिन्न भिन्न व्यक्ति थे। इसके कतिपय प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

(१) भट्टोजिदीक्षित ने अपने 'प्रौढमनोरमा' मे विट्ठल तथा कृष्ण के मतो का स्थान-स्थान पर खण्डन किया। वे विट्ठल को यदाकदा 'तत्पौत्र' अर्थात रामचन्द्र का पौत्र कहते हैं, परन्तु कृष्ण को कभी भी तद्भ्रातीय या तद्भ्रातुष्पुत्र नहीं कहते। कभी प्राच्, कभी व्याख्यातर आदि शब्द ही कृष्ण के लिए प्रयुक्त हैं।

(२) श्रीकृष्ण ने 'प्रक्रिया प्रकाश' मे विट्ठल के मत का खण्डन किया हैं और उस अवसर पर उनके लिए 'प्राच' (प्राचीन) शब्द का प्रयोग किया है। यह असम्भव सी बात है, क्योकि विट्ठल कृष्ण के पितृव्य के पौत्र थे—अवस्था मे उनसे छोटे थे। अत प्रक्रियाप्रकाश के कर्ता विट्ठल के सम्बन्धी नही थे।

(३) 'कालनिर्णय दीपिका-निवरण' के अन्त मे विट्ठल के पिता नृसिंह ने कृष्णाचार्य को अपना गुरु बतलाया है तथा उन्हें काव्यो की टीका लिखने वाला कहा है। यदि प्रक्रिया प्रकाश वाले कृष्ण यही कृष्णाचार्य होते, तो उनके इस महनीय ग्रंथ का यहां उल्लेख अवश्य किया गया होना।

(४) दोनो के देशकाल मे भी पर्याप्त पार्थक्य है। रामचन्द्र के भ्रातृष्पुत्र कृष्ण आन्ध्रदेशीय तथा १५ वी शती के ग्रंथकार थे। उधर प्रक्रिया-प्रकाश के प्रणेता कृष्ण महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थ तथा वीरबल के पुत्र के शिक्षणार्थ इस ग्रंथ की रचना के कारण १६ वी शती के व्यक्ति थे।

फलत ये दोनों विभिन्न व्यक्ति थे।

कृष्ण शेषकुल मे उत्पन्न हुए थे और इसलिए वे शेष कृष्ण अथवा कृष्ण शेष के नाम से विख्यात थे। व्याकरण के अतिरिक्त काव्य-नाटक के निर्माण मे भी वे नितान्त दक्ष थे। उनकी कतिपय रचनायें ये हैं—

(क) **कंसवध (नाटक)** इस नाटक के रचयिता कृष्ण को डा० औफ्रेक्ट ने अपनी वृहत् ग्रंथ सूची मे प्रक्रिया-प्रकाश के प्रणेता से भिन्न माना है। परन्तु इस नाटक की अन्त परीक्षा दोनो की अभिन्नता की साधिका है। व्याकरण की महिमा का प्रशंसक यह पद्य दोनो ग्रंथों मे मिलता है—

रसालकार-सारापि वाणी व्याकरणोज्झिता।
श्वित्रोपहत-गात्रेव न रञ्जयति सज्जनान्[1]॥

नाटककार अपने को वैयाकरण लिखने में गौरव का अनुभव करता है—'आर्य भूषणमेतत् न दूषण कवीना व्याकरण-कोविदता' इति (कमवध, पृष्ट ७)।

(ख) परिजात-हरण चम्पू, (ग) शब्दालंकार, (घ) पदचन्द्रिका, (ङ) कृष्ण कौतूहल (पद चन्द्रिका का विवरण)।

(च) प्रक्रिया प्रकाश—यह प्रक्रियाकौमुदी की विपलार्था विस्तृत व्याख्या है। प्रक्रियाकौमुदी की लोकप्रियता का अनुमान इसी घटना से लगाया जा सकता है कि राजा वीरबल ने अपने पुत्र के शिक्षण के लिए इसी ग्रन्थ को चुना और टीका लिखने के लिए शेष कृष्ण से प्रार्थना की। विठ्ठल के 'प्रक्रिया-प्रसाद' के बहुस्थलों पर खण्डन करने पर भी प्रक्रिया प्रकाश 'प्रसाद' से प्रभावित है। विठ्ठल अपने सौजन्य दिखलाने से कभी नही चूकते। उधर शेष कृष्ण औद्धत्य का प्रदर्शन करते हैं।

प्रक्रिया-कौमुदी का वैशिष्टय

प्रक्रिया कौमुदी का लक्ष्य लोक व्यवहार में प्रयुक्त शब्दों का साधुता की परीक्षण है। लक्ष्यैकचक्षुष्क होना वैयाकरणों के लिए भूषण ही नहीं है प्रत्युत नितान्त आवश्यक भी है। फलत रामचन्द्राचार्य ने एक सौ से अधिक अपाणिनीय—पाणिनीय सूत्र से अव्याख्यात, परन्तु लोक में व्यवहृत-प्रयोगों को सिद्ध करने के लिए सुन्दर व्यवस्था की है। इसीलिए मुनित्रय के अतिरिक्त वैयाकरणों की भी प्रमाणता उन्हें स्वीकृत है—विशेषत कातन्त्र व्याकरण का तथा वोपदेव रचित मुग्धबोध व्याकरण का। रामचन्द्र के ऊपर वोपदेव का प्रभाव शब्दों की सिद्धि के विषय में अपाणिनीय वैयाकरणों में सर्वाधिक लक्षित होता है। इस विषय में दो चार उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(१) इन्द्रवाचक तुरासाह् शब्द की सिद्धि पाणिनितन्त्र में ण्विप्रत्यय से वेद में ही मान्य है (छन्दसि सह ३।२।२५ सूत्रानुसार)। परन्तु प्रक्रिया कौमुदी इसे लोक में भी मान्यता देती है और इस विषय में कातन्त्र तथा मुग्धबोध का ही प्रामाण्य उसे प्राप्त नहीं है, प्रत्युत कवि-प्रयोग[2] भी उसे साहाय्य देता है।

---

१ यह श्लोक कंसवध (काव्यमाला में प्रकाशित) के पृष्ट ७ पर है। प्रक्रिया-प्रकाश की आदिम प्रस्तावना का यह ३४ वाँ श्लोक है। 'कंसवध' का अभिनय बादशाह अकबर के प्रख्यात मन्त्री ताडरमल (टोडरमल) के पुत्र गिरिधारी या गोवर्धनधारी के सामने किया गया था।

२ (क) तुरासाह पुरोधाय धाम स्वायम्भुव ययु। (कुमारसम्भव, २।१)।

(ख) धरातुरासाहि मदर्थयाच्ञा
कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते (नैषध ३।८७)।

(२) 'पृष्ठवाह' शब्द की सिद्धि 'वहश्च' (३।२।६८) सूत्र से ण्विविधान से होती है, परन्तु 'छन्दसि सह' (३।२।२५) से छन्दसि की अनुवृत्ति होने से यह भी वेदमें ही मान्य है, परन्तु प्रक्रिया-कौमुदी किसी के मत से इसे लोक मे भी मान्यता देती है। इस तथ्य के निर्णय मे वह मुग्धबोध की मान्यता स्वीकार करती है (टाव्-भज-वह सहो विण् (१०२८) सूत्र को, जो लोक मे भी इस पद को सिद्ध करता है। लोक मे इसका प्रयोग भी होता है[1]।

(३) 'कुत्सित पन्था' इस विग्रह मे 'वा पथ्यक्षयो ६।३।१०४) सूत्रानुसार पाणिनि-नय मे 'कापथ' ही सिद्ध होता है। परन्तु आचार्य रामचन्द्र कहते हैं— कुपथोऽपीति केचित्। यहाँ केचित पद द्वारा मुग्धबोध की ओर सकेत है, जहाँ 'पथि पुरुषे वा' सूत्र (४१०) द्वारा यह पद (कुप') सिद्ध होता है। भागवत तथा महाभारत इस शब्द को प्रयोग मे भी लाते है[2]।

इसी प्रकार रामचन्द्राचार्य मुग्धबोध के अनुसार (४) 'पद्मगन्धि के साथ ही साथ 'पद्मगन्ध' को मान्यता देते हैं तथा 'घृतगन्धि' (घृतमल्प यस्मिन् भोजने तत् 'घृतगन्धि भोजनम, अल्पाख्यायाम् (५।४।१३६ सूत्रानुसार) के साथ (५) धृतगन्ध' शब्द को भी समर्थन देते हैं[3]।

निष्कर्ष यह है कि रामचन्द्राचार्य ने पाणिनि से विभिन्न वैयाकरणो का भी मत प्रक्रिया-कौमुदी मे संगृहीत कर लिया है—लोकव्यवहार को दृष्टि मे रखकर। और इसके लिए उन्होंने सूत्रो तथा वार्तिको मे नवीन शब्द का सन्निवेश भो रख दिया है जो प्राचीन आर्यों के मत से विरुद्ध भी पडता है। महाभाष्य तथा काशिका उभय ग्रन्थो से 'प्राद् हो ढो ठ्येष्येपु' यही वार्तिक का स्वरूप है, परन्तु प्रक्रिया कौमुदी म यहाँ 'ऊह' शब्द भी पठित है जिससे 'प्रौह' पद की निष्पत्ति होती है। इसके ऊपर प्रक्रिया प्रसाद के कर्ता विट्ठल का कथन है--अन्यमतोपसंग्रहार्थं वार्तिक-मध्य ऊह-

---

१ (क) पृष्ठवाड् युगपार्श्वग (अमरकोश २।३।९)।
(ख) दारक पृष्ठवाह तु कृत्वा केशव ईश्वर

(हरिवश, भविष्यपर्व ५।१।३१)।

२ कुपथपाखण्डमसमञ्जस निजमनीषया मन्द सप्रवर्तयिष्यते ॥

(भागवत ५।६।१०)

३ ऐसे पदों के रूप तथा सिद्धि के लिए द्रष्टव्य डा० आद्याप्रसाद मिश्र— प्रक्रिया-कौमुदी-विमर्श (पृष्ठ ८६–११४, प्र० संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, स० २०२३)।

शब्दस्य प्रक्षेपः 'प्रौढ़' इत्युदाहरणं च। यहाँ बोपदेव के मत का संग्रह किया गया है। ऐसे उदाहरण न्यून हैं, परन्तु उनकी सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। प्रक्रिया-कौमुदी को इसीलिए विट्ठल 'स्वपरमतयुतां प्रक्रिया-कौमुदीं ताम्' कहते हैं। रामचन्द्र का यह पाणिनितन्त्र में अन्यतन्त्र-सिद्ध मतों का सन्निवेश उनका भट्टोजि-दीक्षित से स्पष्ट पार्थक्य सिद्ध कर रहा है।

शेष श्रीकृष्ण

शेष वंशावतंस श्रीकृष्ण नृसिंह के पुत्र थे। उन्होंने प्रक्रिया-कौमुदी पर 'प्रकाश'[1] नाम्नी व्याख्या लिखी। यह व्याख्या बड़ी विशद तथा विस्तृत है। इसमें विट्ठल-रचित प्रसाद का भी स्थान स्थान पर खण्डन है। परन्तु शेषकृष्ण ने प्रक्रिया-कौमुदी की अपनी वृत्ति को 'सत् प्रक्रिया व्याकृत' नाम दिया है, परन्तु वह 'प्रकाश' के नाम से विशेष प्रख्यात है। भट्टोजिदीक्षित इन्हीं शेषकृष्ण के व्याकरणशास्त्र में शिष्य थे, तथापि अपनी प्रौढमनोरमा में, प्रक्रियाप्रकाश में उपन्यस्त मत के खण्डन करने से वे कथमपि पराङ्मुख नहीं हुए। ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ दीक्षित ने श्रीकृष्ण शेष के मत का खण्डन अपने ग्रन्थों में किया है।[2] पण्डितराज जगन्नाथ ने शेषकृष्ण के पुत्र शेष वीरेश्वर से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था। अतएव अपने गुरु के पूज्य पिता के ग्रन्थ में भट्टोजि दीक्षित के द्वारा प्रदर्शित दोषों की कल्पना उनके लिए असह्य हो उठी और इसीलिए उन्हें बाध्य होकर मनोरमा का खण्डन लिखना पड़ा था। इस प्रकार शिष्य के हाथों गुरु के मतखण्डन को महान् अपराध मानकर पण्डितराज जगन्नाथ ने दीक्षित को 'गुरुद्रोही' की अपमानजनक उपाधि से मण्डित किया और 'मनोरमा कुच-मर्दन' नामक अपने वैयाकरण ग्रन्थ में उन्होंने शेषकृष्ण के मूल आशय को प्रकट कर उसका मण्डन तथा दीक्षित के प्रत्याख्यानों का खण्डन बड़ी ही प्रौढ़ता से किया। कृष्णशेष के पौत्र तथा वीरेश्वर के पुत्र 'चक्रपाणिदत्त' ने 'प्रौढ मनोरमा-खण्डन' लिख कर प्रक्रिया-प्रकाश के दूषणों का प्रत्याख्यान पूर्व ही किया था। इन्होंने 'प्रक्रिया-प्रदीप' नामक अन्य ग्रन्थ भी बनाया था।

प्रक्रिया-कौमुदी के ये दो महनीय व्याख्यायें हैं। इनके अतिरिक्त जयन्त कृत 'तत्त्वचन्द्र' (प्रक्रिया-प्रकाश के आधार पर), वारणवनेश रचित 'अमृतसृति', विश्वनाथ

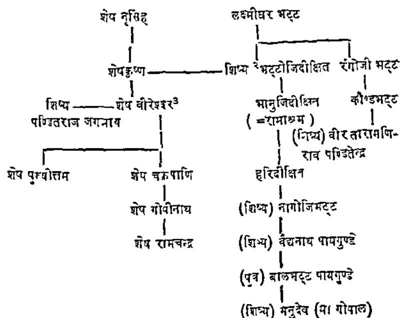
---

१. यह टीका सम्पूर्ण विश्वविद्यालय वाराणसी से सम्प्रति मुद्रित हो रही है।

२. द्रष्टव्य इन खण्डन-मण्डनों के लिए डा० के० पी० त्रिवेदी की प्रक्रिया-कौमुदी की प्रस्तावना पृ० ३४-३५, आद्याप्रसाद मिश्र—प्रक्रिया कौमुदी-विमर्श (तृतीय परिच्छेद, पृ० ४५-८५)।

शास्त्री रचित 'सत्-क्रिया व्याकृति', विश्वनाथ दीक्षित-कृत 'प्रक्रिया रञ्जन' आदि टीकाएं[1] हस्तलेखों में ही उपलब्ध हैं। इनसे ग्रन्थ की विपुल प्रसिद्धि की स्पष्ट सूचना मिलती है।

शेषकृष्ण तथा भट्टोजिदीक्षित का वंशवृक्ष



भट्टोजिदीक्षित

सिद्धान्त कौमुदी के यशस्वी प्रणेता भट्टजीदीक्षित मूलत आन्ध्र देश के निवासी थे। उन्होंने तथा उनके भ्रातुष्पुत्र ने अपने ग्रन्थ मे 'कालहस्तीश्वर' की वन्दना की

---

१. द्रष्टव्य—पूर्व ग्रन्थ पृ० १२९-१३०।

२ इह केचित् (भट्टोजिदीक्षिता) शेष वंशावतंसाना श्रीकृष्ण पण्डिताना चिरार्जितयो पादुकयो प्रसादासादितशब्दानुशासना.। तेषु च पारमेश्वर पद प्रयातेषु तत्रभवद्भिरल्लाक्षित प्रक्रियाप्रकाश-......दूषणे स्वय निर्मितायां मनोरमायामाकुल्यकार्षु ।

३ सा (मनोरमा) च प्रक्रिया-प्रकाशकृता पौत्रै ...... अस्मद्गुरु पण्डितवीरेश्वराणा तनयैर्दूषिताऽपि स्वमति-परीक्षार्थं पुनरस्माभिर्निरीक्ष्यते।

—'मनोरमाकुचमर्दन, का उपोद्घात।

है। यह देवस्थान मद्रास के चित्तुर जिले में है। ये तैलंग ब्राह्मण थे, महाराष्ट्रीय नहीं। इनके कुल को व्याकरणशास्त्र के पारगत विद्वानों को उत्पन्न करने का श्रेय प्राप्त है। इनके पिता का नाम था लक्ष्मीधर भट्ट, भ्राता का रंगोजीभट्ट, पुत्र का भानुजिदीक्षित (सन्यासाश्रम का नाम 'रामाश्रम'), भ्रातुष्पुत्र का कौण्डभट्ट तथा पौत्र का हरिदीक्षित। भट्टोजिदीक्षित ने व्याकरण और धर्मशास्त्र का अध्ययन किया प्रक्रियाकौमुदी व्याख्याकार शेष-कृष्ण से, वेदान्त का नृसिंहाश्रम से (जिनकी 'तत्त्वविवेक' टीका पर स्वयं 'विवरण' नाम्नी टीका लिखी) तथा मीमांसा का अप्पयदीक्षित से (दक्षिण भारत के भ्रमण अवसर पर)। इन्होंने वेदान्त तथा धर्मशास्त्र के विषय में अनेक ग्रन्थों—मौलिक तथा टीका ग्रंथ—का प्रणयन किया, परन्तु वैयाकरण-रूप में ही इनकी प्रसिद्धि लोकविश्रुत हुई। काशी में ही इन्होंने अपने नाना ग्रंथों का प्रणयन सिद्धान्त-कौमुदी से पूर्व ही किया। इन्होंने अष्टाध्यायी की व्याख्या 'शब्दकौस्तुभ' के नाम से रची थी जो अधूरी ही मिलती है—आरम्भ से अढाई अध्याय तथा पांच का चतुर्थ अध्याय। भट्टोजिदीक्षित ने स्वयं 'प्रौढमनोरमा' नाम से कौमुदी की प्रथम व्याख्या लिखी। वे खण्डन-रसिक पण्डित थे। इसलिए न्यास, पदमञ्जरी तथा काशिका का उनका खण्डन आश्चर्य में विद्वानों को उतना नहीं डालता, जितना डालता है अपने ही गुरुवर्य शेषकृष्ण के प्रक्रियाप्रकाश-स्थित मतों का प्रौढ मनोरमा में पदे-पदे प्रचुर खण्डन। वे वैयाकरणों के मतों के खण्डन में बद्धादर थे। तभी तो वे कहते हैं[1] कि कैयट से लेकर आज तक के विद्वानों के ग्रन्थ शिथिल ही हैं। दीक्षित का व्याकरण शास्त्र का वैदुष्य नितांत स्पृहणीय तथा आदरणीय था—इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। इनकी सिद्धांत कौमुदी के अध्ययन की अखिल भारतीय परम्परा रही है और आज भी है।

भट्टोजि दीक्षित के आविर्भावकाल के विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है, परन्तु हस्तलेखों के आधार पर उनका समय निर्णीत किया जा सकता है। काशी के अद्वैत वेदान्त के प्रौढ तथा प्रचुर लेखक नृसिंहाश्रम भट्टोजिदीक्षित के गुरु थे। इन्होंने १५४७ ई० में अपना दार्शनिक ग्रन्थ 'वेदान्त-तत्त्व विवेक,[2] (या तत्त्व-विवेक) तथा अगले वर्ष उस पर स्वोपज्ञ व्याख्यान 'दीपन' का निर्माण किया। इस दीपन पर व्याख्या लिखी भट्टोजिदीक्षित ने जिसका नाम 'वाक्य माला' या 'दीपन-व्याख्या'

---

१. तस्मात् कैयट-प्रभृति अर्वाचीनपर्यन्त सर्वेषा ग्रन्था इह शिथिला एवेति स्थितम—प्रौढमनोरमा, उत्तर भाग पृष्ठ ७४२।

२. अब्दे बेद-वियद्रसेन्दुगणिते पौषासिते श्रादिते।
रक्षोनाम्नि पुरुषोत्तमपुरे ग्रन्थं मुदाऽस्वीकरत्॥
(भण्डारकर शो० स० का हस्तलेख)।

अथवा 'तत्त्वविवेक टीका-विवरण' है। भट्टोजिदीक्षित के शिष्य नीलकण्ठ शुक्ल ने १६९३ विक्रमी में (= १६३७ ई०) में शब्दशोभा नामक अपना व्याकरण-शास्त्र-सम्मत ग्रंथ लिखा। इन्हीं दोनों सवतों के बीच दीक्षित का समय होना चाहिये। वत्सराज ने 'वाराणसी-दर्शन प्रकाशिका' नामक व्याख्या-सहित मूल ग्रन्थ का प्रणयन सवत १६९८ (=१६४२) ई० मे किया। इसके आरम्भ मे उन्होंने अपने गुरु रामाश्रम तथा उनके पूज्य पिता भट्टोजिदीक्षित का उल्लेख किया है। नीलकठ शुक्ल-कृत निर्देश इससे पाँच वर्ष पहिले ही है। इनके 'शब्द-कौस्तुभ' का एक हस्तलेख १६३३ ई० का बगाल हस्तलेख सूचीपत्र में हरप्रसाद शास्त्री ने उल्लिखित किया है। फलत दीक्षित का समय इससे पूर्व होना चाहिये। इसलिए उनका समय लगभग १५६० ई०-१६१० ई० के बीच मानना प्रमाण पुर सर प्रतीत होता है।

भट्टोजिदीक्षित के ग्रन्थ

भट्टोजिदीक्षित ने व्याकरण के अतिरिक्त धर्मशास्त्र तथा वेदान्त के विषय में ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनके रचित ग्रन्थो की सख्या लगभग चौतीस है, परन्तु इन सब ग्रन्थो के दीक्षितकर्तृत्व होने की मीमासा अभी यथार्थतः नहीं हुई। अत. इनके विषय मे अभी सन्देह है। धर्मशास्त्र के विषय मे उनके नि सदिग्ध ग्रन्थो के हस्तलेख उपलब्ध होते है[1]—आशौच-प्रकरण (हस्तलेख १७२० स०=१६६४ ई०), तिथि निर्णय (हस्तलेख १८१० वि०=१७५४ ई०), त्रिस्थली-सेतु (हस्तलेख १७३२ विक्रमी=१६७६ ई०)। वेदान्त के विषय में इनके ग्रन्थ हैं (क) वेदान्ततत्त्व-कौस्तुभ या तत्त्वकौस्तुभ। इसके आरम्भ मे केलदी-नरेश वेंकट के आदेश से इसकी रचना का सकेत दिया गया है[2]। (ख) दीपनव्याख्या या तत्त्वविवेक टीका-विवरण—नृसिंहाश्रम ने १६०४ विक्रम सवत् (१५४७ ई०) मे वेदान्ततत्त्व-विवेक तथा उसकी टीका 'दीपन' का प्रणयन किया था। उसी पर भट्टोजिदीक्षित की यह टीका है। (ग) अद्वैत-कौस्तुभ। क्या ऊपर निर्दिष्ट 'वेदान्ततत्त्व कौस्तुभ' अभिन्न है? (घ) तत्त्व-सिद्धान्त-चन्द्रिका। विविध विषय—(१) तन्त्राधिकार-निर्णय—इसमे पाञ्चरात्र के प्रामाण्य तथा अधिकार का विचार किया गया है। इसमे भट्टोजि ने अपने को 'अद्वैतसिद्धान्त-प्रतिष्ठापक' तथा 'श्रौतस्मार्त-सत् सम्प्रदाय

१ धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों के नाम के लिए द्रष्टव्य—गोपीनाथ कविराज रचित 'भारतीय की सारस्वत साधना', पृ० ४८-४९ (प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९६२)।

२ केलदीवेङ्कटेन्द्रस्य निदेशाद् विदुषा मुदे।
स्वान्तोच्छित्त्यै पटुतरस्तन्यते तत्त्वकौस्तुभ ॥

प्रवर्तक' कहा है कि जिससे उनकी अद्वैतनिष्ठा तथा धार्मिक आस्था का पूरा संकेत मिलता है। (२) वेदभाष्य-सार—इस अपूर्व पुस्तक की एक ही हस्तलिखित प्रति मिलती है जिसमे वेद के कुछ मन्त्रो का सायणाश्रित भाष्य है[1]। (३) तत्त्व-सिद्धान्त-दीपका तथा (४) तैत्तिरीयसन्ध्या भाष्य। भट्टोजिदीक्षित के विषय में यह किंवदन्ती है कि इन्होने तीर्थयात्रा तथा विद्याग्रहण करने के लिये दक्षिण भारत की यात्रा की थी। वहाँ जाकर इन्होने अप्पयदीक्षित से वेदान्त तथा मीमांसा का अध्ययन किया था। उस समय अप्पयदीक्षित के संरक्षक वेंकटपति थे जिससे अप्पय ने भट्टोजि का परिचय करा दिया। प्रसिद्धि है कि वेंकटपति के अनुरोध पर भट्टोजि ने एक ग्रन्थ वेदान्त पर तथा एक मीमांसा पर रचा था। वेदान्तवाला ग्रन्थ तो निश्चयेन वेदान्त-तत्त्व कौस्तुभ है, पर मीमांसावाले ग्रन्थ का पता नहीं। तन्त्रसिद्धान्त में भट्टोजि ने अप्पयदीक्षित को गुरुरूप मे नमस्कार किया है—

अप्पय्यदीक्षितेन्द्रान् अशेषविद्यागुरूनहं नौमि।
यत्कृति बोधाबोधौ विद्वदविद्वद्विभाजकोपाधी ॥

व्याकरण के विषय मे भट्टोजिदीक्षित के ये ग्रन्थ प्रख्यात है—(१) शब्द-कौस्तुभ, (२) सिद्धान्तकौमुदी, (३) प्रौढ मनोरमा, (४) धातुपाठनिर्णय तथा (५) लिङ्गानुशासन वृत्ति प्रथम तीन ग्रन्थ दीक्षित की शास्त्रीय वैदुषी के स्तम्भ-स्थानीय हैं। शब्दकौस्तुभ का उल्लेख सिद्धान्त-कौमुदी के अन्त मे (उत्तर वृत्तान्त) किया गया है। अत यह सिद्धान्त कौमुदी के निर्माण से प्रथम ही विरचित हो गया था। शब्दकौस्तुभ व्याकरण शास्त्र का बड़ा ही प्रौढ तथा व्यापक ग्रन्थ है। दुःख है कि यह ग्रन्थ तृतीय अध्याय चतुर्थ आह्निक तक ही लिखा गया था। है यह अष्टाध्यायी की विस्तृत वृत्ति, परन्तु महाभाष्य मे प्रतिपाद्य विषयों का भी समीक्षण तथा परिबृंहण करने के कारण यह महाभाष्य का भी विवेचक माना जा सकता है। इसके विषय में दीक्षित स्वयं लिखते हैं कि महाभाष्यरूपी समुद्र से उद्धृत किया गया यह कौस्तुभ है (फणिभाषित भाष्याब्धे शब्दकौस्तुभ उद्धृत)। फलत दीक्षित जी स्वयं इस ग्रन्थ को महाभाष्य के सिद्धान्तों का निचोड मानते थे।

सिद्धान्त कौमुदी का विवरण आगे दिया गया है। भट्टोजि ने अपनी इस मौलिक कौमुदी पर प्रौढमनोरमा नाम्नी विशद-विस्तृत व्याख्या रची। मनोरमा में खण्डन-मण्डन का प्रचुर्य है, महाभाष्य के ऊपर ग्रन्थकार की भूयसी आस्था है। फलत उसी

---

१ माधवाचार्य रचितात् वेदभाष्यमहार्णवात्।
श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितेन सार उद्ध्रियतेऽधुना ॥ —श्लोक २।

के केन्द्रविन्दु से वे अपने व्याकरण गुरु शेषकृष्ण के प्रक्रिया-प्रकाश मे निहित मतो के खण्डन करने से पराङ्मुख नही हुए। शेषकृष्ण के मतों के इस खण्डन से उनके पक्षवाले पण्डितों को क्षुब्ध होना स्वाभाविक है। मनोरमा मे दीक्षित द्वारा उद्भावित दोषों का निराकरण कर प्रक्रिया-प्रकाश की गौरव रक्षा दो विद्वानों ने की—(१) शेषकृष्ण के पौत्र तथा शेष वीरेश्वर के पुत्र शेष चक्रपाणि ने 'परमतखण्डन' लिखकर। (२) तदनन्तर शेषकृष्ण के पुत्र शेष वीरेश्वर के शिष्य पण्डितराज जगन्नाथ ने 'मनोरमा-कुचमर्दन' लिखकर। तथा भट्टोजिदीक्षित के पुत्र भानुजिदीक्षित ने अपने पिता के मतो का फिर समर्थन करते हुए 'मनोरमा-मण्डन' का निर्माण किया। इस प्रकार यह शास्त्रार्थ दोनो ओर से खूब चलता रहा।

सिद्धान्त-कौमुदी

'प्रक्रिया कौमुदी' प्रक्रिया-पद्धति का अनुसरण करने वाला प्राथमिक प्रयास था, इसलिए रामचन्द्राचार्य ने नितान्त आवश्यक सूत्रो के संकलन करने मे ही अपने को सीमित रखा। 'सिद्धान्त-कौमुदी' इस शैली का चूडान्त परिबृंहित अध्यवसाय है, क्योंकि यहाँ अष्टाध्यायी के समग्र सूत्र तत्तत् प्रकरणो में सन्निविष्ट कर दिए गये हैं। पूर्वार्ध मे सुबन्त, समास तथा तद्धित का विवरण है, उत्तरार्ध मे तिङन्त के अन्तर्गत गणानुसारी धातुओं का सकलन, णिजन्तादिकों तथा भागद्वय मे विभक्त कृदन्त का क्रमश प्रतिपादन है। भट्टोजिदीक्षित ने वैदिक तथा स्वर प्रक्रिया को पृथक् प्रकरणों में स्थान दिया है। वैदिकी तो अष्टाध्यायी के अध्यायानुकूल सकलित है, परन्तु स्वर-प्रक्रिया मे यह नियम सर्वांशत. गृहीत नही किया गया है। प्रतीत होता है कि मूल-ग्रन्थ मे केवल लौकिक शब्दो की सिद्धि अभीष्ट रही। फलत उत्तर कृदन्त की समाप्ति के साथ ही कौमुदी की भी समाप्ति है[१]। स्वरवैदिकी की कल्पना अवान्तरकालीन प्रतीत होती है। मूल कौमुदी में सूत्रो की सख्या ३३८६ है, वैदिक प्रक्रिया में २६३ तथा स्वर प्रक्रिया मे ३२१। इस प्रकार समस्त सिद्धान्त-कौमुदी मे ३९७८ सूत्र व्याख्यात है। माहेश्वर सूत्रों को सम्मिलित कर यह सख्या चार सहस्रो के पास तक पहुँच जाती है (तीन सहस्र नौ सौ बानवे=३९९२ सूत्र)। 'स्वरसिद्धान्त चन्द्रिका' के अनुसार सूत्रों की सख्या इससे केवल तीन ही अधिक बतलाई जाती है[२]। फलत 'सिद्धान्त-

१. इत्थं लौकिक-शब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे ॥

२. चतु सहस्री सूत्राणां पञ्चसूत्र-विवर्जिता।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह ॥—श्लोक १५।

कौमुदी' अष्टाध्यायी के समग्र सूत्रों का प्रक्रियानुसारी संकलन है। और यही उसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण है।

सिद्धान्त-कौमुदी के व्याख्याकार

अपने उत्पत्तिकाल से ही सिद्धान्त-कौमुदी ने टीका लिखने के लिए व्याकरण के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। यों तो मूललेखक भट्टोजिदीक्षित ने स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी 'प्रौढमनोरमा', जिसके ऊपर अनेक टीका-प्रटीका उपलब्ध हैं। कौमुदी के ही व्याख्यारूप वृहत् शब्देन्दुशेखर तथा लघुशब्देन्दुशेखर की चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ अन्य टीकाकारों का उल्लेख करना अभीष्ट है।

कौमुदी के सर्वप्राचीन टीकाकार हैं ज्ञानेन्द्र सरस्वती जिनकी तत्त्वबोधिनी टीका प्रौढमनोरमा पर आश्रित होने से विशेष प्रख्यात तथा प्रामाणिक मानी जाती है। ये भट्टोजिदीक्षित के समकालीन माने जाते हैं। फलत इनका समय है लगभग १५८० ई०—१६४० ई०। स्थान काशी। दूसरी लोकप्रिय तथा छात्रोपयोगी व्याख्या है—बालमनोरमा जिनके रचयिता है वासुदेव दीक्षित। महादेव वाजपेयी तथा अन्नपूर्णा के पुत्र थे ये वासुदेव दीक्षित। तंजोर के महाराष्ट्र राजा शाहजी (१६८४ ई०–१७१० ई०) के प्रधानमन्त्री प्रख्यात त्र्यम्बकराय मखी तथा सरफोजी प्रथम तथा तुक्कोजी महाराजाओं के (शासन-समय लगभग १७११ ई०–१७३५ ई०) मुख्य अमात्य आनन्दराय मखी के द्वारा सम्पादित यज्ञों में महादेव वाजपेयी ने अध्वर्यु का कार्य किया था। फलत वासुदेव दीक्षित का समय १८ शती का पूर्वार्ध है (लगभग १७०० ई०–१७६० ई०)। ये वैयाकरण होने के संगमे प्रौढ़ मीमांसक भी थे। इनका ग्रन्थ 'अध्वरमीमांसा-कौतूहलवृत्ति' पूर्वमीमांसा के सूत्रों पर विशाल, विशद तथा परमत-विदूषक व्याख्या होने से नितान्त प्रख्यात है। इनकी कौमुदी-व्याख्या बालमनोरमा बहुत ही उपयोगी, सरल-सुबोध तथा नितान्त लोकप्रिय है। कौमुदी के लगभग बीस टीकाओं का नाम डा० आफ्रेक्ट ने अपने बृहत्पुस्तक-सूची' में दिया है। परन्तु शिवराम की विद्या-विलास नाम्नी व्याख्या भी सिद्धान्त-कौमुदी के ही ऊपर है जिसका निर्देश उन्होंने नहीं किया है। शिवराम का पूरा नाम शिवराम त्रिपाठी था। ये त्रिलोकचन्द्र के पौत्र, कृष्णराज के पुत्र तथा गोविन्दराम, मुकुन्दराम और केशवराम के अग्रज थे। इन्होंने प्राचीन काव्यों पर टीका लिखने के अतिरिक्त नवीन काव्यों की भी रचना की। काव्यप्रकाश की विषमपदी नामक व्याख्या, वासवदत्ता, कादम्बरी तथा दशकुमारचरित की टीकायें, लक्ष्मीनिवासाभिधान नामक उणादि कोश आदि इनके अन्य ग्रन्थ हैं। कौमुदी की टीका का नाम कौमुदी विद्याविलास या केवल विद्याविलास ही है (विद्याविलासः कौमुदी शिवराम-विनिर्मितः)। इसकी अधूरी प्रति उपलब्ध है। इसमें नागेशभट्ट का तथा उनके दोनों

ग्रन्थ शब्देन्दुशेखर तथा पारिभाषेन्दुशेखर का नाम निर्दिष्ट है। फलतः शिवराम त्रिपाठी का समय नागेश से अर्वाक्कालीन है—१८वीं शती का मध्यभाग (लगभग १७२५ ई०–१७७५ ई०)। इन्होंने अपने निर्मित ग्रन्थो का नाम-निर्देश टीका के आरम्भ में किया है[1]। ध्यातव्य है कि निर्दिष्ट नामों में उणादि कोश का ही नाम 'लक्ष्मीनिवासाभिधान' तथा कौमुदीवृत्ति का ही अभिदान 'विद्याविलास' है।

भट्टोजिदीक्षित का परिवार

दीक्षित का परिवार अपनी विद्वत्ताके लिए प्रख्यात था। उसके सदस्यो ने विभिन्न शास्त्रो मे प्रौढ ग्रन्थो की रचना की है जिनका आदर तथा सत्कार आज भी निखिल भारतवर्ष में है। इन सदस्यो का परिचय इस प्रकार है—

(१) रङ्गोजीभट्ट—कोण्डभट्ट ने वैयाकरण-भूषण के आरम्भ में 'पितर रंगोजि भट्टाभिधम्' द्वारा रंगोजिभट्ट को अपना पिता घोषित किया है। 'भट्टोजीदीक्षितमहं पितृव्यं नौमि सिद्धये' कहकर भट्टोजिदीक्षित को अपना पितृव्य घोषित किया है। फलतः भट्टोजिदीक्षित तथा रंगोजीभट्ट दोनों सहोदर भ्राता थे। रंगोजि ने अपने ग्रन्थ 'अद्वैत-चिन्तामणि' के अन्त में भट्टोजिदीक्षित को अपना गुरु लिखा है और यह गुरुत्व भट्टोजिदीक्षित के अनुज होने पर ही उनमे सुसंगत होता है। फलतः रंगोजी कनिष्ठ भ्राता थे, ज्येष्ठ भ्राता मानना उचित नहीं। 'नृसिंहाश्रम' के मतका उल्लेख इस ग्रन्थ मे तीन बार है और तीनों स्थानों पर वे 'गुरुचरण' कहे गये हैं। ग्रन्थ की पुष्पिका मे वे अपने को 'आनन्दाश्रम-चरणारविन्द सेवा-परायण' लिखते हैं।

---

१. इन्होंने अपने निर्मित ग्रन्थों का निर्देश इस टीका के आरम्भ मे किया है—

काव्यानि पञ्चनुतयो युग सम्मितावच,
टीकास्त्रयोदश चैक उणादिकोश।
भूपालभूषणमयो रसरत्नहारो
विद्याविलास इनपूर्व फलाक्षिरब्दे॥
ग्रन्थान् मया विरचितान् परिशीलयन्तु।
शीलान्विताः सुमनसो मनसो मुदे मे॥

द्रष्टव्य—डा० गोडे—स्टडीज् इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री भाग १, पृ० २३७-२४१।

२. वाग्देवी यस्य जिह्वाग्रे नरीनर्ति सदा मुदा।
भट्टोजीभट्टसंज्ञं तं गुरु नौमि निरन्तरम्॥

—अद्वैतचिन्तामणि पृ० ७६।

फलत: रंगोजी इन दोनों स्वामियों के शिष्य थे—नृसिंहाश्रम तो उस युग के प्रौढ वैदुषीसम्पन्न, अद्वैतदीपिका, वेदान्ततत्त्व विवेक, भेदधिक्कार आदि अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों के प्रख्यात लेखक थे जिनके शिष्य होने का गौरव भट्टोजिदीक्षित को भी प्राप्त था। रंगोजीभट्ट अद्वैत वेदान्त के पण्डित थे, क्योंकि इस विषय में इनकी तीन रचनायें उपलब्ध हैं—(१) अद्वैतचिन्तामणि[1] तथा (२) अद्वैतशास्त्र सारोद्धार। अद्वैतचिन्तामणि दो परिच्छेदों में विभक्त है, प्रथम में न्यायवैशेषिक के पदार्थों का विस्तृत खण्डन है तथा द्वितीय में अद्वैत वेदान्त के तत्त्वों का यथाविधि विवरण उपन्यस्त है। (३) ब्रह्मसूत्र-वृत्ति जिसका निर्देश कोण्डभट्ट ने वैयाकरण-भूषण के पृष्ठ ९४ पर किया है (के० पी० त्रिवेदी का संस्करण)।

(२) भानुजिदीक्षित—भट्टोजिदीक्षित के ये पुत्र थे। इनका अपरनाम वीरेश्वर दीक्षित था। सन्यास लेने पर इनका नाम रामाश्रम था। इन्होंने भी ग्रन्थों का प्रणयन किया है जिनमें अमरकोश की टीका व्याख्यासुधा[2] (रामाश्रमी के नाम से ख्यात) विद्वत्ता के कारण बड़ी लोकप्रिय तथा प्रामाणिक मानी जाती है। धर्मशास्त्र-विषय में इनका ग्रन्थ है—दानविवेक तथा व्याकरण में मनोरमामण्डन जिसमे शेष चक्रपाणि के 'परमत-खण्डन' का खण्डन कर भट्टोजिदीक्षित के मत का मण्डन है।

(३) कोण्डभट्ट—रंगोजीभट्ट के पुत्र तथा भट्टोजिदीक्षित के भ्रातुष्पुत्र कोण्डभट्ट ने व्याकरण तथा न्याय वैशेषिक पर ग्रन्थ लिखे हैं—(क) व्याकरण में—वैयाकरण सिद्धान्त-दीपिका, वैयाकरण सिद्धान्तभूषण तथा उसका संक्षेप 'वैयाकरण-सिद्धान्त भूषणसार' और स्फोटवाद। (ख) न्याय-वैशेषिक में—तर्कप्रदीप (राजा वीरभद्र के अनुरोध से रचित), तर्करत्न (न्यायपदार्थदीपिका में उल्लिखित) तथा न्याय-पदार्थ-दीपिका (प्रकाशित)।

(४) हरिदीक्षित—भट्टोजिदीक्षित के पौत्र तथा भानुजिदीक्षित के पुत्र थे। ये प्रौढ़ वैयाकरण माने जाते थे। नागोजीभट्ट के गुरु होने का गौरव इन्हें प्राप्त है। शब्दरत्न के दो संस्करण उपलब्ध होते हैं—लघु शब्दरत्न तथा बृहत् शब्दरत्न। इनके रचयिता के विषय में पण्डितों में मत-वैविध्य है। पण्डितों की मान्यता है कि लघु शब्दरत्न का प्रणयन नागोजीभट्ट ने ही किया, परन्तु अपने पूज्य गुरु हरिदीक्षित के नाम पर उसे प्रचारित किया। वैद्यनाथ पायगुण्डे ने शब्दरत्न की 'भाव प्रकाशिका' नाम्नी विस्तृत प्रमेय-बहुल व्याख्या लिखी। उसके आरम्भ में वे लिखते हैं—

---

१ सरस्वती भवन टेक्स्ट्स (संख्या २) में प्रकाशित (संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९२०)।

२. विशेष के लिए, द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ३५२-३३५।

गुरु नत्वा श्रये बद्धशब्दरत्नेन्दुशेखरम् ।

आशय है कि शब्दरत्नेन्दु शेखर के निर्माता अपने गुरु को प्रणाम कर टीका लिख रहा हूं। पायगुण्डे के पूज्य गुरु नागेशभट्ट थे। अतः उनकी सम्मति मे यह उनके गुरु की ही रचना है। नागेश ने अपने प्रौढ ग्रंथो के नाम मे 'इन्दु-शेखर' शब्द रखा है यथा शब्देन्दुशेखर तथा परिभाषेन्दुशेखर और आचारेन्दुशेखर। उस शैली मे इस ग्रन्थ का भी पूरा नाम था—शब्दरत्नेन्दुशेखर जो सामान्यतः संक्षिप्त 'शब्दरत्न' नाम से ही अभिहित किया जाता है। शिष्य को गुरु की सच्ची रचना से परिचित होना स्वाभाविक ही है। सुनते हैं बृहद्-शब्द-रत्न हरिदीक्षित की रचना है जिसका सक्षेप नागेश ने लघु शब्द-रत्न मे प्रस्तुत किया।

शब्दरत्न स्वय प्रौढमनोरमा की टीका है और उसके ऊपर प्राचीन-अर्वाचीन नाना टीकायें समय समय पर लिखी गई जिनमे वैद्यनाथ पायगुण्डे की भाव-प्रकाशिका तथा भैरव मिश्र की 'रत्न-प्रकाशिका' (प्रख्यात नाम भैरवी) नितान्त प्रसिद्ध हैं। भैरव मिश्र के पिता का नाम भवदेव तथा माता का सीता था। वे अगस्त्य गोत्र मे उत्पन्न हुए थे। नागेश की रचनाओ के व्याख्याता होने के नाते विशेष प्रसिद्ध हैं। १८ वी शती मे मध्य भाग मे वर्तमान भैरव मिश्र व्याकरण के बडे प्रौढ विद्वान् माने जाते थे।

कोण्डभट्ट

कोण्डभट्ट के वैयाकरण-भूषण तथा वैयाकरण-भूषणसार ग्रथ पाणिनि व्याकरण के दार्शनिक तथ्यो के प्रकाशक ग्रथरत्नो मे अन्यतम हैं। ये भट्टोजिदीक्षित के अनुज रङ्गोजिभट्ट के पुत्र थे। व्याकरण के अतिरिक्त न्यायदर्शन के विषय मे भी इन्होंने प्रौढ ग्रन्थो का निर्माण किया था। इनके समय का परिचय भली-भांति लगता है।

वैयाकरण भूषण के हस्तलेख का काल १७६२ वि०, =१७०६ ई०) है तथा वैयाकरण भूषणसार के हस्तलेख का समय (१७०६ वि० = १६५० ई०) है। इससे स्वत सिद्ध होता है कि वैयाकरण भूषण तथा उसके साररूप वैयाकरण भूषणसार का प्रणयन १६५० ई० से पूर्व ही हो गया था। न्याय-पदार्थदीपिका (अथवा पदार्थ-दीपिका[1]) मे कोण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषण और तर्करत्न नामक अपने ग्रंथो का उल्लेख किया है। फलतः पदार्थदीपिका की रचना वैयाकरणभूषण के बाद की घटना है। वैयाकरणभूषण मे इन्होने अपने से प्राचीन अनेक आचार्यो तथा उनके प्रख्यात

१. काशी सस्कृत सीरीज मे प्रकाशित। इसमे वैयाकरणभूषण का निर्देश पृ० ३२ तथा ३९ पर तथा तर्करत्न का पृ० ५१ पर मिलता है।

ग्रंथों का विधिवत् नाम्ना निर्देश किया है। इनमें चार ग्रंथकार प्रमुख हैं—(क) अप्पय दीक्षित[1] (भट्टोजि दीक्षित के गुरु), (ख) नृसिंहाश्रम[2] (भट्टोजि के दूसरे गुरु), (ग) भट्टोजि दीक्षित[3] (ग्रंथकार के पितृव्य) तथा उनके तीनों प्रख्यात ग्रन्थ—*मनोरमा, शब्दकौस्तुभ तथा सिद्धान्त-कौमुदी,* (घ) रङ्गोजिभट्ट[4] (ग्रंथकार के पिता)। कोण्डभट्ट का एक अन्य ग्रंथ था तर्कप्रदीप जिसकी एक खण्डित प्रति डा० हाल को मिली थी जिन्होंने इसके विषय में लिखा है कि यह ग्रंथ राजा भद्रेन्द्र के पुत्र राजा वीरभद्र के आदेश से निर्मित किया गया तथा इसमे यज्ञानुष्ठान को प्रोत्साहित करने के लिए राजा वीरभद्र की सस्तुति की गई है। यह ग्रंथ न्यायलीलावती तथा अद्वैतचिन्तामणि को उदधृत करता है। यहाँ राजा वीरभद्र का उल्लेख ग्रन्थ के काल-निर्णय मे पूर्णतया सहायक है।

ये राजा वीरभद्र (१६२९ ई०–१६४५ ई०) भद्रप नायक के पुत्र थे। ये मूलत इक्केरि के शासक थे परन्तु जब राजा शहाजी ने इक्केरि जीत लिया तब ये बेदनूर नामक स्थान में रहने लगे और बेदनूर के राजा के नाम से पीछे प्रख्यात हो गये। यह जगह मैसूर प्रान्त में थी। इस स्थान के शासन वीरशैव मतानुयायी तथा केलदी नायक की आख्या से प्रख्यात थे। १६वीं शती के अन्त तथा १७वीं शती के पूर्वार्ध मे इनका उस प्रान्त पर बड़ा व्यापक प्रभुत्व था। सबसे प्रख्यात थे वेंकटप्प नायक (राज्यकाल—१५९२-१६२९ ई०) उनके पुत्र थे भद्रप्प और पौत्र थे वीरभद्रप्प नायक (१६२९ ई०–१६४५ ई०)। वेंकटप्प ने पौत्र वीरभद्र को ही अपना उत्तराधिकारी चुना, क्योंकि भद्रप्प की मृत्यु उनके जीवित काल मे ही हो गई थी। केलदि वंशी इन नायक राजाओं के साथ भट्टोजिदीक्षित के वंश का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसकी पुष्टि में प्रचुर प्रमाण उपलब्ध है कि भट्टोजिदीक्षित, उनके अनुज रंगोजिदीक्षित या रंगोजिभट्ट तथा उनके भ्रातुष्पुत्र कोण्डभट्ट इन नायक राजाओं के आश्रय में रहते थे और उनके आदेश से महनीय ग्रंथो का प्रणयन करते थे।

(क) भट्टोजिदीक्षित ने अपने तत्त्व कौस्तुभ नामक अद्वैत-वेदान्त-प्रतिपादक ग्रंथ की रचना केलदी वेंकटेन्द्र के आदेश से की। तत्त्वकौस्तुभ के आरम्भ में (हस्तलिख) इसका स्पष्ट उल्लेख है—

केलदी-वेंकटेन्द्रस्य निदेशाद् विदुषां मुदे।
ध्वान्तोच्छित्यै पटुतरस्तन्यते तत्त्वकौस्तुभ.॥

---

१. वैयाकरणभूषण (के० पी० त्रिवेदी का सस्करण, १९१५, बम्बे) पृ० २१२।
२. वही; पृ० ७१, ७८ तथा १६५।
३–४, वही पृ० १।

फणिभाषितभाष्याब्धे शब्दकौस्तुभ उद्धृत.।
शाङ्करादपि भाष्याब्धेः तत्कौस्तुभमुद्धरे ॥

भण्डारकर शोध संस्थान वाली हस्तलिखित प्रति मे यही बात ग्रन्थ के अन्त में दुहराई गई है। यह पता चलता है कि इस ग्रन्थ के निर्माण के कारण भट्टोजिदीक्षित 'विशुद्धाद्वैत-प्रतिष्ठापक' विरुद से भूषित किये गये थे। 'वेंकटेन्द्र' 'वेंकटप्प नायक' का ही नामान्तर है जिनके राज्यकाल का निर्देश ऊपर किया गया है। यह निर्देश भट्टोजिदीक्षित के समय का पर्याप्त सूचक है कि वे लगभग १६२५ ई० या इसके आसपास तक अवश्य विद्यमान रहे।

(ख) केलदी के ये नायक राजा वीरशैव मतानुयायी थे। यह वंश 'इक्केरि' नामक स्थान पर राज्य करता था जो वर्तमान मैसूर राज्य के शिमोगा जिले मे था। ये शासक शृंगेरी के शंकराचार्य-स्थापित अद्वैत मठ के प्रति विशेष आस्थावान् थे। इसलिए ये अद्वैत ग्रन्थो के निर्माण मे विद्वानो को आश्रय तथा उत्साह प्रदान करते थे। भट्टोजि के अनुज रङ्गोजिभट्ट को भी केलदी वेङ्कटप्प नायक प्रथम से विशिष्ट सम्मान प्राप्त था। इसका उल्लेख कोण्डभट्ट ने अपने वैयाकरण-भूषण के इस श्लोक मे किया है—

विद्याधीश-वडेरु-संज्ञकयतिं श्रीमाध्वभट्टारकं
जित्वा केलदिवेङ्कटप्यसविधेऽप्यान्दोलिकां लब्धवान्।
यश्चक्रे मुनिवर्यसूत्रविवृतिं सिद्धान्तभङ्गं तथा
माध्वानां तमहं गुरुमुपगुरुं रङ्गोजिभट्टं भजे ॥

इस पद्य की आरम्भिक पक्तियों का सारांश है कि रङ्गोजिभट्टने केलदि वेङ्कटप्प के दरबार मे वडेरु नामक माध्वमतानुयायी यति को शास्त्रार्थ मे जीता था जिससे प्रसन्न होकर राजा ने उन्हें पालकी का सम्मान प्रदान किया। इसका तात्पर्य है कि भट्टोजि तथा उनके अनुज रङ्गोजि दोनोको वेङ्कटप्य नायक प्रथम ने विशिष्ट सम्मान प्रदान किया था।

(ग) रङ्गोजि के पुत्र कोण्डभट्ट को भी वेङ्कटप्य नायक के पौत्र तथा उत्तराधिकारी वीरभद्र नायक से विशेष सम्पर्क था। ऊपर कहा गया है कि कोण्डभट्ट ने अपना 'तर्कप्रदीप' नामक ग्रन्थ का प्रणयन राजा वीरभद्र के आदेश से किया था। इन वीरभद्र का राज्यपाल १६२९ ई० से लेकर १६४५ ई० तक है। फलत. इसी समय कोण्डभट्ट को केलदि-दरबार से मान्यता प्राप्त हुई थी। यह तैलग ब्राह्मण कुटम्ब रहता तो काशी में ही और वहीं इन्होंने अपने प्रौढ ग्रंथो का प्रणयन भी किया, परन्तु मैसूर मे स्थित इस राज-परिवार से इस वंश का घनिष्ठ सम्पर्क था। इसका रहस्य यह है

कि भट्टोजिदीक्षित आन्ध्रप्रदेशी तेलुगु ब्राह्मण थे। भट्टोजि कालहस्तीश्वर के उपासक थे। अपने शिवोल्लास नामक ग्रन्थ में इस देवता के प्रति उनका भावपूर्ण संकेत निश्चयेन उन्हें इस क्षेत्र का निवासी सिद्ध कर रहा है—

ग्रन्थेऽस्मिन् तव विलसिते कालहस्तीश नित्यं।
कृत्वाऽभ्यासं भवति विजयी भक्तिभावैकनिष्ठः॥

भगवान् कालहस्तीश्वर का पुण्य क्षेत्र मद्रास के चित्तूर जिले में स्थित है और आज भी विशेष सम्मान और आदर का भाजन है। भट्टोजि का कुटुम्ब इसी भूखण्ड का मूल निवासी था। अतएव केलदि-नायकों के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध होने की घटना पूर्णतया संगत है।

कोण्डभट्ट का ग्रन्थ

भट्टोजिदीक्षित ने महाभाष्य का सार अंश अपने शब्द-कौस्तुभ में संग्रह किया है और उसमें निर्णीत व्याकरण दर्शन के तथ्यों को उन्होंने ७० श्लोकों में निबद्ध किया[१]। यह श्लोक-सप्तति व्याकरणदर्शन का नवनीत है। इसीके ऊपर कोण्डभट्ट ने विस्तृत व्याख्या-ग्रन्थों का प्रणयन किया - (१) वैयाकरण-भूषण जो विशिष्ट विद्वानों को लक्ष्य कर लिखा गया है और (२) वैयाकरण-भूषण-सार—जो सामान्य शिक्षितों को दृष्टि में रख कर निर्मित है। 'सार' शब्द से तो यह पूर्व ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप ही प्रकट होता है परन्तु बात ऐसी नहीं है। इसमें भी नये-नये विचार, नई नई कल्पनायें हैं जो पूर्व ग्रन्थ से भिन्न हैं तथा विशिष्ट हैं।

श्लोक-सप्तति के श्लोकों का वर्गीकरण १४ विषयों में किया गया है जिनमें निर्णय या निरूपण है इन चौदह वैयाकरण प्रमेयों का—(१) धात्वर्थ (२) लकारार्थ, (३) सुबर्थ, (४) नामार्थ (५) समास शक्ति, (६) शक्ति, (७) नञर्थ, (८) निपातार्थ, (९) भावप्रत्ययार्थ, (१०) देवताप्रत्ययार्थ, (११) अभेदैकत्व संख्या, (१२) संख्या विवक्षा, (१३) क्त्वाप्रत्ययादीनामर्थ तथा (१४) स्फोट-निर्णय। एक ही ग्रन्थकार की एक ही मूलकारिका पर निबद्ध दोनों व्याख्यानों में साम्य होना अनिवार्य है, तथापि विषयनिर्णय की दृष्टि से दोनों में पार्थक्य भी है। प्रमेयों के निर्दिष्ट स्वरूप से ही ग्रन्थ की दार्शनिकता का पता चलता है। साथ ही साथ व्याकरण-दर्शन की मीमांसा के लिए इसका वैशिष्ट्य भी प्रकट होता है।

---

१ फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः।
तत्र निर्णीत एवार्थः संक्षेपेणेह कथ्यते॥
(वैयाकरण-भूषण की प्रथम कारिका)।

इन विषयो के ऊपर वेदान्तियो, नैयायिकों तथा मीमासको के सिद्धान्तो का भी पूर्ण-अनुशीलन तथा खण्डन मण्डन कर वैयाकरणमत का प्रतिपादन बडी प्रौढता के साथ किया गया है।

दोनो ग्रन्थो मे वैयाकरण भूषणसार की लोकप्रियता अधिक रही है। इसके ऊपर टीकाग्रन्थो की बहुल उपलब्धि होती है—जिनमे हरिदीक्षित की काशिका[1] विशद, विस्तृत तथा प्रमेय बहुल है। ये हरिदीक्षित केशवदीक्षित के पुत्र थे। 'काले' इनकी उपाधि थी। फलत ये महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। ये धनराज के अनुज थे। माता का नाम सखी देवी था। काशिका का रचना काल १८५४ वि० स० (= १७९८ ई०) है। भट्टोजिदीक्षित के शिष्य वनमाली मिश्र रचित 'वैयाकरणमतोन्मज्जिनी' सक्षिप्त होने पर भी बडी सरल-सुबोध है तथा नवीन विषय का प्रतिपादन करती है। इसका रचना काल काशिका से पूर्ववर्ती है—१७ शती का पूर्वार्ध, १६४० ई० के आसपास। मनुदेव भी लघु-भूषण-कान्ति की भी प्रसिद्धि है। ये नागोजीभट्ट के प्रधान शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे के मुख्य शिष्य थे। वैद्यनाथ के पुत्र बालभट्ट पायगुण्डे ने इन्ही मनुदेव तथा महादेव की सहायता से प्रख्यात अग्रेजी सस्कृतज्ञ डाक्टर हेनरी टामस कोलब्रुक (१७६५ ई०–१८३७ ई०) के आदेश से 'धर्मशास्त्र-सग्रह' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था। प्रख्यात वैयाकरण भैरव मिश्र ने भी इसके ऊपर व्याख्या लिखी थी। शब्देन्दु शेखर के ऊपर इन्ही की भैरवी व्याख्या (चन्द्रकला) की समाप्ति स० १८८१ (=१८२४ ई०) मे हुई। फलत भैरव का काल १९वी शती का पूर्वार्ध मानना यथार्थ है।

भट्टोजिदीक्षित के शिष्य

(१) वनमाली मिश्र—भट्टोजिदीक्षितके शिष्यो मे अन्यतम थे वनमाली मिश्र। ये कुरुक्षेत्र के निवासी थे तथा महेश मिश्र के पुत्र थे। इन तथ्यो का परिचय इनके एक ग्रन्थ की पुष्पिका से चलता है[2]।

(क) 'कुरुक्षेत्र-प्रदीप' नामक ग्रन्थ का बीकानेर की अनूप लाइब्रेरी मे प्राप्त हस्तलिखित प्रति मे लिपि-काल १६८४ ई० है। इस ग्रन्थ मे वैयाकरणभूषणसार की

---

१. काशिका-युक्त वैयाकरण-भूषणसार तथा मूल वैयाकरणभूषण का एक सुन्दर सस्करण श्री के० पी० त्रिवेदी ने अग्रेजी मे उपादेय टिप्पणो के साथ प्रकाशित किया है (बम्बई, १९१५ ई०)।

२ इति श्रीभट्टोजिदीक्षितशिष्य कुरुक्षेत्रनिवासि-महेशमिश्रात्मज वनमालिमिश्र विरचिताया सन्ध्या मन्त्रव्याख्या ब्रह्मप्रकाशिका समाप्ता।

३५ कारिकायें व्याख्यात हैं। इसके अन्य हस्तलेख का समय १६५१ ई० है जिससे इसके निर्माण का काल इत पूर्व अनुमानित किया जा सकता है। (ख) सर्वतीर्थ-प्रकाश तथा (ग) सन्ध्या-मन्त्र-व्याख्या-ब्रह्मप्रकाशिका इनके अन्य ग्रन्थ हैं। (घ) 'वैयाकरणमतोन्मज्जिनी' कौण्डभट्ट के वैयाकरणभूषण की वनमाली मिश्र रचित व्याख्या है जो अभी भी हस्तलेख के रूप में है। (ङ) सिद्धान्ततत्त्व-विवेक भी इनका ही ग्रन्थ हैं (हस्तलेख)।

इनके समय का पता नारायणभट्ट की 'दिव्यानुष्ठान पद्धति' के एक हस्तलेख से लगता है जिसे वनमाली मिश्र ने ही १६२१ ई० मे स्वय लिखकर तैयार किया था। वैयाकरण-भूषण के रचयिता कौण्डभट्ट राजा वीरभद्र (१६२९ ई०–१६४६ ई०) के समकालीन होने से १५८० ई०–१६४० ई० तक वर्तमान माने जा सकते हैं। इस ग्रन्थ पर टीकाकर्ता वनमाली मिश्र का भी यही समय होना चाहिए (१६०० ई०-१६५० ई०)।

वनमाली नामक एक दूसरे विद्वान् का भी परिचय मिलता है जिन्होंने द्वैतवेदान्त के विषय में बहुत से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण किया था। इनके प्राय समग्र ग्रन्थ अभी तक हस्तलेखों के रूप मे ही प्राप्त हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) न्यायामृत-सौगन्ध्य (या सौरभ)—व्यासतीर्थ के प्रख्यात ग्रन्थ न्यायामृत की व्याख्या।

(२) अद्वैतसिद्धि खण्डन—मधुसूदन सरस्वती के प्रख्यात ग्रन्थ अद्वैतसिद्धि का खण्डनकर द्वैतवेदान्त का मण्डन-परक ग्रन्थ। ध्यातव्य है कि मधुसूदन सरस्वती ने व्यासतीर्थ के न्यायामृत के खण्डन करने के लिए अपने अपने प्रौढ ग्रन्थ अद्वैतसिद्धि का प्रणयन किया।

(३) न्याय-रत्नाकर, (४) भक्ति-रत्नाकर; (५) मारुत मण्डन, (६) श्रुति-सिद्धान्त; (७) जीवेशाभेद-धिक्कार; (८) प्रमाण-संग्रह; (९) ब्रह्मसूत्र सिद्धान्त-मुक्तावली, (१०) विष्णुतत्त्व-प्रकाश, (११) वेदान्तदीपिका; (१२) वेदान्त सिद्धान्त-संग्रह, (१३) न्यायामृत-तरङ्गिणी-कण्टकोद्धार, (१४) अभिनव परिमल, (१५) वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावली।

(१६) माध्वमुखालङ्कार[१]—अप्पय दीक्षित ने 'मध्वमतमुखमर्दन' नामक ग्रन्थ मे माध्वमत का खण्डन कर अद्वैतवेदान्त की प्रतिष्ठा की थी। इसी ग्रन्थ का यह खण्डन

---

१. सरस्वती-भवन टेक्स्ट सीरीज (न० ६८) में प्रकाशित, वाराणसी, १९३६।

वनमाली मिश्र ने इस रचना में किया है। अप्पयदीक्षित तो अद्वैतवेदान्त के माननीय आचार्य थे। फलतः ग्रंथ के अन्त में उनका यह चमत्कारी उपदेश है—

आद्रियध्वमिदमध्वदर्शनं व्यध्वगं त्यजत मध्वदर्शनम्।
शाङ्करं भजत शाश्वत मतं साधव स इह साक्ष्युमाधवः॥

माध्वदर्शन का यह प्रौढ ग्रंथ पर्याप्तरूपेण प्रख्यात है। इसमें उद्धृत ग्रन्थों में 'मनोरमा' का उल्लेख महत्त्वशाली है जिससे ग्रंथकार अप्पयदीक्षित तथा भट्टोजिदीक्षित—दोनों दीक्षितों से पश्चात्कालीन सिद्ध होता है—१७ शती का ग्रंथकार। इस ग्रंथ के अन्त में दी गई सूचना के अनुसार ग्रंथकार वृन्दावन में गोकुल के समीपस्थ ग्राम का निवासी तथा भारद्वाजगोत्रीय है। स्थान की भिन्नता तथा स्वरूप के भेद से यह ग्रंथकार भट्टोजिदीक्षित के शिष्य वनमाली मिश्र से नितान्त भिन्न व्यक्ति प्रतीत होता है, परन्तु दोनों ही समकालीन हैं। भट्टोजि के शिष्य तो वैयाकरण तथा धर्मशास्त्री प्रतीत होते हैं, परन्तु ये विद्वान् माध्ववेदान्त के प्रौढ़ पण्डित तथा दार्शनिक हैं। दोनों को विभिन्न व्यक्ति मानना ही उचित प्रतीत होता है। माध्वदार्शनिक के गुरु का नाम मारुत आचार्य इसमें उल्लिखित है[1] और ग्रन्थ के उपान्त्य श्लोक में इस ग्रंथ को ही 'मारुतमण्डन' कहा गया है। फलत 'माध्वमुखालंकार' तथा 'मारुतमण्डन'[2] एक ही अभिन्न ग्रंथ प्रतीत होते हैं।

(२) भट्टोजिदीक्षित के दूसरे शिष्य का भी पता चलता है। इनका नाम था नीलकण्ठ शुक्ल। शब्दशोभा नामक व्याकरण ग्रंथ में इन्होंने इस तथ्य को प्रकट किया है। अन्य ग्रंथों में भी जीवन की इन्हीं बातों को प्रकट किया गया है[3]। नीलकठ जनार्दन शुक्ल के पुत्र थे। वे किसी वच्छाचार्य की पुत्री के पुत्र (दौहित्र) थे। इनकी माता का नाम हीरा था। इनके गुरु थे—व्याकरण शास्त्र में भट्टोजिदीक्षित तथा अलङ्कारशास्त्र में श्री मण्डनभट्ट। वैयाकरण होने की अपेक्षा वे रसिक साहित्यिक ही अधिक थे। उनके पाँच ग्रन्थों का पता चलता है—

---

१. श्रीमन्मारुतमाचार्यं मायिमर्दन-तत्परम्।
मुनीन्द्रोपास्यपादाब्जं ज्ञानसिन्धुं नमाम्यहम्॥

—माध्वमुखालंकार, श्लोक २।

२ 'मारुतमण्डन' के हस्तलेख का विश्लेषण इसी परिणाम पर आलोचकों को पहुँचाता है। इस विश्लेषण के लिए द्रष्टव्य—डा० गोडे—स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, भाग २, पृ० २२४–२२९।

३. शुक्ल-जनार्दनपुत्रो वच्छाचार्यस्य दौहित्र।
अभ्यस्त-शब्दशास्त्रो भट्टोजिदीक्षितच्छात्र॥

(१) शब्दशोभा—यह व्याकरण शास्त्र का ग्रंथ है। सरस्वतीभवन के हस्त-लिखित विभाग मे इनके दो हस्तलेख हैं। इसके निर्माण का काल ग्रयान्त मे दिया गया है[1] वि० सं० १६९३ = १६३७ ई०।

(२) शृङ्गारशतक—शृङ्गार विषयक श्लोकों की रचना। रचना काल १६३१ ई।

(३) चिमनीचरित—बादशाह शाहजहाँ से एक मान्य अफसर अल्लावर्दी खाँ तुर्कमान के हरम की एक प्रेमगाथा का आधारित कर इस संस्कृत-काव्य का प्रणयन एक सौ एक श्लोको मे किया गया है। अल्लावर्दी खाँ की ज्येष्ठ पुत्र बहू थी चिमनी, जो उनके जेठे भाई की कन्या भी थी। दयादेव नामक सुभग सुन्दर ब्राह्मण युवक महल की बहू बेटियों को शिक्षा देने के लिए रखा गया। चिमनी उस पर मुग्ध हो गई और इस दोनो की सरस केलिकथा का रसमय वर्णन नीलकण्ठ शुक्ल ने बडी भाव भगिमा से किया है। इस कथा का वर्णन 'चिमनी चरित' मे किया गया है। रचनाकाल है १६५६ ई०। कथा ऐतिहासिक महत्त्व रखती है और मुगल दरबार की वास्तविक घटना पर आश्रित है।

(४) ओष्ठ शतक—(या अधर शतक) – किसी तन्वङ्गी युवती के ओठ का सरस वर्णन।

(५) जारजात शतक—परकीय काव्य को चुरा कर अपना बताने वाले तथा परकीय अर्थ को भी स्वकीय कहने वाले—दोनो व्यक्ति यहाँ जारजात कहे गये हैं। फलत यह काव्य 'काव्यार्थचौय' की मीमांसा करता है और पर्याप्त रूपेण साहित्यिक चमत्कार से मण्डित है।

> य परकीयं काव्यं स्वीयं ब्रूतेऽथ चोरयेद् योऽर्थम्।
> इह तावपि प्रसवनौ मन्तव्यौ जारजाततया॥

नीलकण्ठ शुक्ल की कविता सरस सुबोध तथा चमत्कारी है। चिमनी चरित के ऊपर काव्य लिखना ही उनके रसिक जीवन की एक मधुर झाँकी है। ओष्ठशतक का यह प्रथम श्लोक कितना सुदर है—

> वदनकमलमुद्यन्मन्दहासप्रचार
> विरचयति निकारं यत्प्रसादात् सुधांशो।
> तदिदमधरबिम्बं जीवनं मीनकेतो–
> र्मम वचसि विधत्तां धुर्यमाधुर्यधाराम्॥

---

१ त्रिनवषडेकमब्देऽतिक्रान्ते विक्रमादित्यात्।
निरमायि शिवपदयोनिबद्धतिराधायि नीलकण्ठेन॥

वरदराज

(३) भट्टोजिदीक्षित के प्रौढ़ प्रख्यात शिष्य तो वरदराज ही थे जिनके ग्रन्थ--लघुकौमुदी तथा मध्य कौमुदी --आज भी संस्कृत शिक्षण के प्रमुख आरम्भिक ग्रंथ हैं। भट्टोजिदीक्षित के शिष्य होने की घटना का उल्लेख इन्होंने स्वयं मध्यसिद्धान्त-कौमुदी के आरम्भ में किया है—

नत्वा वरदराज श्री गुरून् भट्टोजिदीक्षितान् ।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्त कौमुदीम् ।।

काशी की तो यह प्रसिद्धि है कि सुयोग्य शिष्य न मिलने के कारण भट्टोजि-दीक्षित प्रेत बन गये थे। वरदराज दक्षिण भारत से दीक्षित से व्याकरण पढ़ने के लिए जब आये, तब दीक्षितजी कैलासवासी हो चुके। किसी प्रकार दोनों का समागम हुआ और अपनी शास्त्रीय विद्या का यथाविधि वरदराज को दान करने के अनन्तर भट्टोजि प्रेतयोनि से मुक्त हो गये। इस किम्वदन्ती में कितना तथ्य है--कहा नहीं जा सकता।

वरदराज दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके चार ग्रंथों का परिचय मिलता है—(१) लघु सिद्धान्त कौमुदी, (२) मध्य सिद्धान्त कौमुदी (३) सार सिद्धान्त-कौमुदी तथा (४) गीर्वाणपदमञ्जरी। लघु-कौमुदी तथा मध्य कौमुदी—दोनों में कौन प्रथम प्रणीत है ? प्रसिद्धि है कि वरदराज ने लघु-कौमुदी की ही रचना पहिले की, परन्तु अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण तथा भट्टोजिदीक्षित की ही अरुचि होने के हेतु इन्होंने मध्यकौमुदी का प्रणयन किया। सार सिद्धान्त कौमुदी भी सिद्धान्त कौमुदी का ही संक्षेप है, परन्तु मुद्रित न होने के कारण इसके बारे में विशेष नहीं कहा जा सकता।

गीर्वाणपदमञ्जरी[1] लघुकौमुदी का पूरक ग्रन्थ है। इसमें संस्कृत के व्यावहारिक ज्ञान सम्पादन के हेतु प्रश्नोत्तर रूप में ग्रन्थ का विन्यास है आजकल के 'डाइरेक्ट मेथड' की यथार्थ पद्धति पर। साथ ही साथ १७ शती में काशी के सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक जीवन की एक भव्य झांकी भी प्रस्तुत की गई है–मनोरजक तथा ज्ञान वर्धक। वरदराज ने इसमें उस युग के लोकप्रिय पाठ्य व्याकरण ग्रन्थों में अपनी दोनों कौमुदी (लघु तथा मध्य), मनोरमा-सहित सिद्धान्त कौमुदी, शब्द कौस्तुभ तथा लिङ्गानुशासनवृत्ति का निर्देश किया है। इसमें काशी के घाटों का ही नहीं, प्रत्युत समग्र भारत के तीर्थों का भी उल्लेख मिलता है। दक्षिण भारत के तीर्थों में 'कालहस्तिक्षेत्र' का उल्लेख महत्त्व रखता है, क्योंकि इस क्षेत्र के देवता कालहस्तीश्वर' भट्टोदीक्षित के

१ सयाजीराव विश्वविद्यालय, बडोदा से प्रकाशित।

यश के अधिकारी देवता थे। इस युग के छात्रों के जीवन तथा शिक्षण, संन्यासियों के आचार व्यवहार, भोज्य पदार्थों के नाम तथा बाजार में वस्तुओं के दर आदि अनेक तथ्यों का सकलन इस पुस्तक को काशी के सामाजिक इतिहास की छानबीन के लिए उपयोगी सिद्ध कर रहा है। गीर्वाण पदमञ्जरी में लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदी के नाम निर्दिष्ट हैं, परन्तु सारसिद्धान्त-कौमुदी का नहीं। इससे सारकौमुदी वरदराज की अन्तिम रचना प्रतीत होती है।

भट्टोजिदीक्षित के शिष्य होने से वरदराज काल १७ शती का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है। दीक्षित का ग्रन्थ-निर्माण काल लगभग १५८० ई० तथा १६२० ई० के बीच माना गया है। इसकी पुष्टि लघुकौमुदी के अमेरिका में सुरक्षित १६२४ ई० में लिखित हस्तलेख से होती है। जब लघुकौमुदी का हस्तलेख १६२४ ई० का है, तब इसकी तथा मूलग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी की रचना काल सुतरां पूर्ववर्ती होना चाहिए—१६०० ई० के आस-पास। लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदी का प्रणयन निश्चित रूप से १६२४ ई० से पूर्ववर्ती है और इस दशा में इन ग्रंथों को भट्टोजिदीक्षित से समीक्षण तथा आलोचन का लाभ अवश्य प्राप्त हुआ था—यह कल्पना कथमपि अन्याय्य नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार वरदराज का समय १६०० ई०—१६५० ई० तक मानना सर्वथा समुचित प्रतीत होता है। लघुकौमुदी कौमुदी प्रतीत होता है। लघुकौमुदी की प्रशंसा करना व्यर्थ है। हमारी पाठशालाओं में संस्कृत में प्रवेश कराने वाला यही तो ग्राइमर है और अखिल भारतीय ख्याति से मण्डित होना इसके लिए समुचित ही है।

नारायण भट्ट

केरल के सुविख्यात भक्त महाकवि नारायण भट्ट की सर्वश्रेष्ठ रचना होने का गौरव इस व्याकरण ग्रन्थ-प्रक्रिया सर्वस्व को प्राप्त है। नारायण भट्ट भट्टोजि-दीक्षित के ही समकालीन थे और दीक्षित की सिद्धान्त-कौमुदी तथा भट्टतिरि का प्रक्रियासर्वस्व दोनों ही ग्रन्थ एक ही विषय पर समान शैली में निबद्ध होने की प्रतिष्ठा धारण करते हैं। नारायण भट्ट केरल के सर्वश्रेष्ठ भक्त कवि तथा 'नारायण' स्तोत्र-काव्य के प्रणेता के रूप में संस्कृत साहित्य में प्रख्यात हैं, परन्तु वे महनीय कल्पना के धनी होने के अतिरिक्त प्रौढ़ वैदुषी के भी अधिकारी थे—यह तथ्य अनेकों को ज्ञात न होगा। उनकी विविध रचनाओं की परीक्षा से उनके समय तथा जीवन-चरित्र का परिचय आलोचकों को पूर्णतया प्राप्त है।

नारायण भट्ट का जन्म मालाबार प्रान्त में नीला नदी के तीरस्थ किसी ग्राम में हुआ था। आरम्भिक जीवन उतना पवित्र तथा उत्तरदायित्वपूर्ण नहीं था, परन्तु उस युग के प्रख्यात विद्वान तथा ज्योतिर्विद् अच्युत पिषरोटि के सम्पर्क में आने पर उनके

जीवन का प्रवाह अध्ययन तथा भगवद्भक्ति की ओर मुड गया। उन्होंने पिपरोटि से व्याकरण, अपने पिता से मीमासा, दामोदर नामक पण्डित से तर्क तथा माधव नामक वैदिक से वेद का अध्ययन किया। उन्होंने वातरोग से आक्रान्त होने पर नाना औषधोपचार किया, परन्तु लाभ न होने पर गुरुवायूर मन्दिर के आराध्यदेव बालकृष्ण की उपासना मे अपने को समर्पित कर दिया और भागवत मे वर्णित श्रीकृष्ण की ललित-लीलाओ का कीर्तन इन्होने 'नारायणीय' नामक भक्तिकाव्य मे किया। फलत रोग से मुक्त हो गये और कृष्णभक्ति को ही अपने जीवन का मुख्य सबल बना कर अपना जीवन निर्वाह किया। इस काव्य के प्रणयन से नारायण भट्ट की कीर्ति समग्र केरल मे व्याप्त हो गई। केरल के राजाओं ने—देवनारायण, वीरकेरल वर्मा (कोचीन के राजा), मान-विक्रम (कालीकट के राजा) तथा गोदा वर्मा (वटक्कुमुर के राजा) इनका प्रभूत आदर तथा सम्मान किया। इनके काल के सूचक अनेक प्रमाण हैं। इनका समय १६वी शती का अन्तिम चरण तथा १७वीं शती का प्रथम चरण माना जाता है (लगभग १५७५ ई०—१६२५ ई० तक[१])।

इनके काव्य ग्रथो की चर्चा तथा आलोचना लेखक ने अयत्र की है[२]। प्रक्रिया-सर्वस्व, धातुकाव्य तथा अपाणिनीय प्रमाणता—इनके ये तीनो ग्रथ व्याकरण से सम्बद्ध हैं। 'अपाणिनीय प्रमाणता[३] लघु निबन्ध हैं जिसमे पाणिनि व्याकरण से असिद्ध शब्दो की प्रमाणता प्रदर्शित की गई है। 'धातु-काव्य'[४] तीन सर्गों मे विभक्त लघु काव्य हैं जिसमे पाणिनि के धातुओ के प्रयोग दिखलाये गये हैं। इन दोनो की अपेक्षा महत्तर, प्रौढ पाण्डित्य का प्रदर्शक ग्रथ है—प्रक्रिया-सर्वस्व।

प्रक्रिया-सर्वस्व[५]

इस ग्रथ मे पाणिनि के सूत्र प्रक्रिया के अनुसार विभिन्न विषयो में विभक्त किये -

---

१ इस काल निर्णय के लिए द्रष्टव्य—प्रक्रियासर्वस्व, तृतीय भाग, टिवेण्डम से प्रकाशित, १९४८। भूमिका पृ० ७-१०।

२ लेखक का 'सस्कृत-साहित्य का इतिहास' नवीन स० १९८३, पृ० ३८६-३८८ (वाराणसी)।

३ पण्डित रमण नमसतिरि द्वारा प्रकाशित, ट्रिवेन्ड्रम (१९४२)।

४ काव्यमाला मे प्रकाशित, स० १०।

५ इस ग्रथ का प्रकाशन अश अनन्तशयन सस्कृत ग्रथावलि में चार भागो मे किया गया है—ग्रथ स० १०६, १३९, १५३ तथा १७४ (१९५४ ई०)। इन खण्डो मे ग्रथ का प्रथम खण्ड सुबन्त ही समाप्त होता है। इस ग्रथ का तद्धित खण्ड तथा उणादि-खण्ड मद्रास यूनिवर्सिटी सस्कृत सीरीज के ग्रथाक १५ तथा७ के रूप मे प्रकाशित हैं।

गये हैं और इनके ऊपर नारायण ने स्वयं वृत्ति लिखकर तथा उदाहरण देकर सूत्रों को विधिवत् समझाया है। लेखक ने 'प्रक्रिया-कौमुदी' को अपना आदर्श माना है और तद्वत् विषय का प्रतिपादन किया है। बीस खण्डों[1] में यह ग्रंथ विभक्त है यथा संज्ञा, परिभाषा, सन्धि, कृत्, तद्धित, समास, स्त्रीप्रत्यय, सुबर्थ, सुप् विधि आदि। इन खण्डों में उणादि तथा वेद विषयक दो पृथक् खण्ड है। इस व्याकरण ग्रंथ के ऊपर भोज के व्याकरण ग्रन्थ 'सरस्वती कण्ठाभरण' का विपुल प्रभाव लक्षित होता है। भोज के प्रति नारायण भट्ट की भूयसी आस्था है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि भोज ने गणपाठ तथा वार्तिकों को भी सूत्रों में सम्मिलित कर लिया है और इसलिए भोज व्याकरण की सूत्र-संख्या पाणिनीय अष्टाध्यायी की अपेक्षा ड्योढ़ी अधिक है। नारायण भोज के टीकाकार 'दण्डनाथ' को नाथ नाम से उद्धृत करते हैं। प्रक्रियासर्वस्व में उद्धृत ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारों के नाम इस प्रकार हैं—काशिका, हर (हरदत्त, पदमञ्जरी-कार) न्यास, वृत्तिप्रदीप (रामदेव मिश्र रचित, प्राय 'राम' शब्द के द्वारा) भाष्य तथा कैयट, माधवीया धातुवृत्ति, कौमुदी (प्रक्रिया-कौमुदी) तथा उसकी टीका 'प्रसाद' भी, अमर की दो टीकायें—क्षीरस्वामी की अमर टीका तथा टीकासर्वस्व।

विशिष्टता

(१) लक्ष्य[2] यही है कि अष्टाध्यायी के सूत्रों की प्रक्रियानुसार विभाजन तथा लक्ष्यं वृत्ति की रचना। सूत्रों की वृत्ति सरल तथा सुबोध है। विशेष शास्त्रार्थ का प्रसंग नहीं उठाया गया है। कभी-कभी वृत्ति श्लोकबद्ध दी गई है। जन्या (४।४।८२) शब्द का अर्थ श्लोकबद्ध है। यह वैशिष्ट्य सिद्धान्त-कौमुदी में लक्षित नहीं होता।

---

१. इन खण्डों का नाम निर्देश इन श्लोकों में है—

इह संज्ञा परिभाषा सन्धि कृत् तद्धिता: समासश्च।
स्त्री-प्रत्यया: सुबर्था सुपा विधिश्चात्मनेपदविभाग: ॥
तिङपि च लार्थ-विशेष सनन्त-यङ् यङ्लुक्श्च सुब्धातु।
ण्यायोधातुरुणादिश्छान्दसमिति सन्तु विंशति खण्डा: ॥

२ वृत्तौ पाणिने क्वाचित्क कथना रूपावतारे पुन
कौमुद्यादिषु चात्र सूत्रमखिलं नास्त्येव, तस्मात् त्वया।
रूपानीतसमस्तसूत्रसहितं स्पष्टं मितं प्रक्रिया
सर्वस्वाभिहितं निबन्धनमिदं कार्यं मदुक्त्याऽनघ ॥

प्रक्रिया सर्वस्व प्रथम खण्ड ५ श्लोक। यहाँ कौमुदी से तात्पर्य प्रक्रियाकौमुदी से है, सिद्धान्तकौमुदी से नहीं॥

(२) नारायणभट्ट यथासाध्य पाणिनि के सूत्रो का क्रमश. विवरण देते हैं, तद्धित प्रकरण में तो यह नितान्त सत्य है। उदाहरणों का प्राचुर्य इसकी महती विशिष्टता है। ५।२। २ सूत्र के उदाहरण मे जहाँ भट्टोजिदीक्षित केवल दो तीन उदाहरणों से सन्तोष करते हैं, वहाँ नारायण कम से कम बीस उदाहरण देते हैं और वह भी श्लोकबद्ध।

(३) लोक-व्यवहार मे प्रयुक्त शब्दो के विधान की ओर लेखक जागरूक है। भवे छन्दसि (४।४।११०) के अधिकार मे आने वाले आठ सूत्रों के विवरण मे इनका कथन है—भवे छन्दसीत्यधिकारेऽपि केचिन् लोके दृष्टा (तद्धित खण्ड, पृष्ठ १२१)। और कविजनो के प्रयोग नारायण के इस कथन के पर्याप्त पोषक हैं—

(क) 'सगर्भ्य' का महावीर चरित मे प्रयोग है ('सहतनुज सगर्भ्य प्रेक्ष्य रसः सहस्र' ६।२७)

(ख) अग्रच का प्रयोग—उषेयुष स्वामपि मूर्तिमग्रयाम् (रघु ६।७३), क्षिति-रिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्रयपौरुषम् (रघु ८।२८)।

(ग) शिवताति का प्रयोग

प्रयन्न कृत्स्नोऽयं फलतु, शिवतातिश्च भवतु (मालती माधव, ६।७) मा पुनस्त्वमुपगा शिवतातिरेधि (वही ९।४३)।

(घ) अरिष्टताति का प्रयोग

तदग्रभवतामरिष्टतातिमाशास्महे। महावीरचरित १।२४)।

(ङ) 'परिपन्थी' शब्द को पाणिनि वेदविषयक ही मानते हैं (५।१८९)। काशिका तथा पदमञ्जरी इसे समर्थित करती हैं (भाषाया तु परिपन्थिशब्दस्याप्रयोग-पदञ्जरी) परन्तु नारायण इसे लोक प्रयुक्त मानने के पक्षपाती हैं (परिपन्थी-लोकेऽपीष्ट, तद्धित-खण्ड पृष्ठ १७०)। नारायण का मत महाकवि प्रयोगों से परिपुष्ट तथा समर्थित है—नामविघ्नमहं तत्र यदि तत्-परिपन्थिनी (मालतीमाधव ९।३०) पर्वतेश्वर एवार्थपरिपन्थी महानासीत्, मुद्राराक्षस ५।७)।

(४) वार्तिकों का प्रक्रियासर्वस्व मे संकलन है। वे महाभाष्य से तथा काशिका से यहाँ उद्धृत किये गये हैं। परन्तु इनका स्वरूप तथा शब्दों का क्रम कभी-कभी महाभाष्य से सुतरा भिन्न पडता है। कभी कभी महाभाष्य में दिये गए सूत्रों से भिन्न सूत्रों मे ये वार्तिक यहाँ उपलब्ध होते हैं। वार्तिकों के स्वरूप-निर्णय के निमित्त प्रक्रिया-सर्वस्व नितान्त उपयोगी सिद्ध होगा। नारायणभट्ट ने श्लोकों की भी अवतारणा अपनी वृत्ति मे की है। ये श्लोक कहीं उदाहरण, कहीं अर्थ और कहीं प्राचीन आचार्यों के मत उपन्यस्त करते हैं।

व्याकरण के विषय में नारायण भट्ट का मत

नारायण भट्ट व्याकरण के विषय में बड़ा उदारमत रखते हैं। वे भाषा का व्याकरण की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। व्याकरण भाषा का—लोक व्यवहार में प्रयुक्त शब्दावली का—अनुगमन करता है, भाषा व्याकरण की दासी नहीं होती। फलतः पाणिनि के सूत्रों द्वारा अनिष्पन्न शब्दों को वे अप्रमाणिक मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इस विषय में उनकी उदार उक्ति है—

> 'पाणिन्युक्तं प्रमाणं न तु पुनरपरं चन्द्रभोजादिसूत्र'
> केऽप्याहुः, तत् लघिष्ठं, न खलु बहुविदामस्ति निर्मूलं वाक्यम्।
> बह्वङ्गीकारभेदो भवति गुणवशात्, पाणिनेः प्राक् कथं वा
> पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति विरोधेऽपि कल्प्यो विकल्पः।

कुछ लोग कहते हैं कि 'चन्द्र, भोज आदि के सूत्र प्रमाणिक नहीं हैं, प्रमाण तो पाणिनि के ही सूत्र हैं'। यह कथन बहुत ही हल्का है, क्योंकि बहुवेत्ता वैयाकरणों के वाक्य निर्मूल नहीं हो सकते। किसी ग्रंथ की बहुल प्रसिद्धि गुण-मूलक होती है। पाणिनि से पूर्व भी तो व्याकरण था। पाणिनि प्राचीन आचार्यों के मत को प्रस्तुत करने में जहाँ विरोध होने पर हम विकल्प की कल्पना करते हैं।

ऐसी उदार-भावना के धनी वैयाकरण द्वारा अपाणिनीय प्रयोगों के प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए स्वतन्त्र ग्रंथ का प्रणयन आश्चर्यजनक घटना नहीं है। ये भोज की व्यापक दृष्टि के भूरि प्रशंसक हैं। तभी तो ये अपने 'अपाणीय प्रमाणता' में अपनी विशाल भावना की अभिव्यक्ति इन शब्दों में करते हैं—

> दृष्ट्वा शास्त्र-गणान् प्रयोगमहितान् प्रायेण दाक्षीसुत
> प्रोचे, तस्य तु विच्युतानि कतिचित् कात्यायनः प्रोक्तवान्।
> तद् भ्रष्टान्यवदत् पतञ्जलिमुनिस्तेनाप्यनुक्तं क्वचित्
> लोकात् प्राक्तनशास्त्रतोऽपि जगदुर्विज्ञाय भोजादयः॥

> विश्रामस्याशब्दत्वं वृत्तयुक्तं नाद्रियामहे।
> मुरारिभवभूत्यादीन् अप्रमाणीकरोतु कः॥
> 'विश्राम शालिनं वाचां' 'विश्रामो हृदयस्य च'।
> विश्रामहेतोरित्यादि महान्तस्य ने. प्रयुञ्जते.॥

इसलिए भट्टतिरि का कथन है—

फलतः मुरारि, भवभूति आदि के द्वारा प्रयुक्त होने वाले 'विश्राम' शब्द को कौन अप्रमाण मान सकता है? वृत्ति भले ही इसे अशब्द घोषित करती रहे, लोकव्यवहार

इसकी क्या कभी परवाह करता है ? वह तो कविप्रयोग को सिद्ध मान कर 'विश्राम' के प्रयोग से कभी विराम नहीं लेता।

दु:ख है कि इस सुगम-सुन्दर ग्रन्थ का प्रचार नही हो सका। 'सिद्धान्त-कौमुदी' आगे बढ कर अखिल भारतीय प्रख्याति से मण्डित हो गयी, परन्तु 'प्रक्रिया सर्वस्व' केरल की प्रान्तीय ख्याति से आगे नही बढ सका। मेरी दृष्टि मे नारायणभट्ट की पूर्वोक्त उदारभावना किसी अश मे सम्भवत बाधक सिद्ध हुई। नारायणीय के प्रणेता का कवित्व उनके वैयाकरणत्व का सद्य, विरोधी सिद्ध हुआ। नारायण की गणना कवियो की परम्परा मे ही मान्य हुई, वैयाकरणो की श्रेणी मे नही।

नागेश भट्ट

भट्टोजि के भ्रातुष्पुत्र कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषण तथा वैयाकरणभूषणसार लिखा जिनमे व्याकरण के दर्शन-सम्बन्धी मौलिक तथ्य निर्णीत है। इनके पौत्र हरिदीक्षित ने 'प्रौढमनोरमा' पर 'शब्दरत्न' प्रणयन कर मूल के रहस्यो का यथाविधि प्रतिपादन किया। परन्तु हरिदीक्षित के शिष्य नागोजिभट्ट या नागेशभट्ट को ही नव्य व्याकरण के प्रतिष्ठापक होने का गौरव प्राप्त है। नागेश का काशी मे ही साहित्यिक जीवन व्यतीत हुआ और यही पर उन्होने 'क्षेत्र-संन्यास' ले लिया था जिससे जयपुर-सस्थापक महाराजा जयसिह के द्वारा निमन्त्रित होन पर भी वे इसी कारण उनके विश्रुत 'अश्वमेध' मे सम्मिलित न हो सके। यह प्रख्यात 'अश्वमेध' आषाढ बदी द्वितीया सम्वत् १७९९ (= १७४२ ई०) को जयपुर मे सम्पन्न हुआ था जिसका विशेष वर्णन कृष्णकवि ने अपने ईश्वरविलास काव्य' (चतुर्थ सर्ग) मे विस्तार से किया है। फलत हम नागेशभट्ट का समय १७वी शती का अन्तिम चरण तथा १८वीं का पूर्वार्ध (१६७५–१७४५ ई० लगभग) भली-भाँति मान सकते हैं।

नागेश महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। पिता का नाम था शिवभट्ट तथा माता का सती देवी। उनका उपनाम 'काले' था। फलत महाराष्ट्रीय परम्परा से उनका पूरा नाम होगा—नागेश शिवभट्ट काले। प्रयाग के समीपस्थ शृगवेरपुर (गगातीरस्थ वर्तमान सिगरौर) के राजाराम के द्वारा ये सम्मानित हुए थे। इस तथ्य का इन्होंने स्वयं उल्लेख किया है[1]। प्रसिद्धि है कि काशी के सिद्धेश्वरी मुहल्ले मे इनका घर था जिसे इन्होंने अपनी कन्या के विवाह में दान कर दिया। नागेश की इस कन्या के वशज आज भी काशी मे विद्यमान बतलाये जाते हैं।

---

१ याचकाना कल्पतरोररि-कक्षहुताशनात्।
शृगबेरपुराधीश-रामतो लब्धजीविकः॥

नागेश की वैदुषी चतुरस्र थी। इन्होंने व्याकरण, अलङ्कार, धर्मशास्त्र तथा दर्शन के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रणयन किया, परन्तु ये मूलतः वैयाकरण थे और वैयाकरण रूप में ही इनकी सार्वभौम प्रसिद्धि है। व्याकरणशास्त्र के मौलिक तथा टीका ग्रंथों की रचना ने इन्हें लोकविश्रुत बना दिया। बृहत् शब्देन्दु शेखर तथा लघु शब्देन्दु शेखर तथा प्रदीपोद्योत इनके प्रख्यात व्याख्या ग्रंथ हैं। परिभाषेन्दुशेखर तथा मञ्जूषा (बृहत, लघु तथा परमलघु त्रिविध संस्करणों में) इनके मौलिक ग्रंथ हैं जिनमें व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्त विस्तार के साथ व्याख्यान तथा समालोचित हैं। न्यायाय की भाषा तथा शैली के आश्रयण के कारण नागेश नव्य-व्याकरण के प्रतिष्ठापक रूपसे सर्वत्र विख्यात हैं। इन ग्रन्थों के ऊपर टीका प्रटीकाओं का विशाल साहित्य विद्यमान है। इन्हीं वैयाकरणों की कर्मस्थली होने के कारण काशी की ख्याति पण्डितगोष्ठी में आज भी अक्षुण्ण है।

नागेश के आश्रयदाता राजा रामसिंह बिसेन क्षत्रिय थे। वे भगवान् रामचन्द्र के विशेष भक्त थे। उन्होंने 'अध्यात्म रामायण' की टीका लिखी जिसके आरम्भ में उन्होंने अपने को 'नागेशभट्ट का शिष्य' कहा है—

> बिसेन वंशजलधौ　पूर्णशीतकरोऽपरः।
> तेन श्रीरामभक्तेन सर्वाविद्या प्रजानता ॥
> शृङ्गवेरपुरेशेन　रिपुकक्षदवाग्निना।
> अर्थिना कल्पवृक्षेण विद्वज्जन सभासदा ॥
> नागेशभट्ट शिष्येण वध्यते　रामवर्मणा।
> सेतु परोपकृतयेऽध्यात्मरामायणाम्बुधौ ॥
> (आध्यात्म रामायण की टीका)।

वाल्मीकि रामायण की तिलक नाम्नी व्याख्या भी इसी राम-वर्मा की है। इसीलिए वह 'रामीया' कही गयी है। युद्धकाण्ड के अन्त में राम वर्मा ने अपने को भट्ट-नागेश का पूजक तथा सत्कर्ता माना है जो उनके शिष्यत्व का परिचायक है—

> भट्ट-नागेश पूज्येन सेतुः श्रीरामवर्मणा।
> कृतः सर्वोपकृतये श्रीमद्रामायणाम्बुधौ ॥

उत्तर काण्ड में भी यही बात कही गयी है। तिलक टीका को नागेश भट्ट की रचना मानने के लिए मेरी दृष्टि में कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। राम वर्मा ने ही दोनों रामायणों की टीका लिखी—वाल्मीकीय की तथा आध्यात्म की।

नागेशभट्ट के ग्रन्थ

नागेशभट्ट की सर्वोत्तम वैदुष्यमण्डित रचना व्याकरणशास्त्र से सम्बन्धित है,

परन्तु उनकी लेखनी धर्मशास्त्र, अलंकारशास्त्र आदि विषयों पर भी चलती थी और उन विषयों में भी इनके गौरवमय ग्रंथ हैं। हस्तलेखों की सहायता से इन ग्रंथों के रचनाकाल का अनुमान भली भाँति लगाया जा सकता है तथा उनके पौर्वापर्य का भी संकेत किया जा सकता है।

(१) नागेश के सापिण्ड्य प्रदीप का हस्तलेख १७२५ शक संवत् (अर्थात् १८०३ ई०) का प्राप्त है। इसमें उन्होंने तीन महनीय धर्मशास्त्रियों का उल्लेख किया है जो इनके काल-निर्णय में पूर्णतः सहायक हैं—

(क) शंकर भट्ट— (लगभग १५४०–१६०० ई०) कमलाकर भट्ट के (जिनका निर्णय सिन्धु १६१४ ई० में लिखा गया) भ्रातृपुत्र थे। द्वैतनिर्णय तथा अन्य धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन किया।

(ख) नन्दपण्डित—धर्मशास्त्र के प्रख्यात लेखक। समय लगभग १५९५ ई०–१६३० ई०।

(ग) अनन्तदेव—स्मृति कौस्तुभ के रचयिता। समय १६४५ ई०–१६७५ ई०। इस उल्लेख का तात्पर्य है कि नागेश भट्ट के समय की पूर्वसीमा अनन्तदेव का काल है। फलतः ये १६७० ई० से पूर्वकालीन नहीं माने जा सकते।

(२) नागेश ने अपने 'वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा' में अपने 'महाभाष्य प्रदीपोद्योत' का उल्लेख किया है तथा महाभाष्य प्रदीपोद्योत में वैयाकरण सिद्धान्त-मञ्जूषा का। इस परस्परोल्लेख से स्पष्ट है कि नागेश ने इन दोनों ग्रंथों का साथ-ही-साथ प्रणयन किया। इन दोनों की रचना १७०८ ई० से पूर्व ही हुई, क्योंकि इसी वर्ष का उज्जैनी के सिन्धिया ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट में मञ्जूषा का हस्तलेख उपलब्ध है। इनका रचना काल १७०० ई०–१७०८ ई० के बीच में कभी होना चाहिये। ये दोनों ही ग्रन्थ पाण्डित्य विषय में प्रौढ़ता के निदर्शन हैं। यदि इस समय नागेश भट्ट का वय तीस वर्ष माना जाय, तो उनका जन्म १६७० ई० १६८० ई० के बीच में मानना उचित प्रतीत होता है (१६७५ ई० के आस-पास)।

(३) नागेश ने भानुदत्त की रसमञ्जरी की व्याख्या रसमञ्जरी प्रकाश १७१२ ई० से पूर्व ही लिखी, क्योंकि यह इण्डिया लाइब्रेरी में रक्षित इस ग्रंथ के हस्तलेख का काल है।

(४) नागेश ने गोविन्द ठक्कुर के काव्यप्रकाश व्याख्या 'काव्यप्रदीप' पर उद्योत में तथा रसगंगाधर की अपनी व्याख्या (गुरु मर्मप्रकाशिका) में मञ्जूषा का उल्लेख किया है। फलतः इन दोनों की रचना मञ्जूषा के निर्माण के अनन्तर हुई सम्भवतः १७०५ ई० बाद।

(५) नागेश के आशौच निर्णय' हस्तलिखित प्रति का (बाम्बे विश्वविद्यालय लाइब्रेरी में) लिपिकाल १७२२ ई० है। फलत यह ग्रन्थ इससे पूर्व निर्मित हुआ।

(६) लघुमञ्जूषा की रचना वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा के (सम्भावित रचना काल १७००ई० १७०८ ई०) अनन्तर हुई। लघुमञ्जूषा में उल्लिखित होने के कारण 'बृहत् शब्देन्दुशेखर' का प्रणयन इससे पूर्व ही हुआ।

(७) 'बृहत् शब्देन्दुशेखर'[1] के अनन्तर रचित लघु शब्देन्दुशेखर में महाभाष्य-प्रदीपोद्योत का निर्देश उपलब्ध होता है तथा शब्देन्दुशेखर मे उद्योत उद्धृत है। अत लघु शब्देन्दुशेखर का रचनाकाल १७०० ई०-१७०८ ई० से पीछे होना चाहिये। उद्योत का उल्लेख होने से हम कह सकते हैं कि शब्देन्दुशेखर तथा उद्योत एक साथ ही लिखे गये।

(८) परिभाषेन्दु शेखर मे वै० सि० मञ्जूषा, महाभाष्य उद्योत बृहत् शब्देन्दु-शेखर के निर्देश मिलने से स्पष्ट है कि इसकी रचना इन तीनों ग्रन्थों के निर्माण के अनन्तर हुई। प्रतीत होता है कि परिभाषेन्दु शेखर नागेश के वैयाकरण ग्रन्थों की परम्परा मे सबसे अन्तिम है

(९) नागेश ने मञ्जूषा के तीन संस्करण प्रस्तुत किया था—गुरुमञ्जूषा, लघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा। परन्तु अन्तिम दोनों ग्रंथ प्रख्यात तथा प्रचलित हैं। वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा ही गुरुमञ्जूषा का प्रतिनिधित्व करती है। नागेश के प्रमुख शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने 'लघुमञ्जूषा' की कला नाम्नी अपनी टीका म गुरुमञ्जूषा का बहुश स्मरण किया है।

(१०) लघुशब्देन्दु शेखर की रचना बृहत् शब्देन्दु शेखर के अनन्तर हुई। लघुशब्देन्दु का सबसे प्राचीन हस्तलेख १७२१ ई० का बडोदा मे है। फलत इस ग्रंथ का प्रणयन १७०८ ई० १७२१ ई० के बीच में कभी किया गया।

(११) वाक्यप्रदीपोद्योत मे वैयाकरण सिद्धान्तमञ्जूषा का उल्लेख है तथा इसका सर्वप्राचीन हस्तलेख १७/४ ई० का है। फलत इसकी रचना १७ ५ ई० के बाद तथा १७१४ ई० से पूर्व में कभी हुआ था।

इस प्रकार नागेश के ग्रन्थों का पौर्वापर्य निश्चित किया जा सकता है। ऊपर सिद्ध किया गया है कि नागेश का जन्म लगभग १६७५ ई० मे हुआ तथा वे १७४२ तक अवश्य जीवित थे। कहा गया है कि इसी वर्ष जयपुर के संस्थापक महाराजा

---

१ इसका प्रकाशन तीन खण्डों में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से हुआ है १९६० ई०–६२ ई०। प्रथम खण्ड की पृष्ठ संख्या ६२+३८६=४४८।

सवाई जयसिंह ने अपना विश्रुत अश्वमेध किया था जिसमे निमन्त्रित होने पर भी क्षेत्रसन्यास लेने के कारण नागेश सम्मिलित नहीं हो सके थे – ऐसी प्रख्यात किम्वदन्ती है। फलत नागेश की स्थिति लगभग १६७५ ई० -१७४५ ई० तक मानना कथमपि अनुपयुक्त नही होगा।

नागेश का वैशिष्टच

नागेश का वैदुष्य व्याकरण-शास्त्र मे अनुपम था। अपने प्रौढ ग्रंथों की रचना के कारण वे अपने युग मे भी प्राचीन शास्त्रो के मर्मवेत्ता तथा विशिष्ट वैदुष्य मण्डित पण्डित माने जाते थे। उद्योत के द्वारा महाभाष्य के तथा शब्देन्दु शेखर (वृहत् तथा लघु द्विविध सस्करण) के द्वारा प्रौढ मनोरमा के गम्भीर रहस्यो की पूर्ण अभिव्यक्ति करने मे वे सर्वथा समर्थ हैं–इस विषय मे विद्वानो मे ऐकमत्य है। परिभाषेन्दु-शेखर में उन्होंने विशेष अनुशीलन के द्वारा परिभाषाओ के स्वरूप तथा क्षेत्र का विशिष्ट प्रतिपादन कर विषय को नवीनता के साथ उपस्थित किया। आज के व्याकरण युग को 'शेखर-युग' की संज्ञा देना नितान्त समुचित है। शेखर इतना छाया हुआ है आज हमारे व्याकरण अनुशीलन पर कि इसके मूलभूत ग्रंथ महाभाष्य का अध्ययन अध्यापन नगण्य हो गया है। आज शेखर का विजय नागेश के पाडित्य का ही डिण्डिम-घोष है।

परन्तु यथार्थ मे नागेश का वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा ही सर्वाधिक मौलिक ग्रंथ है जो पाणिनीय दर्शन के विस्मृत स्वरूप को विद्वानों के सामने पूर्ण वैभव के साथ प्रस्तुत करने मे कृतकार्य हुआ है। व्याकरण दर्शन का बीज तो अष्टाध्यायी मे ही है, उसे अकुरित किया दाक्षायण व्याडि ने अपने लक्ष श्लोक परिमाण वाले 'संग्रह' मे उसे पल्लवित पुष्पित किया पतञ्जलि ने महाभाष्य मे और उसे फल सम्पन्न बनाया भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में। परन्तु वाक्यपदीय के लुप्तप्राय अध्ययन तथा अनुशीलन को १८वी शती के मध्य भाग मे नागेशभट्ट ने सिद्धान्त मञ्जूषा के द्वारा पुन प्रवर्तित किया और वैयाकरणों का ध्यान इस विषय की ओर बलात् आकृष्ट किया। व्याकरण के दर्शनत्व की प्रतिष्ठा की ओर नागेश की समस्त वैदुष्य की धारा अग्रसर होती है। उन्होने वाक्यपदीयके अध्ययनकी ओर विद्वानो का जो ध्यान आकृष्ट किया, वह क्षणिक ही रहा। उसे स्थायित्व प्राप्त न हो सकी। यह सौभाग्य का विषय है कि विद्वानों की दृष्टि आजकल वाक्यपदीय के गम्भीर तथा सर्वाङ्गीण अनुशीलन के प्रति आकृष्ट हुई है। इस प्रसग मे ध्यान देने की बात है कि भर्तृहरि ने पाणिनीय तन्त्र के दार्शनिक तथ्यो की अवगति के लिए व्याकरण आगम की ओर स्पष्ट संकेत किया है। यह आगम शैव-आगम की ही अन्यतम धारा थी। आज शैव आगम को विभिन्न धाराओ के तथ्यो से हमारा परिचय बढता जा रहा है। उत्तर भारत में काश्मीर का अद्वैतवादी त्रिकदर्शन तथा दक्षिण भारत मे द्वैतवादी शैवसिद्धान्त उसी शैवागम

के ऊपर आधारित दार्शनिक सम्प्रदाय हैं। व्याकरण-दर्शन का भी इस शैवागम के साथ पूर्ण सम्बन्ध है---भर्तृहरि ने अपने ग्रंथ में इसका विशद संकेत किया है। इस शैवागम के साथ पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कर ही व्याकरणदर्शन अपनी विशद अभिव्यक्ति कर सकता है। नागेश के ग्रंथों में इस शैवागम के सिद्धान्तों के साथ व्याकरण का कितना सामञ्जस्य स्थापित किया गया है--यह तो उनके ग्रन्थों के गम्भीर अनुशीलन अध्ययन के बाद ही निश्चित किया जा सकता है। परन्तु आलोचकों के चित्त में यह सन्देह जागरूक है कि नागेश ने शैवागम की अपेक्षा अद्वैत-वेदान्त के प्रकाश में ही पाणिनीय दर्शन की व्याख्या प्रस्तुत की है। लगभग एक सहस्र वर्षों के अनन्तर वाक्यपदीय के महत्त्व की ओर विद्वानों के ध्यान आकृष्ट करने के लिए पण्डित,समाज नागेशभट्ट का सर्वदा अधमर्ण रहेगा। और नागेश की सार्वभौम प्रतिष्ठा का यही मर्म है।

नागेश की गुरु शिष्यपरम्परा

नागेश भट्ट ने महाभाष्य का अध्ययन भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित से किया था तथा न्यायशास्त्र का अध्ययन रामराम भट्टाचार्य से किया था जो काशी में इस युग के प्रख्यात तर्कवेत्ता थे। नागेश को अपने गुरु पर असीम श्रद्धा थी और श्री रामराम की अनुकम्पा से न्यायशास्त्र के अपने गम्भीर ज्ञान पर भी उन्हें सविशेष गर्व था। इस तथ्य का संकेत उन्होंने लघुमञ्जूषा में इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

> अधीत्य फणिभाष्याब्धिं सुधीन्द्र-हरिदीक्षितात् ।
> न्यायतन्त्रं रामरामाद् वादिरक्षोघ्नरामतः ॥
> दृढस्तर्कोऽस्य नाभ्यास' इति चिन्त्यं न पण्डितैः ।
> दृषदोऽपि हि सन्तीर्णाः पयोधौ रामयोगतः ॥

इन दो गुरुओं के अतिरिक्त इनके अन्य गुरु का परिचय हमें प्राप्त नहीं है।

इनके अनेक शिष्य रहे होंगे, यह कल्पना अनुचित नहीं है, परन्तु इन शिष्यों में अग्रणी थे—वैद्यनाथ पायगुण्डे। इन्होंने अपने गुरु के प्रायः समग्र वैयाकरण ग्रन्थों के ऊपर गुरु की मर्मप्रकाशिका व्याख्यायें लिखी हैं जिनमें नागेश के भावों का विशद विशदीकरण है। इनके पिता का नाम महादेव भट्ट था। गुरु के समान ही वैद्यनाथ भी व्याकरण के पारगामी पण्डित थे। इनके नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—(१) शब्दकौस्तुभ की टीका (प्रभा), (२) शब्दरत्न की टीका (भाव-प्रकाशिका), (३) उद्योत की टीका (छाया) (४) लघुशब्देन्दुशेखर की टीका (चिदस्थिमाला), (५) परिभाषेन्दु की टीका (गदा और काशिका) (६) मञ्जूषा की टीका (कला), (७) लघुशब्दरत्न की टीका तथा (८) प्रत्यय का खण्डन। ये टीकायें प्रमेय-बहुल, प्रख्यात तथा प्रकाशित हैं।

वैद्यनाथ पायगुण्डे के पुत्र का नाम था—बालम्भट्ट पायगुण्डे। ये वैयाकरण से बढ़कर धर्मशास्त्री थे। और धर्मशास्त्र के इतिहास में इनका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने 'मिताक्षरा' के ऊपर लक्ष्मी नामक व्याख्या लिखी। जिसके आचार-खण्ड और व्यवहार-खण्ड का ही प्रकाशन हो चुका है। बालम्भट्टी के अन्वर्थक नाम्ना प्रख्यात यह ग्रन्थ वाराणसी सम्प्रदाय के धर्मशास्त्रियों का उपजीव्य मुख्य ग्रन्थ है। इन्होंने डा० कोलब्रूक के आदेश से तथा अपने शिष्य मनुदेव के सहयोग से धर्मशास्त्र-संग्रह नामक ग्रन्थ लिखा (१८०० ई०) इससे पूर्व सर विलियम जोन्स द्वारा संगृहीत संस्कृत ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद कोलब्रूक[१] ने A Digest of Hindu Law (ए डाइजेस्ट आफ हिन्दू ला) के नाम से १७९१ ईस्वी में किया। यह ग्रन्थ अंग्रेजी न्याय-वेत्ताओं के लिए हिन्दू धर्मशास्त्र का परिचय देने वाला मुख्य ग्रन्थ है। इसका उपयोग कर वे १८वीं शती के अन्तिम चरण तथा १९वीं शती में हिन्दुओं के अभियोगों में फैसला देते रहे हैं। बालम्भट्ट ने सन् १८३० ई० में ९० वर्ष की आयु में देह त्याग किया।

बालम्भट्ट के प्रधान शिष्य मनुदेव वैयाकरण थे। इन्होंने कोण्डभट्ट के वैयाकरण भूषणसार की टीका लघु भूषण-कान्ति के नाम से की है। इन्होंने अपने गुरु बालभट्ट को 'धर्म-शास्त्र-संग्रह' की रचना में साहाय्य दिया। कोलब्रूक के समकालीन होने से इनका समय १८वीं शती का अन्त तथा १९वीं शती का प्रथम चरण है (लगभग १७७५ ई०–१८३५ ई०)।

नागेश के अनन्तर

नागेश भट्ट का स्वर्गवास लगभग १७४५ ई० में हुआ। उस समय से अर्ध-शताब्दी बीतने न पायी कि काशी में अंग्रेजों के अधिकारी डंकन साहब ने काशी में

१, डा० कोलब्रूक का पूरा नाम हेनरी टामस कोलब्रूक था। इन्होंने (१७६५ ई० १८१७ ई०) भारतवर्ष में उच्च पदों पर काम किया। उस युग के सबसे श्रेष्ठ न्यायालय के सर्वोच्च न्यायाधीश थे। संस्कृत से परिचय होने पर उन्होंने स्वयं संस्कृत साहित्य के विविध विभागों पर अपने गवेषणापूर्ण निबन्ध लिखे। अंग्रेज न्यायाधीशों के काम में सहायतार्थ 'धर्मशास्त्रसंग्रह' की रचना इन्होंने ही करवाई। १७८२ ई० में भारत आये तथा १८१४ ई० में भारत से सर्वदा के लिए विदाई ली। प्रख्यात गणितज्ञ भी थे। विस्तृत जीवनी के लिए द्रष्टव्य—डिक्शनरी आफ इण्डियन बायोग्रफी (बकलैंड रचित, १९०६) पृष्ठ ८९-८८ तथा एमिनेन्ट ओरियण्टलिस्ट (नटेसन एण्ड को०, मद्रास पृष्ठ ४७-६१)।

संस्कृत कालेज की स्थापना २१ अक्टूबर १७९१ ई० में की। महाराजा काशीनरेश के द्वारा संस्कृत विद्या के अध्यापनार्थ पाठशाला की स्थापना इससे पूर्व ही स्थापित की गई थी। डंकन साहब ने इसी पाठशाला को संस्कृत कालेज के रूप में परिवर्तित किया। यही संस्कृत कालेज आज पचीस वर्षों से सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में परिणत होकर संस्कृत की वृद्धि कर रहा है। कालेज का इतिहास अभी तक पूर्णतया निबद्ध नहीं किया गया, परन्तु इतना तो निश्चित सा है कि इस विद्यालय के संस्कृत शास्त्रों के अध्यापकों ने नवीन ग्रन्थों का प्रणयन कर संस्कृत विद्या को आगे बढाया। यहाँ के अध्यापकों ने भी व्याकरणशास्त्र की अभिवृद्धि में विशेष योगदान दिया। नागेश भट्ट का आविर्भाव लगभग दो सौ वर्षों से अधिक पूर्व की घटना नहीं है, परन्तु इसी के बीच में उनका पाण्डित्य, प्रभाव तथा व्यक्तित्व व्याकरणशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन पर छा गया है। उनके शेखर तथा मञ्जूषा का ज्ञान ही वैयाकरणत्व का निकष माना है। नागेश का प्रामुख्य उनके टीकाकारों के विपुल प्रयास का परिणत फल है। इसके सम्पादन में उनके शिष्य-प्रशिष्यों का बड़ा हाथ है। वैद्यनाथ पायगुण्डे ने अपने गुरु के ग्रन्थों पर विशद टीकायें लिखीं। भैरव मिश्र ने शब्देन्दुशेखर पर विस्तृत टीका द्वारा जो उनके नाम पर भैरवी की आख्या धारण करती है उसे सुबोध तथा लोकप्रिय बनाया। इस टीका की रचना १८२४ ई० में हुई जिससे इनका आविर्भाव काल १९वीं शती का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। संस्कृत कालेज से सम्बद्ध अनेक पण्डितों ने व्याकरणशास्त्र को न्यास तथा परिष्कार पद्धति देकर तथा नव्य-न्याय की शैली का आश्रय लेकर आगे बढ़ाया।

काशी में व्याकरणशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में परिष्कार शैली के पुरस्कर्ता थे कूर्माञ्चल के मूल निवासी पण्डित गङ्गाराम जी। ये अलमोड़ा से १९वीं शती के आरम्भ में काशी आये। नव्य न्याय के साथ पाणिनीय व्याकरण के ये अद्भुत मर्मज्ञाता विद्वान् थे। नव्य न्याय के तत्त्वों के आलोक में व्याकरण का परिशीलन इनकी अद्भुत प्रतिभा की एक श्लाघनीय दिशा थी। इन्होंने ही सूत्रों के अर्थ निर्धारण में नव्य न्याय की अवच्छेदकावच्छिन्न वाली शैली का प्रयोग किया जिससे वे परिष्कार-शैली के जन्मदाता माने जाने लगे। उस समय के उद्भट वैयाकरण काशीनाथ कालेकर गंगाराम जी के शिष्य थे और उनके द्वारा यह विद्या काशी के विद्वन्मण्डली में समादृत तथा महिमामण्डित हुई। श्री राजाराम शास्त्री भी उसी युग के मान्य पण्डित थे। काशीनाथ शास्त्री के दो पट्ट शिष्य हुए—(१) बालशास्त्री रानाडे तथा (२) पण्डित मानेश्वर ओझा। ये दोनों सतीर्थ्य थे। मानेश्वर पण्डित इसी काशी मण्डल के बलिया जिले के मूल निवासी थे और प्रन्थलेखक की धर्मपत्नी के पितामह थे। १९०० ई० के आसपास साठ-पैंसठ वर्ष की आयु में उनका वैकुण्ठवास हुआ। प्रक्रिया

के महनीय पण्डित थे। परिभाषेन्दुशेखर की हैमवती[1] नाम्नी व्याख्या उन्ही की प्रतिभा का चमत्कार है। बालशास्त्री अपनी अलोकसामान्य सार्वभौम वैदुष्य के कारण 'बाल सरस्वती' की उपाधि से मण्डित किये गये थे। शास्त्रों के साथ वे वेद के भी बडे विद्वान् थे। उन्होंने बडे समारोह के साथ सोमयाग का सम्पादन किया था। इन्ही के प्रमुख शिष्य थे—दामोदर शास्त्री भारद्वाज, शिवकुमार मिश्र, तात्या शास्त्री पटवर्धन तथा गगाधर शास्त्री। सरस्वती के वरद पुत्र ये महापुरुष चारों महामहोपाध्याय थे तथा सस्कृत कालेज के अध्यापक थे। परिष्कार पद्धति को इन पण्डितो ने और भी आगे बढाया। इनके शिष्य प्रशिष्य की एक शिशिष्ट मण्डली है जो व्याकरण शास्त्रों मे प्रौढ ग्रन्थो का निर्माण भी करती है तथा परिष्कार के परिशीलन मे स्वयं जुटी रहती है। इन्ही पण्डितो के महनीय उद्योग से विश्वनाथ की यह नगरी काशी आज भी व्याकरण-शास्त्र का आदरणीय अखाडा बनी हुई है। पाणिनीय व्याकरण काशी की वैदुषी का निःसन्देह मेरुदण्ड है।

पाणिनीय व्याकरण की विकाश-दिशा

पाणिनीय सम्प्रदाय को अखिल भारतीय होने का गौरव प्राप्त है। इसको कैयट, भट्टोजिदीक्षित और नागेश भट्ट जैसे शास्त्र धुरन्धर विद्वानों के हाथ मे पडने से विद्वत्समाज मे विशेष गौरव तथा सम्मान मिला। इन विद्वानो ने अपनी अलोकसामान्य प्रतिभा के बल पर इस शास्त्र को एक विशिष्ट धारा मे प्रवाहित किया जिससे परिचय रखना शब्दों के साधुत्व ज्ञान के लिए न होकर शब्दार्थ सम्बन्ध के विमर्श के लिए अत्यावश्यक है। इस विशिष्ट धारा का त्रिविध रूप दृष्टिगोचर होता है—पदार्थ चर्चा, न्याय और परिष्कार। पदार्थ चर्चा के कारण अब पाणिनीयव्याकरण पदविद्या न होकर पदार्थविद्या माने जाने लगा। पदार्थ विचार मे अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनावृत्ति धात्वर्थ, प्रतिपादिकार्थ, कारकार्थ, समासार्थ आदि विषयो का समावेश होता है। वैयाकरण सिद्धान्तभूषण तथा लघुमञ्जूषा मे इन समस्त विषयों का बडा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन विषयो पर न्याय तथा मीमासा के भी अपने विशिष्ट मत है। उन मतो के साथ व्याकरण मत का सघर्ष होना स्वाभाविक है। जैसे नैयायिको के मत मे फल और व्यापार धात्वर्थ है तिङ् का अर्थ कृति है। मीमासक फल को धात्वर्थ मानते हैं और व्यापार को तिङर्थ। इन दोनो के विरुद्ध वैयाकरण फल और व्यापार को धात्वर्थ मानते हैं और आश्रय

1 अब यह ग्रन्थ वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हो गया है।

(कर्तृ, कर्म) को तिङर्थ[1]। दृष्टान्तों के सहारे इसे समझना चाहिए। 'देवदत्त ओदनं पचति' इस वाक्य के शाब्दबोध में नैयायिकों के अनुसार कर्ता विशेष्य है—वर्तमानकालिक-ओदनकर्मक-पचनानुकूल-व्यापाराश्रयो देवदत्त। वैयाकरणों के मतानुकूल शाब्दबोध में व्यापार विशेष्य है—देवदत्तकर्तृको वर्तमानकालिक ओदनकर्मक पचनानुकूलो व्यापार। स्फोटवाद के प्रतिपादन में वैयाकरणों ने अपूर्व प्रतिभा दिखलाई। शब्द को अनित्य मानने वाले नैयायिक, शब्द को नित्य मानने वाले मीमांसक इन दोनों के मतों का खण्डन कर वैयाकरणों ने स्फोटवाद का नया सिद्धान्त निकाला, जिसके अनुसार ध्वनिरूप शब्द तो अनित्य है, परन्तु स्फोटरूप शब्द नित्य है। अर्थ के प्रकाशन की क्षमता स्फोट में है, ध्वनि में नहीं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इसी स्फोटरूपी शब्द को ब्रह्म मानकर संसार को शब्दब्रह्म का विवर्त कहा है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

वैयाकरणों ने स्फोट के प्रतिपादनार्थ स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनके कारण विचारशास्त्र के रूप में पाणिनीय व्याकरण का मस्तक ऊँचा हुआ।

प्राचीन वैयाकरण लक्ष्यैक चक्षुष्क थे। वे भाषा में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन कर उनको नियमों के द्वारा बाँधने का उद्योग करते थे। पिछले युग के वैयाकरण लक्षणैक चक्षुष्क बन गये, सूत्रार्थ की व्याख्या तथा सूत्रस्थ पदों की सार्थकता पर ही विचार करना आरम्भ किया, तब उनके स्वतन्त्र मत का परिष्कार दृष्टिगोचर होने लगा। अब मूल ग्रन्थ का प्रणयन उनका ध्येय न था, प्रत्युत पूर्व ग्रन्थों की टीका-उपटीका की रचना तथा मतों का खण्डन मण्डन ही लक्ष्य बन गया। व्याकरणशास्त्र में यह खण्डन मण्डन की परम्परा आज भी जागरूक है और इसका प्रत्यक्ष दर्शन शास्त्रार्थ के अवसर पर हमें होता है। इस परम्परा को हम मोटे तौर से चार भागों में बाँट सकते हैं—प्राचीनतर, प्राचीन, नवीन तथा नवीनतर। प्राचीनतर में वामन जयादित्य, जिनेन्द्रबुद्धि, कैयट, हरदत्त, रामचन्द्र, विट्ठल तथा शेष श्रीकृष्ण आते हैं। प्राचीन में भट्टोजिदीक्षित प्रधान हैं। नवीन में नागेश तथा उनके पट्टशिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड हैं। नवीनतर में शब्दरत्न, शब्देन्दुशेखर तथा परिभाषेन्दुशेखर के टीकाकार हैं। आजकल हम इसी युग में हैं जिसे हम 'शेखर युग' के नाम से अभिहित करते हैं। इन चारों परम्पराओं में उत्तर परम्परा ने पूर्वपरम्परा का खण्डन तो किया ही, किन्तु परम्परा के भीतर भी उत्तर

---

१ फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्॥
— वैयाकरणभूषण, द्वितीय कारिका।

विद्वान् पूर्व विद्वान् का खण्डन करते थे। जैसे जिनेन्द्रबुद्धि का खण्डन हरदत्त ने किया। इस प्रणाली को भट्टोजिदीक्षित ने खूब प्रोत्साहन दिया जिसके फलस्वरूप उनके टीकाकारों ने इस शैली की खूब ही वृद्धि की। उधर नव्य न्याय की विषय-प्रतिपादन की तथा सम्बन्ध निर्णय की शैली ने व्याकरणशास्त्र के भीतर प्रवेश किया, तब वैयाकरणो ने अपनी बुद्धि की प्रखरता दिखलाने के लिए न्यास का आश्रय लिया। न्यास शैली है ग्रंथ नही। पाणिनि के किसी सूत्र को लेकर उसमे लाघव के लिए परिवर्तन करने के प्रयास को न्यास की पारिभाषिक सज्ञा दी जाती है। सूत्रो में परिवर्तन करने मे कौन सी कठिनाई उत्पन्न हो सकती है और उस कठिनाई का दूरीकरण किस प्रकार किया जा सकता है—आदि विषयो का सूक्ष्म विचार इतनी प्रौढता से किया जाता है कि वास्तव मे बुद्धि-वैभव के चमत्कार को देखकर चकित हो जाना पडता है। यह शास्त्रार्थ प्रणाली काशी के वैयाकरणो का महती देन है—उनकी बुद्धि का विशद चमत्कार है। पहले ये युक्तियां गुरुमुखैकगम्य थी। आज अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो गये हैं। फलत अध्ययन के लिए ये उपलब्ध हैं, परन्तु उनके भीतर प्रवेश करना तथा शाब्दिक चक्रव्यूह को भंग करना गुरुकृपा की पूर्ण अपेक्षा रखता है।

आज वाराणसेय वैयाकरणो के सम्प्रदाय मे जो नवीनतम प्रणाली प्रचलित है वह न्यास नही, परिष्कार है। नव्यन्याय की अवच्छेदकावच्छिन्न शैली मे सूत्रार्थ की व्याख्या करना परिष्कार कहलाता है। न्यास का प्रचार व्याकरण के छात्रो के लिए है, परिष्कार का प्रचार व्याकरण के विद्वानो के निमित है। इस शैली का आरम्भ नागेशभट्ट से होता है और उनके उत्तरकालीन टीकाकारो के ग्रन्थो मे यह शैली अपने अपूर्व वैभव के साथ हमारे सामने उपस्थित होती है। समय के प्रवाह मे उत्तरोत्तर टीकायें परिष्कार से जटिल होती जाती है। उदाहरणार्थ गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित लघुशब्देन्दु शेखर का षट्-टीका सम्पन्न नवीनतम सस्करण देखने योग्य है। परिभाषेन्दु शेखर को तात्याशास्त्री की भूति टीका मे तथा जयदेव मिश्र की विजया टीका मे भी इसका स्वरूप देखने योग्य है। परिभाषेन्दुशेखर की पण्डित वागेश्वरशास्त्री रचित हैमवती टीका में परिष्कार शैली के स्थान पर अन्वीत प्रक्रिया शैली का ही विशुद्ध रूप देखने को मिलता है। इधर ग्रन्थों के प्रकाशन से परिष्कार शैली के मूर्तमय विग्रह का दर्शन आलोचको को होने लगा है। यह शैली वाराणसेय वैयाकरणों की ही देन है। उचित है कि इस शैली की रक्षा की जाय। शास्त्रार्थ की प्रणाली का सरक्षण होना चाहिये जिससे काशी का यह वैशिष्टय अक्षुण्ण बना रहे। भगवान् विश्वनाथ की भूयसी अनुकम्पा से ही इस शास्त्र का सरक्षण हो सकेगा। तथास्तु।

———

पंचम खण्ड

पाणिनीय-तन्त्र के खिल ग्रन्थ

पाणिनीय सम्प्रदाय को अथवा किसी भी व्याकरण सम्प्रदाय की समग्रता के हेतु पाँच अंगो से विभूषित होना नितान्त आवश्यक होता है। इसलिए सम्पूर्ण व्याकरण को पञ्चाङ्ग[1] व्याकरण कहा जाता है। इन पाँच अंगो मे सूत्रपाठ तो मुख्य ही है और उसके सहायक अथवा पूरक होने से इतर अंगो की भी उपयोगिता है। इन्हें ही खिल ग्रन्थ अथवा परिशिष्ट ग्रन्थ के नाम से पुकारते हैं। खिल ग्रंथो मे इनकी गणना मानी जाती है—(१) धातु पाठ, (२) गण पाठ, (३) उणादि पाठ तथा (४) लिंगानुशासन। ये खिल ग्रन्थ अन्य वैयाकरण सम्प्रदायो मे भी पूर्णत अथवा अंशत. विद्यमान हैं। पाणिनीय सम्प्रदाय सर्वाधिक प्राचीन तथा पुष्ट है और महर्षि पाणिनि की ही ये मौलिक रचनायें हैं। फलत उसके लिखे ग्रंथों मे शिक्षा, परिभाषा तथा फिट् सूत्रो का भी समावेश किया जाता है। पाणिनि सम्प्रदाय के सूत्र पाठ के विस्तृत विवरण गत चार खण्डो मे दिये गये हैं। अतएव यहाँ तत् सम्बद्ध खिल ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। इतर व्याकरणसम्प्रदायों के सूत्रपाठ का संक्षिप्त विवरण तो अगले खण्ड मे दिया जायेगा, परन्तु उनके खिल ग्रंथों का परिचय स्थानाभाव के कारण देने का अवकाश यहाँ नही है।

(१) धातु-पाठ

यह बडे ही सौभाग्य का विषय है कि पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणो मे आचार्य काशकृत्स्न का धातु-पाठ अविकल रूप से प्राप्त है तथा उसके ऊपर कन्नड देश के वैयाकरण चन्न वीर कवि द्वारा निर्मित वृत्ति भी प्राप्त है। इस वृत्ति को संस्कृत के विद्वानो के सामने प्रस्तुत करने का श्रेय श्री युधिष्ठिर मीमांसक को है जिन्होने बड़े परिश्रम से कन्नड वृत्ति का हिन्दी रूपान्तर करा कर तथा संस्कृत मे अनूदित कर

---

[1] इस प्राचीन श्लोक में पाणिनीय सम्प्रदाय के पञ्चाङ्गों का निर्देश इस प्रकार है।

अष्टकं गणपाठश्च धातुपाठस्तथैव च।
लिङ्गानुशासनं शिक्षा पाणिनीया अमी क्रमात्॥

प्रकाशित किया है[1]। इस धातु-पाठ के अनुशीलन से पाणिनीय धातु-पाठ की अपेक्षा अनेक विशिष्टतायें परिलक्षित होती हैं जिसमे दो चार का निर्देश यहाँ किया गया है—

(१) इस धातु-पाठ मे नव ही गण हैं, पाणिनितन्त्र के समान दश गण नहीं हैं। जुहोत्यादि अदादि के अन्तर्गत निविष्ट किया गया है। धातुओं का चयन प्रत्येक गण में बडी सुव्यवस्था से किया गया है। प्रथमत परस्मैपदी-धातुयें पठित हैं, अनन्तर आत्मनेपदी तथा अन्त मे उभयपदी। पाणिनि तन्त्र मे इतनी सुव्यवस्था नही है।

(२) धातुओ की सख्या भी पाणिनि से अधिक हैं। इसके सम्पादक का कथन है कि स्वादि गण मे पाणिनीय धातु-पाठ से ४४० धातुयें अधिक है। अन्य गणो मे धातु की सख्या प्राय बराबर है। पाणिनि मे अपठित परन्तु काशकृत्स्न मे पठित धातुओं की सख्या लगभग आठ सौ हैं। अतएव कमी-बेशी को ध्यान मे रखकर सम्पादक सढे चार सौ धातुओ को यहाँ अधिक बतला रहे हैं।

(३) अनेक नवीन धातुओ की यहाँ सत्ता है। पाणिनि द्वारा अपठित परन्तु लोक-वेद मे उपलभ्यमान बहुत सी धातुओ की सत्ता इस धातु पाठ को विशेष महत्त्व प्रदान करती है। 'अथर्व शब्द हिंसार्थक थर्व धातु से निष्पन्न है। यह धातु-यहाँ पठित है। हिन्दी में ढूंढना की प्रकृति 'ढुंढि' धातु यहाँ निर्दिष्ट है[2] (स्वादि गण मे धातु सख्या १९१)। सिंह शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनीय परम्परा मे हिंसी (हिंस) धातु से वर्णव्यत्यय करने पर सिद्ध मानी जाती है। महाभाष्यकार का ही यह मत नही है, प्रत्युत यास्क को भी यह सम्मत है (हिंसेर्वा स्याद् विपरीतस्य, निरुक्त ३।१८) परन्तु काशकृत्स्न ने पिहि हिंसायाम् एक नवीन धातु का प्रवचन किया है (स्वादि गण धातु-सख्या ३१६) जिसमे बिना किसी व्यत्यय के सिंह शब्द निष्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार अनेक शब्दो की निष्पत्ति के लिए पाणिनितन्त्र मे लोप, आगम, वर्ण विकार आदि का आश्रयण लेना पडता हैं, परन्तु काशकृत्स्न ने उसके लिए नवीन धातुओ का ही प्रवचन किया हैं। प्रतीत होता है कि यह उनकी मौलिक सूझ है। व्युत्पन्न प्रतिपादित पक्ष को मानने पर सीधे धातुओ से शब्दो की निष्पत्ति के लिए ऐसी धातुओं की सत्ता अनिवार्य है।

(४) इस धातु-पाठ का पाणिनीय धातु-पाठ से तुलना करने पर अनेक भाषाशास्त्रीय तथ्यो की अवगति हो सकती हैं। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। पाणिनीय

---

१ द्रष्टव्य काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम। सस्कृत रूपान्तरकर्ता श्री युधिष्ठिर मीमासक, प्रकाशक भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, वि० स० २०२२।

२, ढुढि अन्वेषणे—अनुसन्धाने। ढुण्ढति=अन्वेषयति। ढुण्ढि=काशीविनायक। काशी में ढुण्ढिराज गणेश की यह व्याख्या पुराणसम्मत है।

धातु-पाठ मे वेवीङ् धातु पठित है अदादि गण मे। वहाँ पाठ है वेवीङ् वेतिना तुल्ये जिसकी सायण कृत व्याख्या है—'वी-गति' इत्यनेन तुल्येऽर्थे वर्तते अर्थात् सायण के मत मे वेवी धातु का अर्थ गमन है। मेरी दृष्टि मे यह धात्वर्थ निरूपण पाणिनि से प्राचीन है। काशकृत्स्न का पाठ है-'वेवीङ् वेतना-तुल्ये'—कर्मकरवद् व्यवहारे। फलत वेतन देने या मजूरी करने के अर्थ मे इस धातु का प्रयोग होता था। 'वेवीते' का अर्थ है मजूरी करता है और 'वेविता' का अर्थ है मजूरा, 'वेवियन' तथा 'वेवय' का अर्थ है मजूरी। इन शब्दो के प्रयोग से ही अर्थ की परीक्षा यथाविधि हो सकती है। पाणिनीय सम्प्रदाय मे यह वैदिक धातु है, लौकिक नही। वेद मे इसका प्रयोग अर्थ की निश्चिति के लिए ढूंढना चाहिए। मेरा मत तो यह है काशकृत्स्न का ही पाठ ठीक है वेवीङ् वेतनातुल्ये। वेतन तथा वेतना एक ही शब्द है। किसी प्रकार पाठभ्रष्ट होकर 'वेतनातुल्ये' के स्थान पर 'वेतिनातुल्ये' हो गया। लौकिक प्रयोगों के परिज्ञान के अभाव मे यह अशुद्ध पाठ आज भी चला आ रहा। वैयाकरणा एव प्रमाणम्।

पाणिनि का धातु-पाठ

पाणिनि का धातु-पाठ पाणिनीय व्याकरण का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, पाणिनि के धातुओं की सख्या लगभग दो सहस्र के है। ये धातुयें भ्वादि-अदादि दश गणों में विभक्त है। प्रत्येक धातु के साथ अर्थ-निर्देश किया गया आज मिलता है। विचारणीय प्रश्न है कि यह अर्थ निर्देश किंकर्तृक है पाणिनि ने स्वय इन अर्थों का निर्देश किया ? अथवा उनके मतानुसारी किसी अन्य वैयाकरण ने इसका निर्देश किया ? इसके विषय में दो मत उपलब्ध होते हैं-(क) कतिपय आचार्यों का का कहना है कि पाणिनि ने विशुद्ध धातुओं का पाठ ही लिखा जैसे भ्वेधस्पर्ध आदि। अर्थ का निर्देश किसी भीमसेन नामक वैयाकरण ने किया। महाभाष्यकार का कथन इस पक्ष मे सहायक है—

परिमाण-ग्रहणं च कर्तव्यम्। इयानवधिर्धातुसंज्ञो भवतीति वक्तव्यम्। कुतो ह्येतद् भूशब्दो धातुसंज्ञो भवति न पुनर्वेध् शब्द. (म० भा० १।३।१)।

इसका तात्पर्य स्पष्ट है। यदि 'भू' के बाद 'सत्तायाम्' अर्थ की योजना रहती, तो अवधि का तो निश्चय हो ही गया रहता। इस नियम प्रतिपादक वचन की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार के भाष्यवचनों को आधार मानकर भट्टोजिदीक्षित ने तो बड़े ही स्पष्ट शब्दों में धात्वर्थ निर्देश को अपाणिनीय माना है—

न च या प्रापणे इत्याद्यर्थनिर्देशो नियामक, तस्यापाणिनीयत्वात् भीमसेनादयो ह्यर्थं निर्दिदिशुरिति स्मर्यते। पाणिनिस्तु भ्वेध इत्यपाठीत् इति भाष्यसंमतपक्षो. स्पष्टम्-शब्द-कौस्तुभ (१।३।१)।

यहाँ तथा अन्यत्र इस प्रसग मे निर्दिष्ट **भीमसेन** का परिचय आगे दिया गया है। बहुल निर्देश से इनकी महत्ता स्पष्ट सूचित होती है।

(ख) अन्यत्र किन्ही आचार्यों के मत मे अर्थ-निर्देश स्वय पाणिनि निर्मित है। महाभाष्य में तो पाणिनि निर्दिष्ट अर्थ तथा व्यवहार मे प्रचलित अर्थ मे पार्थक्य स्पष्ट दिखलाया गया है। वप धातु का अर्थ है बीज को खेत म छीटना (प्रकिरण) परन्तु व्यवहृत अर्थ है छेदन। (जैसे केश श्मश्रु वपति)[1]। वृधातु के इस अर्थ द्वैविध्य का उल्लेख पतञ्जलि के प्रसग मे किया गया है[2]। इसमे 'इष्ट अर्थ तो पाणिनि स्मृत अर्थ ही है। बहुत से वैयाकरण धातु पाठ मे अर्थ निर्देशक पदों को प्रामाण्य मानते हैं। काशिका 'उद्यम' तथा 'उपरम' शब्दों को इसीलिए साधु मानती है कि ये दोनो शब्द धातु के अर्थ निर्देशन मे प्रयुक्त हैं[3]। न्यास विधूनन तथा प्रीणन शब्दो मे निपातनात् नुग् मानता है और यह निपातन धात्वर्थ निर्देश मे हैं[4]। वामन तथा क्षीरस्वामी इसी प्रकार निपात से ही **शोभा** शब्द की सिद्धि मानते हैं।

निष्कर्ष यह है कि धातु का पाठ तथा धातु का अर्थ निर्देश ये दोनो बाते पाणिनि ने स्वय निर्दिष्ट की हैं। भीमसन का अर्थ निर्देश के विषय मे कितना प्रयास था? इसका यथार्थ उत्तर प्रमाणो के अभाव मे नही दिया जा सकता।

यूरोपियन भाषावेत्ताओ ने पाणिनीय धातु पाठ की प्रचुर मीमासा की है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से शब्दो का निष्पादक मूल उपादान तो धातु ही है। धातुओ से प्रत्ययों के योग से शब्दो की सिद्धि होती है। इस प्रसग मे गत शताब्दी के अमेरिकन भाषा-शास्त्री डा० ह्विटनी ने पाणिनि के धातुओ के विषय मे विशेष आलोचना की है जिसका साराश इतना ही है कि दो सहस्र धातुओ मे से केवल नौ सौ के लगभग धातु ही प्रयुक्त हैं तथा उपादेय हैं क्रिया पदो की सिद्धि के लिए तथा सज्ञापदो की निष्पत्ति के लिए। लगभग एक सहस्रो से ऊपर धातुओं को उन्होंने अप्रयुक्त होने से निरर्थक माना है। भाषाशास्त्र के इतिहास मे उनका बडा नाम है और उनका काम है सस्कृत भाषा के ऐतिहासिक व्याकरण (हिस्टारिकल ग्रामर आफ सस्कृत) का प्रणयन, जिसमे सस्कृत

---

१. वपि प्रकिरणे दृष्ट छेदने चापि वर्तते। केशश्मश्रु वपतीति।
—म० भा० १।३।१।

२. द्रष्टव्य इसी ग्रंथ का पृष्ठ ४५८।

३ कषमुद्यमोपरमौ अड उद्यमे यम उपरमे इति निपातनादनुगन्तव्यौ।
—काशिका ७।३।१४।

४ धू विधूनने तृप प्रीणने इति निपातनादेतयोर्नुगभविष्यति। —न्यास।

५ शुभ शुम्भ शोभार्थे। अतएव निपातनात् शोभा साधु।
—क्षीरतरगिणी ६।३३।

के शब्दरूपों की वैदिक पूर्वपीठिका भी उपन्यस्त की गई है। यह व्याकरण पर्याप्तरूपेण प्रख्यात है। परन्तु धातु-विषयक उनके विचार नितरां अनुचित तथा अयुक्त हैं।

इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि संस्कृत-धातुओं की प्रयुक्तता के अनुशीलन के निमित्त केवल संस्कृत काव्यादिकों का अन्वेषण यथार्थ नहीं है। वैदिक तथा पौराणिक साहित्य का भी गम्भीर परिशीलन आवश्यक है। भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं का भी तो मूलस्रोत संस्कृत ही है। ऐसी दशा में इन भाषाओं में यदि संस्कृत धातु उपलब्ध हो रहे हैं, तो उनके ऊपर अप्रयुक्तता का लाछन कैसे लगाया जा सकता है। ऐसी तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर संस्कृत में अप्रयुक्त धातुओं की संख्या बहुत ही न्यून है, यदि उसकी सत्ता मानी ही जाय। दो-चार उदाहरणों से इसकी उपपत्ति यहाँ दिखलाई जाती है—

(१) मेथ धातु—इसका अर्थ हेमचन्द्र तथा वोपदेव के अनुसार मेधा, हिंसा तथा संङ्गम है (मेथा हिंसयो सङ्गमे चेति हेमचन्द्र)। इससे निष्पन्न प्रधान शब्द मेथी है जिसका अर्थ स्तम्भ है (मेथन्ते=सगच्छन्ते पशवोऽत्र)। मेथी शब्द वेद में प्रयुक्त है—इह मेथिमभिसंविशध्वम् (अथर्व ८।१।२०), विष्णवे त्वेति मेथिम् (शत० ब्रा० ३।५।३२१)। दिव्यावदान में इसी अर्थ में मेंधि ('मेथि' का ही रूपान्तर) है। तथा भोजपुरी में मेंहो, मेंढ़ प्रयुक्त होते हैं उस खम्भे के लिए, जिसके चारों ओर बैल दँवरी करते हुए घूमते हैं।

(२) मस् धातु (मसी)—इसका अर्थ है परिणाम = विकार (क्षीरस्वामी)। इसी धातु से निष्ठा में बनता है—मस्त जो स्वार्थ-कप् होने से बनता है—मस्तक। घञ् प्रत्यय से बनता है—मास। प्रत्येक तिथि को विकार धारण होने के कारण ही इन्दु कहलाता है।—माष्। यदि आह्लादे से निष्पन्न 'चन्द्र' प्रथमतः विशेषण रूप में प्रयुक्त होता था चन्द्र + मस् (= आह्लादक इन्दु) कालान्तर में विशेषण विशेष्य के साथ संयुक्त होने से बना चन्द्रमा।

(३) मुर् धातु = संवेष्टन (अच्छी तरह से घेरना); इससे निष्पन्न शब्दों पर ध्यान दें। मुरा = गन्धद्रव्य-विशेष (मुरति=सौरभेण वेष्टयति), मुरला = नदी विशेष (उत्तर रामचरित तृतीय अंक, मुरम्-वेष्टनं लाति); मुरली = कृष्ण की बंसी (स्वर-सौन्दर्येण वेष्टयति), हिन्दी में मुरना, मुड़ना तथा, मोड़ना इसी के विभिन्न रूप हैं[१]।

१. 'मुरारि' शब्द का व्युत्पत्ति ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्ण जन्म खण्ड ११० अ० में इस प्रकार है—

> मुर क्लेशे च दन्तारे कर्मभोगे च कर्मिणाम्।
> दैत्यभेदेऽप्यरिस्तेषां मुरारिस्तेन कीर्तित.॥

(४) कङ्क् (ककि गतौ) गत्यर्थक कङ्क् धातु से सस्कृत तथा हिन्दी में अनेक शब्द बनते हैं। कङ्कत='कघी' के अर्थ मे इसी धातु से अतच् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। वेद तथा काव्यों मे बहुश प्रयुक्त है। ऋ० १।१९१।१, अ० वे० १४।२।६८ तथा वाल्मीकि रामायण मे २।९१।७७ मे यह शब्द प्रयुक्त है। कङ्क एक विशिष्ट पक्षी का नाम भी है (कङ्कते उद्गच्छतीति कङ्क पक्षिविशेष)। हिन्दी मे इससे निष्पन्न अनेक शब्द हैं—कगल (= कवच), कगन (कङ्कणम्), खख (खाली) कगाल तथा खक (बुभुक्षित तथा दुबल)।

इन चारों धातुओ से इतने प्रयोगो की निष्पत्ति होने पर भी इन्हें अप्रयुक्त तथा अव्यवहार्य बतलाना क्या समुचित है ? डा० ह्विटनी के द्वारा अप्रयुक्त घोषित धातुओं मे अधिकाश प्रयुक्त हैं—साक्षात् रूप से या परम्परया। फलत पाणिनीय धातुओ को उपादेय मानना ही साधु पक्ष है[1]।

धातु-वृत्तियाँ

क्षीरतरङ्गिणी[2]

पाणिनीय धातुओ के ऊपर अनेक आचार्यों ने व्याख्यायें लिखी हैं। इन व्याख्याओ मे धातु के विशिष्ट रूप ही नही प्रदर्शित हैं, प्रत्युत उनसे उत्पन्न शब्दों की भी यहाँ तुलनात्मक मीमासा है। अत इन व्याख्याओं का अनुशीलन शब्द सिद्धि के परिज्ञान के निमित्त आवश्यक साधन है। ऐसे व्याख्या-ग्रथो मे क्षीरतरङ्गिणी सव-प्राचीन तथा विशिष्ट रूपेण प्रामाणिक है।

इसके रचयिता क्षीरस्वामी का परिचय अमर-कोष के टीकाकारों के विवरण-प्रसग मे पूर्व ही (पृष्ठ ३४४–३४७) पर दिया गया है। ये काश्मीरी ग्रथकार हैं ११वीं शती के उत्तरार्ध मे विद्यमान। युधिष्ठिर मीमासक ने शब्दों के ऊपर तुलनात्मक टिप्पणी देकर इसे विशेषरूप से उपयोगी बनाया है। क्षीरतरङ्गिणी धातु पाठ की

---

१ पाणिनीय धातुओ के विशेष अनुशीलन के लिए द्रष्टव्य—डा० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी पाणिनीय धातु पाठ-समीक्षा।

(प्र० वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, काशी, १९६५)।

२ इसका प्रथम प्रकाशन १९३० ई० मे जर्मन विद्वान् डा० लिबिश ने जर्मन भाषा मे लिखित टिप्पणियों सहित किया। इस वृत्ति का भूमिका-टिप्पणी आदि से मण्डित सुन्दर सस्करण श्री युधिष्ठिर मीमासक ने प्रकाशित किया है।

—रामलाल कपूर ट्रस्ट, ग्रन्थमाला न० २१, अमृतसर, स० २०१४।

सर्वप्राचीन व्याख्या है। अपने विषय में प्रथम व्याख्या होने पर भी क्षीरस्वामी की तुलनात्मक दृष्टि विशेष प्रशंसनीय है। एक धातु से जितने विशिष्ट संज्ञापद तथा क्रियापद उत्पन्न होते हैं, उन सबका निर्देश ग्रन्थकार ने इस व्याख्या में देकर इसे अत्यन्त प्रामाणिक तथा उपयोगी बनाया है। इस कार्य के लिए उणादि सूत्रोंका भी पर्याप्त निर्देश है। धातु के विशिष्टरूपों की सिद्धि में तत्तत् सूत्रों का उल्लेख लाभकारी है। क्षीरस्वामी अनेक विशिष्ट पाठों को निर्णय में असमर्थता प्रकट करते हैं। जैसे चर्च झर्छ झर्झ परिभाषणे (भ्वादि सं० ४७२) इस धातु के अनेक पाठान्तरों को देकर वे कह उठते हैं—किमत्र सत्यं देवा जानन्ति। चान्द्रव्याकरण में दिये गये धातुओं से विशेषरूप से तुलना की गई है। फलत क्षीरस्वामी की तुलनात्मक अध्ययन दिशा आजकल के विद्वानों के लिए भी माननीय है।

धातु-प्रदीप

धातु प्रदीप के रचयिता मैत्रेय रक्षित थे जो धर्म से तो बौद्ध थे तथा पाण्डित्य से महावैयाकरण थे। वकारादि तथा बकारादि धातुओं के स्वरूप में इन्होंने विशेष ज्ञान प्रदर्शित नहीं किया। व तथा ब का स्पष्ट पार्थक्य बंगीय उच्चारण में उपलब्ध नहीं होता। फलत ये बंगाल के निवासी बंगीय प्रतीत होते हैं।

धातु-प्रदीप—पाणिनीय धातु-पाठ की लघ्वी वृत्ति है। क्षीरतरङ्गिणी का बहुशः निर्देश किया गया है, परन्तु नामत नहीं, केवल अन्ये अपरे आदि पदों के प्रयोग द्वारा ही। फलत. मैत्रेय रक्षित क्षीरस्वामी से अर्वाचीन हैं तथा सर्वानन्द से प्राचीन, क्योंकि इन्होंने अमरकोष की 'टीका-सर्वस्व' नामक स्वीय व्याख्या में धातु-प्रदीप तथा उसकी किसी टीका का निर्देश किया है। टीकासर्वस्व का रचनाकाल स्वय ग्रंथ में १२१५ सवत् (= ११५८ ई०) दिया गया है। फलत इनका काल क्षीरस्वामी तथा सर्वानन्द के मध्य काल में मानना चाहिए ११२५ ई० के आसपास। ये बड़े प्रौढ़ वैयाकरण थे। इनका महत्त्वशाली ग्रंथ है तन्त्र-प्रदीप जिसमें जिनेन्द्र बुद्धि के न्यास की पाण्डित्यपूर्ण टीका है। मैत्रेय ने धातु-प्रदीप की रचना में अपने तुलनात्मक व्याकरण-नैपुण्यका परिचय दिया है जिसमें कलाप तथा चान्द्र व्याकरण का विशेष ज्ञान लक्षित होता है[1]।

दैव तथा पुरुषकार

पाणिनीय धातु-विषयक ग्रन्थों में दैव नामक यह ग्रन्थ अपनी एक विशिष्टता रखता है। ग्रंथकार का नाम है देव और वे इस ग्रंथ को 'अनेक विकरण सरूप-धातु-

---

१. आकृष्य भाष्य-जलधेरथ धातुनाम-पारायणक्षपण-पाणिनि शास्त्रवेदी।
   कालाप-चान्द्रमततत्त्वविभागदक्षो धातुप्रदीपमकरोज्जगतो हिताय ॥
   —धातुप्रदीप का अन्तिम श्लोक।

व्याख्यान' बतलाते है। पाणिनीय धातु पाठ मे भिन्न-भिन्न गणों में पठित अनेक धातु समान आकार वाले उपलब्ध होते हैं। कभी-कभी अर्थ की एकता रहती है, कभी भिन्नता। ऐसे ही सरूप धातुओ का यह श्लोकबद्ध व्याख्यान है। श्लोकों की सख्या, ठीक दो सौ है। इसके ऊपर लीलाशुक विरचित पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है जो 'पुरुषकार के नाम से प्रख्यात है'[1]। यह व्याख्या बडी पाण्डित्यपूर्ण, प्रमेय बहुल तथा प्रामाणिक है जिसमे धातु-विषयक अनेक ज्ञाताज्ञात तथ्यों वा विवरण ग्रन्थकार के प्रचुर व्याकरण ज्ञान का साक्षात् प्रमापक है। लीलाशुक ने अपने व्याख्यान के अवसर पर कही मण्डन के निमित्त कही खण्डन के निमित्त अनेक प्राचीन वैयाकरणो के मतो का उल्लेख तथा उद्धरण दिया है। ऐसे ग्रन्थकारो मे क्षीरस्वामी, चन्द्रगोमी, धनपाल, भोजराज, मैत्रेय रक्षित तथा शाकटायन (जैन वैयाकरण पाल्यकीर्ति) बहुश उल्लिखित हैं। इससे लीलाशुक की पैनी विवेचक दृष्टि का तथा व्यापक पाण्डित्य का परिचय पदे-पदे उपलब्ध होता है। इस व्याख्या ग्रन्थ का प्रभाव उत्तरकालीन ग्रन्थकारो पर, विशेषत: सायण के ऊपर, विशेषरूपेण लक्षित होता है। पुरुषकार में धातुओ के रूप तथा अर्थ के विषय मे तुलनात्मक आलोचना की गई है।

इन दोनो वैयाकरणो के देश-काल का सामान्य परिचय विद्वानो की कृपा से उपलब्ध होता है। टीकाकार के अनुसार मूल लेखक देव ने मैत्रेय रक्षित के धातु प्रदीप का अनुसरण कर ग्रन्थ का निर्माण किया[2]। लीलाशुक के इस कथन से मैत्रेय रक्षित से देव की अर्वाक्कालीनता नि सन्देह सिद्ध होता है, मैत्रेय का काल सामान्यत. ११०० ई०के आसपास ऊपर निर्णीत है, फलत. देव का समय १२ वीं शती का प्रथमार्ध मानना अनुमान सिद्ध है। टीकाकार लीलाशुक काञ्ची निवासी वैष्णव आचार्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी टीका के अन्त मे काञ्ची नगरी के उत्सवों का सकेत किया है। 'कृष्णलीलामृत' नामक गौडीय वैष्णवो का बहुचर्चित स्तोत्ररत्न लीलाशुक की ही मान्य रचना है। इसके विषय मे यह प्रसिद्धि है कि चैतन्य महाप्रभु इस ग्रन्थ को दक्षिण देश से बगाल लाये थे। फलत लीलाशुक चैतन्य (१४७६ ई०–१५३३ ई०)

---

१ मूल तथा टीका का प्रथम प्रकाशन म० म० गणपति शास्त्री ने अनन्तशतन ग्रन्थमाला (सख्या १) १९२४ ई० मे किया था। इस दुर्लभ ग्रन्थ का सुबोध सं० प० युधिष्ठिर मीमासक ने उपयोगी परिशिष्टो के साथ सुसम्पादित कर प्रकाशित किया है। —अजमेर, स० २-१९।

२. आप्ल लम्भन इत्यत्र मैत्रेय रक्षितेन 'आप्यते' इत्यात्मनेपदमुदाहृतमुपलभ्यते··· ··· ···तदनुसारेणैव प्रायेण देव प्रवर्तमानो दृश्यते।

दैवम्, पृ० ८८।

से निःसन्देह प्राचीन हैं। पुरुषकार में हेमचन्द्र का उल्लेख है[1]। हेमचन्द्र १२ वीं शती के मान्य ग्रन्थकार हैं। सायणाचार्य ने माधवीया धातुवृत्ति में 'पुरुषकार' का निर्देश अनेकत्र किया है[2]। सायण का समय चतुर्दशशती का मध्यकाल है (१३५० ई०)। फलतः इसकी रचना हेमचन्द्र तथा सायणाचार्य के मध्य में होनी चाहिये। १३ वीं शती के आसपास इनका समय मानना उचित है (लगभग १२५० ई०–१३०० ई०)।

माधवीया धातुवृत्ति

वेदभाष्य के प्रख्यात रचयिता श्री सायणाचार्य की यह वृत्ति एतद् विषयक समस्त रचनाओं में अपनी गुण-गरिमा तथा प्रकृष्ट पाडित्य के कारण समधिक श्लाघनीय है। इसके निर्माता स्वयं सायण ही हैं, परन्तु अपने अग्रज माधवाचार्य के उपकार-स्मरण में उन्होंने इसे 'माधवीया' संज्ञा स्वयं दी है। धातुओं के रूप त था तज्जन्य शब्दों के परिज्ञान के लिए यह ग्रंथ अपना प्रतिस्पर्धी नहीं रखता। इस पूर्व क्षीरतरङ्गिणी तथा धातुप्रदीप की रचना हो चुकी थी धातुओं के व्याख्यान रूप में। परन्तु इन दोनों से इसका वैशिष्ट्य स्पष्ट है। धातुप्रदीप की काया बड़ी लम्बी है, क्षीरतरंगिणी में पाण्डित्य होने पर भी विस्तार का अभाव है। माधवीया धातुवृत्ति में विस्तार के साथ गम्भीर्य पर्याप्त मात्रा में है। ग्रन्थकार धातुओं के सामान्य रूपों के साथ ण्यन्त, सनन्त, यङन्त, यङ् लुगन्त प्रयोगों का भी उल्लेख करता है। 'पद' सम्बन्धी वैशिष्ट्य को वह उदाहरणों से समझाता है। तदनन्तर तद्धातुज नाना कृदन्त रूपों का विन्यास अर्थ-पूर्वक करता है। परमत खंडन के लिए अथवा स्वमत मंडन के लिए प्राचीन वैयाकरणों, कोषकारों तथा भट्टि, माघ जैसे प्रौढ़ कवियों के वचन को उद्धृत करता है। दृष्टान्त के लिए (६५६) सृ गतौ तथा (६५७) ऋ गति प्रापणयोः धातुओं की पाडित्यपूर्ण व्याख्या सायण की इस वृत्ति की प्रामाणिकता तथा प्रमेय-बाहुल्य की पर्याप्त परिचायिका है। सृ धातु से जायमान मुख्य शब्दों की सिद्धि, अर्थ तथा कहीं-कहीं विलक्षण प्रयोग व्याकरण के छात्रों के ज्ञानवर्धन के विश्वस्त साधन हैं। इसमें महाभाष्य, काशिका, न्यास, पदमञ्जरी के साथ मैत्रेय रक्षित तथा क्षीरस्वामी के मत का उपन्यास तो वर्तमान है ही साथ ही साथ अनेक अज्ञात तथा अल्पज्ञात ग्रन्थकारों का मत भी उपन्यस्त होकर ग्रंथ के गौरव की वृद्धि कर रहा है। वाराणसी

---

१ पुरुषकार पृष्ठ १९, २१, २३ (अजमेर संस्करण)।

२. माधवीयाधातुवृत्ति पृ० ५४ तथा ११०।

(प्राच्यभारती संस्करण, वाराणसी, १९६४)।

संस्करण[1] के विद्वान् संस्कर्ता ने इस ग्रंथ मे अनेक पूर्वापर विरोध की उद्घाटना की है जो उनकी सूक्ष्म विमर्श की परिचायिका है। इतने विपुलकाय ग्रन्थ मे इन त्रुटियों का सद्भाव विशेष आश्चर्य का विषय नहीं है। इससे ग्रंथ की उपादेयता मे कमी नही होती।

ग्रन्थ के आरम्भ मे तथा पुष्पिका मे दिये विवरण से स्पष्ट है कि सायण ने इसकी रचना तब की, जब वे विजयनगर साम्राज्य के अधिपति सङ्गम महाराज के महामन्त्री थे। संगम का राज्यकाल १४१२ वि०से लेकर १४२० वि०तक माना जाता है। फलत: धातुवृत्ति की रचना का यही काल है (१३५५ ई० से लेकर १३६३ ई तक)। सायण का जीवनचरित नितांत प्रख्यात है।[2] उसे दुहराने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, परन्तु धातुवृत्ति के भीतर क्रमधातु की प्रक्रिया के अन्त में 'यज्ञनारायण' का नाम[3] व्याख्या-सापेक्ष है। कुछ लोग 'यज्ञनारायण' को अन्य लेखक मानते हैं धातुवत्ति का वास्तविक प्रणेता, कुछ लोग इसे सायण का ही नाक्षत्रिक नामान्तर मानते हैं[4]। प्रमाणाभाव से यथाविधि निर्णय कठिन है।

भीमसेन का परिचय

पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय मे धात्वर्थ-निर्देशक भीमसेन कौन हैं? उनके धातु पाठ के हस्तलेख उपलब्ध होते हैं। इन्होंने धातु-पाठ की स्वोपज्ञवृत्ति लिखी थी या नही? इसका पता नही चलता। भीमसेन ने ही पाणिनीय धातुओ का अर्थ निर्देश सर्वप्रथम किया—ऐसी मान्यता नागेशभट्ट, भट्टोजिदीक्षित तथा मैत्रेय रक्षित की है। ये वैयाकरण भीमसेन कब हुए? इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है।

जैन आचार्य उमास्वाति ने जैनदर्शन के मूल सिद्धान्तो का विवररण अपने प्रख्यात ग्रन्थ तत्त्वार्थाधिगम सूत्र मे किया। इसके ऊपर उन्होंने स्वोपज्ञभाष्य की भी रचना की। उनके समय विषय मे मत-द्वैविध्य है। तत्त्वाधिगम-सूत्र के सपादक कापडिया ने

---

१. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री द्वारा सुसंस्कृत धातुवृत्ति प्राच्यभारती ग्रंथमाला मे १९६४ ई० प्रकाशित हुई है। यह इत. पूर्व के संस्करणों से विशुद्ध तथा प्रामाणिक है।

२ द्रष्टव्य—लेखक रचित 'आचार्य सायण और माधव' (प्र० हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००३)।

३. यज्ञनारायणार्येण प्रक्रियेय प्रपञ्चिता।
तस्या विशेषत सन्तु बोद्धारो भाष्यपारगा:।

४ वाराणसी सं०, पृ० १५-१७।

उमास्वाती का समय प्रथम से लेकर चतुर्थी विक्रम शतक माना है, डा० सतीश-चन्द्र विद्याभूषण ने इनका समय १ तथा ८५ ई० के बीच में कभी माना है। सिद्धसेनगणि ने तत्त्वाधिगम के सूत्र तथा भाष्य के ऊपर बड़ी विशद टीका लिखी है[1]। इस टीका में वे भीमसेन का निर्देश करते हैं (पृष्ठ २५४)।

उमास्वाति का भाष्य—चितो संज्ञान-विशुद्धयोर्धातु। तस्य चित्तमिति भवति निष्ठान्तमौणादिकं च।

सिद्धसेन की व्याख्या—भीमसेनात् परतोऽन्यै र्वैयाकरणं,

अर्थद्वये पठितोऽपि धातुः संज्ञाने विशुद्धौ च।
इह विशुद्धयर्थस्य सह संज्ञानेन ग्रहणम्।

यहाँ स्पष्ट ही भीमसेन का निर्देश धात्वर्थ-निरूपण के विषय में किया गया है। फलत ये पूर्ववर्णित वैयाकरण भीमसेन से अभिन्न व्यक्ति हैं। सिद्धसेनगणि का समय ६०० ई० के पास डा० विद्याभूषण ने माना है[2]। फलत भीमसेन का काल ६०० ई० से निश्चयेन पूर्ववर्ती होगा। इनके विषय में अधिक ज्ञात नहीं है।

(२) गण-पाठ

पाणिनि ने अपने सूत्रों में गणों का निर्देश किया है। यथा सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२१)। इसका तात्पर्य है सर्वादि को सर्वनाम संज्ञा होती है। 'सर्वादि' गण की संज्ञा है जिसके भीतर सर्व के समान कार्य रखने वाले शब्दों की गणना की गई है। अब प्रश्न है कि इन गणों का निर्धारण किसने किया—पाणिनि ने? अथवा उनके अवान्तरवर्ती किसी वैयाकरण ने? इसका सदेह-रहित उत्तर है कि पाणिनि ने ही सूत्रों में उल्लिखित गणों का स्वयं निर्देश किया। इस तथ्य पर पहुँचने के लिए स्पष्ट प्रमाण है। पाणिनि ने सूत्रों की रचना से पूर्व ही इन गणों का भी निर्धारण कर लिया था।

(१) पाणिनि सूत्रों में कहीं आदि, कहीं प्रभृति शब्दों को जोड़कर गणों का निर्देश किया है जैसे सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२७) तथा साक्षात्-प्रभृतीनि च (१।४।७४)। कहीं पर सूत्रों में शब्दों की संख्या के निर्देशक पद रखे गये हैं जिससे गणों की स्पष्ट सूचना मिलती है। यथा पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा (७।१।१६) सूत्र इस तथ्य की घोषणा करता है कि पाणिनि ने पूर्वादि गण में नव शब्दों को स्थान दिया

---

१. सिद्धसेन की टीका के साथ तत्त्वाधिगम प्रो० कापड़िया द्वारा सम्पादित। देवचन्द्र लालचन्द्र सीरीज में प्रकाशित, १९३०

२. हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृष्ठ १८२; कलकत्ता।

है। यह स्पष्ट निर्देश तभी सम्भव हो सकता है, जब पाणिनि ने उन गणों का नियमन स्वयं कर दिया हो।

(२) वार्तिकों के अनुशीलन से भी सूत्रकार तथा गणकार की एकता निश्चयेन सिद्ध होती है[1]।

(३) महाभाष्य भी पूर्वोक्त मत का ही विशद समर्थन करता है। पतञ्जलि ने अनेक स्थानों पर गण-पाठ में पठित शब्दों को सूत्र पठित शब्दों के समान ही पाणिनीय माना है तथा उनके प्रामाण्य के पर ही आचार्य पाणिनि की अनेक प्रवृत्तियों का ज्ञापन किया[2] है।

इन प्रमाणों के आधार पर पाणिनि ही गण-पाठ के भी कर्ता सिद्ध होते हैं। पाणिनि के २५६ सूत्रों का गण-पाठ उपलब्ध हैं। पाणिनीय व्याकरण में दो प्रकार के गण उपलब्ध हैं—

(१) पठित गण तथा (२) आकृति गण। गणों के सूचक 'आदि' शब्द का अर्थ चार प्रकार का माना जाता है (१) सामीप्य, (२) व्यवस्था, (३) प्रकार तथा (४) अवयव। पठित गणो मे प्रयुक्त 'आदि' शब्द व्यवस्था का तथा आकृतिगण मे प्रयुक्त 'आदि' शब्द प्रकार का द्योतक होता है। महाभाष्यकार ने 'आदि' के इस द्विविध अर्थ का उल्लेख उदाहरण के संग मे इस प्रकार किया है—

(क) अयमादि-शब्दोऽस्त्येव व्यवस्थायां वर्तते। तद् यथा देवदत्तादीन् समुपविष्टानाह—'देवदत्तादय आनीयन्ताम्'। त उत्थाय आनीयन्ते।

(ख) अस्ति च प्रकारे वर्तते। तद् यथा 'देवदत्तादय.' आढचा अभिरूपा दर्शनीया. पक्षवन्त। देवदत्तप्रकारा इति गम्यते[3]।

'देवदत्तादि' शब्द का अवस्था-विशेष में प्रयोग दोनों अर्थ का द्योतन कराता है—यह पूर्वोक्त शब्दों के द्वारा पतञ्जलि ने विशदतया दिखलाया है।

'पठित गण' का अर्थ तो ठीक है। पढे गये शब्दों का गण। परन्तु 'आकृति गण' शब्द का अर्थ क्या है? हरदत्त का कथन है—

---

१. इस तथ्य के दृष्टान्त के लिए द्रष्टव्य डा० कपिलदेव रचित 'संस्कृत व्याकरण में गण-पाठ की परम्परा तथा पाणिनि' पृ० ४६–४७। यह ग्रंथ अपने विषय का प्रामाणिक अनुशीलन प्रस्तुत करता है। उपादेय तथा माननीय है।

२ वही ग्रंथ पृ० ४८।

३. महाभाष्य १।३।१।

प्रयोगदर्शनेन आकृतिग्राह्यो गण आकृतिगण.।

अर्थात प्रयोगों में या रूपसिद्धि में समानता देकर किसी गण में जहाँ शब्दों का सन्निवेश किया जाता है, वह 'आकृतिगण' होता है। आकृतिगण परिच्छिन्न शब्दों का गण न होकर अपरिमित शब्दों का समूह होता है[1] जिसकी पहिचान आकृति या आकार से की जाती है। 'गणरत्नमहोदधि' में वर्धमान की यही व्याख्या है।

पाणिनीय गणपाठ के प्रवक्ता तथा व्याख्याता सीमित आचार्य हुए। काशिका से पता चलता है कि 'नाम-पारायण' नामक ग्रंथ का भी आधार लेकर वह रची गई है। पदमञ्जरी के अनुसार नाम परायण का अर्थ है वह ग्रन्थ जिसमें गण शब्दों का निर्वचन किया गया हो। यत्र गणशब्दानां निर्वचनं तन्नामपारायणम् (काशिका के प्रथम श्लोक की व्याख्या में)। यह 'नाम-पारायण' काशिका से भी प्राचीनतर ग्रंथ है षष्ठी शती से पूर्वरचित।[2] इधर के ग्रंथकारों में यज्ञेश्वरभट्ट ने गणरत्नावली नामक व्याख्या लिखी है। ग्रंथ का रचना-काल है १९३० वि० सं० (=१८७४ ई०)। आज से सौ साल के भीतर ही इस ग्रंथ का निर्माण किया गया। ग्रंथकार के कथनानुसार ही यह गणरत्नमहोदधि को उपजीव्य मानकर उसी के आधार पर विरचित है।

गणपाठ प्रत्येक व्याकरण सम्प्रदाय का अविभाज्य अंग हैं— पञ्चाङ्ग के भीतर अन्यतम अङ्ग। इसका विरचन तथा विवरण उन सम्प्रदायोंमें भी उपलब्ध होता है[3]।

गणपाठ के शब्दों की व्याख्या ग्रंथ करने वाला सर्वोत्तम ग्रंथ है—गणरत्न-महोदधि। इसके रचयिता का नाम है—वर्धमान। इन्होंने इस ग्रंथ का प्रणयन ११९७ वि० सं०[4] (=११४० ई०) के बीतने पर किया। वर्धमान स्वयं जैन-मतावलम्बी हैं। फलत उन्होंने अनेक वैदिक वैयाकरणों के अतिरिक्त अभयनन्दी तथा

---

१ आकृति गणश्चाय तेनापरिमितशब्दसमूह.।
आकृत्या आकारेण लक्ष्यते स आकृतिगण.॥

२ वृत्तौ भाष्ये तथा धातु नामपारायणादिषु।
विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य क्रियते सारसंग्रह:॥
(काशिका का प्रथम श्लोक)।

३. द्रष्टव्य—युधिष्ठिरमीमांसक संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास द्वितीय भाग, पृ० १४२-१६०। तथा डा० कपिलदेव के पूर्वनिर्दिष्ट ग्रंथ का चतुर्थ अध्याय, पृ० १०६-१४६।

४. सप्तनवत्यधिकेष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु।
वर्षाणां विक्रमतो गणरत्न-महोदधिर्विहित:।

हेमचन्द्र (११०० ई०) का उल्लेख किया। विशेष ध्यातव्य है कि वर्धमान द्वारा निर्दिष्टगण किस व्याकरण-सम्प्रदाय से सम्बद्ध है ? इसका उचित समाधान नहीं मिलता। इस ग्रन्थ मे अप्रचलित या अज्ञात शब्दो के अर्थ का विन्यास बड़ी ही सुन्दरता से किया गया है जिससे यह ग्रन्थ निःसन्देह मूल्यवान् रचना सिद्ध होता है। इसका ऐतिहासिक मूल्य भी कम नहीं है। प्राचीन परन्तु अज्ञात ग्रन्थो का उद्धरण राजनैतिक तथा साहित्यिक उभय दृष्टियो से विशेष महत्त्वशाली है। वर्धमान सिद्धराज जयसिंह के आश्रय में रहा। फलत उसी राजा के आश्रित हेमचन्द्र से वह परिचित है और उसका नाम भी निर्दिष्ट करता है। उसने सिद्धराज-वर्णन नामक राजप्रशस्ति लिखी थी जिसके कतिपय पद्य यहाँ उदाहरण क ढग पर उद्धृत किये गये हैं। तद्धित-प्रकरण के गणो का विवेचन वर्धमान ने बहुत अच्छी तरह किया है। उसकी यह प्रौढोक्ति—जिन तद्धित सिंहो से वैयाकरणरूपी हाथी भागते-फिरते थे, उनके गणो के सिर पर मैंने पैर रख दिया, यद्यपि मैं गव्य (गोवत्सी) हू—चमत्कारयुक्त है।[1] इसी प्रकरण मे वर्धमान ने किसी काव्य से प्रचुर उदाहरण उद्धृत किये हैं जिसमे परमार-वंशी प्रख्यात राजा भोज की स्तुति की गई है। काव्य व्याकरण के प्रयोगो को भी प्रदर्शित करता है और इसलिए यह द्वयाश्रय शैली का काव्य है। इन उद्धरणो से प्रतीत होता है कि राजा भोज का ही एक उपनाम त्रिभुवननारायण भी था जो इस पूर्व किसी ग्रन्थ से ज्ञात न था। इस काव्य का एक दो उदाहरण पर्याप्त होगा—

> वीक्षस्व तैकायनि शसकोऽप्य
>
> शाणायनि ! क्वायुध-बाण-शाण.।
>
> प्राणायनि प्राणसमस्त्रिलोक्या:
>
> 'त्रिलोक-नारायण' भूमिपाल.॥ (पृष्ठ २७७)।
>
> द्वैपायनीतो भव सायकाय-
>
> न्युपेहि दौर्गायणि देहि मार्गम्।
>
> त्वरस्व चैत्रायणि चटकाय-
>
> न्यौदुम्बरायण्ययमेति भोज:॥ (पृष्ठ २७८)।

फलत. इतिहास तथा व्याकरण उभय का पोषक यह ग्रन्थ महोदधि[2] वास्तव में

---

१. येभ्यस्तद्धित-सिंहेभ्य. शाब्दिकेभै पलायितम्।
गव्येनापि मया दत्त पद तद्गणमूर्धसु॥
यहाँ अपने को 'गव्य' कहकर लेखक अपने गुरु गोविन्दसूरि की ओर संकेत कर रहा है।

२. ग्रन्थ का सम्पादन डा० इग्लिङ्ग ने किया था। यह ग्रन्थ पुनर्मुद्रित होकर नवीन रूप में उपलब्ध है।

गणपाठ के इतिहास में अभूतपूर्व ग्रन्थ है-मननीय तथा माननीय। 'त्रिभुवन नारायण' उपाधि भोजराज की किसी अन्य ग्रन्थ से ज्ञात नहीं थी। फलत इसे इतिहास के लिए एक नई उपलब्धि माननी चाहिए।

(३) उणादि-सूत्र

व्याकरण-शास्त्र के अनुसार शब्द दो प्रकार के मोटे तौर पर होते हैं—रूढ तथा यौगिक। रूढ अव्युत्पन्न होते हैं अर्थात् उनकी व्युत्पत्ति किसी धातु से नहीं दिखलाई जा सकती। यौगिक शब्द धातु से निष्पन्न होते हैं इसलिए वे व्युत्पन्न होते हैं। पाणिनि आदि सभी वैयाकरण शब्दों की यह द्विविध गति स्वीकार करते हैं, केवल शाकटायन को छोड कर। शाकटायन ही ऐसे ख्यातनामा वैयाकरण है जो नाम-शब्दो को धातुओं से व्युत्पन्न मानते हैं। निरुक्त नामक वेदाङ्ग का व्याकरण से यही तो वैशिष्ट्य है कि जहाँ व्याकरण कतिपय शब्दो को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानता है, वहाँ निरुक्त समस्त शब्दों का व्युत्पन्न अथात् धातुज मानता है। नैरुक्तों में गार्ग्य इस मत के प्रतिकूल हैं। इस तथ्य का विवरण यास्क ने अपने निरुक्त मे (प्रथमाध्याय के १२, १३ तथा १४ खण्डों में) तथा इसका सकेत पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य मे (३।३।१ सूत्र) किया है। व्युत्पत्ति का मूल मन्त्र पतञ्जलि की इस कारिका में दिया गया है—

> नाम च धातुजमाह निरुक्ते
> 　　व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
> यन्न पदार्थ-विशेष समुत्थ
> 　　प्रत्ययत प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥

इसके प्रथमार्ध में निरुक्त तथा शाकटायन का मत—सब नाम धातु से उत्पन्न हुये हैं-उपन्यस्त है तथा उत्तरार्ध में व्युत्पत्ति की प्रक्रिया बतलाई गई है। जिन शब्दों का प्रकृति-प्रत्यय आदि विशिष्ट स्वरूप लक्षणों से (सूत्रों से) ज्ञात नहीं होता, उनमे प्रकृति को देखकर प्रत्यय की ऊहा करनी चाहिये और प्रत्यय को देखकर प्रकृति की कल्पना करनी चाहिए। व्युत्पत्ति का यही प्रधान नियम है।

उणादि सूत्र प्रत्येक शब्द की साधुता प्रत्यय के योग से सिद्ध करते हैं। फलत उनकी दृष्टि में कोई शब्द अव्युत्पन्न नहीं है अर्थात् धातु विशेष से उसकी सिद्धि अवश्यमेव दिखलाई जा सकती है। इन सूत्रों में आरम्भिक सूत्र उण् प्रत्यय का विधान करता है। सूत्र यह है—कृ-वा पा-जिमि स्वदि साध्यशूभ्य उण्। इस प्रत्यय के आदिम होने के हेतु यह समस्त प्रत्यय-समुच्चय उणादि के नाम से प्रख्यात है। प्रत्येक

व्याकरण सम्प्रदाय का उणादि अविभाज्य तथा आवश्यक अंश है। पाणिनीय सम्प्रदाय में उणादि के द्विविध रूप मिलते हैं—(क) पञ्चपादी तथा (ख) दशपादी। पञ्चपादी पाँच पादों में विभक्त होने के कारण तन्नाम धारण करता है। सूत्रों की पूरी संख्या—७५९ (सात सौ उनसठ) है। दशपादी दशपादों में विभक्त है और उसकी समग्र सूत्र संख्या पादानुसार (१७७, ९३, ७१, १०, ६४, ८४, ४७, १३२, १०७, २२)= ७२७ (सात सौ सत्ताइस) है। इसमें प्रथम द्वितीय पादों में अजन्त प्रत्ययों का विधान है, तृतीय पाद में कवर्गान्त प्रत्ययों का, चतुर्थ में चवर्गान्त का, पंचम में टवर्गान्त का, षष्ठ में तवर्गान्त का, सप्तम में पवर्गान्त का, अष्टम में य-र-ल-वान्त प्रत्ययों का, नवम में श-ष-स हकारान्त प्रत्ययों का तथा दशम में प्रकीर्ण शब्दों का विवरण है। पंचपादी में प्रत्ययों का विधान किसी व्यवस्थित शैली से नहीं है, इसी अभाव को देखकर प्रतीत होता है कि किसी वैयाकरण ने वर्णान्त विधि द्वारा प्रत्ययों का एकत्र संकलन दशपादी में किया है। दशपादी का आधार नियतरूप से पंचपादी ही है अर्थात् पञ्चपादी के विभिन्न पादों में आने वाले समान वर्णान्त प्रत्ययों के बोधक सूत्र एकत्र कर दिये गये हैं जिससे सूत्रों में सुव्यवस्था आ गई है। परन्तु दशपादी में कुछ सूत्र छोड दिये गये हैं तथा कुछ नवीन सूत्र भी हैं। इन नवीन सूत्रों के स्रोतका यथार्थ पता नहीं चलता कि ये किसी प्राचीन व्याकरण ग्रंथ से यहाँ उद्धृत हैं अथवा लेखक की मौलिक रचना हैं। व्याकरण ग्रंथों में दोनों ही प्रकार के उणादि सूत्र नाम-निर्देश-पूर्वक उद्धृत किये गये हैं जिससे दोनों प्रकार के इन संकलनों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

उणादि सूत्रों का रचयिता

अधिकांश वैयाकरण इन सूत्रों को पाणिनि की रचना न मानकर शाकटायन की रचना मानते हैं। कैयट जैसे प्राचीन वैयाकरण आचार्य उणादि को 'शास्त्रान्तर-पठित' (अर्थात् पाणिनि शास्त्र से भिन्न शास्त्र में पठित) मानते हैं अर्थात् वे इन सूत्रों को पाणिनितन्त्र से इतर तन्त्र का मानते हैं[1]। इसकी व्याख्या में नागेश अपने उद्योत में शाकटायन का नामतः निर्देश करते हैं—

> एवं च कृवापेति उणादि सूत्राणि शाकटायनस्येति सूचितम्।
> (प्रदीपोद्योत ३।३।१)।

वासुदेव दीक्षित बालमनोरमा (कौमुदी की व्याख्या) में तथा श्वेत-वनवासी पञ्चपादी की स्वीय वृत्ति में शाकटायन को ही उणादि सूत्रों का प्रवक्ता मानते हैं।

---

१. उणादय इत्येवं सूत्रमुणादीनां शास्त्रान्तर पठितानां साधुत्व ज्ञापनार्थमस्तु इति भावः। —कैयट, प्रदीप ३।३।१

इनके विरुद्ध, इन्हें पाणिनि-कृत मानने वाले आचार्य न्यून प्रतीत होते हैं। प्रक्रिया-सर्वस्व के कर्ता नारायणभट्ट अपने ग्रंथ के उणादि प्रकरण में पाणिनि को ही इनका रचयिता स्पष्टतः स्वीकारते हैं—

> अकारं मुकुरस्यादौ उकारं दर्दु रस्य च।
> बभाण पाणिनिस्तौ तु व्यत्ययेनाह भोजराट्॥

तात्पर्य है कि पाणिनि मुकुर-शब्द के आदि में अकार (मकुर) तथा दर्दु र शब्द के आदि में उकार (दुर्दु र) मानते हैं, परन्तु भोज इससे ठीक विपरीत कहते हैं अर्थात् भोज की दृष्टि मे मुकुर और दर्दु र शब्द बनते हैं। पाणिनि का यह निर्देश पञ्चपादी के एक सूत्र (१।४०) की व्याख्या मे नारायण ने किया है। फलत नारायण-भट्ट पाणिनि को ही उणादि सूत्रों का प्रवक्ता मानते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा समर्थित होने पर भी इस मत के पोषक आचार्य कम ही हैं।

तथ्य तो यही प्रतीत होता है कि भाष्यकार के 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्' वचन ने यह भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है कि शाकटायन ही उणादि सूत्रों के रचयिता हैं। उस वाक्य का तात्पर्य केवल सिद्धान्त विशेष के प्रतिपादन मे है, उणादि सूत्रों के प्रवक्ता के निर्णय में तो नहीं है। भाष्यकार इस तथ्य के प्रथम प्रतिपादक न होकर यास्क के ही एतद्-विषयक मत का अनुवाद करते है। अभ्रान्त मत जो कुछ भी हो, परन्तु यही प्रचलित मत है जो शाकटायन को ही उणादि सूत्रों के कर्तृत्व का श्रेय प्रदान करता है।

पञ्चपादी के व्याख्याता

पञ्चपादी के व्याख्याकारों में उज्ज्वलदत्त नितान्त प्रख्यात हैं। इनकी उणादि सूत्रों की व्याख्या बड़ी प्रामाणिक, विस्तृत तथा प्रौढ़ है[१]। अपने मत की पुष्टि मे इन्होंने अनेक वैयाकरणों तथा कोषकारों का उल्लेख किया है। इससे इनके समय तथा देश का परिचय मिल सकता है। उज्ज्वलदत्त को सायणाचार्य ने अपनी धातु-वृत्ति मे नाम्ना निर्दिष्ट किया है तथा उज्ज्वलदत्त ने मेदिनीकोष का उल्लेख अपनी वृत्ति में किया है। फलतः इनका समय मेदिनीकोष तथा धातु वृत्ति के बीच कभी होना चाहिए। धातु वृत्ति सायण की रचना होने से १४ शती के मध्यकाल मे लिखी गई (सम्भवत. १३५० ई०)। मेदिनीकोष का काल भी अनुमान-सिद्ध है। कोशविद्या के इतिहास प्रसंग[२] में मेदिनी का समय १२०० ई०–१२५० ई० के बीच में ऊपर निर्धारित किया

१ डा० आउफ्रेक्ट द्वारा सम्पादित और प्रकाशित।

२. द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का पृष्ठ ३६१–३६२।

गया है १३ वीं शती का पूर्वार्ध। फलत उज्ज्वलदत्त का समय इनपूर्व होना चाहिए। हम उज्ज्वलदत्त को ११७५ ई०–१२०० ई० के लगभग मानने के पक्षपाती हैं।

श्वेत-वनवासी नामक वैयाकरण ने पञ्चपादी की जो व्याख्या लिखी है वह पूर्व व्याख्या से समय की दृष्टि से बहुत बाद की नही है[1]। दोनो वृत्तिकार एक ही शतक के प्रतीत होते हैं। श्वेत-वनवासी तो मद्रास प्रान्त के निवासी थे निश्चयेन और उज्ज्वलदत्त बगाल के निवासी थे अनुमानत। उज्ज्वलदत्त के वल्गु शब्द की व्याख्या पर भट्टोजिदीक्षित ने प्रौढमनोरमा मे एक विशिष्ट टिप्पणी लिखी है। टिप्पणी का आशय है कि उज्ज्वलदत्त ने पवर्गादि बल प्राणने धातु से 'वल्गु' की जो निष्पत्ति की है वह वर्ण की अशुद्धि होने से नितरा उपेक्षणीय है। 'वल्गु' शब्द का आदिवर्ण पवर्गीय बकार नही है—दीक्षित का यही आशय है। 'व' के स्थान पर—'ब'-कार की उच्चारण भ्रान्ति बगीय उच्चारण की आज भी विलक्षणता है। फलत. उज्ज्वलदत्त को बगीय उच्चारणकरने वाला बगदेशीय मानना चाहिए।

भट्टोजिदीक्षित तथा नारायणभट्ट ने अपने व्याकरण-ग्रंथो मे उणादि-सूत्रों की व्याख्यायें लिखी हैं। ये स्वल्पाक्षरा वृत्ति है, मूल के समझने मे उपयोगी। अन्य टीकाकारो की भी सत्ता पञ्चपादी की लोकप्रियता की पर्याप्त निदर्शिका है।

दशपादी उणादि सूत्र

उणादि शब्द की संज्ञा पञ्चपादी के ही अनुसार है, क्योंकि उसी मे उण् विधायक-सूत्र सर्वप्रथम दिया गया है। दशपादी की व्यवस्था इससे भिन्न है। ऊपर कहा गया है कि यहाँ वर्णानुक्रम से प्रत्ययों का विधान है। फलत उण् प्रत्यय का विधान प्रथम पादके ८६ वें सूत्र मे किया गया है। पञ्चपादी के आधार पर ही दशपादी का निर्माण हुआ है और इस तथ्य का परिचय दोनो के सूत्रो की तुलना करने परकिसी भी आलोचक को भली-भाँतिहो सकता है। दशपादी के प्रवक्ता ने अपने दृष्टिकोण से पञ्चपादी

---

१ मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा डा० टी० आर० चिन्तामणि के सम्पादकत्व मे प्रकाशित।

२ यत्तु उज्ज्वलदत्तेन सूत्रे पवर्गादि पठित्वा बल प्रणन इत्युपन्यस्तम्, तत् लक्ष्य-विरोधादुपेक्ष्यम। अयं नामा वदति वल्गु नो गृहे (ऋ० वे० १०।६२।४) इत्यादौ दन्तोष्ठ्यपाठस्य निर्विवादत्वात्। प्रौढमनोरमा।

३. वृत्ति के साथ दशपादी उणादि-सूत्रो का एक विशुद्ध सस्करण श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने सम्पादित किया है। सरस्वती भवन टेक्स्टस सीरीज स० ८१, वाराणसी, १९४३ ई०।

गतसूत्रों का चयन इस ग्रंथ में किया है। यहाँ नवीन सूत्रों की भी उपलब्धि होती है। परन्तु इनके स्रोत का ठीक ठीक पता नहीं चलता। हो सकता है कि ये सूत्र किसी प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत किये गये हों अथवा लेखक की मौलिक रचना भी हो सकते हैं।

दशपादी की कतिपय विशिष्टतायें उसे पञ्चपादी से पृथक् कर रही हैं। गृह के अर्थ में लोकव्यवहृत, हिन्दी प्रतीत होने वाला 'घर' हन्ते रत् घ च (८।१०४[1] सूत्र) से निष्पन्न किया गया है। हन धातु से 'रत्' प्रत्यय करने पर तथा 'ह' के स्थान पर 'घ' आदेश करने से 'घर' शब्द निष्पन्न होता है। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'हन्यते ग. नेऽतिथिभिः घरः गृहम्' अतिथियों के गमन का स्थान। क्षीरतरङ्गिणी[2] में भी क्षीरस्वा. ने घर शब्द की सिद्धि बताई है घर स्रवणे धातु से। चुरादि गणीय घृ स्रवणे धातु के स्थान पर दुर्ग घर स्रवणे पाठ मानते हैं। और उसी धातु से यह शब्द सिद्ध होता है। फलतः 'घर' शब्द को विशुद्ध संस्कृत भाषा का ही मानना न्याय्य है।

दशपादी के प्रवक्ता क. पता नहीं है। इसकी रचना का समय अनुमान से लगाया जा सकता है। यह काशिका वृत्ति से निश्चित रूपेण प्राचीन है। काशिका-कार ने 'यूप' शब्द की सिद्धि कुसुयुभ्य ' औणा. दिक सूत्र के द्वारा मानी है[3] और यह सूत्र दशपादी के सप्तम पाद का पञ्चम सूत्र है। फलतः दशपादी को काशिका से प्राचीन होना उचित है। अतः इसकी रचना पञ्चम शती से कथमपि अर्वाचीन नहीं हो सकती। किसी अज्ञातनामा लेखक की एक वृत्ति भी दशपादी के ऊपर है। वह भी काशिका से प्राचीन प्रतीत होती है, क्योंकि काशिका (६।२।१४८) ने अहि . शब्द की व्युत्पत्ति देकर इसे आद्युदात्त मानने वाले आचार्य का संकेत किया है। और यह दशपादी वृत्ति में प्राप्त[4] है। फलतः इस वृत्ति को भी काशिका से प्राचीन मानना न्याय्य है। विट्ठल ने प्रक्रिया-कौमुदी की प्रसाद व्याख्या में इन सूत्रों पर लघुतरा वृत्ति लिखी है (समय १५ शती)।

दशपादी की यह वृत्ति अनेक दृष्टियों से उपयोगी है। शब्द का अर्थ तो सर्वत्र देती है। प्रत्यय किस अर्थ में किया गया है। इसका यह सुन्दर परिचय देती है। धातुओं

---

१. यह सूत्र प्रौढ मनोरमा तथा तत्त्वबोधिनी में उद्धृत मिलता है।

२. पृष्ठ २९० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित ग्रन्थ।

३ 'चतुर्थी' तदर्थे' ६।२४३ सूत्र काशिका में।

४. आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च (दशपादी १।६६) की वृत्ति से मिलाइए—आङ्युपपदे श्रिहनि इत्येताभ्यां धातुभ्यामिण् प्रत्ययो भवति ङिच्च ह्रस्वश्च, पूर्वपदस्य उदात्तश्च (पृष्ठ ४०-४१।

के स्वरूप तथा गण का स्पष्ट उल्लेख करती है। 'शिर करन्' (८।७०) सूत्र से कृशादिगण मे पठित शृ हिंसायाम् धातु से करन् प्रत्यय होता है जिससे निम्न शब्द है—

(१) शर्करा = चीनी (शृणाति पित्तम्, पित्त को नाश करती है)।

(२) शर्करा = ककडी (शृणाति पादौ, पैरो को चुभती है)। यहाँ धातु, अर्थ तथा कारक का स्पष्ट निर्देश है।

(४) लिङ्गानुशासन

सस्कृत मे लिंगो का बडा झमेला है। स्त्री-बोधक होने पर दार शब्द पु लिङ्ग है, और कलत्र नपु सक। निर्जीव वर्षा का बोधक वर्षा स्त्रीलिंग है तथा नित्य बहुवचन भी। पुरुष सुहृद् वाचक होने पर भी मित्र नपुसक है और शत्रुवाचक 'अमित्र' पुल्लिङ्ग। इस झमेले को दूर करने के आशय से ही आचार्यों ने लिङ्गानुशासन की रचना की। यह साहित्य उतना विस्तृत नही है, परन्तु मान्य व्याकरण-तन्त्रो मे लिंगानुशासन का प्रणयन अवश्यमेव किया गया है।

व्याडि

व्याडि ही लिंगानुशासन के सर्वप्रथम अथच सर्वप्राचीन ग्रथकार हैं। पाणिनि से पूर्व व्याडि ने ही लिङ्गानुशासन की रचना की थी। हर्षवर्धन ने अपने लिङ्गानुशासन के प्रारम्भ मे जिन प्राचीन आधारभूत ग्रथ-लेखकों का नाम गिनाया है उनमे व्याडि की गणना सर्वप्रथम है—

व्याडे. शकर-चन्द्रयोर्वररुचेर्विद्यानिधे पाणिने ।
सूक्तान् लिङ्गविधीन् विचार्य सुगमं श्रीवर्धनस्यात्मज ॥

व्याडि के इस लिङ्गानुशासन के विषय में वामन के प्रामाण्य पर दो विशिष्टताओं का परिचय मिलता है। प्रथम तो यह कि सूत्रात्मक था और द्वितीय यह कि यह अति विस्तृत था। वामन ने अपने लिङ्गानुशासन की वृत्ति मे अपना अभिप्राय इन शब्दो मे अभिव्यक्त किया है—

पूर्वाचार्यै र्व्याडि-प्रमुखै लिङ्गानुशासनं सूत्रैरुक्तं ग्रन्थ-विस्तरेण च। (पृ० २) विस्तार के विषय मे उनका स्पष्ट कथन है—व्याडि-प्रमुखै प्रपञ्चबहुलम् (पृ० १) लक्षश्लोकात्मक विशालकाय 'संग्रह' की रचना करने वाले व्याडि का लिंगानुशासन यदि प्रपञ्च-बहुल तथा अतिविस्तृत हो, तो आश्चर्य करने की बात ही कौन सी है !!!

पाणिनि

पाणिनि के नाम्ना प्रख्यात लिंगानुशासन वर्तमान है। यह सूत्रात्मक है और

समग्र सूत्रों की सख्या १८८ है। इसमे पांच अधिकार (या प्रकरण) हैं—स्त्री-अधिकार, पुल्लिगाधिकार, नपुसकाधिकार, स्त्रीपुसाधिकार तथा पुनपुंसकाधिकार। पाणिनीय लिंगानुशासन के प्रवक्ता स्वय सूत्रकार पाणिनि ही हैं—इस विषय में पाणिनीय तंत्र के आचार्यों मे कथमपि विमति नहीं है। पदमजरी से एक प्रमाण लीजिये। हरदत्त ने लिंगनिर्देशक पाणिनीय-सूत्र नाम्ना जिस सूत्र को सकेतित किया है, वह वर्तमान लिंगानुशासन का ही सूत्र है—

'अप्-सुमनस्-समा-सिकता-वर्षाणां बहुत्वं' चेति पाणिनीये सूत्रे'—लिंगानुशासन का ३०वां सूत्र। यहाँ स्पष्ट ही लिङ्गानुशासन-स्थित सूत्र को पाणिनीय अर्थात् पाणिनिप्रोक्त बतलाया है। फलत. इन सूत्रों के पाणिनीयत्व होने मे परम्परा का कहीं भी व्याघात नहीं होता।

इन सूत्रों पर व्याकरण के प्रक्रिया ग्रंथ के लेखकों ने तत्तत ग्रंथो की व्याख्यायें लिखी हैं। रामचन्द्राचार्य ने प्रक्रिया-कौमुदी के अन्तर्गत तथा नारायणभट्ट ने अपने प्रक्रिया-सर्वस्व के अन्तर्गत इन पर वृत्ति लिखी है। परन्तु भट्टोजिदीक्षित का कार्य अधिक महनीय तथा श्लाघनीय है। एक तो उन्होंने इस लिंगानुशासन पर दो टीकायें लिखीं (क) शब्द कौस्तुभ के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद के लिंग-प्रकरण मे प्रथम व्याख्या लिखी तथा (ख) सिद्धान्त कौमुदी के अन्त में भी इन सूत्रों पर वृत्ति लिखी। इन दोनों मे पहिली वृत्ति अपेक्षाकृत विस्तृत है। दीक्षित की इस कौमुदीवाली वृत्ति पर भैरव मिश्र ने अपनी व्याख्या लिखी है जो विस्तृत तथा विशद है। भैरव मिश्र के समय के विषय में पूर्व ही लिखा जा चुका है कि वे १८वी शती के उत्तरार्ध के प्रौढ वैयाकरण है।

भट्टोजिदीक्षित व्याकरण के सग मे वेदान्त के भी विज्ञ पण्डित थे, इसका परिचय लिङ्गानुशासन की उनकी वृत्ति देती है। १८०वें सूत्र में दण्ड, मण्ड, खड आदि शब्दों को पुंल्लिग तथा नपुसक उभयविध बतलाया गया है। इसी सूत्र मे 'कुश' शब्द भी परिगणित है। फलत: यह दोनों लिंगों मे होता है—'कुशो रामसुते दर्भे योक्त्रे द्वीपे, कुश जले' (विश्व)। विश्वप्रकाश कोश ने अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। भट्टोजि-दीक्षित इसके अनन्तर कुशी तथा कुशा शब्दों के अर्थ का विवेचन करते हैं कि अयो-विकार लक्ष्य होने पर 'कुशी' होता है। जानपद (४।१।४२) सूत्र के द्वारा तथा दारु से सम्बन्ध होने पर 'कुशा' बनता है। 'कुशा' शब्दों के प्रयोग वेद तथा ब्रह्मसूत्र से दिखला कर वे वाचस्पति मिश्र के भामती में दिये गये विधान को प्रौढिवाद मानते हैं, यथार्थ नहीं—

(१) कुशा वामस्पत्या: स्थ ता मा पात।

(आत्मविद्युति) ।

(२) हानौ तूपायनशब्दे शेषत्वात् कुशाच्छन्दः ।

(ब्रह्मसूत्र ३।३।२६)

दीक्षित के शब्दों को देखें कि कितनी प्रौढता से अपना मत रखते हैं—

तत्र शारीरभाष्येऽप्येवम् । एवं च श्रुति-सूत्र भाष्याणामेकवाक्यत्वे स्थिते आच्छन्द इत्याद्-प्रश्नेवादिपरो भामतीग्रन्थ प्रौढिवादमात्रपर इति विभावनीयं बहुश्रुतैः ।

दीक्षित का यह कथन यथार्थ है । 'कुशा' का अर्थ ही है—'उद्गातृणां स्तोत्र-गणनार्था दारुमय्यः शलाकाः कुशाः' (लकडी की, विशेषत उदुम्बर लकडी की, बनी उद्गाताओं के स्तोत्र गिनने के लिए आवश्यक शलाका—छोटी छोटी खूंटी)। ऐसी दशा मे आङ् प्रश्लेष की आवश्यकता क्या ? दीक्षित का वेदान्तज्ञान भी स्पृहणीय है।

३० वें सूत्र मे नित्य बहुवचनान्त स्त्रीलिंग शब्दो का परिगणन है । ये शब्द हैं—अप, सुमनस्, समा, सिकता तथा वर्षा । इस सूत्र के भी व्याख्यान मे भट्टोजिदीक्षित ने अपना प्रकृष्ट शब्दज्ञान प्रकट किया है । उनका कहना है 'सुमनस्' शब्द पुष्पवाचक होने पर ही स्त्रीलिंग है । देववाची होने पर वह पुंल्लिङ्ग ही होता है जैसे सुपर्वाणः सुमनसः । इस सूत्र के बहुत्व निर्देश को वे प्रायिक मानते हैं, तभी तो वे महाभाष्य के प्रयोगो द्वारा प्रदर्शित करते हैं कि 'सिकता' (बालू) तथा 'समा' (वर्ष) एकवचन मे भी प्रयुक्त होते हैं । महाभाष्य के वचन हैं—

(क) एका च सिकता तैलदाने असमर्था (अर्थवत् सूत्र पर महाभाष्य, यहाँ सिकता एकवचन मे प्रयुक्त है) ।

(ख) 'समा विजायते' (५।१।१२) सूत्र के भाष्य मे 'समायां समायां' ऐसा एकवचनान्त प्रयोग उपलब्ध है ।

(ग) सुमनस् (पुष्प) का भी प्रयोग एकवचन तथा द्विवचन मे भी होता है । काशिका ने ही -विभाषा प्राग्घेट् शाच्छास' २।४।७८ सूत्र की वृत्ति मे 'अघ्रासाता सुमनसौ देवदत्तेन' मे सुमनस् शब्द का द्विवचनान्त प्रयोग किया है । इसकी पदमञ्जरी में स्पष्ट लिखा है—'तद्-बहुत्व प्रायिकं मन्यते' । इन तीनो शब्दों के बहुवचन का व्यत्यास दिखला कर दीक्षित ने शब्द निष्पत्ति से ही अपनी गम्भीर अभिज्ञता ही नही दिखलाई, प्रत्युत प्राचीन परम्परा की भी अपनी अवगति विशदता से प्रकट की ।

इन सब उदाहरणों से भट्टोजिदीक्षित की इस लिङ्गानुशासन-वृत्ति का महत्व भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भली-भांति अंकित किया जा सकता है ।

वररुचि[1]

इनका लिखा लिङ्गानुशासन आर्या छन्दों मे निबद्ध है। वामन अपने लिङ्गानुशासन की स्वोपज्ञ वृत्ति मे वररुचि के विषय लिखते हैं—वररुचि प्रभृतिभिरप्याचार्यैं आर्याभिरभिहितमेव, तदति बहुना ग्रन्थेन, इत्यह् समासेन सक्षेपेण वच्मि (पृष्ठ २, गायकवाड ओ० सी० का सस्करण बडोदा)। इससे पता चलता है कि वररुचि ने आर्याओ मे अपना ग्रन्थ लिखा, परन्तु विस्तार अधिक था। अतएव वामन ने आर्याओ मे ही, परन्तु सक्षिप्त रूप मे अपने ग्रथ का निर्माण किया।

इस लिङ्गानुशासन के अन्त मे पुष्पिका से पता चलता है कि वररुचि विक्रमादित्य की सभा का सभासद् था। परन्तु कौन विक्रमादित्य वररुचि का आश्रयदाता है? यदि विक्रम सवत के सस्थापक विक्रमादित्य से यहाँ तात्पर्य हो, तो वररुचि का समय दो सहस्र वर्षों से कम नही हुआ। इस लिङ्गानुशासन का नाम 'लिङ्गविशेष विधि' प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ से एक उद्धरण हर्षवर्धन रचित लिङ्गानुशासन की व्याख्या मे दिया गया है।

हर्षवर्धन

इनका लिङ्गानुशासन दो स्थानो से छप चुका है—जर्मनी से जर्मन अनुवाद के साथ तथा वृत्ति-सहित मद्रास से[2]। हर्षवर्धन ने इस ग्रथ मे अपने विषय मे कोई भी सकेत नही किया है। ग्रन्थ के अन्तिम पद्य मे वे अपने को श्रीवर्धनस्यात्मज' अर्थात् 'श्रीवर्धन' का पुत्र कहते हैं। इतने सक्षिप्त सकेत से उनका पूरा परिचय नही हो सकता। 'श्रीवर्धन' से यदि प्रभाकर वर्धन से तात्पर्य समझा जाय, तो हर्षवर्धन प्रख्यात सम्राट् हर्षवर्धन से अभिन्न माने जा सकते हैं। जब तक इस समीकरण के विरुद्ध कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध न हो, तब तक इस ग्रथकार को सम्राट हर्षवर्धन माना जा सकता है।

इस ग्रथ की टीका भी प्रकाशित है। इसके लेखक के व्यक्तित्व के विषय में हस्तलेखों की भिन्नता के कारण प्रामाणिक परिचय नही मिलता कि इसके प्रणेता का नाम ही क्या था। मद्रास प्रति के सस्कर्ता प० वेंकटरामशर्मा का उपलब्ध हस्तलेखो के आधार पर ग्रथकार का नाम भट्टभरद्वाज-सूनु पृथिवीश्वर है, उधर जर्मन सस्करण मे भट्टदीप्त स्वामिसूनु वल्वागीश्वर शबर स्वामी है जो जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के हस्तलेख से

---

१ वररुचि का लिङ्गानुशासन किसी सक्षिप्त वृत्ति के साथ हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासन के अन्त मे मुद्रित है।

२ मद्रास वाला सस्करण वृत्ति तथा परिशिष्टो से युक्त होने से बहुत ही उत्तम तथा प्रामाणिक है।

मिलता है। शबरस्वामी शब्दशास्त्र के पण्डित हैं, क्योंकि, उनके मत को सर्वानन्द ने अमरकोश टीका मे तथा उज्ज्वलदत्त ने उणादि वृत्ति मे उल्लिखित किया है। परन्तु पता नही कि ये शबरस्वामी कौन है। यदि ये ही वस्तुत इस लिंगानुशासन के टीकाकार हो तो भी वे मीमासक शबरस्वामी नहीं हो सकते। काल की भिन्नता इसमे प्रधान बाधक है। मीमासक भाष्यकार शबरस्वामी का आविर्भावकाल द्वितीय शती माना जाता है, जब इस टीकाकार को सप्तम शती से अर्वाक्कालीन होना ही चाहिए।

वामन-रचित लिंगानुशास तथा स्वोपज्ञ वृत्ति प्रकाशित हुई है। यह केवल ३३ आर्याओं मे निबद्ध किया गया अत्यन्त लघुकाय लिंगानुशासन है। वामन के देशकाल का पता नही चलता।

अन्य व्याकरण सम्प्रदाय के भी लिंगानुशासन है। दुर्गसिंह का लिंगानुशासन कातन्त्र व्याकरण से सम्बन्ध है (डेक्कन कालेज पूना से प्रकाशित)। हेमचन्द्र का लिंगानुशासन प्रसिद्ध है जिस ऊपर अन्य वैयाकरणो की टीकायें उपलब्ध हैं।

(५) परिभाषा पाठ

परिभाषा किसी भी व्याकरण शासन का अनिवार्य अग है। पाणिनीय-सम्प्रदाय मे तो उनका बडा विस्तार है टीका प्रटीकाओ के अस्तित्व के कारण। परन्तु पाणिनि से इतर व्याकरण सम्प्रदायो मे भी न्यून या अधिक मात्रा मे उनका अस्तित्व है।

परिभाषा का लक्षण है—अनियमे नियमकारिणी परिभाषा। सामान्यत परिभाषा दो प्रकार की होती है—एक तो पाणिनीय अष्टाध्यायी मे सूत्ररूप से पठित हैं, क्योंकि पाणिनि के अनेक सूत्र 'परिभाषा सूत्र' के नाम से विख्यात हैं। दूसरी प्रकार की परिभाषायें वे हैं जो या तो किसी सूत्र से ज्ञापित होती हैं (ज्ञापकसिद्धा परिभाषा) अथवा लोक मे प्रचलित न्याय का अनुगमन करती हैं (न्यायसिद्धा परिभाषा) अथवा जो इन दोनो प्रकारो से भिन्न हैं (वाचनिका परिभाषा)। अन्तिम प्रकार की वाचनिका परिभाषा भी या तो कात्यायन के वार्तिक रूप मे लक्षित होती हैं अथवा भाष्यकार के वचन रूप मे। परिभाषा पाठ से तात्पर्य दूसरे प्रकार की परिभाषाओ के सकलन से हैं जो जो पाणिनीय सूत्रो मे निर्दिष्ट नही हैं।

परिभाषाओ का सर्व प्राचीन सकलन आचार्य व्याडि के नाम से सम्बन्ध रखता है। व्याडि नाम से सम्बद्ध पाठ दो ग्रथो[१] मे दिये गये हैं—प्रथम व्याडिकृत परिभाषा सूचनम् और दूसरा है व्याडि-परिभाषा पाठ। इन ग्रन्थों मे दी गई

१ इन दोनो ग्रन्थो को पण्डित काशीनाथ अभ्यङ्कर शास्त्री ने 'परिभाषा सग्रह' मे सम्मिलित किया है जो पूना से स० २०१५ मे प्रकाशित हुआ है।

परिभाषाओं में पारस्परिक भिन्नता भी है। प्रथम पाठ में केवल ९३ परिभाषायें हैं और द्वितीय पाठ में १४० परिभाषायें। आदिम परिभाषा दोनों में एक ही है--'अर्थवद् ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्'। पुरुषोत्तम देव की परिभाषा वृत्ति में परिभाषाओं की संख्या १२० ही है। यह भी व्याडि स्वीकृत पाठ को आधार मानकर चलती है। सीरदेव की परिभाषा वृत्ति में १३३ परिभाषायें हैं। नागेशभट्ट के परिभाषेन्दु-शेखर में भी १३३ परिभाषायें व्याख्यात हैं, परन्तु इनका क्रम सीरदेव के क्रम से भिन्नता रखता है। इन परिभाषापाठों का तुलनात्मक विवेचन नितान्त आवश्यक है।

परिभाषा-पाठ की अनेक व्याख्यायें उपलब्ध हैं जिनमें आज भी हस्तलेख-रूप में ही विद्यमान हैं। इनमें से प्रकाशित अथ च प्रख्यात वृत्तियों का उल्लेख यहाँ किया जाता है—

(१) पुरुषोत्तम—लघुवृत्ति (अथवा ललितावृत्ति)। पुरुषोत्तम का परिचय कोशविद्या के इतिहास प्रसंग में पूर्व ही दिया गया है (पृष्ठ ३५७-३५८)। इन्होंने लक्ष्मणसेन के आदेश से 'भाषावृत्ति' का प्रणयन किया था। इन बौद्ध बंगीय विद्वान् का समय १२ वीं शती का उत्तरार्ध है। यह लघुवृत्ति संक्षिप्त होने पर सारगर्भित है।

(२) सीरदेव—परिभाषावृत्ति। सीरदेव ने इस वृत्ति में अनेक ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है जिनमें पुरुषोत्तमदेव सबसे अर्वाचीन है। सायण ने 'माधवीया धातुवृत्ति' में सीरदेव का मत दो बार उद्धृत किया है। अतः सीरदेव का समय इन दोनों ग्रंथकारों पुरुषोत्तमदेव तथा सायण के बीच में होना चाहिए (१२०० ई०–१३५० ई० के बीच लगभग १३०० ई०)। यहाँ परिभाषा-पाठ पाणिनीय अष्टाध्यायी के क्रम से दिया गया है। परिभाषाओं का विवेचन पूर्ण तथा प्रामाणिक है।

(३) नागेशभट्ट—परिभाषेन्दु-शेखर। नागेश के ग्रंथों का पौर्वापर्य पीछे हमने यथाविधि दिखलाया है। उनके व्याकरण ग्रंथों में 'परिभाषेन्दु शेखर' सब के अन्त में लिखा गया प्रतीत होता है। इसमें मञ्जूषा तथा शब्देन्दुशेखर का उल्लेख मिलता है, परन्तु इन ग्रंथों में परिभाषेन्दु का निर्देश उपलब्ध नहीं है। यह नागेश के ग्रंथों में भी अपनी पाण्डित्यमयी व्याख्या के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। इसमें प्रत्येक परिभाषा का अर्थ, विवरण, उदाहरण तथा प्राचीनमतों की समीक्षा देकर अन्त में वाचनिकी, ज्ञापक-सिद्धा तथा न्याय सिद्धा का भेद दिखलाया गया है। परिभाषाओं की विधिवत उत्थानिका, स्वरूप तथा आलोचना इतने सुन्दर ढंग दी गई है कि परिभाषाओं के ज्ञान के लिए यही सर्वश्रेष्ठ प्रयत्न है। इसके ऊपर विपुल टीका-सम्पत्ति ग्रंथ की विद्वता तथा लोकप्रियता की विशद निदर्शिका है। वैद्यनाथ पायगुण्डे की गदा, भैरवमिश्र की भैरवी, राघवेन्द्राचार्य की त्रिपथगा, नागेश्वरशास्त्री की हैमवती रामकृष्ण (तात्या) शास्त्री की भूति तथा जयदेवमिश्र की विजया प्रसिद्ध हैं। नागेश

की ग्रन्थत्रयी मे मञ्जूषा तथा शब्देन्दुशेखर के अनन्तर परिभाषेन्दुशेखर ही उनके वैयाकरणत्व का शखनिनाद करने वाला उदात्त ग्रन्थ है।

(६) फिट्-सूत्र-पाठ

पाणिनीय सम्प्रदाय मे फिट् सूत्रो का भी अपना महत्त्व है। फिट्सूत्र सख्या मे ८७ (सत्तासी) हैं और चार पादो मे विभक्त हैं। 'फिट्' शब्द 'फिष्' शब्द का प्रथमा एकवचन है। अर्थवदधातुरप्रत्यय प्रातिपदिकम् (१।२।४५) तथा कृत्तद्धित-समासाश्च (१।२।४६) इन सूत्रो के द्वारा अर्थवान् मूल शब्द को प्रातिपदिक संज्ञा पाणिनीयमत मे विहित है। सामान्य रीति से कह सकते हैं कि सुप विभक्ति के योग से पहिले अर्थवान् शब्द का जो मूल स्वरूप रहता है यथा राम, हरि, गो, भानु आदि वही प्रातिपदिक है। और यही प्रातिपदिक 'फिट' के नाम से इस तन्त्र मे प्रख्यात है। यह पाणिनि से भिन्न तन्त्र है। प्रातिपदिको के स्वर-विचार के लिए निबद्ध यह सूत्र पाठ 'फिट् स्वर-पाठ' के नाम से प्रख्यात है।

इन ८७ सूत्रो मे शब्दो के स्वर-सचार पर विचार है। इन सूत्रो की आवश्यकता का अवसर तब आया, जब व्याकरण के कतिपय आचार्य शब्दो मे यौगिक शब्दो के अतिरिक्त रूढ शब्दो को भी स्थित मानने लगे। उणादि सूत्रो की व्याख्या के अवसर पर दिखलाया गया है कि शब्दो का यौगिक पक्ष ही प्रधान है। अर्थात् शब्द प्रकृति तथा प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। ऐसी दशा मे प्रत्ययो से निष्पत्ति मान्य होने पर, स्वरसचार का विचार तो प्रत्ययस्वर से ही सिद्ध हो जाता है। इन सूत्रो की आवश्यकता तो शब्दो के अव्युत्पन्न मानने के अवसर पर ही आती है। 'अव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि' पाणिनीय मत का एक बहुचर्चित पक्ष है। महाभाष्यकार तो पाणिनि के मत मे उणादिको को भी अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानते हैं[1]। भाष्यकार की उक्ति माननीय है तथा भाषाविज्ञान के आलोक मे महनीय भी है। जो कुछ भी हो, पाणिनीय सम्प्रदाय के भी अनेक आचार्य शब्दो के रूढि-पक्ष के पक्षपाती हैं। अर्थात् शब्द को प्रकृति तथा प्रत्यय के योग से बिना निष्पन्न हुए ही सिद्ध माने जाते हैं, यह उनका मत है। उन्ही आचार्यों के पक्ष को दृष्टि मे रखकर फिट् सूत्रों का पाठ किया गया है।

फिट् सूत्रो का प्रवक्ता

फिट् सूत्रो का प्रवक्ता कौन है ? इसके उत्तर मे मान्य ग्रन्थकारो का एक ही

---

१. प्रातिपदिक विज्ञानाच्च भगवत पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्। उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि—महाभाष्य।

उत्तर है—आचार्य शन्तनु। और शन्तनु प्रणीत होने से ही ये सूत्र 'शान्तनव' नाम से प्रख्यात हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण हरदत्त की पदमञ्जरी से उपलब्ध होता है। 'द्वारदीना च' (७।३।४) की व्याख्या में काशिका ने स्वरविषयक ग्रन्थ तथा अध्याय के लिए 'सौवर' शब्द की सिद्धि बताई है[1]। इसकी व्याख्या में हरदत्त का कथन है—

स पुन शन्तनुप्रणीत फिषित्यादिक

सचमुच 'फिषोऽन्त उदात्त' फिट् सूत्रों के प्रथम सूत्र की ओर ही हरदत्त का स्पष्ट संकेत है। फलत इन सूत्रों के रचयिता या प्रवक्ता शन्तनु आचार्य हैं। हरदत्त के इस मत का उल्लेख नागेशभट्ट[2] ने शब्देन्दु शेखर की फिट् सूत्र की व्याख्या के अन्त में स्वय किया है। फलत फिट् सूत्र अपाणिनीय हैं, इसमें दो मत नहीं हो सकते। तथापि महाभाष्य के ज्ञापक के द्वारा पाणिनीय आचार्य उनका आश्रयण करते हैं—

अपाणिनीयान्यपि फिट् सूत्राणि पाणिनीयैराश्रीयन्ते भाष्यात् ज्ञापकात्। तथा च 'आद्युदात्तश्च' इति सूत्रे भाष्य प्रतिपदिकस्य यान्त इति प्रकृतेरन्तोदात्तत्वं शास्ति[3]।

फलत शन्तनु आचार्य के द्वारा प्रणीत इन सूत्रों को पाणिनीय सम्प्रदाय भी अपने शास्त्र का उपादेय अंग ही मानता है।

फिट् सूत्रों की प्राचीनता

यूरोपियन विद्वानों में व्युत्पन्न वैयाकरण डा० कील्हार्न ने १८६६ ई० म इन सूत्रों का विभिन्न संस्कृत व्याख्याओं, भूमिका तथा अनुवाद के साथ एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया। फलत यूरोपियन विद्वान् इन सूत्रों से परिचय रखते हैं। तब डा० विन्टरनित्स को डा० कीथ के साथ एक मत होकर इन सूत्रों को शान्तनव की कृति मानते देखकर आश्चर्य होता है[4]। शान्तनव' आचार्य का नाम नहीं है, प्रत्युत शन्तनु द्वारा प्रणीत होने से इन फिट् सूत्रों का ही नाम है।

१ स्वरमधिकृत्य कृतो ग्रन्थ सौवर। सौवरोऽध्याय (काशिका, जिल्द ६, पृष्ठ ९)।

२ शन्तनुराचार्य प्रणेतेति द्वारादीना चेति सूत्रे हरदत्त।

३ 'फिषोऽन्त उदात्त' सूत्र की तत्त्वबोधिनी का यह कथन द्रष्टव्य है।

४ द्रष्टव्य हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर जिल्द ३, भाग २, पृष्ठ ४३८ (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७)।

इन सूत्रों के काल के विषय में डा० कीथ तथा डा० विन्टरनित्स दोनों का कथन है कि ये पाणिनि तो निश्चयेन अज्ञात थे और पतञ्जलि भी सम्भवतः अज्ञात थे। परन्तु यह मत कथमपि माननीय नहीं है।

(१) पतञ्जलि के महाभाष्य में ऐसे स्पष्ट निर्देश हैं जो उनके फिट्-सूत्रों से परिचय को स्थिर करते हैं। पतञ्जलि का कथन है—

स्वरित करण सामर्थ्यान्नि भविष्यति-न्यङ्स्वरौ स्वरितौ इति। यहाँ पतञ्जलि ने 'न्यङ्स्वरौ स्वरितौ' को उद्धृत किया है जो फिट् सूत्रों में ७४ वाँ सूत्र है। इसी प्रकार 'प्रत्ययस्त्ररस्यावकाशो यत्रानुदात्ता प्रकृति: समत्व सिमत्वम् (६।१।१५८ का महाभाष्य) पतञ्जलि का कथन 'स्वत इव सम-सिमेत्यनुच्चानि, (फिट्-सूत्र ७८ वाँ) को लक्ष्य कर ही सम तथा सिम शब्दों में सर्वानुदात्तत्व का प्रतिपादन करता है। ऐसे स्पष्ट निर्देशों के होने पर पतञ्जलि को फिट्-सूत्रों से अपरिचित कहने का कौन साहस कर सकता है ?

(ख) पाणिन्यपेक्षया भी इनकी प्राचीनता सिद्ध होती है चन्द्रगोमी के एक विशिष्ट कथन के प्रामाण्य पर। प्रत्याहारों के विषय में चन्द्रगोमी का कथन है कि पूर्व वैयाकरण 'ऐऔप्' प्रत्याहार मानते थे, इसके स्थान पर 'ऐऔच्' किया गया है। 'ऐऔच्' माहेश्वर-सूत्र है पाणिनि-सम्मत। और इसी शैली पर स्वर के लिए 'अच्' प्रत्याहार पाणिनि द्वारा बनता है। पूर्व वैयाकरण के यहाँ स्वर के लिए 'अप्' प्रत्याहार था—चन्द्रगोमी का यही अभिप्राय है। और यह अप्[१] प्रत्याहार फिट्-सूत्र २७ 'तृणधान्यानां च द्व्यषाम्' तथा फिट्-सूत्र ४२ 'लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरु.' में उपलब्ध होता है। फलत पाणिनि ने फिट् सूत्रों के 'अप्' को 'अच्' में बदल दिया। ऐसी दशा में पाणिनि को इन सूत्रों से अपरिचित घोषित करना अनुचित है। शान्तनु पाणिनि से पूर्व वैयाकरण हैं।

उपलब्ध फिट्सूत्र शन्तनु तन्त्र का एक भाग ही प्रतीत होता है। अन्य सूत्रों की सत्ता मानना ही उचित प्रतीत होता है। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग व्याख्या के बिना नितान्त असगत तथा अप्रामाणिक है। फिट् सूत्रों के पारिभाषिक शब्द अव्याख्यात ही हैं जैसे फिप् (सूत्र १) = प्रातिपदिक, नप् (सूत्र २६ तथा ६१) = नपुंसक, शिट् (सूत्र २९) = सर्वनाम। इन शब्दों के व्याख्या प्रदाता सूत्र अवश्य

१. एप प्रत्याहार पूर्वव्याकरणेष्वपि स्थित एव। अयं तु विशेष 'एऔप्' यदासीत् तद् 'ऐ औच्' इति कृतम्। तथाहि 'लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरु' 'तृणधान्यानां च द्व्यषाम्' इति पठ्यते।

इस तन्त्र में रहे होंगे। प्रत्याहारों की भी यही दशा है। अप्=अच[1] तथा हय्=हल[2]।
परन्तु इनकी व्याख्या अपेक्षित होने पर भी इन सूत्रों में उपलब्ध नहीं हैं। फलतः इन सूत्रों का कोई और अंश अवश्य होगा।

फिट्-सूत्रों की व्याख्या भट्टोजिदीक्षित तथा नागेश ने अपने-अपने ग्रन्थों में की है। श्रीनिवास यज्वा ने स्वर-सूत्रों के ऊपर जो स्वरसिद्धान्त चन्द्रिका[3] नाम्नी विशद व्याख्या लिखी हैं उसमें फिट्-सूत्रों की भी विशद वृत्ति है। इस प्रकार शान्तनु आचार्य द्वारा प्रणीत ये फिट् सूत्र पाणिनीय तन्त्र के अविभाज्य अंग हैं।

---

१. अप् से अभिप्राय 'अच्' का है। चन्द्रगोमी का वचन ऊपर उद्धृत है।

२. हय् इति हलां संज्ञा— लघुशब्देन्दुशेखर।

३. अन्नमलै विश्वविद्यालय संस्कृत ग्रन्थमाला न० ४, (मद्रास, १९३६) में प्रकाशित।

षष्ठ खण्ड

इतर व्याकरण-सम्प्रदाय

वोपदेव ने अपने इस प्रसिद्ध श्लोक में आठ आदि शाब्दिकों का नाम निर्दिष्ट किया है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशलिशाकटायनाः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥

'आदि शाब्दिक' शब्द में वोपदेव का तात्पर्य व्याकरण सम्प्रदाय के प्रवर्तकों से है। इनमें से तीन वैयाकरण पूर्व पाणिनीय युग से सम्बन्ध रखते हैं (इन्द्र, आपिशलि तथा काशकृत्स्न) तथा चार पाणिनि के उत्तर युग से सम्बद्ध हैं (अमर, जैनेन्द्र, चन्द्र तथा शाकटायन)। पूर्व पाणिनीय वैयाकरणों का वर्णन इस खण्ड के आरम्भ में संक्षेप से दिया गया है[1]। उत्तरकालीन वैयाकरणों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इन वैयाकरणों में अन्य भी अनेक महत्त्वशाली ग्रंथकार हैं जिनका उल्लेख वोपदेव ने नहीं किया, परन्तु व्याकरण शास्त्र के ऐतिहासिक विकास की पूर्ण जानकारी के लिए उनका संक्षिप्त भी परिचय आवश्यक है।

मौलिक समस्या है कि पाणिनीय सम्प्रदाय जैसे शास्त्रीय सम्प्रदाय के रहते हुए भी तदितर सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव का क्या रहस्य है? इन सम्प्रदायों के अस्तित्व के लिए कौन सी आवश्यकता थी? यह समस्या समाधान की अपेक्षा रखती है। पहिले संकेत किया गया है कि पाणिनि सदृश महावैयाकरण द्वारा कड़े नियमों से जकड़ी जाने पर भी संस्कृत भाषा का रूप स्थिर न रह सका। नये परिवर्तनों को मान्यता प्रदान करने के लिए कात्यायन सदृश महावैयाकरणों को नये नियम बनाने पड़े अथवा पाणिनि के सूत्रों में ही हेरफेर कर उन परिवर्तनों को पाणिनि के सूत्रों के भीतर ही बैठाया गया। किन्तु इन प्रयत्नों में एक तो कृत्रिमता की गन्ध आती थी और दूसरे उत्तर काल के परिवर्तनों को पाणिनि के सिर पर लादने से ऐतिहासिक क्रम का भी विपर्यास होता था। कात्यायन के वार्तिकों से तथा पतञ्जलि की इष्टियों से यह

---

१. आपिशलि का वर्णन इस ग्रंथ के पृ० ३९४–३९६ तक, इन्द्र का वर्णन पृष्ठ ३९८-४०० तक तथा काशकृत्स्न का वर्णन पृष्ठ ४०० ४१३ तक किया गया है। जिज्ञासुजन उन्हें वहीं देखने का कष्ट करें।

कार्य अवश्यमेव सम्पन्न किया गया, परन्तु परिवर्तनों की संख्या कालातिक्रम से बढ़ती ही गई और पाणिनि के सुनिश्चित सूत्रों के भीतर इनका समावेश असम्भव हो गया। एक तथ्य ध्यातव्य है कि संस्कृत भाषा जब तक साहित्यिक अथवा शिष्ट भाषा थी और वह धीरे धीरे पण्डित भाषा बन रही थी। इसलिए परिवर्तनों का क्रम अवश्यमेव कुछ शिथिल रहा होगा। परन्तु परिवर्तन कालानुसार अवश्यमेव दृष्टिगोचर होने लगे थे। यथा 'फलग्रहि' के समान 'मलग्रहि', 'स्तनन्धय' के सदृश 'आस्यन्धय' और 'पुष्पन्धय', 'नाडिन्धम' के समान 'करन्धम' पदों की उत्पत्ति अब आरम्भ हो गई। ये शब्द प्रयोग में आने लगे, परन्तु पाणिनि-सूत्रों से इनकी पुष्ट व्यवस्था नहीं हो सकी। अतएव यह कार्य सिद्ध करने के लिए 'कातन्त्र' व्याकरण सामने आया। अनुस्वार के लिए भी पाणिनि का निर्देश है कि म् के स्थान में अनुस्वार व्यञ्जन के पूर्व होने पर ही होता है, अन्त में नहीं। कातन्त्र तथा सारस्वत सम्प्रदाय में अन्त में भी अनुस्वार मान लिया गया है। फल यह है कि इस युग में लक्षणैकचक्षुष्क वैयाकरणों के स्थान में लक्ष्यैकचक्षुष्क वैयाकरणों की प्रतिष्ठा हुई जिनकी उदार-भावना को केरलीय नारायणभट्ट ने अपने 'प्रक्रिया सर्वस्व' के इस पद्य में प्रकट किया है। उनका कथन है कि पाणिनि का कथन प्रमाण है और चन्द्र तथा भोज का कथन प्रमाण नहीं है, यह कथन निर्मूल है, क्योंकि वस्तुतः प्रवक्ताओं की उक्ति निराधार नहीं होती। गुण की महत्ता होती है तथा गुणी के वचनों का ही बुधजन अंगीकार करते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो पाणिनि से पूर्व व्याकरण ही नहीं था क्या? पाणिनि ने तो स्वयं पूर्वाचार्यों के मत का उद्धरण किया है और ऐसे स्थलों पर आज विकल्प की कल्पना की जाती है। अतः हमें उदार होना चाहिए अपनी कल्पना में तथा व्याकरण द्वारा प्रमाण्य व्यापार में—

पाणिन्युक्तं प्रमाणं न तु पुनरपरं चन्द्रभोजादिसूत्रं
केऽप्याहुः, तन्न लघिष्ठं न खलु बहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम्।
वस्त्वङ्गीकारभेदो भवति गुणवशात्, पाणिनेः प्राक्कथं वा
पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति विरोधे चापि कल्प्यो विकल्पः॥

इसी कारण उत्तरकालीन वैयाकरणों ने नवीन व्याकरण बनाने में ही कल्याण देखा। इनके उद्देश्यों की पूरी सिद्धि भी हुई। इनके द्वारा आरम्भिक छात्रों को संस्कृत सीखने में सरलता मिली, परन्तु ये व्याकरण अपने दायरे की परिधि में ही फूले-फले। जैसे भोज का व्याकरण मालवा की विशिष्ट सम्पत्ति है, तो हेमचन्द्र का व्याकरण गुजरात की और उसमें भी जैन धर्मावलम्बियों की। पाणिनीय सम्प्रदाय को ही अखिल भारतीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इसका कारण है उसका शास्त्रीय तथ्यों का आमूल-चूल गम्भीर विवेचन। पाणिनीय सम्प्रदाय ने ही व्याकरण को दर्शन के उदात्त

सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। शब्दाद्वैत की मीमांसा पतञ्जलि तथा भर्तृहरि को अलोक सामान्य वैदुष्य का चमत्कार है। पाणिनीय सम्प्रदाय के सार्वभौम प्रख्याति का रहस्य इस दार्शनिक विवेचन के भीतर अन्तर्निहित है।

(१) कातन्त्र व्याकरण

पाणिनि की परम्परा से बहिर्भूत व्याकरण-सम्प्रदायों में कातन्त्र व्याकरण निःसन्देह सर्वप्राचीन प्रतीत होता है। इसके नाम का व्याख्या दुर्गसिंह ने अपनी वृत्ति में 'ईषत तन्त्र' शब्द के द्वारा की है। वृहत्काय पाणिनीय सम्प्रदाय की तुलना में लघुकाय होने के कारण 'कातन्त्र' नाम अपनी अन्वर्थता रखता है। कुमार अर्थात कार्तिकेय के द्वारा मूलत प्रेरित होने के कारण यह 'कौमार' नाम से भी प्रख्यात है। कार्तिकेय के वाहन मयूर के पिच्छों (कलाप अर्थात् पक्षों) से सग्रहीत किये जाने के हेतु इसकी अपर सज्ञा 'कालापक' भी मानी जाती है[१]। यह व्याकरण-सम्प्रदाय निःसन्देह प्राचीनतर सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करता है। महाभाष्य के अनुसार अद्यतनी, श्वस्तनी, भविष्यन्ती, परोक्ष सज्ञायें प्राचीन आचार्यों के द्वारा प्रचारित की गई थी। और ये सब कातन्त्र में उपलब्ध होती हैं[२]। 'कारित' णिजन्त की सज्ञा *निरुक्त (१।१३) में निर्दिष्ट है जो यहाँ भी मिलती है। फलत यह व्याकरणसम्प्रदाय* अवश्यमेव प्राचीन है, परन्तु कितना प्राचीन ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं दिया जा सकता। शूद्रक रचित 'पद्मप्राभृतक' भाण मे कातन्त्रिकों के उस युग मे अत्यन्त लोकप्रिय होने का उल्लेख है[३]। पाणिनीयों के साथ इनकी उस काल मे महती स्पर्धा थी—इस तथ्य का स्पष्ट सकेत मिलता है। पाणिनिमतानुयायी इन्हें वैयाकरणों मे अधम (पारशव) मानते थे तथा अनास्था रखते थे।

कातन्त्र व्याकरण का परिचय

कौमार सम्प्रदाय के अन्तर्गत कातन्त्र या कलाप व्याकरण मे शब्द-साधक की

---

१ यह तथ्य वनमालिद्वित रचित 'कलापव्याकरणोत्पत्तिप्रस्ताव' मे दिया गया है··· सर्ववर्मा शम्भारनुज्ञया कार्तिकेयमाराध्य शिखिवाहनस्य पिच्छ कलापात् व्याकरण सगृह्य राजानमल्पकालेनैव व्याकरणाभिज्ञ कृतवान् इत्यस्य कल्याप इति नामासीत्।

२ अद्यतनी—कातन्त्र ३।१।२२, भविष्यन्ती ३।१।१५,
श्वस्तनी „ ३।१।१५ परोक्ष ३।१।१३ आदि में।

३ एषोऽस्मि वल्गुभिरिव सघातवल्गिभि कातन्त्रिकैरवस्कन्दित इति हन्त प्रवृत्त कालोलूकम्········। का चेदानी मम वैयाकरण-पारशवेषु कातन्त्रिकेष्वास्था।

(पृ० १८)

प्रक्रिया पाणिनीय व्याकरण से प्रायः भिन्न ही देखी जाती है। इस व्याकरण में लौकिक शब्दों के ही साधनार्थ नियम बताए गए हैं। अन्य व्याख्याकारों के मत से जिन वैदिक शब्दों का साधुत्व यहाँ दिखाया गया है, वे शब्द आचार्य शर्ववर्मा के मत से लौकिक ही समझने चाहिए।

कातन्त्र शब्द का अर्थ है—अल्प या संक्षिप्त तन्त्र (ईषद् तन्त्रं कातन्त्रम्, ईषदर्थे कु शब्दस्य कादेशः, "का त्वोषदर्थेऽक्षे" कातन्त्र २।५।२५)। वैयाकरण हरिराम ने पाणिनि व्याकरण की अपेक्षा इसको संक्षिप्त बताया है। भगवान् कुमार के प्रसाद से प्राप्त होने के कारण शर्ववर्म प्रोक्त इस व्याकरण को कौमार नाम से भी अभिहित किया जाता है। व्याकरण के अत्यन्त संक्षेप दिखाए जाने से ही इसको कलापक नाम भी प्रसिद्ध है (बृहत्तन्त्रात् कला आपिबन्तीति कलापका: शास्त्राणि, हेमचन्द्र उणादिवृत्ति, पृष्ठ १०)।

आचार्य शर्ववर्मा द्वारा प्रणीत इस 'कातन्त्र व्याकरण' में मूलतः सन्धि, नाम एवं आख्यात ये तीन ही अध्याय हैं। इन अध्यायों में सन्धि के अन्तर्गत पाँच, नाम में छः तथा आख्यात में आठ पाद हैं। सन्धि के पाँच पाद पाँच सन्धियों से सम्बन्धित हैं। नाम-चतुष्टय के प्राथमिक तीन पादों में स्याद्यन्त रूपों की सिद्धि की गई है। शेष तीन पादों में कारक, समास एवं तद्धित प्रकरणों का निरूपण क्रमशः किया गया है। आख्यात के प्रथम पाद में 'वर्तमाना' आदि काल बोधिका संज्ञाएँ बताकर द्वितीय पाद में 'सन्' इत्यादि प्रत्ययों तथा 'अन्' (पाणिनि के अनुसार 'शप्') इत्यादि विकरणों के प्रयोगस्थल का निर्देश किया गया है। तृतीय पाद में द्विरवविधि, चतुर्थ में सम्प्रसारण, अकारलोपादि कार्य दिखाए गए हैं। पञ्चम में गुण षष्ठ में अनुषङ्ग-लोप, वृद्धि, उपधादीर्घ (नुम्) तथा नलोपादि का विषय वर्णित है। सप्तम पाद में इडागम एवं कुछ अनिट् धातुओं का निर्देश करके अष्टम पाद में औपदेशिक षकार का नकार आदेशादि प्रकीर्ण कार्यों को दिखाया गया है।

इन तीनों अध्यायों की क्रमविषयक संगति का निर्देश आचार्य सुषेण ने 'कलापचन्द्र' के प्रारम्भ में इस प्रकार किया है—

> "सन्ध्यादिक्रममादाय यत्कलाप विनिर्मितम्,
> मोदकं देहि देवेति वचनं सन्निदर्शनम्।"
>
> (कलापचन्द्र:, मङ्गलाचरणम् पृ० ७)।

राजा शालिवाहन (सातवाहन) के प्रति उनकी रानी के द्वारा कहे गए 'मोदकं देहि' इस वचन के 'मोदक' शब्द में गुण-सन्धि होने के कारण पहले सन्धि का विषय दिखाया गया है। पुनः 'मोदकम्' स्याद्यन्त (नाम) पद है, अतः सन्धि के

बाद नामशब्दों की सिद्धि की गई। तदनु 'देहि' इस आख्यात पद को श्लोक में कहा गया है। उसी क्रम से नाम-निरूपण के अनन्तर आचार्य ने आख्यात का विषय प्रदर्शित किया है।

सम्प्रति उपलब्ध 'कातन्त्र-व्याकरण' में कृदन्त रूप चतुर्थ अध्याय कात्यायन-वररुचि द्वारा प्रतीत है। वृत्तिकार दुर्गसिंह ने कृदन्तवृत्ति के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कहा है—

"वृक्षादिवदमी रूढा कृतिना न कृताः कृत,
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुद्धिप्रतिपत्तये।"

(कात० वृ०, कृत्प्र०, प्रारम्भे)।

यद्यपि आचार्य शर्ववर्मा के "कर्तृकर्मणो कृति नित्यम्", "न निष्ठादिषु" (कातन्त्र २।४।४१, ४२) यह सूत्र कृत्प्रकरण विषयक निर्धारण को ही द्योतित करते हैं, तथापि "वररुचिना सूत्रादिक पृथगेवोक्तं ततश्च वररुचिशर्ववर्मणोरेकबुद्ध्या दुर्गसिंहेनोक्तमिति" (कवि० २।१।६८) इत्यादि व्याख्याकारों के वचनों से कृदन्त भाग के प्रणेता आचार्य वररुचि ही माने जा सकते हैं, न कि आचार्य शर्ववर्मा। साराश यह है कि आचार्य शर्ववर्मा ने कृत् प्रत्ययों का निर्धारण तो किया ही था, परन्तु इनका अनुशासन नहीं किया था।

कुछ प्रमाणों के आधार पर उपलब्ध 'कातन्त्र-व्याकरण' दुर्गसिंह द्वारा परिष्कृत सस्करण माना जा सकता है। "तादर्थ्ये" (कात० २।४।२७) सूत्र के व्याख्यान में पञ्जीकार त्रिलोचनदास कहते हैं—"तादर्थ्यमिति कथमिदमुच्यते, न खल्वेतच्छर्ववर्म-कृतसूत्रमस्तीति।......अत्र तु वृत्तिकृता मतान्तरमादर्शितम्। इह हि प्रस्तावे चन्द्रगोमिना प्रणीतमिदमिति" (पञ्जी—२।४।२३३)।

अर्थात् यह सूत्र आचार्य शर्ववर्मा द्वारा प्रणीत नहीं है, किन्तु चन्द्रगोमी-प्रणीत सूत्र को मतान्तर दिखाने के उद्देश्य से वृत्तिकार दुर्गसिंह ने उद्धृत किया है।

कवीन्द्राचार्य ने अपनी संस्कृत व्याकरण-ग्रंथ—सूची में कपाल व्याकरण के अतिरिक्त दौर्ग-व्याकरण का भी नाम अङ्कित किया है (कवीन्द्राचार्य सूचीपत्र, व्याकरण ग्रंथ, सख्या १४७)। 'दैश' इत्यादि ग्रंथों में 'दौर्ग' नाम से अनेक मत उद्धृत भी हैं। इन प्रमाणों का तात्पर्य है कि दुर्गाचार्य के द्वारा लिखित व्याकरण के अभाव में उनके द्वारा परिष्कृत इसी व्याकरण की ओर ही इन टीकाकारों का सकेत है।

इस कातन्त्र व्याकरण के वर्णसमाम्नाय में ५२ वर्ण माने गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, लृ लॄ, ए ऐ, ओ औ, ं (अनुस्वार) ः (विसर्ग), ≍ (जिह्वामूलीय), ᳲ (उपध्मानीय), क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न प फ ब भ म, य र ल व श, ष स ह एवं क्ष। वर्णसमाम्नाय में न पढ़े जाने से प्लुत वर्णों का बोध अनुपदिष्ट शब्द से किया जाता है।

इसमे 'स्वर' से लेकर 'कृत्य' पर्यन्त ७४ संज्ञाओ का प्रयोग संज्ञि-निर्देश पूर्वक किया गया है, जिनमे कालबोधिका श्वस्तनी ह्यस्तनी, अद्यतनी, वर्तमाना इत्यादि पूर्वाचार्य प्रयुक्त संज्ञाओ को भी स्थान दिया गया है। श ष स ह इन चार वर्णों की 'ऊष्म' संज्ञा को निरर्थक कहा गया है क्योकि विधिसूत्रो में उसका उपयोग नही किया गया है। विधिसूत्रो मे तो उक्त वर्णो के बोध के लिए की गई 'शिट्' संज्ञा का व्यवहार हुआ है। इस निरर्थक संज्ञा को उपस्थापित करने का एकमात्र प्रयोजन पूर्वाचार्य-स्वीकृत व्यवहार को दिखाना ही व्याख्याकारो ने माना है।

संज्ञि निर्देश रहित 'वर्ण' आदि ३० संज्ञाओ का भी व्यवहार किया गया है। अत्यन्त संक्षेप अभीष्ट होने से आचार्य ने सभी नियमो के लिए सूत्र नही बनाए। अतएव "लोकोपचाराद् ग्रहणसिद्धि" (कात० १।१।२३) यह सूत्र बनाकर यह स्पष्ट घोषणा कर दी कि अव्यय, उपसर्ग, कारक, वाक्य इत्यादि के परिज्ञान के लिए सूत्र बनाना निरर्थक है। इनका ज्ञान लोकप्रयोग के आधार पर कर लेना चाहिए।

यहाँ विधेय वर्ण के निर्देश से ही कार्य हो जाने पर संज्ञापूर्वक निर्देश विधि की अनित्यता को एव कही सुखार्थ बोध को व्यक्त करने के उद्देश्य से किया गया है। कही पर पूर्व सूत्रो से जिन शब्दो का अधिकार चला आ रहा है तो उस अधिकार के समाप्ति द्योतन के लिए उन शब्दो का पुन पाठ किया गया है। जैसे—ए "वौस्वरः पदान्ते लोपमकार" (कात० १।२।४०) इस सूत्र मे पूर्वसूत्र से यद्यपि पदान्ताधिकार चला आ रहा था, तो पुन पदान्त ग्रहण की आवश्यकता न होने पर उसका उपादान अग्रिम सूत्र मे पादान्ताधिकार की निवृत्ति के लिए किया गया है—ऐसा वृत्तिकार दुर्गसिंह ने कहा है (द्र०—कात० वृ० १।२।४०)। "न व्यजने स्वरा संधेया" (कात० १।२।४१) इत्यादि सूत्र पठित नञ् को विधि की अनित्यता का द्योतक समझना चाहिए (द्र०—कात० वृ० १।२।४१)।

कुछ शब्द परिभाषाओं के ज्ञापनार्थ भी पढे गए हैं, जैसे—"बाह्वादश्च विधीयते" (कात० २।६।२९३) इस सूत्र के बाह्वादि गण म टीकाकार ने 'बाहु उपबाहु' एव 'बिन्दु उपबिन्दु' यह शब्द पढे हैं। अत कविराज कहते है कि तदन्तविधि मानकर बाहु से उपबाहु का तथा बिन्दु से उपबिन्दु का ग्रहण हो ही सकता था, फिर जो

दोनों शब्द पढ़े गए, उनसे यह ज्ञापित होता है, कि बाह्वादि गण में 'ग्रहणवता लिङ्गेन तदन्तविधिर्नास्ति' यह नियम प्रवृत्त होता है।

प्रयोगसिद्धि

व्याख्याकारों ने वररुचि आदि आचार्यों के मतानुसार अनेक अप्रसिद्ध एवं अपाणिनीय प्रयोगों की सिद्धि दिखाई है—निदर्शनार्थ कुछ वाक्य उद्धृत किए जाते हैं, जैसे—"कुरवोऽस्त्महितं मन्त्रं समायान्त्रक्रिरेः मिथ." (कात० वृ० टी० १।५।६८)। "वातोऽपि तापपरितो सिञ्चति" (कवि० १।५।६९)। "पितरस्तर्पयामास" (कात० वृ० टी० २।१।६६)। ये पाणिनीय व्याकरण से असिद्ध प्रयोग हैं, परन्तु संस्कृत में प्रयुक्त हैं। फलत इन की यहाँ व्यवस्था की गई है जिससे ये व्याकरण-सम्मत ही माने जायें।

कार्यी और कार्य का समान विभक्ति मे ही प्राय. निर्देश देखा जाता है, जिसको व्याख्याकारों ने स्पष्टार्थ कहा है (कात० वृ० टी० २।१।५५)। जहां पर आदेश को द्वितीयान्त एव स्थानी को प्रथमान्त कहकर आदेश एवं स्थानी मे समान विभक्ति का प्रयोग नही किया गया है वहा भिन्न विभक्तिक निर्देश से ही सरलतया बोध हो सकता है, ऐसा समझना चाहिए (द्र०—कवि० २।२।६८)। "सम्बुद्धौ च" (कात० २।१।५६) इस सूत्र मे उपात्त 'च' वर्ण को अनित्यता का द्योतक मानकर वररुचि के मतानुसार—'वरतनु ! सम्प्रवदन्ति कुक्कुटा:' इत्यादि स्थलों मे उकार का ओकार आदेश नहीं होता है—ऐसा कविराज ने स्पष्ट कहा है (द्रष्टव्य—कवि० १।१५६)।

वार्तिककार कात्यायन ने "अभितः परित. समयानिकषा" (सि० कौ० १।४।४९ वा०) वार्तिक द्वारा 'अभित' आदि शब्दों के योग में द्वितीया का विधान कहा है। टीकाकार ने यह उद्धृत किया है, कि आचार्य 'आपिशलि' के मत में इनकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती थी, अत उनके योग मे द्वितीया-विधान उपपन्न होता था (कात० वृ० टी० २।४।२२८)।

पञ्जीकार त्रिलोचनदास ने कहा है कि आचार्य 'शर्ववर्मा' को अर्थ-लाघव ही अभीष्ट था। यही कारण है, कि उन्होंने 'नाम-चतुष्टय' नामक अध्याय में समास और तद्धित प्रकरणों को अनुष्टुप् श्लोकों में निबद्ध किया। अत. बहुत 'विद्येय' आदि क्रियापद छन्दपूर्ति के लिए ही पढ़े गये हैं। उनका वचन इस प्रकार है—

"समासस्तद्धितश्चैव सुखप्रतिपत्त्यर्थमनुष्टुब्बन्धेन विरचित इत्यत्र 'विद्येय' ग्रहणम्। एवमुत्तरेष्वपि योगेषु शब्दलाघवं न चिन्तनीयम् अर्थप्रतिपत्ति लाघवस्य शर्ववर्मणोऽभिप्रेतत्वात्" (पञ्जी १।५।१६३)।

अर्थलाघव की दृष्टि से अनेक शब्दों की सिद्धि के लिए सूत्र तो नहीं बनाए गए हैं,

परन्तु उनकी भी सिद्धि सूत्रोपात्त 'वा-अपि' जैसे शब्दो के व्याख्यान बल से सम्पन्न की जाती है। उनसे भी अवशिष्ट शब्द लोक प्रयुक्त होने से सिद्ध माने जाते हैं। जैसा वररुचि ने कहा भी है—

'त्रा शब्देश्चापिशब्दैर्वा शब्दाना (सूनाणाम्। चालकैस्तथा,
एभिर्येऽत्र न सिध्यन्ति ते साध्या लोकसम्मता।'
(कवि० १।१।१३)।

कातन्त्र धातुपाठ मे नव गण ही प्रमुख माने गये हैं, क्योंकि जुहोत्यादि को अदादि के ही अन्तर्गत पढा गया है। हम पूर्व मे लिख चुके हैं कि यह विशेषता काशकृत्स्न व्याकरण मे विद्यमान थी। कातन्त्र के पट्पादी उणादि प्रकरण में 'उण्' प्रभृति २९४ प्रत्ययो का व्यवहार किया गया है। गणपाठ स्वतन्त्र रूप मे उपलब्ध है, परन्तु वृत्तिकार ने प्राय सभी गणो के शब्दो की वृत्ति मे पढ दिया है। कातन्त्र लिङ्गानुशासन की रचना के विषय मे कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नही होता।

टीकासम्पत्ति

उक्त शर्ववर्म प्रणीत 'कातन्त्र-व्याकरण' पर आचार्य शववर्मा ने ही सर्वप्रथम एक महती वृत्ति बनाई थी, यह सकेत श्री गुरुपद हालदार ने अपने व्याकरण इतिहास मे किया है (पृ० ४३७)।

आचार्य सववर्मा के अनन्तर कात्यायन वररुचि ने दुर्घटवृत्ति का प्रणयन किया। वररुचि कृत दुर्घटवृत्ति का उल्लेख व्याख्याकार हरिराम ने किया है (द्र०—व्याख्यासार, पृ० १७४)। इसके अतिरिक्त अन्य भी वृत्तिकार हुए होगे जिनके ग्रथ आज उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु वृत्तिकार दुर्गसिंह किन्ही स्थलो पर केचित्, परे इत्यादि शब्दो से उनके मतो का स्मरण करते हैं। जैसे—'ऐस्त्वरणादविजरसंरिति केचित्' (कात० वृ० २।१।१८)। कातन्त्र व्याकरण के अनुसार शब्दरूपो का वर्णन गरुडपुराण[1] के दो अध्यायो मे किया गया है (अध्याय २०३ तथा २०४) यहाँ कातन्त्र व्याकरण के सूत्र तथा उदाहरण पद्यमय रूप मे दिये गये हैं। २०३ अध्याय मे २५ श्लोक तथा २०४ अ० मे २६ श्लोक हैं। पुराण मे कातन्त्र का यह विवरण इसकी विपुल लोकप्रियता का नि सन्देह सूचक है। (२०४।२७) अन्त मे कहा गया है कि कात्यायन ने इस व्याकरण का विस्तार किया। कात्यायन द्वारा कृत् प्रकरण के जोडने की साम्प्रदायिक प्रसिद्धि को यह कथन स्पष्ट रूप से निरुद्ध है।

अग्निपुराण के ३४९ अध्याय से लेकर ३५९ अध्याय तक अर्थात् ग्यारह अध्यायो में व्याकरण का जो विस्तृत वर्णन है वह भी कातन्त्र व्याकरण द्वारा प्रभावित

१. द्रष्टव्य—गरुडपुराण, पृष्ठ २४७-२४९ (चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, १९६४)।

है। ३४९ अ० के आरम्भ मे ही[1] स्कन्द अर्थात् कुमार ने अपने व्याकरण के सार को कात्यायन के ज्ञान के निमित्त कहने की जो प्रतिज्ञा की है, वह कौमार या कातन्त्र व्याकरण की ओर ही स्पष्ट सकेत है।

कातन्त्र मे सूत्रो की सख्या १४०० से कुछ ऊपर[2] है। अपनी लघुकाया तथा व्यावहारिकता के कारण यह व्याकरण प्राचीन काल मे बहुत ही अधिक लोकप्रिय था। बगाल तथा काश्मीर मे इसके विपुल प्रचलन का पता मिलता ही है। बौद्धो की कृपा से यह मध्य एशिया के देशो मे भी व्यवहृत होता था जहाँ से इसके ग्रन्थावशेष प्राप्त हुये हैं। बौद्धो मे इसकी लोकप्रियता का एक यह भी कारण है कि पाली का कात्यायन व्याकरण 'कातन्त्र' के द्वारा ही प्रभावित तथा सपुष्पित किया गया है। सातवाहन प्राकृतभाषा के बडे मान्य उन्नायक तथा सेवक थे। अनेक विद्वान् कातन्त्र की रचना को उनके राज्यकाल से सम्बद्ध मानने से हिचकते हैं। फलत वे शर्ववर्मा को प्रथम शती मे रखने से पराङ्मुख हैं। शूद्रक के समय मे पद्मप्राभृतक के आधार पर कातन्त्र के अभ्युदय का हम आलार नही कर सकते। शूद्रक का समय हमने पञ्चम शतक माना है[3]। फलत कातन्त्र का रचना काल तृतीय शती मे मानना कथमपि अनुचित नहीं है।

व्याख्याकार

कातन्त्र व्याकरण की व्याख्या सम्पत्ति पर्याप्तिरूपेण महनीय है। इसमे सबसे प्राचीन व्याख्या है दुर्गसिह की। इसके देश का पता नहीं है। काल का परिचय लग सकता है। कातन्त्र के 'इन् त्र्यजादेरुभयम्' सूत्र की (३।२।४५) वृत्ति मे इन्होने 'तव दर्शन किन्न धत्ते' तथा 'तनोति शुभ्र गुण सम्पदा यश' श्लोकाशो को उद्धृत किया है जो टीकाकार के अनुसार किरातार्जुनीय के पद्य हैं। 'तनोति शुभ्र' किरात क प्रथम सर्ग का अष्टम श्लोक है। 'कमलवनोद्घाटन कुर्वते ये'—यह उद्धृत पद्य मयूर के

---

१. स्कन्दउवाच—वक्ष्ये व्याकरण सार सिद्ध शब्दस्वरूपकम्।
कात्यायन विबोधाय बालाना बोधनाय च॥
—अग्निपुराण ३४९।१ (चौखम्भा स० १९६६)।

२ कातन्त्र का दुर्गवृत्ति के साथ सुन्दर सस्करण डा० ईगलिंग ने प्रकाशित किया १८७४-७८ में कलकत्ते से। इसमे अन्य टीकाओ के आवश्यक उद्धरण भी दिये गये हैं जिससे इसका महत्त्व पर्याप्त है।

३ बलदेव उपाध्याय—सस्कृत-साहित्य का इतिहास। (दशम सं० १९७८ पृष्ठ ५१३-५२२)।

सूर्यशतक (श्लोक २) का है। फलत दुर्गसिंह की पूर्व अवधि मयूर तथा भारवि हैं। काशिका वृत्ति इनके मत का उल्लेखपूर्वक खण्डन करती है। फलत ये इससे प्राचीन है। अतएव इनका आविर्भावकाल षष्ठ शती का अन्त मानना उचित प्रतीत होता है (५८५ ई०–६०० ई०)। इस वृत्ति के ऊपर टीका भी मिलती है जिसके रचयिता का भी नाम दुर्गसिंह हैं। इस नाम-साम्य ने विद्वानो को धोखे मे डाल दिया है। डा० विण्टरनित्स कहते हैं कि दुर्गसिंह ने अपनी वृत्ति पर टीका लिखी[1]। परन्तु वास्तविक तथ्य ऐसा नही है। टीकाकार वृत्तिकार को 'भगवान्' जैसे आदर-सूचक विशेषण से सम्बोधित करते हैं[2]। यह विशेषण दोनों की एकरूपता होने पर कथमपि सुसगत नही होता। फलत दोनो भिन्न हैं।

त्रिलोचनदास ने 'कातन्त्रपञ्जिका' द्वारा दुर्ग-वृत्ति पर व्याख्या लिखी है। वोपदेव के द्वारा उद्धृत किये जानेके कारण इस पञ्जिका का लेखन काल ११०० ई० के आसपास मानना उचित है। इस सूत्र तथा वृत्ति पर अनेक जैन-अजैन पण्डितों ने व्याख्यायें लिखी हैं जिनमे प्रख्यात नाम ये हैं—दुडक के पुत्र महादेव-कृत शब्दसिद्धि वृत्ति (वि० स० १३४० से पूर्व) महेन्द्रप्रभ के शिष्य मेरुतुङ्ग सूरिकृत बालबोध (वि० स० १४४४), वर्धमान-कृत विस्तार (वि० स० १४५८ से पूर्व), भावसेन त्रैविद्य कृत रूपमाला वृत्ति, मोक्षेश्वर कृत आख्यान-वृत्ति तथा पृथ्वीचन्द्रसूरि कृत वृत्ति। त्रिलोचनदास की पंजिका पर जिनेश्वर के शिष्य जिनप्रबोध कृत 'वृत्तिविवरण पञ्जिका दुर्गपद प्रबोध' उपलब्ध है[3]। इससे अतिरिक्त सुषेण विद्याभूषण रचित कलापचन्द्र तथा हरिराम रचित 'व्याख्यासार' भी प्रकाशित हैं (बगाक्षरों में कलकत्ते से)[4]। अलबेरूनी के ग्रंथ से पता चलता है कि उग्रभूति ने 'शिष्यहिता-न्यास' नामक कातन्त्र वृत्ति की रचना की थी। इसमे सूत्रों की व्याख्या बडे विस्तार से दी गई है। ये उग्रभूति काबुल के राजा आनन्दपाल के गुरु थे, जिन्होंने १००१ ई० मे काबुल की गद्दी पाई। फलत इनका समय १००० ई० होना निश्चित है[5]।

---

१. विंटरनित्स—हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर तृतीय भाग, पृ० ४४०।

२ भगवान् वृत्तिकार श्लोकमेक कृतवान देवदेवमित्यादि।
—टीका का आरम्भ।

३ इन वृत्तियों का उल्लेख डा० हीरालाल जैन ने अपने ग्रंथ 'भारतीय सस्कृति में जैनधर्म का योगदान' मे किया है (पृष्ठ १८८, प्रकाशक मध्यप्रदेश शासन-साहित्य परिषद, भोपाल, १९६२)।

४ ये बगाक्षर मे प्रकाशित हैं।

५. डा० विंटरनित्स का हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, परि० २, पृ० ४४०।

इस टीकासम्पत्ति से कातन्त्र की लोकप्रियता का अनुमान भली-भाँति लगाया जा सकता है। बङ्गाल मे इसके टीकाकारो की सख्या अधिक होने से वहाँ इसके विपुल प्रचार की बात सिद्ध होती हैं। काश्मीर मे भी इसका प्रचलन था तभी तो स्तुतिकुसुमाञ्जलि के रचयिता महाकवि जगद्धरभट्ट (१३०० ई०) ने इसके ऊपर बालबोधिनी वृत्ति का निर्माण किया[1]। मध्य एशिया तक इसके प्रचार की बात पूर्व ही उल्लिखित है। फलत. पाणिनि के समान गम्भीर तथा शास्त्रीय प्रतिभा से मण्डित न होने पर भी अपनी व्यावहारिक उपयोगिता के कारण इसने सुदूर प्रान्तो में सस्कृत को सुलभ बनाया—इस कथन मे सन्देह नहीं है।

(२) चान्द्र व्याकरण

इस व्याकरण का प्रचार काश्मीर, नेपाल तथा तिब्बत से लेकर लका तक है। इसका प्रचलन बौद्ध देशों मे होने से भी ग्रन्थकार का बौद्ध होना अनुमानत सिद्ध है[2]। ग्रन्थकार का नाम है चन्द्रगोमी जिसमें गोमी शब्द पूजा के लिए निविष्ट किया गया है। 'गोमिन् पूज्ये' व्याकरण का प्रख्यात सूत्र ही है। चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण मे पाणिनीय तथा कात्यायन के ही सिद्धान्तों का सन्निवेश नही किया है, प्रत्युत महाभाष्य का भी पूर्ण उपयोग किया है। फलत सूत्रो, वार्तिकों तथा इष्टियो के समावेश के कारण यह शब्दलक्षण 'सम्पूर्ण' है। पारिभाषिक शब्दो से विहीन होने के कारण यह 'विस्पष्ट' तथा लगभग तीन सहस्र सूत्रों के कारण पाणिनीय अष्टाध्यायी की अपेक्षा 'लघु' भी है। 'चन्द्रोपज्ञमसज्ञक व्याकरणम्'—संज्ञाहीनता (पारिभाषिक शब्दाभाव) इस चान्द्र का वैशिष्ट्य है। इस समय इसमे ६ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय मे चार पाद जिनमे लौकिक शब्दो की ही विवेचना है[3]। परन्तु स्वरवैदिक विषयक अध्याय भी इसमे मूलत अवश्य थे। लिपोनेश्च (चान्द्रव्याकरण १।१।१४५)

---

१. स्तुतिकुसुमाञ्जलि (द्वितीय स०, स० २०२१, वाराणसी, भूमिका का पृष्ठ २४-२५)।

२. इसके मंगल श्लोक मे 'सर्वज्ञ' शब्द बुद्ध का ही द्योतक माना जाता है—
सिद्ध प्रणम्य सर्वज्ञ सर्वीय जगतो हितम्।
लघु-विस्पष्ट-सम्पूर्णमुच्यते शब्दलक्षणम् ॥

३. जर्मन विद्वान् डा० लोबिश ने जर्मनी से इसका सस्करण प्रकाशित किया था। भारत मे डा० क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने पूना से दो भागों मे सम्पादित किया है जिसमे प्रतिसूत्र के साथ पाणिनि तथा भोजराज के सूत्रो की तुलना की गई है (पूना, १९५३, १९६१)।

की वृत्ति में 'स्वरविशेषमष्टमे वक्ष्याम' का स्पष्ट कथन है जिससे अष्टमाध्याय में स्वर विवेचन का विस्पष्ट संकेत है। फलत यह व्याकरण आठ अध्यायों में विभक्त था और स्वर की विवेचन भी विद्यमान था[1]—यह तथ्य स्पष्ट होता है। ध्यातव्य है कि चन्द्र ने सूत्रों के ऊपर स्वोपज्ञ वृत्ति का भी निर्माण किया है। अतएव वृत्तिकार का यह कथन सूत्रों की सत्ता के विषय में प्रमाणभूत माना जा सकता है।

इस व्याकरण के आवश्यक अंग भी प्रकाशित हुई हैं। चान्द्र व्याकरणानुसारी गणपाठ, धातुपाठ, उणादि-सूत्र भी प्रकाशित हैं। भिन्न भिन्न सूत्रों में गणों का निर्देश किया गया है। ऐसे गण संख्या में २२६ हैं। चन्द्रगोमिकृत लघुकाय 'वर्णसूत्र' भी उपलब्ध है जिसमें स्वरों तथा व्यञ्जनों के स्थान, करण तथा प्रयत्न का परिचय दिया गया है। उणादि-प्रकरण में केवल तीन पाद हैं। यह प्रकरण 'कृवापाजिमिस्वादि साध्यशूभ्य. उण्' से आरम्भ होता है और प्रत्येक पाद की सूत्र संख्या क्रमश ९५, ११९ तथा ११४ है। इस उणादि प्रकरण में सब मिलाकर ३२८ सूत्र तथा तदनुसारी उदाहरण भी हैं। चान्द्रव्याकरण का धातुपाठ पर्याप्त रूपेण उपयोगी है। धातु दस गणों में विभक्त हैं और प्रत्येक गण में धातुओं की संख्या क्रमश इस प्रकार—(१) ६३८, (२) ६२, (३) २१, (४) १२२, (५) २५, (६) १२१, (७) २३, (८) ९, (९) ४८ तथा (१०) १०५। इस प्रकार समस्त धातुओं की संख्या इस व्याकरण में ११७४ (एक सहस्र, एक सौ, चौहत्तर) है। पाणिनि का धातुपाठ काशकृत्स्न के धातुपाठ की अपेक्षा न्यून है और चन्द्र का यह धातुपाठ तो पाणिनि की अपेक्षा भी न्यूनता रखता है। इन धातुओं का वैशिष्ट्य यह है कि यहाँ लोक-व्यवहार से बहिर्भूत अप्रयुक्त धातुओं का पाठ अपेक्षाकृत न्यून है। धातुओं के विषय में चन्द्रगोमी का यह मत ध्यान देने योग्य है—

क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकैकोऽर्थः प्रदर्शित.।
प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातव ॥

यहाँ प्रयोग के बल पर धातुओं के अर्थों का परिचय निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकार अपने आवश्यक उपयोगों से मण्डित यह व्याकरण संस्कृत भाषा के व्यावहारिक रूप को लक्ष्य कर ही निष्पन्न किया गया है। सूत्रों का क्रम निर्देश अष्टाध्यायी के अनुसार है, प्रक्रियानुसारी नहीं है[2]।

१　संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग। पृ० ५२४–५२५।

२　इन अंगों से युक्त सुन्दर भूमिका के साथ चान्द्र व्याकरण के सूत्रभाग (वृत्ति-रहित) का संस्करण अभी हाल में प्रकाशित हुआ है—राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ३९, जोधपुर, १९६७।

चन्द्रगोमी के समय का परिचय बहिरङ्ग प्रमाण से मिलता है। इन्होंने उच्छिन्न महाभाष्य के अध्ययन-अध्यापन को पुनः प्रचारित किया था। इसका उल्लेख भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में किया है जिसकी पुष्टि राजतरंगिणी के द्वारा स्पष्टतः की जाती है (१।१७६)—

> चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्।
> प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्॥

इसमें महाभाष्य के प्रवर्तक तथा स्वीय व्याकरण के रचयिता की एकता सिद्ध की गई है। फलतः चान्द्र व्याकरण के निर्माता ही महाभाष्य अनुशीलन के पुरस्कर्ता भी निःसन्देह थे। *तिब्बती ग्रन्थों ने चन्द्र को राजा हर्षदेव के पुत्र शील के समय में* विद्यमान माना है (७०० ई० के आसपास), परन्तु यह परम्परा प्रामाणिक नहीं है। क्योंकि काशिका ने चान्द्र व्याकरण का उपयोग अपनी वृत्ति में किया है तथा तत्पूर्व भर्तृहरि ने चन्द्राचार्य के द्वारा महाभाष्य के उद्धार की बात लिखी है[1]। इससे इनका समय पाँच सौ ई० से पूर्व ही होना चाहिये। उससे पश्चाद्वर्ती मानना कथमपि उचित नहीं है[2]।

चान्द्र व्याकरण का संक्षिप्त रूप बालावबोधन के नाम से प्रख्यात है। १२०० ई० के आसपास भिक्षु काश्यप ने इस ग्रंथ की रचना की। यह ग्रन्थ सिंघल में संस्कृत-भाषा के शिक्षण के लिए आज भी प्रचलित तथा लोकप्रिय है।

(३) जैनेन्द्र व्याकरण

जैन धर्मानुयायी विद्वानों ने भी पाणिनीय व्याकरण के मुनित्रयम् के द्वारा परिष्कृत *मार्ग का अनुसरण कर नवीन व्याकरणों का निर्माण किया। ऐसे तीन व्याकरण* अत्यन्त लोकप्रिय हैं—जैनेन्द्र व्याकरण, शाकटायन व्याकरण तथा हेमचन्द्र का सिद्ध-हैमानुशासन। इन तीनों जैन व्याकरणों में जैनेन्द्र व्याकरण ही काल दृष्टि से सर्व-प्राचीन है।

इसके रचयिता का वास्तव नाम है देवनन्दी जो अपनी महत्त्वशालिनी बुद्धि के कारण जिनेन्द्र-बुद्धि *तथा देवों के द्वारा पूजित होने से पूज्यपाद के नाम से भी लोक*

---

१. वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड, कारिका ४८९।

२ अग्निपुराण के ३५६ वें अध्याय के आठवें श्लोक में (वित्त्यधीते च चान्द्रकः) चान्द्र-व्याकरण का उल्लेख स्पष्ट है। फलतः अग्निपुराण के इस अंश की रचना पंचमशती से प्राक्कालीन नहीं हो सकती।

में विश्रुत थे। श्रवण वेलगोल का शिलालेख इन तीनों के ऐक्य का प्रबल प्रमाण है[1]। नाम के एकदेश से भी वे निर्दिष्ट किये गये हैं। कहीं वे 'देव'[2] नाम से और कहीं वे 'नन्दी' नाम से उल्लिखित हैं। इस प्रकार नामपञ्चक से प्रख्यात होने पर भी उनका मूल अभिधान देवनन्दी ही था और इसी नाम से इस व्याकरण-शास्त्र के निर्माता को हमें पहचानना चाहिए। इस व्याकरण का 'जैनेन्द्र' नाम भी सकारण ही है। श्रद्धातिशयके वशीभूत होकर कतिपय विद्वान् व्यर्थ ही जिनेन्द्र महावीर के ऊपर इसके कर्तृत्व का आरोप करते हैं। तथ्य यह है कि 'जिनेन्द्रबुद्धि' नाम का मुख्य अवयव है 'जिनेन्द्र' और इसी जिनेन्द्र के द्वारा प्रणीत होने के कारण यह व्याकरण 'जैनेन्द्र' के नाम से प्रख्यात है। इस नाम में किसी प्रकार का अनौचित्य या असंगति नहीं है। फलतः देवनन्दी का यह व्याकरण 'जैनेन्द्र' नाम से लोकविश्रुत है।

व्याकरण का वैशिष्ट्य

इस व्याकरण के दो पाठ उपलब्ध हैं और दोनों के ऊपर टीकायें मिलती हैं। लघुपाठ केवल तीन सहस्र सूत्रों का है और बृहत् पाठ में सात सौ सूत्र अधिक हैं। लघुपाठ की चर्चा अभी अभीष्ट है। इस ग्रंथ में ५ अध्याय, २० पाद तथा ३०३६ सूत्र हैं। इस पञ्चाध्यायी ने पाणिनि की अष्टाध्यायी को अपने में सन्निविष्ट कर लिया है। पाणिनि सूत्रों की अपेक्षा एक हजार सूत्र कम होने का कारण यह है कि इसमें अनुपयोगी होने के कारण वैदिकी तथा स्वर प्रक्रिया का अभाव है। प्रणेता का मूल उद्देश्य है लोक-व्यवहार में प्रयुक्त संस्कृत का व्याकरण। देवनन्दी की सूत्र रचना सचमुच ही बड़े बुद्धिकौशल का विषय है। पाणिनि के अपने सूत्रों का ऐसा कौशलपूर्ण संकलन किया है कि सपाद सप्ताध्यायी के प्रति अन्तिम तीन पाद (त्रिपादी) असिद्ध हो जाते हैं। पाणिनि के 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) सूत्र का यही तात्पर्य है। ऐसा कौशल इस व्याकरण में भी है। यहाँ भी 'पूर्वत्रासिद्धम्' (५।३।२७) सूत्र की सत्ता है जिससे आरम्भिक साढ़े चार अध्यायों के प्रति अन्त के लगभग दो पाद असिद्ध शास्त्र के अन्तर्गत आते हैं। सूत्रों के अतिरिक्त कात्यायन के वार्तिक तथा पतञ्जलि की इष्टियों के आश्रयण से जिन नये रूपों की सिद्धि होती है, देवनन्दी ने उन सबको अपना लिया है। यह तथ्य दोनों सूत्र-पाठों की तुलना से स्वयंसिद्ध है।

---

१. यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महात्मा स जिनेन्द्रबुद्धिः। २।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत् पूजितं पादयुगं यदीयम्। ३।

२. अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः॥

(पार्श्वनाथ चरित १।१८)।

पारिभाषिकी सज्ञायें व्याकरणशास्त्र को सुगम बनाने की प्रधान साधिका हैं। पाणिनि ने प्राचीन वैयाकरणों की सज्ञाओं को ग्रहण कर अपनी नवीन सज्ञायें उद्भावित की जिनका सामान्य विवरण पीछे दिया जा चुका है। देवनन्दी ने इस विषय मे सज्ञाओं को और भी सूक्ष्म तथा लघु बनाने मे प्रयास से एक और कदम आगे बढाया है। इनकी सज्ञायें सचमुच बडी ही सूक्ष्म तथा स्वल्पकाय हैं। पाणिनि से तुलना करें—

पाणिनि	जैनेन्द्र
गुण	एप् (१।१।१६)
वृद्धि	ऐप् (१।१।१५)
आत्मनेपद	द (१।२।१५१)
प्रगृह्यम्	दि (१।१।२०)
दीर्घ	दी (१।१।११)
बहुव्रीहि	बम् (१।३।८६)
तत्पुरुष	षम् (१।३।१६)
अव्ययीभाव	ह (१।३।४)

एक विलक्षणता देखिये। 'विभक्ती' शब्द के ही प्रत्येक वर्ण को अलग करके स्वर के आगे 'प्' तथा व्यञ्जन के आगे 'आ' जोडकर सातो विभक्तियों का सज्ञा निर्दिष्ट की है। यथा वा (प्रथमा), इप् (द्वितीया), भा (=तृतीया), अप् (=चतुर्थी), का (पचमी), ता (षष्ठी) तथा ईप् (सप्तमी)। ऐसा निर्देश कही अन्यत्र नहीं मिलता। इसमे देवनन्दी की प्रतिभा झलकती है अवश्य, परन्तु यह बडी क्लिष्ट कल्पना है जिसे याद रखना बडा कठिन है। इसीलिए कहना पडता है कि पाणिनि की सज्ञाओं मे जो प्रसन्नता तथा सद्योबोधकता है, वह यहाँ कहाँ ?

पाणिनि व्याकरण मे 'एकशेष' प्रकरण की सत्ता है, परन्तु देवनन्दी की मान्यता है कि लोक-व्यवहार मे प्रचलित तथ्य तथा रूप के लिए सूत्रो का निर्माण शास्त्र के कलेवर की मुधा वृद्धि है। फलत उन्होंने 'स्वाभाविकत्वादभिधानस्य एकशेषानारम्भ' सूत्रलिखकर इस प्रकरण की समाप्ति ही कर दी। इसलिए जैनेन्द्र व्याकरण 'अनेकशेष' के नाम से जैन ग्रन्थो मे निर्दिष्ट है। देवनन्दी ने पातञ्जल महाभाष्य का विशेष अनुशीलन किया था। इसके बहुल प्रमाण उनके व्याकरण मे उपलब्ध हैं।

देश काल

देवनन्दी के देश का निर्णय जितना सरल है, उनके काल का निर्णय उतना ही कठिन। कर्नाटक के प्राचीन शिलालेखों मे इनके नाम तथा यश का वर्णन होने से

थे निःसन्देह कर्नाटक के निवासी हैं। उनका जीवन चरित्र भी मिलता है जिसमें वे कर्नाटक के किसी ग्राम के निवासी बतलाए गये हैं।

अन्तरग परीक्षण से उनके कालविमर्श के लिए दो सूत्र बड़े महत्व के हैं—

(१) वेत्तेः सिद्धसेनस्य (५।१।७)।

(२) चतुष्टयं समन्तभद्रस्य (५।४।१४०)।

प्रथम सूत्र पाणिनि के 'वेत्तेर्विभाषा' (७।१।७) के आधार पर तो अवश्य है, परन्तु सिद्धसेन दिवाकर के मत में उससे थोड़ा पार्थक्य है। जहाँ अन्य वैयाकरण सम् उपसर्गक अकर्मक विद् धातु से रेफ का आगम विकल्पेन मानते हैं (संविद्रते तथा संविदते) वहाँ सिद्धसेन अनुपसर्गक सकर्मक विद् धातु से इस आगम को स्वीकार करते हैं और प्रयोग भी 'विद्रते' का करते हैं। इस वैशिष्ट्य के निमित्त उनका मत यहाँ निर्दिष्ट है। फलतः देवनन्दी सिद्धसेन दिवाकर से पश्चाद्वर्ती ग्रन्थकार है— इसमें मतद्वैविध्य नहीं। परन्तु सिद्धसेन का भी आविर्भाव काल निर्णय की अपेक्षा रखता है।

जिनरत्न गणि ने विशेषावश्यक भाष्य की रचना ६६६ विक्रम संवत् (=६१० ई०) में की जिसमें उन्होंने मल्लवादी तथा सिद्धसेन के मत की विस्तृत आलोचना की है। इनमें सिद्धसेन के प्रमुख ग्रंथ 'सम्मतितर्क' के ऊपर मल्लवादी ने टीका लिखी है। फलतः मल्लवादी जिनरत्न गणि से पूर्व हैं और सिद्धसेन इनसे भी पूर्वतर। इस प्रमाण पर यदि मल्लवादी को विक्रम का षष्ठ शताब्दी में रखा जाय, तो सिद्धसेन का समय पञ्चम शती सिद्ध होगा। एक बात और भी ध्यातव्य है। विक्रमादित्य के नवरत्नों में जिस 'क्षपणक' की गणना है, वे सिद्धसेन दिवाकर से अभिन्न माने जाते हैं तथा विक्रमादित्य की स्थापना गुप्तवंशीय प्रतापी नरपति चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५ ई०–४१३ ई०) से की जाती है। फलतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन होने से सिद्धसेन का आविर्भाव काल ईस्वी की पञ्चम शती का पूर्वार्ध (विक्रम सं० से पञ्चम शती का उत्तरार्ध) मानना सर्वथा उचित है। इनके पश्चाद्वर्ती होने से देवनन्दी का समय षष्ठशती का प्रथमार्ध मानना यथार्थ होगा।

देवनन्दी समन्तभद्र के समकालीन थे। उन्होंने उमास्वाती के प्रख्यात ग्रंथ 'तत्त्वार्थ सूत्र' पर सर्वार्थसिद्धि नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसीके मंगलाचरणपद्य 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' के ऊपर समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' का प्रणयन किया। समकालीन होने पर ही यह काल स्थिति सुसंगत बैठेगी। देवनन्दी समन्तभद्र को अपने व्याकरणग्रन्थ में निर्दिष्ट करते हैं और उधर समन्तभद्र उनके ग्रंथस्थ मंगलश्लोक की व्याख्या

मे अपना ग्रन्थ लिखते हैं। इसके दोनों की सम सामयिकता सिद्ध होती है। दोनों का समय एक ही है षष्ठशती का प्रथमार्ध[1]।

व्याख्या ग्रन्थ

जैनेन्द्र व्याकरण के ऊपर केवल चार टीकायें होती हैं—(१) अभयनन्दि कृत महावृत्ति, (२) प्रभाचन्द्र कृत शब्दाम्भोज-भास्करन्यास, (३) श्रुतिकीर्ति कृत 'पञ्चवस्तु-प्रक्रिया', (४) प० महाचन्द्र कृत लघुजैनेन्द्र। इन चारो में अपनी प्राचीनता, प्रौढता तथा विशालता की दृष्टि से अभयनन्दि की महावृत्ति[2] सचमुच ही महती वृत्ति है। सूत्रो के विस्तृत व्याख्या के प्रसंग में वार्तिकों का भी विस्तृत सकलन किया गया है। महाभाष्य तथा काशिका का पूरा अनुशीलन कर प्रणीत होने के कारण यह पाणिनीय व्याकरण का पूर्ण सामग्री का कौशल-पूर्वक चयन प्रस्तुत करती है। मूर्धाभिषिक्त उदाहरणो के अतिरिक्त विद्वान् वृत्तिकार ने अनेक उदाहरण अपने व्यापक अध्ययन तथा विस्तृत अनुभव के आधार पर प्रस्तुत किया है। इन उदाहरणों मे जैन तीर्थंकरो, आचार्यों, दार्शनिकों तथा ग्रथकारों का पर्याप्त उल्लेख है और इनके कारण पूरे ग्रथ में जैन वातावरण उत्पन्न करने मे अभयनन्दि पूर्णतया समर्थ हैं। जैसे १।४।१५ सूत्र के उदाहरण मे अनुसमन्तभद्रं तार्किका:, १।४।१६ के उदाहरण में

१. श्री युधिष्ठिर मीमासक ने 'अरुणन् महेन्द्रो मथुराम्' (महावृत्ति २।२।९२) के आधार पर मथुरा का अवरोध करने वाले महेन्द्र को गुप्त नरेश कुमार गुप्त (४१३-४५५ ई०) से अभिन्न माना है जिनकी पूरी उपाधि 'महेन्द्र कुमार' थी जो सिक्कों से प्रमाणित होती है। फलत. देवनन्दी का समय उनके मत मे पष्ठ शती विक्रमी का पूर्वार्ध था। इस पर लेखक का आक्षेप है कि यह घटना वृत्ति मे वर्णित होने से सूत्रकर्ता से परिचित कैसे मानी जा सकती है? इसी उदाहरण के साथ 'अरुणद् यवन साकेतम्' भी तो है जो विक्रम-पूर्व द्वितीय शती की महनीय घटना का संकेतक माना जाता है। इससे भी क्या देवनन्दी का सम्बन्ध है? वह घटना ऐतिहासिक हो सकती है, परन्तु सूत्रकार के जीवन काल में घटित होने का उसमे प्रमाण ही क्या?

२. महावृत्ति के साथ जैनेन्द्र व्याकरण का बडा ही प्रामाणिक तथा प्राञ्जल सस्करण भारतीय ज्ञानपीठ (काशी) ने प्रकाशित किया है, १९५६ ई०। इस सुन्दर सस्करण के प्रकाशन के लिए हम ज्ञानपीठ के अधिकारियो के लिए आभारी हैं।

'उपसिंहनन्दिनं कवयः, उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः', १।४।२० की वृत्ति में आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य—ऐसे ही कतिपय उदाहरण हैं जो जैन वातावरण उत्पन्न करने में सर्वथा समर्थ हैं। सूत्र १।३।५ की वृत्ति मे प्राभृतपर्यन्तमधीते उदाहरण महत्त्वपूर्ण है और उसी के साथ सबन्धमधीते भी ध्यान देने योग्य है। इन उदाहरणों में प्राभृत से तात्पर्य महाकर्मप्रकृति प्राभृत से है जिसका लोकप्रिय दूसरा नाम षट्-खण्डागम है। इसके लेखक आचार्य पुष्पदन्त तथा भूतवलि माने जाते हैं (प्रथम-द्वितीय शती)। इस महाग्रन्थ का अध्ययन उस समय जीवन का आदर्श माना जाता था। ऐसी विशिष्टता से मण्डित महावृत्ति निश्चित ही व्याकरणशास्त्र का गौरवपूर्ण ग्रन्थ है।

अभयनन्दि के कालनिरूपण के लिए कतिपय तथ्य प्रस्तुत किये जाते हैं। (क) ४।३।११४ सूत्र की वृत्ति मे माघ कवि का 'घटा-घटा-भिन्न घनेन' " (१।५७) श्लोक उद्धृत है जिसमे 'प्रतिवस्करे' सूत्र का उदाहरण माना गया है। फलतः अभयनन्दि 'शिशुपालवध' के कर्ता माघ कवि (समय ७०० ई०) से अर्वाचीन है। यह है ऊपरी सीमा उनके आविर्भावकाल की (ख) ३।२।५५ की टीका में तत्त्वार्थ वार्तिकमधीयते' उदाहरण प्रस्तुत है। तत्त्वार्थ-वार्तिक भट्ट अकलङ्कदेव की प्रख्यात रचना है (७५० ई०) (ग) प्रभाचन्द्र ने शब्दाम्भोज-भास्करन्यास के तृतीय अध्याय मे अभयनन्दि को नमस्कार किया है[1]। यह ग्रंथ भोज के पुत्र राजा जयसिंह के काल मे (१०७५ ई० के आसपास) लिखा गया था। यह अभयनन्दि की निचली सीमा। इनके बीच में इनका समय होना चाहिये—सम्भवतः नवमशती के मध्य भाग में (८५० ई०–८७५ ई० लगभग)।

(२) प्रभाचन्द्र रचित शब्दाम्भोजभास्करन्यास महावृत्ति से भी परिमाण मे बड़ा है तथा उस महनीय वृत्ति के शब्द ज्यों के त्यों यहाँ गृहीत कर लिए गये हैं। व्याकरण से अधिक इनका नैपुण्य तथा ख्याति तर्क-विद्या के विषय में हैं। 'प्रमेय-कमल मार्तण्ड' तथा 'न्यायकुमदचन्द्र' दर्शन-विषय की इनकी विश्रुत कृतियाँ हैं। इन ग्रन्थों का प्रणयन इन्होंने प्रख्यात राजा भोज तथा उनके उत्तराधिकारी राजा जयसिंह के शासन काल में किया—इसका परिचय ग्रन्थों की अन्तरंग परीक्षा से भली-भांति लगता है। मार्तण्ड की रचना भोज के तथा इस न्यास का निर्माण राजा जयसिंह के काल में निष्पन्न हुआ। इस प्रकार इनका समय मोटे तौर पर १०४०–१०८० ई० तक मानना कथमपि अनुचित न होगा।

---

१. नमः श्री वर्धमानाय महते देवनन्दिने।
प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने॥

(३) श्रुतकीर्ति रचित पञ्चवस्तु प्रक्रिया-ग्रन्थ है जिसमे शब्दों की रूपसिद्धि प्रधान उद्देश्य है। कन्नडी भाषा के 'चन्द्रप्रभ रचित' ग्रंथ के रचयिता अगल कवि ने श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ती को अपना गुरु बतलाया है। इस ग्रंथ का रचनाकाल शक सं० १०११ (=१०८९ ई०) है। श्री नाथूराम प्रेमी ने दोनों—श्रुतकीर्ति तथा श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ती—की सम्भावित एकता के आधार पर पचवस्तु का रचनाकाल ११वीं शती ईस्वी माना है।

(४) लघुजैनेन्द्र—यह महावृत्ति के आधार पर निर्मित बालोपयोगी लघुकाय ग्रन्थ है। इसके प्रणेता, पण्डित महाचन्द्र २०वीं शती के लेखक हैं। फलत यह नवीनतम रचना है इस जैनेन्द्र व्याकरण के विषय में।

जैनेन्द्र व्याकरण का बृहत् पाठ

जैनेन्द्र व्याकरण के इस बृहत्पाठ मे लगभग तीन सहस्र सात सौ सूत्र हैं जिसमे लघुपाठ से सात सौ सूत्र अधिक हैं। यह तो मान्य तथ्य है कि देवनन्दी के केवल सूत्रों से संस्कृत के प्रयोगों की गतार्थता नहीं हो सकती और इसीलिए अभयनन्दि ने अपनी वृत्ति मे सैकड़ो वार्तिकों को सन्निविष्ट कर उसे पूर्ण बनाने का उद्योग किया। शाकटायन व्याकरण में यह त्रुटि नही रही, क्योंकि यहाँ वार्तिकों को भी सूत्रों की परिधि के भीतर ही रखकर सूत्रों की संख्या बढा दी गई है। प्रतीत होता है कि इसीलिए जैनेन्द्र व्याकरण के मूल सूत्रों मे सात सौ सूत्र और भी बढा कर उसे पूर्ण तथा परिनिष्ठित बनाने का उद्योग किया गया। इसी स्तुत्य प्रयास का परिणाम है जैनेन्द्र का बृहद् पाठ। इस परिबृंहण के कर्ता का नाम आचार्य गुणनन्दि है और यह परिबृंहित व्याकरण शब्दार्णव के नाम से प्रख्यात हुआ। गुणनन्दि का समय अनुमेय है। शाकटायन व्याकरण का रचना-काल अमोघवर्ष (नवम शती का पूर्वार्ध) का शासनकाल है। उससे प्रभावित होने के कारण शब्दार्णव का काल इसके अनन्तर है। 'कर्णाटक कवि रचित' के कर्ता के अनुसार गुणनन्दि के प्रशिष्य तथा देवेन्द्र के शिष्य आदि पप का समय वि० स० ९५७ (९०० ईस्वी) है। अतः दो पीढी पहले होने का कारण गुणनन्दि का समय ८५० ई० (अर्थात् नवमशती का मध्य) के आसपास मानना उचित होगा।

शब्दार्णव पर दो टीकायें उपलब्ध हैं और दोनों ही प्रकाशित हैं—(१) शब्दार्णव-चन्द्रिका सोमदेव मुनि की रचना है। समय १२ शती ई० का पूर्वार्ध। (२) शब्दार्ण प्रक्रिया इसके कर्ता का नाम नही मिलता। कर्ता ने इस अपने ग्रन्थ को शब्दार्णव में प्रवेश करने के लिए नौका कहा है प्रथम श्लोक मे और गुणनन्दि को सिंह के समान बतलाया दूसरे श्लोक मे। अतएव इसे गुणनन्दि की ही रचना मानना

नितान्त अशुद्ध है। यह अज्ञातनामा लेखक की वृत्ति है। जैनेन्द्र व्याकरण की यही टीका सम्मति है[1]।

(४) शाकटायन व्याकरण

शाकटायन पाणिनि से पूर्ववर्ती एतत् संज्ञक आचार्य नहीं है, प्रत्युत जैन मतावलम्बी अवान्तरकालीन वैयाकरण हैं। इसीलिए ये 'जैन शाकटायन' के नाम से विख्यात है। इनका वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति था। दोनो के ऐक्य का प्रतिपादक 'पार्श्वनाथ चरित' का यह श्लोक है—

> कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
> श्रीपदश्रवण यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान् ॥

इस श्लोक मे उल्लिखित 'श्रीपदश्रवण' मूल लेखक की अमोघा वृत्ति के आद्य श्लोक[2] का संकेत करता है। फलतः यह श्लोक शाकटायन रचित व्याकरण का ही निर्देशक है। अत अमोघावृत्ति के तथा तन्मूल व्याकरण ग्रंथ के रचयिता का नाम पाल्यकीर्ति है[3]। 'पार्श्वनाथ चरित' की पूर्व श्लोक की टीका मे आचार्य शुभचन्द्र के व्याख्यान से इस मत की स्पष्ट पुष्टि होती है। पाल्यकीर्ति यापनीय सम्प्रदायानुयायी जैन विद्वान थे। यह सम्प्रदाय आजकल लुप्तप्राय बतलाया जाता है।

इनकी प्रमुख रचना है—शब्दानुशासन का मूल सूत्रपाठ तथा उसके ऊपर स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति। इनका शब्दानुशासन अनेक वैशिष्टयो से मण्डित है। इन्होंने इसे पूर्ण बनाने के लिए उन त्रुटियो की पूर्ति कर दी है जो जैनेन्द्र व्याकरण मे पायी जाती थी। इनकी मौलिक कल्पनाओ के अन्तर्गत इनका प्रत्याहार भी है। इसके प्रत्याहार-सूत्र पाणिनीय सम्प्रदाय के कुछ भिन्न ही हैं। यथा 'ऋलृक्' के स्थान पर केवल 'ऋक्' पाठ है, क्योंकि ऋ और लृ में अभेद स्वीकार किया गया है। हयवरट् और लण् को मिलाकर एक सूत्र बना दिया गया है। ध्यातव्य है कि जैनेन्द्र सूत्र तथा महावृत्ति मे प्रत्याहार सूत्र पाणिनि के ही आधार पर स्वीकृत हैं, परन्तु जैनेन्द्र परम्परा की

---

१ पं० नाथूराम प्रेमी के प्रमेयबहुल लेख 'देवनन्दि का जैनेन्द्र व्याकरण' से यहाँ आवश्यक सामग्री सधन्यवाद सकलित की गई है। देखिये जैनेन्द्र व्याकरण की भूमिका पृष्ठ १७–३७।

२ श्रीवीरममृत ज्योतिर्नत्वाऽऽदि सर्ववेदनम्।
शब्दानुशासनस्येयममोघा वृत्तिरुच्यते ॥

३ तस्य पाल्यकीर्तेर्महौजस श्रीपादश्रवणं। श्रिया उपलक्षितानि पदानि शाकटायनसूत्राणि, तेषां श्रवणम् आकर्णनम्।

शब्दार्णव चन्द्रिका में शाकटायन के ही 'प्रत्याहार' सूत्र स्वीकृत किये गये हैं। स्पष्ट है कि शाकटायन व्याकरण में जैनेन्द्र व्याकरण की अपेक्षा अधिक पूर्णता, व्यवस्था तथा दोषराहित्य है। यह व्याकरण चतुरध्यायी है और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं प्रत्येक अध्याय से सूत्रों की संख्या क्रमश: इस प्रकार है (१) अ० ७२१ सूत्र (२) ७५३, (३) ७५५ तथा (४) १००७ और इस तरह समस्त सूत्रों की संख्या तीन हजार दो सौ छत्तीस (३,२३६)। शाकटायन ने पाणिनीय निकाय की व्याकरण-सामग्री का पूर्णतया उपयोग कर सुरक्षित रखा है। इस व्याकरण के व्याख्याकार यक्षवर्मा इसके वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते समय कहते[1] हैं कि इसमे इष्टियों के पढने की आवश्यकता नही है और सूत्रो से पृथक् कुछ कहने की वस्तु नहीं है, उपसंख्यानो की भी आवश्यकता नहीं है। इन्द्र, चन्द्र आदिक शाब्दिकों ने शब्द का जो लक्षण कहा है वह सब यहाँ है और जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नही है—यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्—सचमुच यह उक्ति बडी महत्वपूर्ण है और इस तन्त्र की परिपूर्णता तथा सर्वाङ्गीणता की पर्याप्त पोषिका है।

अपने सूत्रों पर स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना शाकटायन ने की है जो अमोघ-वृत्ति के नाम से प्रख्यात है। यह वृत्ति परिमाण मे विस्तृत है १८ सहस्र श्लोक। इसके नामकरण का कारण यह है कि ग्रंथकार ने अपने ही आश्रयदाता अमोघवर्ष प्रथम के नाम से उसका ऐसा नाम दिया है। इस वृत्ति के स्वोपज्ञ होने के प्रमाण विद्वानों ने प्रस्तुत किये हैं[2]। ख्याते दृश्ये[3] (शाकटायन ४।३।२०८) की वृत्ति में शाकटायन ने 'अदहद् देव. पाण्ड्यान्,' तथा 'अदहदमोघवर्षोऽरातीन्' उदाहरणों मे 'अदहत्'का प्रयोग कर सिद्ध किया है कि अमोघवर्ष के द्वारा पाण्ड्य नरेश पर विजय तथा शत्रुओ का

---

१ इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्य वक्तव्य सूत्रत पृथक्।
सख्यात नोपसख्यान यस्य शब्दानुशासने ॥
इन्द्रचन्द्रादिभि. शाब्दैर्यदुक्त शब्दलक्षणम्।
तदिहास्ति समस्त च, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

२ विशेष द्रष्टव्य—नाथूराम प्रेमी रचित जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १५५–१६० (प्र० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई सन १९४२)।

३ इस सूत्र की अमोघा वृत्ति इस प्रकार है—भूतेऽनद्यतने ख्याते लोकविज्ञाते दृश्ये प्रयोक्तु शक्यदर्शने वर्तमानाद् धातोर्लङ् प्रत्ययो भवति (पृष्ठ ४०६)। ज्ञानपीठ वाले सस्करण मे सूत्र का पाठ 'ख्यातेऽदृश्ये' है जो 'ख्याते दृश्ये' होना चाहिए। वृत्ति मे 'प्रयोक्तु: सख्यदर्शने' न होकर 'शक्यदर्शने' होना चाहिये।

नाश उनके लिए दृश्य घटनायें थीं। फलत. अमोघवर्ष के साथ शाकटायन की सम-सामयिकता प्रमाणत परिपुष्ठ है। अमोघवर्ष राष्ट्रकूटवंश के प्रख्यात राजा थे जिनका राज्यारोहण काल ८७१ वि० सं० (= ८१४ ई०) माना जाता है। श० ९२४ के शिलालेख से इनका शासनकाल दशम शती के प्रथम चरण तक अवश्यमेव सिद्ध होता है। फलतः शाकटायन का भी यही समय है (लगभग ८११ ई०–८७० ई०)। इस व्याकरण की महत्ता के विषय मे एक टीकाकार का कथन है कि इन्द्र, चन्द्र आदि वैयाकरणो के समस्त नियम यहाँ प्रस्तुत हैं, परन्तु जो यहाँ है, वह कही भी नहीं है[1]। यह बडी विशेष युक्ति है यदि यह पूर्णत चरितार्थ हो[2]।

शाकटायन के टीकाग्रथ

अमोघवृत्ति घर पर प्रभाचन्द्राचार्य कृत 'न्यास' लिखा गया था जिसके केवल दो अध्याय उपलब्ध हैं। अमोघ वृत्ति को ही सक्षिप्त कर यक्षवर्मा ने चिन्तामणि टीका का निर्माण किया जो लघु काय होने से 'लघीयसी वृत्ति' कहलाती है। यक्षवर्मा की तो प्रतिज्ञा[3] है कि उनकी वृत्ति के अध्ययन से बालक तथा अबलाजन एक वर्ष के भीतर समस्त वाङ्मय का ज्ञान निश्चय रूप से कर सकता है !!! अजितसेनाचार्य रचित मणि-प्रकाशिका चिन्तामणि की टीका है। प्रक्रियासग्रह के कर्ता अभयचन्द्राचार्य हैं जिसमे सिद्धान्त-कौमुदी के ढग पर प्रक्रियानुसारी व्याख्या लिखी गई है। भावसेन त्रैविद्यदेव रचित शाकटायन टीका भी उपलब्ध है जिसके रचयिता की उपाधि 'वादि-पर्वतवज्र' थी। दयापाल मुनि कृत 'रूपसिद्धि' टीका लघुकौमुदी की शैली पर है। ये द्रविड सघ के विद्वान थे। इस ग्रथ का रचना काल एकादश शती विक्रमी का मध्यकाल मानना चाहिये—९९५ ईस्वी के आसपास। इन टीका ग्रथों के आधार पर शाकटायन व्याकरण की लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि सर्वथा अनुमेय है।

(५) भोज व्याकरण

धाराधिपति भोज नाना विद्याओं के विशेष मर्मज्ञ थे, तथा उन्होंने विभिन्न विषयों

---

१. इन्द्रचन्द्रादिभि. शाब्दैर्यदुक्त शब्दलक्षणम्।
तदिहास्ति समस्त च यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

२. अमोघवृत्ति के साथ शाकटायन शब्दानुशासन का एक सुन्दर सुसंस्कृत सस्करण भारतीय ज्ञानपीठ (वाराणसी) से प्रकाशित हो रहा है, १९६९।

३. बालाबालाजनोऽप्यस्या वृत्तेरभ्यासवृत्तित।
समस्त वाङ्मय वेत्ति वर्षेणैकेन निश्चयात्॥
(आरम्भ, श्लोक १२)।

के अनेक ग्रंथों का भी प्रणयन किया है। उन्होने अपने तीन ग्रथो का उल्लेख इस प्रसिद्ध श्लोक मे किया है

शब्दानामनुशासन विधता, पातञ्जले कुर्वता,
वृत्ति, राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।
वाक्-चेतो वपुषा मल· फणिभृता भर्त्रेव येनोद्धृता,
तस्य श्री-रणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वला ॥

भोज ने वाक, चित्त तथा शरीर का मल त्रिविध ग्रयों की रचना से दूर किया क्रम से (१) सरस्वतीकण्ठाभरण नामक शब्दानुशासन से, (२) पातञ्जल योगसूत्र की वृत्ति से तथा (३) राजमृगाङ्क नामक वैद्यक ग्रथ से। इन तीनो ग्रथो का प्रणेता एक ही व्यक्ति ही है--भोजराज।

भोज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण[1]' नाम से अपना शब्दानुशासन प्रणीत किया। इसमे वर्णित विषयो की सूची से ही ग्रंथ की विपुलता तथा विस्तृति का परिचय मिलता है। धातुपाठ को छोडकर इन्होंने वार्तिको को, इष्टियो को, गणपाठ को तथा उणादि प्रत्ययो को एकत्र समेट कर सूत्रो मे निबद्ध करने का प्रशसनीय प्रयास किया है। सूत्रों की सख्या पाणिनीय अष्टाध्यायी से डेढगुनी से भी अधिक है। पाणिनि तथा चन्द्र दोनो पर इन्होंने इस शब्दानुशासन को आधारित किया है। इसके ऊपर स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी थी जो उपलब्ध नही है। उपलब्ध है दण्डनाथ नारायण भट्ट की लघुवृत्ति हृदयहारिणी नाम्ना। वे अपनी इस वृत्ति को 'समुद्धृताया लघुवृत्तो, कहते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि यह भोज की स्वोपज्ञ वृत्ति से ही उदधृत कर निबद्ध की गई है। दण्डनाथ के देश-काल का पता ठीक-ठीक नहीं चलता। दण्डनाथ का नाम निर्देश कर मत का उद्धरण नारायण भट्ट ने (१६ शती) अपने प्रक्रिया-सर्वस्व के अनेक स्थलो पर किया है, परन्तु यहाँ ग्रन्थकार के पूरे नाम के स्थान पर केवल सक्षिप्त नाम 'नाथ' ही दिया हुआ है। इनका सबसे प्राचीन उल्लेख देवराज यज्वा की 'निघण्टु व्याख्या' में उपलब्ध होता है। सायण—देवराज यज्वा—दण्डनाथ, यह प्राचीनता का क्रम-निर्देश है। देवराज का समय १४ शती का प्रथमार्ध है। फलतः दण्डनाथ का समय इससे पूर्व होना चाहिए।

---

१. मूलसूत्रो का सस्करण मद्रास विश्वविद्यालय से तथा दण्डनाथ की वृत्ति के साथ मूल का सस्करण अनन्तशयन ग्रथमाला मे प्रकाशित है।

२ यथा कोमलोहरित्यादौ स्त्री जाति-विवक्षायाम् 'ऊट् उत्' (४।१।६६) इत्यूट्, इति नाथ'। स्त्रीप्रत्यय खण्ड पृष्ठ १०६ भाग ४, अनन्तशयन ग्रंथमाला मे प्रकाशित।

प्रक्रिया कौमुदी के 'प्रसाद' व्याख्याकार विट्ठल ने अपने व्याख्या ग्रंथ में सरस्वती कण्ठाभरण के किसी प्रक्रिया ग्रंथ का नामोल्लेख किया है[1] जिसकी संज्ञा थी 'पदसिंधु सेतु'। इस उल्लेख से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भोज का व्याकरण प्रचलित हो चला था, तभी तो उनके सूत्रों को प्रक्रिया क्रम में रखने के लिए इस ग्रंथ का प्रणयन किया गया। सरस्वती कण्ठाभरण की व्यापक दृष्टि ने पाणिनीय सम्प्रदाय के अनेक ग्रंथकारों को अपनी ओर आकृष्ट किया, विशेषतः केरलीय नारायणभट्ट को जिन्होंने अपने 'प्रक्रिया सर्वस्व' में इस अधमर्णता को स्वीकार किया है।

वैशिष्ट्य

विद्याधिष्ठात्री देवी भगवती सरस्वती के नाम से सम्बन्ध रखने वाले 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'सारस्वत' यह दो व्याकरण उपलब्ध हैं। इनमें प्रथम का आधार प्रायः पाणिनीय व्याकरण एवं द्वितीय का पाणिनि से प्राचीन कोई व्याकरण माना जा सकता है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' को बनाने का उद्देश्य परिभाषा उणादि का भी परिज्ञान कराना प्रतीत होता है जब कि 'सारस्वत' व्याकरण का उद्देश्य यथासम्भव प्रक्रिया में शब्द संक्षेप करना कहा जा सकता है। यहाँ हम भोज-व्याकरण में वर्णित विषय का निर्देश संक्षेप से उपस्थापित करेंगे।

सरस्वतीकण्ठाभरण में वर्णित विषय

धाराधीश्वर महाराज भोजदेव (सं० १०७५–१११०) ने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक व्याकरण ग्रन्थ का आठ अध्यायों में विभाग किया है, प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। इस प्रकार आठ अध्यायों के ३२ पादों में कुल ६४३१ सूत्र हैं जिनमें परिभाषा, लिंगानुशासन तथा उणादि का भी समावेश है। प्रारम्भिक सात अध्यायों में लौकिक शब्दों का तथा आठवें अध्याय में वैदिक शब्दों का अन्वाख्यान किया गया है।

सर्वप्रथम पाणिनीय वर्णसमाम्नाय का पाठ करके प्रथम पाद में क्रमशः धातु, प्रातिपदिक, प्रकृति प्रत्यय, विकरण, कृत्, कृत्य, सत्, निष्ठा, तद्धित, घ, संख्या, विभक्ति, प्रथम, मध्यम, उत्तम, प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, एकवचन, द्विवचन, बहुवचन, परस्मैपद, आत्मनेपद, पद, उपपद, उपसर्जन, कर्मधारय, द्विगु वाक्य, कारक, कर्ता, हेतु, कर्मकर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण, आमन्त्रित, संबुद्धि, अभ्यास, अभ्यस्त, संप्रसारण, गुण, वृद्धि, वृद्ध, संयोग, उपधा, टि,

१. तथा च सरस्वतीकण्ठाभरण-प्रक्रियायां पदसिन्धुसेतावित्युक्तम्। भाग २, पृष्ठ ३१२।

आगम,लोप, लुक्--(श्लुक्), श्लु, लुप्, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, लघु, गुरु, अनुनासिक, सवर्ण, अनुस्वार, विसर्जनीय, प्रगृह्य, सर्वनाम, निपात, उपसर्ग, गति, कर्मप्रवचनीय, अव्यय, सार्वधातुक, एवं आर्धधातुक ये अस्सी संज्ञाएं गिनाई गई हैं। द्वितीय पाद को प्राय परिभाषा पाद कहा जा सकता है, क्योंकि "असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे" (सर० १।२।८५), "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" (सर० १।२।१२०), "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति. (सर० १।२।१३३) इत्यादि अनेक परिभाषाएं सूत्ररूप मे पढी गई हैं। तृतीय पाद मे 'सन्' इत्यादि प्रत्ययो को गिनाकर भ्वादि गणो मे होने वाले 'शप्' आदि विकरणो का तथा 'अण्' आदि कुछ कृत् प्रत्ययों का उपदेश किया है। चतुर्थ पाद मे भी कृत-प्रत्ययो को ही गिनाया है। द्वितीय अध्याय के तीन पादों में उणादि का विस्तार-पूर्वक उपन्यास किया गया है। तदनु चतुर्थ पाद में कृत-प्रत्ययो का ही परिगणन है।

तृतीय अध्याय के प्रथम पाद मे कुछ आदेश तथा प्रथमादि विभक्तियों का प्रयोगस्थल बताया गया है जिसमे प्रथमा विभक्ति का वि ान अर्थमात्र की विवक्षा मे किया गया है—'अर्थमात्रे प्रथमा" "सम्बोधने च" (सर० ३।१।२७४, २७५)। द्वितीय पाद का अव्ययीभाव तथा तत्पुरुष समास का, तृतीय पाद मे बहुव्रीहि एवं द्वन्द्व समास का प्रपञ्च प्रदर्शित किया गया है। चतुर्थ पाद मे स्त्री प्रत्ययों की चर्चा की गई है। चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद मे तद्धित, द्वितीय मे रक्ताद्यर्थक, तृतीय पाद मे शैषिक तथा चतुर्थ पाद मे विकाराद्यर्थक प्रत्ययो का अनुशासन है।

पञ्चमाध्याय के प्रथम द्वितीय पादो मे तद्धित प्रत्ययों को बताते हुए तृतीय, चतुर्थ पादो मे 'तस्, त्रल्,' आदि विभक्ति सञ्ज्ञक तथा 'कन' आदि स्वार्थिक प्रत्ययो का उपदेश किया गया है। षष्ठ-अध्याय के प्रारम्भ मे द्वित्वप्रकरण है। तदनन्तर अनेक रूढ शब्दो का निपातन-द्वारा साधुत्व दिखाया गया है। द्वितीय पाद मे अलुक् प्रकरण तथा अनेक आदेशो का निर्देश है। तृतीय मे प्रकृति-कार्य, चतुर्थ मे आदेश एवं इडादि आगम दिखाए गए हैं। सप्तम-अध्याय के प्रथम पाद मे वृद्धि, ह्रस्व, दीर्घ आदि कार्य, द्वितीय पाद मे गुण, ह्रस्व, दीर्घादि कार्य, तृतीय पाद मे पदो का द्वित्व तथा प्लुत कार्य, चतुर्थ पाद मे 'सम्' इत्यादि शब्दो के 'स' इत्यादि अनेक प्रकीर्ण आदेश बताकर लौकिक शब्द-साधन-प्रक्रिया को यथासम्भव पूर्ण करने का प्रयास किया है।

अष्टम अध्याय के प्रारम्भिक दो पदों मे वैदिक-शब्दो की सिद्धि तथा अन्तिम दो पदो मे स्वरविधि का निरूपण किया गया। स्वरों का विवेचन करते हुए तृतीय पाद मे आचार्य ने फिट् सूत्रों का भी पाठ किया है।

(६) सिद्धहैम व्याकरण

हेमचन्द्र कृत शब्दानुशासन

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा निःसन्देह अलौकिक थी। अपने आश्रयदाता जयसिंह सिद्धराज के आदेश से उन्होंने इस सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण ग्रन्थ का निर्माण किया। प्रभाचन्द्र के 'प्रभावक-चरित्र' में हेमचन्द्र की व्याकरण-रचना की बात बड़े विस्तार से दी गई है। सिद्धराज ने मालव देश के राजा यशोवर्मा को पराजित किया और उसके फलस्वरूप उन्हें अनेक पोथियां भी हस्तलेखों के रूप में प्राप्त हुई। इन्हीं में से एक हस्तलेख था राजा भोज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' व्याकरण का। इस ग्रन्थ को देख कर उन्हें भी भोज की प्रतिस्पर्धा में एक नवीन व्याकरण ग्रंथ की रचना कराने की अभिलाषा जगी। इस अभिलाषा की पूर्ति हेमचन्द्र ने की। इसीलिए दोनों के नामों से सवलित यह ग्रन्थ 'सिद्ध-हेम-शब्दानुशासन'[1] के नाम से प्रसिद्ध है। रचनाकाल विक्रम स० १२ वी शती का अन्तिम दशक।

यह बडा ही विशद तथा साङ्गोपाङ्ग व्याकरण ग्रथ है। पाँचो अगो से मण्डित होने के कारण पञ्चाग व्याकरण कहलाता है। इन पाँच अगो में सम्मिलित है—सूत्र-पाठ, धातुपाठ, उणादिसूत्र, गणपाठ तथा लिगानुशासन। इन पाँचो के ऊपर उन्होंने स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी थी। यह विराट साहित्य सवा लक्ष-श्लोक परिमाण में माना जाता है।

सूत्र पाठ

हेमचन्द्र ने व्याकरण की रचना सूत्रों में की है। इसमें आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद है। इस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी के समान यह भी अष्टाध्यायी है। समग्र सूत्रोंकी सख्या ४६८५ (चार हजार छ सौ पचासी) है तथा उणादि-सूत्रों की सख्या है १००६। दोनों को मिलाकर ५६९१ सूत्र हैं इस व्याकरण में। हैम अष्टाध्यायी के आरम्भिक सात अध्याय में ही संस्कृत व्याकरण का विवरण है। अन्तिम अध्याय (सूत्र सख्या १११९) में प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा का विस्तृत विवरण है। प्राकृत-सूत्रों को छोड देने से सस्कृत व्याकरण के सूत्रों की सख्या ३५६६ (तीन हजार पाँच सौ छाछठ) है। सूत्रों की रचना प्राचीन आचार्यों की शैली के अनुसार है जिनमें क्रमशः सज्ञा, सन्धि, कारक, समास, आख्यात, कृदन्त तथा तद्धित

---

१ लघुवृत्ति के साथ मुनि हिमांशुविजय के सम्पादकत्व में अहमदाबाद से प्रकाशित, १९५० ई०। इस सस्करण पञ्चागों का सन्निवेश विशेष उपयोगी है।

का निरूपण किया गया है। इन सूत्रों के ऊपर अपने से प्राचीन जैन-अजैन सब व्याकरणों की कुछ न कुछ छाप है, परन्तु जैन शाकटायन का प्रभाव विशेष व्यापक रूपेण दृष्टिगोचर है। सूत्रों को हेमचन्द्र ने विशद तथा व्यापक बनाया है जिनमें वार्तिक आदि का सन्निवेश पृथक्रूपेण न हो कर सूत्रों के भीतर किया गया है।

वृत्तियाँ

हेमचन्द्र ने इस व्याकरण पर स्वयं व्याख्या लिखी हैं जिनमें दो प्रख्यात हैं— लघ्वी वृत्ति (६ हज़ार श्लोक) आरम्भिक अध्येताओं के लिए विशेष लाभदायक है। बृहती वृत्ति (१८ हजार श्लोक परिमाण)—यह विद्वानों के उपयोगार्थ निर्मित है और इसलिए इसमें पूर्व वैयाकरणों—जैसे पूज्यपाद, शाकटायन, दुर्गसिंह (कातन्त्र वृत्तिकार) तथा पाणिनीय सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थकार—के मतों का विवेचन किया गया है। आचार्य ने अपने व्याकरण पर शब्दमहार्णव न्यास (अपर नाम बृहन्न्यास) नामक विवरण भी लिखा था। सुनते हैं कि इसका परिमाण नब्बे हज़ार श्लोक था, परन्तु आज इसका तृतीयांश ही उपलब्ध है (लगभग ३४०० श्लोक) तथा प्रकाशित भी है (आरम्भ से लेकर तृतीय अध्याय के प्रथम पाद तक ही)।

हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के चारों खिलों पर—(१) धातुपाठ, (२) गणपाठ, (३) उणादि सूत्र तथा (४) लिङ्गानुशासन पर स्वोपज्ञ वृत्तियाँ लिखी हैं। इनमें उणादि सूत्र तथा इसकी प्रमेयबहुला व्याख्या विशेष महत्त्व रखती है। एक तो ये उणादि-सूत्र ही संख्या में अधिक हैं (एक हजार छ) और दूसरे इसकी वृत्ति भी विस्तृत तथा नाना तथ्यों से मण्डित है। इस प्रकार हेमचन्द्र ने इतना विशाल साहित्य व्याकरण शास्त्र का केवल एक ही वर्ष में लिखकर प्रस्तुत किया (प्रबन्धचिन्तामणि के कथनानुसार) और विस्तृत व्याख्याएँ भी निर्मित कीं। इतनी विस्तृत रचना के बाद अन्य लेखकों द्वारा टीका टिप्पणियों के लिए अवकाश नहीं रह जाता, तथापि इस व्याकरण की इतनी लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि थी कि अन्य लेखकों ने अपनी व्याख्याओं से इसे मण्डित करने में अपना ही गौरव समझा। इसीलिए इसके विभिन्न प्रकरणों पर व्याख्यायें उपलब्ध हैं जिनमें मुख्य हैं[1]—

(क) मुनि शेखर सूरि रचित लघुवृत्ति ढुंढिका,
(ख) कनकप्रभ कृत दुर्गपद व्याख्या (लघुन्यास पर),
(ग) विद्याधर कृत बृहद्वृत्ति-दीपिका,

---

१. द्रष्टव्य—डा० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान (भोपाल, १९६२) पृष्ठ १८८।

(घ) धनचन्द्रकृत लघुवृत्ति अवचूरी,
(ङ) अभयचन्द्र कृत बृहद्वृत्ति अवचूरी,
(च) जिनसागर कृत दीपिका,

अपने व्याकरण के लिए भट्टिकाव्य के सदृश दृष्टान्त प्रस्तुत करने के निमित्त हेमचन्द्र ने द्व्याश्रय महाकाव्य[1] नामक २८ सर्गों मे विभक्त ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना की है जिसके आदिम २० सर्गों मे सस्कृत व्याकरण के तथा अन्तिम ८ सर्गों मे प्राकृत व्याकरण के उदाहरण दिये गये हैं। यह महाकाव्य इनके शब्दानुशासन का वस्तुत: पूरक है।

हैम शब्दानुशासन के खिलपाठ वे ही हैं जो किसी भी शब्दानुशासन के होते हैं— धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ तथा लिङ्गानुशासन। इन चारों को हेमचन्द्र ने स्वय तैयार किया और उनके ऊपर अपनी विवृत्ति भी लिखी जिसका निर्देश किया जा चुका है।

धातुपाठ

हेमचन्द्र ने हैम धातुपारायण नामक स्वतन्त्ररूप से स्वोपज्ञ ग्रन्थ लिखा और इसके ऊपर विवृति भी स्वय लिखी। धातु प्रकृति को दो प्रकार की माना है— शुद्धा और प्रत्ययान्ता। शुद्धा मे भू, गम, पठ आदि तथा प्रत्ययान्ता मे गोपाय, कामि, जुगुप्स, कण्डूय, बोभूय, चोरि, भावि आदि परिगणित किए गये हैं। हेम ने प्रत्येक धातु के साथ अनुबन्ध की भी चर्चा की है। अनिट् धातुओं मे अनुस्वार को अनुबन्ध माना है यथा पा पाने, व्रूं व्यक्नाया वाचि। उभयपदी धातुओं मे ग्र अनुबन्ध लगाया गया है जहाँ पाणिनि ञ् अनुबन्ध लगाते हैं।

धातुओ की सख्या १९८० है जो नवगणों मे विभक्त हैं। यहाँ भी जुहोत्यादिगण अदादि के भीतर ही सन्निविष्ट है, पृथक् नही है। नये अर्थों मे अनेक नई धातुओ की कल्पना भाषाशास्त्र के अध्येताओं के लिए रोचक सामग्री प्रस्तुत करती है। जैसे फक्कधातु को निर्माण अर्थ में, खोड् को घात अर्थ मे, जम्, झम् तथा जिम् को भोजन अर्थ में, पूलि को तृणोच्चय अर्थ मे थोर मुटत का आक्षेप तथा मर्दन अर्थ मे, प्रस्तुत कर हेमचन्द्र ने धातुपाठ मे नूतनता प्रदर्शित की है। क्रियापदों का प्रयोग रोचक पद्यों में निबद्ध कर हेमचन्द्र ने इस शुष्क विषय में सरलता उत्पन्न कर दी है। एक ही पद्य दृष्टान्त के तौर पर उद्धृत है—

नीपाग्रो दोलयत्येष प्रेङ्खोलयति मे मन.।
पवनो वीजयन्नाशा ममाशामुच्चुलुम्पति ॥

---

१ द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय, सस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० २७०–७२ वर्ष १९७८।

पाणिनि की अपेक्षा नवीन तथा विलक्षण धातुओ का यहाँ सकलन किया गया है। कुछ धातुओ को स्वरूप-वैशिष्ट्य देखने योग्य है—उर्दि मान और क्रीडा अर्थ मे, कर्ज व्यथने, कुत्सिण अपक्षेपे (कुत्सयते), कूणिण सकोचने (कूणयते), मेथ, सगमे (मेथति, मेथते), गु त पुरीषोत्सर्गे (गुवति), इसी धातु से सस्कृत का गूथ (पुरीष) तथा भोजपुरी का गूह निष्पन्न हुआ है। पिच्चण् कुट्टने (पिच्चयति) आदि।

गण-पाठ

हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन पर स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है। यह दो प्रकार की है—लघुवृत्ति और बृहद्वृत्ति। इस बृहद्वृत्ति में ही इस व्याकरण का गण पाठ उपलब्ध होता है। कुछ ऐसे भी गण हैं जिनका पता बृहदवृत्ति से नही लगता। अन विजयनीति सूरि ने 'सिद्धहेम बृहत प्रक्रिया' मे हेम के सभी गण पाठ दिये हैं।

उणादि-पाठ

उणादि पाठ के ऊपर हेमचन्द्र की स्वोपज्ञ वृत्ति है जिसके आरम्भ मे उन्होंने अर्हत् को प्रणाम कर वृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा की है। उणादि सूत्रो के द्वारा बहुत से ऐसे शब्द निष्पन्न किये गए हैं जो भारतीय प्रान्त भाषा विशेषत हिन्दी तथा गुजराती के साथ अपना सम्बन्ध रखते हैं। यथा कर्कर (क्षुद्राश्मा) = काँकर या ककड, गर्गरी (महाकुम्भ) = गागर, दवरी (गुण) = डोरा, पटाका (वैजयन्ती) = पताका, पटाका।

लिंगानुशासन

हेमचन्द्र का लिङ्गानुशासन बडा ही विस्तृत तथा विशद है पाणिनीय लिङ्गानुशासन से तुलना करने पर। पाणिनि ने प्राय प्रत्ययों के आधार पर लिंग निर्देश किया है। हेमचन्द्र ने अन्य उपकरणो को भी ध्यान मे रखकर लिंगप्रवचन किया है। हम ने इसमे विशाल शब्दराशि का सकलन किया है। यहाँ रुचिर, ललित और कोमल शब्दो के साथ कटु और कठोर शब्दों का भी सकलन किया गया है। शब्दो का सग्रह यहाँ विभिन्न साम्यो के आधार पर किया गया है। कोष-चतुष्टय के लेखक का शब्द-ज्ञान बडा ही विस्तृत है। यहाँ बहुत से अप्रसिद्ध, अज्ञात तथा अल्पज्ञात शब्दो का चयन लिङ्ग निर्देश के लिए किया गया है। यह चयन अमरकोष की शैली पर किया गया है।

---

१. हेम गणपाठ के लिए द्रष्टव्य कपिलदेव—'सस्कृत व्याकरण मे गणपाठ की परपरा' पृष्ठ ११४–१२६।

हेमचन्द्र का वैशिष्ट्य

अपने पूर्व निर्मित समस्त वैयाकरण सम्प्रदायों अजैन तथा जैन-दोनों से हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन की सामग्री संकलित की। भोजराज का सरस्वती कण्ठाभरण तो उनके निकट पूर्व में रचा गया था। हेमचद्र ने पाणिनीय, कातन्त्र तथा भोज के व्याकरणों के अतिरिक्त जैनेन्द्र तथा शाकटायन के व्याकरण ग्रन्थों से अपने लिए प्रभूत सामग्री एकत्रित की। जैनेन्द्र की अपेक्षा शाकटायन से इन्होंने बहुत कुछ लिया। जैनेन्द्र की महावृत्ति और शाकटायन की अमोघवृत्ति तथा लघुवृत्ति से हेमचन्द्र ने अनेक सिद्धान्त लिये हैं, परन्तु इसमें मौलिकता की कमी नहीं है। शाकटायन का सूत्र है—नित्य हस्ते पाणौ स्वीकृतौ (१।१।३६)। इसके स्थान पर हेम का सूत्र 'नित्य हस्ते पाणावुद्वाहे (३।१।१५) है, जिसमें सामान्य स्वीकृति को विशिष्ट विवाह का रूप देकर लोक में प्रयुक्त भाषा का गम्भीर विश्लेषण है। इसी प्रकार 'कणेमन. श्रद्धोक्षेदे' १।१।२८ का शाकटायन सूत्र पाणिनीय अष्टाध्यायी के कणेमनसी श्रद्धाप्रतिघाते' की छाया पर निर्मित है। अन्तर इतना ही है 'प्रतिघात' का पर्याय 'उच्छेद' दे दिया गया है, परन्तु इससे तात्पर्य की स्पष्टता नहीं होती। इसलिए हेमचन्द्र ने 'कणे मनस्तृप्तौ' (३।१।६) सूत्र लिखकर तात्पर्य को स्पष्ट कर दिया है। 'तावत् पिबति यावत् तृप्त' व्याख्या से 'कणेहत्य पय पिबति' उदाहरण सुस्पष्ट बन जाता है। इस प्रकार सूत्रों में सरलता तथा विशदता लाने का हेमचन्द्र ने पूर्ण प्रयत्न किया है।

एक तथ्य और भी विचारणीय है। हेमचन्द्र के समय में प्राकृत साहित्य अपने उत्तर्य पर पहुँच चुका था तथा अपभ्रंश लोकभाषा से साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण कर रहा था। ऐसी दशा में इन भाषाओं का विश्लेषण न करना वास्तविकता से मुँह मोड़ना होता। इसीलिए हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन के अन्तिम (अष्टम) अध्याय में इन भाषाओं का भी व्याकरण प्रस्तुत कर संस्कृत के भाषागत विकास को समझने के लिए आवश्यक तथा उपादेय उपकरण प्रस्तुत किया। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण को सर्वोपयोगी बनाने के लिए संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के व्याकरण के साथ अपभ्रंश भाषा का भी व्याकरण लिखा। इन्होंने अपभ्रंश को प्राकृत का ही एक भेद मान लिया तथा उसका विस्तृत विवेचन किया। इस दृष्टि से हेमचन्द्र का त्रिविध *भाषाशास्त्री का रूप आलोचकों के सामने प्रकट होता है। और यह हैम व्याकरण का* निजी वैशिष्ट्य है[1]।

---

१ इतर वैयाकरणों के साथ हेमचन्द्र की तुलना के लिए द्रष्टव्य डा० नेमिचन्द्र शास्त्री का पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ —'आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन : एक अध्ययन' (चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६३)।

(७) सारस्वत-व्याकरण

सारस्वत व्याकरण व्याकरण-सम्प्रदायों मे सरलतम व्याकरण है। यहाँ सूत्रों की सख्या पाणिनीय अष्टाध्यायी की अपेक्षा पञ्चमांश से भी न्यून है। केवल सात सौ सूत्रों की सहायता से सस्कृत-भाषा का समग्र व्याकरण निबद्ध कर देना सचमुच आश्चर्यजनक घटना है। इससे यह व्याकरण बहुत ही लोकप्रिय रहा है गुजरात आदि प्रदेश मे ही नहीं, प्रत्युत पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन की केन्द्रस्थली काशी के मण्डल मे भी। काशी से पूरब के स्थानो मे पाणिनीय व्याकरण के गाढ परिचय कराने से पहिले सारस्वत चन्द्रिका का अध्यापन छात्रो को करा दिया जाता था जिससे वे भाषा के व्यावहारिक नियमों से भली-भाँति परिचित हो जाते थे।

सारस्वत व्याकरण की टीका-सम्पत्ति प्रचुर है। परन्तु इस व्याकरण के रचयिता के निर्धारण की समस्या बडी विषम है। प्रसिद्धि तो है कि अनुभूति-स्वरूपाचार्य ने किसी पण्डित मण्डली में अपाणिनीय 'पुक्षु' पद का प्रयोग किया। पण्डितो के द्वारा आलोचना किये जाने पर उन्होने अगले दिन इसकी सिद्धि दिखलाने का वचन दिया। रात मे ही आराधना से सन्तुष्ट सरस्वती की महती अनुकम्पा से उन्हें सूत्रों की स्फूर्ति हुई जो सरस्वती से प्रदत्त होने से सारस्वत सूत्र के नाम से अभिहित हुए। इस किम्वदन्ती के यथातथ्य का विचार अभी भी सदिग्ध ही है। सारस्वतप्रक्रिया के आरम्भस्थ पद्य का रूप इस प्रकार है—

> प्रणम्य परमात्मानं बालधी-वृद्धि-सिद्धये।
> सारस्वतीमृजुं कुर्वे प्रक्रियां नातिविस्तराम् ॥

इसके प्रामाण्य पर आलोचकों का कथन है कि अनुभूति स्वरूप ने 'सारस्वती प्रक्रिया' को ऋजु बनाया अर्थात् इधर-उधर विकीर्ण प्रक्रिया को सुव्यवस्थित किया। इस श्लोक की व्याख्या मे पुञ्जराज ने 'सारस्वती प्रक्रिया' का व्युत्पत्तिलभ्य तात्पर्य 'सारस्वतसूत्र' ही बतलाया है। उनका कथन है—

> सरस्वत्या प्रोक्ता या प्रक्रिया, सा सारस्वती प्रक्रिया। तत्र प्रक्रियन्ते प्रकृति-प्रत्ययादि-विभागेन व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनयेति व्युत्पत्त्या सारस्वती प्रक्रिया सारस्वतीयं व्याकरणमिति।

यह तो पुञ्जराज का मत हुआ कि सारस्वती प्रक्रिया सूत्रों के ही लिए प्रयुक्त है; परन्तु अन्य टीकाकार इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। वे सूत्रों का कर्तृत्व तो भगवती सरस्वती को देते हैं। अनुभूतिस्वरूप को केवल सूत्रो का व्याख्याता ही मानते हैं।

सारस्वत सूत्रों में वर्णित विषय

सारस्वत-व्याकरण तीन वृत्तियो में विभक्त है। प्रथम वृत्ति के अन्तर्गत संज्ञा-प्रकरण, स्वरादि सन्धि-प्रकरण, स्वरान्त हलान्त सुबन्त शब्द, स्त्रीप्रत्यय, कारक, समास एव तद्धित प्रकरण हैं। द्वितीय वृत्ति मे भ्वादि से लेकर चुरादि पर्यन्त तथा नामधात्वादि का भी यथासम्भव विवेचन किया है। भ्वादि गणों मे पठित धातुओ को परस्मैपद, आत्मनेपद एव उभयपद के विभाग से उपस्थापित किया गया है। तृतीय वृत्तिमे अर्थक्रम से 'अण्' इत्यादि कृत् प्रत्ययो का विधान किया गया है। इस व्याकरण मे १२७४ सूत्र उपलब्ध हैं। 'पुक्षु' शब्द की सिद्धि के लिए "असम्भवे पुंसः कक् सौ" (सारस्वत-हलन्त पुं०) सूत्र बनाया गया है। असम्भव शब्द का तात्पर्य वेदान्तैकवेद्य परमात्मा से है। क्योकि उसका बहुत्व सिद्ध करना बुद्धि से सम्भव नही माना जाता। साराश यह है कि परमपुरुष परमात्मा के ही लिए सप्तमी बहुवचनान्त 'पुक्षु' प्रयोग साधु होगा। अथ च लौकिक पुरुषो के लिए 'पुंसु' शब्द साधु माना जायगा।

पुक्षु शब्द की सिद्धि का प्रकार—पुनातीति पुमान्। 'पुनाते सुम्र नुम् च' इति सुप्रत्ययो नुमागमश्च, ष्वादेर्ह्रस्व। अथवा पाति त्रिवर्गमिति पुमान् "पाते र्डुंम्सु" इति 'डुम्सु' प्रत्यय। एव पुंस शब्दात् सप्तमीबहुवचने सुपि प्रत्यये, कमागमे कृते 'पुस् क् सु' इत्यत्र सकारस्य सयोगादिलोपे, सुप् प्रत्ययावयवसकारस्य षकारे 'क् ष्' सयोगेन क्षकारे कृते 'पुक्षु' इति रूपमुपपद्यते।

संज्ञाप्रकरण मे समान, सवर्ण, सन्ध्यक्षर, नामी, व्यञ्जन, इत्, लोप, सयोग, वर्ग, गुण, वृद्धि, टि, उपधा, लघु गुरु, अनुनासिक, निरनुनासिक, विसर्जनीय तथा अनुस्वार संज्ञाएँ की हैं। यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है कि वर्णसमाम्नाय मे पढ़े गए वर्णो का क्रम अत्यन्त भिन्न (अप्रसिद्ध) है। यहाँ पाणिनीय वर्णसमाम्नाय की तरह दो बार हकार का पाठ नहीं किया गया है। प्रत्याहारो को बनाने के लिए अनुबन्धों का पाठ नही किया गया है। अत. अन्तिम वर्णों से ही निर्दिष्ट कार्य सम्पन्न होता है। वर्णसमाम्नाय इस प्रकार है—"अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ, ह य व र ल, ञ ण न ङ म, झ ढ ध घ भ, ज ड द ग ब छ ठ थ ख फ च ट त क प, श ष स"।

संज्ञाप्रकरण के अन्त मे उद्धृत—

> 'गजकुम्भाकृतिर्वर्ण ऋवर्ण. स प्रकीर्तित',
> एव वर्णा द्वि.च्चाशन्मातृकायामुदाहृता'।"

श्लोक मे ५२ वर्णो को स्वीकार किया गया है। श्री अनुभूतिस्वरूपाचार्य के "प्रत्याहाराणां संज्ञानियमस्तु नास्ति" इस वचन की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि 'संज्ञानियम' शब्द मे 'संज्ञा अनियम' ऐसा पद-विच्छेद करना चाहिए

जिससे प्रत्याहारों की संख्या निश्चित कही जा सकती है, अनिश्चित नहीं। उन्होंने 'हस' इत्यादि २० प्रत्याहार गिनाए हैं। यहाँ व्यञ्जनों को 'हस' माना जाता है। महर्षि पाणिनि ने पदान्त नकार का शकार परे रहते तुगागम करके 'सच्छम्भुः' इत्यादि रूपों की निष्पत्ति की है, परन्तु सारस्वत में सीधे 'चक' का ही आगम किया गया है।

"वृक्षच्छाया, तवच्छत्रम्' इत्यादि पदों में कोई आगम न करके छकार का द्वित्व तथा पूर्व छकार का चकार किया गया है। कातन्त्र में भी यही बात कही गई है। 'श ष-स ह' तथा रेफ के परे रहने अनुस्वार का '' यह आदेश किया गया है, जैसे— 'सामयजूँषि, देवानाँ राजा' इत्यादि। इस 'ग्वँ' रूप अनुस्वारादेश का उच्चारण लोक में न किए जाने से यह सिद्ध होता है कि इसमें वैदिक शब्दों के लिए भी कुछ कार्यों का निर्देश किया गया है। स्यादि त्यादि रूप दो प्रकार की विभक्तियाँ मानी गई हैं। पाणिनि ने जिन शब्दों को प्रातिपदिक कहा है उनको यहाँ 'नाम' संज्ञा दी गई है। सख्यु पत्यु शब्दों की सिद्धि के लिए सखि, पति शब्दों का ऋगागम करके ङसि, ङस् प्रत्ययों के अकार को उकार तथा उस उकार का ङित्भाव किया गया है। यहाँ प्रक्रिया में गौरव स्पष्ट परिलक्षित होता है। चादि गण के शब्दों की 'निपात' संज्ञा की गई है। "किम. सामान्ये चिदादि" (अव्यय १३) इस सूत्र पर कहे गए—"सर्वविभक्त्यन्तात् किंशब्दात् सामान्येऽर्थे चित् चन च इत्येते प्रत्यया भवन्ति" इस वचन में, चित् एवं चन दो ही प्रत्ययों का विधान किए जाने पर बहुवचन निर्देश चिन्त्य कहा जा सकता है। उपसर्गसंज्ञक प्रादि गण में पाणिनि अभिमत २२ उपसर्गों के अतिरिक्त श्रत्, अन्तर् तथा आविर् इन तीन शब्दों को और पढ़ा गया है। कारक-प्रकरण में 'कर्ता' इत्यादि संज्ञाओं को बिना किए ही उनमें प्रथमादि विभक्तियों का विधान किया गया है। औपश्लेषिक, अभिव्यापक, सामीप्यक वैषयिक, नैमित्तिक तथा औपचारिक भेदों से अधिकरण को छ प्रकार का माना गया है। क्रमश औपश्लेषिक आदि भेदों के उदाहरणों का उपन्यास श्लोक द्वारा इस प्रकार किया गया है—

"कटे शेते कुमारोऽसौ वटे गाव. सुशेरते।
तिलेषु विद्यते तैलं हृदि ब्रह्मामृतं परम् ॥
युद्धे सनह्यते धीरोऽङ्गुल्यग्रेकरिणां शतम्।"

वेद में स्यादि विभक्तियों के व्यत्यय को "छन्दसि स्यादि. सर्वत्र" (कारक प्र०) सूत्र से कहा है। अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व, द्विगु बहुव्रीहि तथा कर्मधारय—ये छः समास बताए गए हैं। 'तद्धित' संज्ञा विधायक कोई सूत्र तो नहीं किया गया है तथापि चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि समास का अथवा सभी नाम शब्दों के (अनेक अर्थों के निर्वचन से) हित करने वाले को 'तद्धित' कहते हैं।

आख्यात प्रकरण में आत्मनेपद को 'आत्' तथा परस्मैपद को 'प' कहा गया है। काल का विभाग करते हुए तिप्, तस्, अन्ति इत्यादि प्रत्ययों को सूत्र-द्वारा गिनाया गया है। भ्वादि गण मे 'अप्' विकरण किया जाता है जिसका अदादि तथा जुहोत्यादि मे लुक् हो जाता है। दिवादि गण मे 'य' विकरण का उपयोग किया गया है। 'नश्' अदर्शने धातु से ङ परे रहते विकल्प से अकार का एकार करके 'अनेशत्, अनशत्' यह दो रूप बनाए हैं (पाणिनीय लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, तिप् प्रत्यय)। इसमें 'अनेशत' रूप अपाणिनीय है। स्वादिगण मे 'नु', रुधादि मे 'नम्', तनादि मे 'उप्', तुदादि मे 'अ', क्र्यादि में 'ना', तथा चुरादि मे 'जि', विकरण का विधान देखा जाता है। पाणिनीय 'सन्' के लिए 'स' का प्रयोग हुआ है। अन्त मे अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने प्रयोग दृष्ट्या धातुओं की अनन्तता को बताते हुए उसका सर्वाङ्गीण प्रवचन नहीं किया जा सकता—ऐसा कहकर इस प्रकरण को पूर्ण किया है।

कहा है—

"धातूनामप्यनन्तत्वान्नानार्थत्वाच्च सर्वथा।
अभिधातुमशक्यत्वादाख्यातस्यापनैरलम् ॥"

कृत प्रकरण मे 'क्त, क्तवतु' प्रत्ययों की 'निष्ठा' संज्ञा और 'ध्यण', 'यप्', 'तव्य', 'अनीय' तथा 'य' इन पाँच प्रत्ययों की 'कृत्य' संज्ञा की गई है। कृत्संज्ञक तथा स्त्रीत्वार्थ मे लिए गए 'क्ति' प्रत्यय को कातन्त्रानुसारी समझना चाहिए।

ग्रन्थ के अन्त मे आचार्य ने इस व्याकरण मे जिन शब्दों की सिद्धि नहीं बताई गई है उनकी सिद्धि अन्य व्याकरणो से करनी चाहिए, ऐसा सूत्रद्वारा निर्देश किया है—

"लोकाच्छेषस्य सिद्धिर्यथा मातरादे' (कृदाधिका प्रक्रिया)। यहाँ 'लोक' शब्द से व्याकरणान्तर ही अभीष्ट है। तदनन्तर आचार्य ने अपना नाम, परिचय एवं मङ्गलाचरण उपस्थापित कर ग्रन्थ को पूर्ण किया है।

सारस्वत की व्याख्या-सम्पत्ति

सारस्वत व्याकरण बड़ा ही लोकप्रिय रहा है। दो व्याकरण ग्रन्थों का आपस मे सम्मिश्रण हो गया है। सारस्वत चन्द्रिका मूल सारस्वत सूत्रों से परिमाण में डेढ़ गुना अधिक है तथा सूत्रों मे अपनी पृथक् स्थिति धारण करती है। सारस्वत प्रक्रिया के कतिपय टीकाकारों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(क) चन्द्रकीर्ति—ये जैन ग्रन्थकार थे। नागपुरतपागच्छ के भट्टारक थे। इनकी टीका का नाम है सुबोधिका, दीपिका[1] या चन्द्रकीर्ति। इन्होंने पद्मचन्द्र उपाध्याय की

१. तस्य पद्मचन्द्रादशोपाध्यायाभ्यर्थनात् कृता।
शुभा सुबोधिका नाम्नी श्रीसारस्वतदीपिका ॥

अभ्यर्थना को मानकर इस टीका का प्रणयन किया। चन्द्रकीर्ति के ही शिष्य हर्षकीर्ति ने इस टीका का आदर्श प्रस्तुत किया। टीका सुबोध तथा सुन्दर है[1]।

(ख) पुञ्जराज—इन्होने दो अलकार ग्रन्थो—ध्वनिप्रदीप तथा काव्यालकार-शिशुप्रबोध—की रचना के साथ ही साथ सारस्वत प्रक्रिया की टीका का प्रणयन किया। इस टीका का सबसे प्राचीन हस्तलेख भाण्डारकर शोध सस्थान मे है और उसका काल है १६१२ संवत (= १५५६ ईस्वी)। इस टीक के आरम्भ मे पुंजराज ने अपने वश का विस्तृत विवरण दिया है जिसका ऐतिहासिक मूल्य कम नहीं है। इसमे उन्होंने अपने सप्तम पूर्वज से लेकर अपने तक के पुरुषो का नाम दिया है। इनके पिता जीवन तथा पितृव्य मेघ दोनो ही मालवा के सुल्तान गियासउद्दीन खिलजी के मन्त्री थे[2]। यह गियासुद्दीन-शाह १५ शती के अन्तिम चरण मे राज्य करता था मालवा के ऊपर (लगभग १४७५ ई०–१५०१ ई०)। वह विष देकर मार डाला गया। तब नासिर-उद्दीन खिलजी वहाँ का शासक बना और अपनी मृत्यु (१५११ ई०) तक राज्य करता रहा। इन्ही दोनो बादशाहो के मन्त्री होने के कारण पुञ्जराज के पिता तथा पितृव्य दोनो का मन्त्रित्व काल १४७५ ई० से १५१० ई० तक मानना चाहिए। पुञ्जराज का समय १४७५ ई० से १५२० ई० तक मानना कथमपि अनुचित नहीं होगा। पुञ्जराज ने अपने को 'पुञ्जराजो नरेन्द्र' कहा है। तो क्या ये नरेन्द्र के पद पर भी आसीन हुए थे ? इस प्रश्न की मीमासा अभी अपने समाधान के लिए अधिक प्रमाण चाहती है। मालवा के खिलजी शासको का अन्त १५३५ ई० मे हो गया जब बादशाह हुमायूँ ने नासिर के उत्तराधिकारी महमूद खिलजी की १५३१ ई० मे हत्या के अनन्तर मालवा को जीत लिया। फलत सारस्वत-प्रक्रिया की इस व्याख्या का प्रणयन काल १६ वी शती का प्रथम चरण मानना सर्वथा न्याय्य है।

(ग) अमर भारती—विमल सरस्वती के शिष्य अमरभारती ने सारस्वत सूत्रो पर व्याख्या लिखी है जिसमे नरेन्द्र नगरी को ही वे इनका लेखक मानते हैं। इस विषय की समीक्षा ऊपर की गई है कि नरेन्द्र-नगरी अनुभूतिस्वरूपाचार्य के शिष्य प्रतीत होते हैं। फलत वे मूल लेखक नहीं हैं। टीका का नाम था सुबोधिनी। इस टीका का प्राचीनतम हस्तलेख १५५४ सं० (= १४९७ ई०) का है। फलत इनका समय इससे प्राचीन है।

---

१. चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित, १९६७।

२. श्री विलासवनि मण्डपदुर्गे स्वामिन खलचि साहिगयासान्।
प्राप्य मन्त्रिपदवी भुवि याभ्यामर्जितार्जितररोपकृतिः श्री.॥

—सारस्वतटीका, श्लोक ९।

(घ) वासुदेव भट्ट—इन्होंने सारस्वत-प्रक्रिया के ऊपर 'सारस्वत प्रसाद' नामक व्याख्यान लिखा है। ये बड़े ही प्रौढ़ पण्डित थे न्याय तथा पाणिनीय व्याकरण के और इन दोनों का उपयोग उन्होंने अपने व्याख्यान में भूयसा किया है। टीका विस्तृत तथा विशदार्थ-बोधिनी है। इनके देश का पता नहीं चलता, परन्तु ग्रन्थ की रचना का काल[1] उन्होंने स्वयं १६३४ वि० सं० (=१५७७ ईस्वी) दिया है जिसके प्रसाद[2] का निर्माण पुञ्जराज की पूर्व निर्दिष्ट व्याख्या के लगभग अर्ध शताब्दी के अनन्तर सिद्ध होता। दोनों ही १६वीं शती के साहित्यकार हैं।

(ङ) भट्ट धनेश्वर—भट्ट धनेश्वर से पहिले क्षेमेन्द्र ने सारस्वतप्रक्रिया पर 'टिप्पण' नाम से लघुवृत्ति लिखी थी। इनका देशकाल अज्ञात है। यह क्षेमेन्द्र हरिभद्र या हरिभट्ट के पुत्र कृष्ण शर्मा का शिष्य था। फलत वह अभिनवगुप्त के शिष्य काश्मीरी महाकवि क्षेमेन्द्र से नितान्त भिन्न व्यक्ति है। इसी टिप्पण के खण्डन के लिए धनेश्वर भट्ट ने अपना ग्रन्थ—सारस्वत-प्रदीप—निबद्ध किया था। ये अपने को 'वैयाकरणगजेन्द्रसिंह' तथा 'न्यायशास्त्र-पारगत' की उपाधि से विभूषित करते हैं। इनका वैयाकरणत्व तो इस ग्रन्थ में पदे-पदे सिद्ध हो रहा है। न्यायशास्त्र के भी ये प्रवीण विद्वान् थे, क्योंकि इस ग्रन्थ में 'चिन्तामणि अनुमान खण्ड' के 'पक्षधर्मतावाद' का उल्लेख इन्होंने किया है। यह चिन्तामणि निश्चयेन गंगेशोपाध्याय के 'तत्त्वचिन्तामणि' से अभिन्न है (र० का० १२०० ई०)। इस 'सारस्वत-प्रदीप' का अपर नाम 'क्षेमेन्द्र खण्डन' है जिससे इसकी रचना का उद्देश्य स्पष्ट प्रतीत होता है।

इस ग्रन्थ में प्राचीन आचार्यों के मतों का स्थान स्थान पर संकेत है जिसमें काल निरूपण की दृष्टि से रामचन्द्राचार्य तथा प्रसादकार का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। रामचन्द्राचार्य तो प्रक्रिया-कौमुदी के विश्रुत प्रणेता हैं तथा प्रसादकार उनके ही पौत्र, प्रक्रिया प्रसाद के प्रख्यात रचयिता, विट्ठल है। विट्ठल का आविर्भावकाल १५शती का मध्यकाल (लगभग १४५० ई०) माना जाता है। सारस्वत प्रसाद का उपलब्ध एक मात्र हस्तलेख भण्डारकर शोध संस्थान (पूना) के पुस्तकालय में है। उसका समय है १६५३ वि० सं० (=अर्थात् १५९६ ई०)। प्रसादकार विट्ठल के उल्लेख से तथा हस्तलेख के लिपिकाल से इनका समय १४७५ ई० से लेकर १५२० ई० तक लगभग होना चाहिए। अर्थात् धनेश्वरभट्ट का आविर्भावकाल १६ वीं शती का प्रथम चरण मानना नितान्त उपयुक्त है। भट्ट धनेश्वर प्रौढ़ वैयाकरण हैं—सारस्वती प्रक्रिया

१ संवत्सर   वेद-वह्नि रसभूमि-सम्मिते।
   शुचौ कृष्णद्वितीयायां प्रसादोऽयं निरूपितः॥
२. चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी से मूल के साथ प्रकाशित, १९६०।

में ही निष्णात नहीं, प्रत्युत महाभाष्य के भी प्रौढ मर्मज्ञ। स्वयं कहते हैं कि पातञ्जल-महाभाष्य पर 'चिन्तामणि' नामक व्याख्या उन्होंने स्वयं लिखी थी।[1]

उन्होंने 'पीताम्बर' नामक वैयाकरण का मत अपने ग्रन्थ में दिया है। पीताम्बर शर्मा नामक लेखक के दो व्याकरण ग्रंथों को इण्डिया आफिस लाइब्रेरी का सूचीपत्र निर्दिष्ट करता है—

(१) सारसंग्रह—क्रमदीश्वर के 'संक्षिप्त सार' सार का यह संग्रह बालकों के शिक्षा के निमित्त निबद्ध आरम्भिक ग्रंथ है।

(२) छात्रव्युत्पत्ति = नवसर्गों में रामायण की कथा का श्लोकबद्ध सारांश, जिसमें 'सारसंग्रह' के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

भट्टजनेश्वर ने यह भी लिखा है कि पीताम्बर के किसी शिष्य ने 'सारस्वत प्रदीप'[2] का हस्तलेख स्वयं प्रस्तुत किया था। फलतः पीताम्बर धनेश्वर के ज्येष्ठ समसामयिक प्रतीत होते हैं लगभग १५०० ई० में वर्तमान।

सिद्धान्त-चन्द्रिका

सारस्वत प्रक्रिया से अतिरिक्त भी सारस्वत व्याकरण के व्याख्याताओं का एक पृथक् सम्प्रदाय है। रामचन्द्राश्रम अथवा रामाश्रम नामक वैयाकरण ने मूल सारस्वत व्याकरण को पाणिनीय अष्टाध्यायी के स्तर पर लाने के लिए एक नवीन ग्रंथ लिखा सिद्धान्त चन्द्रिका[3]। इसमें केवल नवीन सूत्रों का ही प्रणयन अष्टाध्यायी के आधार पर नहीं है, प्रत्युत अन्य विशिष्टतायें भी यहाँ लक्षित होती हैं। सूत्रों की संख्या पूर्वतः

१ श्री युधिष्ठिर मीमांसक 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग (संशोधित सं०) पृष्ठ ३७६ तथा ५७१ पर दो स्थानों में भट्टधनेश्वर को वोपदेव का गुरु मानते हैं। यह उनकी भूल है। उन्होंने नामसाम्य को ही लक्ष्य कर यह भूल की है। वोपदेव के गुरु का नाम धनेश था, भट्ट धनेश्वर नहीं। वोपदेव (१२५०–१२८० ई०) के गुरु होने से धनेश का समय १३ वीं शती का पूर्वार्ध निश्चयेन है, जब भट्ट धनेश्वर का समय १५ शती का अन्त है। फलतः काल-बाधित होने से यह समीकरण नितान्त अयुक्त है।

२ इस हस्तलेख के विश्लेषण के लिए द्रष्टव्य डा० पी० के० गोडे—स्टडीज इन इण्डियन लिटररी हिस्टरी भाग २ पृष्ठ १५–१८।

३. लोकेशकर की तत्त्वदीपिका सदानन्द गणि रचित सुबोधिनी के साथ सिद्धान्त चन्द्रिका का प्रकाशन चौखम्भा कार्यालय ने दो जिल्दों में किया है सं० १९९०, वाराणसी।

२२३७ (दो हजार दो सौ सैंतीस) है। सिद्धान्त-प्रक्रिया की अपेक्षा इसमें नवीन सञ्ज्ञाओं तथा गणों का भी उल्लेख पाया जाता है। यहाँ केवल १५ परिभाषाओं का व्याख्यानरूप स्वतन्त्ररूप से परिभाषा-प्रकरण भी उपलब्ध है। जहाँ प्रक्रिया में उणादि सूत्र केवल ३३ हैं वहाँ चन्द्रिका में पाँच पादों में विभक्त ३८१ सूत्र हैं। इन सूत्रों की पाणिनितन्त्र की पञ्चपादी के सूत्रों से तुलना करने पर पता लगता है कि इन सूत्रों में कितना परिवर्तन है और कितना अक्षरशः गृहीत है। फलतः मूल से यहाँ इतने विशिष्ट परिवर्तन परिवर्धन हैं कि इसे एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय मानना ही उचित प्रतीत होता है। सिद्धान्त चन्द्रिका में दो भाग हैं—पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। इसमें पूर्वार्ध तो प्रक्रिया से प्रायः मिलता है। उत्तरार्ध प्रक्रिया की अपेक्षा भिन्न तथा परिवृंहित है। इसलिए काशीमण्डल में सारस्वत प्रक्रिया के पूर्वार्ध तथा चन्द्रिका के उत्तरार्ध पढ़ने की प्राचीन परिपाटी थी। यह सिद्धान्त-चन्द्रिका ही 'सारस्वत चन्द्रिका' के नाम से अभिहित की जाती थी। किसी समय इसकी लोकप्रियता इतनी अधिक थी कि सिद्धान्त कौमुदी के अध्ययन से पूर्व इस चन्द्रिका का पठन नितान्त आवश्यक माना जाता था।

इसके रचयिता का नाम था—रामचन्द्राश्रम या रामाश्रम। इनके देशकाल का स्पष्ट संकेत उपलब्ध नहीं होता। यह तो प्रसिद्ध तथ्य है कि भट्टोजि दीक्षित के पुत्र भानुजि दीक्षित का सन्यास दशा का नाम 'रामाश्रम' था। फलतः कुछ लोग इन्हें ही इस वृत्ति का—अन्ततोगत्वा चन्द्रिका वृत्ति ही तो है—रचयिता मानते हैं। इस ग्रन्थ की लोकेशकरकृत टीका रचना-काल १७४१ सं०[1] (=१६८४ ई०) है। अतः मूल ग्रन्थ का इससे प्राचीन होना चाहिए। भानुजिदीक्षित का समय मैंने पहिले १६०० ई०-१६५० ई० प्रमाणों से निश्चित किया है (पृष्ठ ३९३)। फलतः चन्द्रिका के लेखक रामाश्रम तथा भट्टोजिदीक्षित के पुत्र रामाश्रम एक ही समय के व्यक्ति हैं, तथापि इस अभिन्नता की सिद्धि के लिए पुष्ट प्रमाणों की आवश्यकता है। इन्होंने अपनी टीका का एक संक्षिप्त रूप लघुसिद्धान्त चन्द्रिका के नाम से लिखा है। इसके ऊपर वरदराज की लघुसिद्धान्त कौमुदी का कुछ प्रभाव पड़ा है क्या ?

इसके ऊपर दो प्रख्यात प्रकाशित व्याख्यायें उपलब्ध हैं—

(१) लोकेशकर-तत्त्वदीपिका। क्षेमाधकर के पौत्र[2] तथा क्षेमकर के पुत्र थे। टीका का रचनाकाल है १७४१ विक्रमी (=१६८४ ई०)। ये प्रकरणों के अन्त में अपने को

१ चन्द्र-वेद हयमुनि-प्रयुते वत्सरे नभसि माधि शोभने।
गुरुप्रसादमीतिरिदाविव दीपिका बुधप्रदीपिका कृता॥

२. क्षेमाधकर पौत्रेण लोकेशकर-शर्मणा।
कृतायामिह टीकायां दिक्कृतन्त्याद्विरिति॥

(पूर्वार्ध वृत्ति, पृष्ठ ३८४)।

'श्रीविद्यानगरस्थायी' लिखते हैं[1]। परन्तु इस नगर का यथार्थ परिचय नहीं है। विजयनगर साम्राज्य की राजधानी 'विद्यानगर' के नाम से प्रख्यात थी, परन्तु इन दोनों के ऐक्य मानने के लिए पर्याप्त साधन नहीं हैं। एक तथ्य ध्यान देने योग्य है। 'कर' उपनाम उत्कलदेशीय ब्राह्मणों में पाया जाता है। अतः सम्भव है कि लोकेशकर उत्कल के ही ब्राह्मण हो तथा 'श्रीविद्यानगर' भी उत्कल में ही किसी प्रख्यात नगर का अभिधान हो। तत्त्वदीपिका नाम्नी यह टीका बडी विस्तृत है तथा पदार्थों का विश्लेषण विस्तार के साथ करती है। इसमें लघुभाष्य का सकेत तथा उसके मत का खण्डन बहुश. मिलता है जिससे लघुभाष्य के लेखक रघुनाथ का समय १७ शती के पूर्वार्ध से प्राचीन ही प्रतीत होता है। लघुभाष्य सारस्वत-प्रक्रिया पर महाभाष्यानुसारी भाष्य है (वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई से प्रकाशित)। लोकेश ने अमर, रत्नमणि नामक कोषकार तथा गणरत्नमहोदधि के लेखक का मत स्थान-स्थान पर दिया है तथा अपनी समन्वय बुद्धि को भी प्रदर्शित किया है[2]। फलत चन्द्रिका के मर्म समझने के लिए यह नितान्त उपयोगी है।

(२) सदानन्द—सदानन्द की टीका का नाम **सुबोधिनी** है। इसके आरम्भ मे उन्होंने अपनी गुरु परम्परा का विशद विवरण दिया है। यह गुरु परम्परा खरतर आम्नाय के जिनभक्तिसूरि से आरम्भ होकर भक्तिविनय सूरि तक चली आती है। इन्ही भक्तिविनय के शिष्य थे ये सदानन्दगणि जो जैन धर्मावलम्बी थे। ग्रथ की पुष्पिका मे उन्होने अपने गुरु की बडी उदात्त प्रशस्ति लिखी है जहाँ रचनाकाल १७९९ वि० स० भी उल्लिखित है[3]। फलत इस सुबोधिनी का प्रणयन इस सवत् मे किया गया (=१७४३ ई०)। यह वृत्ति पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनो पर है और प्राचीनकाल के अनेक वैयाकरणो तथा कवियो के उल्लेख से मण्डित है। सदानन्द व्याकरण के बहुज्ञ विद्वान् थे। उन्होने अमर, पतञ्जलि, पराशर, हरदत्त, माघ, भट्टि, श्रीहर्ष के उल्लेख के साथ मे किसी लघुभाष्य कर्ता का भी निर्देश किया है (इति लघुभाष्यकर्तुरपि प्रयासो व्यर्थ एव)। यह निर्देश ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। विनायक के पुत्र रघुनाथ ने पातञ्जल महाभाष्य के अनुकरण पर सारस्वत सूत्रो पर इस 'लघुभाष्य'-का प्रणयन किया। सुबोधिनी मे निर्दिष्ट होने से रघुनाथ का समय इतः पूर्व होना

---

१ श्रीविद्यानगर स्थायि-लोकेशकर-शर्मणा।
कृतायामिह टीकाया पुंलिंगोऽजात् स्वरान्तकः॥ (वही पृष्ठ ११७)।

२ द्रष्टव्य 'क्रोडा' शब्द पर उनकी मीमासा, पृष्ठ २२५ (पूर्वार्ध)।

३ निधि-नन्दार्वभूवर्षे सदानन्दः सुधी मुदे।
सिद्धान्तचन्द्रिकावृत्तिं कृदन्ते चक्रवानृजुम्॥

चाहिए। यह स्वतन्त्र काल-निर्देश इन्हें भट्टोजीदीक्षित से अवान्तरकालीन तो अवश्य सिद्ध करता है, परन्तु इनके भट्टोजिके शिष्य होने की बात प्रमाण की अपेक्षा रखती है। यह टीका प्रमाणित करती है कि १८ शती में भी जैन विद्वानों की दृष्टि व्याकरण की ओर आकृष्ट थी और वे हेमचन्द्र की परम्परा का यथाविधि पालन करते थे। सिद्धान्त चन्द्रिका के ऊपर इस सुबोधिनी से अतिरिक्त दो टीकायें और भी मिलती हैं—(१) चन्द्रकीर्ति[2] द्वारा टिप्पण। तथा (२) अज्ञात नाम्नी व्याख्या। इन तीनों टीकाओं का उल्लेख प्रो० वेलणकर ने अपने का जेनरलकोष[3] में किया है। फलत जैन विद्वानों की दृष्टि सारस्वत व्याकरण पर वृत्ति लिखकर सुबोध बनाने की ओर विशेषत आकृष्ट थी—यह मानना ही पड़ता है।

चन्द्रकीर्ति की यह व्याख्या बड़ी विस्तृत तथा विशद है। लोकेशकर की वृत्ति में अव्याख्यात अर्थों की इन्होंने सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। अव्ययों के अर्थ दिखलाने में इनकी प्रौढि उपलब्ध होती है। मेरी जानकारी में चन्द्रकीर्ति की इस अव्ययवृत्ति के समान ऐसी टीका प्राय दुर्लभ है[4]। लोकेशकर की वृत्ति में यह अंश व्याख्या-विरहित ही है। 'उपगु' शब्द की उद्धव के किसी पूर्वज की संज्ञा मानने के लिए भागवत का यह अंश उद्धृत है—उद्धव प्रकृत्योपगविर्जगाम। उणादि प्रक्रिया की बड़ी ही विशद व्याख्या इसे विशेष महत्त्वशालिनी सिद्ध कर रही है।

सारस्वत प्रक्रिया के विकास की दशा इन ग्रंथों के अनुशीलन से स्पष्ट अभिव्यक्त हो रही है। आरम्भ तो हुआ सात सौ सूत्रों से ही, परन्तु उन्हें अपर्याप्त मानकर सारस्वत प्रक्रिया में उनकी संख्या १२३४ तक पहुँच गई। सारस्वत प्रक्रिया में

१. डा० वेलवेकर ने ऐसा ही उल्लेख किया है—सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर में।

२ ये चन्द्रकीर्ति कौन थे ? वे सारस्वत प्रक्रिया पर सुबोधिका या दीपिका टीका के कर्ता हैं (समय १५५० ई०) और उन्होंने ही चन्द्रिका पर भी सुबोधिनी व्याख्या लिखी—ऐसी मान्यता डा० पी० के० गोडे का है (स्टडीज भाग १ पृष्ठ १००)। यदि यह कथन यथार्थ हो, तो सिद्धान्त चन्द्रिका के लेखक रामाश्रम भट्टोजि दीक्षित (१५७५ ई०–१६२० ई०) के पुत्र रामाश्रम से भिन्न व्यक्ति ठहरते हैं, क्योंकि इनका समय १५५० ई० से पूर्ववर्ती होना चाहिये। परन्तु दोनों चन्द्रकीर्ति की अभिन्नता के लिए प्रमाण की पुष्टि आवश्यकता है।

३ भण्डारकर शोध-सन्स्थान (पूना) से प्रकाशित।

४. द्रष्टव्य—सिद्धान्तचन्द्रिका पूर्वार्धं १९६–२०५।

शब्दों के रूपों की सिद्धि सूत्रानुसार की गई है जिससे बालकों को इन रूपों के जानने में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। 'सिद्धान्त-चन्द्रिका' में सूत्रों की संख्या बढ़कर २३३७ तक पहुंच गई है। सिद्धान्त चन्द्रिका के प्रणेता रामचन्द्राश्रम के हृदय में सारस्वत तन्त्र को भी पाणिनीय तन्त्र के समान स्तर पर पहुँचाने की अभिलाषा ही इस संख्या-वृद्धि में जागरूक दृष्टिकोण होती है। इसमें विषयों का भी इतना परिबृंहण है कि इसे सारस्वत व्याकरण से पृथक् नवीन धारा में प्रवाहित होने वाला तन्त्र मान सकते हैं। इस व्याकरण की टीका सम्पत्ति पर्याप्त रूपेण विस्तृत हैं, परन्तु उसके प्रकाशित न होने के कारण विद्वानों की दृष्टि इसके अनुशीलन की ओर आज भी उतनी आकृष्ट नहीं है जितनी उसे होना चाहिये।

(८) मुग्धबोध व्याकरण

प्रसिद्ध विद्वान् बोपदेव ने संस्कृतशिक्षण की दृष्टि से अपना एक स्वतन्त्र व्याकरण ही लिखा जिसका नाम है मुग्धबोध। बोपदेव के पिता का नाम केशव था जो आयुर्वेद के मर्मज्ञ विद्वान् थे तथा जिन्होंने सिद्धमन्त्र नामक वैद्यक ग्रंथ का प्रणयन किया। बोपदेव ने अपने पिता के इस सिद्धमन्त्र के ऊपर प्रकाशिका नाम्नी व्याख्या लिखी। केशव देवगिरि के यादववंशीय नरेश सिंघण (या सिंहराज—शासनकाल १२१० ई०-१२४७ ई०) के सभापण्डित थे। यादव-नरेश महादेव (१२६० ई०-१२७१ ई०) तथा रामचन्द्र (-१२७१ ई०—१३०९ ई०) के धर्माध्यक्ष हेमाद्रि (जिनका लोक प्रचलित नाम हेमाड पन्त था) के आश्रय में रहकर बोपदेव ने नाना शास्त्र-सम्बन्धी ग्रंथों का निर्माण किया। फलतः बोपदेव का समय १३वीं शती का उत्तरार्ध है।

बोपदेव ने 'मुग्धबोध' नामक व्याकरण का प्रणयन किया। इन्होंने कविकल्पद्रुम नाम से पद्यबद्ध धातुपाठ की रचना की तथा उसके ऊपर कविकामधेनु नामक स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी। यह व्याकरण बड़ा ही लोकप्रिय हुआ विशेषतः बंगाल में, जहाँ इसका पठन पाठन आज भी खूब है। इसकी लोकप्रियता का पता इसकी विपुल टीकासम्पत्ति से लगता है। इसके परिशिष्टों तथा व्याख्या की रचना नन्दकिशोर भट्ट ने १३२० शक सं० (=१३९८ ईस्वी) में की। परन्तु दुर्गादास विद्यावागीश की टीका विशेष प्रसिद्ध है। दुर्गादास के पिता का नाम वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य है जो बहुत सम्भव है चैतन्यदेव के (१४८६ ई०-१५३३ ई०) समकालीन वासुदेव सार्वभौम से भिन्न नहीं हैं। दुर्गादास का समय १६ शती का उत्तरार्ध होना चाहिये[१]।

---

१. अन्य टीकाकारों के लिए द्रष्टव्य—डा० बेलवेलकर का 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर।'

(९) क्रमदीश्वर अथवा जौमर व्याकरण

क्रमदीश्वर नामक वैयाकरण ने बालबोध के निमित्त संक्षिप्तसार नामक एक व्याकरण रचा जिसके मुख्य भाग में तो संस्कृतभाषा का व्याकरण है और अन्तिम परिच्छेद में प्राकृत का भी व्याकरण है। फलत. क्रमदीश्वर ने हेमचन्द्र को व्याकरण लिखने में आदर्श माना। जैसे नाम से पता चलता है यह पाणिनीय व्याकरण का ही संक्षेप प्रस्तुत करता है। इन्होंने सात पदों में पाणिनीय की ही सामग्री का नये ढंग से व्यवस्थापन किया। क्रमदीश्वर ने अपने व्याकरण ग्रंथ पर स्वोपज्ञवृत्ति का भी निर्माण किया जो रसवती नाम से प्रख्यात है। इनका समय १२५० ई० के आसपास है।

जुमरनन्दी ने रसवती का शोधन किया। इस व्याकरण के परिष्कार के लिए जुमरनन्दी का प्रयास इतना श्लाघनीय माना जाता है कि यह व्याकरण सम्प्रदाय ही उन्हीं के नाम से जौमर के अभिधान से विश्रुत हो गया। रसवती की पुष्पिका बतलाती है कि जुमरनन्दी महाराजाधिराज थे, परन्तु कब तथा कहाँ? इस प्रश्न का उत्तर उपलब्ध नहीं है।

गोयीचन्द्र (समय १४५० ई० लगभग)—इस व्याकरण-सम्प्रदाय के मुख्य टीकाकार तथा परिशिष्टकार हैं। इन्होंने सूत्रपाठ, उणादि तथा परिभाषा पाठ पर व्याख्यायें लिखी हैं। इनकी सूत्रपाठ की वृत्ति नितान्त प्रख्यात है और उनका उल्लेख मान्य वैयाकरणों ने किया है।

पीताम्बर शर्मा (समय १५०० ई०–१५२५ ई० लगभग) ने 'सारसग्रह' नामक ग्रंथ लिखा था जिसमें क्रमदीश्वर के व्याकरण का सार बालकों के आरम्भिक शिक्षण के लिए उपन्यस्त किया गया। पीताम्बर अपने युग के प्रख्यात वैयाकरण थे, क्योंकि इनके मत का उल्लेख भट्टघनेश्वर ने अपने टीकाग्रंथ-सारस्वत-प्रदीप—में किया है। इस ग्रंथ का हस्तलेख इण्डिया आफिस लाइब्रेरी के सूचीपत्र में वर्णित है।

इसके अतिरिक्त डा० बेलवेलकर ने इन ग्रन्थकारों को गोपीचन्द्र की व्याख्या पर टीकाकर्ता बतलाया है—

न्याय पञ्चानन, तारक पञ्चानन, चन्द्रशेखर विद्यालंकार, वंशीवादन, हरिराम तथा गोपाल चक्रवर्ती (कोलब्रूक के द्वारा उल्लिखित होने से इनका समय १९ शती का प्रथम चरण होना चाहिए) यह व्याकरण आजकल बंगाल में ही पढ़ा-पढ़ाया जाता है। प्राचीनकाल में इसकी स्थिति क्या थी? कहा नहीं जा सकता।

(१०) सुपद्म व्याकरण

पद्मनाभदत्त ने 'सुपद्म' नामक संक्षिप्त व्याकरण का प्रणयन किया। ये मैथिल ब्राह्मण थे। ये उणादि-पाठ की वृत्ति में अपना 'गुरुनाम' तथा अपने पिता का

नाम दामोदरदत्त देते हैं। व्याकरण का नाम ग्रंथकार के नाम्ना अभिधीयमान सुपद्म ही है। इनका समय १४ शती का अन्तिम चरण है। इन्होंने पाणिनि-प्रक्रिया को पुन व्यवस्थित तथा पुनर्वर्गीकृत किया है। इन्होंने पाणिनीय पारिभाषिक शब्दों तथा तत्सम्बद्ध अन्य नामों का भूरिश प्रयोग किया है। इन्होंने परिभाषावृत्ति के अन्त में स्वरचित ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिससे इनका व्याकरण तथा काव्यकला में निष्णात होना सिद्ध होता है। इनके व्याकरण-सम्बन्धी ग्रंथ ये हैं--(१) सुपद्म पञ्जिका (यह इनकी व्याकरणपर स्वोपज्ञ वृत्ति है) (२) प्रयोगदीपिका (३) धातु कौमुदी, (४) उणादिवृत्ति, (५) परिभाषावृत्ति, (६) यङ्लुगवृत्ति। इतर ग्रन्थों का नाम यह है-(७) भूरि प्रयोग कोश, (८) आचार चन्द्रिका (धर्मशास्त्र), (९) छन्दोरत्न (छन्द शास्त्र), (१०) आनन्दलहरी (माघ काव्य की टीका) तथा (११) गोपाल चरित (काव्य)। ये परम वैष्णव थे। उणादिवृत्ति के आरम्भ में गोपीजन वल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण को इन्होंने प्रणाम किया है जिससे इनकी वैष्णवता स्पष्टतया अनुमेय है।

इस सम्प्रदाय के कतिपय ग्रथकारों का भी परिचय मिलता है। विष्णुमिश्र, श्रीधरचक्रवर्ती, रामचन्द्र तथा काशीश्वर सूत्रपाठ के टीकाकार है जिनमें विष्णुमिश्र की सुपद्ममकरन्द नाम्नी टीका सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। रामनाथ सिद्धान्त ने सुपद्म की परिभाषावृत्ति पर अपनी टीका लिखी थी। अनेक ग्रंथ अभी तक हस्तलेख रूप में ही उपलब्ध हैं, अभी प्रकाशित होने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त नहीं है। इस सम्प्रदाय का प्रचलन बंगाल के ही किन्हीं भागों में सीमित है। फलत प्रान्तीय प्रख्याति से अधिक इस सम्प्रदाय की प्रसिद्धि नहीं हो सकी।

गौडीय वैष्णवों तथा शैवों ने स्वसम्प्रदायानुसारी व्याकरण ग्रंथों की रचना की। इनमें रूपगोस्वामी (१६ शती) ने हरिलीलामृत व्याकरण का निर्माण किया जिसमें समग्र पारिभाषिक शब्दावली कृष्णमत से सम्बद्ध है। जैसे 'स्वर' के लिए कृष्ण नाम का प्रयोग यहाँ किया गया है। प्रवोधप्रकाश (१५ शती) नामक वैयाकरण ने अपने व्याकरण ग्रन्थ में शैवधर्म से सम्बद्ध नामावली का प्रयोग किया। इस प्रकार धार्मिक परिवेश में संस्कृत के शिक्षण का यह समुद्योग अपनी शैली में नितरा अनुपम है।

---

१. बुधैरणादेर्बहुधा कृतोऽस्ति यो
मनीषि-दामोदरदत्त-सूनुना।
सुपद्मनाभेन सुपद्मसम्मत
विधि. समग्र. सुगमं समस्यते॥

ऊपर हमने भोज व्याकरण के नाम से एक नवीन व्याकरण-सम्प्रदाय की चर्चा की है, वस्तुत. उस व्याकरण का ग्रंथ का नाम 'सरस्वतीकण्ठाभरण' है। परन्तु भोज-व्याकरण के नाम से भी संस्कृत का एक नवीन व्याकरण ग्रंथ लिखा गया था। लेखक का नाम है विनयसागर उपाध्याय जो अंचलगच्छाधिराज कल्याणसागर सूरीश्वर के शिष्य थे। विनयसागर ने अपने आश्रयदाता, सौराष्ट्र की राजधानी भुजनगर (भुज) के स्वामी, भारमल्ल के पुत्र, राजा भोज की तुष्टि के लिए इसे लिखा था। भोजराज की आज्ञा से ही नवीन व्याकरण लिखा गया था[1]। यह राजा सौराष्ट्र पर १६३१ ई० से १६४५ ई० तक शासन करता था और इसी काल के बीच 'भोज-व्याकरण' का निर्माण किया गया। भोजराज विद्वानों के आश्रयदाता थे और इन्हीं के परामर्श से अनेक विद्वानों की मण्डली ने धर्मप्रदीप नामक धर्मशास्त्रीय ग्रंथ की रचना की थी। यह एक मान्य निबन्ध ग्रंथ है। भोज-व्याकरण की विशिष्टता का सकेत विनयसागर उपाध्याय ने नीचे के पद्य में किया है। इन्होंने जहाँगीर के शासन-काल में १६११ ई० में एक हस्तलेख की प्रतिलिपि की थी।

सकल-समीहित तरण
हरण दु खस्य कोविदाभरणम्।
श्री भोज-व्याकरण
पठन्तु तस्मात् प्रयत्नेन ॥

---

१. श्री भारमल्लतनयो भुवि भोजराजो
राज्य प्रशास्ति रिपुवर्जितमिन्द्रवन्द्य ।
तस्याज्ञया विनयसागर-पाठकेन
सत्यप्रबन्धरचिता सुकृतीयवृत्ति ।।
—ग्रंथ के हस्तलेख का अन्तिम पद्य।

सप्तम खण्ड

पालि तथा प्राकृत व्याकरण

(क) पालि-व्याकरण के सम्प्रदाय

यह असम्भव था कि संस्कृत भाषा की विपुल वैयाकरण चिन्ता का प्रभाव पालिभाषा को अछूता रख सके। फलतः संस्कृत-व्याकरणों के द्वारा प्रभावित तथा वही स्फूर्ति ग्रहण कर पालिभाषा के लिए भी व्याकरण ग्रन्थों का निर्माण प्राचीनकाल में ही होने लगा। उद्देश्य था तथागत के वचनों का यथार्थ तात्पर्य हृदयगम करना और व्याकरण के साहाय्य के अभाव में यह सम्भव न था। पालि के व्याकरण ने भी 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' को अपने लिए भी मुख्य तात्पर्य स्वीकार किया। पालि व्याकरणों की विशेषता बड़े महत्त्व की है कि वहाँ व्याकरण के पाँच सम्प्रदाय थे—(१) बोधिसत्त व्याकरण, (२) कच्चायन व्याकरण, (३) सब्बगुणाकर व्याकरण, (४) मोग्गलायन व्याकरण तथा (५) सद्दनीति व्याकरण। मेरी दृष्टि में यह क्रमिक विन्यास ऐतिहासिक क्रम को लक्ष्य कर प्रस्तुत किया गया है। इनमें प्रथम तथा तृतीय सम्प्रदाय तो सर्वदा के लिए लुप्त हो गये हैं। अवशिष्ट तीन सम्प्रदाय भारत, सिंहल तथा वर्मा में क्रमशः अद्भूत तथा पल्लवित हुए हैं। इनमें प्राचीनता तथा ग्रन्थसम्पत्ति की दृष्टि से कच्चायन व्याकरण ही सर्वाधिक महत्त्वशाली है।

कच्चायन-व्यक्तित्व

कच्चायन (संस्कृत कात्यायन) का व्यक्तित्व घुँघले अतीत को पार कर आज तक विशद आलोक में नहीं आया। कच्चायन नामधारी अनेक आचार्यों का परिचय पालि-साहित्य में मिलता है। प्राचीन परम्परा बुद्ध के मुख्य शिष्यों में से अन्यतम महाकच्चायन थेर को ही इस व्याकरण के रचयिता के रूप में मानती आती है। ये विद्वानों के बड़े व्याख्याता तथा उत्तम वैयाकरण के रूप में नितान्त प्रसिद्ध हैं। फलतः नाम की समता के द्वारा भी पुष्ट होकर महाकच्चायन ही इस व्याकरण के मूल निर्माता माने जाते हैं। परन्तु इस परम्परा के पोषक प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। बुद्धघोष ने 'मनोरथपूरणी' में कच्चायन का पूर्ववृत्तान्त विस्तरशः वर्णित किया है, परन्तु व्याकरण ग्रंथ के लेखक का कहीं उल्लेख नहीं है। यदि महान् कच्चायन के द्वारा इसे निर्मित होने का तथ्य यथार्थ होता, तो यहाँ उल्लेख अवश्यम्भावी था। अट्ठकथा

(पालि त्रिपिटक की टीका) में व्याकरण सम्बद्ध प्रसगो की न्यूनता नहीं है जिनमें इन शास्त्र के अनेक पारिभाषिक शब्दो का विधिवत् निर्देश है। सन्धि, व्यञ्जन, आमेण्डित (आम्रेडित), उपसग्ग, निपात आदि अनेक पारिभाषिक संज्ञायें अट्ठकथाओं में उपलब्ध होती हैं, परन्तु उनका संकेत इस व्याकरण की ओर न होकर किसी इतर व्याकरण सम्प्रदाय की ओर है। पाणिनि सम्मत अनेक तथ्यों की उपलब्धि यहाँ बहुश होती है। बुद्धघोष के द्वारा प्रदर्शित 'इन्द्रिय' शब्द की व्युत्पत्ति अष्टाध्यायी (५।२।९३) को स्पष्ट लक्षित करती है।[1] अन्यत्र 'भगवा' शब्द की व्युत्पत्ति 'भगवा' से बतला कर 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० ६।३।१०९) पाणिनि सूत्र को स्पष्ट उद्धृत किया गया है। फलत अट्ठकथा का निर्देश कच्चायन व्याकरण की ओर कथमपि नहीं माना जा सकता। इसलिए व्याकरण के लेखक का व्यक्तिगत सम्बन्ध महा कच्चायन थेर के साथ स्थापित करना कथमपि न्याय्य तथा सुसगत नहीं है। न तो ये पाणिनि-सम्प्रदाय के वार्तिककार वररुचि कात्यायन के साथ भी तादात्म्य रखते हैं। काल की भिन्नता इसमें प्रधान बाधिका है। वार्तिककार का समय विक्रमपूर्व तृतीय शतक है। इस तादात्म्य को मानने पर अट्ठकथा की स्थिति अन्याख्यात ही रह जाती है। फलत इन दोनो पश्चात आचार्यों से कच्चायन का व्यक्तित्व कथमपि साम्य अथवा तादात्म्य धारण नही कर सकता।

कच्चायन व्याकरण

पालि का सर्व प्राचीन यह व्याकरण सूत्रबद्ध है इसके सूत्रो की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। 'न्यास' में सूत्रो की संख्या ७१० बतायी गई है। परन्तु कच्चायन व्याकरण की सभी प्रमाणिक संस्करणो में सूत्रो की संख्या ६७५ दी गई है। 'न्यास' की सूत्रसंख्या सूत्रो के योगविभाग से तथा वार्तिको के योग से निष्पन्न मानी जा सकती है। इस व्याकरण के दो नाम और मिलते हैं—(१) कच्चायनगन्ध और (२) सुसन्धिकप्प। इस द्वितीय नाम का पुष्टि ग्रंथ के आरम्भिक श्लोक से भी होती है—"वक्खामि सुत्तहितमेत्थ सुसन्धिकप्पम्"। इसके तीन अवयव हैं—सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण जिनकी रचना के विषय में प्राचीन परम्परा यों बोलती है—

कच्चानेन कतो योगो, वुत्ति च सङ्घनन्दिनो।
पयोगो ब्रह्मदत्तेन, न्यासो विमलबुद्धिना॥

१-२. द्रष्टव्य—कच्चायन व्याकरण की भूमिका, पृ० ५३, (काशी संस्करण सन् १९६२)।

फलत कच्चायन-रचित सूत्र, (योग), सघनन्दि की वृत्ति तथा ब्रह्मदत्त-निर्मित उदाहरणो से सम्पन्न इस व्याकरण ग्रथ पर कालान्तर में विमलबुद्धि ने 'न्यास' नामक भाष्य लिखा।

इस व्याकरण के चार भाग हैं और प्रतिभाग मे अनेक काण्ड हैं। सन्धिकप्पो, *नामकप्पो, आख्यात कप्पो, किब्बिधान कप्पो*—इन चार भागो मे काण्ड हैं क्रमशः पाँच, ब ठ, चार तथा छ। इस प्रकार २३ काण्डो मे विभक्त यह ग्रथ पालि के समग्र व्याकरण को एकत्र प्रस्तुत करने मे समर्थ है। नामकप्पो मे कारक, समास और तद्धित का विवरण एक-एक काण्ड मे क्रमश है। अन्तिम खण्ड मे कृत् प्रत्ययो का विशेष विधान उपलब्ध है। 'धातु मजूषा' जिसमे पालि के धातुओ का गणानुसारी वर्गीकरण तथा सकलन है इसका सहायक ग्रन्थ है। सस्कृत का कौन व्याकरण सम्प्रदाय इसका प्रेरक है ? इन प्रश्न के उत्तर मे विद्वानो मे मतैक्य नही है। कुछ विद्वान् पाणिनि का ही इस पर विशेष भाव मानते हैं, परन्तु कतिपय सूत्रो को प्रभावित करने के अतिरिक्त पाणिनि का महत्त्व यहाँ अधिक नही है। कातन्त्र व्याकरण का सार्वभौम प्रभाव यहाँ नि सन्देह अधिकतर तथा व्यापक है। यह प्रभाव दो प्रकार से दृष्टिगोचर होता है—प्रकरणो के निर्माण मे तथा सूत्रो के स्वरूप मे। कातन्त्र व्याकरण के चार प्रकरणो के आधार पर ही यहाँ प्रकरण-चतुष्टय का तद्वत् विषयानुसारी सन्निवेश है। सूत्रो का साम्य तो और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। कातन्त्र-व्याकरण के सैंकडो सूत्रो की छाया लेकर कात्यायन ने अपने पालिसूत्रो का प्रणयन किया है[1]। दो दृष्टान्त पर्याप्त होगे। कच्चायन ने 'रक्खणत्यानमिच्छित' (सूत्र सख्या २७५) सूत्र द्वारा अपादान का तथा 'कालभावेसु च' (सूत्र सख्या ३१५) सूत्र के द्वारा सप्तमी का विधान किया है। ये सूत्र क्रमश कातन्त्र के 'इप्सित च रक्षार्थानाम्' (२।४।९) तथा 'कालभावयो. सप्तमी' (२।४।३४) सूत्रो के अक्षरशः अनुवाद हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी मे सस्कृत व्याकरण का शास्त्रीय विवेचन है, कातन्त्र मे व्यावहारिक संस्कृत का ही विवरण है। फलतः कच्चायन ने व्यवहारानुकूल कातन्त्र को ही अपना आदर्श मान कर उसका ही आश्रयण किया है।

काल—इस व्याकरण का रचनाकाल अनुमानत. सा य है। बुद्धघोष, बुद्धदत्त तथा धर्मपाल के द्वारा अट्ठकथाओ मे उल्लेखाभाव से यह षष्ठ शतक के पूर्ववर्ती कथमपि नही हो सकता। इस व्याकरण के ऊपर कालान्तर मे निर्मित भाष्यरूप न्यास की व्याख्या न्यासप्रदीप मे की गई है जिसे वर्मा के प्रख्यात भिक्षु 'छपद' ने १२वीं

---

१ विशेष द्रष्टव्य कच्चायन व्याकरण (पृ० ४४३–४४७) काशी सस्करण १९६२ ।

शती के अन्त मे निबद्ध की थी। फलत 'न्यास' का समय दशमशती मानना उचित है। अतएव बुद्धघोष तथा न्यास के मध्यवर्ती काल मे इसकी रचना सम्पन्न हुई थी—लगभग सप्तम शती मे। काशिका वृत्ति के द्वारा प्रभावित होने पर भी समय के निरूपण मे कथमपि विप्रपत्ति दृष्टिगोचर नही होती, क्योकि काशिका की रचना का काल षष्ठशती का प्रारम्भ ऊपर निश्चित किया गया है।

कच्चायन सम्प्रदाय के ग्रन्थ

संस्कृत व्याकरण की टीका-प्रटीका वाली शैली पालि-साहित्य मे भी विद्यमान है। इस सम्प्रदाय मे विपुल ग्रन्थो का निर्माण हुआ जिनमे मौलिक ग्रंथो की अपेक्षा व्याख्या-ग्रंथो का ही बाहुल्य है। प्रसिद्ध ग्रंथो का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

(क) कच्चायन न्यास—इसके प्रणेता विमलबुद्धि के देशकाल का इदमित्थ निर्देश उपलब्ध नही है। कुछ विद्वान् इन्हे सिंघली मानते हैं, तो अन्य बर्मी। इसकी न्यासप्रदीप नाम्नी व्याख्या बर्मी भिक्षु छपद ने १२वी शती के अन्त मे लिखी। फलत. विमलबुद्धि का समय सप्तम तथा एकादश शतियो के मध्य मे कभी मानना चाहिए। यह बडी ही प्रामाणिक प्रमेयबहुल तथा मर्मोदघाटिनी व्याख्या मानी जाती है। सूत्रो का रहस्य विस्तार से यहाँ विवृत तथा विवेचित है।

(ख) सुत्तनिद्देस—मूल सूत्रो की टीका। लेखक वही बर्मी भिक्षु छपद। रचना का काल ११८१ ई० निश्चित है।

(ग) रूपसिद्धि—इसको हम कच्चायन व्याकरण सम्प्रदाय की 'सिद्धान्त-कौमुदी' कह सकते हैं, क्योकि यहा कच्चायन सूत्रो का भिन्नक्रम से प्रक्रियानुसारी संकलन है। इसके लेखक हैं बुद्धप्पिय-दीपकर जो चोल देश के निवासी होने के कारण (चोलिय दीपकर' नाम्ना प्रख्यात हैं। इसकी महत्ता दिखलाने के लिए 'महारूपसिद्धि' नाम से भी यह पुकारा जाता है। भाषा तथा शैली की दृष्टि से यह अति गम्भीर और पूर्ण विकसित व्याकरण ग्रन्थ है। समय है १३ शती का अन्तिम भाग।

(घ) बालावतार—कच्चायन का लघु संक्षिप्त रूप। इसे सम्प्रदाय की 'लघु-कौमुदी' कहना नितान्त उपयुक्त है। लेखक हैं धम्मकित्ति तथा समय है १४ शती।

(ङ) कच्चायन वण्णना—कात्यायन सूत्रो की प्रौढ़ टीका। शैली भाष्य के समान है। सूत्रो पर सन्देह उठाकर प्रथमत पूर्वपक्ष की प्रस्तावना है। तदनन्तर उसका विस्तृत समाधान है। बर्मा के प्रख्यात भिक्षु महाविजितावी ने १७वीं शती के आरम्भ में इसका प्रणयन किया। सूत्रों के मर्म समझने के लिए यह नितान्त उपयोगी है।

(च) धातु-मंजूषा—इसके रचयिता सीलवस ने पालि की धातुओं का पद्यबद्ध संकलन किया है जो आख्यातों का स्वरूप-निर्देशक होने से विशेष उपयोग रखता है।

इस व्याकरण में बहुत सी एकाक्षरी पारिभाषिक संज्ञायें निर्दिष्ट हैं जिनके आधार खोजने की आवश्यकता है। यथा सम्बोधन के अर्थ में सि (प्रथमा) विभक्ति की 'ग' संज्ञा होती है (सू० ५८), इवर्ण तथा उवर्ण की क्रमशः झ और ल संज्ञायें होती हैं (५७), इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों को प संज्ञा होती है (सू० ५९) आदि-आदि। इस प्रकार पारिभाषिक संज्ञाओं की कल्पना से लघ्वक्षर सूत्रों के स्वरूप की पूर्ण रक्षा हो जाती है और इसीलिए ये मान्य हैं। इस सम्प्रदाय के अन्य ग्रंथों की भी सत्ता इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है।

(छ) सम्बन्ध चिन्ता—पदों के पुञ्ज को वाक्य कहते हैं जिनमें आने वाले पदों का पारस्परिक सम्बन्ध रहता है क्रिया-कारक के इन सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से यह ग्रंथ लिखा गया। इसके रचयिता हैं संघरक्षित थेर। इसका रचना काल सुत्तनिद्देस के समय में अर्थात् १२ वीं शती के उत्तरार्ध के आसपास माना जाता है। इस गद्य-पद्यमय ग्रंथ में गद्यभाग ही पद्यभाग की अपेक्षा अधिक है।

(ज) कारिका—धम्म सेनापति ने बरमा के राजा अनोरथ के पुत्र के शासन-काल में 'कारिका' नामक इस व्याकरणग्रंथ का निर्माण किया। रचना का समय ११ वीं शती है। इन कारिकाओं का आधार कच्चायन का व्याकरण है। कारिकाओं की संख्या ५६८ है। ग्रंथ के आरम्भ में लेखक ने व्याकरण से सम्बद्ध अनेक ज्ञातव्य विषयों का भी संकलन किया है जैसे शब्द विनिश्चय, शब्दानुशासन विनिश्चय आदि। लेखक ने इसके ऊपर स्वोपज्ञ टीका भी लिखी है।

(झ) सद्दत्थभेदचिन्ता—(= शब्दार्थभेदचिन्ता)। ग्रन्थ के लेखक हैं बरमा के थेर सद्धम्मसिरि जो १२ शताब्दी के अन्तिम चरण मे वर्तमान माने जाते हैं। ग्रन्थ का मुख्य विषय है शब्द, अर्थ तथा उनके परस्पर सम्बन्ध का विवेचन। इस प्रकार यह ग्रन्थ 'सम्बन्धचिन्ता' का पूरक ग्रन्थ माना जा सकता है। दोनों का रचनाकाल भी प्राय समसामयिक है।

इससे लगभग दो शताब्दी पीछे लिखा गया ग्रंथ (ट) सद्द-सारत्थ-जालिनी विषय की दृष्टि से और भी प्रौढ़ तथा विशद विवरण प्रस्तुत करता है। ५१६ कारिकाओं में निर्मित इस ग्रन्थ में व्याकरण के तात्त्विक विषयों के विवेचन के संग में शब्द, अर्थ, सन्धि, तद्धित, आख्यात आदि जैसे पारिभाषिक शब्दों का भी विवरण उपलब्ध होता है। फलत पालि व्याकरण की समग्रता की दृष्टि से यह निःसन्देह महत्त्वशाली है। रचयिता है भदन्त 'नागित' थेर तथा रचना का काल है १४ शती। इसी युग के (ट) कच्चायन भेद की ख्याति कम नहीं है। बरमा के भिक्षु महायस की यह रचना

आधारित है कच्चायन के व्याकरण पर ही, परन्तु सूत्रबद्ध न होकर कारिकाबद्ध है। १७८ कारिकाओं मे निबद्ध इस ग्रन्थ पर सारत्थ विकासिनी तथा कच्चायनभेद-महाटीका नाम्नी टीकायें अत्यन्त विश्रुत हैं। इतना ही नहीं, महायस ने ही कच्चायन के सार-सङ्कलन निमित्त (?) कच्चायनसार नामक नवीन ग्रन्थ का प्रणयन किया। कारिकाओं की सख्या केवल बहत्तर ७२ ही है, परन्तु इतने ही मे कच्चायन के विषयों का सार प्रस्तुत कर दिया गया है। इसमे बालावतार, रूपसिद्धि, तथा सम्बन्ध-चिन्ता आदि ग्रन्थों से उद्धरण वर्तमान हैं। ग्रन्थकार ने इसे स्वोपज्ञ टीका से भी विभूषित किया जो आजकल उपलब्ध 'कच्चायनसार-पोराणटीका' से अभिन्न मानी जाती है (डा० गाइगर के मत से) इस पर एक दूसरी व्याख्या भी है 'सम्मोह-विनाशिनी' नाम्नी भिक्षु सद्धम्मविलास की रचना, जिससे ग्रन्थ की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि थाटोन (बरमा) के निवासी महायस का पालि व्याकरण को लोकप्रिय बनाने मे विशेष हाथ रहा है।

इनके अतिरिक्त छोटे-मोटे ग्रन्थों की भी उपलब्धि होती है। जैसे बरमा के किसी राजा द्वारा रचित सद्दबिन्दु (२० कारिकाओं मे), महाविजितावी रचित वाचकोपदेश (गद्यपद्य मिश्रित ग्रंथ) तथा सिरि सद्धम्मालङ्कारकृत 'अभिनवचूल निरुत्ति' (कच्चायन सूत्रों के अपवाद का विवरण)। परन्तु कच्चायनवण्णना की प्रौढता तथा विशदता का दर्शन कम ही ग्रंथों मे होता है। शैली इसकी भाष्यानुसारिणी है जिसमे पूर्वपक्ष का विन्यास तथा समाधान देकर सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन है। लेखक की जागरूकता तथा वैदुषी की यह पहिचान है कि वह स्वसम्प्रदायी 'न्यास' तथा 'रूपसिद्धि' के मतों पर ही विमर्श नहीं करता, प्रत्युत परसम्प्रदायी 'सद्दनीति' के सिद्धान्तों की भी आलोचना करता है। ग्रंथ के आरम्भ मे कच्चायन व्याकरण की उत्पत्ति तथा ग्रन्थ के प्रणेता कच्चायन पर भी विवेचना कर लेखक ने अपने व्यापक दृष्टि का प्रमाण उपस्थित किया है।

(२) मोग्गलान व्याकरण

पालि के प्रौढ व्याकरण सम्प्रदाय के प्रवर्तक होने की दृष्टि से मोग्गलान पालि-साहित्य के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ये सिंहल के राजा पराक्रम बाहु (११५३ ई०–११८६ ई०) के राज्यकाल में विद्यमान थे। मोग्गलान महाथेर अपने समय के सघराज थे। ये लङ्का के प्रख्यात नगर अनुराधपुर के थूपाराम विहार मे रहते थे और सम्भवत यह व्याकरण वहीं लिखा गया होगा—यह अनुमान करना स्वाभाविक है। यह व्याकरण सूत्रों मे निबद्ध है और सूत्रों की सख्या ८१७ है। यह पूर्ण पञ्चाङ्ग व्याकरण है अर्थात् सूत्रों के अतिरिक्त, धातुपाठ, गणपाठ, उणादि

(उणादि पाठ) तथा नामलिङ्गानुशासन भी उपलब्ध होता है। इस समग्रता का उल्लेख ग्रन्थ के अन्त मे लेखक द्वारा किया गया है—

सुत्त धातु गणो ण्वादि नामलिङ्गानुसासन,
यस्स तिट्ठति जिह्वग्गे सो व्याकरणकेशरी।

सूत्रपाठ ६ काण्डो मे विभक्त है—सञ्ज्ञादिकण्डो, स्यादिकण्डो, समासकण्डो, णादिकण्डो, खादिकण्डो तथा त्यादिकण्डो। केवल ८१७ सूत्रो के द्वारा पालिभाषा का विशद् व्याकरण प्रस्तुत करना सचमुच ही श्लाघनीय व्यापार है। धातुओ की सख्या साढे पाँच सौ के लगभग है। व नवगणो मे विभक्त हैं, परन्तु इन गणो का क्रम पाणिनीय पद्धति से भिन्न तथा पृथक है। यहा स्वीकृत नवगणों के नाम हैं— (१) भ्वादि (२) रुधादि, (३) दिवादि, (४) तुदादि, (५) ज्यादि, (६) क्यादि, (७) स्वादि, (८) तनादि तथा (९) चुरादि। पाणिनीय क्रम से कुछ भिन्नता यहाँ रखी गई है। गणपाठ तथा उणादि पाठो की सत्ता इस व्याकरण के वैशद्य का सूचक है[1]।

ग्रन्थ सम्पत्ति

(१) मोग्गलान ने सूत्रो क ऊपर स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी और इस वृत्ति पर अपनी पचिका (व्याख्या) भी[2]। वृत्ति तो पहिले ही उपलब्ध थी, परन्तु 'पञ्चिका' का उद्धार सिंहल के धर्मानन्द महास्थविर ने अभी हाल मे ही किया है। ताडपत्र पर लिखी एक ही हस्तलिखित प्रति के आधार पर अश्रान्त परिश्रम कर उन्होने इस महनीय ग्रन्थ का वैज्ञानिक तथा विशद सस्करण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार मूल लेखक के

---

१ इन पाँचो अगो के लिए द्रष्टव्य जगदीश काश्यप रचित पालि-महाव्याकरण (द्वितीय स०, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६३) यह महाव्याकरण मोग्गलान के सूत्रो को लेकर निर्मित है। फलत मोग्गलान के ज्ञान के लिए विशेष उपयोगी है।

२ वृत्ति तथा पजिका के भीतर विद्यमान पार्थक्य को राजशेखर ने काव्यमीमासा मे दिखलाया है। सूत्राणा सकलसार-विवरणवृत्ति । विषमपदभञ्जिका पञ्जिका (द्वितीय अध्याय) वृत्ति मे सूत्रा के सार-सकलन पर आग्रह होता है और पञ्जिका मे विषम पदो को तोडकर अलग कर देने पर निष्ठा होती है। वृत्ति अर्थ के प्रकाशन की ओर प्रवृत्त होती है, तो पञ्जिका विषम पदों के अर्थ प्रतिपादन के लिए अग्रसर होती है। फलत पञ्जिका आकार मे विपुल तथा अर्थ-विवरण मे गम्भीर होती है।

द्वारा ही स्वोपज्ञ वृत्ति तथा पञ्जिका के निर्माण के कारण यह व्याकरण इतना पुष्ट तथा पूर्ण है। मोग्गलान ने पाणिनि तथा कातन्त्र के अतिरिक्त चन्द्रगोमी से भी पर्याप्त सहायता ली है जिससे ग्रन्थ में इतनी प्रौढि आ गई है।

(२) पद-साधन—मोग्गलान के ही शिष्य पियदस्सी (प्रियदर्शी) ने इसकी रचना की है जो कच्चायन-मतानुसारी 'बालावतार' की भाँति मोग्गलान व्याकरण का सक्षेप है।

(३) प्रयोगसिद्धि—प्रयोगों को ध्यान में रखकर वनरतन महाथेर ने इसका निर्माण किया कच्चायन सम्प्रदायी रूपसिद्धि के समान ही। समय १३ शती के लगभग।

(४) पञ्जिका-प्रदीप—यह ग्रन्थ मोग्गलान की 'पञ्जिका' की ही सिंहलीभाषा में अत्यन्त प्रौढ तथा पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है। 'पञ्जिका' के प्रकाशन से पूर्व यही ग्रन्थरत्न शास्त्रीय विवरणों का प्रतिपादन एकमात्र ग्रन्थ था। आज पञ्जिका प्रकाशित है, तथापि इस प्रदीप का महत्त्व कथमपि न्यून नहीं है। प्रदीप के रचयिता राहुल 'वाचिस्सर' (वागीश्वर) की उपाधि से मण्डित किये गये हैं। वे 'षड्भाषा-परमेश्वर' की उदात्त पदवी से भी सम्मानित हैं। फलतः उनका यह सिंहली ग्रन्थ नितान्त प्रौढ, गम्भीर तथा व्याकरणतत्त्वों का विशिष्ट प्रतिपादक है। प्रदीप का रचनाकाल १४५७ ई० माना जाता है। इन्होंने बुद्धिप्पसादनी टीका भी निर्मित की थी।

इनके अतिरिक्त पालि-व्याकरण से सम्बद्ध महनीय ग्रन्थों का नाम इस प्रकार है—सघराज श्री सारिपुत्र रचित 'पदावतार', सघराज सघरक्खित महाथेर कृत सुसद्दसिद्धि; सम्बन्ध चिन्ता, तथा सारत्थविलासिनी। यह ग्रन्थसम्पत्ति पालि व्याकरण के महत्त्व की पर्याप्त परिचायिका है।

(३) सद्दनीति व्याकरण

सद्दनीति व्याकरण को हम पालिभाषा का तृतीय तथा सर्वापेक्षया परिबृंहित सम्प्रदाय मानते हैं। इस ग्रन्थ की रचना मोग्गल्लान व्याकरण के समकालीन है। यह बर्मा के बौद्ध पाण्डित्य का अप्रतिम निदर्शन है। बर्मी भिक्षु अग्गवंस ने ११५४ ई० में इसका निर्माण किया। ये बर्मा के प्रभावशाली राजा 'नरपति सिथु' के गुरु थे। अग्गवंस बर्मा के ही मूल निवासी थे। इस व्याकरण की रचना कर उन्होंने एक नये सम्प्रदाय को अवतरणा की जो आज भी बर्मी पाण्डित्य का निरूपक बना है। आधारित है यह कच्चायन पर ही, परन्तु अपने वैशद्य तथा विस्तार के कारण यह 'थेरवाद के अक्षय भण्डार' की उपाधि से मण्डित किया जाता है। यह

ग्रंथ पूर्व दोनों सम्प्रदायों से विशेष समृद्ध तथा पूर्ण माना जाता है। और यह प्रसिद्धि नितान्त यथार्थ है। इसके तीन भाग हैं—(क) 'पदमाला' (पदों का विवरण है), (ख) धातुमाला (धातु तथा तन्निष्पन्न शब्द), (ग) सुत्तमाला (समस्त पालि-व्याकरण का व्याख्यान)। सुत्तमाला में १३९१ (एक सहस्र तीन सौ एकानवे) सूत्र है जो पूर्ववर्ती दोनों व्याकरण के सम्मिलित सूत्रों की संख्या के बराबर है। यह व्याकरण सिंघली सम्प्रदाय से पूर्ण स्वतन्त्र रहकर अपनी विशिष्ट शैली पर विकसित हुआ है जिसमें बर्मा के पालि-पाण्डित्य का निदर्शन पदे पदे उपलब्ध होता है। इस सम्प्रदाय की धातुओं का संकलन पद्यों में किया गया है। इसके रचयिता बरमी भिक्षु 'हिंगुलवल जिनरतन' हैं। ग्रंथ का नाम धात्वत्थदीपनी है।

इस प्रकार संस्कृत व्याकरण से प्रेरणा तथा उत्साह ग्रहण कर पालि का यह व्याकरण-सम्प्रदाय अपने दृष्टिकोण तथा व्यापक पाण्डित्य के लिए सर्वदा स्मरणीय रहेगा[1]।

(ख) प्राकृत व्याकरण

संस्कृत व्याकरण के आधार पर प्राकृत भाषा के नियमों के परिज्ञान के निमित्त प्राकृत व्याकरणों का निर्माण हुआ। 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति है 'प्रकृति से निष्पन्न भाषा' और यहाँ प्रकृति से तात्पर्य संस्कृत भाषा से है। फलतः 'प्रकृतिः संस्कृतम्' यह कथन प्रत्येक व्याकरणकर्ता को मान्य था, चाहे वह ब्राह्मण हो चाहे जैन। जैन धर्म के मूल ग्रन्थों को आर्ष प्राकृत में निबद्ध होने पर भी प्राकृतज्ञ जैन विद्वान् संस्कृत को प्राकृत के मूल मानने में पूर्ण आस्था रखता है। संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत के तीन प्रकार ही विशेष रूप से उपलब्ध हैं—महाराष्ट्री (पद्यों में), शौरसेनी (गद्य में) तथा मागधी (नीच पात्रों के भाषण में)। इसके अतिरिक्त पैशाची-भाषा की भी स्थिति मानी जाती है। महावीर के स्वामी के उपदेश 'अर्धमागधी' में निबद्ध हैं जिन्हें 'आर्ष प्राकृत' की भी संज्ञा प्राप्त है। प्राकृत की 'विभाषा' भी अनेक हैं जिनमें आवन्ती, टाक्की, शकारी आदि के नाम लिये जा सकते हैं। ये नाटकों के विभिन्न पात्रों के लिए ही स्वीकृत की गई हैं। 'विभाषा' का अर्थ शिथिल नियमों से सम्पन्न प्राकृत भी

---

१ 'कच्चायन व्याकरण' का बड़ा ही वैज्ञानिक संस्करण पण्डित लक्ष्मीनारायण तिवारी ने परिश्रमपूर्वक प्रस्तुत किया है। (प्र० तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९६२)। इसके आरम्भ की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना पर ऊपर का विवरण आधारित है जिसके लिए यह लेखक उनका विशेष आभार मानता है।

माना जाता है। अनेक विभाषाओं का प्रयोग 'मृच्छकटिक' प्रकरण मे विशेष रूप से मिलना है।

प्राकृत भाषा के विभिन्न भेदो के वर्णन लिए के हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण मे बडी उपयोगी सामग्री दी है। देश भर मे राष्ट्र-भाषा के रूप मे व्याप्त होने वाली प्राकृत नि सन्देह महाराष्ट्री ही थी। 'महाराष्ट्री' का अर्थ कुछ पण्डित लोग महाराष्ट्र प्रान्त की भाषा न मानकर पूरे भारत के महान् राष्ट्र की भाषा मानते हैं। इसीलिए महाराष्ट्री का विवरण विस्तार से प्रत्येक प्राकृत व्याकरण मे मिलना स्वाभाविक है। हेमचन्द्र ने शौरसेनी, मागधी, पैशाची तथा चूलिका पैशाची के विशिष्ट लक्षणो का वर्णन किया है। मार्कण्डेय कवीन्द्र का वैशिष्ट्य यह है कि उन्होने भाषा के साथ विभाषाओ का भी वर्णन किया है। भाषायें तो हेमचन्द्र सम्मत ही हैं। विभाषाओं मे नवीनता है। प्राच्या, आवन्ती तथा अर्धमागधी का उल्लेख भाषा के प्रसग मे है। शकारी, चाण्डाली, आभीरी तथा ओड्री के साथ शाबरी, टाक्की, नागर तथा उपनागर अपभ्रंश तथा पैशाची का भी विवरण दिया गया है। विभाषाओं के लिए उदाहरण 'मृच्छकटिक से अधिकतर दिया गया है। पता नही चलता कि इनके लिए मार्कण्डेय के पास कोई इतर ग्रंथ भी प्रस्तुत था या नही। प्रतीत यही होता है कि मार्कण्डेय एक बुद्धिमान् सग्रहकर्ता थे। मृच्छकटिक की ही भाषा का विश्लेषण कर उन्होने नई विभाषाओ की भी कल्पना प्रस्तुत की है। जैसे शकार जैसा पात्र तो इस प्रकरण से अन्यत्र कही दृष्टिगोचर नहीं होता। फलत 'शकारी' का क्षेत्र नितान्त सकुचित है। 'पैशाची' के लक्षण का तो हमे परिचय मिलता है, परन्तु उसके उदाहरणों की यथार्थता मे हमें पूरा सन्देह है।

प्राकृत वैयाकरणो मे दो ही मुख्य हैं—वररुचि तथा हेमचन्द्र, परन्तु वररुचि से पूर्व काल मे तथा हेमचन्द्र से अवान्तर काल मे भी अनेक व्याकरण-ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। प्राकृत व्याकरणो मे सर्वप्राचीन ग्रंथ का नाम है प्राकृतलक्षण[1] जिसे चण्ड (या चन्द्र) ने प्रस्तुत किया था। यह ९९ या १०३ सूत्रों मे निबद्ध है और इस प्रकार उपलब्ध व्याकरणों मे सक्षिप्ततम है। ग्रंथ के आदि मे वीर (महावीर) तीर्थंकर को प्रणाम तथा उदाहरणों म अर्हन्त (सूत्र २४ और ४६) तथा जिनवर (सूत्र ४८) का उल्लेख लेखक को जैन सिद्ध करता है। इसमें सामान्य प्राकृत का निरूपण किया गया है जो अशोक की धर्मलिपियों की भाषा और वररुचि द्वारा वर्णित प्राकृत के मध्ययुग की बोली थी। वह अश्वघोष तथा भास के प्राकृत से साम्य

१. डा० हार्नले द्वारा विब्लिओथिका इण्डिका (कलकत्ता) में प्रकाशित १८८० तथा नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा हिन्दी अनुवाद से युक्त 'आर्ष, प्राकृत व्याकरण' के नाम से प्रकाशित, १९१३।

रखती है। इसीलिए इसका समय ईसा की दूसरी तीसरी शती अनुमान करना अनुचित नही। प्राकृत-लक्षण चार पादों मे विभक्त है जिनके द्वारा वर्ण-परिवर्तन, रूपसिद्धि आदि का सक्षिप्त विवरण है। अन्त मे चार सूत्र मिलते हैं जिनमे क्रमश. अपभ्रश पैशाची, मागधिका तथा शौरसेनी का मुख्य लक्षण एक-एक सूत्र मे दिया गया है। इसमे वर्णित सामान्य प्राकृत को अनेक विद्वान् जैन धर्म ग्रथो की भाषा स्वीकार करते हैं।

वररुचि

चण्ड के लगभग दो शताब्दियों के अनन्तर वररुचि ने अपने प्राकृतप्रकाश की रचना की जो प्राकृत भाषा का सर्वोत्तम लोकप्रिय व्याकरण ग्रन्थ है। प्रख्यात आलकारिक भामह (५ शती) द्वारा वृत्ति (मनोरमा) लिखने के कारण प्राकृत-प्रकाश का रचनाकाल चतुर्थ शती मे मानना उचित प्रतीत होता है। इसमे १२ परिच्छेद हैं जिनमे आरम्भिक नौ परिच्छेदो मे महाराष्ट्री का (यद्यपि यह नाम ग्रथ मे निर्दिष्ट नही है), दसवें में पैशाची का, ग्यारहवें मे मागधी का और अतिम १२वें मे शौरसेनी का व्याकरण वर्णित है। वररुचि के अनुसार मूल प्राकृत महाराष्ट्री ही है और इसीलिए उसका व्याकरण स्वरविधान, व्यञ्जन परिवर्तन, सुबन्त तथा तिडन्त-साङ्गोपाङ्गरूपेण विवृत किया गया है। अन्य प्राकृतो का परिचय नितात सामान्य है। प्राकृतप्रकाश मे वर्णित भाषा की परीक्षा उसे पौरस्त्य सम्प्रदाय (पूर्वी प्राकृत स्कूल) से सम्बद्ध सिद्ध करती है। फलत इसके लेखक वररुचि सस्कृत के वार्तिककार कात्यायन वररुचि से सर्वथा भिन्न हैं जो दक्षिणात्य माने जाते हैं। प्राकृतप्रकाश की अनेक टीकाओ से मण्डित होने का श्रेय है जिनमे भामह की मनोरमा[1] वृत्ति (गद्यमयी) कात्यायन की मञ्जरी[1] वृत्ति (पद्यमयी), सञ्जीवनी तथा सुबोधिनी[2] मुख्य है। इस टीका सम्पत्ति से भी ग्रथ की महिमा और लोकप्रियता का परिचय प्राप्त होता है।

पौरस्त्य प्राकृत व्याकरण की परम्परा के अतर्गत अनेक वैयाकरणो ने अपने ग्रथो का निर्माण किया। लकेश्वर या रावण नामक किसी व्यक्ति ने प्राकृतकामधेनु की रचना की, जिसका मङ्गलश्लोक इसे किसी विस्तृत ग्रथ का सक्षेप बतलाता है।

१ मनोरमा तथा मजरी के साथ प्राकृतप्रकाश का सम्पादन कलकत्ते से हुआ है। सम्पादक बसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, प्रकाशक एस० के० लाहिरी कम्पनी, कलकत्ता, १९१४ (*बंगला अनुवाद के साथ*)।

२ सजीवनी तथा सुबोधिनी का सम्पादन प० वटुकनाथ शर्मा तथा बलदेव उपाध्याय ने किया है। —सरस्वती भवन सीरीज, काशी १९२५ ई०
इस ग्रथ का परिवर्धित सस्करण भी उसी सीरीज मे पं० बलदेव उपाध्याय के सम्पादकत्व मे प्रकाशित हुआ है (१९६९)।

यह बहुत ही छोटा ग्रंथ है केवल ३४ सूत्रों का, जिनमें बहुत से सूत्र अस्पष्ट तथा दुरूह हैं। ११वाँ सूत्र अ के स्थान पर उँ का परिवर्तन बतला कर अपभ्रंश की ओर संकेत कर रहा है। समय का निर्णय कथमपि नहीं किया जा सकता। इस सम्प्रदाय का द्वितीय ग्रंथ बंगाल के निवासी पुरुषोत्तम का प्राकृतानुशासन १२ वीं शती की रचना माना जाता है। आरम्भ के दो अध्यायों का अभाव है। तृतीय अध्याय अपूर्ण है। ग्रंथ २० अध्यायों में समाप्त होता है। नवम अध्याय में शौरसेनी, दशम में प्राच्या, ११वें में अवन्ती, १२वें में विवृत मागधी भाषायें हैं। विभाषाओं में शाबारी, चाण्डाली शाबरी और टाक्की के नियम दिये गये हैं। अनन्तर अपभ्रंश में नागरक, व्राचड, उपनागर के विवेचन के अनन्तर कैकेय पैशाचिक तथा शौरसेन पैशाचिक के लक्षण दिए गये हैं। इस ग्रंथ का मूल्य विभाषा तथा अपभ्रंश के विविध प्रकारों के प्रतिपादन में हैं। इसी पर आधारित है रामशर्मा तर्कवागीश भट्टाचार्य का प्राकृत-कल्पतरु[1]। पुरुषोत्तम के समान ये भी बंगाल के निवासी थे। समय लगभग १७वीं शती। प्राकृतकल्पतरु के तीन अध्यायों (शाखाओं) में प्राकृत की भाषा, विभाषा, तथा अपभ्रंश के विविध भेदों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। प्रथम शाखा (दश स्तबक) में महाराष्ट्री का साङ्गोपाङ्ग विवरण दिया गया है। द्वितीय शाखा (तीन स्तबक) में शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती, बाह्लीकी, मागधी, अर्धमागधी तथा दाक्षिणात्या का विवेचन है। तृतीय शाखा में नागर अपभ्रंश व्राचड अपभ्रंश तथा पैशाचिक का विवेचन है। यहाँ पैशाचिक के अनन्त विविध भेद देशों के अनुसार कल्पित किये गये हैं जैसे कैकय, शौरसेन, पञ्चाल, गौड, मागध तथा व्राचड पैशाचिक। रामशर्मा का यह प्राकृत व्याकरण कल्पना के ऊपर खड़ा किया गया प्रतीत होता है। सब नियम लक्ष्य ग्रन्थों के ही आधार पर निर्मित किये गये हैं--ऐसा कहना संशय से शून्य नहीं है।

प्राकृतसर्वस्व

इस परंपरा में मार्कण्डेय कवीन्द्र का प्राकृतसर्वस्व[2] बड़ा ही लोकप्रिय, उपादेय तथा आदर्श ग्रन्थ है। उड़ीसा के निवासी मार्कण्डेय राजा मुकुन्ददेव के समय में

---

१. मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित (एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९५४) साथ में प्राकृतकामधेनु तथा प्राकृतानुशासन भी प्रकाशित हैं।

२. भट्टनाथ स्वामी द्वारा सम्पादित ग्रंथ प्रदर्शिनी सीरीज में प्रकाशित (विजगा-पट्टम, १९२७)। ग्रंथ का वैज्ञानिक शुद्ध संस्करण आज भी अपेक्षित है।

वर्तमान थे, १७ वीं शती में। ग्रंथ के आरम्भ में आधारभूत वैयाकरणों में शाकल्य, भरत, कोहल, वररुचि, भामह तथा वसन्तराज के नामों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ की विशिष्टता है भाषा विभाषा, अपभ्रंश तथा पैशाची के नाना भेदों का विशद विवेचन। ये समस्त भेद १६ हैं जिनमें भाषा है ५ प्रकार की (महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती तथा मागधी), विभाषा भी ५ प्रकार की (शकारी, चाण्डाली, शाबरी, औड्री टाक्की) अपभ्रंश होती हैं तीन (नागर, व्राचड तथा उपनागर) तथा पैशाची भी होती हैं तीन प्रकार की (कैकय, शौरसेनी या पाञ्चाल)। प्राकृत सर्वस्व का प्राकृतकल्पतरु के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से प्राकृत के विषय में अनेक नवीन तथ्यों का आकलन प्रस्तुत किया जा सकता है। प्राकृत के ये नाना भेद इन दोनों ग्रन्थों का वैशिष्ट्य प्रतिपादन करते हैं। ध्यान देने की बात है कि ये प्रभेद हेमचन्द्र के ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होते। मेरी दृष्टि में ये समस्त भेदोपभेद 'मृच्छकटिक' को ही लक्ष्य कर निर्मित तथा व्याख्यात हैं।

क्रमदीश्वर ने अपने संस्कृत व्याकरण के अन्तर्गत प्राकृत भाषा का जो विवरण प्रस्तुत किया है वह भी इसी सम्प्रदाय की मान्यताओं का अनुसरण करता है। लंकेश्वर या रावण के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने शेषनाग के प्राकृत व्याकरण सूत्र पर एक वृत्ति लिखी थी, परन्तु मूल ग्रंथों के हस्तलेख उपलब्ध न होने से रावण का ऐतिहासिक व्यक्तित्व प्रमाणतः पुष्ट नहीं होता।

हेमचन्द्र

प्राकृत के पश्चिमी सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करने वाला सर्वमान्य ग्रंथ हेमचंद्र का प्राकृत व्याकरण है, जो उनके शब्दानुशासन का अन्तिम अध्याय है। हेमचन्द्र ने अष्टाध्यायी की प्रतिस्पर्धा में अपने 'शब्दानुशासन' को आठ अध्यायों में विभक्त किया है जिनमें आदि के सात अध्याय तो संस्कृत भाषा का व्याकरण प्रस्तुत करते हैं और अन्तिम (आठवाँ) अध्याय प्राकृत तथा अपभ्रंश का व्याकरण है। हेमचन्द्र का व्याकरण[1] प्राकृत भाषाओं के परिज्ञान के लिए नितान्त उपयुक्त, विपुलतर तथा सुव्यवस्थित है। व्यवस्था तथा वैशद्य की दृष्टि से यह निःसन्देह अनुपम है। इसमें चार पाद हैं। प्रथम पाद (२७१ सूत्र) में सन्धि, व्यञ्जनान्त शब्द, अनुस्वार, लिंग, स्वर व्यत्यय तथा व्यञ्जन व्यत्यय का क्रमशः निरूपण किया गया है। द्वितीय पाद (२१८ सूत्र) में संयुक्त व्यञ्जनों के परिवर्तन, समीकरण, स्वरभक्ति, वर्ण-

---

१ हेमचन्द्र का प्राकृतव्याकरण डा० पी० एल० वैद्य के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है। प्रकाशक मोतीलाल लाडजी, पूना, १९२८। पिशेल कृत जर्मन अनुवाद, हाल्ले १८७७-८०। हुंढिका टीका, भावनगर सं० १९६० विक्रमी।

विपर्यय, तद्धित, निपात तथा अव्यय का क्रमश. विवरण है। तृतीय पाद (१८२ सूत्र) मे कारक विभक्तियों तथा क्रिया-रचना सम्बन्धी नियम बतलाए गये है। चतुर्थ पाद (४४८ सूत्र) के आदि के २५९ सूत्रों मे धात्वादेश और फिर शेष मे क्रमशः शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अन्त मे अपभ्रंश भाषा के विशेष लक्षण बतलाये गये हैं। इस ग्रन्थ पर हेमचंद्र ने स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी है जिसमें सूत्र के अर्थ तथा तदनुसारी उदाहरण दिये गये हैं।

हेमचन्द्र के इस व्याकरण का वैशिष्ट्य ध्यातव्य है। उन्होंने प्राकृत के प्रकारों में वृद्धि कर दी है। प्राकृत-प्रकाशाभिमत चार प्राकृत तो हैं ही, साथ ही साथ आर्ष-प्राकृत का भी वर्णन है, जिसमे जैन आगम की रचना की गई है और जो अर्धमागधी नाम से मुख्यत प्रख्यात है। कवियों की सामान्य महाराष्ट्री के साथ साथ वे जैन-महाराष्ट्री पर भी विचार करते हैं, पैशाची के साथ वे 'चूलिका पैशाची' को भी स्थान देते हैं। महाराष्ट्री के उदाहरण वे हाल सत्तसइ तथा सेतुबन्ध से देते हैं। अपभ्रंश का निरूपण तो अपने वैशद्य तथा विस्तार के लिए पण्डितों के विशेष सम्मान का भाजन है। हेमचन्द्र ही एकमात्र प्राकृत वैयाकरण हैं जो अपभ्रंश का विश्लेषण करते हैं तथा उस युग की अज्ञात काव्यपुस्तकों से महत्त्वपूर्ण उदाहरण देते हैं। ये गाथायें उस युग के उत्कृष्ट अपभ्रंश साहित्य के समुत्कर्ष की नि सन्देह परिचायिकायें हैं जिससे उस समय के साहित्य के सौन्दर्य तथा अस्तित्व का हम भली-भाँति अनुमान कर सकते हैं। यह वर्णन अन्तिम ११८ सूत्रों मे है और पर्याप्तरूपेण विशद तथा प्रामाणिक है।

इसी सम्प्रदाय के अन्य प्राकृत सूत्र भी उपलब्ध होते हैं जिन पर त्रिविक्रम ने प्राकृत-शब्दानुशासन[1], लक्ष्मीधरने षड्भाषा चन्द्रिका[2] तथा सिंहराजने प्राकृत रूपावतार[3] का निर्माण किया है। इन तीनों ग्रथकारों ने एक ही सूत्रों को अपने विभिन्न ग्रंथों का आधार बनाया है, परन्तु एक ही क्रम से नही। त्रिविक्रम के ग्रंथ में सूत्रों की संख्या १०८५ है। उन्होंने बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण ढग से विशद टीका की है जो पाणिनीय सम्प्रदायकी 'काशिका वृत्ति' के समान प्रामाणिक मानी जाती है। त्रिविक्रम के विषय मे हम निश्चितरूप से कुछ नही कह सकते। इतना ही कह सकते हैं कि वे

---

१. चौखम्भा संस्कृत-सीरीज में काशी से तथा शोलापुर से डा० वैद्य के सम्पादकत्व में प्रकाशित, १९५४ ई०।

२ श्री के० पी० त्रिवेदी द्वारा बाम्बे संस्कृत सीरीज में सम्पादित।

३ डा० हुल्श ने रायल एशिएटिक सोसाइटी, लन्दन से सम्पादित कर प्रकाशित किया है।

हेमचन्द्र के पश्चात् तथा मल्लिनाथ के पुत्र कुमार स्वामी से पूर्ववर्ती है अर्थात् १४शती से ये अर्वाचीन नहीं हो सकते। लक्ष्मीधर अपनी 'षड्भाषा चन्द्रिका' को त्रिविक्रम वृत्ति की व्याख्या मानते हैं। यह ग्रन्थ पूरे १०८५ सूत्रों का व्याख्यान करता है, परन्तु भिन्न क्रम से। सूत्रों का यह क्रम निर्देश प्रक्रिया (अर्थात् रूपसिद्धि) को दृष्टि में रख कर किया गया है और इसीलिए यह 'सिद्धान्त कौमुदी' के समान ही प्रक्रियानुसारी प्राकृत व्याकरण है। प्रतीत होता है कि लक्ष्मीधर विजयनगर के तृतीय राजवंश के राजा तिरुमलराज के आश्रित थे जो १६वीं शती के मध्यभाग में विद्यमान थे। त्रिविक्रम के पश्चाद्वर्ती तथा अप्पय दीक्षित से (जिन्होंने अपने प्राकृत मणिदीप में इनका नाम निर्देश किया है) पूर्ववर्ती होने से भी इस समय की पुष्टि होती है। फलतः लक्ष्मीधर का समय १६ वीं शती का मध्यभाग मानना उचित होगा (१५३० ई०–१५६० ई०)। सिंहराज ने मूल सूत्रों में से ५७५ सूत्रों को चुनकर इन पर संक्षिप्त टीका लिखी है। इसलिए इसकी तुलना मध्य कौमुदी अथवा लघु कौमुदी से की जा सकती है। इनका समय यथावत् निर्णीत नहीं है। 'प्राकृत रूपावतार' के सम्पादक डा० हूल्श का कहना है कि इस ग्रन्थ में भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्त-कौमुदी और नागोजिभट्ट के परिभाषेन्दु शेखर से साम्य मिलते हैं। अतएव इनका समय १८वीं शती का अन्तिम काल होना चाहिये।

वाल्मीकि प्राकृत-सूत्र

अब विचारणीय है इन तीनों ग्रंथकारों द्वारा व्याख्यात मूल सूत्रों का रचयिता कौन है? इसके विषय में पर्याप्त मतभेद है। एक पक्ष त्रिविक्रम को ही इन सूत्रों का निर्माता मानता है और द्वितीय परम्परानुसारी पक्ष वाल्मीकि को इनका रचयिता अङ्गीकार करता है। प्रथम मत के पक्षपाती श्रीयुत भट्टनाथ स्वामी का कहना[2] है कि त्रिविक्रम ने ही इन सूत्रों का निर्माण किया था, क्योंकि ग्रंथ के अन्त से इसकी सूचना मिलती[3] है तथा ग्रंथ के आरम्भ में प्राप्त श्लोक से भी इसकी पुष्टि होती है।

---

१. 'षड्भाषा' के भीतर प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची तथा अपभ्रंश की गणना की जाती है। यह विभाजन हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में किया जिसका अनुगमन अनेक ग्रंथकारों ने किया। द्रष्टव्य—डा० जगदीशचन्द्र जैन—प्राकृत साहित्य का इतिहास (पृष्ठ ६४६–६४७)।

२. द्रष्टव्य उनका 'त्रिविक्रम एण्ड हिज फालोवर्स' शीर्षक लेख—इण्डियन एटिक्वेरी भाग ४० (१९११ ई०)।

३. शब्दानुशासनमिदं प्रगुणप्रयोगं, त्रैविक्रमं जयत मन्त्रमिवार्यसिद्ध्यै।

इस श्लोक का 'प्रचक्ष्महे' पद इसे ही सिद्ध करता है। त्रिविक्रम ने ही स्वयं अपने ग्रन्थ के स्वरूप का निर्देश इस पद्य में किया है--

तद्भव-तत्सम-देश्य-प्राकृतरूपाणि पश्यतां विदुषाम्।
दर्पणतयेयमवनौ वृत्तिस् त्रैविक्रमी जयति॥

यहाँ यह ग्रन्थ 'वृत्ति' ही कहा गया है और यही इसका यथार्थ रूप है। फलतः त्रिविक्रम वृत्तिकार हैं, सूत्रकार नहीं। सूत्रों के रचयिता का नामोल्लेख लक्ष्मीधर ने 'षड्भाषा चन्द्रिका' में इस प्रकार किया है--

वाग्देवी जननी येषां वाल्मीकिर्मूलसूत्रकृत्।
भाषाप्रयोगा ज्ञेयास्ते षड्भाषाचन्द्रिकाध्वना॥

'वाल्मीकि' मूलसूत्रों के रचयिता हैं। परम्परा से ये वे ही वाल्मीकि हैं जिन्होंने रामायण का निर्माण किया। 'शम्भुरहस्य' ग्रन्थ से इसी परम्परा की पुष्टि होती है, परन्तु सूत्रों के स्वरूप का विवेचन उन्हें बहुत प्राचीन सिद्ध नहीं कर रहा है। श्री त्रिवेदी का मत है कि ये सूत्र हेमचन्द्र के सूत्रों की अपेक्षा छोटे तथा सुव्यवस्थित हैं जिससे इनकी पश्चाद्भाविता सिद्ध होती है। तथ्य यही प्रतीत होता है कि वाल्मीकि नामक किसी व्यक्ति ने हेमचन्द्र के पश्चात् त्रयोदश शती में इनकी रचना की, परन्तु नामसाम्य के कारण इनकी रचना रामायणकर्ता के ऊपर आरोपित की गई प्रतीत होती है। शम्भुरहस्य[2] ने तो दोनों के ऐक्य का स्पष्ट संकेत किया है।

---

१ प्रकृते संस्कृतात् साध्यमानात् सिद्धाच्च यद् भवेत्।
प्राकृतस्यास्य लक्ष्यानुरोधि लक्ष्म प्रचक्ष्महे॥

२ 'शम्भुरहस्य' एक प्राचीन प्रचण्ड ग्रन्थ है जिसके पूरे २६८ वें अध्याय में प्राकृत की प्रशस्त प्रशंसा की गई है--

को विनिन्देदिमां भाषां (प्राकृती) भारतीमुख्यभाषितम्।
यस्याः प्रचेतसः पुत्रो व्याकर्ता भगवान् ऋषिः॥
पाणिन्याद्यैः सिद्धिरस्यास्तु प्रस्तुतैव स्यात् यथोत्तमा।
प्राचेतसव्याकृतत्वात् प्राकृत्यपि तथोत्तमा॥

विशेष के लिए द्रष्टव्य, मेरा लेख--'वाल्मीकि और उनके प्राकृत सूत्र' (नागरी प्र० पत्रिका भाग ७, सं० १९८३, पृष्ठ १०३-१११)।

षोडश सप्तदश शतक मे प्राकृत व्याकरण के निर्माण की कला आगे बढती गई। इस युग मे जैन तथा अजैन उभय ग्रंथकारो ने प्राकृत-भाषा का व्याकरण बनाया। अजैन ग्रन्थकारों मे सस्कृत व्याकरण तथा दर्शन के ख्यातनामा विद्वानो को प्राकृत व्याकरण का निर्माण करते देख आश्चर्यचकित हो जाना पडता है। ऐसे विद्वानों मे वैयाकरणकेसरी शेष श्रीकृष्ण ने (१७ श०) 'प्राकृत चन्द्रिका' की तथा दार्शनिक-शिरोमणि श्री अप्पयदीक्षित (सन् १५५३ से १६३६ ई०) ने प्राकृत मणिदीप की रचना कर इस विभाग मे ब्राह्मण लेखको के सहयोग का रूप परिष्कृत किया। ज्योतिर्विद् सरस के पुत्र पण्डित रघुनाथ ने ४१९ सूत्रो मे प्राकृतानन्द का निर्माण किया जिसमे प्राकृतप्रकाश के ही सूत्र प्रक्रियानुसारी क्रम से व्यवस्थित किये गये है। जैनग्रंथकारो मे शुभचन्द्र ने 'शब्दचिन्तामणि' का, श्रुतसागर ने 'औदार्य चिन्तामणि' का, समन्तभद्र ने प्राकृत व्याकरण और देवसुन्दर ने प्राकृत युक्ति का निर्माण किया। इससे स्पष्ट है कि जैन विद्वानो ने अपनी धार्मिक भाषा मानकर प्राकृत भाषा के विश्लेषण मे बडा मनोयोग दिया। इन ग्रन्थों के पीछे हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण अवश्यमेव प्रेरणास्रोत का काम करता था। इधर के ग्रन्थो मे जैन-सिद्धान्त कौमुदी का नाम निर्दिष्ट किया जा सकता है जिसमे अर्धमागधी का व्याकरण[1] विस्तार के साथ दिया गया है। अवश्यमेव इस ग्रन्थ का आदर्श 'सिद्धान्त कौमुदी' है, परन्तु आवश्यक नियमो के एकत्र सकलन के हेतु यह ग्रन्थ अपनी उपयोगिता रखता है।

उन्नीसवी शती मे यूरोपियन विद्वानो की दृष्टि जैन के आगम ग्रथो की ओर आकृष्ट हुई जिससे उन्होने प्राकृत का विशेष अनुशीलन वैज्ञानिक पद्धति पर करना शुरू किया ऐसे विद्वानों मे याकोबी, ग्रियर्सन तथा पिशल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। याकोबी ने जैन महाराष्ट्री के अनुशीलन पर आग्रह किया। ग्रियर्सन ने विभाषा तथा पैशाची के विश्लेषण पर मनोयोग लगाया। पिशल का काम सब की अपेक्षा विशद, विस्तृत तथा विशाल सिद्ध हुआ। इन्होने जर्मन भाषा मे 'ग्रामाटिक डेर प्राकृत स्प्राखेन'[3]

---

१ ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थो के उपलब्धि-स्थल के निमित्त द्रष्टव्य डा० जगदीशचन्द्र जैन रचित 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' पृष्ठ ५४७-६४१ (चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, १९६१)।

२ प्रकाशक मेहरचन्द लछमनदास, लाहौर, १९३७।

३. इसका अंग्रेजी अनुवाद डा० सुभद्र झा ने किया है तथा मोतीलाल बनारसी दास ने प्रकाशित किया है (वाराणसी, १९६० ई०)। हिन्दी अनुवाद डा० हेमचन्द्र जोशी ने 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' नाम से किया है (प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना)।

(१९०० ई० में प्रकाशित) नामक अपूर्व ग्रंथ लिखकर विपुल कीर्ति अर्जित की। यह प्राकृत भाषाओं के स्वरूप-विश्लेषण के लिए निर्मित वस्तुतः एक विश्वसनीय विश्वकोश है जिसमें प्राकृत की भाषा तथा विभाषाओं के रूपों का वैज्ञानिक विवरण है। यह उपलब्ध लक्ष्य तथा लक्षणग्रंथों के गम्भीर अध्ययन के आधार पर ग्रथित है और अर्धशताब्दी से अधिक समय बीतने पर भी आज भी उपयोगी तथा प्रामाणिक है।

———

उपादेय ग्रन्थ

सामान्य ग्रन्थ

डा० कीथ—हिस्ट्री आफ क्लासिकल सस्कृत लिटरेचर (हिन्दी अनुवाद, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली १९६४)

(इस ग्रन्थ के १९-२७ परिच्छेदों मे संस्कृत के वैज्ञानिक साहित्य का इतिहास सक्षेप मे दिया गया है)

डा० विन्टरनित्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर (तृतीय खण्ड, द्वितीय भाग; अनुवादक डा० सुभद्र झा, प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली १९६६)

(इस भाग में सस्कृत के वैज्ञानिक साहित्य का इतिहास दिया गया है। यह डा० कीथ के पूर्वोक्त ग्रंथ की अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा विशद है। ग्रन्थो की सूचनायें पूर्ण तथा आज तक दी गई हैं। उपादेय विवरण (सक्षिप्त और प्रामाणिक)।

आयुर्वेद

ठाकुर साहेब आफ गोण्डल—हिस्ट्री आफ आर्यन मेडिक्ल साइन्स, लण्डन, १८९६

(अंग्रेजी मे भारतीय आयुर्वेदशास्त्र का यह बहुचर्चित इतिहास है। ग्रन्थकार ने मूल ग्रंथों का अध्ययन कर अपने सिद्धान्तो का निरुपण किया है)

डा० पी० सी० राय—हिस्ट्री आफ हिन्दू केमेस्ट्री, भाग प्रथम, (कलकत्ता १९०२)

डा० पी० सी० राय—हिस्ट्री आफ हिन्दू केमेस्ट्री, भाग द्वितीय (पूर्ववत)

(डा० पी० सी० राय का यह ग्रंथ अपने विषय का मार्गदर्शक ग्रन्थ माना जाता है। इसमे रसायन शास्त्र का इतिहास मूल उद्धरणो के साथ विस्तार से प्रतिपादित है। इधर इण्डियन केमिकल सोसाइटी ने इस ग्रंथ का परिशोधित सस्करण एक भाग मे प्रकाशित किया है जिसमे मध्ययुगीय रसायन का भी इतिहास सम्मिलित कर ग्रंथ को विस्तृत तथा विशद बनाया गया है)

डा० सत्यप्रकाश—भारतवर्ष की वैज्ञानिक परम्परा (प्र० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना)

(इस प्रामाणिक ग्रंथ मे प्राचीन भारतवर्ष के विज्ञानो का अनुशीलन किया जाता है और दिखलाया गया है कि यहाँ भी वैज्ञानिक अध्ययन की दीर्घकालीन परम्परा विद्यमान है । हिन्दी मे अपूर्व विशद ग्रंथ)

डा० जी० एम० मुखोपाध्याय—हिस्ट्री आफ हिन्दू मेडिसिन (चार खण्ड, कलकत्ता) । (यह अग्रेजी ग्रथ चार खण्डो मे निबद्ध है । यहाँ प्राचीन आयुर्वेदीय आचार्यों के द्वारा उद्भावित योगो का वर्णन उद्धरण के साथ दिया गया है तथा उनके विषय मे प्रकीर्ण ऐतिहासिक सामग्री एकत्र दी गई है । विस्तृत जानकारी के लिए नितान्त उपयोगी)

श्री अत्रिदेव विद्यालङ्कार—आयुर्वेद का सक्षिप्त इतिहास (प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

श्री अत्रिदेव विद्यालङ्कार—आयुर्वेद का विस्तृत इतिहास (प्र० हिन्दी समिति, सचिवालय, लखनऊ)

(हिन्दी मे ये दोनो ग्रथ बहुत उपयोगी हैं । पहिला तो सामान्य छात्रो को दृष्टि मे रखकर लिखा गया है, परन्तु दूसरे मे विषय का प्रतिपादन विस्तृत तथा व्यापक है । लेखक मूल ग्रथो से विशेष परिचय रखता है । फलत आयुर्वेद सम्बन्धी बहुत सी उपयोगी सामग्री यहाँ सकलित है)

डा० राजगुरु पण्डित हेमराज शर्मा – काश्यप सहिता (बम्बई, १९३८ ई०)

इस ग्रथ का सस्कृत मे निबद्ध उपोद्घात आयुर्वेद के वैदिक रूप जानने के लिए विशेष उपयोगी है । बडी ही उपयोगी सामग्री यहाँ दी गई है, विशेषत अथर्ववेदीय वैद्यक के विषय मे । प्राचीन आयुर्वेद के परिज्ञान के लिए गम्भीर तथा उपयोगी)

डा० जूलियस जाली—'मेडिसिन' नामक जर्मन ग्रथ । 'इण्डियन मेडिसिन' नाम से अग्रेजी मे अनुवाद, श्री काशीकर द्वारा, पूना १९५१

(सक्षेप मे आयुर्वेद के इतिहास का विशद विवरण)

डा० उलनर—जे० आर० ए० एस० १९२५ (इस लेख मे मध्य एशियाई कूची भाषा के अनुवाद ग्रथो मे भारतीय आयुर्वेद के द्रव्य-मानो की जो समानता दृष्टिगोचर होती है, उसका सक्षिप्त विवरण दिया गया है)

इण्डो—एशियन कलचर (जिल्द २ भाग प्रथम) मे इण्डियन साइन्स इन फार ईस्ट' शीर्षक लेख ।

सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त—आयुर्वेदेर इतिहास (बँगला निबन्ध, प्रवासी भाग ३४, खण्ड १)

आचार्य परमानन्द शास्त्री—प्राचीन तिब्बत मे आयुर्वेद का प्रचार (जे० बी० ए० एस० १९५४-५५ भाग ३) लका में आयुर्वेद का प्रचार (धन्वन्तरि, अलीगढ़,

भाग २८ अंक ८) तथा प्राचीन चीन में आयुर्वेद का प्रसार (जर्नल आफ बिहार सोसायटी, भाग ४२, भाग १ (मार्च १९५६) (इन तीनों लेखों में आयुर्वेद के भारतेतर देशों के प्रचार तथा प्रसार का विवरण बड़ी प्रामाणिकता से दिया गया है)।

आचार्य प्रियव्रत शर्मा--आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास (प्रकाशक चौखम्भा ओरिएण्टालिया, वाराणसी, १९७५ ई०)

(इस ग्रंथ में आयुर्वेद के इतिहास का प्रामाणिक विवरण बड़े परिश्रम तथा अनुसन्धान के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक के आयुर्वेद के विभिन्न अंगों पर ग्रंथ लिखने वाले विद्वानों के कार्य की गम्भीर समीक्षा दी गई है। उपादेय तथा संग्रहणीय)

ज्योतिषशास्त्र

म० म० सुधाकर द्विवेदी—गणक तरङ्गिणी, मुद्रण, १९३३ काशी।

शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित—भारतीय ज्योतिःशास्त्राचा इतिहास (मराठी) १८९६ ई०।

भारतीय ज्योतिष (हिन्दी में अनुवाद) प्र० हिन्दी समिति लखनऊ १९५७ ई०

डा० विभूति भूषणदत्त तथा डा० अवधेश नारायण सिंह—हिन्दू गणितशास्त्र का इतिहास भाग प्रथम (हिन्दी समिति लखनऊ, १९५६)

डा० गोरख प्रसाद—भारतीय ज्योतिष का इतिहास प्र० हिन्दी समिति लखनऊ १९५६

श्रीचन्द्र पाण्डेय ज्योतिषाचार्य-ज्योतिर्विदावली, विक्रम प्रकाशन, वाराणसी सं० २०२३

डा० सत्यप्रकाश—ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त खण्ड १ (अंग्रेजी भूमिका पृ० १–३४४) प्रकाशक इण्डियन इन्स्टिच्यूट आफ अस्ट्रोनामिकल एण्ड संस्कृत रिसर्च,नई दिल्ली, १९६६

डा० बृजमोहन—गणित का इतिहास (प्र० हिन्दी समिति लखनऊ १९६५)

डी० ई० स्मिथ—हिस्ट्री आफ मैथेमेटिक्स २ खण्ड (प्र० जिन एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क १९२५) अत्यन्त उपयोगी ग्रंथ। चित्रों से युक्त होने से अधिक रोचक।

महावीर—गणितसार संग्रह (सम्पादक तथा अनुवादक लक्ष्मीचन्द जैन) प्रकाशक जैन संस्कृति रक्षक संघ, शोलापुर, सं० २०२०

जम्बूदीप पण्णत्ति संगहो (प्रकाशक वही) प्रस्तावना में तिलोयपण्णत्ति के गणित के ऊपर महत्वपूर्ण विवेचन।

साहित्यशास्त्र

डा० एस० के० दे—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स (कलकत्ता, नवीन संस्करण १९६५)

म० म०पी०वी० काणे-हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स (तृतीय सं० का हिन्दी अनुवाद 'संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास' प्र० मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली, १९६६)

(ये दोनों ग्रंथ अपने विषय के प्रामाणिक विवेचन हैं—प्रख्यात तथा बहुचर्चित। श्री काणे के ग्रन्थमें नवीन प्रकाशनों तथा उपलब्धियों का भी महत्त्वपूर्ण विवरण है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्यशास्त्र (दो खण्ड) प्रकाशक शारदा संस्थान, वाराणसी (परिवर्धित संस्करण यन्त्रस्थ)।

(इस प्रामाणिक ग्रंथ में साहित्यशास्त्र के उदय तथा अभ्युदय का इतिहास बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। औचित्य, रीति, गुण, वृत्ति तथा वक्रोक्ति के तत्त्वों का विवेचन पाश्चात्य समीक्षा की तुलना के साथ किया गया है। मौलिक, उपादेय तथा व्यापकता से नितरां मण्डित)

आचार्य बलदेव उपाध्याय—संस्कृत आलोचना, तृतीय संस्करण, १९८० ई० प्रकाशक हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, (लखनऊ आलोचना शास्त्र के इतिहास में संस्कृत आलोचना के विविध अंगों तथा उपांगों का सरल सुबोध प्रतिपादन। उदाहरणों की प्रचुरता तथा विवेचन की विशदता के कारण नितान्त उपयोगी ग्रन्थ)।

छन्दः शास्त्र

शिवप्रसाद भट्टाचार्य—आर्टिस आन संस्कृत मेट्रिक्स (प्र० संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९६३)

(संस्कृत के छन्द शास्त्र के विषय में नितांत प्रामाणिक विवेचन। ऐतिहासिक विवरण के साथ वर्ण्य विषय का भी प्रतिपादन मार्मिक तथा गम्भीर है)

एच० डी० वेलणकर—जयदामन् (प्र० हरितोषमाला के अन्तर्गत, बम्बई १९४९)
(डा० वेलणकर ने छन्द शास्त्र का बड़ा ही गम्भीर विवेचन किया है जो इस ग्रंथ की तथा अन्य छन्दोग्रन्थों की भूमिका के रूप में प्रकाशित हुआ है। संस्कृत छन्दों के साथ उन्होंने प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के छन्दों का भी विस्तृत विवरण दिया है)

डा० भोलाशङ्कर व्यास—प्राकृत पैङ्गल (दो भाग, प्र० प्राकृत ग्रन्थ परिषद, काशी, १९६२)

(इस सं० में अनेक टीकाओं का प्रकाशन किया गया है। द्वितीय खण्ड भूमिका भाग है जिसमें विषय का प्रतिपादन विस्तार तथा वैशद्य के साथ किया गया है। प्रामाणिक सं०)

कोशविद्या

म० म० रामावतार शर्मा—कल्पद्रु कोश (गायकवाड ओ० सी०, दो भागो मे प्रकाशित बडोदा १९२८, १९३२)

(इस कोश की विस्तृत प्रस्तावना में पण्डित रामावतार शर्मा ने कोशविद्या का सक्षिप्त परन्तु प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया है। इस विषय के विशेषज्ञके द्वारा निबद्ध होने से यह प्रस्तावना वास्तवमे महत्त्वपूर्ण तथा मूल्यवान है। अग्रेजी मे इतना विशद विवरण सम्भवत और नही है)

व्याकरण

डा० बेलवेलकर—सिस्टम्स आफ सस्कृत ग्रामर (अग्रेजी), पूना १९१८

(अपने विषय का आदिम ग्रन्थ। आज भी उपयोगी तथा उपादेय)

युधिष्ठिर मीमासक—सस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास प्रथम भाग, द्वितीय स० स० २०२० (प्रकाशक भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर,)

युधिष्ठिर मीमांसक—सस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास द्वितीय भाग, प्रकाशक पूर्ववत, स० २०१८

(इन दोनो खण्डों मे सस्कृत व्याकरणसम्बन्धी उपादेय सामाग्री का सकलन है। गम्भीरता तथा व्यापकता से मण्डित यह अनुशीलन नितान्त उपयोगी तथा उपादेय है)

श्री काशीनाथ वासुदेव अभ्यकर—महाभाष्य का अनुवाद (मराठी) सप्तम खण्ड। (इस ग्रन्थ मे व्याकरणशास्त्रसे सम्बद्ध प्राचीन ग्रथकारो से लेकर आधुनिक ग्रथकारों तक का परिचय है। विशुद्ध ऐतिहासिक पद्धति की न्यूनता होने पर भी बहुत ही उपादेय सामग्री एकत्र सकलित है)।

श्री काशीनाथ वासुदेव अभ्यकर—ए डिक्शनरी आफ सस्कृत ग्रामर (गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडोदा। (व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों तथा ग्रन्थकारो का अग्रेजी मे उपादेय विवरण।

डा० गजानन बालकृष्ण पलसुले—ए कानकार्डेन्स आफ सस्कृत धातु पाठज (प्रकाशक डेक्कन कालेज, पूना १९५५)

डा० गजानन बालकृष्ण पलसुले—दी सस्कृत धातुपाठज-ए क्रिटिकल स्टडी (प्रकाशक पूर्ववत्, १९६१)

(ये दोनों ग्रंथ अपने विषय के प्रामाणिक विवेचन हैं—प्रख्यात तथा बहुचर्चित। श्री काणे के ग्रन्थमें नवीन प्रकाशनों तथा उपलब्धियों का भी महत्त्वपूर्ण विवरण है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्यशास्त्र (दो खण्ड) प्रकाशक शारदा संस्थान, वाराणसी (परिवर्धित सस्करण यन्त्रस्थ)।

(इस प्रामाणिक ग्रंथ मे साहित्यशास्त्र के उदय तथा अभ्युदय का इतिहास बड़े सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया गया है। औचित्य, रीति, गुण, वृत्ति तथा वक्रोक्ति के तत्त्वों का विवेचन पाश्चात्य समीक्षा की तुलना के साथ किया गया है। मौलिक, उपादेय तथा व्यापकता से नितरा मण्डित)

आचार्य बलदेव उपाध्याय—सस्कृत आलोचना, तृतीय सस्करण, १९८० ई० प्रकाशक हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, (लखनऊ आलोचना शास्त्र के इतिहास मे सस्कृत आलोचना के विविध अगो तथा उपायो का सरल सुबोध प्रतिपादन। उदाहरणों की प्रचुरता तथा विवेचन की विशदता के कारण नितान्त उपयोगी ग्रन्थ)।

छन्दः शास्त्र

शिवप्रसाद भट्टाचार्य—जार्टिग्स आन सस्कृत मेट्रिक्स (प्र० सस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९६३)

(सस्कृत के छन्द शास्त्र के विषय मे नितात प्रामाणिक विवेचन। ऐतिहासिक विवरण के साथ वर्ण्य विषय का भी प्रतिपादन मार्मिक तथा गम्भीर है)

एच० डी० वेलणकर—जयदामन् (प्र० हरितोषमाला के अन्तर्गत, बम्बई १९४९ से)

(डा० वेलणकर ने छन्द शास्त्र का बड़ा ही गम्भीर विवेचन किया है जो इस ग्रंथ की तथा अन्य छन्दोग्रन्थो की भूमिका के रूप मे प्रकाशित हुआ है। सस्कृत छन्दों के साथ उन्होंने प्राकृत तथा अपभ्रश भाषा के छन्दों का भी विस्तृत विवरण दिया है)

डा० भोलाशङ्कर व्यास—प्राकृत पैङ्गल (दो भाग, प्र० प्राकृत ग्रन्थ परिषद, काशी, १९६२)

(इस स० में अनेक टीकाओं का प्रकाशन किया गया है। द्वितीय खण्ड भूमिका भाग है जिसमें विषय का प्रतिपादन विस्तार तथा वैशद्य के साथ किया गया है। प्रामाणिक स०)

नामानुक्रमणी

ग्रन्थानुक्रमणी